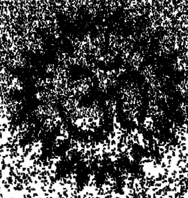


[illegible]

[illegible]

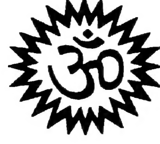
अद्वैतसिद्धिः

योगेन्द्रानन्दकृतया ... एवं

योगेन्द्रानन्दपुरीकृतटीकया

राष्ट्रभाषाव्याख्यया सहित

— श्री स्वामी [illegible]



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—अनन्तश्रीविभूषित—
विद्वद्वरिष्ठपूज्यपादश्रीस्वामिविश्वेश्वरानन्दसरस्वती—
शिष्यश्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—
अनन्तश्रीविभूषितविद्वद्वरिष्ठपूज्यपाद—
श्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—विरक्तशिरोमणि—
पूज्यपादश्रीस्वामिमगलगिरिशिष्य श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्य
श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—अनन्तश्रीविभूषितविद्वद्वरिष्ठ
वेदान्त—सिद्धान्तज्योतिषाचार्य पूज्यपाद
श्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरि विरचित

योगेन्द्रानन्दीदीपिका एव पक्षतावच्छेदकनिरुक्तिपर्यन्तं
योगेन्द्रानन्दीलघुचन्द्रदीपिकाभिधान
राष्ट्रभाषाव्याख्यानुवादसहिता

सम्वत् २०६३ वि०
(सन् 2006 ई०)

प्रकाशक

स्वामी देवनारायण पुरी 'देवस्वामी'

'स्वामी योगेन्द्रानन्द गिरि धर्मार्थ ट्रस्ट' (रजि०)

श्री मंगल आश्रम, संन्यासमार्ग, कनखल

हरिद्वार—२४९४०८ (उत्तरांचल)

प्रथम संस्करण	:	१०००
अक्षय तृतीया	:	संवत् २०६३
शाङ्कराब्द	:	१२१८
दिनाङ्क	:	३० अप्रैल २००६
मूल्य	:	रु. ४५०.००

पुस्तक प्राप्ति स्थान

श्री मंगल आश्रम, संन्यासमार्ग,

कनखल, हरिद्वार — २४९४०८ (उत्तरांचल)

फोन : ०१३३४—२४०९५२

ॐ श्रीकन्हैयेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

विश्व दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्य निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये।।
वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्।।

मुझ पर ईश की असीम कृपा ही थी कि जब मैं साठ के दशक में अध्ययनार्थ वाराणसी पहुँचा तो वहाँ मुझे अयाचित ही एक दिव्य सन्त का सानिध्य प्राप्त हुआ। मेरे जीवन की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है।

वे महान सन्त थे परम श्रद्धेय विद्वद्वरिष्ठ स्वामी श्रीयोगेन्द्रानन्द गिरि जी महाराज। उस समय वाराणसी में स्वामी जी की कीर्ति चतुर्दिक फैल रही थी। वे उन दिनों गोविन्दमठ में छात्रों को वेदान्त तथा न्याय पढ़ाया करते थे। उनकी अध्यापन शैली, शान्त मुद्रा और स्नेहपूर्ण व्यवहार से दूर–दूर के छात्र उनसे अध्ययन करने आया करते थे। वहाँ स्वामी जी के सम्पर्क में आया तो मेरा मन उनका होकर रह गया। एक अज्ञात अनिर्वाच्य आकर्षण से सदा उनकी ओर आकृष्ट रहा। परम श्रद्धेय स्वामी जी विद्यार्थी जीवन के आरम्भ से ही अपने बालसखा सम अभिन्नात्मा श्री १०८ पूज्यपाद सद्गुरुदेव स्वामी त्रिवेणी पुरी जी के साथ ही रहते थे। १९५७ ई० में आप श्री की प्रेरणा से ही श्री १०८ पूज्यपाद सद्गुरुदेव जी ने स्वाध्याय–प्रवचन आरम्भ किया और १९६१ ई० में हरिद्वारस्थ सन्यास आश्रम की स्थापना की। आप श्री के साथ मैं अपने अभिन्नात्मा स्वामी महेश्वरानन्द पुरी जी के साथ ग्रीष्मावकाश में वहीं जाकर रहने लगा। आप श्री ने भी निश्चय किया कि तुम दोनों के अध्ययनपर्यन्त ही मैं काशी में रहूँगा। १९[illegible] ई० में हम सब हरिद्वार सन्यास आश्रम आ गये काशी को सदा के लिये प्रणाम करके।

यहाँ परमश्रद्धेय विद्वद्वरिष्ठ स्वामी श्री योगेन्द्रानन्द गिरि जी महाराज के सान्निध्य का पर्याप्त अवसर पुनः मिला। स्वामी जी के दिव्य व्यक्तित्व का अन्तःप्रभाव मेरे मानस पर अनजाने ही प्रभावी होता गया, मेरे जीवन में ऐसे कुछ विरले ही निस्पृह सन्त आये, स्वामी जी उनमें मुख्य थे। अज्ञात दैवीय शक्ति की ही प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने सद्गुरुदेव योगीराज स्वामी श्री मंगल गिरि जी महाराज की पुण्य स्मृति में सन्यास मार्ग पर ही 'मंगल आश्रम' का निर्माण कर वे मार्च १९८२ ई० में यहाँ आ गये। परम श्रद्धेय सद्गुरुदेव जी के निर्देश पर मैं भी उनकी सेवा सुश्रूषार्थ मंगल आश्रम में ही आ गया और आश्रम के भविष्य के साथ सदा के लिए जुड़ गया। अध्यापन

से विरत होकर स्वामी जी ने अद्वैतसिद्धि तथा अन्य कुछ अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों के अनुवाद पूर्ण करने में रुचि ली, यद्यपि यह कार्य उन्होंने वाराणसी में ही आरम्भ कर दिया था। काशी के गोविन्द मठ में रहते हुये विद्यार्थियों को वेदान्त और न्याय का अध्यापन करते हुये ही उनके हित के लिये वेदान्त के ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद और उन पर व्याख्यात्मक टिप्पणिया भी लिखते रहे। हरिद्वार आने के बाद सन् १९७७ ई० में विद्वद्वरिष्ठ श्री स्वामी मधुसूदन सरस्वती जी के 'अद्वैतरत्नरक्षणम्' का प्रकाशन हुआ। तब तक स्वामी जी द्वारा अद्वैतसिद्धि का सटिप्पण हिन्दी अनुवाद कार्य भी चलता रहा।

स्वामी जी की इच्छा थी कि 'अद्वैतरत्नरक्षणम्' की तरह ही 'अद्वैतसिद्धि' का भी प्रकाशन हो, लेकिन कई अपरिहार्य कारणों से इसका प्रकाशन संभव न हो सका। स्वामी जी के ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात् भी मेरे अन्तस् में यह अभिलाषा बराबर बनी रही कि किसी भी तरह स्वामी जी के इस शुभ संकल्प को साकार करूं। अब मित्रों और शुभचिन्तकों के सहयोग से अद्वैतसिद्धि के प्रकाशन की मेरी चिर अभिलाषा पूर्ण हुई।

इस अवसर पर पूज्य स्वामी जी से संबंधित मेरी स्मृतियां अन्त पटल पर लगातार उभर रही है। स्वामी जी के साथ वर्षो का मेरा सम्बन्ध रहा। लोग मुझसे पूछते हैं – 'स्वामी जी कितने बड़े योगी थे, कितने बड़े ज्ञानी थे, कितने विद्वान् थे, कितने त्यागी थे, कितने सरल थे या कितने निःस्पृह थे'? मैं क्या उत्तर दूं? मैंने इस बारे में कभी सोचा ही नही। एक बार उनके 'स्वभाव' की अनुभूति हो जाने के बाद मेरे लिये उनकी चरण सेवा के अतिरिक्त और कुछ जानने–समझने की जरूरत ही नहीं रही। स्वामी जी के सान्निध्य में आने के पश्चात् उनकी सेवा के अतिरिक्त मेरे लिये सब कुछ नितान्त गौण रह गया। वे कितने बड़े विद्वान्, कितने बड़े साधक या तत्त्वज्ञानी है? यह सोचने–समझने और जानने की मेरे मन में कभी इच्छा ही नही थी, आज भी उनका मूल्याकंन करने की न तो मेरी इच्छा है और ना ही क्षमता। स्वामी जी के ब्रह्मलीन हो जाने के बाद भी अपने आस–पास मैं सदा उनकी उपस्थिति का अनुभव करता हूं।

स्वामी जी द्वारा अनूदित अद्वैतसिद्धि को प्रकाशित करने की मुझमें अदम्य अभिलाषा, उत्सुकता, उत्कण्ठा, व्यग्रता और अकुलाहट लगातार बनी रही। अब इसके प्रकाशन के बाद शायद मैं अपने गुरु ऋण, ऋषि–ऋण से कुछ अंश तक उऋण हुआ। पुस्तक में यद्यपि अनेक पाठान्तर हैं, जो अन्य किसी भी पुस्तक में उपलब्ध नही है, तब परम श्रद्धेय ने यह पाठान्तर कहां से लिये? इस विषय में मात्र वे ही जानते हैं, मुझे तो पुस्तक जिस रूप में मिली, उसी रूप में बिना किसी काट–छांट के ज्यों की त्यों ही प्रकाशित करने का मैंने संकल्प कर लिया।

सर्वप्रथम मैं विद्वद्वरिष्ठ द्वादशदर्शनाचार्य परमश्रद्धेय आ०म०म० अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी काशिकानन्द गिरि जी का सदा कृतज्ञ रहूंगा, जिन्होंने अपनी अस्वस्थता के बावजूद मेरे तथा महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द पुरी जी के श्रद्धापूर्ण आग्रह पर इस ग्रन्थ की भूमिका

लिखकर ग्रन्थ के महत्त्व को द्विगुणित करके हमे अनुगृहीत किया।

मैं 'परमादर्श' महामण्डलेश्वर स्वामी श्री महेश्वरानन्द पुरी जी, 'परमादर्श' महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गगानन्द पर्वत जी, श्री स्वामी कृष्णानन्द विरक्त जी महाराज, प्रिय स्वामी विशुद्धानन्द गिरि जी, डॉ० रामचन्द्र पुरी, जिन्होने 'किचिद् वक्तव्य' 'समुत्साह प्रकाशन' 'शुभाशसा', 'प्रासङ्गिकम्' एव 'पार लब्ध सरस्वत्या' द्वारा ग्रन्थ, ग्रन्थकार एव दीपिकाकार पूज्यपाद श्रद्धेय स्वामी श्री जी के विषय मे अपनी अनुभूतियो और मन्तव्यो को अभिव्यक्ति देकर ग्रन्थ के गौरव का बढ़ाया है। इसके लिये मै इन सबका आभारी हूँ।

इस दुर्लभ अमूल्य ग्रन्थ के प्रकाशन मे अपने आत्मीय जनो मे जो सहयोग मिला, वह स्मरणीय है। प्रिय स्वामी विशुद्धानन्द गिरि जी (श्री गोकुल धाम, कनखल–हरिद्वार) और उनके सहयोगी प्रिय ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी तथा प्रिय गोविन्द चैतन्य (गोपी) ने रात–दिन एक कर स्वामी जी की हस्तलिपि मे लिखित ग्रन्थ को कम्प्यूटर मे टकित कराने और कम्प्यूटराईज्ड सामग्री की वर्तनी सबन्धी अशुद्धियो को दूरकर पुस्तक को व्यवस्थित रूपाकार देने का सराहनीय कार्य किया है। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। मै परम श्रद्धेय दिव्यात्मस्वरूप पूज्यपाद के चरण कमलो म प्रार्थना करता हूँ कि वे इन्हे सदा शुभाशीर्वाद प्रदान करते रहे।

सम्प्रति इस अमूल्य ग्रन्थ के प्रकाशन मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिनका भी सहयोग मिला है, उनका मै हृदय से आभारी हूँ।

मैं हिन्दू इलेक्ट्रिक प्रेस के स्वामी श्री दुर्गाशकर भाटी जी एव उनके सुपुत्र श्री अनिरुद्ध भाटी जी को भी हार्दिक सप्रेम शुभाशीर्वाद देता हूँ जिनके सतत प्रयासो से यह ग्रन्थ समय पर सुन्दर रूप म प्रकाश म आया।

।। इति शुभम् ।।

स्वामिदेवनारायण पुरी 'देव स्वामी'
मङ्गल आश्रम, संन्यास रोड,
कनखल–हरिद्वार (उत्तराञ्चल)

भूमिका
वेदान्त दर्शन की महनीयता

वेदान्तदर्शन का स्थान दर्शनों में सर्वोपरि है। इसमें प्रथम कारण यह है कि यह वेद का ही अंतिम विचार है। आस्तिक सभी वेद पर श्रद्धा रखते ही हैं। अंतिम विचार तो श्रद्धेयता के साथ बुद्धि की चरम सीमा को छूने वाला या पार करने वाला होने से श्रद्धालु एवं बुद्धि बल वाले दोनों के लिये आदरणीय बना। यही कारण है कि नास्तिकों ने भी जो बुद्धि बल सम्पन्न है, वेदान्त मार्ग का सहारा लेने में संकोच नहीं किया, भले ही वे अपना डफला अलग बजाते रहे। बौद्धों के चार दर्शन प्रसिद्ध है। सभी उपनिषदों के ही अधमर्ण है।

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येतिसौत्रान्तिक.
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।।

बौद्धों के दर्शन में माध्यन्मिक सिद्धान्त मुख्य है, क्योंकि सभी बौद्धों को अन्त में शून्य में ही पहुचना है। "**सर्वं शून्यं शून्यं**" यह सबकी अन्तिम भावना है। पर शून्य शशविषाणादि को कहते हैं। उसका विवर्त या अनुवर्त क्या हो सकता है। अत बुद्धकालीन वैदिक हिंसा को रोकने के लिए तथा वेद के कर्मकाण्ड मे अश्रद्धा पैदा करने के लिए बुद्ध ने शून्यवाद को प्रोत्साहन दिया। गीता मे "**न सत्तन्नासदुच्यते**" आया है। बौद्ध उस में थोड़ा ज्यादा जोड़कर "**न सन्नासन्नसदसत्**" इत्यादि बोल गये। योगाचार वालो ने भी वैसा ही किया। वेदान्त मे जैसे रज्जु मे इद ज्ञान होने पर सर्प कल्पित होता है वैसे ससार को ज्ञान मे कल्पित बनाया। योगाचारो ने ज्ञान का आकार मात्र विषय है ऐसा कहा। सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक क्षणिकवादी है। यह साख्य और वेदान्त की छायामात्र है। ससार प्रतिक्षण परिणामी है ऐसी वेदान्त की मान्यता है। बौद्ध प्रतिक्षण विनाशी मानते है। अनुकरण करना अनुकरणीय की महत्ता स्वीकार करना है। किसने किस का अनुकरण किया वह विवाद यहा नही है। कारण वेद तो सवप्रथम प्राचीन है यह सर्वमान्य है। वैदिक कर्मो मे हिंसा देखकर ही बुद्ध का मन परिवर्तन हुआ, यह भी प्रसिद्ध ही है। कर्मकाण्ड के मध्य मे भी शिवसकल्प, पुरुषसूक्तादि अनेक स्थानो मे वेदान्त निरूपित है। कई उपनिषत मन्त्र भाग में ही आयी हुई है। जैसी ईशावास्य, मुण्डक, श्वेताश्वतरादि है।

—: अद्वैत वेदान्त :—

यद्यपि अद्वैतवेदान्त की सर्वोपरिता सर्वसप्रतिपन्न नही है, यहा तक कि वेदान्ती होते हुए भी अद्वैत को स्वीकार नही करते। उदाहरणार्थ प्रस्तूयमान अद्वैतसिद्धि स्वय द्वैतवेदान्तियो के पूर्वपक्ष में प्रादुर्भूत है। वेदान्त को ही आधार रखकर विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा द्वैत को सिद्ध करने का प्रयास अनेक मनीषियों ने किया है, उसी मे अपना बुद्धि बल भी उन्होंने समर्पित किया है। परन्तु यह सब किसी अभिनिवेश का ही परिणाम प्रतीत होता है। मैं अपना

ही उदाहरण प्रस्तुत कर सकता हूं—''**काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रमुखं**'' सुनकर व्याकरण और न्याय पढ़ने लगा, तभी वेदान्ती सतीर्थ्यों की मजाक उड़ाता था। रोटी और पत्थर दोनों मिथ्या हैं तो रोटी के बदले पत्थर क्यो नही खाते ऐसा तर्क करता था। लगता है ऐसे बचपने से ही ये सब द्वैतवादी गुजरे हो। बहुत सारे नैयायिकादियो में भी यही बात लागू होती है। वास्तविकता यह है कि परम्परा मे जिसे जो दर्शन प्रथम प्राप्त होता है, उसी को वह सर्व मूर्धन्य मानता है। श्री वामाचरण भट्टाचार्य कहते थे न्याय ही एक शास्त्र है। अन्य सब न्याय के उपजीवी हैं। यही महान नैयायिक एव वैशैषिक श्री शंकर मिश्र भी मानते थे। उन्होंने भेदरत्न नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। कुछ गाली जैसे शब्द जोड़ते हुए वे लिखते हैं—

भेदरत्नपरित्राणे तार्किका एव यामिका:
अतो वेदान्तिन: स्तेयान् निरस्यत्येष शंकर:।।

इसका उत्तर आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने उन्ही के शब्दो मे अद्वैतरत्नरक्षण नामक ग्रन्थ मे इस प्रकार दिया—

अद्वैतरत्नरक्षायां तात्त्विका एव यामिका:।
अतो न्यायविद: स्तेयान् निरस्याम: स्वयुक्तिभि:।।

श्रीशकरमिश्र ने वेदान्त ग्रन्थ 'खण्डन खण्ड खाद्य' पर सुन्दर टीका लिखी है। किन्तु प्राय सर्वत्र प्रथम सरल सुन्दर व्याख्या लिखकर एकाध पंक्ति मूल के खण्डन रूप में भी वे लिख डालते है, उससे प्रतीत होता है कि उनके मन में कुछ अभिनिवेश सा घुसा हुआ था। न्याय शास्त्र ही ठीक है यह अभिनिवेश न होता तो स्तेनादि शब्द का प्रयोग वे न करते।

शकरमिश्र से भी बढ़कर बाद में एक अतिधुरंधर नैयायिक हुए जिनका नाम श्री रघुनाथ शिरोमणि है। नव्यन्याय के जन्मदाता गङ्गेशोपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'दीधिति' नाम की व्याख्या श्री रघुनाथ शिरोमणि ने अति सक्षिप्त शब्दों में की। जिसके लिये श्री गदाधर भट्टाचार्य का शब्द है—

''संक्षिप्तोक्त्यतिदक्षदीधितिकृत:''

उसी 'दीधिति' पर श्री जगदीशतर्कालकार और श्री गदाधर भट्टाचार्य की दो व्याख्याए न्याय जगत मे अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। आचार्य पर्यन्त इन्ही दो विभूतियो की व्याख्या के साथ 'दीधिति' का अध्ययन पूर्ण होता है।

श्री रघुनाथ शिरोमणि का न्याय दर्शन और वेदान्त दर्शन के प्रति कैसा दृष्टिकोण रहा, इसका परिशीलन करने के लिये ही यह प्रसङ्ग हमने उठाया है। श्री रघुनाथ शिरोमणि 'चिन्तामणि' की 'दीधिति' के अंत में लिखते हैं—

विदुषां निवहैरिहैकमत्या
यद्दुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्।
मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे
रघनाथे मनुतां तदन्यथैव।।

विद्वत समूह ने इस न्याय शास्त्र म एक मति में जिसे जिसे दोषयुक्त और जिसे निर्दोष बताया, कल्पनाधिनाथ रघुनाथ (शिरोमणि) जल्पकथा मे उतरता है तो समस्त को वह बिल्कुल विपरीत होगा। अर्थात् दूसरो ने निर्दोष जिसे बताया वह दोषपूर्ण होगा और सदोष जिसे बताया वही निर्दोष निकलेगा।

यद्यपि यह एक गर्वोक्ति है, किन्तु शिरोमणि ने उसे सार्थक किया और उनके पूर्व मे आये पक्षधरमिश्रादि धुरधर नैयायिको का निराकरण कर उसे यथार्थोक्ति म परिणत कर दिया। इस पर चार चाद लगाने वाले जगदीशतर्कालंकार और गदाधर भट्टाचार्य ने तो नव्यन्याय को दुष्पार अगाध सागर ही बना दिया, जिसमे सहयोगी गोलोक बच्चा झा आदि धुरधर नैयायिक बने।

यह रघुनाथ शिरोमणि का न्याय शास्त्र के प्रति दृष्टिकोण हुआ और अब वेदान्त के प्रति दृष्टिकोण कैसा था यह देखे। श्री श्रीहर्ष मिश्र के आनर्वचनीयता सर्वस्व (खण्डन खण्ड खाद्य) की व्याख्या करते हुए श्री रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं—

धीराः कुशाग्रमतयो नितरा नितान्त—
वेदान्ततन्त्रमिह ये परिशीलयन्ति।
तेभ्यो ममेदमुपढौकितमल्पबुद्धे·
क्षोभप्रदं यदि तदा मम कोऽपराध ।।

परमार्थ धी देने वाले धैर्यधारी तीक्ष्णमति हे महामनीषियो जो आप निरन्तर गहराई से वेदान्त शास्त्र का परीशीलन श्रवण मननादि करते रहते है आपको यह भूषामणिरूप उपहार क्षोभकारी हो सकता है, क्योकि मै अल्पबुद्धि हू आप महाबुद्धिदाया है। आपको यह तुच्छ ही लगेगा। आप कहेगे—लोग तो हीरा सोना लाकर रखते है यह काच का टुकडा रखकर भूषामणि बोलता है तो मेरा दोष इसमे क्या है? अल्पबुद्धि के पास जो है सो रख दिया। अब आप पूर्वदर्शित घोर गर्वोक्ति और वेदान्त के सामने अभूतपूर्व इस नम्रता की तुलना कीजिये। आसमान—जमीन नही, आसमान—पाताल का अन्तर दीखेगा।

वेदान्त मे आचार्य पदवी बहुतो की है—चित्सुखाचार्य, पद्मपादाचार्य इत्यादि। न्याय म एक ही आचार्य सर्वमान्य है उदयनाचार्य। शकर मिश्रादि भी उनको आचार्य पद से ही कहते है। अर्थात् वे सर्वमान्य आचार्य है, वे कहते हैं—

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति—
स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्री.।।

ज्ञेय वस्तु का (स्व मे) भेद ठुकराकर बुद्धि (ज्ञान) की वृत्ति नही होती। मै घट हू या मेरा ज्ञान ही घट है, ऐसा कोई भी अनुभव नही करता। मे घट को जानता हू इस प्रकार कर्मकारक रूप में ही ज्ञान में घट भासता है। अर्थात् बीच मे भेद का अनुभव सबको होता है। यदि कहो कि वह भेद बाधित है केवल सत्त्वेन प्रतीयमान है तो यह वेदान्त का सिद्धान्त है, क्योकि असत् शशविषाणादि की प्रतीति नही होती। अत असद् से भिन्न है। बाधित होने से सत् भी नही है। यही तो मिथ्यात्व है। ज्ञेय दृश्य को लेकर ही वेदान्ती कहते है—जगत मिथ्या दृश्यत्वात्। यह

फिर वेदान्त सिद्धान्त की विजयश्री है। आगे उदयनाचार्य ने कहा—"**तथागतमतस्य तु कोऽवकाश:**" तथागत मत=बौद्धमत के लिये अवकाश कहाँ है? यहाँ '**वेदनये**' शब्द में वेदान्त नाम तर्क मात्र कल्पित कोई मत विशेष नहीं किन्तु वेद ही है जो सर्व आस्तिक मान्य है यह ध्वनित किया। जय श्री शब्द में श्री जोड़कर महान आदर प्रगट किया। ऐसी स्थिति में उदयनाचार्य के आत्मतत्त्वविवेकादि ग्रन्थों पर टीका लिखने वाले श्रद्धालु तात्कालिक शंकर मिश्र वेदान्तियों को भदन्त नाम कहें तो उनकी मस्तिष्क की विकृति मात्र वह समझा जायगा।

मीमांसादर्शन में भी दो धुरन्धर विद्वान जो हुए श्री कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र वे भी वेदान्त के प्रति निष्ठावान थे। भट्टपाद कहते हैं—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु— रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयस्तु बोध: प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन।।

महर्षि जैमिनि ने आत्मा (परमात्मा) के बारे में कोई विचार नहीं किया। इससे अध्येताओं को यह भ्रान्ति होगी कि मीमांसा मत में परमात्मा नहीं है। धर्म ही फलदाता है। इस प्रकार नास्तिकता न हो इसके लिए भाष्यकार शबरस्वामी ने बीच में आत्मा की सामान्य चर्चा की। परमात्मविषयक वास्तविक बोध दृढ़ता को तभी प्राप्त होगा जब वेदान्त का निषेवण (नितरां और नितान्त) सेवन हो।

श्री प्रभाकर मिश्र ने भी बृहती में बताया—

अहंकारममकारावनात्मन्यात्माभिमानौ,
मृदितकषायाणामेवैतत् कथनीयम्।।

शरीरादि अहंकार पर्यन्त सबमें अहं प्रत्यय और मम प्रत्यय होता है। यह अनात्मा में आत्माभिमान है। उस अभिमान का प्रतियोगी आत्मा कौन है? यह मृदितकषाय अधिकारी को ही बताना चाहिए। अत: शबरस्वामी ने उस पर कुछ नहीं कहा। इस भाष्य व्याख्या बृहती में अहं प्रत्यय विषय को अनात्मा बताया तो उससे इन सबसे भिन्न अर्थात् परिच्छिन्न सर्ववस्तुभिन्न ही आत्मा केवल प्रत्यय मात्र स्वरूप अभिप्रेत सिद्ध होता है। उसका ज्ञान कैसे होगा? किससे होगा? इस पर शबरस्वामी ने स्वयं कहा—'स एष नेति नेत्यात्मेति होवाच' मूर्तामूर्तोभयनिषेधार्थ श्रुति में नेति नेति यह द्विरुक्ति है। वह तत्त्व सर्वनिषेधावधिरूप ब्रह्म ही है यह ध्वनितार्थ है। इसका स्पष्टीकरण "न्यायरत्नावली" में इन शब्दों में किया—

"आत्मा निष्प्रपञ्च ब्रह्मैव"

यही पाठ संभवत: न्यायरत्नावलीकार को उपलब्ध है। मृदितकषायों को ही क्यों कहना चाहिए? इसका स्पष्टीकरण प्रभाकर ने इस प्रकार किया है—

"कर्मप्रसङ्गिने तथा न वाच्यम्।" आह च भगवान् द्वैपायन:
"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्"

इति रहस्याधिकारे। "तस्मान्न विवृतमहंकारममकारयोरनात्मविषयत्वं भगवता भाष्यकारेण (शबरस्वामिना) द्वैपायनवचनानुरोधान्नाज्ञानादिति।" "कर्मव्याख्यास्थल में अद्वैतात्मविचार करने

पर कर्मपरायण लोगों का बुद्धिभेद होगा। अत: ऐसा न करो यह द्वैपायन की ही आज्ञा या अनुरोध है। मीमांसक लोग आत्मा को न पहचानने के कारण परमात्मनिरूपण नहीं किया या खण्डन किया ऐसी बात नहीं है।'' इन सब बातों का पर्यालोडन करने से निश्चित होता है कि मीमांसक भी अद्वैतवाद में ही निष्ठा रखते रहे।

सांख्यदर्शन एवं योगदर्शन वेदान्त के समीपतर ही हैं। सांख्यकारिका में बताया है–

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।

नास्मि अर्थात् शरीरादि तादात्म्य से ब्राह्मणोऽस्मि गौरोऽस्मि इभ्योऽस्मि इत्यादि नही। और न मे मम शरीरं धन पुत्रादय इत्यादि नही। नाह। अहकारपरिच्छिन्नाहभावना भी न करे। यही तो वेदान्त में भी बताया। नाना जीवभेदादि कुछ अंश मात्र छोड़ें तो साख्य के साथ वेदान्त का कोई विरोध नहीं होगा। अनिर्वचनीयता भी योगदर्शन में ध्वनित है।

''कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्''

नष्ट भी अनष्ट कैसा? देवदत्त पड़ोसी के लिये मरा, बेटों के लिये जिन्दा ऐसा होता है क्या? प्रकृतिरूपी माया अनिर्वचनीय है यही तात्पर्य है। अस्तु। दर्शनीयतम दर्शन तो वेदान्त दर्शन है, जहां सभी बातें स्पष्ट हैं। अत: वेदान्त दर्शन दर्शनीयतम है सर्वोपरि है यह निश्चित होता है।

—: अद्वैतसिद्धि:—

वेदान्त दर्शन में सूत्र भाष्यादि अनुपम ग्रन्थ तो है ही। इनसे अतिरिक्त प्रक्रिया ग्रन्थ एव प्रकरण ग्रन्थादि के रूप में मुद्रित अमुद्रित हजारों ग्रन्थ भी विद्यमान हैं। जिनके रचयिता बड़े–बड़े विद्वान हुए। उन्हीं में प्रस्तूयमान अद्वैतसिद्धि अन्यतम है। कुछ भावुक सन्त एव पण्डितो मे यह प्रचलित है कि उपनिषत् गीता एव ब्रह्म सूत्र ये लघुप्रस्थानत्रय है और चित्सुखी खण्डन एव अद्वैतसिद्धि बृहत्प्रस्थानत्रय हैं। यह तो सन्तों की भावुकता ही है। भावुकता मे आकर जो भी कहते हैं वह अधिक विमर्शनीय नहीं होता है। फिर भी तत्त्वान्वेषियों की जिज्ञासा प्रशमनार्थ कुछ कहना भी पड़ता है। विद्या स्थान को ही प्रस्थान कहते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में विद्यास्थान बताया।

पुराणन्यायमीमांधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता:।
वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

इन्ही को लेकर वररुचि (पुष्पदन्ताचार्य) ने महिम्नस्तोत्र में

''त्रयी सांख्यं योग: पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने''

इस प्रकार प्रस्थान शब्द से कहा। श्री मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक की व्याख्या में अन्य सभी शास्त्रों का उपलक्षण मानकर सबको प्रस्थानान्तर्गत बताया। अनुक्त विलक्षण अर्थों को लेकर प्रस्थान भेद हैं। अतएव वैशैषिक को न्याय में अंतर्गत किया। वेदान्त को मीमासा में इत्यादि सरस्वती जी ने बताया। इसी के सदृश आधार पर वेदान्त में भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान

दो बताये, क्योंकि दोनों में परस्पर विलक्षण प्रक्रिया बतायी गयी है। जिनका परस्पर मे समावेश नही होता। गीता महाभारतान्तर्गत होने से धर्मशास्त्र रूप प्रस्थान है। उपनिषत वेदान्तान्तर्गत है। ब्रह्मसूत्र मीमामान्तर्गत है। फिर भी तत्त्वज्ञानरूप परमधर्मप्रतिपादकत्वेन विशिष्ट प्रस्थानरूपेण कहे जाते हैं। चित्सुखी, खण्डन तथा अद्वैतसिद्धि को तीन प्रस्थान के रूप में कहीं उल्लेख भी नहीं है और न ऐसे व्यवहार की कोई शिष्ट परम्परा है और अत्यन्त विलक्षण भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादकता भी नहीं है। इनमें लघुत्व और बृहत्व की विवेचना भी कठिन है। कलेवर छोटा बड़ा होने से लघु बृहत् कहें तो लघुतम ब्रह्मसूत्र, लघुतर गीता, लघु उपनिषत इत्यादि भी कहना पड़ेगा और बृहत् चित्सुखी, बृहत्तर खण्डन, बृहत्तम अद्वैतसिद्धि ऐसा भी प्रस्थान भेद होने लगेगा। भाष्यादि सहित कहे तो ब्रह्मसूत्रभाष्य अद्वैतसिद्धि से लघु नहीं है। विषयगाम्भीर्य को लेकर कहते है तो विपरीत ही सिद्ध होगा। अत: अपनी अपनी भावना के अनुसार लघु बृहत् कहने लगे यही मानना समीचीन लगता है।

सत लोगों की एक और भी उत्प्रेक्षा प्रचलित है। अद्वैतसिद्धि वाद ग्रन्थ है। चित्सुखी जल्पग्रन्थ है। खण्डन वितण्डा ग्रन्थ है। यह भी पूर्ववत् भावनामात्राश्रित है। वाद का संक्षिप्त लक्षण है– "**तत्त्वबुभुत्सो: कथा वाद:**"। तत्त्व जिज्ञासुओ की कथा वाद है। अद्वैतसिद्धि में श्रीमान व्यासराज और श्री मधुसूदन सरस्वती का शास्त्रार्थ उपनिबद्ध है। अपने–अपने सिद्धान्त पर दोनो अटल होने से तत्त्वबुभुत्सा दोनो मे नही रही। व्यास राज का लक्ष्य अद्वैतमत खण्डन मात्र सा दीखता है। सरस्वतीजी का लक्ष्य परमत खण्डन और स्वमत मण्डन मात्र है। जल्प का लक्षण कुछ घटता है। "**विजिगीषुकथा जल्प:**" ऐसा जल्प का संक्षिप्त लक्षण है। दोनों ही विजिगीषु यहा इस प्रकार लक्षित होते हैं। न्याय सूत्रानुसार विस्तृत लक्षण हैं–

"**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ: सिद्धान्ताऽविरुद्ध: पञ्चावयोपपन्न: पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद:**"। "**यथोक्तोपपन्न: छलजातिनिग्रस्थानोपालम्भो जल्प:।**" "**स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।**" एतदनुसार तत्त्वबुभुत्सा वादलक्षण में प्रविष्ट नहीं है, ऐसा कहो तो जल्प लक्षण चित्सुखी में नहीं होगा। क्योंकि वहां छल–जाति आदिरूप दुष्ट प्रयोग नहीं है। खण्डनखण्डखाद्य वितण्डा ग्रन्थ है यह भी गलत है। स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा यह लक्षण खण्डन में नहीं है। खण्डन की यह पंक्ति है–

"**तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीय: ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम्**"
"**वस्तुवस्तु वयं सर्व प्रपञ्चनसत्त्वासस्वत्त्वव्यवस्थापननिविवृत्ता: सिद्ध**"
चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्था: सुखमास्महे"।।

यह पूर्वपंक्ति भी द्रष्टव्य है। इसके बाद प्रमाणोपन्यास भी बड़े सुन्दर ढग से किया "**श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणम्। श्रूयते खलु एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचनेत्यादि।**"

सन्त लोग सीधे सादे होते हैं। शुरूआत से अन्त तक खण्डन, खण्डन, सो भी अति जटिल देखकर बोलने लगे यह वितण्डा ग्रन्थ है। चित्सुखी में भी जगह–जगह महाविद्यानुमानादि देखकर जिनका अर्थ लगाकर थक जाने से कहने लगे कि यह सब दूसरों को चुप करने के लिये, जीतने के लिये लिखा है, इससे क्या तत्त्वज्ञान होगा? अत: यह विजिगीषु कथा जल्प है। किन्तु

अद्वैतसिद्धि में न ऐसा कर्कशतर्कात्मना परखण्डन है और न महाविद्यानुमानादि मुखबंदी उत्तर है। यहां तो वक्तव्य विषयों का सुन्दर सरल ढंग से वर्णन है। अतः यह वाद ग्रंथ है। इस प्रकार ऊपर लक्षणों को लगाकर संतों ने वाद–जल्प वितण्डा भेद किया, ऐसा लगता है।

जैसा भी हो। अद्वैतसिद्धि वेदान्त का एक महान ग्रन्थ है इसमें दो राय नहीं है। परिमार्जित भाषा में विषयनिरूपण करना अद्वैतसिद्धि की खास विशेषता है। स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन अत्यन्त स्पष्ट एवं सुलझी हुई अनुद्वेगकारी भाषा में प्रस्तुत करने मे श्री सरस्वतीजी की कुशलता स्पष्ट झलकती है। ''अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहित च यत् स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते''। ये सारी बातें अद्वैतसिद्धि में साफ निहार सकते हैं। स्वाध्यायभ्यसनं का वेदाभ्यास अर्थ प्रसिद्ध है। वह भी ''विश्वं सत्यं मघवन्'' इत्यादि मन्त्र व्याख्या में अध्येता देख सकते हैं। अतएव अद्वैतसिद्धि आचार्य का वाङ्मय तप कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यद्यपि यह ग्रन्थ द्वैतसंप्रदायी माध्वाचार्य के अनुयायी व्यासतीर्थविरचित न्यायामृत का खण्डनात्मक निबन्ध है, तथापि प्रथम पढ़ते समय कहीं भी ऐसी झलक नहीं मिलती जिससे कि यह लगे कि यह किसी ग्रन्थ विशेष का खण्डन किया जा रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि अद्वैतसिद्धि की व्याख्या गौड़ ब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) में भी यह आभास नहीं मिलता कि मूल तथा टीका खण्डनात्मक ग्रन्थ है। स्वीय सिद्धान्त प्रतिपादन में स्वतः उपस्थित होने वाले या स्वय उठाये हुए पूर्वपक्ष का ही निराकरण करते हुए विषय प्रतिपादन किया जा रहा है, ऐसा सबको लगता है। हा गौड़ ब्रह्मानन्दी में कहीं–कहीं माध्व निर्देश किया है। किन्तु विप्रतिपत्ति प्रथम मूल में दिखाने मे शास्त्रार्थ मे स्वतः उपस्थित होने योग्य नैयायिक बौद्ध माध्व रामानुजादि का वह उल्लेख है ऐसी ही प्रतीति होती है। माध्वादि ऐसा आदि पद जोड़कर लघुचन्द्रिकाकार ने बड़ी कुशलता से ऐसी छाप अध्येताओं में डाली है। मतलब न्यायामृत पढ़ते समय जैसे लगता है कि द्वेषपूर्वक या अभिनिवेशपूर्वक शांकर अद्वैत मत खण्डन किया जा रहा है, ऐसा अद्वैतसिद्धि या लघुचन्द्रिका पढ़ते समय नहीं लगता है।

विद्वत् शिरोमणि श्री अनन्त कृष्ण शास्त्री विरचित चतुर्ग्रन्थीसार देखने पर इतना जरूर लगता है कि द्वैतवादियों का इस प्रकार यहां पूर्वपक्ष ग्रन्थ है और इस प्रकार उसका समाधान किया गया है। ऐसा नहीं लगता कि यह अनुपूर्व न्यायामृत खण्डन है। यद्यपि अद्वैत सिद्धि में कई जगह कई पुष्ठों में उल्लिखित न्यायामृत पूर्वपक्षों को खण्डन किये बिना ही छोड़ दिया है किन्तु पूर्व खण्डन से गतार्थ होने से और कई जगह ग्रन्थ विस्तार मात्र होने से वहां अक्षरशः खण्डन नहीं किया। इतनी बात अवश्य है कि सजा–सजाया क्रमबद्ध पूर्वपक्ष श्री सरस्वतीजी को मिल गया स्वबुद्धिवैभव मे उसका निराकरण मात्र उनको करना था। नूतन ग्रन्थकार को जो पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष दोनों को सजाकर लिखने की मेहनत होती है, वह उनको नहीं करनी पड़ी। परन्तु न्यायामृतकार ने भी सजे सजाये दूषणों का (या दूषणाभासों का) ही संग्रह मात्र किया। यह बात स्वयं उन्होंने प्रत्येक परिच्छेद के अंत में लिखा–''**व्यासयतिना संगृहीते न्यायामृते**''। इसका मतलब हुआ कि उन को अद्वैत निराकरण के लिये अपनी बुद्धि लगानी नहीं पड़ी। नाना स्थानों

में बिखरी पड़ी सामग्री का संग्रह मात्र करना पड़ा। श्री सरस्वती जी ने गुरुकृपा से, स्वीय विविधविद्या परिचय से एवं मनन से परिनिष्पन्न तत्त्व को अद्वैतसिद्धि में प्रस्तुत किया, यह बात ''**निखिलमतियत्नेन निहितं**'' इस अद्वैतसिद्धगत वाक्य में स्पष्ट है।

—: शास्त्रार्थ पद्धति से ग्रन्थोपक्रम :—

तत्राद्वैतसिद्धिर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात् इत्यादि स्वकृत उपक्रमानुसार आचार्य ने शास्त्रार्थ पद्धति से प्रथम द्वैतमिथ्यात्व को सिद्ध किया। प्रथम परिच्छेद लगभग पूरा ही द्वैतमिथ्यात्वानुमान का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। एकजीववाद एवं अज्ञानवादादि कुछ ही अंश अतिरिक्त है। शास्त्रार्थ में प्रथम विप्रतिपत्ति मध्यस्थ के द्वारा उपस्थित की जाती है। 'ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्न प्रतिपन्नोपाधौ त्रैलाकिकनिषेधप्रतियोगि न वा' इस प्रकार वही विप्रतिपत्ति आचार्य ने प्रस्तुत की। '' यह व्यावहारिक संसार मिथ्या है या नहीं'' यही विप्रतिपत्ति का अर्थ है। विप्रतिपत्ति क्यो रखनी चाहिए? इसलिए कि किसी विषयान्तर को लेकर एक दूसरे को पराजित न करे जिससे मुख्य विषय किनारे रह जाये। पर ऐसे शास्त्रार्थ मे वेदान्तियो को उतरना ही क्यो चाहिए? यह प्रश्न होगा। उत्तर यही है अपने आप मे क्या न्यूनता है यह मालूम पड़ेगा। सार्वकालिक दृढ़ सस्कार उत्पन्न करने का मौका मिलेगा। व्युत्पत्ति वृद्धि होगी। अत· शास्त्रार्थ की उपयोगिता है और विप्रतिपत्ति प्रदर्शन भी सार्थक है।

व्यावहारिक जगत् मिथ्या दृश्यत्वाद् जड़त्वात परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत् इस प्रयोग में ''**हेतूदाहरणाधिकमधिकम्**'' इस न्याय सूत्रोक्त अधिकनामक निग्रहस्थान क्यों नहीं, तीन—चार हेतु बोलना व्यर्थ है। नहीं। ये अनुमान ही तीन हैं। जिनमें जो उपस्थित है सो बोलें। ग्रन्थकार ने तीनों एक साथ में लिख दिये।

:— मिथ्यात्व के पांच लक्षण :—

(१) मिथ्यात्व के पांच लक्षण इसके बाद बताये। '' **तत्र मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचन:**'' इस पंचपादिका के अनुसार सदसद्भ्यमनिर्वचनीयत्वं या सदसद्भिन्नत्व यह प्रथम लक्षण है। त्रिकालाबाध्यत्वरूपी सत्व जगत मे नहीं है और शशविषाण के समान जगत असत् भी नही है। असद्भिन्नत्व क्यों कहना चाहिए, वह सर्वस्वीकृत है। माना। सद्भिन्नत्व लक्षण तो वहा जायेगा। अतिव्याप्ति तो होगी ही। असत् कुछ है ही नहीं। उसमे कोई धर्म नही तो अतिव्याप्ति दोष कैसे उसमें रहेगा? उसमें धर्म नहीं, यह अधिकरणत्व आप कैसे कहते हैं जब धर्म नहीं है। शब्दज्ञानानुपाती मानेंगे तो वैसे ही अतिव्याप्ति भी समझ लो। कहीं शशविषाण को मिथ्या न समझें इसके लिए भी असद्भिन्नत्व भी जोड़ा जाता है। जो शशविषाण को कुछ समझते ही नहीं है उनके लिये पञ्चमलक्षण सद्भिन्नत्वमात्र है ही।

(२) **प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व** यह दूसरा लक्षण है। जगत के ज्ञाताश्रय ब्रह्म में जगत का अभाव है। जैसे मिथ्या रजताश्रय शुक्ति में रजत का अभाव है। ब्रह्म रूप न होने से अभाव अतात्त्विक है। अतात्त्विक कहो तो भी व्यावहारिक है। किन्तु अतात्त्विक हो तो उसका भी निषेध होगा तो प्रतियोगी जगत खड़ा होगा। जैसे घटाभाव का निषेध करो तो घट खड़ा होता

है। नहीं। दृश्यत्वेन जगत और जगदभाव दोनों का निषेध होने से जगत खड़ा नहीं हो सकता। जैसे घट के प्राक्कालीन अभाव और घट दोनों का निषेध घट ध्वसकाल मे होता है, फिर घट उत्थित भी नहीं होता।

(३) **ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वं** यह तीसरा लक्षण है। वार्त्तिक में बताया है– ''तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रत:। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति'' यह रज्जु है समझ लिया करो द्रष्टा स्वयं कहेगा–न यहां सर्प था, न है और न होगा। वैसे ही ब्रह्मदर्शन होने पर अनुभव में आयेगा कि यहां न जगत था, न है और न होगा। और वही यथार्थता है।

(४) **स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व मिथ्यात्वं** यह चतुर्थ लक्षण है। यह लगभग द्वितीय लक्षण के समान ही है। स्वात्यन्ताभाववति सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं ऐसा लक्षण का स्वरूप असत् में अतिव्याप्तिवारणार्थ सरस्वतीजी ने किया ही परन्तु असत का अधिकरण ही अप्रसिद्ध होने से ही लक्षण असत् में नहीं आयेगा। शेष द्वितीय लक्षण के समान ही हैं।

(५) **पञ्चम लक्षण सद्भिन्नत्व** है। प्रमाणसिद्धभिन्नत्व उसका अर्थ बताया और असत में अतिव्याप्तिवारणार्थ पूर्ववत् सत्त्वेन प्रतीयमानत्व जोड़ना होगा।

आद्यं स्यात् पञ्चापाद्युक्तं ततो विवरणोदिते।
चित्सुखीयं चतुर्थं स्या–दन्त्यमानन्दबोधजम्।।

–: मिथ्यात्व मिथ्या है कि नहीं :–

यह मिथ्यात्व मिथ्या है या सत्य? मिथ्यात्व मिथ्या है तो प्रपञ्च में मिथ्यात्व वस्तुत: नहीं अत: सत्य होगा। मिथ्यात्व यदि सत्य है तो वैसे प्रपञ्च भी सत्य होगा। इस प्रकार द्वैतवादियो ने पूर्वपक्षी उठाया है। परन्तु मिथ्यात्व वाले जगत को व्यावहारिक सत्य मानने वाले अद्वैतवादी के मत में मिथ्यात्ववाला मिथ्यात्व भी व्यावहारिक सत्य होगा, इसमें पारमार्थिक सत्य कैसे सिद्ध होगा? दृश्यत्वेन रूपेण जगत् तथा मिथ्यात्व दोनों का निषेध होने से सत्यत्व उभरेगा नहीं।

–: हेतुओं पर विचार–प्रथम हेतु–दृश्यत्व :–

यहां तक साध्य मिथ्यात्व निरूपण के बाद दृश्यत्वादि हेतु पर विचार किया। वृत्तिव्याप्यत्व, फलव्याप्यत्व, चिद्विषयत्व, संविदन्तरापेक्षित्व, अस्वप्रकाशत्व जैसे छह विकल्प दृश्यत्व के बारे में उठाकर फलव्याप्यत्वातिरिक्त सबको मूलकार ने मिथ्यात्व साधक माना। दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्ग प्रकल्प में दृश्य होने से मिथ्या कैसे यह स्पष्ट होगा। ब्रह्म दृश्य नहीं स्वय प्रकाश है।

–: जड़त्वादि अन्य हेतुओं पर विचार :–

जड़त्व का अज्ञानत्व और अनात्मत्व दो व्याख्या स्वीकृत हुई। अस्वप्रकाशत्व भी मान लिया गया है। परिच्छिन्नत्व देशत: कालत: और वस्तुत: ऐसे तीन प्रकार से हैं। देशत: परिच्छेद अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व है। कहीं है कहीं नहीं। जैसे घटादि। कालत: परिच्छेद ध्वंसादि प्रतियोगित्व है। कभी है कभी नहीं है। वस्तुत: परिच्छेद अन्योन्याभाव प्रतियोगित्व है अर्थात् परस्पर भिन्नत्व। अनन्त में परिच्छिन्न का होना न होना बराबर है। अत: स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगी है। अंशित्व का अर्थ सावयवत्व है। परमाणु भी सावयव है। उसके भी पूर्वपश्चिमादि दिग्विभाग है।

इस प्रकार अनन्तावयव होने पर मेरू सर्षप समानतापत्ति होगी यह दोष दिया परन्तु इसका परिहार प्रतिवादी को ही करना है। जो भी अवयव होगा उसका पूर्वपश्चिमादि विभाग मानना पड़ेगा। अन्यथा एक परमाणु में दूसरे परमाणु घुसेंगे तो कभी महत्व नहीं आयेगा। न घुसने के लिये एकदेश संयोग मानना पड़ेगा तो अंशित्व होगा। **अयं पट: एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अंशित्वात् इतरांशिवत्** ऐसा अनुमान चित्सुखाचार्य ने किया।

—: उपाधिनिरास :—

स्वाधिकसत्ताकदोषप्रयुक्त भानत्व कह कर उपाधि

बाद मे इन दृश्यत्वादि हेतुओं में सोपाधिकत्व का निरास आचार्य ने किया। बाध्य रजतादि की अपेक्षा अधिकसत्ताक दोषप्रयुक्तभानत्वं रजत में है। चाकचिक्य व्यावहारिक है परन्तु जगत् से अधिक सत्ताक तो केवल ब्रह्म है वह दोष नहीं है। अत: साधनाव्यापक है। माया दोष है। किन्तु उससे बाध्य जगत का भान नहीं है। उससे अधिकसत्ताक की जगह 'स्वबाधकाऽबाध्य' मूल में उल्लिखित है। (हमने सरलता के लिये अधिक सत्ता लिखा) सत्ता ब्रह्म में है पर वह दोष नहीं। दोष माया है। उसमें अधिक सत्ता नहीं है। अत: साध्यव्यापक तथा साधनाव्यापक हुआ। परन्तु देहाध्यास में स्वाधिकसत्ताकदोषप्रयुक्तभानता नहीं है। ''ब्राह्मणो यजेत'' इत्यादि वचन से देहात्मध्यास व्यावहारिक है, किन्तु मिथ्या भी है। उससे अधिक सत्ता दोष में न होने से साध्यव्यापक नहीं है।

—: आभास साम्य निराकरण :—

अनुमान में एक आभास साम्य भी दोष होता है। **ब्रह्म प्रातिभासिकं दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्** ऐसा क्यो न कहा जाये? हेतु असिद्ध है। **'यत्तदद्रेश्यं'** इस श्रुति में बताया वह दृश्य नहीं है।

—: साध्यदोषनिराकरण:—

इस प्रकार हेतु का उपपादन करने के बाद साध्य की ओर मुड़ते हैं। बाधदोष साध्य को लेकर होता है। प्रत्यक्षत: बाध, साक्षबाध, अनुमानत: बाध, आगम बाध ऐसे नाना प्रकार से बाध होता है। प्रथम में जगत में सत्ता (अस्तित्व) प्रत्यक्ष है। अत: मिथ्यात्व असिद्ध होने से हेतु बाधित है पर शुक्ति रजत में भी अस्तित्व दीखता है। यह रजत है ऐसा बोलते हैं। तो वहां भी मिथ्यात्व बाधित है बोलो। यह घट है ऐसा ज्ञान प्रमा है। वह रजत है यह ज्ञान भ्रम है। प्रमाविषयत्वं सत्यत्वं ऐसा लक्षण सत्ता का करेंगे। पर प्रमा तो आंखों से नहीं दिखती है तो प्रत्यक्ष बाध कैसे कहोगे। सफल प्रवृत्ति अनुमान करो तो अनुमानबाध हुआ प्रत्यक्ष बाध कहां हुआ। जैसा सत्यत्व ब्रह्म में वही सत्यत्वं जगत में है कहो तो ब्रह्म की सत्यता ही जगत में है। जगत की स्वतंत्र सत्यता नहीं है यही अर्थ निकलेगा। स्वतन्त्र सत्यता नहीं माने मिथ्या है। त्रैकालिकनिषेधाऽप्रतियोगित्व कहो तो तीन काल, अनन्त काल प्रत्यक्ष कहां है। सामान्य लक्षणा को नैयायिकों ने ही अमान्य कर दिया है। अत: प्रत्यक्ष बाध कहना संभव नहीं है। साक्षी बाध भी नहीं होगा। साक्षी अविद्यमान को प्रकाशित नहीं करता।

सन् घट: यहां सत् ब्रह्म अधिष्ठानरूप से भासता है। सत् अभाव: इत्यादि भी उसी प्रकार

है। सत्ता जाति अर्थ नहीं। सद् रजत यहां अधिष्ठानानुवेध मात्र है। उससे सत्य (सत्यत्व) सिद्धि नहीं होगी।

—: प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यता :—

जगत मिथ्या इस अनुमान से प्रबल जगत सत्य है। यह प्रत्यक्ष ही है। अतएव आगम से भी प्रत्यक्ष प्रबल है क्योंकि प्रत्यक्ष ही प्रथम प्रमाण है। उसके पीछे अनुमानादि है। प्रत्यक्ष से जगत की सत्यता सिद्ध है। इस पूर्वपक्ष का उत्तर है कि चन्द्र सूर्यादि थाली बराबर है,ऐसा प्रत्यक्ष है। वह अनुमान और आगम को जो विशालतम सिद्ध करने वाले हैं, बाधित करेगा जो किसी भी बुद्धिमान के लिये मान्य नहीं है। तत्तत्प्रत्यक्षों में प्रामाण्य निश्चित हो तभी प्रत्यक्ष प्रबल होता है, आगमविरोध होने या प्रत्यक्ष में प्रामाण्य निश्चित नहीं होता।

—: प्रत्यक्षस्यागमबाध्यता :—

प्रश्न यह है कि प्रत्यक्ष उपजीव्य होने से प्रबल है। प्रत्यक्ष के पीछे अनुमानादि का जीवन है, अस्तित्व है। धूम को और पर्वत को देखा जाये तभी तो अनुमान हुआ। शब्द सुना तभी बोध हुआ। बात सत्य है। किन्तु एतदर्थ व्यावहारिक सत्यता ही अपेक्षित है पारमार्थिक प्रत्यक्ष की जरूरत नहीं है। घट को पहले कहीं देखा तब भूतल में घटाभाव ज्ञान हुआ तो वह घट को बाधेगा नहीं क्या? सूर्य प्रादेशिकत्व दर्शन का लक्षयोजन विस्तारिवचन से बाध नहीं होता है क्या? औदुम्बरी सर्वा वैष्टयितव्या यह सर्ववेष्टन प्रत्यक्षवचन औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत् इस स्पर्शश्रुत्यनुमेय अवेष्टन से बाधित होता है कि नहीं? होता है।

—: प्रत्यक्ष आगमबाध्य हो तो कहीं भी श्रुति में लक्षणा नहीं होगी:—

शंका होगी कि प्रत्यक्ष यदि आगम बाध्य हो तो यजमन: प्रस्तर इत्यादि वाक्य में लक्षणा (अर्थवादता) क्यों मानते हैं। मान लो—यजमान प्रस्तर (दर्भमुष्टिविशेष) है। तत्त्वमसि में लक्षणा क्यों मानते हो? उत्तर है परीक्षित प्रमाण्य स्थल में प्रत्यक्ष प्रबल होगा। तात्पर्य परीक्षण होने से शब्द प्रबल होगा। वाक्यशेष प्रमाणान्तरसंवाद अर्थक्रिया आदि से प्रत्यक्ष परीक्षण होता है। तात्पर्यलिङ्गादि से आगम परीक्षित होता है।

—: अपच्छेद न्याय :—

अपच्छेद न्याय से भी आगम प्रबल होता है। ''पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्'' उद्गात्रपच्छेद बाद में हो और प्रतिहर्त्रपच्छेद पहले हो तो प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तक सर्वस्व दक्षिणावाला योग बाधित होगा। उद्गात्रपच्छेदनिमित्तक अदक्षिण याग होगा। अध्वर्यु (यजुर्वेदी) आगे आगे, उसके पीछे प्रस्तोता, उसके पीछे प्रतिहर्ता (ये दोनों उद्गाता के सहायक हैं) उसके पीछे उद्गाता (सामवेदी) फिर ब्रह्मा, सबसेपीछे यजमान ऐसे बहिष्पमान स्तोत्र के लिये गमन होता है। लंबी धोती पहन कर विशेष भाग कंधे से पीछे की ओर डालते हैं, उसे कच्छ कहते हैं। आगे आगे वाले का कच्छ पकड़कर, पीछे—पीछे वाले चलते हैं। उनमें किसी का हाथ छूट जाये तो उसको अपच्छेद कहते हैं। दो का अपच्छेद हुआ हो और उनमें प्रतिहर्ता का पहले और उद्गाता का बाद में, वहां के लिये यह व्यवस्था बतायी है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान उपमान, शब्द अर्थापत्ति आदि क्रमिक

है। इन में शब्द बाद का है। वह प्रत्यक्ष को बाधित करेगा।

—: अनुमान से प्रत्यक्ष का बाध ठीक नहीं इसका समाधान :—

मिथ्यात्व प्रत्यक्ष बाधित है, फिर भी अनुमान से जगत में सिद्ध करेंगे तो वह्नि: अनुष्ण: द्रव्यत्त्वात् जलवत् यह अनुमान भी सही होगा। नहीं। त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व का प्रत्यक्षहोता ही कहां है? व्यावहारिकत्वरूपी सत्यत्व को अद्वैत मत में भी है।

प्रत्यक्ष लिङ्गादि से अबाध्य है कहना नितरां गलत है। फिर आप को सूर्यचन्द्रादि थाली जितने ही बड़े है, इसी बात मे अड़े रहना पड़ेगा। आकाश नीला ही है इसे पकड़ रखना पड़ेगा।

सत् घट· यह परीक्षित प्रत्यक्ष प्रमा है। तभी तो उसमें पानी भरते हैं। उससे भावी अनुमानागमादि ही बाध्य है। नहीं। परीक्षा में अर्थक्रियाकारीत्वरूपी सत्यत्व ही सिद्ध हुआ। त्रैकालिकबाधाभावरूपी सत्यत्व नहीं। अत: जगत मिथ्या दृश्यत्वात् यह भावी अनुमान बाधक ही होगा।

अनुमान से अनुमान का बाध भी संभव है।

अनुमान से श्रुति का बाध न हो पर अनुमान से अनुमान का बाध तो होगा ही। वियतं सत् असदन्यत्वे सति प्रातिभासिकान्यत्वाद ब्रह्मवत्। नहीं। प्रतिभासिकान्य देहात्मैक्य भी है। वह सत् नहीं मिथ्या है।

मिथ्यात्व के विशेषानुमान बहुत हो सकते हैं।

''विमतं मिथ्या ब्रह्मान्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्'' इत्यादि सत्ताईस अन्य मिथ्यात्वानुमान सिद्धिकार ने दिखाये हैं।

—: आगम बाधोद्धार प्रसंग में:—

पूर्वपक्षी कहते है अनुमान का आगम से बाध हो सकता है। **''विश्वं सत्यं''** इस श्रुति का क्या करो। ''यच्चिकेत सत्यमित तन्न मोघं'' यह भी श्रुति है। पर अर्थ में 'कुत्र किंलग्नं' वाली बात है। ऋतज्येत्न ब्रह्मणस्पति: इत्यादि पूर्व मन्त्रार्थ को उत्तर मन्त्र में ''स सुष्टुत:'' इस प्रकार स्तुति विषय कहकर फिर प्रशंसावाची शब्दों से स्तुति की। फिर उसी स्तुति वचनों को लेकर कहा— विश्वं=सर्वं स्तुति वचनं सत्यं= यथार्थ, न तु गुणवादमात्रम्। इसी मन्त्र में अच्छेन्द्र ब्रह्मणस्पती यह उत्तरार्ध में आये का संबोधन है—मघवाना। क्या उन दोनों को जगत सत्य है यह पता नहीं था कि बताना पड़ा। समर्थ इन्द्र परमात्मा को लेकर ''यच्चिकेत'' इत्यादि मन्त्र है। वह जो जातना है उसे जैसे 'तदैक्षत बहु स्यां'', तो उसे सार्थक करता है सृष्टिकर देता है वह उस ईक्षण को मोघ—व्यर्थ नहीं होने देता। ''यहां जगत की परमार्थ सत्यता की बात कहां से निकल पड़ी?''

—: असत भी साधक है :—

असत्य हेतु से साध्यमान साध्य भी असत्य ही होगा। दृश्यत्वादि हेतु से साध्य मिथ्यात्व भी मिथ्या हो जायेगा। मिथ्या हेतु से साध्य सिद्ध हो तो आकाश नीलिमा से आकाश मे स्पर्शानुमान भी सत्य होगा इत्यादि पूर्वपक्ष का उत्तर है कि व्यावहारिक सत्य से व्यावहारिक सत्य

भले सिद्ध हो किन्तु त्रिकाला बाध्यत्व या ब्रह्मज्ञाना बाध्यत्वरूपी सत्यत्व सिद्ध नहीं होगा। **न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तंयत्पश्येत् यज्जिघ्रेत्** इत्यादि श्रुति त्रिकाला बाध्यत्व निषेधक है। **अतोऽन्यदार्त, नात्र काचन भिदास्ति** इत्यादि भी श्रुति है। त्रिकाल मतलब सर्वकाल में अबाध्यत्व प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि सर्वकाल प्रत्यक्ष नहीं है।

—: असत् का साधन न मानने में बाधक है। :—

बाष्प में धूमभ्रम होगा तो उससे भी वह्नि का अनुमान सच्चा होता है। असत् को साधक नहीं मानोगे तो रेखातादात्म्येन आरोपित वर्णों से बोध नहीं होना चाहिए। और आप के पूरे लिखित मुद्रित पुस्तकें बेकार हो जायेंगी। रेखा से वर्ण एवं शब्द का अनुमान करेंगे तो मिथ्या ककारादि मे मन्यानुमान स्वीकृत हो जायेगा। ह्रस्व दीर्घादि भी वर्णों में कल्पित है। नाग: नग· नाद: नद· इत्यादि में वह अर्थ बेधबोधमाधक है।

—: दृगदृश्यसम्बन्धभङ्ग :—

जगत मिथ्या दृश्यत्वात् यह अप्रयोजक हेतु है। दीखता है इसलिये मिथ्या है, जो दीखता नहीं वह सत्य है वह उल्टा दिमाग है कि नहीं? ऐसा पूर्वपक्ष भी नाकाम है। दृक् और दृश्य का सम्बन्ध क्या है? दृक् ज्ञान अंदर है। दृश्य घटादि बाहर है। दोनों का संयोग समवायादि कोई सम्बन्ध नहीं बनता। विषय—विषयि—भाव सम्बन्ध द्वैतवादी कहते हैं परन्तु विषयत्व और विषयित्व ये दो ही वह हैं। दोनों एक—एक में रहेंगे। द्विष्ठ नहीं है। सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। इन दोनों को जोड़ने के लिये और कोई सम्बन्ध सम्बन्ध ढूंढो। अत: दृक् और दृश्य का आध्यासिक सम्बन्ध ही रह जाता है। अर्थात् दृक् में दृश्य कल्पित है। तब मिथ्यात्व स्वत: आपतित होगा। यह कहें कि वृत्तिनिर्गम मान्य होने से विषय देशस्थवृत्ति में प्रतिबिम्ब चैतन्य का सम्बन्ध होगा। नहीं। वृत्तिगत प्रतिबिम्ब का वृत्ति से ही सम्बन्ध होगा। घटादि के साथ नहीं। वृत्त्यभिव्यक्त घटावच्छिन्न चैतन्य का सम्बन्ध माने तो चैतन्य का घटादि के साथ आध्यासिक सम्बन्ध ही होगा। **असङ्गो ह्ययं पुरुष:** श्रुति है। घटावच्छिन्न चैतन्य सम्बन्ध घट में मानेंगे तो घट में घट सम्बन्ध होने से आत्माश्रय होगा।

—: प्रतिकर्मव्यवस्था में :—

एक को घट ज्ञान हुआ तो अज्ञान नष्ट हुआ और घट प्रकाश हुआ तो पूरे जीवात्माओं को घट प्रकाश क्यों नहीं होता? और अज्ञान नाश होने से सर्वजगत् प्रकाश से सभी सर्वज्ञ क्यों नहीं होते। अज्ञान कोई सावयव पदार्थ नहीं है कि एक अंश नष्ट हो गया तो अन्य अंश रह जायेंगे। अत: अज्ञान भी असिद्ध है, अज्ञानजन्य होने से जगत मिथ्या है यह भी असिद्ध है ऐसा द्वैतवादियों का पूर्वपक्ष है। उत्तर है—**''साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो''** अज्ञान अनिर्वचनीय है। उसका एकदेशादि कार्य भी संभव है। घट देश में एक व्यक्ति के लिये वह अभिभूत हुआ जब घटाकार वृत्ति हुई। कालान्तर में उसी के लिये फिर उद्भूत हो सकती है। अन्य व्यक्तियों के लिये अभिभूत न होने से सर्वज्ञता आदि पूर्वोक्त कोई दोष नहीं हो सकता।

—: प्रतिकूल तर्क निराकरण :—

सामान्य अंश ज्ञात हो विशेष अंश अज्ञात हो तो भ्रम होता है। 'इदं रजतं' यहां इदमंश

ज्ञात और शुक्ति अंश अज्ञात होने से भ्रम हुआ। ब्रह्म निःसामान्य और निर्विशेष है। अतः भ्रम ही नहीं तो भ्रमविषयत्व ज्ञाननिवर्त्यत्वादि मिथ्यात्व स्वतः बाधित है। इस पूर्व पक्ष का उत्तर है। इद के बिना भी रजतं पश्यामि– रजत देख रहा हू होता है। इदं का एतद्देशवृत्ति अर्थ है। इसको पहले कहां देखा है। बुद्धिविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न में सर्वनाम की शक्ति है। दुकान में जो रजत है वह तब तत् हो चुकता है। उसे समुद्र किनारे कहां देख रहे हैं। कल्पित सामान्य ज्ञान भी कहीं –कहीं होता है। आसमान को देखकर बोलते हैं नीलवर्णं पश्यामि। वहां इद तत् आदि कुछ नहीं है। प्रतीत होना हो तो वह कल्पित है। आकाश न्यायादिमत में निरवयव है। यदि जगत मिथ्या है तो ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**'' इत्यादि सृष्टिश्रुति लयश्रुति आदि संगत न होगी। मिथ्या की कल्पना होती है और बाध होता है, न कि सृष्टि और प्रलय। उत्तर है– शब्द प्रयोग अकिंचित है। मायिक पदार्थों को लेकर ''**माया मया निर्मिता**'' इत्यादि प्रयोग हुआ है।

–: मिथ्यात्व श्रुत्युपपत्ति :–

इस प्रकार विमतं जगत मिथ्या दृश्यतवाद् जड़त्वाद् इत्यादि अनुमान की विवेचना हुई। अतः उसके अनुग्राहक समर्थक श्रुतियों को भी देखिये जो अनुकूल तर्क कोटि में आ जायेंगी। ''**एकमेवाऽद्वितीयं**'' यह श्रुति जगत मिथ्यात्व को स्पष्ट बताती है। यहां यथाश्रुतार्थ में उपजीव्य विरोध दोष पूर्वपक्षियों ने उठाया है। एकम् एव इत्यादि पद ही आप के कथनानुसार मिथ्या है तो बोध कैसे होगा? ये सब द्वितीय विधमान हैं तो ब्रह्म अद्वितीय कैसे होगा? उत्तर है कि एक इत्यादि पद उपजीव्य हो, किन्तु उनमे तात्त्विकत्वाश उपजीव्य नहीं हैं। हम उनमें तात्त्विकत्वांश का ही निषेध करते हैं। अर्थात् व्यावहारिक सत्ता मानते है। ब्रह्मज्ञान बाध्य होने से ब्रह्मज्ञानाऽबाध्यत्व, त्रिकालाबाध्यत्वादि तात्त्विकत्वाश मात्र निषेध करते हैं। **अत्र वेदा अवेदा भवन्ति यत्र हि द्वैतामिव भवति** इत्यादि श्रुति तात्त्विकत्वांश का अपहार करती है।

–: सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम् :–

एकमेवाद्वितीयम् यह श्रुति भी द्वितीयाभाव कहकर द्वैत को मिथ्या कहती है। सजातीय विजातीय स्वगत भेदत्रय निरासार्थ तीन पद हैं। द्वैतवादी कहते हैं। **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।** इस पूर्व वाक्यानुसार पहले सत् था और अब असत् हो गया ऐसा अर्थ करोगे। अतः पहले कारणरूपेण सत् था। द्वितीय का सहाय अर्थ है। सहाय के बिना ही कार्यरूपेण सत् बनाया ऐसा अर्थ है। **सलिल एको द्रष्टा** में भी सलिल शब्द नपुंसक होने से प्रथमान्त नहीं सप्तम्यन्त है। जलरूपी प्रलय में वह एक द्रष्टा रहा अन्य सब बेहोश रहे ऐसा अर्थ करना चाहिए। यह सब ''**बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः**'' इस उनके ही उदाहृत श्रुति का उदाहरण है। **मृतिकेत्येव सत्यं वाचारम्भणं विकारः**। यह दृष्टान्त कहकर श्रुति ब्रह्म को सत्य एव पश्चाद्भव कार्य जगत को मिथ्या कहती है। उपसंहार में ''**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा**'' उसी को स्पष्ट कर दिया है। अतएव द्वितीय का सहाय अर्थ करना भी लाक्षणिक अर्थ होने से व्यग्रतामात्र है। 'अन्यायश्चानेकार्थत्वं' ऐसा मीमांसक सिद्धान्त है। यह विधि में एवं विधिसदृशतत्वकथन में लागू है। द्वितीय वाक्य भी यद्वै

तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येद् इत्यादि दस श्रुति और **यत्र वा अन्यदिवस्यात्तत्रान्योन्यत् पश्यति** इत्यादि अनेक वाक्यों को बाद में पढ़ा है। अत: वहां भी अर्थान्तर करने की कोई गुंजाईश नहीं है।

ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्ति से जगन्मिथ्यात्व (अर्थापत्तिप्रमाण से)

''**तरति शोकमात्मवित्**'' तथा ''**विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त:**'' इत्यादि वाक्य वेदनरूपी ज्ञान से शोक निवृत्ति, नामरूपात्मक प्रपञ्चनिवृत्ति कहते हैं। वह मिथ्यात्व होने से ही संभव है।

—: दृष्टिसृष्टिवाद :—

दृष्टि सृष्टि होने से भी जगत मिथ्या है। स्वप्न जगत दृष्टि सृष्टि प्रतिव्यक्ति है। जाग्रत में समष्टि दृष्टिसृष्टि है। **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय**। सत् ने ही मायावच्छिन्न होकर ईक्षण किया। तो जगत बना। क्रमश: ईक्षण होने से क्रमश: बना। सुषुप्ति में दृष्टि न होने से लय होता है। प्रलय में समष्टिदृष्टि न होने से पूरा जगत नहीं रहता। प्रत्यक्ष अनुमानादि सभी एक एककार की दृष्टि है। ''**आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत:**'' ऐसा मनुस्मृति में भी सर्व प्रमाणाभाव इसीलिए बताया। इस प्रकार विमतं मिथ्या दृश्यत्वाद् जडत्वाद् इत्यादि अनुमान का पक्ष साध्य हेतुपपादनपूर्वक अनुकूलतर्कोपस्थापन और प्रतिकूलतर्क निराकरण करते हुए समर्थन तथा उपपादन किया। उसके समर्थनार्थ श्रुति एवं अर्थापत्ति का भी विनियोग आचार्य ने किया।

इसके बाद एकजीववाद तथा अज्ञानवाद को प्रस्तुत किया। अज्ञानवाद में प्रत्यक्ष अनुमान शब्द एवं अर्थापत्ति प्रमाणों को एक–एक प्रकरण के द्वारा प्रस्तुत किया। और अविद्या को चिन्मत्राश्रयत्व सर्वज्ञाश्रयत्व तथा वाचस्पति मत में जीवाश्रयत्व को तीन प्रकरणों में निरूपण किया। फिर अहमर्थ की अनात्मता तथा कर्तृत्वाध्यास एवं देहात्मैक्याध्यास निरूपण किया। फिर अविद्या की अनिर्वचनीयता का लक्षण एवं प्रत्यक्ष, अनुमान अर्थापत्तिप्रमाण के साथ निषेधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्ति में उसका समर्थन किया। फिर श्रुतार्थापत्ति भी दिखायी। इसके बाद असत् ख्याति तथा अन्यथाख्याति का भङ्ग किया। अन्त में आविद्यिक (मिथ्या) रजत की उत्पत्ति एवं उसके भ्रमज्ञान में वृत्तिद्वय की स्थापना कर पारमार्थिक व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक तीन सत्ताओं का उपपादन करते हुए प्रथम परिच्छेद को पूर्ण किया।

संस्कृत विश्वविद्यालयादि की आचार्य परीक्षा में प्राय: दृष्टिसृष्टिवाद पर्यन्त ही अद्वैतसिद्धि निर्धारित है। अत: वहीं तक एक सामान्य परिचय यहा हमने इसलिए दिखाया कि विद्यार्थियो को और जिज्ञासुओं को कुछ राहत प्राप्त हों अतएव कहीं–कहीं मूल से अतिरिक्त भी कुछ अंश लिख दिया। राष्ट्रभाषा अनुवादकर्ता ने भी उदारता से पूरे प्रथम परिच्छेद का अनुवाद किया।

—: राष्ट्रभाषानुवाद :—

संमाननीय श्री स्वामी योगेन्द्रानन्द जी महाराज ने संभवत: पूरी अद्वैतसिद्धि का राष्ट्रभाषानुवाद करने के इरादे से अनुवादकार्य प्रारम्भ किया होगा। किन्तु लगभग प्रथम परिच्छेद पर्यन्त ही अनुवाद कर सके। वे श्री मधुसूदन सरस्वती के महान भक्त भी प्रतीत होते हैं। क्योंकि इत: पूर्व

उन्होंने श्री मधुसूदन सरस्वती की रचना **''अद्वैतरत्नरक्षणम्''** का भाषानुवाद किया था। उनके भाषानुवाद से अवश्य ही विद्यार्थी लाभावित होंगे। ऐसा मेरा मत है। इत: पूर्व भी इन्हीं के नाम राशि वाले श्री योगीन्द्रानन्द जी ने अनुवाद व्याख्यारूप किया। इतना ही नहीं, इन दोनों से पूर्व पेटलाद्वासी श्री रामेश्वरानन्द ब्रह्मचारी ने अद्वैतसिद्धि का भाषानुवाद किया है। उनके अनुवाद में यह विशेषता देखी कि मूल कई जगह अशुद्ध मुद्रित है वहां अनुवाद उन्होंने सही–सही किया है किन्तु आज वह दुर्लभ क्या अनुपलब्ध ही हो गया है। ऐसी स्थिति में मूल मात्रानुवाद अपेक्षित होने से तदर्थ यह राष्ट्रभाषानुवाद किया गया। शब्दार्थ में ही उलझे हुए विद्यार्थियों के लिये यह अनुवाद अनुग्रहकारी होगा, ऐसा मैं विश्वास करता हूं।

पक्षतावच्छेदकनिरुक्तिपर्यन्त गौड़ब्रह्मान्दी भी परीक्षा में निर्धारित होने से उसका भी राष्ट्रभाषानुवाद योगीन्द्रा नद जी के समान श्री योगेन्द्रानन्दजी ने कर विद्यार्थियों का उपकार किया है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती का देशकाल यद्यपि विवादग्रस्त नहीं है, फिर भी कुछ मनीषियों ने विवाद उत्पन्न किया है। कुछ लोग इन्हें दाक्षिणात्य सिद्ध करने का यत्न किया है। किन्तु ये वंङ्गदेश में श्री पुरान्दराचार्य से लब्ध जन्मा है। दीधितिकार श्री रघुनाथ शिरोमणि के शिष्य मथुरानाथ तर्कवागीश से न्यायशास्त्राध्यन कर वाराणसी में श्री विश्वेश्वर सरस्वती से संन्यास दीक्षा एवं श्री माधवतीर्थ से अद्वैतवेदान्त विद्या प्राप्त हैं। आचार्य का जन्म १५४० ईसवीं में हुआ और शरीर त्याग १६४७ ईसवी में हुआ। बादशाद अकबर का राज्यपाल सन् १५५६ से सन् १६०७ तक माना गया है। अबुलफजल के सन् १५८५ में लिखित आईने अकबरी में दिये गये विद्वानों एवं संतों के नामों में श्री मधूसूदन सरस्वती का भी नाम विशेष रूप से लिया गया है। अत: आचार्य का पूर्वोक्त समय वास्तविक ही सिद्ध होता है। वङ्गदेश में नदियाशांतिपुर में सन् १४७७ मे लब्धजन्मा दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि के साक्षात् शिष्य मथुरानाथ तर्कवागीश से सरस्वती जी ने न्यायशास्त्राध्ययन भी इस बात का उपोद्बलक है। श्री वामाचरण भट्टाचार्य ने दीधितिकार का जन्म १३८५ शक लिखा है। तदनुसार १४६३ खिस्ताब्द पड़ता है। तो भी खास कोई अंतर नहीं पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास जी मधुसूदन सरस्वती का बड़ा सन्मान करते थे, यह प्रसिद्ध है। गोस्वामी जी का जन्म सन् १५२७ (वि. १५८३) मे हुआ। रजोदर्शन से पूर्व विवाह नियम उस समय था, रत्नावली की उम्र १२ के आसपास रही होगी। वह उन्तीस वर्ष के पति को यह उपदेश कि –

हाड मांस को देह मम तापर जितनी प्रीत
तिस आधो सो राम प्रति अवस मिटहि भवभीत

दें यह असंभावित है। दस बारह वर्ष और बीत जाये तो पुत्रादि के न होने पर यह वैराग्य एवं भक्ति हो सकती है। अर्थात् इस उपदेश के प्रभाव से उनका चौदह वर्ष का तीर्थाटनार्थ नि:सरण एवं सरस्वती जी का जन्म प्राय: समकाल में हुआ होगा। सन् १५७४ (वि.१६३१) से लगभग ढाई वर्ष में गोस्वामी जी ने रामचरितमानस लिखा। (अर्थात् १५७४ से १५७६ तक) तब तक सरस्वती जी की उम्र न्यूनतम ३६ वर्ष होना चाहिए जो एक महान विद्वान बनने के लिये पर्याप्त है।

यह प्रसिद्ध है कि उस समय संस्कृत का अत्यन्त अधिक महत्व होने से गोस्वामी जी की हिन्दी कृति का विशेष आदर विद्वानों ने नहीं किया। गोस्वामी जी ने अपना अमूल्य रत्न श्री मधुसूदन सरस्वती को दिखाया। मधुसूदन स्वामी स्वयं परम भक्त होने से मानस को पढ़कर नाच उठे। और लिखा—

परमानन्दपत्रोऽयं जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता।।

यह पढ़कर गोस्वामी जी को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने श्री मधुसूदन सरस्वती जी के लिये भी लिखा—

मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।
सरस्वत्या वेत्ति पारं मधुसूदन सरस्वती।।

यह आधुनिक तथाकथित मानस के अनन्य भक्तों को खल गयातो इन सबको झुठलाने के लिये दोनों के जीवन समय को बदलना ही सर्वाधिक उचित उपाय समझा।

अद्वैतसिद्धि के अलावा आचार्य ने वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु, गीतागूढार्थ—दीपिका, महिम्नस्तोत्र व्याख्या, भागवत व्याख्या, अद्वैतरत्नरक्षण, भक्ति रसायन आदि स्वतन्त्र एवं टीकात्मक अन्य भी अनेक प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना की है। भक्तिनिरूपण में भी आचार्य ने प्रक्रियांश में अद्वैतसिद्धान्त का परित्याग नहीं किया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने जैसे भिन्न—भिन्न दर्शनों की व्याख्या में परस्पर खण्डन—मण्डन किया, वैसा सरस्वती जी ने नहीं किया। सर्वत्र अद्वैतसिद्धान्त निष्ठा ही दिखायी। विरोधि दर्शनों पर शायद उन्होंने कलम ही नहीं उठायी। अविरुद्धांश को अद्वैत समर्थन में अवश्य स्वीकार किया जो उनकी गुणग्राहिता में प्रमाण है।

श्री स्वामी काशिकानन्दगिरि
'द्वादशदर्शनाचार्य'
आनन्द वन आश्रम, कान्दिवली—मुम्बई

ॐ

किञ्चिद् वक्तव्य

परमादर्श महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द पुरी

भारतीय संस्कृति की सर्वतो महान विशेषता है—विचारों की स्वतन्त्रता। इसमें बौद्धिकता का पेटेंट जैसी कोई अवधारणा है ही नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपने ढंग से चिन्तन कर सकता है। ईश्वर को मानना या वेद को मानने की बाध्यता या वस्त्र, तिलक, त्रिपुण्ड लगाना इत्यादि बाह्य उपकरण व्यक्ति के विचारों को परिपक्व बनाने में सहायक तो हैं, किन्तु विचारक के साथ इनको मानने की कोई बाध्यता कभी नहीं रही। विचारों के परिमार्जन, संशोधन, परिवर्धन के निमित्त विचार—गोष्ठियों, शास्त्रार्थों एवं संसदों के आयोजन तो होते रहे, किन्तु किसी भी विचार को स्वीकार या अस्वीकार करने की स्वतन्त्रता सदा ही सुरक्षित रही। गौतम बुद्ध के अवसान के बाद बौद्ध दर्शन के आविर्भाव के साथ ही अतिवादी, हठवादी एवं परभंजक दल भी तैयार हो गये जिन्होंने बद्री विशाल जैसी मूर्तियों को अलकनन्दा में फेंक देने, वैदिक शास्त्रों को जलाने, पराजित दार्शनिकों की हत्या जैसे क्रूर कर्मो को आरम्भ कर दिया। देश में अराजक तत्वों का प्रसार भी होने लगा। किन्तु वैदिक आस्तिक दार्शनिकों का विचार मंथन भी चलता रहा। ऐसे समय में भगवत्पाद भाष्यकार जगद्गुरु आदि शंकराचार्य जी का अवतार हुआ और उन्होंने वैदिक सनातन धर्म की पुनर्स्थापना की। विभिन्न पन्थों में समन्वय भी स्थापित किया। प्रौढ़ दार्शनिक विवेचन के कारण कोई भी स्पर्धा—मत का दार्शनिक टिक न सका। भगवत्पाद के पश्चात् अनेक वैष्णव सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने भक्ति के नाम पर त्रैतवाद खड़ा कर दिया। जीव जगत् और ईश्वर को पारमार्थिक सत्य सिद्ध करने के लिए अनेक नवयुक्तियों का सृजन कर, भाषा के नये—नये अर्थ निकालकर, सामान्य वाक्यों और पदों की खाल उधेड़ कर उसमें से अपने निहितार्थ को खेंच निकालने के प्रयास होने लगे। अद्वैत सिद्धान्त के मर्मज्ञों को भी इनका खण्डन इन्हीं की भाषा में करने के लिए विवश होना पड़ा। सीधी सादी बात, जिसे सामान्य व्यक्ति, साधक भी समझ सकता था, इतना दुरूह बना दिया। शास्त्रार्थ तत्त्व जिज्ञासा या निर्णय के लिये नहीं, विजय—पराजय के लिये हो गये। विद्वत्ता प्रदर्शनार्थ सिद्धान्तों का खण्डन—मण्डन होने लगा। अद्वैत सिद्धान्त के विरुद्ध द्वैत ही नहीं— अद्वैत में भी अनेक वाद—द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं शुद्धाद्वैत जैसे सिद्धान्तों की प्रस्थापना होती गई। शब्दों के महारण्य में जिज्ञासु खो सा गया।

ऐसे वातावरण में माध्वाचार्य के अनुयायी व्यासतीर्थ ने न्यायामृत नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें अद्वैत दर्शन के सैकड़ों दोष निकालकर उन्हें सिद्ध करने का प्रयास किया। इसी ग्रन्थ में उक्त दोषों का निराकरण श्री विद्वत्—वरिष्ठ मधुसूदन सरस्वती जी ने अद्वैत सिद्धि में सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। श्री सरस्वती जी प्रौढ़ अद्वैत वेदान्ती तो थे ही, साथ ही वे भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त भी थे। उनका—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्;
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।

यह श्लोक उनकी अनन्य भक्ति का परिचायक है। इसी प्रकार वेदान्त निष्ठा और कृष्ण भक्ति का सामंजस्य उन्हीं के शब्दों में–

वेदान्तवीथिपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः,
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन।

स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होता है।

अद्वैतसिद्धिः ग्रन्थ भी शास्त्रार्थ पद्धति से अद्वैत वेदान्त तत्त्व जिज्ञासा की उपशान्ति के निमित्त लिखा गया है। विषय का निरूपण अत्यन्त प्रांजल भाषा में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में किया गया है। कालक्रम से अध्येताओं के लिये कुछ दुरूह बने इस ग्रन्थ और उत्तरवर्ती अनेक द्वैतवादी विचारकों द्वारा स्फुटित नये–नये दोषाभासों का निराकरण करने के लिये गौड़–ब्रह्मानन्दी (गुरुचन्द्रिका एवं लघुचन्द्रिका) नामक टीका बनी। तथापि साम्प्रतिक छात्रों को उन्हें समझने में भी कठिनाई का अनुभव होने लगा। परीक्षा पद्धति से अध्ययन में वैविध्य, समयाभाव और नगरीय अनेक समस्याओं में उलझे विद्यार्थी को परीक्षा में नियत इस ग्रन्थ को समझना विकट लगने लगा। भाषानुवाद भी प्रकाशित हुए किन्तु वे भी अनुवाद मात्र ही सिद्ध हुए। विद्यार्थी स्वय पढ़कर ग्रन्थ को समझ सकें, ऐसे अनुवाद की आवश्यकता सभी को अनुभव होने लगी। अपने विद्यार्थी जीवन के उन्हीं दिनों में मुझे भी ऐसा लगा कि यदि परमश्रद्धेय गुरुदेव श्री स्वामी जी (विद्वद्वरिष्ठ श्री १०८ स्वामी योगेन्द्रानन्द गिरि जी महाराज), जिनके चरणों में बैठकर मैंने समग्र वेदान्त शास्त्र का अध्ययन किया, जिनके शास्त्र समझाने की विधि से मैं अभिभूत था, अपने ढग से यदि इसका व्याख्यात्मक अनुवाद करें तो सभी जिज्ञासु अध्येता विद्यार्थियों का हित साधन हो सकता है। उन दिनों परम श्रद्धेय स्वामी जी अद्वैत रत्न रक्षण का व्याख्यानुवाद कर रहे थे। जिसका रसास्वादन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ और मैंने धन्यता का अनुभव किया। इसका अपने आश्रम से प्रकाशन भी हुआ। तत्पश्चात् इस अद्वैतसिद्धि का व्याख्यात्मक भाषान्तर आरम्भ हुआ और प्रथम अध्याय पर्यन्त पूर्ण होने में कुछ अंश गणपतये शेष रह ही गया। कुछ दैवी कारणों से तत्काल इसका प्रकाशन न हो सका।

परम श्रद्धेय स्वामी जी मणिपुर राज्य से सम्बद्ध थे। अतः उन्होंने मणिपुरी भाषा में कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग तथा गीता आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का लेखन एवं भाषान्तर भगवान् भाष्यकार के दर्शनानुसार किया है। वैराग्य से सम्प्रेरित होकर घर देश छोड़ कर ऋषिकेश आ गये। तपस्या में ही उन्हें शास्त्राध्ययन की प्रेरणा प्राप्त हुई। पहले ऋषिकेश में तथा तदन्तर काशी में विद्यार्जन में प्रवृत्त हुए। ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे। गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले पंचाङ्ग में गणित भाग का सम्पादन आप ही प्रतिवर्ष किया करते थे। आप के द्वारा पंचाङ्ग का सम्पादन स्थगित कर दिये जाने पर गीता प्रेस ने पंचाङ्ग का प्रकाशन ही बंद कर दिया।

वेदान्ताचार्य पर्यन्त अध्ययन उन्होंने आत्मसात् किया था। दिव्य शरीर के धनी कोमल, मधुर, निश्चल सहज स्वभाव वाले परम श्रद्धेय स्वामीजी अध्ययन के साथ–साथ विद्यार्थियों को काशीस्थ संन्यासी संस्कृत कालेज में और तदनन्तर गोविन्द मठ में पढ़ाते भी थे। आचार्यान्त अध्ययन के अनन्तर तो वे पूर्णकालिक अध्यापन में ही प्रवृत्त हो गये– किसी विद्यालय में प्राध्यापक के रूप में नहीं– गोविन्द मठ के अपने कमरे में ही विद्यार्थी गण को प्रात: सायं आठ घंटे पढ़ाते। किसी को कुछ भी पढ़ना हो, वे किसी को कभी ना नहीं कह पाते थे। अपने सहाध्यायी अभिन्नात्मा देव स्वामी के साथ मैं भी सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन के ग्रन्थों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त कर सका। पढ़ाते समय कोई भी पारिभाषक शब्द आने पर वे उसे दृष्टान्त सहित विस्तार से समझाते। किसी भी न्याय की अनेकश: व्याख्या कर दार्ष्टांत के साथ समन्वित करते। अद्वैत–रत्नरक्षणम् एवं अद्वैतसिद्धि: का व्याख्यात्मक भाषान्तर करते समय भी उसी विधि का ग्रहण किया। अत: अध्येता को विषय समझने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। जहां भी कोई कठिन शब्द, न्याय, व्याप्ति या संशय आता है, वहीं कोष्ठक में वे उसकी सरल सुस्पष्ट व्याख्या लिख देते हैं। पाण्डुलिपि की भी समस्या थी। इतने पाठान्तर अथवा अशुद्ध पाठ थे कि पुस्तक में उनको सुधारने पर पुस्तक ही अपाठ्य हो जाती। अत: परम श्रद्धेय महाराज श्री ने लेखन पुस्तिका में ऊपर पाण्डुलिपि (मूल) और नीचे भाषानुवाद लिखा। इससे छपाने में पर्याप्त सौविध्य प्राप्त हुआ।

कनखलस्थ अपने संन्यास आश्रम में वर्षों तक निवास करने के बाद परम श्रद्धेय ने आन्तरिक प्रेरणावश अपने स्वनाम धन्य गुरुदेव तपो त्यागमूर्ति, विरक्त शिरोमणि, काशी के टेकरा मठ के आजीवन संचालक श्रद्धेय स्वामी मंगल गिरि जी महाराज की पुण्य स्मृति में हरिद्वार (कनखल) के संन्यास मार्ग पर एक भव्य मंगल आश्रम की स्थापना की, जिसका अध्यक्ष अपने प्रियपात्र एव विद्या शिष्य निष्ठावान्, श्रीदेव स्वामी जी को बनाया। उनके ब्रह्मलीन होने के अनन्तर मेरे प्रियतम अभिन्नात्मा गुरुभाई श्री देवस्वामी (श्री स्वामी देवनारायण पुरी) जी के मन में अद्वैतसिद्धि के प्रकाशन की संप्रेरणा उद्भूत हुई । सम्प्रति आर्थिक सुलभता भी थी और परम श्रद्धेय की दिव्य कृपा से प्रकाशन सहायक भी उपलब्ध हो गये और पुस्तक प्रकाशनार्थ तैयार हो गयी। जिन महानुभावों को इसके प्रकाशन में सहकार का सौभाग्य प्राप्त हुआ वे धन्यवाद के पात्र हैं, धन्य हैं।

परीक्षार्थियों को यह ग्रन्थ सहज सौविध्य प्राप्त करायेगा और वे इसके सहयोग से परीक्षा में ही नहीं, जीवन में भी सफलता और सार्थकता का अनुभव करेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

स्वामी महेश्वरानन्द पुरी
संन्यास आश्रम, कनखल,
हरिद्वार (उत्तरांचल)

समुत्साह प्रकाशन

— परमादर्श महामण्डलेश्वर स्वामी गंगानन्द पर्वत

आज तक अद्वैतसिद्धि के हिन्दी में सहज बोधगम्य व्याख्यानुवाद का अभाव खटकता रहा, सम्भवत: अत्यन्त दुरूह व तर्कपूर्ण होने के कारण ही या शायद, विद्वानों को संस्कृत माध्यम ही रुचिकर रहा हो, किन्तु भविष्यद्द्रष्टा प्रात: स्मरणीय परम श्रद्धेय दार्शनिक सार्वभौम श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री विभूषित ब्रह्मलीन स्वामी योगेन्द्रानन्दगिरि जी महाराज (महाशय जी) ने अद्वैतसिद्धि की टीका में छिपे हुए अद्वय भाव के रहस्यों को सर्व बोधगम्य कराना आवश्यक समझ कर, विशेषकर आज के विद्यार्थियों को लाभान्वित करने के लिए, अत्यन्त सरल, सहजगम्य एवं परिमार्जित हिन्दी माध्यम से व्याख्यानुवाद तथा मार्मिक स्थलों का और तर्कपूर्ण पारिभाषिक शब्दादिकों का ऊहा–पोह के साथ अर्थ विकास एवं भाव विस्तार किया है। कई एक कारणों से इस बहुमूल्य व्याख्यानुवाद का मुद्रण नहीं हो पाया था।

परन्तु पूज्य स्वामी जी (महाशय जी) के सुयोग्य परम प्रिय विद्याशिष्य शिष्यसुलभ गुणसम्वलित, वेदान्ताचार्य देव स्वामी जी महाराज ने गुरुभक्ति की प्रेरणा से इसको प्रकाशित कर मुमुक्षु, जिज्ञासु एवं विद्वज्जनमानस तक पहुँचाने का श्रेयस्कर प्रयास कियां है। नि:संदेह सनातन संस्कृति के परिपोषक एवं अद्वैत निष्ठावान् आपने इस अमूल्य ग्रन्थरत्न के व्याख्यानुवाद को प्राणों से भी अधिक महत्वपूर्ण समझकर इस मार्मिक अमृतमय, महिमामण्डित, गुरुप्रसाद को साकार रूप प्रदान कर परोपकार का प्रशंसनीय कार्य किया है। वास्तव में ही गुरुभक्ति की निष्ठा का समुज्ज्वल स्वरूप यही है।

आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि हमारी अद्वैत दार्शनिक परम्परा को इसके अध्ययन व अध्यापन में अत्यधिक लाभ होगा। अव्यक्त परमपुरुष से हमारी प्रार्थना है कि वह श्री गुरुचरण चञ्चरीक देव स्वामी जी को इसी प्रकार उत्तरोत्तर स्तुत्य कार्य करने के लिए उत्साहित रखें।

भवदीय
स्वामी गंगानन्द पर्वत
श्री स्वामी शङ्करनाथ पर्वत मठ
हदियाबाद, फगवाड़ा–१४४४०२ (पञ्जाब)

शुभाशंसा

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

अद्वैतसिद्धि पर अनेक टीकाओं के होने पर भी ''लघुचन्द्रिका'' गौड़ब्रह्मानन्दी विद्वज्जनों में प्रसिद्ध है। गौड़ब्रह्मानन्दी नाम से प्रसिद्ध यह टीका पक्षतावच्छेदकनिरुक्ति पर्यन्त आचार्य परीक्षा में निर्धारित की गई है। विद्वद्वरिष्ठ श्रीब्रह्मानन्दसरस्वती जी की टीका अतीव विद्वत्तापूर्ण है। अद्वैतसिद्धि एवं उसकी टीका लघुचन्द्रिका दोनों ही प्रौढ़ रचनाएं हैं। इन पर अनेकों टीकाएं हैं। अद्वैतसिद्धि एवं लघुचन्द्रिका का पक्षतावच्छेदकनिरुक्ति पर्यन्त—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, अनन्तश्रीविभूषित स्वामियोगेन्द्रानन्दगिरि जी महाराज ने राष्ट्रभाषा हिन्दी में विद्वत्तापूर्ण अनुवाद किया है, जब आप गोविन्द मठ टेढ़ी नीम वाराणसी में विराजमान थे, तब जिज्ञासुओं एवं छात्रों को बराबर वेदान्त आदि शास्त्रों का स्वाध्याय कराते रहते थे, वे विद्वद्वरिष्ठ एवं सौम्य साधु पुरुष थे। उस समय काशी में जो स्वाध्यायशील शास्त्र मर्मज्ञ अनेक महापुरुष रहते थे, उनमें स्वामी जी अन्यतम महापुरुष थे। संभव है उसी काल में प्रस्तुत अनुवाद किया गया हो, जो अद्वैतसिद्धि पर 'योगेन्द्रानन्दीदीपिका' एवं लघुचन्द्रिका पर 'योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका' नाम से है। अद्वैतसिद्धि एवं गौड़ब्रह्मानन्दी वेदान्त के प्रौढ़ ग्रन्थ एवं टीका हैं। इनका हिन्दी में अनुवाद करना, वह भी मूल के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए हिन्दी में भाव प्रकट करना कठिन कार्य है, फिर भी पूज्यपाद स्वामी जी ने अपनी विद्वत्ता से अनुवाद को स्पष्ट एवं सरस तथा हृदयग्राही बनाने का यथासाध्य प्रयत्न किया है इससे राष्ट्रभाषा की समृद्धि के साथ—साथ जिज्ञासुओं एवं छात्रों को बहुत बड़ा लाभ होगा।

इसके माननीय प्रकाशक श्रीस्वामिदेवनारायणपुरी वेदान्ताचार्य जी का ग्रन्थ प्रकाशन का प्रयास श्लाघ्य एवं स्तुत्य है।

।। शिवम्।।

स्वामिकृष्णानन्द विरक्त
टेकरामठ—वाराणसी
उत्तर प्रदेश

(छब्बीस)

पारं लब्धं सरस्वत्याः ....

आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती अनिर्वचनीयख्यातिवादी थे, आत्मख्यातिवादी नहीं। शायद, इसीलिये उन्होनें अपने जन्मादि एवं परिवार के बारे में कुछ नहीं लिखा, अनिर्वचनीय ही रहने दिया। उन्होंने संन्यास लेने के बाद लेखनी उठायी। संन्यासियों में अपने पूर्वाश्रम से सम्बन्धित बातों के उल्लेख की परम्परा नहीं है। शायद, इस कारण भी उन्होंने अपने कुल, जन्म, कर्म तथा स्थानादि के विषय में कुछ नहीं लिखा। लेकिन, कस्तूरी की सुगन्ध को अपना परिचय देने की आवश्यकता नहीं होती—'नहि कस्तूर्यामोदः शपथेन विभाव्यते।' पवन की तरंगें उसके आमोद को चतुर्दिक फैला ही देती हैं। आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने बारे में भले ही कुछ न लिखा हो, उनके समकालीन विद्वानों के उल्लेख और परम्परित किंवदन्तियों से जो कुछ ज्ञात होता है, उसके अनुसार आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती का पूर्वनाम मधुसूदन गोस्वामी था। उनके पूर्वज पण्डित श्रीराम मिश्र उत्तर भारत के किसी स्थान से विस्थापित होकर बंगाल के कोशली पाडा परगना के उसनिया गांव में बस गये थे। श्रौत कर्मकाण्डी पण्डित श्रीराम के कुल में पुरोदन पुरन्दराचार्य का जन्म हुआ। पुरन्दराचार्य के चार पुत्रों में से तृतीय पुत्र श्री मधुसूदन गोस्वामी थे। 'गोस्वामी' की उपाधि शायद उन्हें नवद्वीप के कृष्णभक्त परम्परा में दीक्षित होने के कारण प्राप्त हुई थी। श्री मधुसूदन की आरम्भिक शिक्षा—दीक्षा अपने पिता से ही प्राप्त हुई। इसके बाद वे न्याय— दर्शन के अध्ययन के लिये नवद्वीप के प्रख्यात पण्डित हरिराम तर्कवागीश के पास गये। श्री मधुसूदन गोस्वामी को नवद्वीप रास नहीं आया। सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में वे अपना घर—गांव छोड़ बाबा विश्वनाथ की नगरी आन्नद— कानन में आ बसे। काशी आकर युवा मधुसूदन गोस्वामी ने प्रख्यात मीमांसक माधव सरस्वती से मीमांसा और श्री रामतीर्थ से अद्वैत वेदान्त का अध्ययन किया। बंगाल की कृष्णभक्ति परम्परा में रचे—पचे श्री मधुसूदन गोस्वामी अद्वैताचार्य श्री विश्वेश्वर सरस्वती से संन्यास दीक्षा ली। उन्होंने ' मधुसूदन गोस्वामी' से 'मधुसूदन सरस्वती' बन कर जीवन भर अद्वैतनिष्ठा तो पाली, लेकिन अद्वैत प्रतिष्ठापक भगवान् शंकराचार्य द्वारा व्यावहारिक जीवन के लिये अनुमोदित' भक्तिरसायनम्' का सेवन वे अन्त तक करते रहे।

आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती तत्कालीन काशी के विद्वानों में सर्वाधिक सम्मानित, संकटमोचक तथा अद्वितीय विद्वान् थे। किंवदन्ति के अनुसार अकबर के नवरत्नों में से एक

टोडरमल की जाति का निर्णय करने के लिये मुगल बादशाह द्वारा आयोजित पण्डितो की महासभा में भारत के विभिन्न भागों से पण्डितों को आहूत किया गया। काशी के पण्डितो के लिये संकट की घड़ी थी। भारत भर से महासभा में भाग लेने आने वाले महान् पण्डितों के समक्ष काशी के पण्डितों की ख्याति और प्रतिष्ठा दांव पर थी। पण्डितों ने विरक्त सन्यांसी आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती से प्रार्थना की। आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी मान गये। उन्होंने बादशाह की सभा में काशी का प्रतिनिधित्व किया और अपनी विद्वत्ता की अमिट छाप वहां उपस्थित पण्डितों पर छोड़ी। पण्डितों ने वहीं आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी को सम्मानित कर एक प्रशस्ति–पत्र दिया, जिसमें कहा गया कि आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी की विद्वत्ता की थाह केवल सरस्वती ही लगा सकती हैं–

'मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।'

उन्ही दिनो विक्रम संवत् १६४१ (सन् १५८४) के आस–पास प्रख्यात रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास वाराणसी में ही अपने 'रामचरितमानस' को अन्तिम रूप दे रहे थे। रामभक्ति और कृष्णभक्ति की अद्वैतमन्दाकिनी में अवगाहन करने वाले दो गोस्वामी बन्धुओं में मैत्री हुई। तुलसीदास द्वारा लोकभाषा अवधी में रामचरित मानस लिखा जाना परम्परावादी पण्डितों को स्वीकार्य न था। बात–बात में परम्परा की दुहाई देने वाले पण्डितम्मन्यों ने लोकभाषा अवधी में रचित तुलसी के रामकाव्य को 'भदेस और परम्परा–विरुद्ध' घोषित कर दिया। उन्होंने कहा कि यदि श्री विश्वनाथ 'मानस' को स्वीकृति दे दें, तो उसे प्रामाणिक माना जा सकता है। रामचरित मानस की प्रति श्री विश्वनाथ मन्दिर के गर्भगृह में रखी गयी। श्री विश्वनाथ ने 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' लिखकर मानस की उत्कृष्टता और प्रामाणिकता पर अपनी सहमति व्यक्त कर दी। किन्तु पण्डितों ने इसे धोखा करार दिया। 'अरे! कहीं मूर्ति भी कुछ लिख सकती है?' उन्होंने दूसरी शर्त रखी– 'आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती मान लें तो हम मानेंगे।' संन्यासिकुल शिरोमणि आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती ने तुलसीदास और उनके मानस के विषय में जब अपना मत दिया कि–

आनन्द कानने ह्यस्मिं जंगमस्तुलसी तरुः।

कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता।।

तब कहीं जाकर काशी के पण्डितों ने तुलसी और उनके काव्य को सम्मान दिया। ऐसा था मधुसूदन सरस्वती के पाण्डित्य का प्रभाव।

आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी अन्त तक पण्डितम्मन्यों के लिए रहस्य ही बने रहे कि वे निर्गुण उपासक हैं या सगुणोपासक? सामान्य जिज्ञासुओं की तत्वजिज्ञासा पर उनका सामान्य सा ही उत्तर होता था कि 'कृष्ण के अतिरिक्त कोई और तत्त्व है, इसको जानकारी मुझे नहीं—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्

पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।

एक ओर आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी जहां अपनी सगुण—निष्ठा से सगुण साधकों के हृदय में 'भक्तिरसामृत' का वर्षण करते हैं, तो दूसरी ओर तत्त्वचिन्तन के निरवधि व्योम में विहरण करते हुए स्वसिद्धान्त 'साधकस्य हि सिध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' की घोषणा कर नामरूपसत्यत्ववादी भेदोपासकों के मन्सूबों को एक सिरे से ध्वस्त भी कर देते हैं। जब वे 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' का कराल ब्रह्मास्त्र लेकर अद्वैतसिद्धि के द्वारा अद्वैतरत्न का रक्षण करने को उद्यत होते हैं, तब भेदवादियों के सभी तर्कजाल प्रभजन के कठिन प्रहार से विलोडित मेघाम्बर के समान बिखर जाते हैं। अद्वैततत्त्व की सिद्धि के लिये आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती समस्त प्रमाणों में मूर्धन्य श्रुतिप्रमाण से परिपोषित जिन युक्तियों का सहारा लेते हैं, उनका निराकरण भेदवादियों के पूर्वजों के वश की भी बात नहीं। 'एक ब्रह्म' रूपी ऐसा अस्त्र उनके पास है, जिसके होते वे किसी भी भेदवादी मत, वाद और सिद्धान्त को कुछ भी नहीं गिनते—

'एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नाऽन्यं गणयतः क्वचित्।'

काशी में रहकर आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी ने अद्वैततत्त्व की सिद्धि और रक्षण के लिये अनेक ग्रन्थ लिखे। उनमें अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नरक्षणम्, वेदान्तकल्पलतिका, संक्षेपशारीरकभाष्य, सिद्धान्तलेश टीका तथा सिद्धान्तबिन्दु आदि प्रमुख हैं। इनमें अद्वैतसिद्धि की महत्ता इसी से सिद्ध है कि इसको अद्वैतवेदान्त परम्परा की लघु प्रस्थानत्रयी (ग्यारह उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य) तथा बृहत्प्रस्थानत्रयी (तत्त्वप्रदीपिका, खण्डनखण्डखाद्य और अद्वैतसिद्धि) ग्रन्थों में से बृहत्प्रस्थानत्रयी में स्थान दिया गया है।

प्रमाण, तर्क, श्रुति, स्वसिद्धांत और युक्तियों की अनवरत उद्‌गत होने वाली अनगिनत

उत्ताल और प्रखर लहरियों से सम्पृक्त 'अद्वैतसिद्धि' की अन्तःप्रवहित निर्मल अद्वैतामृत गंगधारा में अवगाहन के लिये व्याकरण, न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि आस्तिक–नास्तिक दर्शनों के उच्चावच सोपानों से गुजरने के बाद भी बड़े–बड़े पण्डितम्मन्य 'रहे किनारे बैठ' की स्थिति में ही रह जाते हैं और उनके मनोरथ 'उद्बाहूरिव वामनः' की उपहास्यता के पात्र बन जाते हैं। वर्षों तक अद्वैतसिद्धि का पठन–पाठन करने वाले विद्वान् भी अपने को 'वेद्मि न वा' की विभ्रमावस्था से ग्रसित पाते हैं। इसी सत्य का साक्षात्कार करते हुए विद्वन्मण्डली ने कहा था–

वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती।

मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।

आधुनिक युग दर्शन–युग है। भारतीय–दर्शनों के प्रति लोगों की रुचि बढ़ रही है। देश–विदेश के विश्वविद्यालयों, कालेजों और शोध–संस्थानों में दर्शन–विषयक विभागों की स्थापना हो रही है। किन्तु, संस्कृत भाषा का ज्ञान न होने और दर्शनों की पारिभाषिक शब्दावली से कम परिचित जिज्ञासुओं को विषय के तलस्पर्शी बोध में बाधा आती है। इसलिये तत्त्वान्वेषकों की रुचि बढ़ने के साथ ही यह आवश्यकता महसूस की गयी कि संस्कृत के अलावा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में भी भारतीय दर्शन–ग्रन्थों की व्याख्या, विश्लेषण एवं अनुवादादि लिखे जायें। इसी की पूर्ति के लिये अद्वैतवेदान्त के आधारभूत ग्रन्थों के हिन्दी भाष्य एवं तात्पर्यानुवाद आदि विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये।

आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी की 'अद्वैतसिद्धि' अद्वैतवेदान्त की एक प्रौढ़ रचना है। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ विद्वान् भी इसका अध्ययन–अध्यापन कर सकें, इसके लिए इसके हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता थी। यह कार्य हुआ भी। लेकिन, बात नहीं बनी। वास्तव में, किसी भी रचनाकार की भावभूमि पर पहुंचे बिना उसकी रचना का अनुवाद सम्भव नहीं हो पाता। आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी की भावभूमि पर पहुच पाना सहज न था। सौभाग्य से आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी के साथ तादात्म्य स्थापित कर चुके स्वामिवर्य श्री योगेन्द्रानन्दगिरि जी महाराज ने अद्वैतसिद्धि के अनुवाद और तात्पर्यार्थ हिन्दीभाषा में लिखने का कार्य अपने हाथों में लिया। वे इससे पहले आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी के 'अद्वैतरत्नरक्षणम्' का भाष्यानुवाद कर चुके थे।

स्वामी जी ने अपनी अद्वैतात्मिका भावभूमि, तपःपूत प्रतिभा और अनन्य पाण्डित्य के

बल पर 'अद्वैतसिद्धि' का जो हिन्दी भाषा में तात्पर्यानुवाद प्रस्तुत किया है, वह अप्रतिम है। उन्होंने अद्वैतसिद्धि के उलझे और गहन स्थलों को जिस प्रकार सरल, सुबोध और लालित्यपूर्ण हिन्दी में अनूदित किया है, इससे न केवल विषय का अवबोध सरल हुआ है, अपितु हिन्दी भाषा की दर्शन की दुरधिगम्य शैली को संभालने की सामर्थ्य भी उजागर हुई है। अपने इस कार्य से स्वामी जी ने हिन्दी भाषा को भी उपकृत किया है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने शताब्दियों की संस्कृत–रामकाव्य धारा को हिन्दी (अवधी) में अवतरित कर जनसामान्य का उपकार किया है, उसी प्रकार विद्वद्वरिष्ठ श्री स्वामी योगेन्द्रानन्द गिरि जी ने सदियों से सतत प्रवहमान अद्वैतवेदान्त की सच्चिदानन्दमयी धारा को हिन्दी में अवतीर्ण कर संस्कृतज्ञ विद्वानों–विद्यार्थियों के साथ ही संस्कृत भाषा में गति न रखने वाले विद्वानों, तत्त्वान्वेषियों, जिज्ञासुओं और मोक्षार्थियों का उपकार किया है।

विद्वद्वरिष्ठ श्री स्वामी योगेन्द्रानन्द गिरि जी ने जिस सरलता, सहजता और गरिमा के साथ अद्वैतसिद्धि का हिन्दी में भाष्यात्मक अनुवाद किया है, उससे सिद्ध होता है कि उन्होंने आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी के मन्तव्यों को समझा है और आत्मसात् किया है। हम मानते हैं कि–

वाणीवरदपुत्रेण योगेन्द्रानन्दस्वामिना।

पारं लब्धं सरस्वत्याः सरस्वत्याः प्रसादतः।।

पूज्य स्वामी श्री देवनारायण पुरी (देवस्वामी) ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर अपने गुरु–ऋण और ऋषि–ऋण का भुगतान तो किया ही है, साथ ही उन्होंने अद्वैततत्त्व के जिज्ञासुओं, विद्वानों और विद्यार्थियों को उपकृत भी किया है। इसके लिये हम सबको 'देवस्वामी' के प्रति आभारी और कृतज्ञ होना चाहिये।

डॉ० रामचन्द्र पुरी

एम०ए०, पीएच०डी०, वेदान्ताचार्य

ॐ श्री गोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्

प्रासङ्गिकम्

श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान्,
वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकृतस्तथान्यान्।
विद्याप्रदानिह यतिप्रवरान्दयालून्,
सर्वान् गुरून् सततमेव नमामि भक्त्या।।
कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि।।

अद्वैतसिद्धि की संस्कृत में कई टीकाएं हैं, जिनमें अद्वैतवेदान्त के पोषक सुगूढ़ विचारों का समावेश किया गया है किन्तु संस्कृत के विद्वानों को ही उनका मनन करने और आस्वाद लेने का पर्याप्त सौभाग्य मिलता है। उन संस्कृतज्ञ विद्वानों को ही अद्वैतवाद के अन्यतम पोषक श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती जी की बुद्धि की चमत्कृति, पाण्डित्य की गरिमा, विचारशीलता की पराकाष्ठा, कल्पनाशक्ति की अतुलता, हृदय की उदारता आदि का परिचय प्राप्त होता है, परन्तु जो लोग संस्कृतज्ञ नहीं हैं किन्तु जिज्ञासु हैं, वे भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के सहारे श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती जी की सदुक्तियों का मनन कर ज्ञानपिपासाशमनपूर्वक ब्रह्मसुखास्वाद कर सकें एवं चरम पुरुषार्थ के भागी हो सकें, इस विचार से विद्वद्वरिष्ठश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरि जी महाराज (महाशय जी) के द्वारा अद्वैतसिद्धि की राष्ट्रभाषा हिन्दी में टीका लिखी गयी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह टीका अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल है। अद्वैतसिद्धि का अध्ययन करते समय तथा अद्वैतसिद्धि पर सत्यानन्दप्रबोधिका नामक टीका लिखते समय मैं विद्वद्वरिष्ठश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरि जी महाराज के सुसरल जीवन एवं पाण्डित्य पूर्ण प्रज्ञा के विषय में विद्या गुरु श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिसत्यानन्दगिरि जी महाराज के मुखारविन्द से श्रवण किया करता था, जिससे यह ज्ञात हुआ कि आप का जीवन अनुकरणीय था।

श्रीव्यासतीर्थ द्वारा रचित न्यायामृत का खण्डन अद्वैतसिद्धि में किया गया है। न्यायामृतकार के पूर्व विशिष्टाद्वैत के श्रीवेङ्कटनाथवेदान्तदेशिक (सन् १२६९–१३६९) ने अपनी शतदूषणी में शाङ्कर वेदान्त के ६४ वादों की तर्कपूर्ण शैली में आलोचनाएं की थीं। इसी प्रकार माध्वाचार्य श्री जय तीर्थ (१३६५–१३८८) ने तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) की समीक्षा करते हुए अपने द्वारा रचित वादावली में ३४ विषयों पर विचार प्रस्तुत किए। उपरोक्त दोनों विद्वानों के खण्डनात्मक ग्रन्थों की विषयवस्तु और तर्क प्रणाली का आश्रय करके नवीन शैली में श्रीव्यासतीर्थ ने न्यायामृत की रचना की, जिसका बहुत समय तक अद्वैतविद्वानों के द्वारा यत्र–तत्र खण्डन होता रहा किन्तु एक ही

ग्रन्थ में सम्पूर्ण न्यायामृत का खण्डन उपलब्ध नहीं था। सम्पूर्ण न्यायामृत का खण्डन रूप सफल कार्य अद्वैतसिद्धि में आचार्यप्रवरश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती जी ने किया है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत वेदान्त के सर्वोपरि ग्रन्थों में से अद्वैतसिद्धि एक है और इसके लेखक आचार्य प्रवर श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिमधुसूदन–सरस्वती जी अद्वैत विद्वानों के मध्य प्रकाशमान प्रचण्ड भास्कर के समान हैं। ऐसे महान् दार्शनिक के द्वारा रचित अद्वैतसिद्धि है। अद्वैतसिद्धि के पदार्थों का बोध जन–जन तक पहुंचाने के लिए इसकी कई हिन्दी टीकाएं प्रसिद्ध हैं। जैसे ब्रह्मचारिश्रीरामेश्वरदत्तशर्मा द्वारा रचित सरला टीका, श्रीमत्स्वामियोगीन्द्रानन्द उदासीनकृत अद्वैतसिद्धि हिन्दी व्याख्या और श्री गोकुल धाम (कनखल–हरिद्वार) से प्रकाशित सत्यानन्दप्रबोधिका टीका। सभी जिज्ञासुओं को अद्वैतसिद्धि के भावों का बोध हो, इस उद्देश्य से विद्वद्वरिष्ठश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरि जी महाराज ने राष्ट्रभाषा में अद्वैतसिद्धि का सुव्यवस्थित अनुवाद किया है। यद्यपि यह अनुवाद पहले ही लिखा जा चुका था, किन्तु प्रकाशित नहीं हो सका था। इस वर्ष ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी से ज्ञात हुआ कि मङ्गल आश्रम के संस्थापक विद्वद्वरिष्ठश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरि जी द्वारा रचित एक और हिन्दी टीका भी है। मूलार्थानुयायिनी इस हिन्दी टीका को देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। इसके पश्चात मैंने समादरणीय देव स्वामी से अनुरोध किया कि वे इस टीका को प्राकशित करायें। स्वामी जी ने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप यह ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इति।

।। शिवम्।।

भगवत्पादीय
स्वामिविशुद्धानन्दगिरि
श्रीगोकुलधाम, कनखल
हरिद्वार (उत्तराञ्चल)

अनुक्रमणिका

सङ्केतानां विवरणम्

अ०सू०	अष्टाध्यायी सूत्र
ईशा०उ०	ईशावास्योपनिषत्
उप०सा०	उपदेशसाहस्री
ऋ०सं०	ऋग्वेद संहिता
ऋ०	ऋग्वेद
ऐ०उ०	ऐतरेयोपनिषत्
क०उ०	कठोपनिषत्
के०उ०	केनोपनिषत्
खं०ख०	खण्डनखण्डखाद्य
गी०	भगवद्गीता
चि०	चित्सुखी
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै०न्या०मा०	जैमिनीय न्यायमाला
जै०सू०	जैमिनिय सूत्र
तं०वा०	तन्त्र वार्तिक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
नृसिहो०	नृसिंहतापिनी उपनीषत्
न्या०कु०	न्याय कुसुमाञ्जली
न्या०सू०	न्याय सूत्र
पं०द०	पञ्चदशी
पा०सू०	पाणिनी सूत्र
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषत्
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र०सि०	ब्रह्मसिद्धि
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
मां०का०	माण्डूक्य कारिका
मां०उ०	माण्डूक्योपनिषत्
मी०द०	मीमांसा दर्शन
मनु०	मनुस्मृति
महा० भा०	महाभारत
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्
यो०वा०	योगवासिष्ठ
ल०च०	(अद्वैतसिद्धिव्याख्या) लघुचन्द्रिका
विष्णु पु०	विष्णुपुराण
श्वेता०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०शा०	संक्षेपशारीरक

समर्पण.....

जिनकी प्रेरणा से सम्प्रेरित
होकर यह अद्वितीय ग्रन्थ
जनहित में प्रकाशित
करने का उत्साह
सम्भव हुआ,
उन्हीं के पाद–
पद्मों में
सश्रद्धया
समर्पित

– देव स्वामी

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—अनन्तश्रीविभूषित—
विद्वद्वरिष्ठपूज्यपादश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

।। अद्वैतसिद्धिः।।

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः,
सत्यज्ञानसुखात्मकःश्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः।
मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मकम्,
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः।। १।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—अनन्तश्रीविभूषित—
विद्वद्वरिष्ठपूज्यपादश्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरिविरचिता

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ॐ श्रीविश्वनाथाय गुरवे नमः

माया से कल्पित प्रमातृत्वादि मिथ्यात्मक द्वैतप्रपंच का अधिष्ठान, सच्चिदानन्द स्वरूप श्रुतियों में शिरोमणि वेदान्त महावाक्य से जन्य अखण्डब्रह्माकारवृत्ति का विषय, तथा मिथ्याबन्ध के अभाव होने से दृश्यरूप विकल्प से रहित, व्यापकात्मक जीव निरतिशय परमानन्द रूप मोक्ष को प्राप्त किये जैसा स्वयं ही प्रकाशित होता है।। १ ।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—अनन्तश्रीविभूषित—
विद्वद्वरिष्ठपूज्यपादश्रीस्वामिब्रह्मानन्दसरस्वतीविरचिता अद्वैतसिद्धिव्याख्या

लघुचन्द्रिका

नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने। कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने।। १।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—अनन्तश्रीविभूषित—
विद्वद्वरिष्ठपूज्यपादश्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरिविरचिता

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

ॐ श्रीविश्वनाथाय गुरवे नमः

अनुवाद— नवघनश्यामवर्ण, कामदेव से भी लालायित देह को धारण करने वाले लक्ष्मीकान्त (अथवा धन काम) सुदामा के मुट्ठीभर चावल के कामुक और गृहस्थाश्रम मे स्थित भगवान कृष्ण के लिये नमस्कार है।। १ ।।

लघुचन्द्रिका

श्रीनारायणतीर्थानां गुरूणां चरणस्मृतिः।
भूयान्मे साधिकेष्टानामनिष्टानां च बाधिका।।२।।
अद्वैतसिद्धिव्याख्यानं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा।
संक्षिप्तचन्द्रिकार्थेन क्रियते लघुचन्द्रिका।।३।

विष्णुः=व्यापकं जीवस्वरूपम्, मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते। कीदृशो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव? तत्राह—अखण्डधीगोचर इति। संसर्गाविषयकमनोवृत्तिविशेषविषयीभूत इत्यर्थः।

ननु तादृशधीविषयत्वे मोक्षप्राप्तिं प्रति नोद्देश्यतावच्छेदकत्वसम्भवः; उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वस्य विधेयगतत्वेन व्युत्पत्तिसिद्धस्य प्रकृते बाधात्। यदा हि तादृशधीविषयीभूत आत्मा, तदा तस्य न मोक्षः; तस्याविद्यारूपबन्धशून्यात्मरूपत्वात्। तदुक्तं वार्तिके— "अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।" इति, "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।"इति च। अविद्याया अस्तमयः संस्कारादिकार्यरूपेणाप्यनव—

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

श्री नारायणतीर्थ गुरूजी की चरणस्मृति मेरे इष्ट पदार्थों की साधिका और अनिष्ट पदार्थों की बाधिका हो।।२।।

ब्रह्मानन्द भिक्षु द्वारा अद्वैतसिद्धि की व्याख्या लघुचन्द्रिका की जाती है जो गुरुचन्द्रिका से संगृहीतसारात्मिका है (गुरुचन्द्रिका ब्रह्मानन्दकृत अद्वैतसिद्धि की प्रथम टीका है)।।३।।

विष्णु अर्थात् देशतः कालतः और वस्तुतः अपरिच्छिन्न व्यापकात्मक कूटस्थजीवस्वरूप भूत चेतन मोक्ष को प्राप्त किये हुए जैसा स्वयं (अन्य प्रकाश के बिना) प्रकाशित होता है। किस प्रकार का विष्णु मोक्ष को प्राप्त किए हुए जैसा है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं— अखण्ड धी गोचर इति, (विशेषण विशेष्यभावादि संबन्धानवगाही ब्रह्माकाररूप अन्तःकरणवृत्तिविशेष के विषयीभूत विष्णु ही मोक्ष प्राप्त किये हुए जैसा है—यह अर्थ है)।

शंका— उद्देश्यतावच्छेदक कालावच्छिन्नत्व का विधेयगतत्वेन भान होना नियम है। जैसे "अरुग्णो देवदत्तः सुखी" इस प्रयोग में देवदत्त उद्देश्य है, अरुग्णत्व उद्देश्यतावच्छेदक है और सुख विधेय है। इसमें उद्देश्यतावच्छेदक अरुग्णत्व के काल से अवच्छिन्न होकर विधेय सुख का भान देवदत्त में होता है, रुग्णत्व काल में सुख का भान नहीं होता। इसी प्रकार "अखण्डधी गोचरो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव" इस प्रयोग में विष्णु उद्देश्य है, अखण्डधीविषयत्व उद्देश्यतावच्छेदक है और मोक्ष विधेय है— ऐसा ही मानना होगा। किन्तु— अखण्डधी विषयत्व में विधेय मोक्ष प्राप्ति के प्रति उद्देश्यतावच्छेदकत्व का संभव नहीं, क्योंकि विधेयगतत्वेन शब्दनिष्ठशक्ति सिद्ध उद्देश्यतावच्छेदकालावच्छिन्नत्व का प्रकृत विधेय मोक्ष में बाध है। जिस समय (उद्देश्य) आत्मा अखण्डधी का विषय होकर रहती है उस समय उसका (आत्मा का) मोक्ष नहीं होता, क्योंकि मोक्ष का स्वरूप अविद्यारूपबन्धरहितत्व है। (वृत्तिदशा में तो स्वतः ही वृत्ति अविद्या का परिणाम होने के कारण अविद्या विद्यमानत्व है। अतः जीवन्मुक्ति वस्तुतः व्यवहार मात्र है, मोक्ष तो विदेहमुक्ति ही है। आगे इसको स्पष्ट करते हैं।)—

वार्तिक में इस संबन्ध में कहा है—" अविद्या का अस्तमय मोक्ष और अविद्या ही बन्ध है।" और "ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा ही मोहात्मिका अविद्या की निवृत्तिरूप है।" (यहां पर अभाव को अधिकरणात्मक मानकर अविद्यानिवृत्ति को आत्मस्वरूप कहा गया है, क्योंकि आत्मा

लघुचन्द्रिका

स्थानम्। सा स्थूलरूपा, संस्कारादिरूपा च। तथाच विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः। ज्ञातत्वोपलक्षित आत्माऽपि विदेहताकालीन एव। जीवन्मुक्तिकालीनस्य ज्ञातत्वोपहितत्वस्यापि कदाचित्सम्भवेन ज्ञातत्वेनोपलक्षितत्वस्य सर्वदाऽसम्भवात्तदुपलक्षित-स्यैव मोहनिवृत्तित्वम्। जीवन्मुक्तौ संस्कारादिरूपेण मोहसत्त्वात्, स्थूलाज्ञाननिवृत्तेस्तत्त्वज्ञान विशेषादिमनःपरिणामरूपतासम्भवेन ज्ञातात्मरूपत्वासम्भावाच्च। नचोक्तविषयत्वक्षण एव तादृशाविद्यास्तमयः सम्भवति; चरमधीरूपविद्यावतः क्षणस्याविद्यातत्प्रयुक्तदृश्य-विशिष्टकालपूर्वत्वाभावनियमेन सिद्धस्याविद्यास्तमयस्य विदेहताकालीनस्य विद्यावति क्षणे सम्भवाभावात्, अत आह—मिथ्याबन्धविधूननेन—विकल्पोज्झित इति।। ब्रह्मात्मैक्याज्ञानरूप बन्धस्य तादृशास्तमयेन दृश्यशून्य इत्यर्थः। अत्र बन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या तदुच्छेदस्य ज्ञानाधीनत्वज्ञापनेन न ज्ञानोत्पत्तिकालीनत्वमिति ज्ञापितम्। तथाच विधेय

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

मे ही अविद्या की निवृत्ति होती है।)

अविद्या का अस्तमय तो संस्कारादि कार्यरूप से भी अनवस्थान है। वह अविद्या स्थूलरूपा और संस्कारादिरूपा होती है। (दोनों का सामान्यरूप से विनाश होना ही मोक्ष है) अतः विदेहताकालीन अविद्यास्तमय ही मुख्य मोक्ष है। (जीवन्मुक्ति का व्यवहार तो गौण है, इस कारण विदेहताकालीन मोक्ष में अखण्डधी कालावच्छिन्नत्व दुर्घट होता है।) ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा भी विदेहताकालीन ही है; क्योंकि जीवन्मुक्तिकालीन आत्मा में ज्ञातृत्व से उपहितत्व का भी कदाचित् (अर्थात् अखण्डवृत्ति काल में) संभव होने से ज्ञातृत्व से उपलक्षितत्व का सदा होना असंभव है, और सर्वदा ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा का ही मोहनिवृत्तित्व है, (कदाचित् उपलक्षित का नहीं) कारण कि जीवन्मुक्ति में संस्कारादिरूप से मोह (अज्ञान) वर्तमान है। (स्थूलाज्ञान की निवृत्ति ही मोहनिवृत्ति है— ऐसी शंका भी होनी नहीं चाहिये, क्योंकि) स्थूलाज्ञाननिवृत्ति तो तत्त्वज्ञान विशेष अर्थात् समाधिकाऽलीन निर्वृत्तिक समतारूप मनःपरिणामविशेष भी हो सकती है; इसलिये उसका (स्थूलाज्ञाननिवृत्ति का) ज्ञातात्मरूपत्व नहीं हो सकता। और अखण्डवृत्तिविषयत्वक्षण में ही संस्कारादिकार्यरूप से भी अनवस्थानरूप अविद्यास्तमय नहीं हो सकता; क्योंकि चरमाखण्डवृत्तिरूपविद्याविशिष्ट क्षण का अविद्या और अविद्या से प्रयुक्त दृश्य— इन दोनों से विशिष्ट काल से पूर्वभावित्वाभाव नियम है (यदि विद्या के उत्तरक्षण में अविद्या और उसका कार्य रह जायें तो वे विद्या से निवर्त्य नहीं होंगे। इसलिये विद्याक्षण में अविद्या और अविद्या कार्य से विशिष्ट काल से पूर्वभावित्व का अभाव माना जाता है। इसी से ज्ञात होता है कि प्राणान्तकालीन अखण्डाकार वृत्ति ही कार्यसहित अविद्या का नाशक है; जीवन्मुक्ति दशा की अखण्डाकारवृत्ति गौण है)। अतः इस नियम से सिद्ध विदेहताकालीन अविद्यास्तमय विद्यावत्क्षण में नहीं हो सकता।

समाधान — ऐसी शंका होने पर कहते हैं— मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झित इति। इसका यह अर्थ है— ब्रह्मात्मैक्य के अज्ञानरूपबन्ध के संस्कारादिकार्यरूप से भी अनवस्थान होने के कारण दृश्यरहित विष्णु है। यहां पर बन्ध की मिथ्यात्वोक्ति से यह ज्ञापन हुआ कि बन्धोच्छेद ज्ञानाधीन है और वह ज्ञानोत्पत्तिकाल में नहीं हो सकता (ज्ञानाव्यवहित उत्तरक्षण में ही बन्ध का उच्छेद होगा यह क्षण नाशक्षण है, स्थितिक्षण नहीं, अतः पूर्वोक्त नियम से भी विरोध नहीं होता)। इसलिये विधेय में उद्देश्यतावच्छेदककाल से अवच्छिन्नत्व के बोध को गौण ही मानना होगा। अतः

लघुचन्द्रिका

उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वबोधस्यौत्सर्गिकत्वात् सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकपक्षकजन्यता सम्बन्धेन कर्तृसाध्यकानुमितौ निरवच्छिन्नैककर्तरि विधेये तादृशकालावच्छिन्नत्वबाध– वत्प्रकृतेऽपि तस्य बाधितत्वान्न तत्र तद्बोधः इति भावः। अत्र बन्धविधूननमविद्या– तत्कार्यशून्यत्वम्, दृश्यशून्यत्वं। अनादिसाधारणदृश्यशून्यत्वमिति तयोर्भेदः।

विधूननेनेति तृतीया ज्ञापकहेतौ, नतु कारकहेतौ। नह्यविद्याया अस्तमयो नाम व्यावहारिकध्वंसरूपो विद्याजन्योऽस्मत्सिद्धान्ते स्वीक्रियते, दृश्यान्तरध्वंसो वा तज्जन्यः; तथा सति तस्य निवर्तकाभावेन "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः" इत्यादि श्रुतिबोधितस्य विदुषि सर्वदृश्योच्छेदस्य बाधापत्तेः। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे हि तत्त्वज्ञानादिसर्वदृश्यनाशोत्पादाद् उक्तक्षणद्वितीयक्षण उक्तनाशस्य नाशोत्पत्त्यसम्भवः।

तत्त्वज्ञानजन्यस्य नाशस्यैव तत्त्वज्ञाननाशहेतुत्वे स्वीकृतेऽप्युक्तबाधापत्तेस्तादवस्थ्यात्,

---

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

"सर्गाद्यकालीनं द्व्यणुकं जन्यता सम्वन्धेन सकर्तृकम्, कार्यत्वात् , घटवत्" इस प्रकार सर्गाद्यकालीन द्व्यणुकपक्षक और जन्यतासंबन्ध से सकर्तृकत्वसाध्यक अनुमिति में निरवच्छिन्न ईश्वररूप एक ही कर्त्ता विधेय है। (इस अनुमान में द्व्यणुक उद्देश्य है, सर्गाद्यकालीनत्व उद्देश्यतावच्छेदक है और सकर्तृकत्व साध्य में ईश्वर विधेय है। किन्तु निरवच्छिन्न ईश्वर सर्गाद्याकाल से अवच्छिन्न नहीं हो सकता)। इसलिये विधेय ईश्वर में जिस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का बाध होता है, उसी प्रकार "अखण्डधीगोचरो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव" इस प्रकृत में भी उद्देशतावच्छेदक कालावच्छिन्नत्व के बाध होने से विधेय मोक्ष में उद्देशतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का बोध नहीं होता– यह भाव है। यहां पर बन्धविधूनन का अर्थ है– अविद्या और उसके कार्य का शून्यत्व; तथा दृश्यशून्यत्व का अर्थ है– अनादिसाधारण दृश्यों का शून्यत्व; इसलिये दोनों में भेद है (जीवेशौ विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।। इस श्लोक से प्रतिपादित छः अनादियों में से विशुद्धचित् से भिन्न सब अनादि दृश्य हैं)।

"विधूननेन" इसमें तृतीया विभक्ति ज्ञापकत्व बोधिका है, न कि कारकत्वबोधिका, क्योंकि हमारे सिद्धान्त में अविद्या के अस्तमय को विद्याजन्य व्यावहारिकध्वंसरूप नहीं माना जाता, अथवा अविद्याध्वंसप्रयुक्त आकाशादिदृश्यान्तरध्वंस नहीं माना जाता (किन्तु बाध ही माना जाता है)। यदि दृश्यान्तर का ध्वंस माना जाय तो उस ध्वंस के अन्य निवर्तक न होने से "विद्वान् नाम और रूप से विमुक्त हो जाता है"। इस श्रुति से बोधित विद्वत्संबन्धी सर्वदृश्योच्छेद का बाध होगा, (क्योंकि दृश्यान्तर का ध्वंसरूप दृश्य रह जाता है)। (और तत्त्वज्ञान भी दृश्यान्तरध्वंस का नाशक बन नहीं सकता; क्योंकि) तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में ही तत्त्वज्ञानादि सर्वदृश्यों के नाश का उत्पादन होने से तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में दृश्यान्तरनाश का नाश तत्त्वज्ञान से नहीं हो सकता (क्योंकि ऐसा होने पर तत्त्वज्ञान तृतीय क्षण तक रह जायेगा)। और यदि तत्त्वज्ञान का द्वितीय क्षण में स्वतः नाश न मानकर तत्त्वज्ञान से जन्य दृश्यान्तरनाश के नाश को तत्त्वज्ञाननाश का हेतु मान लिया जाये तो भी विद्वन्निष्ठ सर्वदृश्योच्छेद की बाधापत्ति ज्यों की त्यों रह जाती है (क्योंकि दृश्यान्तरनाश का नाशरूप दृश्य रह जाता है)।

तत्त्वज्ञान जन्य दृश्यान्तरनाश और तत्त्वज्ञान के जो दो नाश हैं, उन दोनों के अन्य नाशक न होने से दोनों में स्वनाशकत्व मानने पर भी तत्त्वज्ञानध्वंस का ध्वंस तथा दृश्यान्तरध्वंसध्वंस का

लघुचन्द्रिका

तत्त्वज्ञानजन्यस्य दृश्यान्तरनाशस्य तत्त्वज्ञानस्य च यौ नाशौ, तयोर्नाशकाभावात्, तयोः स्वनाशकत्वस्वीकारेऽप्युक्तापत्तितादवस्थ्यात्, अप्रामाणिकानन्तनाशकल्पने गौरवाच्च। तस्माच्चरमतत्त्वज्ञानस्य दृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियम एव स्वीक्रियते, नतु नाशहेतुत्वम्। यत्तु—बद्धपुरुषैः प्रातीतिकमस्तमयादिकं कल्प्यते, न तस्य नाशहेतुत्वम्। यद्यपि ज्ञापकहेतुत्वमपि दृश्यास्तमयं प्रत्यविद्यास्तमयत्वेन नास्ति; जीवन्मुक्ते प्रातीतिकाविद्यास्तमये तद्व्यभिचारित्वात्, जीवन्मुक्ते प्रातीतिकस्य दृश्यास्तमयस्य कल्पने नियमाभावात्; तथापि दृश्यास्तमयकालीनत्वरूपेणाविद्यास्तमयस्य दृश्यास्तमयं प्रत्यस्त्येवेति ध्येयम्।

अथवा माऽस्तु प्रातीतिकं तादृशाविद्यास्तमयादिकम्, अविद्योच्छेदोपलक्षितः पूर्णानन्दरूप आत्मा मोक्षः। अविद्योच्छेदश्च तदीयस्थूलसूक्ष्मरूपाश्रयकालपूर्वत्वाभावः सर्वदृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावरूपेण दृश्योच्छेदेन व्याप्यः; मोक्षस्य दृश्योच्छेदोपलक्षितात्म—

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

ध्वंस रह जाने से पुनरपि विद्वन्निष्ठ सर्वदृश्योच्छेद की बाधापत्ति हो ही जाती है। और अप्रमाणिक अनन्त नाश की कल्पना में भी गौरव दोष होता है। अतः चरमतत्त्वज्ञान का दृश्य के आश्रयभूत काल से पूर्वत्वाभावरूप नियम ही स्वीकृत किया जाता है किन्तु चरम तत्त्वज्ञान का दृश्यान्तर के प्रति नाशहेतुत्व नहीं माना जाता है। और जो बद्धपुरूषों के द्वारा जीवन्मुक्त पुरूष में प्रातीतिक अविद्यास्तमय की कल्पना की जाती है, वह कल्पित अविद्यास्तमय संस्कारादि सूक्ष्माविद्या के नाश का हेतु नहीं हो सकता (क्योंकि जीवन्मुक्त में प्रातिभासिक अविद्यास्तमय होने पर भी संस्कारादिरूप से अनवस्थान रूप अविद्यास्तमय नहीं होता)। यद्यपि दृश्यास्तमय के प्रति अविद्यास्तमय का ज्ञापक हेतुत्व भी अविद्यास्तमयत्व रूप से नहीं होता, क्योंकि जीवन्मुक्त पुरूष में प्रातीतिक अविद्यास्तमय होने पर भी दृश्यास्तमय न होने से ''यत्र अविद्यास्तमयं तत्र दृश्यास्तमयम्'' यह व्याप्ति व्यभिचरित होती है, और इस व्यभिचार के निवारण के लिये जीवन्मुक्त में प्रातीतिक दृश्यास्तमय की कल्पना करने में प्रमाण का अभाव है (कारण कि जीवन्मुक्त भी बद्धपुरूष के जैसे सब व्यवहार करता रहता है); तो भी दृश्यास्तमय कालीनत्व रूप से अविद्यास्तमय का दृश्याऽस्तमय के प्रति ज्ञापक हेतुत्व है ही (अतः—'' यत्र दृश्यास्तमयकालीनत्वविशिष्टाविद्यास्तमयं तत्र दृश्यास्तमयम्'' इति इस व्याप्ति में कोई व्यभिचार नहीं और यह स्थिति विदेहताकाल में ही हो सकती है)। (किन्तु उक्त व्याप्ति के व्याप्य दल में व्यापक साध्य का प्रवेश हो जाता है अर्थात् दृश्यास्तमयरूप साध्य हेतुकोटि में आ जाता है; यह अनिष्ट होता है, क्योंकि पक्ष में साध्य का निश्चय अनुमान से पहले हो जाता है और वह निश्चय अनुमिति का प्रतिबन्धक बन जाता है। इसलिये पूर्वव्याख्या में अरूचि आने से ''अथवा'' आदि से पुनः अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं)—

अथवा— संस्कारादि कार्यरूप से भी अनवस्थानरूप प्रातीतिक अविद्यास्तमयादिक भले न हो। किन्तु अविद्या के उच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्दरूप आत्मा ही मोक्ष है। अविद्या का उच्छेद तो आविद्यक स्थूल और सूक्ष्मरूप के आश्रयभूत काल से पूर्वभावित्वाभावरूप है, वह सर्वदृश्यों के आश्रयभूत काल से पूर्वभावित्वाभावरूप दृश्योच्छेद से व्याप्य है (इसी से—'' यत्र अविद्योच्छेदः तत्र दृश्योच्छेदः'' इस व्याप्ति में दृश्योच्छेद के प्रति आविद्योच्छेद का ज्ञापक हेतुत्व सिद्ध हुआ। इस प्रकार अविद्योच्छेद से उपलक्षित आत्मा का मोक्षत्व व्याप्य दल से समन्वित होता है), और इसी

लघुचन्द्रिका

रूपकैवल्यरूपत्वात्।

यद्वा—ननु दृश्योच्छेदस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे न सम्भवति; अनादिदृश्यानां ज्ञानानुच्छेद्यत्वात्, अविद्यातत्कार्ययोरेव तदुच्छेद्यत्वात्, तत्राह—मिथ्याबन्धेति। मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झित इति योजना। तथा चाविद्योच्छेदेन दृश्योच्छेदवानित्यर्थलाभादविद्योच्छेदस्य दृश्योच्छेदव्याप्य-तालाभेनाविद्यारूपबन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्याऽविद्याप्रयुक्तदृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वलाभेनानादि-दृश्यानामपि ज्ञानोच्छेदलाभादुक्तव्याप्यतायाः सम्भवः। तथाच सर्वदृश्योच्छेदोपलक्षितपरमानन्द-रूपात्मरूपकैवल्यप्राप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्तरमेव, न तत्क्षणे, इति नोद्देश्यतावच्छेदकधीविषय-त्वकालीनत्वं विधेये मोक्षलाभे विवक्षितम्। 'उज्झितः' इति निष्ठाप्रत्ययेनोच्छेदस्यातीतकाले मोक्षप्राप्तेर्लाभादत्यन्ताभावत्वविशिष्टरूपस्योच्छेदस्यापि दृश्यत्वात्तादृशे मोक्षकाले तस्यातीतत्वादिति भावः। मोक्षं कीदृशम्? तत्राह—परमेत्यादि। निरतिशयापरि-च्छिन्नसुखमात्रस्वरूपमित्यर्थः। ननु मुक्तस्य प्रकाशकाभावेन प्रकाशत इत्यर्थकं विजयत इत्ययुक्तम्, तत्राह—स्वयमिति। प्रकाशकसम्बन्धं विनैवेत्यर्थः।

नन्वेवं विजयत इत्यनुपपन्नम्; तस्यापि प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वात्, स्वयमित्यस्य प्रकाशान्तरं

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

प्रकार मोक्ष में व्यापक दल का समन्वय भी होता है, क्योंकि मोक्ष दृश्योच्छेद से उपलक्षित आत्मरूप कैवल्यात्मक है। (प्रकारान्तर से इस ग्रन्थ का अवतरण देकर पुनः व्याख्या करते हैं, यद्वेत्यादि से)।

शंका— दृश्यसामान्य का उच्छेद तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षण में नहीं हो सकता, क्योंकि जीवब्रह्मभेदादि अनादिदृश्य ज्ञान से उच्छेद्य नहीं, अविद्या और उसका कार्यमात्र ही ज्ञान से उच्छेद्य है।

समाधान — ऐसी शंका होने पर कहते हैं— मिथ्याबन्धेति। मिथ्याबन्ध के विधूनन से दृश्यरूप विकल्प से रहित ऐसी योजना करनी चाहिये। इस योजना से अविद्योच्छेद के द्वारा दृश्योच्छेदवान् विष्णु है— यह अर्थ उपलब्ध होने के कारण अविद्योच्छेद में दृश्योच्छेद की व्याप्यता के लाभ होने से अविद्यारूपबन्ध का मिथ्यात्व उक्त हो जाता है। इस प्रकार मिथ्या अविद्या से प्रयुक्त दृश्यमात्र में भी मिथ्यात्व के लाभ होने से अनादि दृश्यों की ज्ञानोच्छेद्यता का लाभ होता है और इसी से अविद्योच्छेद में दृश्योच्छेद की व्याप्यता का सम्भव होता है। अर्थात् दृश्योच्छेद का व्याप्य अविद्योच्छेद होने में कोई व्यभिचार दोष नहीं। इस प्रकार सर्वदृश्योच्छेद से उपलक्षित परमानन्दरूप आत्मा से अभिन्न कैवल्यमोक्ष की प्राप्ति चरमतत्त्वज्ञान के उत्तरक्षण में होती है, तत्त्वज्ञानक्षण में नहीं होती। इसलिये उद्देश्यतावच्छेदक अखण्डवृत्तिविषयत्व के काल से अवच्छिन्नत्व विधेय मोक्ष लाभ में विवक्षित नहीं, क्योंकि "उज्झितः" इसमें निष्ठा क्तप्रत्यय से अविद्योच्छेद की अतीतता के काल में मोक्षप्राप्ति सिद्ध होती है, और अत्यन्ताभावत्वविशिष्टरूप अर्थात् अत्यन्ताभावरूप उच्छेद भी दृश्य होने से तत्त्वज्ञानानन्तर भावी मोक्ष के काल में उसका (उच्छेद का) अतीतत्व सिद्ध होता है— यह भाव है। मोक्ष कैसा है? उसमें कहते हैं— परमेत्यादि। निरतिशय और अपरिच्छिन्न सुखमात्रस्वरूप मोक्ष है— यह अर्थ है।

शंका— मुक्तात्मा का कोई प्रकाशक न होने से "प्रकाशते" अर्थ को कहने वाला "विजयते" शब्द का प्रयोग अयुक्त है।

समाधान — इसमें कहते हैं— स्वयमिति। प्रकाशक के सम्बन्ध हुए बिना ही— यह स्वयं शब्द का अर्थ है।

लघुचन्द्रिका

विनेत्यर्थकत्वेन विजयत इत्यस्य स्वात्मप्रकाशसम्बन्धार्थकत्वेऽपि विष्णोर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वापत्तिः। अथ विजयते इत्यस्योत्कर्षान्तरमेवार्थः, नतु प्रकाशसम्बन्धः, तदा प्रकाशमानानन्दरूपत्वालाभेन मोक्षस्य प्रयोजनत्वालाभः, तत्राह—सत्य—ज्ञान—सुखात्मक इति। यथाऽऽत्मन आनन्दत्वेनानन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इवेत्युक्तम्, अत एवानन्दावाप्तिबोधकश्रुतेरनावृतानन्दैक्यमर्थो न त्वानन्दसम्बन्धः, तथा प्रकाशरूपत्वेन विष्णोः प्रकाशत इत्यस्यानावृतचिदभेदबोधकत्वम्, नतु प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वम्; तथाच दृश्यत्वाभावाद् न मिथ्यात्वापत्तिः। नच प्रकाशरूपतोक्तिर्व्यर्थेति वाच्यम्; अपरोक्षत्वव्यवहारयोग्यसुखस्यैव पुरुषार्थत्वम्, उक्तयोग्यत्वञ्चानावृतचिद्रूपत्वेन, तादृशचित्तादात्म्येन वा; तत्रोक्तरूपानन्दस्यान्त्याभावेऽप्याद्यमस्तीति ज्ञापनार्थत्वेन तस्याः सार्थक्यात्। ननु ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यविरोधितायाः शुक्त्यादिज्ञानस्थले दृष्टतया युक्तत्वेऽप्यनादिसाधारणदृश्यमात्रविरोधित्वमदृष्टत्वान्न युक्तम्, तत्राह—मायेत्यादि।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

शंका— ऐसा होने पर "विजयते" इस पद का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि "विजयते" यह पद प्रकाशसंबन्धार्थक है। और "स्वयम्" इस पद का "प्रकाशान्तर के बिना" ऐसा अर्थ कर के "वियजते" इस पद का " स्वात्मप्रकाशसंबन्धार्थकत्व" मान भी लिया जाय तो भी विष्णु में उस प्रकाश के विषयत्व आने से दृश्यत्व होने के कारण मिथ्यात्व आ जायेगा। और यदि "विजयते" इस पद का उत्कर्षान्तर ही अर्थ है अर्थात् परप्रकाश्यत्वाभावरूप अर्थ है, प्रकाशसंबंध उसका अर्थ नहीं है तो मोक्ष में प्रकाशमानान्दरूपत्व सिद्ध न होने से उसका प्रयोजनत्व का लाभ नहीं होगा,

समाधान — इस शंका में कहते हैं—सत्यज्ञानसुखात्मक इति। आत्मा आनन्दरूप है और मोक्ष भी आनन्दरूप है, आनन्दरूपत्वेन दोनों में भेद नहीं, तो भी जिस प्रकार "आनन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इव" इसमें इव शब्द से प्रातीतिक संबन्ध कहा गया है, आत्मा और मोक्ष में ऐक्य होने से वस्तुतः प्राप्यप्रापकभावसंबन्ध नहीं है। इसलिये "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इत्यादि आनन्द प्राप्ति बोधक श्रुतियों का अर्थ है—अनावृत आनन्द के साथ ऐक्य, न कि आनन्द संबन्ध; उसी प्रकार विष्णु के प्रकाशरूपत्व (चिद्रूपत्व) होने के कारण "प्रकाशते" इस पद से विव्रियमाण "विजयते" पद का अनावृतचिदभेदबोधकत्व है, न कि प्रकाश संबन्धार्थकत्व। इस प्रकार से विष्णु में दृश्यत्वाभाव होने से मिथ्यात्व की आपत्ति नहीं होगी।

शंका— "सत्यज्ञानसुखात्मकः" इसमें ज्ञानपद से प्रकाशरूपता की उक्ति अर्थात् सुख के अनावृत चिदभेद की उक्ति व्यर्थ है।

समाधान — नहीं, वह व्यर्थ नहीं, क्योंकि अपरोक्ष व्यवहार योग्य सुख ही पुरुषार्थ होता है और सुख का अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व अनावृतचिद्रूपत्वेन होता है और घटादि में अनावृतचित्तादात्म्य से होता है अर्थात् अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व का अवच्छेदक कहीं अनावृतचिद्रूपत्व होता है,अथवा कहीं तो अनावृत्तचित्तादात्म्य होता है (यहां तादात्म्य का अर्थ विषयत्व है)। इन दोनों में से मुक्तस्वरूप आनन्द में अन्त्य (अनावृतचित्तादात्म्य) के अभाव होने पर भी आद्य अनावृतचिद्रूपत्व है— इस बात को ज्ञापन करने के लिये प्रकाशरूपता की उक्ति सार्थक हो जाती है।

शंका— ज्ञान की अज्ञान और अज्ञान कार्य से विरोधिता शुक्त्यादि ज्ञानस्थल में दृष्ट होने में युक्त होने पर भी अनादि साधारण दृश्यमात्र से विरोधित्व अदृष्ट होने से अयुक्त है।

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्।
स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः।। २।।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

स्वात्मा के साथ अभिन्न रूप से परमब्रह्म को साक्षात्कार करने वाले परमगुरू (दादागुरू) श्री रामानन्द सरस्वती दीक्षागुरू श्री विश्वेश्वरानन्द सरस्वती तथा विद्यागुरू श्री माधवानन्द सरस्वती इन तीनों के चरणों से उत्थित उन धूलियों के लिये नमस्कार है, जिनके स्पर्श मात्र से भक्तजनों का अज्ञानरूप मल नष्ट हो जाता है।। २।।

लघुचन्द्रिका

मायया कल्पितम्=प्रयुक्तम्। अत एव मृषाभूतं यन्मातृतामुखं प्रमातृत्वादिरूपं द्वैतम्=आत्मभिन्नम्, तदभिन्नप्रपञ्चाश्रय इत्यर्थः। तथाच शुक्त्याद्यज्ञानस्येव चिन्निष्ठतत्सम्बन्धादेरपि तत्प्रयुक्तत्वेन शुक्त्यादिज्ञानस्य तद्विरोधिताया दृष्टतया ब्रह्मज्ञानस्यापि ब्रह्माज्ञानप्रयुक्तदृश्यमात्रविरोधित्वं युक्तमिति भावः। मृषाद्वैताश्रयत्वोक्त्या मुमुक्षावानधिकारी सूचितः। ननु अखण्डब्रह्माकारज्ञानस्य दृश्योच्छेदकत्व आपातज्ञानरूपस्यापि तस्य तत्स्यात्, तत्राह—श्रुतिशिखोत्थेति। श्रुतीनां कर्मोपासनाकाण्डरूपाणामुपकार्यत्वेन शिखेव मुख्यं यन्महावाक्यम्, तज्जनितेत्यर्थः। तथाचनिष्कामकर्मोपासना नुष्ठापनद्वारकचित्तशुद्धिचित्तैकाग्रता द्वारोक्तश्रुत्युपकृतवाक्यजन्य-ज्ञानस्यैव तदिति भावः।। १।।

परममङ्गलरूपां परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनोक्तिं सम्पाद्य परमगुरु—गुरु—विद्यागुरुन्

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

समाधान — इसमें समाधान कहते हैं— मायेत्यादि। माया से कल्पित यानी प्रयुक्त इसलिये मिथ्याभूत जो प्रमातृत्वादि रूप आत्मभिन्न द्वैत है, उस द्वैत से अभिन्न प्रपञ्च का आश्रय यानी अधिष्ठान— यह अर्थ है। इसलिये अनादिदृश्य शुक्त्यज्ञान माया से जन्य न होने पर भी माया से प्रयुक्त होने के कारण जिस प्रकार शुक्ति ज्ञान में उसकी विरोधिता देखी जाती है, उसी प्रकार चिन्निष्ठ माया संबन्धादि अनादि दृश्यों का भी मायाप्रयुक्त होने के कारण ब्रह्मज्ञान में भी ब्रह्माज्ञान से (माया से) प्रयुक्त दृश्यमात्र का विरोधित्व होना तो युक्त ही है— यह भाव है। यहां पर आत्मा के मिथ्याद्वैताश्रयत्व की उक्ति से यह सूचित किया है कि मुमुक्षु ही इस ग्रन्थ के श्रवण में अधिकारी है।

शंका— यदि अखण्डब्रह्माकार ज्ञान में दृश्योच्छेदकत्व मान लिया जाय तो आपातज्ञानरूप अखण्डब्रह्माकार ज्ञान का भी दृश्योच्छेदकत्व होगा।

समाधान — इस शंका में कहते हैं— श्रुतिशिखोत्थेति कर्मोपासनाकाण्डरूप श्रुतियों से उपकार्य होने के कारण शिखा जैसे मुख्य जो "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य हैं, उससे उत्पन्न अखण्ड धी— यह अर्थ है। अभिप्राय यह है कि— निष्काम कर्म और उपासना के अनुष्ठापन से होने वाली चित्तशुद्धि और चित्तैकाग्रता के द्वारा कर्मोपासना काण्डात्मक श्रुतियों से उपकृत महावाक्यजन्य साक्षात्कारत्मक ज्ञान का ही दृश्योच्छेदकत्व है, (आपातज्ञान का नहीं)।। १।।

परब्रह्मरूपविषय और प्रयोजन के प्रतिपादक परममंगलरूप प्रथम श्लोक की उक्ति के अनन्तर परमगुरु, गुरु और विद्यागरु को नमस्कार करते हैं—"श्री राम" इत्यादि से। (यहां पर

बहुभिर्विहिता बुधैः परार्थं विजयन्तेऽमितविस्तृता निबन्धाः।
मम तु श्रम एष नूनमात्मम्भरितां भावयितुं भविष्यतीह॥ ३॥
श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन संगृह्य शास्त्रनिचयं रचितातियत्नात्।
बोधाय वादिविजयाय च सत्वराणामद्वैतसिद्धिरियमस्तु मुदे बुधानाम् ॥ ४॥

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस आलोचनीय विषय में अनेक विद्वानों द्वारा परहित के लिये रचित और अत्यन्त विस्तृत ग्रन्थ विराजमान हैं। अतः इसमें मेरा यह श्रम तो निश्चय ही स्वकामितार्थ के उत्पादन करने के लिये होगा॥ ३॥

श्रद्धारूप धनवान् मननशील मधुसूदन द्वारा शास्त्र समूह का संग्रह करके ब्रह्माभिन्नात्मबोध के लिये तथा वादिविजय के लिये अतियत्न से रचित यह अद्वैतसिद्धि अद्वैतजिज्ञासु निर्मलान्तःकरणवाले विद्वानों के आनन्द के लिए हो॥ ४॥

लघुचन्द्रिका

प्रणमति—श्रीरामेत्यादि। ऐक्येन=आत्मैक्येन। माधवानाम्=परब्रह्मणाम्॥ २॥ ममात्मम्भरिताम्=मन्निष्ठां स्वार्थसम्पादकताम्। भावयितुम्=जनयितुम्। एष श्रमः=एतद्ग्रन्थसम्पादनम्, परोक्तदूषणोद्धारपूर्वकस्वमतपरिच्छेदविशेषस्यैतद्ग्रन्थे क्रियमाणस्यातिलोकोत्तरत्वेनान्यैरेतद्ग्रन्थदर्शनात्पूर्वमज्ञातत्वेनाकामितत्वान्मयैव पूर्वं कामितमुक्तपरिच्छेदरूपं फलं भावयिष्यत्ययं ग्रन्थो नान्यैः कामितमिति भावः॥ ३॥ सिद्धिः=निश्चयः। इयम्=एतद्ग्रन्थाधीना।

"सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात्।
अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत॥"

इत्येतद्ग्रन्थीयसमाप्तिस्थानीयपद्यस्थसिद्धिपदान्यपि तत्तद्ग्रन्थाधीननिश्चयपराण्येव।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

परब्रह्म से अभिन्न जीव चैतन्य ही प्रतिपाद्य विषय है और वही अनावृतप्रकाश से अभिन्न अनावृतानन्द रूप होने के कारण प्रयोजन भी है। इसलिये सर्व प्रथम इसकी उक्ति ही परम मंगलरूपा है)। यहां पर ऐक्य का अर्थ आत्मा के साथ ऐक्य है और "साक्षात्कृतमाधवानाम्" इसमें माधव का अर्थ परमब्रह्म है॥ २ ॥

मेरी आत्मंभरिता अर्थात् मन्निष्ठ स्वार्थ संपादकता को उत्पन्न करने के लिये ही एतद्ग्रन्थसंपादनरूप यह श्रम (प्रयत्न) होगा। इसका भाव यह है— माध्वादि द्वैतवादियों से अद्वैतवाद के ऊपर उक्त दूषणों का निराकरणपूर्वक स्वमत का निश्चय विशेष इस ग्रन्थ में क्रियमाण है, वह निश्चय विशेष अपूर्व होने के कारण इस ग्रन्थ को देखने के पहले अन्यों द्वारा अज्ञात है और अकामित है, केवल ग्रन्थकार द्वारा पहले कामित है। अतः यह ग्रन्थ ग्रन्थकार द्वारा पूर्व कामित परोक्तदूषणोद्धारपूर्वक स्वमतनिश्चयविशेषात्मक फल का उत्पादन करेगा किन्तु अन्यों से कामित फल का नहीं। अतः ग्रन्थकार ने "नूनमात्मंभरितां भावयितुम्" कहा है॥ ३ ॥

("अद्वैतसिद्धिः") इसमें सिद्धि का अर्थ निष्पत्ति नहीं, क्योंकि साध्य की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है, अद्वैतब्रह्म सिद्ध है, साध्य नहीं। अतः सिद्धि पद की व्याख्या करते हैं)— इस ग्रन्थ के अधीन होने वाला अद्वैतनिश्चय ही अद्वैतसिद्धि का अर्थ है। इसी प्रकार "सिद्धीनाम्" इत्यादि इस

तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्। उपपादनं च स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यां भवतीति तदुभयं वादजल्पवितण्डानामन्यतमां

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस प्रकार की अद्वैतसिद्धि (अद्वैतनिश्चय) के कर्तव्यत्व में द्वैतमिथ्यात्व का ही प्रथम उपपादन (निश्चय) करना चाहिये; क्योंकि अद्वैतसिद्धि (अद्वैतनिश्चय) द्वैतमिथ्यात्वसिद्धि (द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय) पूर्वक होती है। उपपादन (द्वैतमिथ्यात्व का निश्चयात्मक फलीभूत दृढ़ज्ञान) तो स्वपक्षसाधन और परपक्ष निराकरण इन दोनों से होता है। इस कारण उन दोनों का वाद जल्प, वितण्डा में से किसी एक कथा का आश्रय लेकर संपादन करना चाहिये, और उस कथा के

लघुचन्द्रिका

परिच्छेदसमाप्त्यादिस्थले सिद्धिपदं साधकग्रन्थपरम्, निश्चयपरमेव वा; अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमपरिच्छेद इत्याद्यर्थकत्वसम्भवेन लक्षणायां मानाभावात्। अस्मदादिभिस्तु स्वकीयसङ्केतविशेषेणास्मिन् ग्रन्थेऽद्वैतसिद्धिपदं प्रयुज्यते।। ४।।

पूर्वकत्वादिति। ''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'' (छा. ६/२/१) इत्यादिश्रुत्या जायमानेऽद्वैतत्वोपलक्षितब्रह्मनिर्विकल्पकनिश्चये ब्रह्मणि द्वैताभावविशिष्टबुद्धेर्द्वारत्वात्, तस्याश्च निषेधत्वेन प्राप्तिपूर्वकत्वेन द्वैतवति ब्रह्मणि द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाव-वत्त्वविषयकत्वात्, ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' इति पूर्ववाक्य इदंशब्दार्थद्वैत-सामान्यतादात्म्यस्य लब्धत्वेन तस्य द्वैताभावांश उद्देश्यतावच्छेदकत्वेन तत्र तत्काला-

---

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

ग्रन्थ के समाप्ति स्थानीय पद्य में आए हुए सिद्धि पद भी तत्तद्ग्रन्थधीन निश्चयपरक है। और परिच्छेद के समाप्त्यादिस्थल में सिद्धि पद साधक ग्रन्थपरक है अथवा निश्चयपरक ही है। क्योंकि ''अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथम परिच्छेद'' इत्याद्यर्थ हो सकता है, अतः लक्षणा करने में कोई प्रमाण नहीं। और हम तो स्वकीय संकेत विशेष से इस ग्रन्थ में ''अद्वैतसिद्धि पद का प्रयोग करते हैं (अद्वैतस्य सिद्धिः निश्चयो यस्मिन्निति)।। ४ ।।

अद्वैतसिद्धि में द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व होने में हेतु बताने के लिये उतना अंश का प्रतीक लेते हैं—पूर्वकत्वादिति। 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है'' इत्यादि श्रुति से जायमान और अद्वैतत्व (द्वैताभाव) से उपलक्षित ब्रह्मस्वरूपमात्र को विषय करने वाला निर्विकल्पक निश्चयरूप ज्ञान में—ब्रह्म में द्वैताभावप्रकारक बुद्धि (ब्रह्म द्वैताभाववदित्यात्मिका बुद्धि) द्वार होती है (कारणपूर्वक कार्य होता है, अतः अद्वैतसिद्धि में द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व है)।

शंका— अद्वितीय श्रुति से ब्रह्म में द्वैताभावप्रकारक बुद्धि उत्पन्न होने पर भी अद्वैतत्वोपलक्षित ब्रह्मनिश्चय का द्वैतमिथ्यात्व निश्चयपूर्वकत्व नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्म में द्वैताभावप्रकारक बुद्धि का स्वावच्छेदक कालावच्छिन्नस्वाश्रयवृत्तिक स्वाभावकत्वरूप मिथ्यात्व विषय नहीं— यहां पर स्व शब्द से मिथ्यात्वेन अभीप्सित पदार्थ लेना चाहिये। जैसे रजत के अवच्छेदककाल (स्थिति काल) से अवच्छिन्न होकर रजत के आश्रय में ही रजत का अभाव होना रजत का मिथ्यात्व है।

समाधान — इसका उत्तर ''तस्याश्च'' इत्यादि से देते हैं— ब्रह्म में द्वैताभावविशिष्टबुद्धि निषेधविषयिका बुद्धि है, और निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है क्योंकि 'प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते'' यह

लघुचन्द्रिका

वच्छेद्यत्वभानस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्, इदमात्मकसतोऽग्रकालसत्त्वस्य द्वैताभाववत्त्वस्य च द्वयोर्विधाने वाक्यभेदस्येष्टत्वात्, द्वैतवति द्वैताभावबोधस्याहार्यत्वेन शाब्दत्वा-सम्भवेऽपीदंपदस्य दृश्यत्वरूपेण द्वितीयपदस्य चात्मभिन्नत्वरूपेण बोधकत्वेनाहार्यत्वाभावात्, कालान्तरावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयकधियश्च ''तरति शोकमात्मवित्'' (छा. ७/१/३) ''विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः'' (मु.३/२/८) ''ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'' (श्वेता. १/८) इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञाननाश्यत्वानुमापकदृश्यत्वलिङ्गादिरूपमानान्तरेण च सिद्धत्वेन तज्जनने वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः, एककालावच्छिन्नं प्रतियोग्यभावयोरेकाधिकरणवृत्तित्वधीरूपो

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

अभियुक्तों का कथन है। अतः उस बुद्धि का द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैतवत्त्वकालावच्छेद से द्वैताभाववत्त्वविषयकत्व होने से द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय है। (द्वैतवद्ब्रह्म का प्रतिपादक वाक्य कौन है— ऐसी शंका होने पर आगे कहते हैं)— ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा. ६/२/१) इस पूर्व वाक्य में इदं शब्दार्थ द्वैतसामान्य का तादात्म्य ब्रह्म में लब्ध होता है। अतः ''द्वैतसामान्यतादात्म्यापन्नं ब्रह्म द्वैताभाववत्'' इसमें द्वैत सामान्यतादात्म्य द्वैताभावरूपविधेयांश में उद्देश्यतावच्छेदक होता है; इसलिये विधेय द्वैताभाव में द्वैतसामान्यतादात्म्य काल से अवच्छेद्यत्व का भान व्युत्पत्ति सिद्ध है (शब्दनिष्ठ अर्थावबोधक शक्ति से सिद्ध है)। (''सदेव सोम्य'' इस वाक्य से द्वैतवद्ब्रह्म का प्रतिपादन और ''एकमेव'' इस अद्वितीय वाक्य से द्वैताभाववद्ब्रह्म का प्रतिपादन मानने पर वाक्य भेद होगा— ऐसी शंका में इष्टापत्ति करते हुए कहते हैं)— इदं शब्दवाच्यद्वैतविशिष्ट सत् (ब्रह्म) का अग्रकाल में सत्त्व और द्वैताभाववत्त्व दोनों के विधान करने में वाक्य भेद की आपत्ति इष्ट ही है और द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैताभाव का बोध करना तो आहार्य (बाधकालीनेच्छाजन्यज्ञान) होने से उसका शाब्दत्व असंभव है, ऐसी शंका भी युक्त नहीं, क्योंकि ''इदमग्र आसीत्'' में इदं पद दृश्यरूपत्व का और ''अद्वितीय" में समासघटित द्वितीय पद आत्मभिन्नत्व का बोधक होने पर उस ज्ञान में आहार्यत्व नहीं होता।

(''एकमेवाऽद्वितीयम्'' इस श्रुति का अर्थ ''द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्'' भले हो, तो भी द्वैतकालावच्छेद से ब्रह्म में द्वैताभाव बोध न हो किन्तु द्वैतानधिकरणीभूत विद्योत्तरकाल अर्थात् विदेहमुक्तिकाल में द्वैताभाव बोध हो, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व के विधेय में भान होने का नियम सार्वत्रिक नहीं और ''एकमेव'' इस वाक्य के तादृशकालावच्छिन्नत्व बोध में तात्पर्य होने का भी कोई प्रमाण नहीं— ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं)— कालान्तरावच्छेद से (द्वैतानधिकरणीभूतविद्योत्तरकालावच्छेद से) ब्रह्म में द्वैताभाववत्त्वविषयक बोध तो ''आत्मवित् शोक से उपलक्षित संसार से पार हो जाता है'', ''ब्रह्मवित् नाम और रूप से विमुक्त होता है''। ''स्वयंप्रकाशरूप आत्मा का साक्षात्कार कर के सब बन्धनों से मुक्त होता है'' इत्यादि श्रुतियों से, तथा प्रपञ्च के ज्ञाननाश्यत्व के अनुमापक दृश्यत्वलिङ्गादिरूप अनुमान से सिद्ध होने के कारण कालान्तरावच्छेद से द्वैताभावबोध के जनन में अद्वितीयवाक्य की वैयर्थ्यापत्ति होगी। (अतः अद्वितीय वाक्य की प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति से द्वैताभाव में द्वैतकालावच्छिन्नत्व के बोधन में तात्पर्य सिद्ध होता है)। इसलिये ''एकमेवाऽद्वितीयम्'' इस श्रुति से एक कालावच्छिन्न अर्थात् द्वैतकालावच्छिन्न प्रतियोगिद्वैत और द्वैताभाव दोनों का ब्रह्मरूपैकाधिकरणवृत्तित्वविषयकधीरूपमिथ्यात्वनिश्चय होता है और तत्पूर्वक सिद्धि होती है। (''सदेव सोम्य'' ''एकमेवाद्वितीयम्'' इस श्रुतिद्वय में वाक्यभेद

लघुचन्द्रिका

मिथ्यात्वनिश्चयः। अथवा मिथ्यात्वघटकस्याभावस्य सदा सर्वत्र विद्यमानत्वेनावच्छिन्न-वृत्तिकान्यत्वेन मिथ्यात्वं नोक्तरूपम्, किन्तु तादृशान्यत्वविशिष्टेनाभावेन घटितम्। तथा च प्रत्यक्षादिप्रमाणस्याद्वैतश्रुतिबाध्यत्वेन ब्रह्मणि कालविशेषाद्यवच्छिन्नद्वैताभावबोधकत्वरूपे श्रुतिसङ्कोचे हेतोरभावेन तादृशाभावस्य त्रैकालिकत्वनिश्चयात्। सार्वज्ञ्य– सर्वकार्योपा-दानत्वबोधकश्रुतेरपि लक्षणवाक्यविधया निर्विकल्पकनिश्चयजनकत्वेऽपि तत्र तादृशनिश्चयस्य सर्वद्वैततादात्म्यविशिष्टधीपूर्वकत्वात्, सर्वतादात्म्यस्यैव ब्रह्मणि सर्वविषयकत्वरूपत्वात्,

---

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

मानकर द्वैतमिथ्यात्व निश्चयपूर्वक अद्वैतनिश्चय का प्रतिपादन पूर्वग्रन्थ में हो चुका है। किन्तु "सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यते" इस न्यायानुसार दोनों श्रुतियों की एकवाक्यता हो सकती है तो वाक्यभेद मानना उचित नहीं। अतः अन्य प्रकार से अद्वैतसिद्धि के पूर्व द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय का वर्णन करते हैं– अथवेत्यादि से)– अथवा मिथ्यात्वघटक अभाव सर्वकालावच्छेदेन और सर्वदेशावच्छेदेन विद्यमान हुआ करता है; अतः वह अवच्छिन्नवृत्तिक अभाव से (तत्कालतद्देशावच्छेदेन वर्तमान अभाव से) भिन्न है। इसलिये मिथ्यात्व अवच्छिन्नवृत्तिकाभावरूप नहीं; क़िन्तु उससे भिन्न सर्वदेशकालावच्छिन्नवृत्तिक अभाव से घटित मिथ्यात्व है। (अर्थात्– त्रैकालिकाऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व है)। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अद्वैतश्रुतिबाध्यत्व होने से तथा ब्रह्म में द्वैतानधिकरणकाल (विद्योत्तरकाल) से अवच्छिन्नद्वैत का अभावबोधकत्वरूप श्रुतिसंकोच में कोई कारण न होने से "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति से द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैताभाव का त्रैकालिकत्वनिश्चय होता है। अतः द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक अद्वैत का निश्चय अक्षुण्ण है।

("एकमेवाद्वितीयम्" इसी श्रुति वाक्य से जन्य अद्वैतज्ञान में द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्व का निर्वाह उक्त स्थिति से होने पर भी "यः सर्वज्ञः" इत्यादि लक्षण वाक्य से जन्य निर्विकल्पक अद्वैतनिश्चय में द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्व का निर्वाह कैसे होगा– ऐसी शंका में उत्तर देते हैं)– सर्वज्ञत्व और सर्वकार्योत्पादनत्व की बोधकश्रुति का भी लक्षण वाक्य होने के कारण निर्विकल्पकनिश्चयजनकत्व है (क्योंकि सब ही लक्षणवाक्य अखण्डलक्ष्यमात्र के बोधक होते हैं)। उसमें भी द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्व का निर्वाह नहीं हो सकता,सो नहीं, क्योंकि ब्रह्म में लक्षणवाक्य से उत्पत्स्यमान निर्विकल्पकनिश्चय का सर्वद्वैततादात्म्य विशिष्ट ब्रह्म विषयक धी पूर्वकत्व है।

शंका– लक्षण वाक्य से सर्वज्ञत्वोपलक्षित ब्रह्म विषयक बुद्धि होती है और उसमें सर्वज्ञत्वविशिष्ट बुद्धि ही हेतुरूप से अपेक्षित है, द्वैततादात्य विशिष्ट ब्रह्मबुद्धि तो अपेक्षित नहीं; अतः लक्षणजन्य ज्ञान में द्वैततादात्म्य विशिष्ट ब्रह्मबुद्धिपूर्वकत्व कैसे होगा?

समाधान – इसका उत्तर देते हैं– ऐसी शंका उचित नहीं; क्योंकि सर्वतादात्म्य ही ब्रह्म में सर्वविषयकत्वरूप सर्वज्ञत्व है और सर्वोपादानत्व ही ब्रह्म में स्वतादात्म्यापन्नसर्वजनकत्वरूप है।

शंका– तो भी "यः सर्वज्ञः" इस श्रुति में द्वैताभावबोधक पद न होने से इस श्रुतिजन्य ज्ञान में द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्व नहीं होगा।

समाधान – इसका उत्तर आगे कहते हैं– "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", " जो सर्वज्ञ (सामान्य रूप से सर्वज्ञाता) और सर्ववित् (विशेषरूप से सर्वज्ञाता) है, जिसका ज्ञानमय

लघुचन्द्रिका

सर्वोपादानत्वस्य ब्रह्मणि स्वात्मकसर्वजनकत्वरूपत्वात्, ''एकमेवाद्वितीयम्'' इति ''यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपम्'' इति श्रुतिद्वये लक्षणादिवृत्त्या द्वैतवत्परब्रह्मनिष्ठस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वरूपत्रैकालिकत्वविशिष्टा–त्यन्ताभावस्य प्रतियोगि द्वैतमिति धीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयः, इति तत्पूर्वकत्वमुक्तनिर्विकल्प–कनिश्चय आवश्यकम्। महावाक्यजन्याद्वैतनिश्चयस्यापि ''नेह नानाऽस्ति किञ्चन'' (बृ. उ.४/४/१९)''नात्र काचन भिदास्ति'' इत्यादितत्पदार्थशोधकवाक्याधीनधीपूर्वकत्वात्, उक्तवाक्येन वर्तमानार्थलट्प्रत्यययुक्तत्वाद् द्वैतविशिष्टब्रह्मरूपोद्देश्यार्थकेहपदयुक्तत्वाच्च वर्तमानकालावच्छेदेनोद्देश्यतावच्छेदकद्वैतवत्त्वावच्छेदकदेशकालावच्छेदेन च द्वैतविशिष्टे ब्रह्मण्यस्तित्वविशिष्टस्य द्वैताभावस्य बोधनात्, अत्यन्ताभावस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्वीकारे

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

(ईक्षणरूप) तप है, उससे यह नामरूप ब्रह्म उत्पन्न हुआ'' इस श्रुतिद्वय के सामर्थ्य से अर्थात् श्रुतिद्वयजन्यबोध से (या श्रुतिद्वय में लक्षणावृत्ति से) द्वैतवत्परब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव, जो अवच्छिन्नवृत्तिकाभाव से अन्यत्वरूपत्रैकालिकत्व से विशिष्ट है, उस त्रैकालिकात्यन्ताभाव का प्रतियोगी द्वैत है– इत्यात्मक धीरूप मिथ्यात्वरूप निश्चय होता है। इसलिये लक्षणवाक्य जन्य निर्विकल्पकनिश्चय में द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय पूर्वकत्व आवश्यक है।

शंका – फिर भी, ''तत्त्वमसि'' आदि महावाक्य जन्य अद्वैतनिश्चय में द्वैतमिथ्यात्व निश्चयपूर्वकत्व किस प्रकार होगा?

समाधान – इसमें उत्तर देते हैं– महावाक्यजन्य अद्वैतनिश्चय भी ''इस ब्रह्म में नाना नहीं'' ''ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं'' इत्यादि तत्पदार्थ के शोधक वाक्यों से उत्पन्न ज्ञानपूर्वक होने के कारण द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व है, क्योंकि ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस वाक्य से द्वैतविशिष्ट ब्रह्म में अस्तित्वविशिष्ट द्वैताभाव का बोधन होता है; (बोधन होने का प्रकार बताते हैं)– वर्तमानार्थक लट् प्रत्यय से युक्त होने के कारण वर्तमानकालावच्छेदेन अस्तित्व विशिष्ट द्वैताभाव होता है, तथा द्वैत विशिष्ट ब्रह्मरूप उद्देश्यार्थक ''इह'' पदयुक्त होने से उद्देश्यतावच्छेदक द्वैतवत्त्व के अवच्छेदक देश और काल से अवच्छिन्न होकर द्वैतविशिष्ट ब्रह्म का बोध है (अभिप्राय यह है–''नेह नानास्ति किञ्चन'' इसमें नाना का अर्थ है ब्रह्मभिन्न, किञ्चन का अर्थ है वस्तु सामान्य; और दोनों मिलकर ''ब्रह्मभिन्नवस्तुसामान्य'' अर्थ होता है, इसके साथ ''नास्ति'' का अन्वय होने पर ''ब्रह्मभिन्नवस्तुसामान्याभावोऽस्ति'' इस प्रकार का अर्थ हुआ। इसमें भी पुनः ''अस्ति पद में वर्तमानार्थक लट् प्रत्यय युक्त होने से ''वर्तनानकालावच्छेदेन अस्तित्व विशिष्टो द्वैताभावः'' यह अर्थ निकलेगा। इसमें वर्तमानकाल महावाक्योपदेश काल है, और वह द्वैतकाल है। अतः ''इह'' पद का अर्थ होगा–''द्वैतवद्ब्रह्माणि''। अतः यहां पर ब्रह्म उद्देश्य है, और ब्रह्मनिष्ठोद्देश्यता का अवच्छेदक द्वैतवत्त्व है और उस द्वैतवत्व का अवच्छेदक द्वैतदेश और द्वैतकाल है, इस प्रकार इन दोनों से अवच्छिन्न द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैताभाव का बोध उक्तश्रुति से होता है।) और मिथ्यात्वघटक अत्यन्ताभाव का अवच्छिन्नवृत्तिकाभाव से अन्यत्व अर्थात् त्रैकालिक मानने पर उस द्वैताभाव में द्वैततावर्तमानकालावच्छिन्नत्व बाधित होने से उसका भान नहीं होगा, किन्तु द्वैताभाव के द्वैतवद्ब्रह्म में निरवच्छिन्नविशेषतासबन्ध से वृत्तित्व का बोध होगा।

शंका– इस प्रकार से द्वैताभाव में द्वैतकालावच्छिन्नत्व का भान न होने पर

लघुचन्द्रिका

निरवच्छिन्नविशेषणतया ताद्दग्ब्रह्मवृत्तित्वबोधनात्, तत्सम्बन्धावच्छिन्नस्य प्रतियोगिसामानाधिकरण्यस्य निवेशादेवाव्याप्यवृत्तितामादाय मिथ्यात्वानुमानेऽर्थान्तरवारणात्।

एकप्रसरताभङ्गापत्त्या 'ब्रह्मणि' इत्येकपदस्य ब्रह्माधेयत्वयोरुद्देश्यविधेययोरन्वयाबोधकत्वेऽपि 'ब्रह्मणि' इत्यनेन ब्रह्मनिरूपितत्वरूपस्योद्देश्यस्यैवास्तीत्यनेनाधेयत्वाश्रयत्वरूपविधेयस्यैव समर्पणेन ब्रह्मनिरूपिताधेयत्वे तद्देशाद्यवच्छिन्नत्वलाभात्, ''यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित:'' (बृ.उ.४/४/१७) इति वाक्ये ''प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षु:'' (बृ.उ.४/४/१८) इत्यादिवाक्ये चाकाशशब्दिताव्याकृतप्राणादिसम्बन्धितया पूर्वं ब्रह्मण उक्तत्वात् पञ्चजनशब्दस्य गन्धर्वादिरूपस्य ब्राह्मणादिरूपस्य वा भाष्योक्तार्थस्य ''यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च'' (कठ. १/२/२५) इति वाक्ये

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

द्वैतकालघटितात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का भी भान नहीं होगा। यदि द्वैतकाल से अघटित मिथ्यात्व मानें तो मिथ्यात्वानुमान में द्वैत की अव्याप्यवृत्तिता को लेकर प्रकृतानुपयुक्तरूप अर्थान्तर हो जायेगा।

समाधान –इसमें उत्तर देते हैं– निरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धावच्छिन्न अत्यन्ताभाव में प्रतियोगि समानाधिकरणकत्व विशेषण देने से अव्याप्यवृत्तिता को लेकर मिथ्यात्वानुमान में होने वाले अर्थान्तर का निवारण होगा। (इसके अनुसार मिथ्यात्व का लक्षण–निरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धाच्छिन्न प्रतियोगिसमानाधिकरणकत्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्)।

शंका– ''इह'' शब्द वाच्यद्वैवद्ब्रह्म में (ब्रह्मणि) सप्तम्यर्थ आधेयता का विधेय रूप से द्वैताभाव के साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि सुबन्ततिङन्तघटक प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में उद्देश्य विधेयभाव से अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं होता, इसमें एकप्रसरता का भङ्ग होता है; एकप्रसरता का लक्षण इस प्रकार है–''उद्देश्यविधेयभावाऽनापन्नविशिष्टैककार्योपस्थितिजनकत्वम्, अथवा एकार्थबोधकत्वरूपं शब्दनिष्ठसामर्थ्यं एकप्रसरत्वम्।

समाधान – इसका उत्तर देते हैं– एक प्रसरताभङ्ग की आपत्ति से ''ब्रह्मणि'' (इह) इस सप्तम्यन्त पद में प्रकृतिब्रह्म को उद्देश्य और प्रत्ययार्थ आधेयत्व को विधेय मानकर दोनों का अन्वयबोधकत्व नहीं, तो भी यहां सप्तमी का अर्थ निरूपितत्व करके ''ब्रह्मणि'' इस पद से ब्रह्मनिरूपितत्वरूप उद्देश्य के ही समर्पण होने से तथा ''अस्ति'' इस पद से अस्तित्व घटक आश्रयत्वरूप विधेय के ही समर्पण होने से ब्रह्मनिरूपित आधेयत्व में द्वैतदेशकालावच्छिन्नत्व का लाभ होता है।

शंका– द्वैतवद्ब्रह्म का वर्णन ''नेह'' इस श्रुति के पहले नहीं किया गया है, अत: ''इह'' इस सर्वनाम पद से द्वैतवद्ब्रह्म का कैसे बोध होगा?

समाधान – इसका उत्तर देते हैं– ''जिसमें पञ्च पञ्चजन और आकाश आश्रित है'' इस वाक्य में, तथा ''प्राण का प्राणनशक्तिदाता है, चक्षु का दर्शनशक्ति दाता है'' इत्यादि वाक्य में आकाश शब्दवाच्य अव्याकृत माया और प्राणादियों के साथ तादात्म्यापन्नतया द्वैतवद्ब्रह्म इसके पहले ही कह चुके हैं। (तो भी इतने मात्र से सब दृश्य तादात्म्यवत्त्व ब्रह्म का तो नहीं कहा गया है– ऐसी शंका होने पर कहते हैं)– गन्धर्वादि रूप (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस) पञ्चजनशब्द का अथवा ब्राह्मणादि रूप निषादपञ्चम ब्राह्मणादि चार वर्ण, भाष्योक्तार्थ पञ्चजनशब्द

लघुचन्द्रिका

ब्रह्मक्षत्रपदयोरिव सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन 'प्राणस्य' इत्यादेरपि सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन सर्वदृश्यसम्बन्धित्वेनैव ब्रह्मणः पूर्वमुक्तत्वाच्चाद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकत्वम्।

नच—'नाना' इत्यस्य नञ्पदनिष्पन्नत्त्वेन भेदार्थकतया स्वसमभिव्याहृतपदार्थब्रह्मभेदबोधकतया तादृशभेदविष्टिस्य 'किञ्चन' इतिपदार्थस्यात्यन्ताभावे द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्वस्य भानं न व्युत्पत्तिसिद्धम्, उद्देश्यतावच्छेदकतत्तद्देशकालावच्छिन्नत्वयोस्तत्तद्देशकालादिविशिष्टोद्देश्यस्थल एव भानादिति—वाच्यम्; तादृशाभावे तादृशावच्छिन्नब्रह्मवृत्तित्वबोधेऽप्युद्देश्यसिद्धेः। नहि तत्र तत्केनापि स्वीक्रियते। प्रलयेऽपि तादृशाभावे तार्किकादिभिस्तदस्वीकारात्, मिथ्यात्ववादिनैव तत्स्वीकारात्। वस्तुतस्तु—ब्रह्मभेदो न प्रतियोगितावच्छेदकतया भाति, किन्तूपलक्षणतया किञ्चनपदार्थे प्रकारः। तथा च तत्पदस्य सर्वनामतया प्रसिद्धार्थतया प्रत्यक्षादिमानसिद्धद्रव्यत्वादिविशिष्टबोधकत्वेन प्रसिद्धार्थकत्वात् प्रक्रान्तार्थकत्वाद्वा 'इह'पदेन

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

का जिस प्रकार "जिसका ब्राह्मण और क्षत्रिय ओदनस्थानीय है" इस कठोपनिषद्वाक्य में ब्राह्मण और क्षत्रिय पदों का सर्वदृश्योपलक्षणत्व है, उसी प्रकार सर्वदृश्योपलक्षणत्व होने से, तथा "प्राणस्य" इत्यादि वाक्य का भी सर्वदृश्योपलक्षणत्व होने से ब्रह्म का पहले ही सर्वदृश्यतादात्म्यवत्त्व उक्त होने के कारण अद्वैतनिश्चय का द्वैतमिथ्यात्व निश्चयपूर्वकत्व सिद्ध होता है।

शंका— "नाना" इस पद का नञ्पद से निष्पन्न होने के कारण (नञ् में नाञ् प्रत्यय करके "तद्धितेष्वचामादेः" इस सूत्र से आद्यच्की वृद्धि होने पर नानाशब्द निष्पन्न होने के कारण) भेदार्थकत्व होने से अपने साथ (नानाशब्द के साथ) सहोच्चारित ब्रह्मपदार्थ से भेद बोधकत्व है, इसलिये ब्रह्मभेद विशिष्ट किञ्चनपदवाच्य वस्तुसामान्य के अत्यन्ताभावरूप में द्वैतवत्त्व देश और काल से अवच्छिन्नत्व का भान व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक तद्देश से अवच्छिन्नत्व और तत्काल से अवच्छिन्नत्व का तद्देशविशिष्ट और तत्कालविशिष्ट उद्देश्य के स्थल में ही विधेयनिष्ठत्वेन भान होता है। (अभिप्राय यह है— सिद्धान्तिकृतपूर्वव्याख्यान के अनुसार द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपित आधेयत्व में द्वैतदेशकालावच्छिन्नत्व का लाभ होता है। इसमें द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितत्व उद्देश्य है और आधेयत्व (वृत्तित्व) विधेय है। परन्तु पूर्वपक्षी के कथनानुसार द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितत्व उद्देश्य और ब्रह्मभिन्नद्वैताभाववृत्तित्व (आधेयत्व) विधेय हो जायेंगे। यहां पर उद्देश्यतावच्छेदक द्वैतवत्त्व देशकाल से अवच्छिन्नत्व का विधेय आधेयत्व में तो भान हो सकता है किन्तु विधेयभूत आधेयत्व के विशेषणीभूत ब्रह्म भेद और द्वैताभाव में तो उद्देश्यतावच्छेदकद्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्व का भान नहीं होगा। तब तो द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैतदेशकालावच्छेदेन द्वैतात्यन्ताभावरूप मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा)।

समाधान — इसमें सिद्धान्ती कहते हैं— ऐसी शंका होनी नहीं चाहिये, क्योंकि ब्रह्मभिन्न वस्तु सामान्याभाव के द्वैतवत्त्व देशकालावच्छिन्न ब्रह्मनिरूपित आधेयत्व के बोध होने में भी हमारे उद्देश्य (महावाक्यजन्याद्वैतसिद्धि का द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व) की सिद्धि होती है। कारण कि द्वैताभाव में द्वैतकालावच्छिन्न द्वैवद्ब्रह्मनिरूपित आधेयत्व को कोई भी द्वैतपरमार्थवादी नहीं मानते। प्रलयकाल में भी द्वैतसामान्याभाव में द्वैतकालावच्छेदेन द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपित आधेयत्व को नैयायिक लोग भी नहीं मानते, केवल मिथ्यात्ववादी हम लोग ही उसको मानते हैं। वस्तुतस्तु "ब्रह्मभिन्नद्वैताभाववृत्तित्व"—इसमें नानापदार्थ भूत ब्रह्मभेद प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन ज्ञात नहीं होता, किन्तु

कथामाश्रित्य सम्पादनीयम् । तत्र च विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वान्मध्यस्थेनादौ

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कर्तव्यत्व में विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य संशय कथा में होने वाले विचार का अंग होने से कथा के पहले मध्यस्थ द्वारा विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन करना चाहिए। (एकधर्मिकपरस्परविरूद्धधर्मप्रकारकबोध–जनकवाक्यं विप्रतिपत्तिः)। यद्यपि विप्रतिपत्ति वाक्यजन्य संशय पक्षता के संपादक रूप से उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि सिषाधयिषाविरहविशिष्टसाध्यनिश्चयाभावरूप पक्षता संशय से घटित नहीं। (सिषाधयिषा का अर्थ है अनुमित्सा, यह अनुमिति के प्रति उत्तेजिका है और सिषा–धयिषाविरहविशिष्टसाध्यनिश्चय अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक है। प्रतिबन्धक वर्तमान होने पर भी जो कार्यजनक हो वह उत्तेजक है और कार्यविघातक प्रतिबन्धक है। अतः साध्यनिश्चय होने पर भी सिषाधयिषा हो जाय तो अनुमिति हो ही जाती है, किन्तु सिषाधयिषा विरह विशिष्टसाध्यनिश्चय होने पर तो कथमपि अनुमिति नहीं होगी। अतः सिषाधयिषा विरहविशिष्टसाध्यनिश्चयाभाव पक्षता है अर्थात् सिषाधयिषाविरहविशिष्ट साध्यनिश्चयाभावप्रतियोगिप्रकारकविशेष्यताशालिता

लघुचन्द्रिका

घटत्वादिविशिष्टवद्ब्रह्मबोधनात्, द्रव्यत्वादिविशेषरूपेणैव मिथ्यात्वलाभः। घटवद् द्रव्यवदित्येवमुद्देश्यतावच्छेदकभानेऽपि 'द्रव्यं नास्ति' इत्यादिविधेयांशे घटत्वादिविशिष्ट–स्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वेन द्रव्यत्वादिविशिष्टाभावज्ञानस्य नाहार्यत्वापत्तिरिति भावः।

वादः=तत्त्वबुभुत्सुना सह कथा। जल्पः=विजिगीषुणा सह। वितण्डा=स्वपक्षस्थापनहीना।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

उपलक्षणत्वेन किञ्चन पदार्थ में प्रकार है। तब तो किञ्चनपदान्तर्गत किंशब्द सर्वनाम होने के नाते प्रसिद्धार्थक होने से प्रत्यक्षादिमानसिद्ध द्रव्यत्वादि विशिष्ट द्रव्यादि का बोधक है तथा "इह पद" सर्वनाम होने के कारण प्रसिद्धार्थक या प्रकृतपदार्थवाचक होने से घटत्वादिविशिष्ट घटादिवद्ब्रह्म का बोधक है, इन दोनों कारणों से "ब्रह्मभेदोपलक्षितद्रव्यत्वविशिष्टाभावो घटत्वविशिष्टवद्ब्रह्मवृत्तिः" इस प्रकार द्रव्यत्वादि विशेष रूप से ही किञ्चन पदार्थ का मिथ्यात्व लाभ होता है।

शंका— इस प्रकार से तो "द्रव्याभावो घटवद्ब्रह्मवृत्तिः" "जातिमदभावश्च द्रव्यवद्ब्रह्म वृत्तिः" इस प्रकार समूहालम्बनात्मक बोध ही होगा। तब तो एक ही ब्रह्मरूप धर्मी में द्रव्य अवच्छेदकरूप से और द्रव्याभाव विधेयरूप से प्रतीत होने के कारण वह ज्ञान आहार्य हो जायेगा। इसका उत्तर देते हैं)— "घटवति ब्रह्मणि द्रव्यं नास्ति, द्रव्यवति ब्रह्मणि जातिमान् नास्ति" इत्यादि समूहालम्बन में घटत्व विशिष्टवत्त्व, द्रव्यत्वविशिष्टवत्त्वादिरूप अवच्छेदक प्रतीत होने पर भी "द्रव्यं नास्ति" इस प्रकार द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्याभावरूप विधेयांश में घटत्वादिविशिष्ट का ही उद्देश्यतावच्छेदकत्व है (द्रव्यत्वादिविशिष्ट का उद्देश्यतावच्छेदकत्व नहीं); इस कारण द्रव्यत्वादिविशिष्टाभावरूप विधेयविषयक ज्ञान में आहार्यत्व की आपत्ति नहीं होगी। इसलिये अद्वैतसिद्धि का द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व सिद्ध है—यह भाव है।

तत्त्वजिज्ञासु के साथ होने वाली कथा वाद है, विजिगीषु (पर को जीतने की इच्छा वाले) के साथ होने वाली कथा जल्प कहलाती है और स्वपक्षस्थापन न करके परपक्षखण्डनात्मिका कथा वितण्डा है। कथा तो पञ्चावयवसहकारियुक्त वाक्यात्मिका है अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनयन और निगमन इन पांच अवयवों से युक्त अनुमानादिप्रमाण और तर्क से साधनीया

विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीया। यद्यपि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य न पक्षतासम्पादकतयोपयोगः। सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावरूपायास्तस्याः संशयाघटितत्वात्। अन्यथा श्रुत्यात्मनिश्चयवतोऽनुमित्सया तदनुमानं न स्यात्, वाद्यादीनां निश्चयवत्त्वेन संशया–सम्भवादाहार्यसंशयस्यातिप्रसञ्जकत्वाच्च। नापि विप्रतिपत्तेः स्वरूपत एव पक्षप्रतिपक्ष–परिग्रहफलकतयोपयोगः। 'त्वयेदं साधनीयम्,' 'अनेनेदं दूषणीयम्' इत्यादिमध्यस्थवाक्यादेव तल्लाभेन विप्रतिपत्तिवैयर्थ्यात्। तथापि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्यानुमित्यनङ्गत्वेऽपि व्युदसनीयता विचाराङ्गत्वमस्त्येव। तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः क्वचिन्निश्चयादि प्रतिबन्धादजनकत्वेऽपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पक्षता है और तद्वान् पक्ष है। ''पर्वतो वह्निमान्'' यह ज्ञान सिषाधयिषाविरहविशिष्टसाध्यनिश्चयात्मक है, और साध्यनिश्चयाभाव का प्रतियोगी वह्नि है और वह पर्वत का प्रकार भी है, अतः साध्यनिश्चयाभाव प्रतियोगिप्रकारकविशेष्यताशालितारूपपक्षता पर्वतनिष्ठा है, तद्वान् पर्वत पक्ष होता है। यह पक्षता कहीं तो विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव को लेकर, कहीं विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव को लेकर और कहीं तो उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव को लेकर गृहीत होती है। अतः पक्षता संशय से घटित नहीं होती है।) यदि पक्षता में संशयघटितत्व मान लिया जाय तो श्रुति से आत्मनिश्चयवान् पुरूष का अनुमित्सा से आत्मविषयकानुमान नहीं होना चाहिये, वादी आदियों में भी स्वपक्षनिश्चयवत्त्व होने से संशय असम्भव हैं, और उनमें आहार्यसंशय मानेंगे तो वह अतिप्रसंजक होगा। (बाधकालीनेच्छाजन्यसंशय आहार्यसंशय है) और विप्रतिपत्ति वाक्य साक्षात् ही एकधर्मिकस्थापनीय कोटिद्वय का परिग्रहफलक होकर उपयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि ''तेरे द्वारा यह साधनीय है'' और ''इससे इस प्रकार दूषणीय है'' इत्यादि मध्यस्थवाक्य से ही पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहरूप फल के लाभ होने से विप्रतिपत्तिवाक्य व्यर्थ होगा, तथापि विप्रतिपत्तिजन्यसंशय अनुमिति का अंग न होने पर भी निराकरणीय होने से विचार का

लघुचन्द्रिका

कथा=पञ्चावयवपरिकरोपेतवाक्यम्।

सिषाधयिषेत्यादि। सिषाधयिषाऽभावसामानाधिकरण्यविशिष्टस्य साध्यनिश्चयस्या–भावरूपाया इत्यर्थः। संशयस्य=संशयहेतुत्वस्वीकारस्य। अतिप्रसञ्जकत्वात्= आहार्य

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

लम्भात्मिका कथा होती है

"इत्यवतरणग्रन्थः समाप्तः"

सिषाधयिषेत्यादि। सिषाधयिषाभाव के सामानाधिकरण्य से विशिष्ट साध्यनिश्चय की अभावरूपा पक्षता है– यह अर्थ है। आहार्यसंशय अर्थात् अहार्यसंशयनिष्ठ अनुमिति हेतुत्व का स्वीकार अतिप्रसञ्जक है, यानि आहार्यपरामर्शादि के अनुमितिहेतुत्व का उपपादक है। (अभिप्राय यह है–''आहार्यत्वं यद्यनुमितिजनकज्ञानवृत्तिस्यात्, तदाऽनुमितिजनकपरामर्शवृत्ति स्याज्ज्ञानत्ववत्'' इस तर्क से आहार्यपरामर्श में भी अनुमितिहेतुत्व का प्रसंग आयेगा। अतः आहार्य संशय में अनुमितिहेतुत्व को स्वीकार नहीं करना चाहिये।)

स्वरूपयोग्यत्वाद्। वाद्यादीनाञ्च निश्चयवत्त्वे नियमाभावात् 'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इत्याभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्, परपक्षमालम्ब्याप्यहङ्कारिणो विपरीतनिश्चयवतो जल्पादौ प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्मात् समयबन्धादिवत् स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अंग तो होता ही है, क्योंकि कदाचित् निश्चयादि प्रतिबन्ध से विप्रतिपत्ति का विचारांगभूत संशय के प्रति अजनकत्व होने पर भी जननस्वरूपयोग्यत्व है और वादी आदियों का निश्चयवत्त्व में नियम नहीं होता, तथा "निश्चितौ हि वादं कुरुत" यह लोकोक्ति (प्रवाद) तो आभिमानिकनिश्चय के अभिप्राय से है, क्योंकि विपरीतनिश्चय वाले अहंकारी की परपक्ष को लेकर भी जल्पादि में प्रवृत्ति देखने में आती है। इसलिये कथौपायिकनियमबन्ध के जैसे मध्यस्थ द्वारा स्वकर्त्तव्यनिर्वाह के लिये विप्रतिपत्ति दिखलाना चाहिये ही।

लघुचन्द्रिका

परामर्शादेर्हेतुत्वापादकत्वात्। पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेति। पक्षे धर्मिणि प्रतिनियतपक्षपरिग्रहेत्यर्थः। वादिनोर्भावाभावान्यतरकोटेरेकधर्मिणि प्रयोगेति यावत्। तथापि—अनुमित्यनङ्गत्वेऽपीति। अनुमितिं प्रति तथाविधमेव यदङ्गत्वम्, तदभावेऽपीत्यर्थः। प्रथमस्यापिशब्दस्यैवकार—समानार्थकत्वात्; यद्यपीत्यस्य पूर्वं सत्त्वात्तथापीत्यन्यदध्याहार्यम्। एकेनैव वा तथापीत्यनेनार्थद्वयबोधः। अथवा—अङ्गत्वपदस्य पूर्वशङ्किताङ्गत्वमर्थः। व्युदसनीयतया= विचारसाध्याभावप्रतियोगितया। विचाराङ्गत्वं विचारप्रवृत्त्युपयुक्तस्य संशयाभावरूपफल—

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेति। (इसमें पक्षप्रतिपक्ष का प्रसिद्ध भावकोटि और अभावकोटि अर्थ किया जाय तो दोनों के एक धर्मिकत्व अर्थात् एकविषयकत्व का लाभ नहीं होता, अतः दोनों के एक धर्मिकत्व के लाभ के लिये अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं)— पक्ष में यानि एक धर्मी में वादी और प्रतिवादी के लिये प्रतिनियत पक्षों का परिग्रह—यह अर्थ है। दोनों वादियों की भावकोटि और अभावकोटि, इन दोनों में से अन्यतर कोटि का एक धर्मी में प्रयोग—यह अभिप्राय है। तथापि— अनुमित्यनङ्गत्वेऽपीति। (यदि विप्रतिपत्तिजन्य संशय का विचाराङ्गत्व मान लिया जाय तो उसके द्वारा अनुमित्यङ्गत्व भी हो जायेगा— ऐसी शंका होने पर "तथापि" को "तथैव" मानकर उत्तर देते हैं)— अनुमिति के प्रति तथाविध ही अर्थात् पक्षतादि संपादकत्वरूप से ही जो अङ्गत्व है, उस अङ्गत्व का विप्रतिपत्तिजन्य संशय में अभाव होने पर भी—यह अर्थ है, क्योंकि प्रथम "अद्य" शब्द एवकार का समानार्थक है। और पूर्वग्रन्थ में "यद्यपि" यह पद प्रयुक्त होने से उसके साथ अन्वय करने के लिये अन्य "तथापि" पद का अध्याहार करना चाहिये। (अध्याहार में ग्रन्थकार की न्यूनतापत्ति होने से कहते हैं)— अथवा एक ही "तथापि" इस पद से तन्त्र द्वारा अर्थद्वय का बोध है (सकृदुच्चारित्वेसत्यनेकार्थबाधकत्वं तन्त्रत्वम्) अथवा अङ्गत्व पद का अर्थ पूर्वशंकिताङ्गत्व अर्थात् पक्षतासंपादकत्वरूप अङ्गत्व समझना चाहिये (तब तो अध्याहार और तन्त्र की आवश्यकता नहीं रहेगी)। व्युदसनीयता होने से अर्थात् विचार से साध्य संशयाभाव की प्रतियोगिता होने से। (आगे विप्रतिपत्तिजन्यसंशय का विचाराङ्गत्व किस प्रकार होता है— सो

लघुचन्द्रिका

ज्ञानस्य विशेषणज्ञानविधया कारणे ज्ञाने विषयत्वम्। तथाच विप्रतिपत्तिवाक्यात् संशये जाते संदेह्मीत्याकारकेण संशयरूपविशेषणज्ञानेन संशयाभावरूपफलज्ञानाधीनेच्छया विचारे प्रवृत्तिरित्येवंरीत्या विचारे विप्रतिपत्तिवाक्योपयोग इति भावः।

ननु—वादिनोः स्व—स्वकोटिनिश्चयकाले तत्संशयोत्पादानुपपत्तिः, अत आह—तादृशेति। विचाराङ्गेत्यर्थः। स्वरूपयोग्यत्वात्=कारणत्वात्। प्राचीनमते विप्रतिपत्तिवाक्यस्य शाब्द—धीरूपसंशयोत्पादकत्वस्वीकारात्। प्रत्यक्षस्यैव संशयत्वमिति मते तु कारणीभूतकोटिद्व—योपस्थितिहेतुपदघटितत्वादित्यर्थः। तथाच वादिनोर्निश्चयकाले संशयानुत्पत्तावपि संशयकारणत्वादिरूपेण ज्ञाता विप्रतिपत्तिः संशयं स्मारयति; ययोः सम्बन्धः पूर्वं गृहीतः, तयोरेकज्ञानस्यापरस्मारकत्वात्। तथा च तथैव तदा तस्या उपयोग इति भावः। 'आभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्' इति निश्चयवानस्मीति ज्ञापयन्तौ विवदेते इत्यर्थकम्। तथाच वादिनोर्निश्चयकाले सभापत्यादीनां संशयाभावमुद्दिश्य विचारे प्रवृत्तिरिति भावः। ननु—विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्ध्यहेतुत्वमते नोक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरुपयुज्यत इति—चेत्, सत्यम्; तथापि स्वस्य परस्य वा संशयाभाववत्त्वे निश्चिते तत्र सिद्धत्वज्ञानाद् न

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

बताते हैं)— कारण ज्ञान मे अर्थात् कथाप्रवृत्तिप्रयोजकी भूत विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य संशयात्मक ज्ञान में संशय का विशेषणज्ञानरूप से विचारप्रवृत्ति प्रयोजनीभूत संशयाभावरूप फल के प्रति विषयत्व ही विचाराङ्गत्व है। (इसको स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं) —इसलिये विप्रतिपत्तिवाक्य से सशय उत्पन्न होने पर "मैं सन्देह करता हूं" इत्यात्मक संशयरूपविशेषण ज्ञान से संशयाभावरूपफलज्ञान से होने वाली इच्छा से विचार में प्रवृत्ति होती है— इस प्रकार की रीति से विचार में विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग होता है— यह भाव है।

शंका— दोनों वादियों के स्वस्वकोटिनिश्चय काल में विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य संशय की उत्पत्ति असम्भव है।

समाधान — इसमे उत्तर देते हैं—तादृशेति तादृश का अर्थ विचाराङ्ग है, तथा स्वरूपयोग्यत्व का अर्थ कारणत्व है, क्योंकि प्राचीन नैयायिकों के मत में विप्रतिपत्तिवाक्य का शाब्दधीरूप संशय का उत्पादकत्व माना जाता है। प्रत्यक्षज्ञान का ही संशयत्व है— ऐसा मानने वाले के मत में तो संशयकारणीभूत भावाभावकोटिद्वय की उपस्थिति के हेतुभूत पद से विप्रतिपत्ति घटित है। तब तो दोनों वादियों के निश्चयकाल में संशय की अनुपपत्ति होने पर भी संशय स्मारकत्वरूप कारणत्वादिरूप से ज्ञात होती हुई विप्रतिपत्ति संशय का स्मरण कराती है; क्योंकि जिन दो पदार्थों का संबन्ध पहले गृहीत हो चुका है। उनके एक ज्ञान अन्य का स्मारक होता है। अतः संशयस्मारकत्वरूप से वादियों के निश्चयकाल में विप्रतिपत्ति का उपयोग है—यह भाव है। आभिमानिकनिश्चयाऽभिप्रायमिति—" मैं निश्चयवान हूं" इस प्रकार ज्ञापन करते हुए वादी लोग विवाद करते हैं— इस अर्थ का प्रतिवादक हो इसलिये दोनों वादियों के निश्चयकाल में सभापत्यादियों के संशयाभाव का उद्देश्य लेकर विचार में प्रवृत्ति होती है— यह भाव है।

शंका — विशेषणाज्ञान का विशिष्टज्ञान के प्रति अहेतुत्व मानने वाले के मत में उक्त रीति से अर्थात् संशयरूपविशेषणाज्ञान द्वारा संशयस्मारकत्वरूप से विप्रतिपत्ति का उपयोग नहीं होना चाहिये।

समाधान— ठीक है, तो भी (फलघटक संशयरूपविशेषणज्ञान द्वारा विप्रतिपत्ति का

लघुचन्द्रिका

तदुद्देशेन प्रवृत्तिः, अतः संशयाभाववत्त्वनिश्चयविरोधिनी संशयवत्त्वधीरपेक्ष्यत एव।

ननु—वादिनोरन्येषां च सभास्थानां निश्चये वादिभ्यां निश्चिते संशयाभावमुद्दिश्य न विचारे तयोः प्रवृत्तिः, किन्तु विजयादिकमुद्दिश्य; तत्र च विप्रतिपत्तिर्नोपयुज्यते, अत आह—तस्मादिति। स्वकर्तव्येति। उक्तस्थले तात्कालिके संशयाभावे निश्चितेऽपि निश्चयजन्यसंस्कारस्य कालान्तर उच्छेदशङ्कया संशयोत्पत्तिसम्भवज्ञानेन तदापि संशयाभावोऽनुवर्ततामितीच्छायाः सम्भवान्न विजयादिकमात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तिः। किञ्च यथा समयबन्ध एतन्मतमवलम्ब्यैव युवाभ्यां विचारणीयमित्याकारको मध्यस्थेन क्रियते; अन्यथा वादिनोर्मतान्तरप्रवेशेऽव्यवस्थापत्तेः, यथा वा वादिनौ परीक्ष्येते, अन्यथा मूर्खस्य विचारे मध्यस्थस्यैव हास्यत्वापत्तेः; तथा विप्रतिपत्तिरपि मध्यस्थेन कार्यैव ; अन्यथा प्रासङ्गिकविषयमादाय वादिनोरेकस्य जयस्वीकारापत्त्या प्रकृतविषये तयोर्जयपराजय—व्यवस्थापनरूपस्य मध्यस्थकर्तव्यस्यानिर्वाहात्। विप्रतिपत्तौ कृतायां तु सभास्थैस्त—च्छ्रवणात्तद्विषयकोटी अपलप्य प्रासङ्गिकविषयान्तरं न वादिभ्यामवलम्ब्य विजयः स्वीकर्तुं

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

फलेच्छा के प्रति उपयोगित्व न होने पर भी) वादी या प्रतियोगी के संशयाभाववत्त्व निश्चित होने पर उस संशयाभाव में निश्चिततत्वज्ञान होने से संशयाभावरूपफल के उद्देश्य से प्रवृत्ति नहीं होती, अतः प्रवृत्ति के लिये संशयाभाववत्व निश्चय की विरोधिनी संशयवत्त्वधी की अपेक्षा अवश्य होगी, (क्योंकि "यद्व्यतिरेकज्ञानत्वेन यत्प्रतिबन्धकत्वं, तन्निश्चय तद्धेतुः" यह नियम है— अर्थात् संशयवत्वाभावज्ञानत्व रूप से संशयवत्वाभावज्ञान का कथाप्रवृत्ति प्रतिबन्धकत्व है तो संशयवत्वनिश्चय कथाप्रवृत्ति का हेतु है, अतः उसमें विप्रतिपत्ति का उपयोग है)।

शंका— जिस विषय में दोनों वादी और सभास्थ अन्यों के निश्चय होने पर दोनों वादियों से निश्चित उस विषय में संशयाभावरूप फल का उद्देश्य लेकर विचार में दोनों की प्रवृत्ति नहीं, किन्तु विजयादि का उद्देश्य लेकर प्रवृत्ति होती है। अतः उस विचार में विप्रतिपत्ति का उपयोग नहीं होता।

समाधान — इसके उत्तर में कहते हैं— तस्मादिति। स्वकर्तव्येति। निश्चित विषयस्थल में तात्कालिक संशयाभाव निश्चित होने पर भी निश्चयजन्य संस्कार के कालान्तर में विलोप की आशंका से संशयोत्पत्तिसम्भव होने के ज्ञान होने के कारण उस कालान्तर में भी "संशयाभाव स्थायी रहे" ऐसी इच्छा के सम्भव होने से विजयादिमात्र का उद्देश्य लेकर दोनों की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती। किञ्च—" इस मत का अवलम्बन करके ही तुम दोनों को विचार करना चाहिये" इत्याकारक समयबन्ध जिस प्रकार मध्यस्थ से किया जाता है, यदि ऐसा नहीं किया जायेगा तो दोनों वादियों के मतान्तर में प्रवेश होने पर अव्यवस्था होने की आपत्ति आयेगी; अथवा मध्यस्थ से जिस प्रकार दोनों वादियों की परीक्षा की जाती है, यदि पहले परीक्षा नहीं की जाती है तो मूर्खों के विचार में मध्यस्थ बनने वाले उसकी ही हास्यत्वापत्ति आयेगी; उसी प्रकार विप्रतिपत्ति भी मध्यस्थ से करनी चाहिये ही, यदि विप्रतिपत्ति नहीं की जाती है तो प्रासङ्गिक विषय को लेकर दोनों वादियों में से एक की जय स्वीकारापत्ति होने से प्रकृत विषय में दोनों के लिये जयपराजय व्यवस्थापनरूप मध्यस्थकर्तव्य का निर्वाह नहीं होगा। यदि विप्रतिपत्ति की जाती है तो सभास्थ सब लोगों से उसका श्रवण होने से विप्रतिपत्ति विषयीभूतकोटिद्वय का अपलाप करके, दोनों

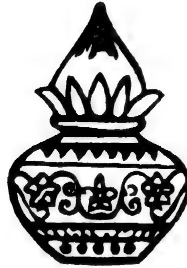
लघुचन्द्रिका

शक्यते। तस्मात्सार्वकालिकसंशयाभावप्रयोजकसंस्कारदार्ढ्यस्योक्तव्यवस्थापनस्य च स्वकर्तव्यस्य निर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः कार्यैवेति भावः।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

वादियों से अवलम्बित प्रासङ्गिकविषयान्तर को लेकर विजय का स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः दोनों वादियों के लिये सार्वदिक संशयाभाव के प्रयोजकभूत संस्कार दृढ़त्वके तथा मध्यस्थ के लिये तो जयपराजय व्यवस्थापनरूप स्वकर्तव्य के निर्वाह करने के लिये मध्यस्थ द्वारा विप्रतिपत्ति अवश्य करनी चाहिये—यह भाव है।

इति विप्रतिपत्तिवाक्यस्य विचाराङ्गत्वनिरूपणम्।।



तत्र मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिः—ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नं प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि,न वा? पारमार्थिकत्वाकारेणोक्तनिषेधप्रतियोगि, न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस प्रकार से विप्रतिपत्ति प्रदर्शन का अवश्यकर्तव्यत्व होने पर मिथ्यात्व के विषय में ये विप्रतिपत्तियाँ हैं—वेदान्त तात्पर्यविषयीभूतब्रह्मविषयक प्रमा से अतिरिक्त प्रमा से अबाध्यत्व होने पर सत्वेन प्रतीतियोग्य चिद्भिन्न पदार्थ स्वसंबन्धितया ज्ञात अधिकरण में त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्ववान् है या नहीं? अथवा उक्तपदार्थ पारमार्थिकत्वावच्छिन्नत्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्ववान् हैं या नहीं? (यहां पारमार्थिकत्व का अर्थ है ब्रह्मसमसत्ताकत्व, और उसका

लघुचन्द्रिका

प्रतिपन्नेत्यादि। स्वसम्बन्धितया ज्ञाते सर्वत्र धर्मिणि। त्रैकालिकस्य=सर्वदा विद्यमानस्य। निषेधस्य =अत्यन्ताभावस्य। प्रतियोगि न वा? येन सम्बन्धेन यद्रूपविशिष्टसम्बन्धितया यज्ज्ञातम्, तत्सम्बन्धतद्रूपावच्छिन्नं तन्निष्ठोक्ताभावस्य प्रतियोगित्वं निवेश्यम् ; अन्यथा सम्बन्धान्तररूपान्तरावच्छिन्नमुक्तप्रतियोगित्वमादाय सिद्धसाध्यतापत्तेः। स्वपदं रजतत्वादिविशिष्टपरम् ; नव्यमते स्वत्वस्याननुगतत्वात्तत्तद्व्यक्तिपरत्वे व्यक्तिभेदेन मिथ्यात्वस्य भेदापत्तेः। तथा च रजततादात्म्येन ज्ञायमानं यच्छुक्त्यादिकम्, तन्निष्ठाभावीयं यद् रजतत्वतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वम्, तस्य प्रातीतिक इव व्यावहारिकेऽपि रजते

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

प्रतिपन्न शब्द का अर्थ— स्वसंबन्धितया ज्ञात और उपाधिपद का अर्थ—अधिकरण है; इस आशय से व्याख्यान करते हैं— प्रतिपन्नेत्यादि। यहां पर स्व शब्द से मिथ्यात्वेन अभीप्सित पदार्थ लेना चाहिये। मूलोक्तविशेषणों से युक्त पदार्थ स्वसंबन्धितया ज्ञात सब धर्मिरूप अधिकरण में सर्वदा विद्यमान् निषेध अर्थात् अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है या नहीं? (यहां पर—घट संबन्धितया ज्ञात कपाल में सर्वदा विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी घट हो जाय तो घट का मिथ्यात्व सिद्ध होगा)। जिस संबन्ध से, जिस रूप (धर्म) से विशिष्ट वस्तु का संबन्धितया जो अधिकरण ज्ञात है, तदधिकरणनिष्ठ त्रैकालिकात्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व में तत्संबन्ध और तद्धर्म में अवच्छिन्नत्वरूप विशेषण का निवेश करना चाहिये (जैसे कि घटत्वधर्मविशिष्ठ घट का तादात्म्य संबन्ध से (न्याय मत में समवाय संबन्ध से) संबन्धितया कपालरूप अधिकरण ज्ञात है, उस कपाल में घट का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व भी तादात्म्य संबन्ध से और घटत्वावच्छिन्नरूप से ही होना चाहिये)। अन्यथा संबन्धान्तर (संयोगादि) और रूपान्तर (व्यधिकरणधर्म पटत्वादि) से अवच्छिन्न उक्ताधिकरणनिष्ठत्रैकालिकात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व को लेकर सिद्धसाधनता की आपत्ति आयेगी। और ''स्वसंबन्धितया'' में स्वपद रजतत्वाद्यवच्छिन्नयावद्रजतादि परक है, व्यक्तिपरक नहीं, क्योंकि नव्यनैयायिकों के मत में स्वत्व अनुगत जातिरूप न होने से तत्तद्व्यक्तिपरक होने पर व्यक्तियों में भेद होने के कारण मिथ्यात्व के भी भेद की आपत्ति होगी। (आगे धर्मी में ''सर्वत्र'' विशेषण की सार्थकता ''तथा च'' आदि से बताते हैं)— इस प्रकार तद्धर्मावच्छिन्नत्व का निवेश करने पर रजततादात्म्यरूप से ज्ञायमान जो शुक्त्यादिक है, तच्छुक्तिनिष्ठ अभावसंबन्धी जो रजतत्वतादात्म्य संबन्ध से अवच्छिन्नप्रतियोगित्व है, उस प्रतियोगित्व का जिस प्रकार प्रातीतिक रजत में सत्त्व है, उसी प्रकार व्यावहारिक रजत में सत्त्व होने से (शुक्तिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व

लघुचन्द्रिका

सत्त्वात् तत्र सिद्धसाधनवारणाय 'सर्वत्र' इत्युक्तम्। कालिकाव्याप्यवृत्तिमदत्यन्ताभावमादायार्थान्तरतापत्तेः- 'त्रैकालिक:' इत्युक्तम्। यद्यप्यत्यन्ताभावस्यैव प्रतियोगिता भेदसहिष्णुना तादात्म्येनावच्छिन्ना, नतु भेदस्य ; तादृशतादात्म्यस्य भेदाविरोधित्वात्, भेदासहिष्णु च तादात्म्यं नास्त्येव; अत्यन्ताभेदे तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात्, तथापि प्रकृतानुमानात्तादात्म्यावच्छिन्नभेदप्रतियोगितासिद्धिमादायार्थान्तरं स्यात्, अतः- 'अत्यन्ताभावः' इत्युक्तम्। संसर्गाभावो वा निवेश्यः। तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्वादि- मत्त्वे साध्ये कृते साध्याप्रसिद्धिः, अतस्तदपहाय तादृशप्रतियोगित्वमेव साध्यं कृतम्। तस्यापि शुक्तिरूप्यादावनुमानात्पूर्वमसिद्धिः। रजतसम्बन्धितया प्रतीयमानसर्वान्तर्गतव्यावहारिकरजतादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तादृशावच्छिन्नस्य तत्राभावात्, अतो व्यावहारिकपक्षकविशेषानुमानेषु 'रजतात्वादिना घटो नास्ति' इति प्रतीतेर्घटादिरेव दृष्टान्तः।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

का सत्व होने से) व्यावहारिक रजत मे जो सिद्ध साधन होगा, उसके निवारण के लिये "सर्वत्र" यह विशेषण धर्मी का दिया गया है (इस विशेषण से रजत का सब अधिकरण लेना होगा, तब तो रजतावयव में रजत का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व सिद्ध होगा और शुक्ति में उसका सिद्ध साधन नहीं होगा)। कालिकाव्याप्यवृत्ति (किसी काल में होने वाला तथा किसी अन्य काल में न होने वाला—अर्थात् सामयिक) अत्यन्ताभाव को लेकर अर्थान्तरता (प्रकृतानुपयुक्तता) की आपत्ति होने से अत्यन्ताभाव का विशेषण "त्रैकालिक" दिया गया है। यद्यपि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही भेदसहिष्णु तादात्म्य से अवच्छिन्न होती है, भेद की प्रतियोगिता तो भेद सहिष्णु तादात्म्य से अवच्छिन्न नहीं होती, क्योंकि भेद सहिष्णुतादात्म्य भेद का विरोधी नहीं, और भेदाऽसहिष्णु तादात्म्य का तो तार्किक मत में नहीं माना जाता, क्योंकि अत्यन्ताऽभेद में तादात्म्यादि संबन्ध का संभव नहीं होता, तथापि "अयं घट एतत्कपालनिष्ठ तादात्म्यसंबन्धाावच्छिन्नाभावप्रतियोगी घटत्वात् घटान्तरवत्" इस प्रकृतानुमान से (कोई भेदाऽसहिष्णु तादात्म्य मानकर कहें कि यहां तादात्म्य संबन्धावच्छिन्नाभाव को तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्न भेद लेंगे) तब तो एतत्कपालनिष्ठ तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नभेदप्रतियोगिता की सिद्धि घट में लेकर अर्थान्तिर (प्रकृतानुपयुक्त) होगा। अत: अभावमात्र न कहकर अत्यन्ताभाव कहा है। अथवा उसमें "संसर्गाभाव" का निवेश करना चाहिये। (इसमें— तादात्म्यावच्छिन्न ध्वंस और प्रागभाव को लेकर अर्थान्तर की शंका भी होनी नहीं चाहिये, क्योंकि संसर्गाभाव में त्रैकालिक विशेषण देने से उसका निवारण हो जाता है।) "इदं रजतं एतद्रजतावयवरजतत्वविशिष्टं तादात्म्यसंबन्धेन स्वाश्रयतया ज्ञायमान सर्वनिष्ठ तादात्म्य संबन्धाभावच्छिन्न संसर्गाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्ववत्" इस प्रकार विशेष अनुमान के संसर्गाभावप्रतियोगितावच्छेदक रजतत्वादिमत्त्व साध्य किया जाय तो रजतत्ववत्त्वरूप से ज्ञात व्यावहारिक रजतावयव में रजतसामान्याभाव की अप्रसिद्धि से साध्य की अप्रसिद्धि होगी। अत: संसर्गाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्वादिमत्त्व को छोड़कर संसर्गाभावप्रतियोगित्व ही साध्य किया गया है। (अनुमान का स्वरूप यह होगा— रजतत्वविशिष्टं तादात्म्यसंबन्धेन स्वसंबन्धितया ज्ञायमाननिष्ठ त्रैकालिकसंसर्गाभावप्रतियोगि दृश्यत्वादिति) वह संसर्गाभाव प्रतियोगित्व भी अनुमान करने के पहले शुक्तिरूप्यादि में असिद्ध है, क्योंकि रजत से संबन्धित होकर प्रतीयमान सर्वान्तर्गत व्यावहारिक रजतावयवादिनिष्ठ रजतत्वावच्छिन्नत्यन्ताभावप्रतियोगित्व का शुक्तिरूप्यादि में अभाव

लघुचन्द्रिका

ननु—तादृशप्रतियोगिताया व्यधिकरणावच्छेदकरजतत्ववत्त्वस्य शुक्तिरूप्यादावपि प्रसिद्ध्या तदेव साध्यं कुतो न कृतम्? इति—चेत्, न ; तथा सति व्यावहारिकरजतादिरूपे पक्षे तत्प्रसिद्ध्या सिद्धसाधनापत्तेः, समानाधिकरणावच्छेदकरजतत्वस्यैव साध्यीकार्यत्वे (ना) प्रसिद्ध्यावश्यकत्वात्। सामान्यानुमाने तु शुक्तिरूप्यादिकं मूलोक्तं दृष्टान्तः। स्वत्वस्यानुगतस्य प्राचां मते स्वीकारेण स्वविशिष्टसम्बन्धितया ज्ञायमाने सर्वत्र विद्यमानात्यन्ताभावस्य प्रातीतिकरजतत्वतादात्म्यावछिन्नप्रतियोगित्वस्य प्रातीतिकरजतादौ सत्त्वात्।

नचैवम्—सर्वदेशकालव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्, तथाचालीकत्वापत्तिः प्रपञ्चस्येति— वाच्यम्; कालसम्बन्धित्वसमानाधिकरणस्य तस्य निवेश्यत्वात्। ननु—कालसम्बन्धित्वमास्तां प्रपञ्चे, विशेष्यभूतमुक्तप्रतियोगित्वं तु न तत्रास्ति, येन हि रूपेण सम्बन्धेन च यत्र यत् सम्बन्ध्यते, न च तेन रूपेण तत्सम्बन्धेन च तत्र तदभावो

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

है। अतः व्यावहारिकरजतादिपक्षक संबन्धित या विशेष अनुमानों में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न घटादि ही दृष्टान्त होना चाहिये, क्योंकि "रजत्वादिना घटो नास्ति" ऐसा प्रतीत होता है।

शंका— पूर्वोक्तसंसर्गाभावप्रतियोगिता के व्यधिकरणावच्छेदक रजतत्ववत्त्व की प्रसिद्धि शुक्तिरूप्यादि में भी होने के कारण प्रकृतानुमान में रजतत्ववत्त्व को ही साध्य क्यों नहीं करते हो।

समाधान— ऐसी शंका होनी नहीं चाहिये, क्योंकि यदि रजतत्ववत्त्व को साध्य किया जाय तो व्यावहारिक रजतादिरूप पक्ष में व्यधिकरणावच्छेदक रजतत्ववत्त्व की प्रसिद्धि होने से सिद्धसाधनता की आपत्ति आयेगी। और रजत के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये समानाधिकरणावच्छेदकरजतत्ववत्व को साध्य बनाना आवश्यक होगा, तब तो उसकी अप्रसिद्धि समानाधिकरणावच्छेदक रजतत्ववत्व की संसर्गाभावप्रतियोगितावच्छेदकरूप से अप्रसिद्धि) हो जायेगी। (इसलिये संसर्गाभाव प्रतियोगित्वमात्र ही साध्य करना उचित है)। और विमतं जगत् मिथ्या दृश्यत्वात्" इस सामान्यानुमान में तो मूलोक्त शुक्तिरूप्यादि ही दृष्टान्त है, क्योंकि साध्यवत्त्वेन अभिमत स्वपदवाच्य रजतत्वादि में निष्ठ स्वत्व का अनुगम प्राचीन नैयायिकों के मत में स्वीकृत होने से स्वपदवाच्यरजतत्व से विशिष्ट रजत से संबन्धितया ज्ञायमानसर्वनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रातीतिक रजतत्वतादात्म्य से अवच्छिन्न प्रतियोगित्व प्रातीतिक शुक्तिरूप्यादि में वर्तमान है।

शंका— इस प्रकार मान लिया जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि सर्वदेश और काल में वृत्ति रखने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व, तब तो प्रपञ्च में अलीकत्व की आपत्ति आयेगी।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि सर्वदेशकालवृत्यन्ताभावप्रतियोगित्व में कालसंबन्धित्व समानाधिकरणत्व विशेषण निवेश्य है (तब तो प्रपञ्च में अलीकत्व की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि प्रपञ्च में काल संबन्धित्व है, वन्ध्यापुत्रादि अलीक में वह नहीं; प्रपञ्चनिष्ठ मिथ्यात्वरूप साध्य तो कालसंबन्धित्व के साथ एकाधिकरण में रहने वाला त्रैकालिकात्यन्ताऽभावप्रतियोगित्व है)। यहां पर शंका होती है कि प्रपञ्च में काल संबन्धित्व विशेषण भले ही रहें, किन्तु विशेष्यभूत में सर्वदेशकाल वृत्यत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व तो प्रपञ्च में नहीं है, कारण कि जिस अवच्छेदक धर्म से और जिस संबन्ध से जो जिसमें रहता है, उस धर्म से और उस संबन्ध से उसमें उसका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि विरोध है; इस प्रकार

लघुचन्द्रिका

विरोधात्—इति मन्वानं वादिनं प्रति तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन तन्मतमनुसृत्य साध्यान्तरमाह—पारमार्थिकेत्यादि। पारमार्थिकत्वावच्छिन्नं यदुक्तप्रतियोगित्वम्, तद्वद्, न वेत्यर्थः। तत्रोक्तप्रतियोगित्वे 'तद्रूपावच्छिन्नम्' इति पूर्वोक्तस्य विशेषणस्य स्थाने तद्रूपसमानाधिकरणमिति विशेषणं देयम्। नच—तत्र प्रयोजनाभाव इति—वाच्यम् ; घटादेः पारमार्थिकत्वेऽपि पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यादेर्योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय यदर्थान्तरम्, तद्वारणादेः प्रयोजनस्य सत्त्वात्। कपालादौ संयोगादिसम्बन्धेन घटादेर्योऽत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय घटादेः पारमार्थिकत्वस्वीकारेऽप्यर्थान्तरं स्यात्, अतस्तत्सम्बन्धावच्छिन्नेत्यपि प्रतियोगित्वे विशेषणं

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

मानने वाले के प्रति ''दुर्जन किसी प्रकार से सन्तुष्ट होवें'' इस न्याय से उनके मत का अनुसरण करके साध्यान्तर को कहते हैं— पारमार्थिकेत्यादि। पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न जो त्रैकालिकाऽत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व है, उससे विशिष्ट प्रपञ्च है या नहीं? यह उसका अर्थ है। प्रथम विप्रतिपत्तिवाक्य के विचार में त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व का जो तद्रूपावच्छिन्नत्व (तद्धर्मावच्छिन्नत्व) विशेषण दिया था, उसके स्थान में यहां तद्रूपसमानाधिकरणत्व विशेषण देना चाहिये, अर्थात् रजतादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रजतत्वादि धर्म के साथ समानाधिकरण होना चाहिये।

शंका— तद्रूपावच्छिन्नत्व के स्थान में तद्रूपसमानाधिकरणत्व विशेषण देने में कोई विशेष प्रयोजन न होने से वह व्यर्थ है।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि नैयायिकादि के मत में घटादि का पारमार्थिकत्व होने पर भी ''घटशुक्तिरूप्ये उभे नास्तः'' इस प्रकार एक के अभाव से दोनों का अभाव मानकर घटादि का पारमार्थिकत्वेन जो अत्यन्ताभाव है, उसके प्रतियोगित्व की सिद्धि घटादि में लेकर जो अर्थान्तर होगा, उसका निवारणरूप प्रयोजन इस विशेषण का है (कारण कि इस स्थल में—कपालानुयोगिकघटनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व घटशुक्तिरूप्यत्वेन होता है, घटत्वेन नहीं होता; घटत्वेन होने पर तो वेदान्त्यभिमत मिथ्यात्व अनायास सिद्ध हो जायेगा)। और कपालादि में संयोगसम्बन्ध से घटादि का जो अत्यन्ताभाव होता है, उसके प्रतियोगित्व की सिद्धि घटादि में लेकर घटादि के पारमार्थिकत्व का स्वीकार होने पर भी अर्थान्तर हो जायेगा, अतः ''तत्संबन्धावच्छिन्नत्व'' भी प्रतियोगित्व में अवश्य विशेषण देना चाहिये।

शंका— (घटादि में पारमार्थिकत्व मानने पर भी ''संयोगेन कपाले घटो नास्ति'' इस प्रकार व्यधिकरण संबन्ध से घट में पारमार्थिकत्व का भङ्ग करके अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व सिद्ध हो ही जायेगा। अतः अर्थान्तरनिवारणार्थ ''तत्संबन्धावच्छिन्नत्व'' विशेषण देना व्यर्थ है— इस अभिप्राय से शंका करते हैं)— घटादि में पारमार्थिकत्व का स्वीकार करने पर पारमार्थिकत्वरूप से कपालादि में संयोग से भी किस प्रकार घटादि की अभावसिद्धि होगी? क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादी से भी विशेष धर्म से सामान्याभाव का स्वीकार करने पर भी सामान्य धर्म से विशेषाभाव का स्वीकार नहीं किया जाता (''घटत्वेन द्रव्यं नास्ति'' इस प्रकार घटत्व विशेष धर्म से सामान्य द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्य के अभाव की प्रतीति होने पर भी ''द्रव्यत्वेन घटो नास्ति'' इस प्रकार सामान्य धर्म द्रव्यत्व से विशेष घटत्वावच्छिन्न घट के अभाव की प्रतीति नहीं होती। इसलिये व्याप्यधर्मावच्छिन्नत्व के सम्भव होने पर प्रतियोगिता का व्यापक धर्मावच्छिन्नत्व नहीं माना जाता।

वेति? अत्र च पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनतेति मते शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणाय ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रतियोगित्व में अन्वय होता है। जैसे नैयायिकों के मत में "घटत्वेन पटो नास्ति" इसमें घटत्वरूपव्यधिकरण धर्म को लेकर घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व पट का होता है, उसी प्रकार यहां भी "ब्रह्मसमसत्ताकत्वेन प्रपंचो नास्ति" इसमें ब्रह्मसमसत्ताकत्व को प्रपंच का व्यधिकरण धर्म मानकर कहा गया है। यदि प्रतिवादी प्रपंच में ब्रह्मसमसत्ताकत्व सिद्ध कर नहीं सकता है तो ब्रह्मसमसत्ताकत्व रूप व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ता–

लघुचन्द्रिका

देयम्। नच पारमार्थिकत्वस्य घटादौ स्वीकारे तेन रूपेण कथं कपालादौ संयोगेनापि घटादेरभावसिद्धिः? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादिनापि विशेषरूपेण सामान्यस्याभाव–स्वीकारेऽपि सामान्यरूपेण विशेषस्याभावास्वीकारादिति–वाच्यम्; प्रकृतानुमानबलेनैव तादृशाभावसिद्ध्यापत्त्योक्तस्यार्थान्तरस्यापत्तेः।

मत इति। यद्व्यक्तौ साध्यं सिद्धम्, तत्र नानुमितिर्भवत्येव। समानविशेष्यत्वसम्बन्धेन बाधविशिष्टबुद्ध्योरिव सिद्ध्यनुमित्योः, प्रतिबध्यप्रतिबन्धकत्वौचित्यादिति प्राचां मतम्। नव्यमते तु यद्धर्मविशिष्टे क्वचित्साध्यं सिद्धम्, तद्धर्मविशिष्टे व्यक्त्यन्तरेऽपि नानुमितिरिति भावः। पक्षविशेषणम्= पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणम्, तावन्मात्रं पक्षतावच्छेदकमिति यावत्; ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति तत्सामानाधिकरण्येन

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

इस रीति से कपाल में घट की पारमार्थिकत्वेन संयोगावच्छिन्नप्रतियोगिता नहीं होगी, किन्तु संयोगेन पारमार्थिकत्वाच्छिन्नप्रतियोगिता तो होगी। अतः "संयोगेन कपाले घटो नास्ति" इसमें घटनिष्ठपारमार्थिकत्व का भङ्ग करके घटादि की पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता की सिद्धि होगी; अर्थान्तरनिवारण के लिये "तत्संबन्धावच्छिन्नत्व" विशेषण की आवश्यकता नहीं– यह तात्पर्य है)।

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि प्रकृत अनुमान के बल से यहां भी सामान्य धर्म से विशेष की अभावसिद्धि की आपत्ति होने से घटादि के पारमार्थिकत्व का स्वीकार होने पर अर्थान्तर होने का प्रसंग आ ही जायेगा। (इसलिये "संयोगेन कपाले घटो नास्ति" इसमें घटादि के पारमार्थिकत्व का भङ्ग नहीं होता)। मत इति। जिस व्यक्ति में साध्य सिद्ध होता है, उसमें अनुमिति होती ही नहीं; क्योंकि समानविषयत्व संबन्ध से जिस प्रकार "नेदं रजतम्" और "इदं रजतम्" इस बाधबुद्धि और विशिष्टबुद्धि में प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव होता है, उसी प्रकार साध्यसिद्धि और अनुमिति में भी प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव होना उचित ही है। यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। और नव्यनैययिकों के मत में तो जिस धर्म से विशिष्ट किसी एक व्यक्ति में साध्य सिद्ध होता है तो उस धर्म से विशिष्ट अन्य व्यक्ति में भी अनुमिति नहीं होती–यह भाव है। **पक्षविशेषण** अर्थात् पक्षतावच्छेदकता का पर्याप्त्यधिकरण है, इसका यह अभिप्राय है कि **ब्रह्मप्रमेतराबाध्यत्व** मात्र पक्षतावच्छेदक है क्योंकि ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व के साथ समानाधिकरण होकर मिथ्यात्वरूप साध्य का अभावज्ञान ब्रह्म और तुच्छ में होने में विरोध न होने के कारण

पक्षविशेषणम् । यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिरुद्देश्या,तदैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनाभावात्, तद्वारकं विशेषणमनुपादेयम्। इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि च बाधवारणायादरणीयमेव। प्रत्येकं वा विप्रतिपत्तिः—वियन्मिथ्या,न वा? पृथिवी मिथ्या, न वेति? एवं वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ सन्दिग्धानैकान्तिकता पक्षसमत्वाद् घटादेः। तथा हि—पक्षे साध्याभाव(साध्य) सन्देहस्यानुगुणत्वात् पक्षभिन्न एव तस्य दूषणत्वं वाच्यम्। अत एवोक्तं 'साध्याभावनिश्चयवति हेतुसन्देह एव सन्दिग्धानैकान्तिकता' इति।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व प्रपंच का सिद्ध होगा और प्रपंच का सत्व प्रातिभासिक मात्र रह जायेगा।) और यहां पर पक्षान्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति में पक्षतावच्छेदक धर्म के साथ समानाधिकरण होकर साध्य का निश्चय उद्देश्य मान लिया जाय तो पक्ष के एक देश में साध्य की सिद्धि (निश्चय) होने पर भी सिद्धसाधनता होती है – ऐसा मानने वाले नव्यनैयायिको के मत में शुक्तिरूप्य में सिद्धसाधन हो जायेगा, उसके निवारणार्थ "ब्रह्मप्रमेतराबाध्यत्व" पक्ष का विशेषण है (ऐसा होने पर शुक्तिरूप्यादिब्रह्मप्रमेतरबाध्य होने से उसमें सिद्धसाधन नहीं होगा)। पुनः यदि समुदायरूप से यावत्पक्षगतत्वेन साध्य की सिद्धि उद्देश्य मान ली जाय तो पक्षैकदेश में साध्य का निश्चय होने पर भी सिद्धसाधन न होने के कारण सिद्धसाधननिवारक ब्रह्मप्रमान्याबाध्यत्व विशेषण देना नहीं चाहिये। सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व दो विशेषण तो तुच्छ और ब्रह्म में बाध के निवारणार्थ अवश्य देने चाहियें। अथवा प्रपंचान्तर्गत प्रत्येक में विप्रतिपत्ति है – जैसे कि "वियत् मिथ्या है या नहीं?", "पृथिवी मिथ्या है या नहीं?" इत्यादि। इस प्रकार से प्रत्येक

लघुचन्द्रिका

ब्रह्मतुच्छयोः साध्याभावज्ञानस्याविरोधित्वेनान्यविशेषणद्वयस्य पक्षतावच्छेदकप्रवेशे प्रयोजनाभावादिति भावः। बाधवारणायेति।

ननु—असिद्धिवारणायेत्यपि वक्तुमुचितम्। बाधो हि हेत्वाभासो विप्रतिपत्ति-प्रयुक्तन्यायप्रयोगाधीनानुमितावेव विरोधी सन् दूषणम्, नतु विप्रतिपत्तिजन्यसंशयविरोधी

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व के साथ समानाधिकरणक साध्य की अनुमिति के प्रति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व ये दोनों विशेषण के पक्षतावच्छेदक में प्रवेश करने में प्रयोजन का अभाव है। बाधवारणायेति।

शंका—" बाधवारणाय" के साथ "असिद्धिवारणाय" अर्थात् "स्वरूपासिद्धिवारणाय" यह भी कहना उचित है। (इसमें सिद्धान्ती की ओर से— बाध विप्रतिपत्तिजन्यसंशय का विरोधी होने के कारण विप्रतिपत्ति का दूषण है, अतः उसका विप्रतिपत्तिकाल में उद्भावन किया गया है, किन्तु स्वरूपासिद्धि तो वैसी न होने के कारण इसका उद्भावन नहीं किया गया है— ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्षी कहते हैं)— क्योंकि बाध नामक हेत्वाभास (पक्ष में साध्याभाव) विप्रतिपत्तिवाक्य में प्रयुक्त अनुमान प्रयोग से जन्य अनुमिति में ही विरोधी होकर दूषण होता है, न कि विप्रतिपत्तिजन्य संशय का विरोधी होकर दूषण। इसके अतिरिक्त वादी आदि के स्व स्वपक्ष में निश्च्चयवत्त्व होने पर विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न नहीं हो सकता— यह बात पहले कही जा

पक्षत्वं तु साध्यसन्देहवत्त्वं साध्यगोचरसाधकमानाभाववत्त्वं वा। एतच्च घटादिसाधारणम्। अत एव तत्रापि सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं न दोषः, पक्षसमत्वोक्तिस्तु प्रतिज्ञाविषयत्वाभावमात्रेण। न च तर्हि प्रतिज्ञाविषयत्वमेव पक्षत्वम्, स्वार्थानुमाने तदभावात् । एवं विप्रतिपत्तौ प्राचां प्रयोगाः—विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवदिति। नावयवेष्वाग्रहः। अत्र स्वनियामकनियतया विप्रतिपत्त्या लघुभूतया पक्षतावच्छेदो न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वियदादि का पक्षत्व होने पर भी घटादि में संदिग्धानैकान्तिकता (संदिग्धव्यभिचार) नहीं; क्योंकि घटादि पक्षसम है। तथाहि – पक्ष में साध्य का सन्देह तो अनुमिति में अनुकूल गुण होने से पक्षभिन्न में ही अर्थात् संदिग्धहेतुमद्विपक्ष में ही संदिग्धानैकान्तिक का दूषणत्व कहना चाहिये; क्योंकि प्राचीन नैयायिकों ने कहा भी है – "साध्याभावनिश्चयवद्विपक्ष में हेतु विषयक सन्देह होने पर ही संदिग्धाऽनैकान्तिकता होती है (अभिप्राय यह है कि दृश्यत्वादि हेतुमद्घटादि भी संदिग्धसाध्यवान् होने से पक्ष ही हैं; उसमें पक्षसमोक्ति तो "वियद् मिथ्या दृश्यत्वात्" इत्यादि विशेष अनुमान के प्रतिज्ञा विषयत्व के अभाव मात्र को लेकर है)। पक्षत्व तो (प्राचीन मत में) साध्यसंदेहवत्त्व है, अथवा (नवीनमत में) साध्यविषयकनिश्चयाभाववत्त्व है। और यह पक्षत्व घटादि में भी साधारण है। इस लिये घटादि में भी संदिग्धानैकान्तिकत्व दोष नहीं होगा। घटादि में पक्षसमत्व की उक्ति तो प्रतिज्ञाविषयत्व के अभाव मात्र से है। तब तो प्रतिज्ञाविषयत्व को ही पक्षत्व मानना चाहिये, ऐसी शंका भी होनी नहीं चाहिये; क्योंकि स्वार्थानुमान में उसका अभाव है। इस प्रकार विप्रतिपत्ति होने पर प्राचीन आचार्यों के ये अनुमान प्रयोग हैं – विप्रतिपत्ति का विषयीभूत प्रपंच मिथ्या है, क्योंकि उसमें दृश्यत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व धर्म हैं, जैसे शुक्तिरूप्य।

लघुचन्द्रिका

सन् ; वाद्यादीनां निश्चयवत्त्वे संशयानुत्पादस्योक्तत्वात्, तदा हि संशयस्याकर्तव्यत्वेन जयव्यवस्थामात्रसिद्धये विप्रतिपत्तेरिवानुमितिसामग्रीमात्रस्य हेत्वाभासादिदोषशून्यस्य प्रतिवादिनिष्ठस्य वादिना कर्तव्यतया संशयविरोधित्वेन बाधस्योद्भावनं व्यर्थम् ; अनुमिति—तत्करणपरामर्शान्यतरविरोधित्वरूपेण हेत्वाभासत्वेन बाधस्योद्भावने च हेत्वसिद्धेरपि तदुचितमिति—चेत्, न ; विप्रतिपत्तिकाले हेतोरप्रयुक्तत्वेन हेतुमत्ताज्ञानविरोधिन्या

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

चुकी है। (अतः विप्रतिपत्ति के दूषक होकर बाध का उद्भावन भी नहीं होना चाहिये)। बाधादि के स्वस्वकोटि के निश्चय काल में विप्रतिपत्ति से संशय असंपाद्य होने से जिस प्रकार जय पराजय के व्यवस्थामात्र की सिद्धि के लिये मध्यस्थ से विप्रतिपत्ति की जाती है, उसी प्रकार विप्रतिपत्ति के बाद वादी द्वारा हेत्वाभासादिदोष से रहित तथा प्रतिवादिनिष्ठ न्यायप्रयोगमात्र संपाद्य होने से उस समय (विप्रतिपत्तिकाल में) संशय के विरोधी होकर बाध का उद्भावन करना व्यर्थ है। यदि अनुमिति और उसका करण परामर्श— इन दोनों में किसी एक के विरोधी होकर हेत्वाभासरूप से बाध का उद्भावन किया जाता है तो स्वरूपासिद्धि का उसी प्रकार उद्भावन करना उचित है।

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि विप्रतिपत्तिकाल में हेतु प्रयुक्त न होने के कारण पक्ष में हेतुमत्ताज्ञान की विरोधिनी स्वरूपासिद्धि का ज्ञान करना अशक्य होने से उसका विप्रतिपत्तिदोषत्व

विरुद्धः। समयबन्धादिना व्यवधानात्तस्या अनुमानकालासत्त्वेऽप्युपलक्षणतया पक्षतावच्छेदकत्वम् यद्वा (अथवा)विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव पक्षतावच्छेदकम्। प्राचां प्रयोगेष्वपि विमतमिति पदं विप्रविपत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नाभिप्रायेणेत्यदोषः।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अनुमान के अवयवों में हमारा आग्रह नहीं है। इस अनुमान प्रयोग में ''स्व'' यानि विप्रतिपत्ति के नियामक ''ब्रह्मप्रमातिरिक्तऽबाध्यत्वादि'' विशेषणों से नियत विषय वाली लघुभूता विप्रतिपत्ति अर्थात् विमति (संशय) का पक्षतावच्छेद होने में कोई विरोध नहीं। समयबन्ध अर्थात् कथौपायिकनियमबन्धादि से व्यवधान होने के कारण उस विप्रतिपत्तिव्यक्तित्व का अनुमान काल में असत्त्व होने पर भी उपलक्षणत्व रूप में पक्षतावच्छेदकत्व हो सकता है। (शरीरकृतलाघव को लेकर विप्रतिपत्तिव्यक्ति को पक्षतावच्छेदक कहा गया है, किन्तु उसमें प्रतिपत्तिकृत गौरव होता है और वह शरीरकृतलाघव की अपेक्षा बलवान् होता है। अत: उसके निवारणार्थ कहते हैं —यद्वेति) अथवा विप्रतिपत्ति (विमति) का विषयतावच्छेदक ब्रह्मप्रमान्याबाध्यत्वादि तीन विशेषण ही पक्षतावच्छेदक हैं। प्राचीन आचार्यो के प्रयोगों में भी विमत पद का विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदक से विशिष्ट विशेष्य में अभिप्राय होने से कोई दोष नहीं होता।

लघुचन्द्रिका

असिद्धेर्ज्ञातुमशक्यत्वेन तस्या विप्रतिपत्तिदोषत्वाव्यवहारात्। नच—पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन विप्रतिपत्तौ साध्यस्य विवक्षितत्वाद् हेतोः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोक्तव्यतामनुमाया—सिद्ध्यादेर्दोषत्वं सम्भाव्यमिति—वाच्यम् ; अनुमानाकौशलेन सभाक्षोभादिना वाऽन्यथापि हेतोः प्रयोगसम्भवात्। वस्तुतस्तु, बाधपदमसिद्धेरप्युपलक्षकम् ; विप्रतिपत्तिप्रयुक्तन्याय—वाक्योक्तहेतोर्दोषस्यापि (दोषाधिकरणहेतुवाचकपदघटितन्यायवाक्यप्रयोजकत्वसम्बन्धेन)

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

रूप से व्यवहार नहीं होता। (किन्तु बाध तो पक्ष और साध्य में घटित होने से उसका विप्रतिपत्तिकाल में उद्भावन हो सकता है, इस कारण उसके निवारण के लिये दोनों विशेषण आवश्यक हैं)।

शंका— विप्रतिपत्ति में पक्षतावच्छेदकावच्छेद से साध्य विवक्षित होने से हेतु भी पक्षतावच्छेदकावच्छेद से प्रयोक्तव्य है— ऐसा अनुमान करके विप्रतिपत्तिकाल में भी असिद्ध्यादि के दोषत्व की संभावना होती है (कारण कि पक्षतावच्छेदकावच्छेद से हेतु प्रयुक्त न होने पर पक्षताच्छेदककावच्छेद से साध्यसिद्धि नहीं हो सकती)।

समाधान— ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि अनुमानकर्ता की अकुशलता अथवा सभाक्षोभादि से (सभा को देखकर घबराना आदि से) अन्य प्रकार से भी अर्थात् पक्षतावच्छेदकसमानाधिकरण्य से भी हेतु का प्रयोग हो सकता है। (इसलिये विप्रतिपत्तिकाल में पक्षतावच्छेदकावच्छेद से हेतु के ज्ञान न होने से हेतुमत्ता ज्ञान की विरोधिनी असिद्धि का उद्भावन नहीं हो सकता)। वस्तुतस्तु मूल में बाध पद असिद्धि का भी उपलक्षक है, क्योंकि विप्रतिपत्तिवाक्य में प्रयुक्त न्याय (अनुमान) वाक्य से उक्त हेतु में होने वाला दोष भी (दोष के अधिकरणीभूत हेतु वाचकपद घटित न्यायवाक्य के प्रयोजकत्वसंबन्ध से) विप्रतिपत्ति निष्ठ दोष हो सकता है। अतएव मूल में भी

लघुचन्द्रिका

विप्रतिपत्तिदोषत्वसम्भवात्। अत एवाग्रे सन्दिग्धानैकान्तिके विप्रतिपत्तिदोषत्वमाशङ्कितम्।

अत एवोक्तमिति। प्राचीनतार्किकैरिति शेषः। नवीनतार्किकैस्तु व्याप्तिग्राहकतर्काभावे सति साध्याभाववत्त्वेन सन्दिग्धे धर्मिणि हेतुनिश्चयोऽपि व्यभिचारसंशयहेतुतया दोष एव। अत एव 'वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियधर्मसमवायी दाहजनकत्वादात्मवत्' इत्यादिशक्त्यादि–साधकानुमानेषु मणावप्रयोजकत्वमुक्तम्। "तत्र व्यभिचारसंशयस्यादूषणत्वे व्याप्ति–पक्षधर्मतानिश्चयसम्भवेनाप्रयोजकत्वोक्तेरसङ्गतेस्तस्य दूषणत्वमावश्यकम्" इति दीधि–तावुक्तं यद्यपि ; तथापि प्रकृते मिथ्यात्वानुमाने तर्काणां वक्ष्यमाणत्वेन न दोषः

विमतम्=विप्रतिपत्तिविशेष्यम्। नावयवेष्विति— 'तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्' इति मीमांसकोक्तरीत्या तार्किक–मीमांसक–बौद्धानां पञ्च–त्रि–द्व्यवयववादित्वात्तान्

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

अग्रिम ग्रन्थ में संदिग्धानैकान्तिक हेत्वाभास में विप्रतिपत्ति के दोषरूप से आशंका की गई है।

"अतएवोक्तम्" इसमें "प्राचीनतार्किकैः" यह पद शेष समझना चाहिये। यद्यपि नवीन तार्किकों के मत में तो व्याप्तिग्राहक तर्क के अभाव होने पर साध्याभाववत्त्वरूप से संदिग्धधर्मी (किसी एक व्यक्ति) में हेतु का निश्चय होना भी व्यभिचार संशय के कारण होने से दोष ही है अर्थात् व्याप्तिनिश्चय के विरोधी होने से अनुमिति के विरोधी रूप से ही जाना जाता है। अतएव (अर्थात्—साध्याभावांश में अनुकूलतर्काभावकालीन संशय रूप व्यभिचार ज्ञान को नवीन तार्किकों से दोषरूप से मानने के कारण) "वह्नि—अद्विष्ठ अतीन्द्रिय और भावभूतदाहानुकूल धर्म का समवायी है, क्योंकि उसमें दाहजनकत्व अर्थात् दाहप्रयोजकत्व है, जैसे "आत्मा"; (आत्मा में स्वजनकादृष्टवत्व संबन्ध से दाहजनकत्व हेतु है और अद्विष्ठातीन्द्रिय धर्मसमवायित्व साध्य भी है और यहां स्व पद से दाह लेना चाहिये। अथवा स्वसमवेतादृष्टजन्यत्वसंबंध से आत्मा में हेतु है और साध्य भी है, और इसमें स्वपद से आत्मा का ग्रहण है। दृष्टान्तीभूत आत्मा में साध्य का समन्वय अदृष्टरूप धर्म को लेकर करना चाहिये। और पक्ष में तो शक्तिरूप धर्म को लेकर साध्यसमन्वय होगा।) इत्यादि मीमांसककृत शक्त्यादिसाधक अनुमान में अप्रयोजकत्व अर्थात् व्यभिचार शंका निरासकाऽनुकूलतर्करहितत्व चिन्तामणिग्रन्थ में कहा गया है। इसी प्रकार इसकी टीका दीधिति में भी "इस शक्त्यनुमान में व्यभिचारसंशय को दूषण न माना जाय तो व्याप्ति और पक्षधर्मता का निश्चय सम्भव होने से अप्रयोजकत्व की उक्ति असङ्गत होगी, अतः व्यभिचार संशय को दूषण मानना आवश्यक है" ऐसा कहा गया है (तो भी प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में अनुकूल तर्क वक्ष्यमाण होने से व्यभिचार सन्देहरूप उक्तदोष की संभावना नहीं होती। "पक्षे हेतुरस्तु साध्यं मा भूत्" इस व्यभिचार शंका का अनुकूल तर्क से निवारण नहीं किया जायेगा तो पक्ष में साध्यनिश्चयरूप अनुमिति नहीं होगी। अतः व्यभिचार संशय भी अनुमिति के प्रति दूषण ही है।)

विमत का अर्थ है— विप्रतिपत्ति का विशेष्यभूत प्रपञ्च। "नावयवेष्विति"— "न्याय वाक्य के उन अवयवों के संबन्ध में तार्किक लोग पांच अवयव, बौद्ध दो अवयव और हम मीमांसक तीन अवयव मानते हैं।" इस प्रकार मीमांसकोक्त रीति से तार्किक, मीमांसक और बौद्ध क्रम से पांच, तीन और दो अवयववादी होने के कारण उनके साथ विचार करते समय जैसे उनका मत है, उसी प्रकार अवयवों का प्रयोग करना चाहिये (उन अवयवों में इतना ही नियत रूप से होना चाहिये, ऐसा हमारा आग्रह नहीं)। (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) इन पांच

लघुचन्द्रिका

प्रति यथामतमवयवाः प्रयोक्तव्याः। 'उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्' इति मीमांसकाः। उदाहरणोपनयरूपद्व्यवयववादिनो बौद्धा इति भावः।

ननु—विप्रतिपत्तिमात्रस्य निवेशे सिद्धसाधनबाधादिकम्, घटादिमात्रविशेष्यक—विप्रतिपत्तिनिवेशे प्रपञ्चमात्रस्य मिथ्यात्वासिद्धिः, तत्राह—स्वनियामकनियतयेति। स्वस्याः= विप्रतिपत्तेः, नियामकम्= प्रकृतानुमानपक्षतावच्छेदकत्वयोग्यतासम्पादकं यद् ब्रह्मज्ञानान्या—बाध्यत्वादिविशिष्टविशेष्यकत्वं पूर्वोक्तम्, तेन नियतया = विशेषितया; पूर्वोक्तयेति यावत्। ननु—पूर्वोक्तविप्रतिपत्तेर्ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिघटितरूपेण पक्षतावच्छेदके निवेशे लाघवादुक्ताबाध्यत्वादिरूपस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमुचितम्। तत्राह—लघुभूतयेति। तद्व्यक्तित्वादिरूपलघुरूपविशिष्टयेत्यर्थः। तथाच 'ब्रह्मज्ञान' इत्याद्युक्तरूपेण परिचित—पूर्वोक्तविप्रतिपत्तिव्यक्तेस्तद्व्यक्तित्वेनैव निवेश इति भावः।

ननु—उक्ता—बाध्यत्वादिरूपस्य विप्रतिपत्तिपरिचायकतया प्रथमोपस्थितत्वात्तदेव पक्षतावच्छेदकं युक्तम्, तत्राह—यद्वेति। अवच्छेदकमेवेति। भट्टभास्करमते शुक्तिरूप्यादेः

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

अवयवों को तार्किक मानते हैं और मीमांसक—प्रतिज्ञा से उदाहरण पर्यन्त तीन अवयव अथवा उदाहरण से निगमन पर्यन्त तीन अवयव मानते हैं और बौद्ध तो उदाहरण तथा उपनय दो ही अवयव मानते हैं—यह भाव है।

शंका— "विमतं मिथ्या" इसमें विप्रतिपत्ति (विमति) मात्र का पक्षविशेषणत्वेन निवेश करेंगे तो शुक्तिरूप्य में सिद्धसाधन और ब्रह्म में बाधादिक होगा (क्योंकि "शुक्तिरूप्यं प्रातिभासिकं न वा", "ब्रह्म क्षणिकं न वा" इत्यादि के कारण शुक्तिरूप्य और ब्रह्म विमति के विशेष्य होने से पदाकोटि में आ जाते हैं)। और यदि घटादिमात्र विशेष्यक विप्रतिपत्ति का पक्षतारूप से निवेश करेंगे तो प्रपञ्चमात्र का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा।

समाधान —इस शंका के उत्तर में कहते हैं—'' स्वनियामकनियतयेति। स्व का यानि विप्रतिपत्ति का नियामक अर्थात् प्रकृतानुमान के पक्षतावच्छेदकत्व का विप्रतिपत्तिनिष्ठ योग्यतासंपादक ब्रह्मप्रमान्याबाध्यत्वादि से विशिष्ट जो पूर्वोक्त विशेष्यकत्व है; (ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व और सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व इन दोनों विशेषणों से विशिष्ट जो चिद्भिन्नत्व है), उसी से नियत अर्थात् व्याप्त होकर विशेषित विप्रतिपत्ति का पक्षतावच्छेदक होने में विरोध नहीं है— यह अभिप्राय है। इसमें शंका होती है— पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति को ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादि घटितरूप से पक्षतावच्छेदक में प्रवेश करने के बदले लाघव होने के कारण केवल ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिरूप का ही पक्षतावच्छेदकत्व उचित है। तब इसका उत्तर कहते हैं— लघुभूतयेति। विप्रतिपत्तिव्यक्तित्वादिरूप लघुरूप से विशिष्ट होकर विप्रतिपत्ति अवच्छेदक है— यह अर्थ है। तब तो ब्रह्मज्ञानेत्यादि उक्तरूप से परिचित पूर्वोक्त विप्रतिपत्तिव्यक्ति का ही विप्रतिपत्तिव्यक्तित्व रूप से पक्षतावच्छेदकत्वेन निवेश है— यह भाव है।

शंका— पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिरूप विशेषण विप्रतिपत्ति का परिचायक (परिचय कराने वाला ज्ञापक) होने से विप्रतिपत्ति (विमति) से पूर्व उपस्थित होने के कारण वही पक्षतावच्छेदक होना चाहिये।

समाधान — इसमें कहते हैं— यद्वेति अवच्छेदकमेवेति। द्वैतवादी भट्ट भास्कर के मत में

लघुचन्द्रिका

सत्यस्य शुक्त्यादावुत्पत्तिस्वीकारात्तदनुयायिना केनचिद् यदि तस्य मिथ्यात्वमुच्यते, तदा तेन सह विप्रतिपत्तौ तस्यामबाध्यत्वमात्रमेव पक्षविशेषणम् ; तथा च न तं प्रति सिद्धसाधनम्। तादृशस्य कस्यचिदभावेऽपि दृष्टान्तसिद्धये शुक्तिरूप्यादौ मिथ्यात्वस्य प्रकृतानुमानात् पूर्वं प्रसाध्यत्वात् तत्र सिद्धसाधनवारणाय तद्विशेषणं देयमेव। यदा त्ववच्छेदकावच्छेदेनानुमितिमुद्दिश्य विप्रतिपत्तिस्तार्किकादिना सह, तदेतरविशेषणे एव देये। तत्राप्यलीकवादिनं प्रत्येवार्हान्तविशेषणं देयम्। एकदा तु न द्वाभ्यां सह विप्रतिपत्ति:; तथैव कथकानां सम्प्रदायात्। तथाच यदेव यं प्रति विप्रतिपत्तौ पक्षविशेषणम्, तदेव तं प्रति न्यायप्रयोग इति भाव:।

ननु—सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्वं सद्रूपचित्तादात्म्यं घटादौ व्यावहारिकम् ; घटादितुल्यकक्षत्वात्, शशविषाणादावलीके तु प्रातीतिकं सम्भवति ; अनध्यस्तेऽप्यलीके सत्तादात्म्य–

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

सत्य शुक्तिरूप्यादि की शुक्त्यादि में उत्पत्ति स्वीकृत होने के कारण उसके साथ विवाद करने में अबाध्यत्वान्त व्यर्थ होने पर भी उसका कोई अनुयायी (रजतोत्पत्तिमात्रांश में अनुयायी) यदि शुक्तिरूप्य का मिथ्यात्व कहता है तो उसके साथ विप्रतिपत्ति होने पर उसमें अबाध्यत्वान्त ही पक्षविशेषण देना चाहिये (इतर दो विशेषण देने नहीं चाहियें; क्योंकि पक्षतावच्छेदकसमानाधिकरणत्वेन साध्यसिद्धि उद्देश्य स्थल में अलीक और ब्रह्म में सामानाधिकरण्येन बाध दोष नहीं होता, अत: उसका निवारक विशेषण व्यर्थ है)। और अबाध्यत्वान्त विशेषण से उस अनुयायी के प्रति शुक्तिरूप्य में सिद्धसाधन नहीं हुआ। भास्करानुयायी हो और शुक्तिरूप्यमिथ्यात्ववादी भी हो ऐसा कोई न होने पर भी दृष्टान्त सिद्धि के लिये शुक्तिरूप्यादि में मिथ्यात्व प्रकृतानुमान से पूर्व सिद्ध करना होगा, तब तो शुक्तिरूप्य में सिद्ध साधननिवारणार्थ अबाध्यत्वान्त विशेषण देना ही होगा। और यदि पक्षतावच्छेदकावच्छेदन साध्यसिद्धि (अनुमिति) को उद्देश्य लेकर तार्किकादि के साथ विप्रतिपत्ति है, तो सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व विशेषण मात्र देना चाहिये (अबाध्यत्वान्त विशेषण देना नहीं चाहिये, क्योंकि अवचछेदकावच्छेदेन अनुमिति में शुक्तिरूप्यादि एकदेश में सिद्ध साधन नहीं होता, और दोनों विशेषण नहीं देंगे तो तुच्छ और ब्रह्म में बाध होगा।) उन विशेषणद्वय में भी सत्त्वेन प्रतीत्यर्हान्तविशेषण तो शशविषाणादि तुच्छ पदार्थों को मानने वालों के प्रति ही देना चाहिये (क्योंकि उनके मत में अलीक पक्षकोटि में आता है, अत: उसके निवारणार्थ विशेषण देना आवश्यक है, अन्य तार्किक के प्रति तो चिद्भिन्नत्वमात्र विशेषण देना चाहिये)। इसका कारण यह है कि एक ही समय में दोनों के साथ तो विप्रतिपत्ति नहीं होती, क्योंकि वैसा ही कथकों का सम्प्रदाय (प्रचलन) है। इसलिये जिसके प्रति विप्रतिपत्ति में जो पक्ष विशेषण दिया जाता है, उसके प्रति उस पक्षविशेषण के अनुसार ही न्याय प्रयोग होता है— यह भाव है।

शंका— (अर्हान्त विशेषण देने पर भी पक्षकोटि से अलीक का निवारण नहीं किया जा सकता— इस अभिप्राय से अलीकवादी शंका करते हैं)— सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्व का अर्थ है— सद्रूपचित् के साथ तादात्म्य, और वह सत्तादात्म्य घटादि में व्यावहारिक है, उसका घटादितुल्यकक्षत्व है तथा शशविषाणादि अलीक पदार्थ में तो वह सत्तादात्म्य प्रातीतिक हो सकता है, क्योंकि अध्यस्त न होने पर भी अलीक में सत्तादात्म्य का आरोप हो सकता है; (इसलिये अर्हान्त विशेषण

लघुचन्द्रिका

स्यारोपसम्भवात्, 'यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन' इत्यादिमूलानुरोधात् शुक्तिरूप्यादि (दृष्टान्तसाधारण्याय) प्रातीतिकसाधारणस्य सत्तादात्म्यस्य निवेश्यत्वादिति–चेत्, न ; तत्रैव हि सत्तादात्म्याध्यासः, यस्य तत्समानकालमध्यासः ; शुक्तिरूप्यादिरूपेण परिणममानाविद्याया एव तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणममानत्वात्। तथाचालीक–रूपेणाविद्याया अपरिणममानत्वान्नालीकनिष्ठतादात्म्यरूपेण परिणामः। नच–स्फटिकादि–रूपेणापरिणममानाया अप्यविद्यायाः स्फटिकादिनिष्ठेन जपाकुसुमादिलौहित्यतादात्म्यादिरूपेण परिणामदर्शनादलीकरूपेणापरिणताऽप्यविद्या तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणमतामिति–वाच्यम् ; तादात्म्यमात्ररूपेण परिणामस्य तथा दृष्टत्वेऽपि सत्तादात्म्यरूपेण परिणामस्य

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

से अलीक की पक्ष से व्यावृत्ति नहीं हो सकती)। (इसमें सिद्धान्ती की ओर से ऐसा कहें कि अर्हान्त विशेषण का अभिप्राय व्यावहारिक सत्तादात्म्य है, अतः अलीक की व्यावृत्ति होगी– इसमें उत्तर देते हैं)। ''यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन'' इत्यादि मूल के अनुरोध से अर्थात् जहां पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि उद्देश्य है, वहां शुक्तिरूप्यादि पक्षैकदेश में सिद्ध साधन नहीं माना जाता, अतः उसके निवारणार्थ अबाध्यत्वान्त विशेषण की आवश्यकता नहीं; किन्तु बाध निवारणार्थ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूप सत्तादात्म्यत्व और चिद्भिन्नत्व विशेषण तो देने चाहियें– इस कथन से जाना जाता है कि शुक्तिरूप्यादि प्रातीतिक पदार्थ में साधारण सत्तादात्म्य पक्ष विशेषणत्वेन निवेश्य है, व्यावहारिक सत्तादात्म्य निवेश्य नहीं। (तब तो अर्हान्तिविशेषण देने पर भी बाधोद्धार नहीं हुआ, क्योंकि सत्त्वेन प्रतीतियोग्य अलीक में मिथ्यात्व का अभाव है।)

समाधान– ऐसी शंका अनुचित है, क्योंकि ''यत्रकाले तादात्म्यरूपेणाऽविद्यापरिणामः तत्र काले शुक्तिरुप्यादिरुपेणाप्यविद्यापरिणामः'' इस नियमानुसार– उनमें ही (शुक्तिरूप्यादि में ही) सत्तादात्म्य का अध्यास होता है, जिनका (शुक्तिरूप्यादिका) सत्तादात्म्याध्यास के साथ समकाल अध्यास होता है, क्योंकि शुक्तिरूप्यादिरूप से परिणममान अविद्या का ही शुक्तिरूप्यादिनिष्ठ सत्तादात्म्यरूप से परिणममानत्व है। तब तो अलीकरूप से अविद्या का परिणाम न होने से अलीक निष्ट सत्तादात्म्यरूप से भी अविद्या का परिणाम नहीं होगा। अतः अलीक में सत्तादात्म्य न होने से बाध का उद्धार हो जायेगा।

शंका – (यत्रकाले तादात्म्यरूपेण– इत्यादि उक्तव्याप्ति में व्यभिचार बताते हैं, अथवा शुक्तिरूप्यादिरूप से परिणत अविद्या का ही शुक्तिरूप्यादिनिष्ठ तादात्म्यरूप परिणाम होता है– इस नियम में व्यभिचार की शंका करते हैं)– स्फटिकादि रूप से अपरिणममान होती हुई भी अविद्या का स्फटिकादिनिष्ठ जपाकुसुमादिलौहित्यतादात्म्य रूप से परिणाम देखने में आता है, अतः उक्त नियम में व्यभिचार होने से अलीक रूप से अपरिणत अविद्या का भी अलीकनिष्ठ सत्तादात्म्यरूप से परिणाम हो।

समाधान– ऐसा न कहो, अविद्या का तादात्म्यमात्ररूप से परिणाम तादात्म्याध्याससमकालीन स्वाश्रयाध्यास के बिना दृष्ट होने पर भी सत्तादात्म्यरूप से परिणाम–सत्तादात्म्य के अनुयोगी रूप से परिणममान अविद्या में ही होता है। अर्थात्–''यः सत्प्रतियोगिकतादात्म्यरूपेणाऽविद्यापरिणाम; स सत्तादात्म्यानुयोगिरूपेण परिणममानाविद्यावृत्तिः'' इस व्याप्ति में कोई व्याघात नहीं (अनुयोगिरूपेण परिणममानाऽविद्याया एवं तन्निष्ठसत्तादात्म्यरूपेण परिणममानत्वमिति नियमः)। अतः अनुयोगी

लघुचन्द्रिका

तदनुयोगिरूपेण परिणममानाविद्यानिष्ठत्वनियमाविघातात्। नच—सत्प्रतियोगिक—तादात्म्यस्योक्तनियमस्वीकारेऽपि सदनुयोगिकस्यालीकप्रतियोगिकतादात्म्यस्याविद्या—परिणामत्वमास्तामिति वाच्यम्; 'सदलीकम्' इति प्रतीत्यभावेनाविद्यायास्तादृशपरिणामे हेतुत्वाकल्पनात्। अत एव "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" इति पातञ्जलसूत्रे शब्दमात्रजन्यस्यालीकाकारधीरूपविकल्पस्य सद्रूपाविषयकत्वरूपं वस्तुशून्यत्वमुक्तम्। अत एव च "प्रमाण विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः" इति वृत्तिविभाजके पातञ्जलसूत्रे विकल्पात् पृथग् विपर्ययस्योक्तिः; तस्य सद्रूपविषयकत्वेन वस्तुशून्यत्वाभावात्, किञ्च सत्प्रतियो—गिकतादात्म्यस्य प्रकृते पक्षतावच्छेदके निवेशादलीकप्रतियोगिकतादात्म्यमादाय नोक्तदोषः।

ननु—माध्वादिमते शुक्तिरूप्यादेरलीकतास्वीकारात् 'इदं रूप्यं सत्' इत्याकारभ्रमेण तत्र सत्प्रतियोगिकतादात्म्यावगाहनान्माध्वादीन् प्रति न्यायप्रयोगे बाधः ; सदसद्वि—लक्षणत्वादिसाध्यस्य तत्राभावात्, नचाबाध्यत्वान्तविशेषणेन तस्य वारणम् ; अलीकस्य

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

अलीकरूप से अविद्या का परिणाम न होने से अलीकनिष्ठसत्तादात्म्य रूप से भी अविद्या का परिणाम नहीं हो सकता।

शंका— सत्प्रतियोगिक तादात्म्य का अनुयोगिरूप से विपरिणममानाविद्यावृत्तित्व नियम स्वीकार होने के कारण अलीकावृत्तित्व होने पर भी सदनुयोगिकालीकप्रतियोगिकतादात्म्य का अविद्यापरिणामत्व मानने में क्या हानि है?

समाधान— ऐसा नहीं होगा, क्योंकि "सदलीकम्" अर्थात् "सत् अलीक है" इस प्रकार की प्रतीत न होने से अविद्या के सदनुयोगिकालीकप्रतीयोगिकतादात्म्यरूप से परिणाम होने में हेतुत्व की कल्पना नहीं हो सकती। इस प्रकार "सत् अलीक है" तथा "अलीक सत् है" इन प्रतीतियों के अभाव होने के कारण पातञ्जल योगसूत्र में— "शशविषाणादिशब्द ज्ञान से उत्तरभावी अर्थात् उत्पन्न वस्तु शून्य वृत्ति विकल्प है" अर्थात् शब्दमात्र से उत्पन्न अलीकाकारवृत्तिरूप विकल्प का सद्वस्त्वविषयकत्वरूप वस्तु शून्यत्व कहा गया है। और इस कारण से ही अर्थात् विकल्प वस्तुशून्य होने से ही "प्रमाण, विपर्यय (भ्रम), विकल्प, निद्रा और स्मृति— इस प्रकार पांच प्रकार की वृत्ति होती है" इस वृत्ति विभाजक पातञ्जलसूत्र में विकल्प से पृथक् विपर्यय की उक्ति है; क्योंकि वह (विपर्यय) सद्वस्तुविषयक होने से वस्तु शून्य नहीं होता। किञ्च— अलीक प्रतियोगिक सदनुयोगिक तादात्म्य की प्रतीति मान भी ली जाय तो भी प्रकृतानुमान के पक्षतावच्छेदक में सत्प्रतियोगिक तादात्म्य के निवेश होने से अलीकप्रतियोगिकतादात्म्य को लेकर उक्त दोष अर्थात् तुच्छ के पक्षान्तर्भाव होने से बाधरूप दोष नहीं हो सकता।

शंका— माध्वादि के मत में शुक्तिरूप्यादि की भी शशविषाणादि जैसी असद्रूपता स्वीकृत होने से "यह रूप्य सत् है" इत्याकारक भ्रम ज्ञान से "रूप्यं सत्" इसमें सत्प्रतियोगिकतादात्म्य गृहीत होने के कारण शुक्तिरूप्य में पक्षतावच्छेदकविशिष्टत्व है; अतः माध्वादि के प्रति न्याय प्रयोग (अनुमान प्रयोग) में बाध होगा, क्योंकि सदसद्विलक्षणत्वादिरूप साध्य असद्रूप शुक्तिरूप्य में नही है। और अबाध्यत्वान्त विशेषण से असत् शुक्तिरूप्य का निवारण नहीं होता, क्योंकि अलीक में ज्ञानोच्छेद्यत्वरूप ज्ञानबाध्यत्व नहीं है; (कारण कि ज्ञानसमानविषयक अज्ञान और उससे प्रयुक्त दृश्यान्तर का ही ज्ञानोच्छेद्यत्व होता है)।

लघुचन्द्रिका

ज्ञानोच्छेद्यतारूपज्ञानबाध्यत्वाभावात्, इति—चेत्, न ; तन्मते भ्रमस्यासत्ख्याति-त्वस्वीकारेणानिर्वचनीयख्यात्यनभ्युपगमेन तादात्म्यादिसम्बन्धस्याप्यलीकस्यैव भ्रमे भानात्, अनलीकस्य भानस्वीकारे तस्य सद्रूपत्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वप्रत्ययानुपपत्तेः, अलीकस्यैव तन्मतेऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, रूप्यादेरप्यलीकान्यत्वापत्त्याऽधिष्ठानान्य-भ्रमविषयस्यालीकत्वनियमाच्च, सत्स्वरूपस्यैव तादात्म्यस्य तत्र भानेऽलीकरूप्यादौ तदनुयोगित्वाभावात्, अलीके रूप्यादिनिष्ठे तादात्म्ये सत्प्रतियोगिकत्वस्येव सद्रूपेऽलीकानुयोगिकत्वस्याभावात्, सदसतोरुपरागाभावात्, शुक्तिरूप्यादौ सत्प्रतियोगिक-तादात्म्यानुयोगित्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावेन तत्र बाधोक्त्यसम्भवात्, वक्ष्यमाणरीत्या सदसद्भिन्नत्वस्य माध्वं प्रत्यसाध्यत्वेन तं प्रतिबाधाभावाच्च। नचैवमपि तन्मते शुक्तिरूप्यादौ साध्यवैकल्यम्; तं प्रतिसद्विविक्तत्वादिवक्ष्यमाणमिथ्यात्वस्यैव साध्यत्वात्।

ननु—सद्रूपं शुद्धचिदेव, तत्प्रतियोगिकत्व विशिष्टतादात्म्यत्वावच्छिन्नाधिकरणत्वं च तस्यां नास्ति, इति चिद्भिन्नत्वविशेषणं व्यर्थमिति—चेत्, सत्यम्, उक्ताधिकरणत्वनिवेशे

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

समाधान— ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि माध्वादि के मत में भ्रम का असतख्यातित्व स्वीकार होने से और अनिर्वचनीय ख्याति को न मानने से तादात्म्यादि संबन्ध भी भ्रम में अलीक ही प्रतीत होता है; यदि उसमें अनलीक तादात्मादि संबन्ध की प्रतीति मान ली जाय तो भ्रम विषयीभूततादात्म्यादि भी सद्रूप होने से अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिरूप से उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि उनके मत में अलीक ही अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है। इसके अतिरिक्त भ्रम विषयीभूत तादात्म्य को अलीक नहीं मानेंगे तो रूप्यादिका भी अलीकान्यत्व होने का प्रसङ्ग होगा, और उनके मत में अधिष्ठान से भिन्न भ्रमविषय का अलीकत्व नियम भी होता है, तथा सद्रूप तादात्म्य का ही भ्रम में भान मान लिया जाय तो भी अलीक रूप्यादि में उस तादात्म्य के अनुयोगित्व के अभाव होने से रूप्यादिनिष्ठ अलीक तादात्म्य में जिस प्रकार सत्प्रतियोगिकत्व का अभाव होता है, उसी प्रकार सद्रूप तादात्म्य में अलीकानुयोगिकत्व का अभाव है, क्योंकि सत् और असत् का संबन्ध नहीं होता। अतः शुक्तिरूप्यादि में सत्प्रतियोगिक तादात्म्य के अनुयोगित्वरूप पक्षतावच्छेदक के अभाव होने से उसमें (शुक्तिरूप्यादि में) बाधोक्ति का असम्भव है और वक्ष्यमाण रीति से प्रतिपाद्य सदसद्भिन्नत्व रूप मिथ्यात्व माध्व के प्रति असाध्य होने से उसके प्रति बाध का अभाव होता है। शुक्तिरूप्यादि में पक्षतावच्छेदक के अभाव होने से बाधोक्ति का असम्भव होने पर भी माध्व के मत में शुक्तिरूप्यादि दृष्टान्त में साध्यवैकल्य होता है—ऐसी शंका भी होनी नहीं चाहिये, क्योंकि उनके प्रति सद्विविक्तत्वादि वक्ष्यमाण मिथ्यात्व ही साध्य है (उनके मत में शुक्ति रूप्यादि में सद्विविक्तत्व है और प्रपञ्च को सन्मात्ररूप मानने के कारण सद्विविक्तत्व साध्य हो सकता है।)

शंका— शुद्धचित् ही सद्रूप है, अतः सत्प्रतियोगिकत्व से विशिष्ट तादात्म्यत्व से अवच्छिन्न अधिकरणत्व (अनुयोगित्व) शुद्ध चित् में न रहने के कारण शुद्धचित् के निवारणार्थ पक्षतावच्छेदक में चिद्भिन्नत्व विशेषण देना व्यर्थ है।

समाधान— ठीक है, सत्प्रतियोगिकत्वविशिष्ट तादात्म्यत्व से अवच्छिन्न अधिकरणत्व के निवेश में चिद्भिन्नत्व विशेषण नहीं देना चाहिये, किन्तु यहां पर सत्प्रतियोगिकत्व से उपलक्षित

लघुचन्द्रिका

चिद्भिन्नत्वं न देयम्; तत्प्रतियोगिकस्य तादात्म्यस्याधिकरणत्वमात्रनिवेशाभिप्रायेण दत्तम्। ननु—तादृशतादात्म्यस्यापक्षत्वापत्तिः, तस्य स्वस्मिन्नभावात्, तादात्म्ये तादात्म्यान्तर—स्यानवस्थापत्त्याऽनङ्गीकारादिति—चेत्, न ; घटाद्यभावस्येव तस्य स्वस्मिन् स्वरूपसम्बन्धेन वृत्तिस्वीकारात्, 'घटाभावे घटो नास्ति' इतिवत् सत्तादात्म्यं सदिति प्रतीतेः। अथ घटादिदृश्यमात्रस्य सत्तादात्म्यवत्त्वे किं मानमिति—चेत्, शुक्तिरूप्यादेरिदमादितादात्म्यवत्त्व इव परस्पराध्यासानुभवादिकम्। तथाहि—'इदं रजतम्' इत्यादिभ्रमस्थले 'इदं रजतं जानामि' 'रजतमिदं जानामि' इत्याकारद्वयानुभवादिदमादिविषयतावच्छिन्नं रजतादितादात्म्य—विषयत्वं रजतादिविषयतावच्छिन्नमिदमादितादात्म्यविषयत्वं च चिद्रूपानुभवनिष्ठं भातीति स्वीक्रियते। एवम्—'इदं रजतम्' 'रजतमिदम्' इति च 'यज्ज्ञानम्' 'तन्मिथ्या' इति बाधकप्रत्ययेन विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वावगाहनाद् भ्रमस्येव तद्विषयाणामपि बाधकधीबाध्यत्वम्, तत्राप्युक्तबाधधीकालेऽपीदमर्थस्य तादृशधीमता पुरुषेणाङ्गुल्या प्रदर्श्यमानस्य स्वरूपतः सत्यत्वानुभवात् तस्य व्यावहारिकस्वरूपत्वनिश्चयेन स्वरूपतो मिथ्यात्वानिश्चयेन मिथ्यात्वेन निश्चीयमानतादात्म्योपहितरूपेण मिथ्यात्वनिश्चयः, रजतादि—तत्तादात्म्ययोस्तु स्वरूपतोऽपि सः, इतीदमाद्यवच्छेदेन चिति रजतादिकं तत्तादात्म्य

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

तादात्म्य के अधिकरणत्वमात्र के निवेशाभिप्राय से दिया गया है।

शंका— सत्प्रतियोगिकत्वविशिष्ट तादात्म्य में अपक्षत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि उक्त तादात्म्य का अपने में अभाव है, कारण कि अनवस्था की आपत्ति से तादात्म्य में तादात्म्यान्तर का अङ्गीकार किया नहीं जाता। (तब तो सत्प्रतियोगिकत्वविशिष्ट तादात्म्य में मिथ्यात्व की असिद्धि होने से द्वैतापत्ति होगी)।

समाधान— ऐसा नहीं होगा; क्योंकि जिस प्रकार घटाभाव में घटाभाव स्वरूपसंबन्ध से रहता है, उसी प्रकार सत् तादात्म्य की वृत्ति अपने में स्वरूप संबन्ध से मानी जाती है, क्योंकि जैसे घटाभाव में घट नहीं है— ऐसी प्रतीति होती है, वैसा ही सत्तादात्म्य सत् है— ऐसी ही प्रतीति होती है।

शंका— (इदं पदार्थ में अध्यस्त होकर जिस प्रकार रजत और रजततादात्म्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में अध्यस्त होकर दृश्यमात्र और उसके तादात्म्य की उत्पत्ति भले ही अनिर्वचनीयख्यातिवाद में होवे; किन्तु घटादि दृश्य में सद्रूप ब्रह्म अध्यस्त न होने से) घटादिदृश्यमात्र के सत्तादात्म्यवत्त्व में क्या प्रमाण है?

समाधान— शुक्तिरूप्यादि के इदमादितादात्म्यवत्त्व में जिस प्रकार परस्पराध्यास का अनुभवादि प्रमाण होता है, वैसा ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। तथाहि— "इदं रजतम्" इत्यादि भ्रम स्थल में "इदं रजतं जानामि" और "रजतमिदं जानामि" इस प्रकार अनुव्यवसायात्मक आकारद्वय अनुभव होने से इदमादिविषयकत्वविशिष्टरजतादि तादात्म्यविषयकत्व और रजतादिविषयकत्व विशिष्ट इदमादितादात्म्यविषयकत्व— इन दोनों का चिद्रूप अनुभव में भान होता है— ऐसा स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार "इदं रजतम्" और "रजतमिदम्" ऐसा जो ज्ञान होता है, वह मिथ्या है— इस प्रकार बाधकज्ञान से विषयविशिष्ट भ्रम के मिथ्यात्व के ग्रहण होने से भ्रम के समान उसके (भ्रम के) विषयों का भी बाधक ज्ञान से बाध्यत्व है। उन बाध्य भ्रमविषयों में भी इदं पदार्थ के बाधकज्ञानवान् पुरूष के द्वारा बाधधीकाल में भी अङ्गुलि से

लघुचन्द्रिका

रजतत्वादेः संसर्गश्च, रजताद्यवच्छेदेनेदमादेस्तादात्म्यमिदन्त्वादेः संसर्गश्चेति जायते ; भ्रमस्थले भ्रमकाले बाध्यस्योत्पत्तिस्वीकारात्, तस्य प्रातीतिकत्वेन भ्रमपूर्वमविद्यमानत्वात्।

ननु—एकेनैव तादात्म्येनेदंरजतयोराकारद्वये परस्परं प्रति विशेषणतया भानसम्भवात् तादात्म्यद्वयोत्पत्तौ मानाभाव इति—चेत्, न ; आकारभेदानुपपत्तेः। आकारो हि ज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यम्। तच्च विभिन्नविषयरूपम्, नतु विषयिताविशेषमात्रम्; तथा सति बहिर्विषयमात्रलोपापत्त्या साकारवादापत्तेः। तदुक्तमुदयनाचार्यादिभिः—"अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्" इति। अर्थेन= ज्ञानादत्यन्तभिन्नेन घटादिरूपेण विषयेणाभिन्नो धियां विशेषः। निराकारतया=ज्ञानधर्मरूपाकारेण घटादिना विषयितास्थानीयेन हीनतया। तथाच घटादिकं विषयितास्थानीयो ज्ञानधर्मो ज्ञानाद् भिन्नाभिन्नतया बौद्धैर्यदुच्यते, तथा न, किन्तु ज्ञानादत्यन्तभिन्नम्; तथैवानुभवादितिभावः। तथाचेदंप्रतियोगिकरजत—

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

प्रदर्श्यमान होने के कारण सत्यत्व का अनुभव होता है; इस कारण उसके (इदं पदार्थ के) व्यावहारिक स्वरूपत्व के निश्चय होने से स्वरूपतः मिथ्यात्व का निश्चय नहीं होता, अतः मिथ्यात्व रूप से निश्चियमान रजतप्रतियोगिक तादात्म्य से उपहित रूप से उसका (इदं पदार्थ का) मिथ्यात्वनिश्चय होता है, रजतादि और उसके तादात्म्य का तो स्वरूप से भी मिथ्यात्वनिश्चय होता है। इसलिये इदमाद्यवच्छिन्न चित् में रजतादि, उसका तादात्म्य और रजतत्वादि का संसर्ग उत्पन्न होते हैं, तथा रजताद्यवच्छिन्न चित् में इदमादि का तादात्म्य और इदंत्वादिका संसर्ग उत्पन्न होता है। कारण कि भ्रमदेश और भ्रमकाल में बाध्य वस्तु की उत्पत्ति को स्वीकार किया जाता है, क्योंकि उसका प्रतीतिसमकालत्व होने से भ्रम से पूर्व अविद्यमानत्व है।

शंका— एक ही तादात्म्य से इदं और रजत के अनुव्यवसायनिष्ठ आकारद्वय में ("इदं रजत जानामि" और "रजतमिदं जानामि" इस आकारद्वय में) परस्पर के प्रति विशेषणरूप से भान सम्भव होने के कारण तादात्म्यद्वय (इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिकरजतप्रतियोगिक तादात्म्य और रजतावच्छिन्न चिदनुयोगिकेदंप्रतियोगिकतादात्म्य) की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान— नहीं, ऐसा होने पर "इदं रजतम्" और "रजतमिदम्" इन दोनों ज्ञानों के आकार अर्थात् विषय के भेद की अनुपपत्ति हो जायेगी (आकार द्वय की अन्यथानुपपत्ति ही तादात्म्यद्वय की उत्पत्ति में प्रमाण है— यह अभिप्राय है)। आकार ही ज्ञानों का परस्पर विलक्षणत्व है। और वह विलक्षणत्व तो भिन्न—भिन्न (अलग—अलग) विषयरूप है, ज्ञाननिष्ठ विषयिताविशेष मात्र नहीं। यदि विषयिता विशेषमात्र को ज्ञानों का विलक्षणत्व मान लिया जाय तो बाह्य विषयमात्र की लोपापत्ति आने से साकारवाद की आपत्ति होगी। अतः उदयनाचार्यादि ने कहा है—निराकारता होने से बुद्धि में विषय से अभिन्न ही विशेष होता है"। (इसका ग्रन्थकार अर्थ करते हैं)— अर्थेन अर्थात् ज्ञान से अत्यन्त भिन्न, घटादिरूप विषय से अभिन्न ही बुद्धि में विशेष होता है; इसमें हेतु है— निराकारतया, क्योंकि ज्ञानधर्म रूप आकार और विषयिता स्थानीय घटादि से ज्ञान हीन होता है। इसलिये तादात्म्य से ज्ञान का धर्मरूप विषयितास्थानीय घटादिक ज्ञान से भिन्न और अभिन्नरूप से बौद्धों द्वारा जो कहा जाता है, वह वैसा नहीं; किन्तु घटादिक ज्ञान से अत्यन्त भिन्न है, क्योंकि वैसा ही ज्ञान से अत्यन्तभिन्नत्वेन अनुभव होता है— यह भाव है। इस प्रकार विषय ही ज्ञानवैलक्षण्य रूप होने से भिन्न आकार वाले इदंप्रतियोगिकतादात्म्य और

लघुचन्द्रिका

प्रतियोगिकतादात्म्ययोर्भिन्नयोराकारयोरुत्पत्तिरावश्यिकी। किञ्च 'इदं रजतम्' इत्यादिधीस्थले रजततादात्म्यविषयत्वमिदंविषयत्वेनावच्छिन्नम्, इदंतादात्म्यविषयत्वञ्च रजतविषयत्वेनावच्छिन्नमित्याकारद्वयं प्रतीयत इत्युक्तम्। तच्च तादात्म्यस्यैकत्वे नोपपद्यते। रजततादात्म्यादिविषयताया इदंविषयतावच्छेद्यत्वे रजतादिविषयताया अपीदंविषयतावच्छेद्ये विशेषणत्वादिदंविषयतावच्छेद्यत्वेन नेदंतादात्म्यादिविषयतावच्छेदकत्वसम्भवः ; अवच्छेद्ये विशेषणीभूतायामिदंविषयतायामवच्छेदकत्वासम्भवात्। नच—'रजतमिदं जानामि' इत्यादिप्रत्यये रजतादिविषयतावच्छिन्नत्वमिदंविषयताविशिष्टे तादात्म्यविषयत्वे न भाति, किन्तु केवल इति—वाच्यम्; तथा सति विशेषणविषयत्वे विशेष्यविषयतावच्छिन्नत्वस्यासिद्ध्यापातात्। नहि तदनुभवः पृथगस्ति। नच तदसिद्धमेव ; सर्वानुभवसिद्धत्वात्।

ननु—आस्तामिदमादिविषयत्वरजतादिविषयत्वयोः परस्परावच्छिन्नत्वमिति—चेत्, न ;

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

रजतप्रतियोगिक तादात्म्य दोनों की उत्पत्ति मानना आवश्यक है।

शंका— ''इदं रजतम्'' और ''रजतमिदम'' इत्यादि में विशेष्यविशेषणभाव के व्यत्यास के अतिरिक्त विषयभेद तो अनुभव से सिद्ध नहीं होता; अतः विषयभेद का स्वीकार कैसे किया जा सकता है? इसलिये''घटो नीलः'' और नीलो घटः'' इत्यादि में भी विषयितावैलक्षण्यमात्र है, विषय वैलक्षण्य नहीं, इसमें कहते हैं—)'' किञ्च 'इदं रजतम्'' इत्यादि ज्ञानस्थल में रजतविषयिताविशिष्टतादात्म्यविषयत्व इदंविषयत्व से विशिष्ट होता है और ''रजतमिदम्'' इसमें इदंविषयिताविशिष्टतादात्म्यविषयत्व रजतविषयत्व से विशिष्ट है— इस प्रकार आकारद्वय प्रतीत होता है— यह बात पहले कह चुके हैं। वह आकारद्वय निर्वाहक उक्त विषयताद्वय तो तादात्म्य को एक मानने पर नहीं हो सकता, क्योंकि रजतविषयताविशिष्ट तादात्म्यविषयता को इदं विषयता से अवच्छेद्य होने पर रजतादि विषयिता भी इदं विषयिता से अवच्छेद्य तादात्म्याविषयता की विशेषण हो जाती है; अतः रजतविषयता इदं विषयता से अवच्छेद्य होने के कारण इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यादिविषयता का अवच्छेदक होने में सम्भव नहीं, क्योंकि अवच्छेद्य इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यादिविषयता में विशेषणीभूत तथा रजतविषयिता का अवच्छेदकीभूत इदंविषयिता में रजतविषयता का अवच्छेदकत्व असम्भव है।

शंका— ''रजतमिदं जानामि'' इत्यादि अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में इदंविषयताविशिष्ट तादात्म्यविषयत्व में रजतादि विषयता से अवच्छिन्नत्व प्रतीत नहीं होता, किन्तु तादात्मविषयत्व मात्र में प्रतीत होता है।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसा होने पर विशेषणविषयत्व (इदं विषयत्व) में विशेष्यविषयता से अवच्छिन्नत्व (रजतविषयता से अवच्छिन्नत्व) की असिद्धि हो जायेगी और विशेषणविषयत्व में विशेष्यविषयता से अवच्छिन्नत्व का अनुभव पृथक् नहीं होता। (अर्थात् इदं विषयताविशिष्ट तादात्म्यविषयत्व रूप समुदाय में रजतविषयत्व से अवच्छिन्नत्व को छोड़कर केवल इदंविषयता में रजतविषयत्व से अवच्छिन्नत्व का पृथक् अनुभव नहीं होता) और विशेषणविषयत्व में विशेष्यविषयता से अवच्छिन्नत्व असिद्ध भी नहीं,क्योंकि वह सर्वानुभव से सिद्ध है।

शंका— (''ययोर्विषयत्वयोः निरूप्यनिरूपकभावाऽऽपन्नत्वम्, तयोः अवच्छेद्याऽवच्छेदकभावोऽपि वर्तते'' इस न्याय से) इदमादिविषयत्व और रजतादिविषयत्व इन दोनों में परस्पर अवच्छिन्नत्व होवे।

लघुचन्द्रिका

प्रसिद्धावच्छेदकस्य मूलादेस्तदवच्छिन्नसंयोगाद्यवच्छिन्नत्वाननुभवेन विषयत्वयोरपि परस्परावच्छिन्नत्वाकल्पनात्, दृष्टान्तानुसारेणैव कल्पनात्। नच—मूलादिनिष्ठा—वच्छेदकत्वाद्विलक्षणं विषयत्वनिष्ठावच्छेदकत्वमिति वाच्यम्; विलक्षणत्वासिद्धेः, मूलादिनिष्ठावच्छेदकताजातीयस्यैवावच्छेदकत्वस्य विषयत्वेऽनुभवात्। विषयता हि विषयेषु ज्ञानस्य तादात्म्यम्, नतु वृत्तेराकाराख्यसम्बन्धः ; वृत्तिं विनापि सुखादेश्चिद्रूपज्ञाने विषयत्वानुभवात्। अत एव ज्ञानं चिदेव, नतु वृत्तिः। तथा चैकवृक्षादिनिष्ठसंयोगतदभावयोरग्रमूलाद्यवच्छेदेने—वैकस्यां सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचिद्व्यक्तौशुक्त्यादिघटादितादात्म्यावच्छेदेनरजतादितादात्म्य—तदभावयोरुपपादनार्थमवच्छेदकभेदस्वीकारेण तादात्म्यरूपविषयत्वे मूलादिनिष्ठसंयोगाद्य—वच्छेदकत्वजातीयस्य विषयत्वावच्छेदकत्वस्य सम्भवेन गौरवापादकस्य विलक्षणावच्छेकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्ववदेव विषयत्वनिष्ठावच्छेदकत्वेऽनुभवव्यवस्था। अथ—संयोगादेरवच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ तादात्म्यसम्बन्धेन मूलादेर्हेतुत्वात् संयोगादेरेव मूलाद्यवच्छिन्नत्वम्, न विपरीतम् ; मानाभावात्, विषयत्वयोस्त्वेकमेवापरत्रावच्छेदकमित्यत्र नियामकाभाव इति—चेन्न ; व्यावहारिकस्येदमादेः स्वावच्छिन्नसंयोगादौ यत् कारणत्वं क्लृप्तम्,

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि "अयं वृक्षः कपिसंयोगी" इत्यादि में प्रसिद्ध अवच्छेदक मूलादि का उससे (मूल से) अवच्छिन्न संयोगादि से अवच्छिन्नत्व अनुभूत न होने से दोनों विषयत्व (इदं विषयत्व और रजतविषयत्व) के भी परस्पर अवच्छिन्नत्व की कल्पना नहीं होती (कारण कि दृष्टान्त के अनुसार ही कल्पना की जाती है और मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकत्व से विषयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्व विलक्षण है— ऐसा भी कहना उचित नहीं; क्योंकि दोनों में विलक्षणत्व असिद्ध है, कारण कि विषयत्व निष्ठ अवच्छेदकत्व भी मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकत्वजातीय ही अनूभूत होता है, क्योंकि विषयता विषयों में ज्ञान का तादात्म्य है, न कि वृत्तिरूपज्ञान का विषयों में आकाराख्य संबन्धविशेष। कारण कि अन्तःकरण की वृत्ति के बिना भी (अविद्यावृत्ति से) सुखादि के चिद्रूपज्ञान (साक्षिभूत ज्ञान) में विषयत्व का अनुभव होता है। इस कारण अर्थात् वृत्ति के बिना भी सुखादि के ज्ञानविषयत्व का अनुभव होने से ज्ञान चिद्रूप ही है, न कि वृत्तिरूप। तब तो जिस प्रकार एक वृक्षादिनिष्ठ संयोग और संयोगाभाव की अग्रभाग और मूलाद्यवच्छेद से व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार सर्वदृश्यों के साथ तादात्म्यापन्न एक ही चिद्व्यक्ति में शुक्त्यादितादात्म्यावच्छेद से रजतादितादात्म्य और घटादितादात्म्यावच्छेद से रजतादितादात्म्याभाव दोनों के उपपादनार्थ अवच्छेदक भेद के स्वीकार होने से तादात्म्यरूप विषयत्व में भी मूलादिनिष्ठ संयोगाद्यवच्छेदकत्व के जातीय विषयत्वावच्छेदकत्व सम्भव होने से गौरवकारक विलक्षण अवच्छेदकत्व कहा नहीं जा सकता। इसलिये मूलादि निष्ठ अवच्छेकत्व के समान विषयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्व में भी अनुभव के अनुरोध से व्यवस्था होनी चाहिये।

शंका — अब विषयत्व और संयोग के वैषम्य की शंका करते हैं— संयोगादि की अग्राद्यवच्छेदकता संबन्ध से उत्पत्ति में तादात्म्यसंबन्ध से मूलादि हेतु होने के कारण संयोगादि का ही मूलादि से अवच्छिन्नत्व है, विपरीत नहीं होता (अर्थात् मूलादि का संयोगादि से अवच्छिन्नत्व नहीं होता), क्योंकि उसमें प्रमाण नहीं। किन्तु इदंविषयत्व और रजतविषयत्व में तो एक ही दूसरे में अवच्छेदक होगा, परस्पर अवच्छेदक नहीं होगा— इसमें नियामक का अभाव है।

लघुचन्द्रिका

तदेव अवच्छेदकतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नसामान्यस्योत्पत्तौ ; तथाच रजतादितत्तादात्म्ययोरपि तत्तदिदमर्थव्यक्तिभिरवच्छिन्नत्वात् तयोरुक्तसम्बन्धेनोत्पत्तौ तद्व्यक्तेस्तादात्म्येन हेतुत्वम्, अन्त्यावयविनामपि घटादीनांतन्मध्यस्थजला दिवायुसंयोगाद्यवच्छेदकत्वानुभवात्तेष्वपि तथैव भ्रमविषयावच्छेदकत्वसम्भवः, गुण–कर्मादीनां तु तादृशहेतुत्वस्याक्लृप्तत्वेऽपि तद्विशेष्यकभ्रमस्थले विशेषणसंसर्गयोर्विशेष्यनिष्ठावच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ विशेष्यनिष्ठेन तत्सम्बन्धेन दोषाणां हेतुत्वं कल्प्यते। एवमवच्छेदकतासम्बन्धेन तादात्म्यस्योत्पत्तौ स्वपरिणामाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयतासम्बन्धेन हेतुः। स्वम्=अज्ञानम्, तस्य परिणामः=रजतादिकम्, तदाकारावृत्तिश्च ; तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं रजताद्युत्पत्तेरव्यवहितपूर्वक्षण एवास्ति, इति रजताद्युत्पत्तिक्षण एवेदमादिविशेष्यतादात्म्यं रजताद्यवच्छेदेन, इदमाद्याकारमनोवृत्तितादात्म्यं रजताकाराविद्यावृत्त्यवच्छेदेनोत्पद्यते, स्वमज्ञानं तत्परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तन्निष्ठा विषयतेत्यज्ञानादेरस्तीति सा सम्बन्धः। स्वपरिणामे भाविनि तादात्म्यादिसम्बन्धेन पूर्वमज्ञानस्यासत्त्वात् स्वपरिणामनिष्ठविषयतेत्युक्तम्।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

समाधान– ऐसा नहीं, क्योंकि व्यावहारिक इदंशब्दवाच्य मूलादि का अपने से (मूलादि से) अवच्छिन्न संयोगादि की उत्पत्ति में तादात्म्यसंबन्ध से जो कारणत्व क्लृप्त (नियत) है, वही कारणत्व अवच्छेदकता संबन्ध से इदमवच्छिन्न रजतादि सामान्य की उत्पत्ति में भी है। तब तो रजतादि और उसके तादात्म्यसंबंध के भी तत्तत् इदमर्थरूप व्यक्तियों से अवच्छिन्नत्व होने से रजत और रजततादात्म्य की अवच्छेदकतासंबन्ध से उत्पत्ति में तत्तद् व्यक्ति का तादात्म्य से हेतुत्व है। (इसमें शंका होती है– जिस स्थल में इदमर्थ घटादि किसी कार्य का अवयव कपालादि होता है, वहां उस इदमर्थकपालादि का अपने से आरब्ध (अवच्छिन्न) घटाद्यवयविनिष्ठ संयोगादि में अवच्छेदकता संबन्ध से भले ही हेतुत्व होवे, किन्तु जहां घटादिरूप अन्त्यावयवी इदमर्थ होता है, वहां घटाद्यवच्छिन्न संयोगादि की अप्रसिद्धि होने से घटादि का अवच्छेदकतासंबन्ध से संयोगादि के प्रति हेतुत्व कैसे होगा? इस शंका का उत्तर कहते हैं)– अन्त्यावयवी घटादिकों का भी उसके मध्यस्थ जलादि के साथ वायु के संयोगादि में अवच्छेदकत्व के अनुभव होने से उन अन्त्यावयवियों में भी उसी प्रकार ही क्लृप्तकारणता के बल से भ्रमविषय के अवच्छेदकत्व संभव है। गुण कर्मादिकों का तो अवच्छेदकतासंबन्ध से स्वावच्छिन्नकार्य के प्रति हेतुत्व अक्लृप्त होने पर भी गुणकर्म विशेष्यक भ्रमस्थल में (अर्थात् ''शंखरूपं पीतम्, ऊर्ध्वचलनात्मकं कर्म अधश्चलनम्'' इस प्रकार से गुण और कर्म विशेष्यक भ्रम स्थल में) विशेषण और संसर्ग दोनों की विशेष्यनिष्ठ अवच्छेदकतासंबन्ध से उत्पत्ति में विशेष्यनिष्ठ अवच्छेदकतासंबन्ध से (या आश्रयतासंबन्ध से) गुण, कर्म और दोषों के तादात्म्य से हेतुत्व की कल्पना की जाती है।

इसी प्रकार ''रजतमिदम्'' इसमें रजतनिष्ठ अवच्छेदकत्व संबन्ध से इदंतादात्म्य की उत्पत्ति में अज्ञान (अविद्या) के परिणाम रजतादि के अव्यवहितपूर्वत्व से विशिष्ट अज्ञान तादात्म्य से भिन्न अज्ञान परिणामरजतादिनिष्ठ विषयतासंबन्ध से हेतु है। (यहां पर ''तादात्म्यभिन्न'' यह विशेषण परिणाम का है, क्योंकि तादात्म्य की उत्पत्ति में तादात्म्यनिष्ठ विषयतासंबन्ध से अज्ञान हेतु नहीं हो सकता। अब ग्रन्थकार स्वयं ही इस वाक्य का व्याख्यान करते हैं)– स्व का अर्थ अज्ञान है, उसका परिणाम रजतादि और रजताकार अविद्यावृत्ति है, इनके अव्यवहितपूर्वत्व से

लघुचन्द्रिका

विषयतासम्बन्धस्य च भाविभूतविषये ज्ञानादेः सत्त्वादुक्तविषयतासम्बन्धेन भाविन्यप्यज्ञानसत्त्वम्। अत एव 'ज्ञायमानघटत्वरूपं सामान्यं घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वसमवायिनिष्ठविषयतासम्बन्धेन भाविभूतनिष्ठेन हेतुः' इति तार्किका वदन्ति। रजतादितत्संसर्गयोरिदमाद्यवच्छिन्नत्वात्तदीयचित्तादात्म्यरूपं विषयत्वमपि तथा, इदमादिविषय-त्वावच्छिन्नञ्च सम्भवति, इदमादिविषयत्वस्य तु रजतादिप्रतियोगिकताद्दशसंसर्गविषय-त्वावच्छिन्नत्वे मानाभावात्, 'रजतमिदम्' इति द्वितीयाकारसिद्ध्यर्थं रजतादितद्विषयत्वावच्छेदेन तादात्म्योत्पत्तिः स्वीक्रियते। तस्य च तादात्म्यस्येदमादिप्रतियोगिकत्वसिद्धये प्रतियोगितासम्बन्धेन तादात्म्योत्पत्तौ स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनोक्ताज्ञानस्य हेतुतान्तरं कल्प्यते। तथाच भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादिकं तद्विषयत्वञ्च, तदेव रजतादौ तत्तादात्म्ये तयोर्विषयत्वे च

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

विशिष्ट अज्ञान रजतादि की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में ही होने से रजतादि के उत्पत्तिक्षण मे ही इदमादिरूप विशेष्य का तादात्म्य रजताद्यवच्छेद से उत्पन्न होता है और इदमाद्याकार मनोवृत्ति का तादात्म्य भी रजताकार अविद्यावृत्ति के अवच्छेद से उत्पन्न होता है। (तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामादि का अर्थ करते हैं) — स्व का अर्थ अज्ञान है, उसका परिणाम रजतादिक और रजताकार अविद्यावृत्ति है, इनमें होने वाली विषयता ईश्वरज्ञानादि की होने से वह विषयता संबन्धरूप है। भावी अज्ञानपरिणाम मे पहले तादात्म्यादिसंबन्ध से अज्ञान न होने के कारण स्वपरिणामनिष्ठविषयता— इस प्रकार कहा है। क्योंकि विषयतासंबन्ध भावी और भूत विषयों मे भी ज्ञान का होता है, अत· स्वपरिणामनिष्ठविषयतासंबन्ध से भावी विषय में भी अज्ञान का सत्त्व है। इस कारण तार्किक लोग भी '' ज्ञायमानघटत्वरूप सामान्य घटनिष्ठ अलौकिक मुख्य विशेष्यता सबन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति भाविभूतनिष्ठ तथा घटत्वसमवायिनिष्ठ विषयता संबन्ध से हेतु है'', ऐसा कहते हैं।

(शंका होती है कि रजत और रजततादात्म्य का इदमवच्छिन्नत्व सिद्ध होने पर भी रजतादि विषयता में इदंविषयतावच्छिन्नत्व सिद्ध नहीं होता। इसमें उत्तर देते हैं)— रजतादि और तादात्म्यरूप रजतादि संसर्ग के इदमाद्यवच्छिन्नत्व होने से रजत और रजतसंसर्ग का वृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूप ज्ञानतादात्म्यरूप विषयत्व भी इदमवच्छिन्न है (क्योंकि—'' यस्य वस्तुनो यदवच्छिन्नत्वं तत्संबन्धस्याऽपि तदवच्छिन्नत्वम्'' यह नियम है)। और वह विषयत्व इदमवच्छिन्न होने से इदमादि विषयता से अवच्छिन्न हो सकता है (क्योंकि—'' यस्य यदवच्छेदकत्वं तत्संबन्धस्याऽपि तदवच्छेदकत्वम्'' यह नियम है, इसलिये ''इदं रजतम्'' इस आकार का निर्वाह होता है।) और ''इदंरजतम्'' इस आकार का निर्वाहक इदमादिविषयत्व के तो रजतादिप्रतियोगिक चित्तादात्म्यरूपसंसर्गनिष्ठ विषयत्व से अवच्छिन्नत्व होने में प्रमाण के अभाव होने से ''रजतमिदम्'' इस द्वितीय आकार के सिद्ध्यर्थ रजतादि और रजतादिविषयत्व के अवच्छेद से तादात्म्यान्तर की उत्पत्ति का स्वीकार किया जाता है (क्योंकि इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिक और रजतप्रतियोगिक तादात्म्य से निर्वाह्य इदंविषयत्व और रजतविषयत्व से ''रजतमिदम्'' इस द्वितीय आकार की सिद्धि नहीं हो सकती)। उस उत्पन्न तादात्म्य के इदमादि प्रतियोगिकत्व की सिद्धि के लिये प्रतियोगितासंबन्ध से तादात्म्य की उत्पत्ति में अज्ञान के आश्रय इदमवच्छिन्नचिन्निष्ठ आश्रयता के अवच्छेदक इदमर्थनिष्ठ अवच्छेदकतासंबन्ध से उक्ताज्ञान के हेतुतान्तर की कल्पना की जाती है। इस प्रकार तादात्म्यद्वय

लघुचन्द्रिका

तावदुपहितरूपेणावच्छेदकम्। यत्तु भ्रमकाल इदमर्थस्य तादात्म्यं तत्प्रतियोगित्वोपहितमिद–मादिकञ्च जायते, यच्च तयोर्विषयत्वम्, तानि तदुपहिततादृश रजतादिनाऽवच्छिद्यन्ते। एवञ्च मूलसंयोगादीनामिव परस्परानवच्छिन्नत्वनियमो न व्याहतः, न वा परस्परभिन्न–सर्वविषयकत्वरूप आकारयोर्भेदनियमो व्याहतः ; 'इदं रजतम्' इत्याकारेतादृशावच्छेद्या–वच्छेदकयोरेव भानेन जायमानस्य रजतप्रतियोगिकतादात्म्यस्यप्रतियोगित्वोपहितरजतस्य तदनुयोगित्वो– पहितेदमर्थस्य च भानात्। 'रजतमिदम्' इत्याकरे तु जायमानस्येदंप्रतियोगिकता दात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितेदमर्थस्य तदनुयोगित्वोपहितरजतस्य चावच्छेद्यावच्छेदकतया भानेनाकारद्वयविषयाणां मिथो भिन्नत्वात्। नच–इदमाद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्य रजतादौ प्रतियोगितासम्बन्धेनोत्पत्त्या तत्रोक्तसम्बन्धेनाज्ञानस्याभावाद् व्यभिचार इति–वाच्यम्। रजतादेरुक्ततादात्म्यस्य प्रतियोगिताऽभावेऽपि रजतादिसंसर्गतया भानसम्भवात्। नहि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे विशिष्टबुद्ध्योर्विषयौ, येनानुभवबलादेव

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

मानने पर भ्रम से पूर्वसिद्ध जो इदमादिक और इदमादिविषयत्व है, वे ही रजतादि, रजतादितादात्म्य और दोनों के विषयत्व में रजतादिरूपतत्तदुपाधियों से उपहितरूप से अवच्छेदक होते हैं। अर्थात् रजतोपहित इदमादिक रजतावच्छेदक है, रजततादात्म्योपहित इदमादिक तादात्म्यावच्छेदक है तथा रजतविषयत्व और रजततादात्म्यविषयत्व से उपहित इदं विषयत्व दोनों विषयत्व का अवच्छेदक होता है। और भ्रमकाल में पूर्वसिद्ध इदमर्थ का जो तादात्म्य होता है, उस तादात्म्य के प्रतियोगित्व से उपहित इदमादिक से उत्पन्न होता है तथा इदंविषयत्व और इदं तादात्म्यविषयत्व जो उत्पन्न होते हैं, वे सब इदंतादात्म्य से उपहित अनुयोगिरूप रजतादि से अवच्छिन्न होते हैं। इस प्रकार भासमान इदमर्थ के उपाधि भेद से आकारद्वय सिद्ध होने पर मूल और संयोगादि के समान परस्पर अनवच्छिन्नत्व नियम का व्याघात नहीं होता, अथवा परस्पर भिन्न सब विषयकत्वरूप भिन्न आनुपूर्वीक शब्दों से अभिलाप्य ज्ञानात्मक दोनों आकारों का भेद नियम व्याहत नहीं होता। क्योंकि "इदं रजतम्" इस भ्रमात्मक ज्ञानरूप आकार में रजतादिरूप अवच्छेद्य और इदमादिरूप अवच्छेदक के ही भान होने से जायमान रजतप्रतियोगिक तादात्म्य के प्रतियोगित्व से उपहित रजत और उस तादात्म्य के अनुयोगित्व से उपहित इदमर्थ का भान होता है। तथा "रजतमिदम्" इस भ्रमात्मकज्ञानरूप आकार में तो जायमान इदं प्रतियोगिक तादात्म्य के प्रतियोगित्व से उपहित इदमर्थ और उस तादात्म्य के अनुयोगित्व से उपहित रजत के क्रम से अवच्छेद्य और अवच्छेदकरूप से भान होने के कारण "इदं रजतम्" और "रजतमिदम्" इस भ्रमात्मक आकारद्वय के विषयों में परस्पर भिन्नत्व है।

शंका– "इदं रजतम्" इसमें इदमाद्यवच्छेद से जायमान तादात्म्य की रजतादि में प्रतियोगितासंबन्ध से उत्पत्ति होने के कारण उस उत्पत्ति के प्रति स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसंबन्ध से अज्ञान की हेतुता न होने से व्यभिचार होता है (क्योंकि अज्ञान से उत्पाद्य रजतादिक अज्ञान की आश्रयता का अवच्छेदक नहीं होता किन्तु इदमर्थ ही अवच्छेदक होता है)।

समाधान– ऐसा कहना नहीं चाहिये, क्योंकि रजतादि में इदमाद्यवच्छेद से जायमान तादात्म्य के प्रतियोगित्व का अभाव होने पर भी केवल रजतादि के साथ संसर्गरूप से भान संभव है। क्योंकि विशेषण में संसर्गाप्रतियोगित्व और विशेष्य में संसर्गानुयोगित्व ये दोनों विशिष्ट बुद्धि के

लघुचन्द्रिका

तयोस्ते सिद्ध्यतः।

अथवा रजताद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्यापि नेदमादिप्रतियोगिकत्वम्, किन्तु तत्संर्गतया भानमात्रम्, अतो न तादृशकार्य–कारणभावाभावेऽपि क्षतिः। वस्तुतस्तु दोषादिघटिता सामग्र्येव रजतादिप्रातीतिकप्रतियोगिकतादात्म्ये नियामिका, व्यावहारिकप्रतियोगिके प्रातीतिके तादात्म्ये चाज्ञानाश्रयतावच्छेदकत्वं नियामकम्।

ननु 'रजतमिदम्' इत्याकारसिद्धय इदमादितादात्म्योत्पत्तिस्वीकारो व्यर्थः ; इदन्त्वादिसंसर्गोत्पत्त्यापि तादृशाकारसिद्धेरिति चेत्, न ; तादृशाकारे तादृशस्य संसर्गस्य तादात्म्यस्य वा भानमित्यत्र विनिगमकाभावात्। तस्माद्धर्मयोः संसर्गाविव धर्मिणोस्तादात्म्ये अपि प्रातीतिके जायेते। तयोरिव तयोरपि सप्रतियोगिकतया प्रतीयमानत्वात्,

---

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

विषय नहीं होते, जिससे अनुभवबल से विशेषण और विशेष्य का प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व सिद्ध हो जाय।

शंका– तब तो ''रजतमिदम्'' इसमें भी भासमान तादात्म्य संसर्ग प्रतियोगिता का भानाभाव होने से इदमर्थ मे प्रतियोगिता के निर्वाहक स्वाश्रयतावच्छेदकत्व संबन्ध से अज्ञान की हेतुता की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

समाधान – इसमे उत्तर देते हैं–अथवा ''रजतमिदम्'' इसमें रजताद्यवच्छेद से जायमान तादात्म्य का भी इदमादि प्रतियोगिकत्व नहीं, किन्तु इदमादिसंसर्गतया भानमात्र है। अतः प्रतियोगितासंबन्ध से तादात्म्य की उत्पत्ति और स्वाश्रयतावच्छेदकत्व संबन्ध से अज्ञान– इन दोनों मे कार्यकारणभाव के अभाव होने पर भी क्षति नहीं।

शंका– संसर्गप्रतियोगित्व और अनुयोगित्व दोनों ही विशिष्ट बुद्धि के विषय हैं– इस बात को स्वतःग्रन्थकार आगे कहेंगे। अतः ''रजतमिदम्'' इसमें भ्रमविषय संसर्गभूत तादात्म्य प्रतियोगित्व इदमर्थ में मानना आवश्यक है, तब तो तादात्म्योत्पत्ति का निर्वाहक उक्ताज्ञाननिष्ठ हेतुत्व (''इदं रजतम्'' इसमें) रजत में व्यभिचरित होना दुर्वार है।

समाधान – इसका समाधान देते हैं– वस्तुतस्तु आगन्तुक दोषादिघटित सामग्री ही 'इदं रजतम्'' इसमे रजतादि प्रातीतिकतादात्म्य की उत्पत्ति में प्रतियोगितासंबन्ध से प्रयोजिका है (अर्थात् रजतादिप्रातीतिकनिष्ठ प्रतियोगितासंबन्ध से तादात्म्योत्पत्ति के प्रति दोषजन्य रजतादिरूपप्रकारनिष्ठ शुक्त्यज्ञानीयविषयतासंबन्ध से दोषों का हेतुत्व है। यहां कार्यतावच्छेदक प्रतियोगितासंबन्ध में ''रजतादिप्रातीतिकनिष्ठ'' विशेषण देने से व्यावहारिक इदमादि में व्यभिचार नहीं हुआ।) इसी प्रकार ''रजतमिदम्'' इसमें इदमादिव्यावहारिक प्रतियोगिक प्रातीतिकतादात्म्य की उत्पत्ति में अज्ञानाश्रयतावच्छेदकत्व प्रयोजक है (अर्थात् इदमादिव्यावहारिकनिष्ठप्रतियोगिता संबन्ध से तादात्म्योत्पत्ति के प्रति स्वाश्रयातावच्छेदकत्व संबन्ध से अज्ञान का हेतुत्व है। यहां भी कार्यतावच्छेदक प्रतियोगिता संबन्ध में ''इदमादि व्यावहारिक निष्ठ'' विशेषण देने से रजत में उक्त रीति से व्यभिचार नहीं हुआ।)

शंका– ''रजतमिदम्'' इस भ्रमात्मक आकार की सिद्धि के लिये इदमादितादात्म्य की उत्पत्ति को स्वीकार करना व्यर्थ है, क्योंकि इदंत्वादि संसर्ग की उत्पत्ति से भी ''रजतमिदम्'' यह भ्रमात्मक आकार सिद्ध हो सकता है।

लघुचन्द्रिका

बाध्यत्वानुभावाच्च। एतेन—'इह रजतं न' इति बाधस्य बाध्यं रजतमेव, नतु तत्प्रतियोगिकं तादात्म्यम् ; तथा च भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादितादात्म्यम्, तस्यैव रजतादिविशेषणं प्रति संसर्गतया भानम्—इत्यपास्तम्; रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यत्वेन प्रतीतेः, बाध्यत्वानुभवस्य च रजताद्यप्रतियोगिकतादात्म्येनानिर्वाहात्। नहि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे न भासेते इति वक्तुं शक्यते ; घट—भूतलादिनिष्ठयोर्वृत्तिज्ञानीयविशेषणताविशेष्यतयोर्भासमानवैशिष्ट्यीयभासमानप्रतियोगित्वानुयोगित्वस्वरूपत्वात्, अवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्नयोः चिच्चेत्यतादात्म्यरूपयोर्विशेष्यताविशेषणतयोश्चिद्रूपज्ञान एव स्वीकारेण (चैतन्यस्यैव च ज्ञानत्वेन तयोः) वृत्तौ स्वीकर्तुमशक्यत्वात्।

ननु—तथापि रजतादेरुपनयसंनिकर्षेण प्रत्यक्षे विषयीभवतो विशेषणत्वमेव, नतु विशेष्यत्वम्; 'उपनीतं विशेषणतयैव भाति' इति नियमादिति—चेत्, न ; उपनयस्य सिद्धान्ते प्रत्यक्षविषयत्वानियामकत्वादुक्तनियमस्याभावात्, परमते तद्भावेऽप्यलौकिक—विशेषणतायामेव तस्य नियामकत्वात्, लौकिक्याश्च विशेषणतायामिव विशेष्यतायामपि

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि इस आकार में इदंत्वादिसंसर्ग अथवा तादात्म्य का मान होता है— इसमें विनिगमक (अन्यतरपक्षपाती प्रमाण) नहीं। इसलिये इदंत्व और रजतत्व दोनों के धर्मों के संसर्ग (स्वरूप—समवायसंबन्ध) जैसे इदमर्थ और रजत दोनों धर्मियों के प्रातीतिक दो तादात्म्य भी उत्पन्न होते हैं, क्योंकि दोनों धर्मों के समान दोनों तादात्म्य (इदंतादात्म्य और रजततादात्म्य) भी सप्रतियोगिकतया प्रतीयमान हैं और बाध्यत्वेन अनुभवगोचर हैं।

इस प्रकार वक्ष्यमाण हेतु से— "इह रजतं न" इस बाध का बाध्य रजत ही है, न कि रजतप्रतियोगिक तादात्म्य। तब तो भ्रम से पूर्व सिद्ध जो इदमादितादात्म्य है; उसका ही रजतादिरूप विशेषण के प्रति संसर्गतया भान होता है— यह मत अपास्त हुआ; क्योंकि "इदं रजतम्" इसमें वह तादात्म्य रजतादिप्रतियोगिक तादात्म्यत्व रूप से प्रतीत होता है और बाध्यत्व के अनुभव का भी रजताद्यप्रतियोगिक तादात्म्य से निर्वाह नहीं हो सकता (क्योंकि विषयविशिष्ट भ्रम के मिथ्यात्वज्ञान होने से रजत प्रतियोगिकतादात्म्यत्वावच्छिन्न विषय के भी मिथ्यात्व का ग्रहण होता है)। विशिष्ट बुद्धि में विशेषण और विशेष्य के संसर्गप्रतियोगित्व और अनुयोगित्व प्रतीत नहीं होते— ऐसा कहा नहीं जा सकता। क्योंकि "घटवद्भूतलम्" इसमें घट और भूतलादि निष्ठ और वृत्तिरूप ज्ञान से सम्बन्धित विशेषणता और विशेष्यता ये दोनों ही भासमान वैशिष्ट्य में भासमान प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व स्वरूप ही होते हैं और अवच्छेदकावच्छेद्यभाव को प्राप्त हुए, चित् और चैत्य (विषय) के तादात्म्यरूप विशेष्यत्व और विशेषणत्व इन दोनों के चिद्रूपज्ञान में ही स्वीकार होने से (और चैतन्य के ही ज्ञानत्व होने से उन दोनों का) अन्तःकरण परिणामरूपवृत्ति में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शंका— तो भी "रजतमिदम्" यह भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा प्रत्यक्ष में विषयीभूत रजतादि का विशेषणत्व ही होता है न कि विशेष्यत्व, कारण कि—"ज्ञानलक्षणा से उपनीत पदार्थ विशेषण रूप से ही प्रतीत होता है" यह नियम है।

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में उपनय (ज्ञानलक्षणा) प्रत्यक्ष विषयत्व के नियामक न होने से उक्तनियम (अर्थात् "उपनीतं विशेषणतयैव भाति" यह नियम) का अभाव

लघुचन्द्रिका

दोषाणामेव बाधविशेषाभावादिसहकृतानां नियामकत्वात्। ननु—रजतस्याध्यासे स्वीकृते तत्तादात्म्यस्याप्यध्यास आवश्यक:, स एव कुत:? रजतत्वादिधर्मस्यैव संसर्ग आरोप्यते; तावतैव प्रतीतिबाधयोरुपपत्तेः किमिति रजततत्तादात्म्ययोरध्यास उच्यते? इति—चेत्, न ; रजतस्योत्पत्तिं विना 'रजतत्वमत्र साक्षात्करोमि' इति प्रत्ययानिर्वाहात्, देशान्तरस्थरजते मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्याभावेन तद्गतरजतत्वादावपि तदभावात्। नच— रजतत्वादेरेवोत्पत्तिरस्तु नतु तद्वत इति—वाच्यम् ; अनेकधर्माणामुत्पत्तिकल्पनामपेक्ष्यैकस्य धर्मिण एवोत्पत्तिकल्पनाया लघुत्वात्, अखण्डरजतत्वादेरुत्पत्तौ तस्य पूर्वमननुभूतत्वेन पूर्वानुभूतरजतत्वादिप्रकारक—प्रवृत्त्यादिकार्यस्य भ्रमस्थलेऽनुपपत्तेः। तस्मादिदमादितादात्म्यस्य रजताद्यवच्छेदेनावश्यमुत्पत्तिः प्रातीतिकभ्रमस्थले वाच्या। तथाच तद्वदेव व्यावहारिकघटादिभ्रमस्थलेऽपि 'सन्तं घटं

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

है(अन्यथा अनुमानमात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा) नैयायिक मत में उपनयसन्निकर्ष होने पर भी वह अलौकिक विशेषणता में ही नियामक है। और "इदं रजतम्" इत्यादि स्थल में जिस प्रकार लौकिकी विशेषणता में बाधाभावादि सहकृत दोषों का नियामकत्व होता है, वैसा ही "रजतमिदम्" इत्यादि स्थल में भी विशेष्यता में बाधाभाव विशेषाभावादि से सहकृत चाकचिक्यादि दोषों का ही नियामकत्व है (यहां पर साक्षात्कारिता का अभिव्यञ्जक विषयताविशेष ही लौकिक विषयता है। अत: जहां 'इदं रजतम्" इत्यादि में इदं पदार्थ और रजत के तादात्म्य का अवभास होता है, वहां लौकिकी विशेषणता होती है। ऐसे स्थलों में नव्य लोग भी दोष को ही प्रयोजक मानते हैं, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति को नहीं मानते)।

शंका— रजत का अध्यास स्वीकृत होने पर रजततादात्म्य का अध्यास भी आवश्यक है, किन्तु रजताध्यास ही क्यों माना जाय? क्योंकि भ्रम स्थल में देशान्तरस्थ रजतादिनिष्ठ रजतत्वादि धर्म के संसर्ग का आक्षेप किया जाता है। और उतने मात्र से "इदं रजतम्" यह प्रतीति तथा 'नेदं रजतम्" यह बाध दोनों ही हो सकते हैं। इसलिये किस कारण रजत और रजत तादात्म्य का अध्यास कहा जाता है?

समाधान— ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि भ्रमदेश में रजतोत्पत्ति माने बिना " यहां रजतत्व का साक्षात्कार करता हूं" इत्यात्मक ज्ञान का निर्वाह नहीं होता। कारण कि देशान्तर में स्थित रजत में अन्त:करण से अवच्छिन्न साक्षात्काररूप चित् के तादात्म्य (विषयत्व) का अभाव होने से देशान्तरस्थ रजतनिष्ठ रजतत्वादि में भी अन्त:करणावच्छिन्नचिद्विषयत्व नहीं हो सकता।

शंका— इस साक्षात्कार की सिद्धि के लिये रजतत्वादि की ही उत्पत्ति हो, न कि रजतत्वादिवद्रजत की उत्पत्ति।

समाधान— ऐसा भी कहना नहीं चाहिये, क्योंकि अनेक धर्मों की उत्पत्तिकल्पना की अपेक्षा एक ही धर्मी की उत्पत्तिकल्पना में लाघव है (तब तो धर्मिगत धर्मों का भी अविनाभाव से सहजत्व होने के कारण मनोऽवच्छिन्नचिद्विषयत्व हो जायेगा)। और देशान्तरस्थरजतनिष्ठ रजतत्वादि की अन्यत्र उत्पत्ति असम्भव होने से अखण्ड (अर्थात् अतिरिक्त) रजतत्वादि की उत्पत्ति होने पर उस रजतत्वादि के पूर्वकाल में अनुभव न होने के कारण पूर्व में अनुभूतरजतत्वादि प्रकारक प्रवृत्त्यादिरूप कार्य भ्रम स्थल में असम्भव हो जायेगा। (तब तो वह रजतत्व प्रातिभासिक और

लघुचन्द्रिका

जानामि' 'घटं सन्तं जानामि' इत्याकारद्वयानुभवात् तादृशभ्रमस्य विषयविशिष्टस्य बाधकप्रत्ययेन श्रुत्यनुमानादिना च मिथ्यात्वप्रत्ययाच्च, सदवच्छेदेन घटादिकं तत्तादात्म्यं घटत्वादिसंसर्गश्च, घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्यं सत्त्वादिधर्मसंसर्गश्च जायते; केवलस्य सतोऽसम्बद्धत्वेऽपि तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहितरूपेण तस्य तत्सम्बद्धत्वेनावच्छेदकत्वम्।

नच—एकस्यैवानादेः सत्तादात्म्यस्याविद्यायामिव घटादावपि सम्भवाद् घटाद्य- वच्छेदेनानन्तसत्तादात्म्यानामुत्पत्तौ न मानमिति—वाच्यम्; सत्तादात्म्यं हि चिद्रूपज्ञानस्य विषयतारूपतादात्म्यम्; तथा च कपालादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्येनावच्छिन्नस्य— घटादिनिष्ठविषयतारूपस्य सत्तादात्म्यस्य तन्त्वादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्यावच्छिन्नेन पटादिनिष्ठविषयतारूपेण सत्तादात्म्येनाभेदासम्भवादवच्छेदकभेदेन सत्तादात्म्यानां भेदस्यावश्यकत्वेनानन्त्यं प्रामाणिकम्। नहि तार्किकादिभिरपि तत्तद्विषयतावच्छिन्न- विषयतानामैक्यमुच्यते। तेषां च संयोगादिवदेवोक्तरीत्या जन्यत्वमपि। तस्मादाकारद्वयानुभवाद्

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

व्यावहारिक दोनों रजतों में साधारण होना चाहिये)। अतः इदमादितादात्म्य की रजताद्यवच्छेद से उत्पत्ति प्रातीतिक भ्रमस्थल में अवश्य कहनी होगी। तब तो इस पूर्वोक्त दृष्टान्त के समान प्रकृत व्यावहारिक घटादि के भ्रमस्थल में भी "सन्तं घटं जानामि" इस अनुव्यवसाय में सद्विषयतावच्छिन्न घटतादात्म्यविषयत्व, और "घटं सन्तं जानामि" इसमें घटविषयातावच्छिन्न सत्तादात्म्यविषयत्व इस आकार द्वय के अनुभव होने से और "सन् घटः" "घटः सन्" इस प्रकार विषयविशिष्ट भ्रम के बाधकज्ञान, श्रुति और अनुमानादि से मिथ्यात्व का निश्चय होने से सत् के अवच्छेद से घटादिक, घटादितादात्म्य और घटत्वादिका संसर्ग उत्पन्न होते हैं तथा घटादि के अवच्छेद से सत्तादात्म्य और सत्त्वादि धर्म का संसर्ग उत्पन्न होते हैं।

शंका— सद्रूप ब्रह्म घटादि का अधिष्ठान है, वह ब्रह्म किस प्रकार घटादि का अवच्छेदक हो सकता है, क्योंकि अधिष्ठान अध्यस्त से असंबद्ध होने के कारण अवच्छेद्य का सद्ब्रह्म अधिकरण नहीं हो सकता।

समाधान — इसमें उत्तर देते हैं— केवल सद्रूप ब्रह्म किसी के साथ असबंद्ध होने पर भी घटादितादात्म्य के प्रतियोगित्व (निरूपकत्व) अर्थात् अनुयोगित्व से उपहितरूप से उसका (सत् का) घटाद्यवच्छेद्य के साथ संबद्धत्व होने से अवच्छेदकत्व है।

शंका— (जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।। — इस वेदान्तियों की उक्ति के अनुसार) एक ही अनादि सत्तादात्म्य का जिस प्रकार अविद्या में सद्भाव है, उसी प्रकार घटादि में संभव होने से घटाद्यवच्छेद से अनन्त सत्तादात्म्यों की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं।

समाधान— ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि सत्तादात्म्य चिद्रूपज्ञान का विषयतारूप तादात्म्य है, तब तो कपालादि निष्ठ विषयतारूपसत्तादात्म्य से अवच्छिन्न घटादिनिष्ठविषयतारूप सत्तादात्म्य का तन्त्वादिनिष्ठविषयतारूप सत्तादात्म्य से अवच्छिन्न पटादिनिष्ठ विषयतारूप सत्तादात्म्य के साथ अभेद असंभव होने से अवच्छेदक भेद से सत्तादात्म्यों का भेद आवश्यक होने के कारण सत्तादात्म्यों का अनन्तत्व प्रामाणिक ही है। तार्किक लोग भी कपाल तन्त्वादिनिष्ठविषयताओं से अवच्छिन्न घटपटादिनिष्ठ विषयताओं का ऐक्य नहीं कहते। और उन सत्तादात्म्यों का संयोगादि

लघुचन्द्रिका

भ्रमविषयत्वहेतुना मिथ्यात्वानुमितेः, 'सत्तादात्म्यमिदमादितादात्म्यञ्च यदि मिथ्या न स्यात्, तदा भ्रमविषयो न स्यात्; विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वप्रत्ययात्' इति तर्काच्चेदमादितादात्म्यमिव सत्तादात्म्यमपि मिथ्या। तदिदं सर्वं शारीरिक-संक्षेपशारीरक-पञ्चपादिकादिमूलकम्। उक्तं हि शारीरके 'अन्योन्यस्मि-न्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्याहमिदं ममेदमिति व्यवहार' इति। अन्योन्यस्मिन्= परस्परावच्छेदेन। उक्तञ्च संक्षेपशारीरके- (सं. शा. १/३४/३७/३८).

'इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्विदमि।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव।।
इतरेतराध्यसनमेव ततश्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम्।
रजतभ्रमादिषु तथावगमान्नहि कल्पना गुरुतरा घटते।।
अनुभूति-युक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनमेव ततः।
चिति-चेत्यवस्तुयुगलस्य, न चेत् त्रितयस्य बाधनमिहापतति।।' इति।

अस्य=इदमर्थस्य। न यदीत्यादि। यदीदमर्थो न कल्पितः, तदा भ्रमे न स्फुरेत्।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

के समान उक्त रीति से (अर्थात् प्रतियोगिता संबन्ध से व्यावहारिक प्रतियोगिक प्रातीतिकतादात्म्य की उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व संबन्ध से स्वपरिणामाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट अज्ञान हेतु होने से) जन्यत्व भी है। अतः इस प्रकार आकारद्वय के अनुभव होने से, भ्रमविषयत्वरूप हेतु से मिथ्यात्व की अनुमिति से तथा "सत्तादात्म्य और इदमादि तादात्म्य यदि मिथ्या नहीं होता, तब तो भ्रम का विषय भी नहीं होता, किन्तु भ्रम विषय तो होता है, इसलिये विषयविशिष्ट भ्रम में मिथ्यात्व का ज्ञान होता है" इस तर्क से इदमादितादात्म्य के समान सत्तादात्म्य भी मिथ्या सिद्ध होता है।

परस्पराध्यासादि यह सब शारीरक भाष्य, संक्षेप शारीरक, पञ्चपादिका मूलक है। क्योंकि शारीरक भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है- आत्म और अनात्म दोनों में परस्पर के अवच्छेद से परस्परात्मकत्व और परस्पर धर्मों का अध्यास करके "यह मैं हूं" " यह मेरा है" इत्यादि व्यवहार है। अन्योन्यस्मिन् का " परस्परावच्छेद से " यह अर्थ है। और संक्षेप शारीरक में भी सर्वज्ञमुनि ने कहा है- इदमर्थभूत वस्तु भी रजतावच्छेद से परिकल्पित होती है, और रजतरूप वस्तु भी इदमर्थावच्छेद से परिकल्पित होती है। (इस में इदमर्थ में रजताध्यास तो लोकप्रसिद्ध होने के कारण उसको छोड़कर रजत में इदमर्थ के अध्यास का प्रतिपादन युक्ति से करते हैं)- इदमर्थ रजत में इसलिये अध्यस्त है कि उसका (इदमर्थ का) रजतभ्रम में परिस्फुरण होता है, यदि इदमर्थ रजत में कल्पित नहीं है तो निश्चय ही उसका स्फुरण नहीं होना चाहिये, जैसे शुक्तित्वविशिष्ट शुक्ति का स्फुरण नहीं होता है। ("इदं रजतम्" इसमें परस्पराध्यास का दृष्टान्त कहकर अब दार्ष्टान्तिक आत्मानात्माध्यास को कहते हैं)- इस कारण अर्थात् दृष्टान्त में परस्पराध्यास होने के कारण सद्रूपचित् और घटादिदृश्यरूप चैत्य दोनों का भी परस्पराध्यास होना उचित नहीं है। क्योंकि रजतभ्रमादि में वैसा ही परस्पराध्यास जाना जाता है। इसलिये आत्मा में अनात्मा का अध्यासमात्र न मानकर अनात्मा में भी आत्मा के अध्यास की कल्पना गुरुतर नहीं हो सकती। इस कारण चित् और चैत्यवस्तु दोनों का परस्पराध्यास अनुभूति, युक्ति और अनुमिति

लघुचन्द्रिका

शुक्तिरिव= शुक्तित्वविशिष्टमिवेत्यर्थः। इतरेतराध्यसनम्=परस्परावच्छेदेनाध्यासः। गुरुतरेति। रजतादिभ्रमे यथा दृष्टम्, तद्विपरीता व्यावहारिकभ्रमस्थल एकस्यैवाध्यास उत्पत्तिश्चेति कल्पनाऽनुपस्थितविषयकत्वेन गुर्वी। आवश्यकानामनन्तसत्तादात्म्यानां विषयत्वरूपाणामनध्यस्तत्वे सत्यत्वापत्तेः, अद्वैतश्रुतिसङ्कोचापत्तेश्च। तेषामध्यस्तत्वेऽपि न जन्यत्वमिति स्वीकारे कपालादिनिष्ठविषयत्वावच्छिन्नानां घटादिनिष्ठविषयत्वानां पूर्वोक्तरीत्या कपालादिनाऽप्यवच्छिन्नत्वात्तादृशानित्यसाधारणेन कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूपेण संयोगादीनां कपालादिकार्यता न सम्भवति, इत्यतो जन्यत्वविशेषितेनोक्तरूपेण सा वाच्या। तथा चैतादृशगुरुतरकल्पनामूलकत्वेनैकस्यैवाध्या सोत्पादादिकल्पनागुरुतरेत्यर्थः। अनुभूतिः= आकारद्वयानुभूतिराद्यपद्यस्याऽऽद्यार्धे उक्ता। अनुमितिः= भ्रमविषयत्वहेतुका मिथ्यात्वानुमितिस्तृतीयचरणे। युक्तिः=तर्कः, चतुर्थचरणे। पञ्चपादिकायामप्युक्तम्—''यद्यनात्मन एवाध्यासः, तदा आत्मा न भ्रमे भासेत। तस्मादात्मानात्मनोर्द्वयोरप्यहमनुभवेऽध्यासः'' इति।

ननु—विप्रतिपत्तौ मिथ्यात्वविशेषस्यैव साध्यतयोक्तत्वान्यायप्रयोगेऽपि तस्यैव तदुचितम्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

तीनों से सिद्ध होता है, यदि परस्पराध्यास नहीं मानेंगे तो इन तीनों की बाधापत्ति आयेगी।

''रजतभ्रमेऽस्य'' इसमें ''अस्य'' का अर्थ ''इदमर्थ'' है। ''न यदि'' इत्यादि का अभिप्राय है— यदि रजत में इदमर्थ कल्पित नहीं होता है तो रजतभ्रम में इदमर्थ का स्फुरण नहीं होना चाहिये। तथा ''शुक्तिरिव'' का ''शुक्तित्वविशिष्ट के समान'' यह अर्थ है। ''इतरेतराध्यसनम्'' का अर्थ ''परस्परावच्छेद से अध्यास'' है। ''गुरूतरा'' इत्यादि का अभिप्राय है रजतादि भ्रम में जैसे देखा जाता है, उसके विपरीत यदि व्यावहारिक भ्रमस्थल में सत् का अध्यास न मानकर एक का ही (घटादिमात्र का ही) अध्यास और उत्पत्ति होती है— ऐसी कल्पना करना अक्लृप्त विषयक होने से गुरू है अर्थात् उसमें गौरव होता है, तथा विषयत्वरूप आवश्यक अनन्तसत्तादात्म्यों के अनध्यस्तत्व का स्वीकार करने पर सत्यत्व की आपत्ति और श्रुतिसंकोच की आपत्ति भी आ जाती है। उन सत्तादात्म्यों का अध्यस्तत्व होने पर भी जन्यत्व नहीं— इस प्रकार स्वीकार करने पर कपालादिनिष्ठ विषयत्व से अवच्छिन्न घटादिनिष्ठविषयत्व भी पूर्वोक्तरीति से अर्थात् संबन्ध के समान संबन्धी का भी अवच्छेदकत्व होने के कारण कपालादि से भी अवच्छिन्न होने से घटादिनिष्ठविषयतारूप अनादिसत्तादात्म्य के साथ साधारण होकर कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूप से संयोगादि की कपालादिकार्यता नहीं हो सकती; इसलिये जन्यत्व से विशेषित कपालाद्यवच्छिन्नत्व रूप से संयोगादि की कपालादिकार्यता कहनी चाहिये। तब तो इस प्रकार की गुरूतर कल्पना के सापेक्षत्व होने के कारण एक की ही अध्यासोत्पादादि कल्पना गुरूतर होती है— यह अर्थ है। अनुभूति का अर्थ आकारद्वय की अनुभूति है, जो प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध में कही गई है। अनुमिति का अर्थ ''भ्रमविषयकत्वहेतुक मिथ्यात्वानुमिति'' है, वह प्रथम श्लोक के तृतीय पाद में कही गयी है तथा युक्ति का अर्थ तर्क है, वह भी चतुर्थ पाद में कहा गया है। सुरेश्वराचार्य ने पञ्चपादिका में भी कहा है— ''यदि अनात्मा का ही अध्यास होता तो भ्रम में आत्मा भासित नहीं होना चाहिये। अतः आत्मा और अनात्मा दोनों का ही ''अहं'' इस अनुभव में अध्यास है''।

शंका — (अब ''विमतं मिथ्या'' इस प्रतिज्ञा में असङ्गति की शंका करते हैं)— विप्रतिपत्ति वाक्य में मिथ्यात्वविशेष का ही (अर्थात् प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व

लघुचन्द्रिका

ननु मिथ्यात्वसामान्यस्येति—चेत्, न ; विप्रतिपत्तावपि मिथ्यात्वस्य सामान्यरूपेणैव साध्यतायां तात्पर्यात्। तच्च सामान्यरूपं वक्ष्यमाणपञ्चविधमिथ्यात्वसाधारणं मिथ्याशब्दार्थत्वं मिथ्याशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वरूपम्, ननु पञ्चविधमिथ्यात्वानामन्यतमत्वम्; न्यायप्रयोग आधुनिकलक्षणया शब्दप्रयोगस्यासाम्प्रदायिकत्वात्। मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्याशब्देन मिथ्यात्वस्य बोधने निरूढलक्षणैव, नाधुनिकलक्षणा; 'वृक्षो महीरुहः' इत्यादौ कोशवाक्ये व्याख्यानवाक्ये च महीरुहादिपदस्य तदर्थपरत्वेन भूरिप्रयोगदर्शनात्।

इति लघुचन्द्रिकायां पक्षतावच्छेदकनिरुक्तिः।।

योगेन्द्रानन्दी लघुचन्द्रदीपिका

विशेष ही) साध्यरूप से उक्त होने के कारण अनुमान के प्रयोग में भी उस मिथ्यात्व विशेष का ही साध्यत्व होना उचित है। मिथ्यात्व सामान्य (वक्ष्यमाणपञ्चमिथ्यात्व लक्षण घटित मिथ्यात्व सामान्य) का तो उचित नहीं।

समाधान— वैसा नहीं, क्योंकि विप्रतिपत्तिवाक्य में भी सामान्य रूप से मिथ्यात्व की साध्यता में तात्पर्य हैं। और वह सामान्यरूप तो वक्ष्यमाण पञ्चविधमिथ्यात्व में साधारण और मिथ्या शब्द की प्रवृत्ति का निमित्तत्वरूप मिथ्याशब्दार्थत्व है, न कि पञ्चविध मिथ्यात्वों में अन्यतमत्व, क्योंकि अनुमान के प्रयोग में अर्वाचीनकालिक लक्षणा से शब्द का प्रयोग असांप्रदायिक है। और मिथ्या शब्द से मिथ्याशब्दार्थत्वरूप से मिथ्यात्व के बोधन में निरूढ़ लक्षणा ही है, उसमें आधुनिक लक्षणा नहीं। क्योंकि ''वृक्षो महीरूहः'' इत्यादि कोश वाक्य में और व्याख्यानवाक्य में ''महीरूह'' आदि पद का वृक्षार्थपरक होकर अनेक प्रयोग देखने में आते हैं।

।। इति लघुचन्द्रिकायां पक्षतावच्छेदकनिरुक्ते राष्ट्रभाषायामनुवादः।।



२ : प्रथममिथ्यात्वविचारः

ननु किमिदं मिथ्यात्वं साध्यते? न तावत् 'मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः' इति पञ्चपादिकावचनात् सदसत्वानधिकरणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वम्। तद्धि किं असत्त्वविशिष्ट-सत्त्वाभावः? उत सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपं धर्मद्वयम्। आहोस्वित् सत्त्वात्यन्ता-भाववत्त्वे सति असत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टम्? नाद्यः, सत्त्वमात्राधारे जगत्यसत्त्वविशिष्ट-सत्त्वानभ्युपगमात्, विशिष्टाभावसाधने सिद्धसाधनात्। न द्वितीयः, सत्त्वासत्त्वयोरेकाभावेऽ-परसत्त्वावश्यकत्वेन व्याघातात्, निर्धर्मकब्रह्मवत् सत्त्वासत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वेनाऽमिथ्या-त्वोपपत्त्याऽर्थान्तराच्च। शुक्तिरूप्येऽबाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेकस्य सत्त्वेऽपि बाध्यत्वरूपा-सत्त्वस्य व्यतिरेकासिद्ध्या साध्यवैकल्याच्च। अत एव न तृतीयः, पूर्ववद् व्याघातात्, अर्थान्तरात्साध्यवैकल्याच्चेति चेत्, मैवम्, सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूप-धर्मद्वयविवक्षयां दोषाभावात्। न च व्याहतिः, सा हि सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – अनुमान में मिथ्या शब्दार्थ रूप कौन सा यह मिथ्यात्व साध्यरूप से निर्दिष्ट किया गया है? "मिथ्याशब्द अनिर्वचनीयता का वाचक है" इस पंचपादिकाकार के वचन से "सत्त्व और असत्त्व का अनधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व" तो हो नहीं सकता। क्या वह सदसत्वानधिकरणत्वरूपमिथ्यात्व असत्त्वविशिष्ट अर्थात् असत्त्वसमानाधिकरणक सत्त्व का अत्यन्ताभावरूप है? अथवा सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्मद्वय है? अथवा सत्त्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणक असत्त्वात्यन्ताभावरूप विशिष्ट धर्म है? आद्य नहीं हो सकता, क्योंकि माध्वमत में सत्त्वमात्र के अधिकरण जगत् में असत्त्वसमानाधिकरणक सत्त्व नहीं माना जाता, और असत्त्वविशिष्ट सत्त्वाभाव के साधन में विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव मान कर सिद्धसाधन हो जाता है। द्वितीय भी नहीं, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व इन दोनो में परस्पराभावरूपत्व होने से एक के अभाव होने पर दूसरे का सत्त्व (अस्तित्व) आवश्यक होने से व्याघात होता है; और वेदान्तिमत में जिस प्रकार निर्धर्मक (निर्गुण) ब्रह्म सत्त्व और असत्त्व से रहित होने पर भी सद्रूप और अमिथ्या माना जाता है, उसी प्रकार जगत् भी सत्त्व और असत्त्व से रहित होता हुआ सद्रूप और अमिथ्या हो सकता है; अतः सदसत्त्वानधिकरणत्वरूपमिथ्यात्व प्रकृत में अनुपयुक्त है, और शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में ("अबाध्यत्वं सत्त्वम्" इस लक्षण के अनुसार) अबाध्यत्वरूप सत्त्व के अभाव होने पर भी ("बाध्यत्वं असत्त्वम्" – इस लक्षण के अनुसार) बाध्यत्वरूप असत्त्व के अभाव सिद्ध न होने से साध्यवैकल्य (दृष्टान्त में साध्यरहितत्व) है। इसलिये तृतीय भी नहीं, क्योंकि द्वितीय विकल्प के जैसे उसमें भी व्याघात, प्रकृतानुपयुक्तत्वरूप अर्थान्तर और साध्यवैकल्य होते हैं।

समाधान – वैसा नहीं होगा; क्योंकि द्वितीयविकल्पोक्त सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्मद्वय की विवक्षा होने पर दोषों का अभाव होता है। उसमें व्याहति (व्याघात) नहीं होगी। क्या वह व्याहति – सत्त्व और असत्त्व की परस्पर विरहरूपता (सत्त्व का अभाव असत्त्व और असत्त्व का अभाव सत्त्व) होने से है? अथवा परस्पर विरहव्यापकता (सत्त्वाभाव का व्यापक असत्त्व और असत्त्वाभाव का व्यापक सत्त्व) होने से है? अथवा परस्पर

वा? परस्परविरहव्यापकतया वा? परस्परविरहव्याप्यतया वा? तत्र नाद्यः, तदनङ्गीकारात्। तथा ह्यत्र त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेको नासत्त्वम्, किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्त्वानधिकरणत्वम्। तद्व्यतिरेकश्च साध्यत्वेन विवक्षितः। तथा च त्रिकालाबाध्यविलक्षणत्वे सति क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साध्यं पर्यवसितम्। एवं च सति न शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि। बाध्यत्वरूपासत्त्वव्यतिरेकस्य साध्याप्रवेशात्। नापि व्याघातः, परस्परविरहरूपत्वाभावात्। अत एव न द्वितीयोऽपि, सत्त्वाभाववति शुक्तिरूप्ये विवक्षितासत्त्वव्यतिरेकस्य विद्यमानत्वेन व्यभिचारात्। नापि तृतीयः, तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वात्, गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि तदभावयोरुष्ट्रादावेकत्र सहोपलम्भात्। यच्च निर्धर्मकस्य ब्रह्मणः सत्त्वासत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्ववत्प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वेनामिथ्यात्वोपपत्त्याऽर्थान्तरमुक्तम्। तन्न, एकेनैव सर्वानुगतेन सत्त्वेन सर्वत्र

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विरह व्याप्यता (सत्त्वाभाव का व्याप्य असत्त्व और असत्त्वाभाव का व्याप्य सत्त्व) होने से है? उनमें आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अंगीकार नहीं किया जाता (अर्थात् प्रकृत मिथ्यात्व के लक्षण में निवेशनीय सत्त्व और असत्त्व में परस्परविरहरूपत्व का अंगीकार नहीं किया जाता)। तथाहि — इस लक्षण में — त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व का व्यतिरेक (अभाव) असत्त्व नहीं, किन्तु कहीं भी किसी अधिकरण में सद्रूप से प्रतीयमानत्व (अर्थात् सत्तादात्म्यवत्त्व) का अनधिकरणत्व ही असत्त्व है, और उस असत्त्व का अभाव (अर्थात् तादृशासत्वविलक्षणत्व) साध्यरूप से यहां विवक्षित हैं। तब तो त्रिकालाबाध्य से विलक्षणत्व होने पर कहीं भी किसी अधिकरण में सद्रूप से प्रतीयमानत्वरूप साध्य पर्यवसित होता है, और इस प्रकार का साध्य मानने पर शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में साध्यवैकल्य भी नहीं हुआ, क्योंकि बाध्यत्वरूप असत्त्व के अभाव का साध्य में प्रवेश नहीं है, और व्याघात भी नहीं, कारण कि — सत्त्व और असत्त्व में परस्पर विरहरूपत्व का अभाव है। इस प्रकार परस्परविरहरूपत्व के अभाव होने से द्वितीय विकल्प (परस्परविरहव्यापकत्वेन व्याहति) भी नहीं; क्योंकि सत्त्वाभाव वाले शुक्तिरूप्य में विवक्षित (अर्थात् — कहीं भी किसी उपाधि में सत्त्वेन प्रतीयमानत्वाऽनधिकरणत्वरूप) असत्त्व का अभाव विद्यमान होने से व्यभिचार है ("यत्रसत्त्वाभावः, तत्राऽसत्त्वम्" इस व्याप्ति में शुक्तिरूप्य में सत्त्वाभाव है, किन्तु पूर्वोक्त विवक्षित असत्त्व नहीं, अतः व्यभिचार है) और तृतीय विकल्प (परस्पर विरहव्याप्यत्वेन व्याहति) भी नहीं; क्योंकि परस्परविरहव्याप्यत्व व्याघात का प्रयोजक नहीं होता ("यत्राऽसत्त्वं तत्र सत्त्वाभावः", तथा "यत्र सत्त्वं तत्राऽसत्त्वाभावः" ये व्याप्ति व्याघात की प्रयोजिका नहीं हो सकती। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं) — गोत्व और अश्वत्व में परस्पर विरहव्याप्यत्व होने पर भी गोत्वाभाव और अश्वत्वाभाव दोनों का उष्ट्रादि एक ही अधिकरण में सहोपलम्भ होता है। "यत्र गोत्वं तत्र अश्वत्वाभावः", तथा "यत्र अश्वत्वं तत्र गोत्वाभावः" ये व्याप्ति जिस प्रकार व्याघात की प्रयोजिका नही;) उसी प्रकार सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव दोनो का सहोपलम्भ शुक्तिरूप्यादि में हो सकता है। जो कहा था कि निर्धर्मक ब्रह्म सत्त्व और असत्त्व से रहित होने पर भी जिस प्रकार सद्रूप होता है, उसी प्रकार प्रपंच भी सद्रूप होकर अमिथ्या होना संभव होने से प्रकृतानुपयुक्तत्वरूप अर्थान्तर है; वह नहीं हो सकता; क्योंकि एक ही सर्वानुगत सद्रूप ब्रह्म से घट पटादि सब में "घटःसन्" "पटःसन्" इस प्रकार सत्प्रतीति के सम्भव होने पर

सत्प्रतीत्युपपत्तौ ब्रह्मवत् प्रपञ्चस्य प्रत्येकं सत्स्वभावताकल्पने मानाभावात्, अनुगतव्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च। सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं वा साध्यम्। तथा च (प्रपञ्चस्य) उभयात्मकत्वेऽन्यतरात्मकत्वे वा, तादृग्भेदासम्भवेन ताभ्यामर्थान्तरानवकाशः। न चासत्त्वव्यतिरेकांशस्यासद्भेदस्य च प्रपञ्चे सिद्धत्वेनांशतः सिद्धसाधनमितिवाच्यम्, 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वादिति' भेदाभेदवादिप्रयोगे तार्किकाद्यङ्गीकृतस्य भिन्नत्वस्य सिद्धावपि उद्देश्यप्रतीत्यसिद्धेर्यथा न सिद्धसाधनम्, तथा प्रकृतेऽपि मिलितप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्न सिद्धसाधनम्। यथा च तत्राभेदे (तत्त्वाभेदे) घटः कुम्भ इति सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनेन मिलितसिद्धिरुद्देश्या, तथा प्रकृतेऽपि सत्त्वरहिते तुच्छे दृश्यत्वादर्शनेन मिलितस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ब्रह्म की जैसे प्रपंच के प्रत्येक घट–पटादि की सत्स्वभावता (सत्स्वरूपता) की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं; और प्रत्येक की सत्स्वरूपता मानी जाय तो सत्त्वेन अनुगतव्यवहार के अभाव का प्रसंग भी होगा। (सत्प्रतियोगिक और असत्प्रतियोगिक अत्यन्ताभाव रूप धर्मद्वय को मिथ्यात्व मानने में अर्थान्तर मान भी लिया जाय, तो भी) सत्प्रतियोगिक और असत्प्रतियोगिक भेदद्वयरूप मिथ्यात्व साध्य होने पर अर्थान्तर नहीं हो सकता; क्योंकि प्रपंच में सदसदात्मकत्व अथवा सदसदन्यतरात्मकत्व मानने वालों के पक्ष में सत्प्रतियोगिक और असत्प्रतियोगिक भेदद्वय के असंभव होने से उभयात्मकत्व और अन्यतरात्मकत्व के द्वारा अर्थान्तर होने का अवकाश नहीं रहता। {"भ्रमविषयीभूतालीक संसर्गविशिष्टरूपेण प्रपंचोऽलीकः, रूपान्तरेण तु (प्रमाविषयीभूतसत्यसंसर्गविशिष्टरूपेणतु) सत्यः" इस न्यायवार्तिक तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति से उक्त उभयात्मकत्व पक्ष है; "भ्रमविषयोऽपि संसर्गो देशान्तरस्थत्वात् सत्यः" इस प्रकार प्रपंच का सत्यत्व पक्ष तथा "ज्ञानातिरिक्तरूपेणाऽलीक एव प्रपंचो विकल्पविषयः" इस प्रकार असत्यत्व पक्ष ये दोनों अन्यतरात्मकत्व पक्ष हैं।}

शंका – साध्यकोटि में निविष्ट असत्त्वात्यन्ताभावांश और असत्प्रतियोगिक भेद ये दोनो प्रपंच में सिद्ध होने से अंशतः सिद्धसाधन है।

समाधान – ऐसा कहना अयुक्त है; क्योंकि "गुण, क्रिया, जात्यादि – गुणी, क्रियावान्, व्यक्त्यादि से भिन्नाभिन्न है, कारण कि इनमें अभेदसंसर्गकधीविषयतायोग्यत्व है (अर्थात् – तादात्म्यसंसर्गकप्रमाविषयता योग्यत्व है)" इत्यादि भेदाभेदवादियों के (भाट्ट मीमांसकसांख्यादियों के) अनुमानप्रयोग में तार्किकादि से अंगीकृत गुणगुण्यादि में भिन्नत्वरूप साध्यैकदेश सिद्ध होने पर भी उक्तप्रयोग की तात्पर्य विषयीभूत भेदाभेदोभयवत्त्वप्रतीति की असिद्धि होने से जिस प्रकार सिद्धसाधन नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में भी सत्त्वासत्त्वोभयात्यन्ताभाव या सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वय की मिलित होकर प्रतीति ही उद्देश्य होने से सिद्धसाधन नहीं होगा।

शंका – प्रकृतानुमान में सद्भिन्नत्वमात्र साध्य करें, असद्भिन्नत्व मिलाने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि दृश्यत्व हेतु सदन्य सब में होने से सद्भिन्नत्वमात्र ही दृश्यत्व का उपपादक है। इस के समाधान में आगे कहते हैं– भेदाभेद के अनुमान में अभेदमात्र साध्य करके गुणगुण्यादि में स्वरूपतः अत्यन्ताभेद मानने पर "घटः कुम्भः" इस प्रकार सामानाधिकरण्य अर्थात् समानविभक्त्यन्तपद प्रतिपाद्यत्व (भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति एकार्थप्रतिपादकत्वं सामानाधिकरण्यम्) की प्रतीति के अदर्शन होने से "नीलो घटः" इत्यादि का प्रयोग नहीं होगा;

तत्प्रयोजकतया मिलितसिद्धिरुद्देश्येति समानम्। अत एव सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वा-त्यन्ताभावरूपं विशिष्टं साध्यमित्यपि साधु । न च मिलितस्य विशिष्टस्य वा साध्यत्त्वे तस्य कुत्राप्यप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धविशेषणत्वम्, प्रत्येकं प्रसिद्ध्या मिलितस्य विशिष्टस्य वा साधने, शशशृङ्गयोः प्रत्येकं प्रसिद्ध्या शशीयशृङ्गसाधनमपि स्यादिति वाच्यम्, तथाविधप्रसिद्धेः शुक्तिरूप्य एवोक्तत्वात्। न च निर्धर्मकत्वाद् ब्रह्मणः सत्त्वासत्त्वरूपधर्मद्वयशून्यत्वेन तत्रातिव्याप्तिः, सद्रूपत्वेन ब्रह्मणः तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वात् निर्धर्मकत्वेनैवाभावरूप-धर्मानधिकरणत्वाच्चेति दिक्।

इति सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वविचारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसलिये जिस प्रकार उसमें भेदाभेद की मिलितसिद्धि उद्देश्य है, उसी प्रकार प्रकृत में भी सत्त्व से रहित तुच्छ में दृश्यत्व न होने से सद्भेदासद्भेदोभयत्वविशिष्ट ही दृश्यता के उपपादक होने के कारण सद्भेदासद्भेद मिलितसिद्धि ही उद्देश्य है। इस प्रकार दोनों में समानता है। अतएव — सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वविशिष्ट असत्त्वाऽत्यन्ताभावरूप विशिष्ट साध्य भी ठीक ही है।

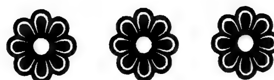
शंका — चाहे मिलित सत्त्वासत्त्वोभयाभाव को साध्य करे, या सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभावरूपविशिष्ट को, तो भी ये दोनों कहीं भी किसी अधिकरण में अप्रसिद्ध होने से पक्ष का अप्रसिद्धविशेषणत्व (अप्रसिद्धसाध्यत्व) होगा और प्रत्येक की प्रसिद्धि से मिलित या विशिष्ट का साधन करने पर तो शश और शृंग में भी प्रत्येक की प्रसिद्धि होने से शशसंबंधी शृंग का साधन भी होगा।

समाधान — ऐसा कहना अनुचित है; क्योंकि मिलित अथवा विशिष्ट की प्रसिद्धि शुक्तिरूप्य में ही उक्त हो चुकी है।

शंका — निर्धर्मक होने के कारण ब्रह्म सत्त्व और असत्त्व रूप धर्मद्वय से रहित है; अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी।

समाधान — नहीं, क्योंकि ब्रह्म सद्रूप होने से सत्त्वात्यन्ताभाव का अधिकरण नहीं हो सकता, और निर्धर्मकत्व होने से ही अभावरूप धर्म का भी अधिकरण नहीं हो सकता। इस विषय में विचार इतना ही पर्याप्त है।

इति सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वविचारस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



३: अथ द्वितीयमिथ्यात्वोपपत्तिः

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्। ननु प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वेऽद्वैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनम्, व्यावहारिकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधितयाऽर्थान्तरमद्वैतश्रुतेरतत्त्वावेदकत्वञ्च, तत्प्रतियोगिनोऽ-प्रातिभासिकस्य प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वञ्च स्यादिति चेत्, न, प्रपञ्चनिषेधाधिकरणी-भूतब्रह्माभिन्नत्वान्निषेधस्य तात्त्विकत्वेऽपि नाद्वैतहानिकरत्वम्। न च तात्त्विकाभावप्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वापत्तिः, तात्त्विकाभावप्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते व्यभिचारात्। अतात्त्विक एव वा निषेधोऽयम्। अतात्त्विकत्वेऽपि न प्रातिभासिकः, किन्तु व्यावहारिकः। न च तर्हि निषेधस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वादर्थान्तरमिति वाच्यम्, स्वाप्नार्थस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

''नेह नानास्ति किंचन'' (बृ. ४/४/१९) इस श्रुति के वेदान्त्यभिमत अर्थ में अर्थात् ''द्वैतवत् ब्रह्म में द्वैतकालावच्छेद से द्वैत नहीं'' इस अर्थ में विवदमान् लोगों के प्रति साध्यान्तर का प्रतिपादन करते हैं—अथवा; स्वाश्रयत्वेन ज्ञात यावदधिकरण में या स्वप्रकारकधी के विशेष्यभूत अधिकरण में त्रैकालिकात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है। {यहां स्वपद से मिथ्यात्वेन अभिमत कल्पित पदार्थ का ग्रहण करना चाहिये। जैसे ''इदं रजतम्'' इसमें रजतविशेषणकधी का विशेष्य इदं पदार्थ है, उसमें ''नेदं रजतम्'' इस प्रकार त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी रजत है; अतः वह मिथ्या है। वैसा ही ''द्वैतवत् ब्रह्म'' इसमें द्वैतरूपप्रपंच विशेषणकधी का विशेष्य ब्रह्म है, उसमें ''नेह नानास्ति किंचन'' इस प्रकार त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी द्वैतप्रपंच है; अतः उसका मिथ्यात्व सिद्ध होता है।}

शंका — प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठ त्रैकालिकात्यन्ताभाव यदि तात्त्विक (पारमार्थिक) है तो उससे अद्वैत की हानि होगी, यदि प्रातिभासिक है तो सिद्धसाधन है, और वह यदि व्यावहारिक है तो बाध्य होने से प्रपंचनिष्ठ तात्त्विकसत्य के अविरोधी होने के कारण प्रकृत में अनुपयुक्त (अर्थान्तर) ही होगा। इसके अतिरिक्त ''नेह नाना'' इत्यादि श्रुति का बाध्यविषयकत्वरूप अतत्त्वावेदकत्व होगा, तथा उस व्यावहारिकात्यन्ताभाव के प्रतियोगी अप्रातिभासिक प्रपंच का भी परमार्थिकत्व होगा।

समाधान — ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि प्रपंचनिषेध के अधिकरणीभूत ब्रह्मस्वरूप से निषेध (अत्यन्ताभाव) अत्यन्त अभिन्न होने से उसके तात्त्विकत्व होने पर भी अद्वैत का हानिकरत्व नहीं, और तात्त्विकाभाव के प्रतियोगी प्रपंच के तात्त्विकत्व की आपत्ति भी नहीं होगी; क्योंकि ''नेदं रजतम्'' इस तात्त्विकनिषेध के प्रतियोगी शुक्तिरूप्यादि कल्पित पदार्थ में ''यः तात्त्विकत्वाभावप्रतियोगी, स तात्त्विकः'' इस व्याप्ति का व्यभिचार है। अथवा — यह निषेध (अत्यन्ताभाव) अतात्त्विक ही है। तो भी वह प्रातिभासिक नहीं, किन्तु व्यावहारिक है।

शंका — तब तो उस निषेध में बाध्यत्व होने से तात्त्विकसत्त्व के अविरोधित्व होने के कारण अर्थान्तर है।

समाधान — ऐसा कथन अनुचित है; क्योंकि स्वप्न में आरोपित गजादि के स्वप्न में ही आरोपित निषेध से बाध देखने के कारण निषेध का बाध्यत्व पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्व में व्याप्य

स्वाप्ननिषेधेन बाधदर्शनात्। निषेधस्य बाध्यत्वं पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे न तन्त्रम्, किन्तु निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वम्, प्रकृते च तुल्यसत्ताकत्वात् कथं न विरोधित्वम्? न च निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्, तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्वमायाति यत्र निषेधस्य निषेधबुद्ध्या प्रतियोगिसत्वं व्यवस्थाप्यते, निषेधमात्रं निषिध्यते, यथा रजते 'नेदं रजतम्'इति ज्ञानानन्तरम् 'इदं नारजतम्'इति ज्ञानेन रजतं व्यवस्थाप्यते। यत्र तु प्रतियोगिनिषेधयोरुभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिसत्त्वम्, यथा ध्वंससमये प्रागभावप्रतियोगिनोरुभयोर्निषेधे। एवञ्च प्रकृतेऽपि निषेधबाधकेन प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य निषेधस्य च बाधनान्न निषेधस्य बाध्यत्वेऽपि प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वम्, उभयोरपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं हो सकता (यत्र निषेधस्य बाध्यत्वम्, तत्र पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वम्। यह व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वप्नपदार्थ में व्यभिचार होता है। किन्तु निषेध का निषेध्य की अपेक्षा से न्यूनसत्ताकत्व ही पारमार्थिक सत्त्वाविरोधित्व में व्याप्य है। (यत्र निषेधस्य निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वम्, तत्र पारमार्थिकसत्वाविरोधित्वम्'' यह व्याप्ति है। जैसे व्यावहारिक रजत में भ्रम से ''नेदं रजतम्'' यह निषेध हुआ। यह निषेध निषेध्य व्यावहारिक रजत की अपेक्षा न्यूनप्रातिभासिकसत्ताक होने से व्यावहारिकरजतसत्त्व का अविरोधी है)। प्रकृत में तो निषेध और निषेध्य में तुल्य व्यावहारिक सत्ताकत्व होने से क्यो विरोधित्व नहीं होगा? और ''नेह नाना'' इत्यादि से बोधित प्रपंचात्यन्ताभावरूप निषेध के प्रकृत अनुमान के द्वारा निषेध करने पर प्रतियोगी प्रपंच की अधिक सत्त्वापत्ति है — ऐसा भी कहना नहीं चाहिये; क्योंकि वहां ही निषेध के निषेध करने पर अर्थात् प्रतियोग्यभाव का अभावबोधक प्रमाण होने पर प्रतियोगी का स्वाभावसत्ता की अपेक्षा अधिकसत्ताकत्व सिद्ध होता है, जहां निषेध अर्थात् स्वाभाव की निषेधबुद्धि (अभावबुद्धि) से प्रतियोगी का अमिथ्यात्व प्रमित होता है और निषेधमात्र (स्वाभावमात्र) मिथात्वेन निश्चित होता है। जैसे व्यावहारिक रजत में ''नेदं रजतम्'' ऐसा भ्रम ज्ञान होने के बाद ''इदं नाऽरजतम्'' इस ज्ञान से रजत प्रमित हो जाता है, और जहां प्रतियोगी और उस का अभाव दोनों का मिथ्यात्वनिश्चय होता है, वहां प्रतियोगी का निषेध की अपेक्षा से अधिक सत्ताकत्व नहीं होता। जैसे कि ध्वंसकालावच्छेदेन कपालादि में घटादिका प्रागभाव और उसके प्रतियोगी घटादि दोनों का निषेध करने पर प्रतियोगी घटादि का सत्त्व अर्थात् अमिथ्यात्व नहीं होता। {प्रकृत अत्यन्ताभाव के लिये प्रागभाव का दृष्टान्त अयुक्त समझकर लघुचन्द्रिकाकार ने ''यथाध्वंससमये'' इत्यादि वाक्य की अन्य प्रकार से व्याख्या की है — पहले अज्ञात अर्थात् निषेधधी के पहले आरोपित प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव और उसका प्रतियोगी (क्योंकि आरोपित प्रातिभासिक पदार्थ प्रतीतिकालमात्र में उत्पन्न होने से उत्पत्ति के पहले अज्ञात होता है, दोनों के ध्वंस के अधिकरण में निषेध करने पर प्रतियोगी का पारमार्थिकत्व नहीं होता। कारण कि प्राचीन नैयायिकों के मत में ध्वंसाधिकरणकपालादि में व्यावहारिक अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता, किन्तु उसका आरोप तो हो सकता है। इसीलिये ''इदं कपालं घटवन्न वा? ऐसा किसी को संशय होने पर उस कपाल में आरोपित घटात्यन्ताभाव और उसका प्रतियोगी दोनो का ''अत्र घटस्तदत्यन्ताभावश्च नास्ति'' ऐसा निषेध हो सकता है। यहां पर घटात्यन्ताभाव का निषेध होता है — एतावता घट का पारमार्थिकत्व नहीं होता।} इसी प्रकार प्रकृत में भी निषेधबाधक प्रमाण से प्रतियोगिभूत प्रपंच और निषेध दोनों के बाध होने से

निषेध्यतावच्छेदकस्य दृश्यत्वादेस्तुल्यत्वात्। न चातात्त्विकनिषेधबोधकत्वे श्रुतेरप्रामाण्यापत्तिः, ब्रह्मभिन्नं प्रपञ्चनिषेधादिकमतात्त्विकमित्यतात्त्विकत्वेन बोधयन्त्याः श्रुतेरप्रामाण्यासम्भवात्॥

ननु एतन्निषेधप्रतियोगित्वं किं स्वरूपेण? उतासद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देन पारमार्थिकत्वाकारेण? नाद्यः, श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्यार्थक्रियासमर्थस्याविद्योपादानकस्य तत्त्वज्ञाननाश्यस्य च वियदादेः रूप्यादेश्च धीकालविद्यमानेनाऽसद्विलक्षणस्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधायोगात्। नापि द्वितीयः, अबाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वस्य बाध्यत्वरूप-मिथ्यात्वनिरूप्यत्वेनाऽन्योन्याश्रयात्, पारमार्थिकत्वस्यापि स्वरूपेण निषेधे प्रथमप-क्षोक्तदोषापत्तिः, अतस्तस्यापि पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधेऽनवस्था स्यादिति चेत्, मैवम्; स्वरूपेणैव त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चे शुक्तिरूप्ये चाङ्गीकारात्। तथा हि शुक्तौ रजतभ्रमानन्तरमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे रूप्यं नास्ति नासीन्न भविष्यतीति स्वरूपेणेव, 'नेह नाना...' इति श्रुत्या च प्रपञ्चस्य स्वरूपेणैव निषेधप्रतीतेः।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

निषेध के बाध्यत्व होने पर भी प्रपंच का तात्विकत्व नहीं होता; क्योंकि प्रपंच और उसका अभाव दोनों में भी निषेध्यता का अवच्छेदक दृश्यत्वादि तुल्यरूप से रहता है, और "नेह नाना" इत्यादि श्रुतियों में अतात्त्विकनिषेधबोधकत्व होने पर भी अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं आयेगी; क्योंकि ब्रह्म से भिन्न प्रपंच और निषेधादिक सभी ही अतात्त्विक है — इस प्रकार अतात्त्विकत्वेन बोधन करने वाली श्रुति का अप्रामाण्य असम्भव है।

शंका — प्रातिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेध का यह प्रपंचनिष्ठप्रतियोगित्व क्या स्वरूप से अर्थात् दृश्यत्व–आकाशत्वादि असाधारण धर्म रूप से है? अथवा असत् से विलक्षण स्वरूप के उपमर्दन किये बिना पारमार्थिकत्वरूप धर्म को लेकर है? आद्य नहीं हो सकता, क्योंकि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि श्रुति से सिद्ध उत्पत्ति वाले, अर्थक्रिया के संम्पादन में समर्थ, अविद्योपादानक और तत्त्वज्ञाननाश्य वियदादि का तथा शुक्तिरूप्यादि का प्रतीतिकाल में विद्यमान असद्विलक्षण स्वरूप से त्रैकालिक निषेध (अत्यन्ताभाव) नहीं हो सकता है। द्वितीय विकल्प भी नहीं, क्योंकि अबाध्यत्वरूप पारमार्थिकत्व बाध्यत्वरूप मिथ्यात्व से घटित होने के कारण "मिथ्यात्वज्ञान के बिना मिथ्यात्वघटित पारमार्थिकत्व का ज्ञान नहीं होगा, और पारमार्थिकत्व ज्ञान के बिना पारमार्थिकत्वघटित मिथ्यात्व का ज्ञान नही होगा" {पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्" इस प्रकार से मिथ्यात्व के ज्ञान करने में पारमार्थिकत्व ज्ञान की आवश्यकता है।} इस प्रकार परस्पराश्रय हो जाता है। और इस द्वितीय पक्ष में — अप्रसक्तप्रतिषेध के निवारणार्थ प्रपंच में पारमार्थिकत्व का भी आरोपितत्व मानना होगा, तब तो उस पारमार्थिकत्व का भी स्वरूप से निषेध करने पर प्रथमपक्षोक्त दोष पुनः आ जायेगा; और इसी प्रकार आरोपित उस पारमार्थिकत्व का भी पारमार्थिकत्वरूप से पुनः निषेध करने पर अनवस्था हो जायेगी।

समाधान — वैसा नहीं, क्योंकि दृश्यत्वादिरूप स्वरूप से ही त्रैकालिकात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व प्रपंच और शुक्तिरूप्य में अंगीकृत होता है। तथाहि; शुक्ति में रजतभ्रम होने के अनन्तर अधिष्ठान के साक्षात्कार होने पर जिस प्रकार "रजत नहीं है, नहीं था, और न होगा" इस प्रकार स्वरूप से निषेध होता है, उसी प्रकार 'नेह नाना" इस श्रुति से प्रपंच के भी, स्वरूप से ही, निषेध की प्रतीति होती है।

न च तत्र लौकिकपरमार्थरजतमेव स्वरूपेण निषेधप्रतियोगीति वाच्यम्। भ्रमबाधयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेश्च। न च तर्ह्युत्पत्त्याद्यसम्भवः, न ह्यनिषिद्धस्वरूपत्वमुत्पत्त्यादिमत्त्वे तन्त्रम्, परैरनिषेध्यरूपत्वेनाङ्गीकृतस्यवियदादेरुत्पत्त्याद्यनङ्गीकारात्, किन्तु वस्तुस्वभावादिकमन्यदेव किञ्चित् प्रयोजकं वक्तव्यम्; तस्य मयापि कल्पितस्य स्वीकारात्। न च त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं रूप्यं पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं वा प्रतियोगीति मतहानिः स्यादिति वाच्यम्; अस्याचार्यवचसः पारमार्थिकलौकिकरजततादात्म्येन प्रतीतं प्रातिभासिकमेव रजतं प्रतियोगीत्यर्थः। तच्च स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वेत्यनास्थायां वा शब्दः। एतावदुक्तिश्च पुरोवर्तितादात्म्येनैव रजतं प्रतीयत इति मतनिरासार्थं लौकिकपरमार्थरजततादात्म्येनापि प्रतीयत इति प्रतिपादयितुञ्च। तदुक्तं तत्त्वप्रदीपिकायाम्- 'तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्याणां वाचो युक्तिरपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — शुक्ति में तो लौकिकपरमार्थ अर्थात् व्यावहारिक रजत ही स्वरूप से निषेध का प्रतियोगी है।

समाधान — ऐसा कथन अनुचित है; क्योंकि भ्रम और बाध दोनों के भिन्नविषयकत्व की आपत्ति होगी, और शुक्ति में व्यावहारिक रजत के तादात्म्यरूप से ज्ञान न होने के कारण अप्रसक्तप्रतिषेध की आपत्ति भी होगी।

शंका — तब तो निषिद्ध स्वरूपत्व होने से अनिर्वचनीय रजत के उत्पत्त्यादि का असंभव हो जायेगा।

समाधान — नहीं; क्योंकि अनिषिद्धस्वरूपत्व उत्पत्त्यादिमत्त्व में समव्यापकत्वेन प्रयोजक नहीं हो सकता, कारण कि नैयायिकादिकें से अनिषेध्यरूपत्वेन अंगीकृत वियदादि की उत्पत्त्यादि नहीं मानी जाती, किन्तु उत्पत्ति—अनुत्पत्त्यादि में वस्तुग्वभावादिक दूसरा कोई एक प्रयोजक कहना होगा; और हम भी कल्पित शुक्तिरजतादि में वस्तुस्वभावादि प्रयोजकान्तर मानते ही हैं।

शंका — यदि प्रातिभासिक रजत को स्वरूप से ही निषेधप्रतियोगी मानोंगे तो। (शुक्तिरूप्यादि के भ्रमस्थल में) ''त्रैकालिक निषेध के प्रति आपणस्थ रूप्य स्वरूप से प्रतियोगी है, अथवा प्रातिभासिक रूप्य पारमार्थिकत्वरूप से प्रतियोगी है'' इस विवरणाचार्य की उक्ति से विरोध होगा।

समाधान — ऐसा कथन अनुचित है; क्योंकि आचार्य के इस वचन का अर्थ तो यह है— 'त्रैकालिकनिषेधं प्रति आपणस्थं रूप्यं प्रातिभासिकं, स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाकारेण वा प्रतियोगि'' ऐसा अन्वय करके पारमर्थिकत्वेन लोकप्रसिद्ध अर्थात् व्यावहारिक रजताकार रूप से प्रतीत प्रातिभासिक रजत ही प्रतियोगी है; और वह प्रातिभासिकरजतनिष्ठ प्रतियोगित्व तो चाहे स्वरूपेण मानो अथवा पारमार्थिकत्वेन मानो — इस प्रकार अनास्था द्योतन करने के लिये ''वा'' शब्द का प्रयोग है। आचार्य की यहां तक उक्ति का अभिप्राय — पुरोवर्त्ति पदार्थ के साथ तादात्म्य होकर ही रजतप्रतीत होता है — इस अन्यथाख्यातिवाद के निरासार्थ है तथा व्यावहारिक रजततादात्म्य होकर भी प्रतीत होता है — इसका प्रतिपादन करने के लिये भी है। अतः चित्सुखाचार्य ने ''तत्त्वप्रदीपिका'' में कहा है— ''भ्रम और बाध में भिन्नविषयत्व की आपत्ति होने से तथा प्रातिभासिक रजत ही निषेध प्रतियोगी होने से ''लौकिकपरमार्थ रजत ही—नेदं रजतम्—

पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनाद् लौकिकपरमार्थरजतत्वेनापरोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकपरमार्थरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्या' इति। अयमाशयः– एकविभक्त्यन्तपदोपस्थापिते धर्मिणि,प्र प्रतियोगिनि च नञोऽन्योन्याभावबोधकत्वनियमस्य व्युत्पत्तिबलसिद्धत्वाद् 'घटः पटो न भवति' इति वाक्यवद् 'इदं रजतं न भवति' इति वाक्यस्य अन्योऽन्याभावबोधकत्वे स्थिते अभिलापजन्यप्रतीतितुल्यत्वादभिलप्यमानप्रतीतेः 'नेदं रजतम्' इति वाक्याभिलप्यप्रतीतेरन्योऽन्याभावविषयत्वमेव। तथा चेदंशब्दनिर्दिष्टे पुरोवर्तिप्रातीतिकरजते रजतशब्दनिर्दिष्टव्यावहारिकरजतान्योऽन्याभावप्रतीतेरार्थिकं मिथ्यात्वम्। 'नात्र रजतम्'इति वाक्याभिलप्या तु प्रतीतिरत्यन्ताभावविषया; भिन्नविभक्त्यन्तपदोपस्थापितयोरेव धर्मिप्रतियोगिनोर्नञः संसर्गाभावबोधकत्वनियमात्। सा च पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्यैव व्यावहारिकमत्यन्ताभावं विषयीकरोतीति कण्ठोक्तमेव मिथ्यात्वम्। अतो नापसिद्धान्तो नान्यथाख्यात्यापत्तिर्न वा ग्रन्थविरोध इत्यनवद्यम्।

नन्वेवमत्यन्तासत्त्वापातः, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं ह्यन्यत्रासत्त्वेन सम्प्रतिपन्नस्य घटादेः सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्; अन्यथा तेषामन्यत्र

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस निषेध का प्रतियोगी है'' ऐसी पूर्वाचार्यों की वाचोयुक्ति भी, रजतार्थी की पुरोवर्ती पदार्थ में प्रवृत्ति देखने के कारण, व्यावहारिक रजत रूप से अपरोक्ष होकर प्रतीत यह रजत कालत्रय में भी व्यावहारिक रजत नहीं—इस प्रकार निषेध की प्रतियोगिता को मान कर है — ऐसा समझना चाहिये'' इति। इसका यह भाव है — एक विभक्त्यन्त पदों से उपस्थापित अनुयोगी और प्रतियोगी में निषेध वाचक नञ् का अन्योन्याभावबोधकत्व नियम शब्दनिष्ठशक्ति के बल से सिद्ध होने के कारण ''घट पट नहीं'' इस वाक्य के समान ''यह रजत नहीं'' इस वाक्य का भी अन्योन्याभाव बोधकत्व स्थित होने पर, अभिलप्यमान प्रतीति अर्थात् वाक्यरूपशब्द प्रयोग के जनक ज्ञान का अभिलापजन्य प्रतीति तुल्यत्व अर्थात् नञ्घटित वाक्यरूप प्रयुक्तशब्द से जन्य ज्ञान के साथ समानविषयकत्व होने से ''यह रजत नहीं'' इस वाक्य प्रयोग के जनक (अभिलप्य) ज्ञान का भी अन्योन्याभाव विषयकत्व ही है। तब तो इदं शब्द से निर्दिष्ट पुरोवर्ती प्रातीतिक रजत में रजतशब्द से निर्दिष्ट व्यावहारिक रजत का अन्योन्याभाव प्रतीत होने के कारण पुरोवर्ती प्रातीतिक रजत का मिथ्यात्व आर्थिक है अर्थात् अर्थतः सिद्ध है, साक्षात् नहीं। और ''यहां रजत नहीं'' इस वाक्य का अभिलाप्य ज्ञान तो अत्यन्ताभाव विषयक है; क्योंकि भिन्न विभक्त्यन्त दो पदों से उपस्थापित अनुयोगी और प्रतियोगी में ही नञ् का संसर्गाभाव (अत्यन्ताभाव) बोधकत्व नियम है, और वह अभिलप्या प्रतीति तो पुरोवर्ती प्रतीत रजत का ही व्यावहारिक अत्यन्ताभाव विषय करती है। अतः ''नात्र रजतम्'' इसमें पुरोवर्ती प्रातिभासिक का मिथ्यात्व साक्षात् उक्त होता है। इस कारण हमारे पक्ष में न अपसिद्धान्त है, न अन्यथाख्याति की आपत्ति है, या न पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से विरोध है। इस प्रकार सब दोषों से रहित है।

शंका — इस प्रकार से तो प्रपंच का अत्यन्त असत्त्व हो जायेगा; क्योंकि स्वाश्रयत्वेन ज्ञात अधिकरण अर्थात् प्रतिपन्न उपाधि में त्रैकालिकात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व होना तो स्वानधिकरण में असत्त्वेन प्रमित घटादि का स्वाधिकरण और अनधिकरण सब में त्रैकालिकात्यन्ताभाव

सत्त्वापातात्, न हि तेषामन्यत्र सत्ता सम्भवतीति त्वदुक्तेश्च; तथा च कथमसद्वैलक्षण्यम्, न हि शशशृङ्गादेरितोऽन्यदसत्त्वम्। न च निरुपाख्यत्वमेव तदसत्त्वम्; निरुपाख्यपदेनैव ख्यायमान-त्वात्। नाप्यप्रतीयमानत्वमसत्त्वम्; असतोऽप्रतीतावसद्वैलक्षण्यज्ञानस्यासत्प्रतीतिनिरासस्या-सत्पदप्रयोगस्य चायोगात्। न चापरोक्षतयाऽप्रतीयमानत्वं तत्; नित्यातीन्द्रियेष्वतिव्याप्तेरिति चेत्, मैवम्; सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं यद्यपि तुच्छानिर्वाच्ययोः साधारणम्; तथापि क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमत्यन्तासत्त्वम्, तच्च शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे च बाधात् पूर्वं नास्त्येवेति न तुच्छत्वापत्तिः। न च बाधात् पूर्वं शुक्तिरूप्यं प्रपञ्चो वा सत्त्वेन न प्रतीयते। एतदेव सदर्थकेनोपाधिपदेन सूचितम्। शून्यवादिभिः सदधिष्ठानकभ्रमानङ्गीकारेण क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूपासद्वैलक्षण्यस्य क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपस्य शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे चानङ्गीकारात्।

नन्वेवं सति यावत्सदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्। तथा च केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगिष्ववृत्तिषु गगनादिषु तार्किकाणां सिद्धसाधनम्। यदधिकरणं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रतियोगित्व पर्यवसित होता है; यदि प्रतिपन्नोपाधि में "सर्वत्र" विशेषण का निवेश नहीं होगा तो मिथ्यात्वेन अभिमत घटादिकों की स्वानधिकरण अर्थात् प्रतिपन्नोपाध्यन्तर में सत्त्वापत्ति होगी। और तुम्हारे आचार्य चित्सुखमुनि ने भी कहा है –"उन घटादिकों की स्वाधिकरण से अन्यत्र सत्ता नहीं हो सकती।" तब तो किस प्रकार घटादिकों का शशशृंगादि असत् से विलक्षणत्व होगा? क्योंकि शशशृंगादि का भी इससे (सर्वत्र त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्व से) भिन्न असत्त्व नहीं है। और शशशृंगादि का असत्त्व तो निरुपाख्यत्व ही है – ऐसा भी कहा नहीं जा सकता; क्योंकि शशशृंग भी निरुपाख्यपद से ही कथ्यमान है। और अप्रतीयमानत्व को भी असत्त्व कहा नहीं जा सकता; कारण कि असत् की अप्रतीति होने पर असद्वैलक्षण्यज्ञान, असत्प्रतीति का निरास और असत्पद का प्रयोग ये सब नहीं हो सकते, और अपरोक्षत्व रूप से अप्रतीयमानत्व भी असत्त्व नहीं, क्योंकि नित्यातीन्द्रिय पदार्थो में अतिव्याप्ति होती है।

समाधान – वैसा नहीं, सर्वत्र त्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्व यद्यपि तुच्छ और अनिर्वाच्य पदार्थों में साधारण है, तथापि कहीं किसी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीति का अयोग्यत्व अत्यन्त असत्त्व है। इस प्रकार के अत्यन्त असत्त्व शुक्तिरूप्य और प्रपंच में बाध से पूर्व न होने से ही तुच्छत्व की आपत्ति नहीं होगी; क्योंकि बाध से पूर्व शुक्तिरूप्य अथवा प्रपंच सत्त्वेन अप्रतीत नहीं होता। (इसमें शंका होती है कि एवंविध असद्वैलक्षण्य तो शून्यवादी भी मानते हैं, अतः उनसे वेदान्त में क्या विशेषता है? उसमें उत्तर देते है) – यह प्रपंच का सत्तादात्म्येन प्रतीयमानत्व ही सदर्थक अर्थात् अबाध्यार्थक और प्रतिपन्नपदयुक्त उपाधिपद से मिथ्यात्व लक्षण में सूचित किया गया है। शून्यवादी बौद्धों से तो सदधिष्ठानक भ्रम अंगीकृत न होने से कहीं किसी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीत्ययोग्य रूप असत् से कहीं किसी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्व रूप विलक्षणत्व शुक्तिरूप्य और प्रपंच में अनंगीकृत होता है।

शंका – मिथ्यात्व का सर्वप्रतिपन्नोपाधिघटितत्व होने पर तो यावत्सत्‌रूप अधिकरणनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है – ऐसा पर्यवसान हुआ। तब तो केवलान्वयी होकर स्थित अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी, अवृत्तिक पदार्थ गगनादियों में (सर्वदेशकालनिष्ठात्यन्ताभाव

यत्सत् तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति विवक्षायाम्, अधिकरणपदेनावृत्तिनिराकरणेऽपि संयोगसम्बन्धेन समवायसम्बन्धेन वा यद् घटाधिकरणं समवायसम्बन्धेन संयोगसम्बन्धेन वा घटस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया सर्वेषु वृत्तिमत्सु दुरुद्धरं सिद्धसाधनम्। येन सम्बन्धेन यद्यस्याधिकरणं तेन सम्बन्धेन तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति विवक्षायाम्, अव्याप्यवृत्तिषु संयोगादिषु सिद्धसाधनमिति चेत्, न, येन रूपेण यदधिकरणतया यत् प्रतिपन्नं तेन रूपेण तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्नपदेन सूचितत्वात्। तच्च रूपं सम्बन्धविशेषोऽवच्छेदकविशेषश्च। न हि सम्बन्धविशेषमन्तरेण भूतले घटाधिकरणता प्रतीयते। अवच्छेदकविशेषमन्तरेण वा वृक्षे कपिसंयोगाधिकरणता। तथा च येन सम्बन्धविशेषेण येन चावच्छेदकविशेषेण यदधिकरणताप्रतीतिर्यत्र भवितुमर्हति, तेनैव सम्बन्धविशेषेण तेनैव चावच्छेदकविशेषेण तदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति पर्यवसिते

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

केवलान्वय्यत्यन्ताभावः। तथा—संयोगसमवायाऽन्यतरसंबन्धेन क्वचिदधिकरणेऽवर्तमानत्वं अवृत्तित्वम्) तार्किकादि का सिद्धसाधन होता है। और जिसका अधिकरण जो सत् है उसका तत्सन्निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व होना ही मिथ्यात्व है — इस प्रकार की विवक्षा कर के अधिकरण पद के द्वारा अवृत्ति पदार्थो के निराकरण करने पर भी संयोगसंबन्ध से जो घटादि का भूतलादि अधिकरण है, उस अधिकरण में निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व समवाय संबन्ध से घटादि का होने कारण; अथवा समवायसंबन्ध से जो घटादि का कपालादि अधिकरण है, उस अधिकरण में निष्ठ अत्यन्ताभाँव का प्रतियोगित्व संयोगसम्बन्ध से घटादि के होने के कारण सत् वृत्तिमत्पदार्थों में (संयोगसमवायान्यतरसंबन्धेन वृत्तिमत्पदार्थों में) सिद्धसाधन का निवारण करना असम्भव होगा (मूल में संयोगसंबन्धेन इत्यादि का इस प्रकार अन्वय समझना चाहिये — ''संयोगसंबन्धेन यद्घटाधिकरणम् (भूतलादिकम्) समवायसंबन्धेन घटस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया; वा समवायसंबन्धेन यद्घटाधिकरणं (कपालादिकम्) संयोगसंबन्धेन घटस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया सर्वेषु वृत्तिमत्सु दुरूद्धरं सिद्धसाधनम्)। जिस संबन्ध से जो जिसका अधिकरण है, उस संबन्ध से उसका उस अधिकरण में स्थित अत्यन्ताभाव में प्रतियोगित्व है ऐसी विवक्षा होने में भी अव्याप्यवृत्ति (एकदेशवृत्ति) संयोगादियों में सिद्धसाधन है।

समाधान — ऐसी शंका नहीं हो सकती; क्योंकि जिस रूप से (जिस संबन्ध और अवच्छेदसे) जिसके अधिकरणरूप से जो ज्ञात होता है, उस रूप से (उस सम्बन्ध और अवच्छेद से) उसका तदधिकरणनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व मिथ्यात्व लक्षणघटित प्रतिपन्नपद से सूचित किया गया है। और वह रूप तो संबन्धविशेष और अवच्छेदकविशेष है। क्योंकि संबन्ध विशेष के बिना भूतल में घट की अधिकरणता प्रतीत नहीं होती, अथवा अवच्छेदक विशेष के बिना वृक्ष में कपिसंयोग की अधिकरणता प्रतीत नहीं होती। तब तो जिस संबन्धविशेष से और जिस अवच्छेदक विशेष से जिसकी अधिकरणता की प्रतीति जहां होने योग्य होती है, उस ही संबन्धविशेष से और उस ही अवच्छेदकविशेष से तदधिकरण निष्ठ अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व उसका होता है, वह मिथ्या है — ऐसा पर्यवसित होने पर कहां सिद्धसाधन होगा? (इसमें किसी की शंका है कि पूर्वोक्तसिद्धसाधन का अवकाश ही यहां पर नहीं हो सकता, क्योंकि आकाशादि का अत्यन्ताभाव सिद्ध करने वाले प्रकृतानुमान के अवतरण करने से पहले किसी भी प्रमाण से अवृत्तिक आकाशादि का अत्यन्ताभाव

क्व सिद्धसाधनम्? यदि पुनः ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वमिवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादौ न स्यात्; साधकमानाभावस्य तुल्यत्वात्, इहाकाशो नास्तीति प्रत्यक्षप्रतीत्यसम्भवादनुमाने चानुकूलतर्काभावात्, सामान्यतो दृष्टमात्रेण ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वस्यापि सिद्धिप्रसङ्गात्, तद्व्यतिरेकेण कस्यचित् कार्यस्यानुपपत्तेरभावाच्च, एवं संयोगसम्बन्धेन घटवति भूतले समवायसम्बन्धेन घटाभावसत्त्वे मानाभावाल्लाघवेन घटात्यन्ताभावत्वेनैवघटसामानाधि–करण्यविरोधित्वकल्पनात् सम्बन्धविशेषप्रवेशे च गौरवाद् घटसमवायाद्यभावमात्रविषय-कतया प्रतीतेरुपपत्तेः। आधाराधेयभावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन घटस्यावृत्तित्वशङ्कानुदयाद्। उक्तयुक्तेश्च न घटादेरत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यम्; एवं संयोगतदभावयोर्नैकाधिकरण्यम्; 'अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी मूले न' इति प्रतीतेरग्रमूलयोरेव संयोगतदभाववत्तयोपपत्तेः, तदा

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रतियोगित्व सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार वृत्तिमत्पदार्थों में भी स्वसमानाधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व नहीं होता। इस शंका की इष्टापत्ति करते हुये ग्रन्थकार युक्ति पूर्वक इसका वर्णन करते हैं) जिस प्रकार आकाशादि में ध्वंस और प्रागभाव का प्रतियोगित्व नहीं है, उसी प्रकार अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व भी प्रकृतानुमान के अवतरण के पहले नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे आकाशादि के ध्वंस और प्रागभाव होने में साधकमान नहीं, वैसा ही अत्यन्ताभाव में भी कोई साधकमान नहीं। तथाहि – उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता, कारण कि "यहां आकाश नहीं" इस प्रकार प्रत्यक्षप्रतीति नहीं होती, और "गगनादिकं भूतलादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, भूतलादिनिष्ठवृत्तिनियामकसंबन्धस्य अप्रतियोगित्वात्, गगननिष्ठजलादिवत्" इत्यादि अनुमान भी अनुकूलतर्काभाव होने से उसमें प्रमाण नहीं हो सकते। यदि अनुकूल तर्क के बिना सामान्यतो दृष्टमात्र से अनुमान प्रमाण मान लिया जाय तो "गगनादिकं ध्वंसप्रागभावप्रतियोगि, गगनतज्जलाऽन्यतरत्वात्, तज्जलवत् (गगननिष्ठजलवत्)" इस अनुमान से ध्वंस और प्रागभाव का प्रतियोगित्व भी सिद्ध होने लग जायेगा। आकाशात्यन्ताभाव माने बिना किसी एक कार्य की अनुपपत्ति होती है, सो भी नहीं, जिससे आकाशात्यन्ताभाव मानना सार्थक हो। इसी प्रकार "संयोगेन घटवतिभूतले समवायेन घटो नास्ति" इस प्रकार घटादि का स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्य भी नहीं हो सकता; क्योंकि संयोग संबन्ध से घटवद्भूतल में समवायसंबन्ध से घटाभाव के सत्त्व में कोई भी प्रमाण नहीं है; इसलिये संबन्धघटित अभाव और प्रतियोगी के विरोधित्व की कल्पना की अपेक्षा अभावमात्र और प्रतियोगी के विरोधित्व की कल्पना में लाघव होने से घटत्वावाच्छिन्न–प्रतियोगिताकात्यन्ताभाव (घटात्यन्ताभाव) के घट के साथ सामानाधिकरण्य के प्रति विरोधित्व की कल्पना की जाती है, अभाव में विशेषण रूप से संबन्धविशेष का प्रवेश होने पर गौरव होता है; और "भूतले समवायेन घटो नास्ति" इसमें तो घटीयसमवायादि के अभावमात्र को विषय करने वाली प्रतीति हो सकती है; कारण कि भूतल और घट में आधाराधेयभाव प्रत्यक्ष सिद्ध होने से भूतल में घट के अवृत्तित्व की शंका ही उचित नहीं हो सकती; और "घटसंयोगी घटात्यन्ताऽभाववान्, घटप्रतियोगिकसमवायाऽभावात्, नित्यरूपवत्" यह अनुमान भी उक्तयुक्तिरूप अनुकूलतर्काभाव होने से उसमें प्रमाण नहीं। इसी प्रकार संयोग और संयोगाभाव का एकाधिकरणत्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि अग्रभाग में वृक्ष कपिसंयोगी है और मूल में कपिसंयोगी नहीं–इस प्रकार की प्रतीति होने से अग्रभाग और मूल में संयोग और संयोगाभाव की उपपत्ति होती है। अतः इन युक्तियों से यदि सिद्धसाधन का निवारण हो जाय तो सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमात्र मिथ्यात्व का लक्षण

सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं मन्तव्यम्।

न चैवं सति भावाभावयोरविरोधात्तज्ज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावो न स्यादिति वाच्यम्; भिन्नसत्ताकयोरविरोधेऽपि समसत्ताकयोर्विरोधात्। यत्र भूतले यस्य घटस्यात्यन्ताभावो व्यावहारिकः, तत्र स घटो न व्यावहारिक इति नियमात्। न चैवं सति 'शुक्तिरियं न रजतम्' इति ज्ञानविषयीभूताभावस्य व्यावहारिकत्वेन पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्य व्यावहारिक-त्वापहारेऽपि प्रातीतिकसत्त्वानपहाराद् बाधोत्तरकालेऽपि 'इदं रजतम्' इति प्रतीतिः स्यादिति वाच्यम्; तत्र 'इयं शुक्तिः' इत्यपरोक्षप्रमया प्रातीतिकरजतोपादानाज्ञाननिवृत्तौ प्रातीतिकसत्त्व-स्याप्यपहारात्, शुक्त्यज्ञानस्य प्रातीतिकरजतोपादानत्वेन तदसत्त्वे प्रातीतिकरजतासत्त्वस्या-वश्यकत्वात्। अत एव यत्र परोक्षयाऽधिष्ठानप्रमया न भ्रमोपादानाज्ञाननिवृत्तिः, तत्र व्यावहारिकसत्वापहारेऽपि प्रातीतिकसत्वानपहारात् 'तिक्तो गुडः' इत्यादिप्रतीतिरनुवर्तत एव। एवमखण्डब्रह्मसाक्षात्कारात्पूर्वं परोक्षबोधेन प्रपञ्चस्य व्यावहारिकसत्वापहारेऽपि प्रतीतिरनुवर्तत एव, अधिष्ठानाज्ञाननिवृत्तौ तु नानुवर्तिष्यते। एतेनोपाधिशब्देनाधिकरणमात्रविवक्षायामर्थान्तरम्,

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समझना चाहिये, उसमें "प्रतिपन्न" विशेषण देने की आवश्यकता नहीं। ,

शंका — ऐसा लक्षण मान लिया जाय तो भाव और अभाव में अविरोध होने से भावाभावविषयक दोनों ज्ञानों में बाध्यबाधकभाव नहीं होगा।

समाधान — ऐसा कथन अनुचित है; क्योंकि भिन्नसत्ताक भावाभाव दोनों में अविरोध होने पर भी समसत्ताक भाव और अभाव में तो विरोध है। जिस भूतल में जिस घट का अत्यन्ताभाव व्यावहारिक है, उस भूतल में वह घट व्यावहारिक नहीं हो सकता। (किन्तु प्रातिभासिक हो सकता है) यह नियम है।

शंका — ऐसा होने पर "यह शुक्ति है, रजत नहीं" इस ज्ञान के विषयीभूत अभाव में व्यावहारिकत्व होने से पुरोवर्ती में प्रतीत रजत में कल्पित व्यावहारिकत्व के उच्छेद होने पर भी प्रातिभासिकसत्त्व (प्रातिभासिकस्वरूप) के उच्छेद न होने के कारण बाधोत्तरकाल में भी "यह रजत है" ऐसी प्रतीति होती रहनी चाहिये।

समाधान — ऐसा कहना नहीं चाहिये; क्योंकि उस स्थल में "यह शुक्ति है" इस अपरोक्ष प्रमा से प्रातिभासिक रजत के उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर प्रातीतिक सत्त्व का भी उच्छेद हो जाता है; कारण कि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञान ही प्रातिभासिक रजत के उपादान होने से उस अज्ञान के उच्छेद हो जाने पर प्रातिभासिक रजत का उच्छेद भी आवश्यक है। इस प्रकार अज्ञानोच्छेद से अज्ञानकार्योच्छेद के अविलम्ब होने से जहां परोक्षभूत अधिष्ठान विषयक प्रमा से भ्रमोपादान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, वहां व्यावहारिक सत्त्व के अपहार अर्थात् मिथ्यात्व का निश्चय होने पर भी प्रातीतिक सत्त्व के निराकरण न होने से "गुड तिक्त है" इत्यादि प्रतीति का अनुवर्तन होता ही है। इसी प्रकार अखण्ड ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व परोक्षज्ञान के द्वारा प्रपंच के व्यावहारिकसत्त्व का अपहार (मिथ्यात्व का निश्चय) होने पर भी प्रपंच प्रतीति का अनुवर्तन होता ही है; और अपरोक्षज्ञान से अधिष्ठान विषयक अज्ञान की निवृत्ति होने पर तो प्रपंचप्रतीति का अनुवर्तन नहीं होगा। इसी प्रकार "प्रतिपन्नोपाधौ..." इत्यादि मिथ्यात्वलक्षण के इस प्रकार व्याख्यान होने के कारण—उपाधिशब्द से अधिकरण मात्र की विवक्षा होने पर

वाय्वधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि रूपस्यामिथ्यात्वात्, अधिष्ठानविवक्षायां तु भ्रमोपादानाज्ञानविषयस्याधिष्ठानत्वेनान्योन्याश्रयत्वम्— ज्ञानस्य भ्रमत्वे विषयस्य मिथ्यात्वम्, विषयस्य मिथ्यात्वे च ज्ञानस्य भ्रमत्वमिति परास्तम्; उक्तरीत्याऽधिकरणविवक्षायां दोषाभावात्। न च 'स एवाधस्तात्' (छा.७/२५/१) इति श्रुत्या प्रतिपन्ने देशकालाद्युपाधौ परमार्थतो ब्रह्मणोऽभावात्तत्रातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, निर्धर्मके तस्मिन्नभावप्रतियोगित्वरूपधर्माभावात्। न चैवं सत्यत्वमपि तत्र न स्यात्, तथा च 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै.२/१/१) इत्यादिश्रुतिव्याकोप इति वाच्यम्; अधिकरणातिरिक्ताभावानभ्युपगमेनोक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य ब्रह्मस्वरूपाविरोधात्। एतेन स्वप्रकाशत्वाद्यपि व्याख्यातम्—परप्रकाश्यत्वाभावो हि स्वप्रकाशत्वम्, कालपरिच्छेदाभावो नित्यत्वम्, देशपरिच्छेदाभावो विभुत्वम्, वस्तुपरिच्छेदाभावः पूर्णत्वमित्यादि। तथा च भावभूतधर्मानाश्रयत्वेऽपि ब्रह्मणः सर्वधर्माभावरूपतया न काप्यनुपपत्तिरिति सर्वमवदातम्।

इति प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपद्वितीयमिथ्यात्वविचारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रकृतानुपयुक्तत्वरूप अर्थान्तर है, क्योकि रूप वाय्वधिकरणक अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने पर भी मिथ्या नहीं, और अधिष्ठान की विवक्षा होने पर तो भ्रमोपादानभूत अज्ञान का विषय ही अधिष्ठान होने के कारण अन्योन्याश्रय दोष होता है — जैसे कि ज्ञान के भ्रमत्व सिद्ध होने पर विषय का मिथ्यात्व, और विषय के मिथ्यात्व सिद्ध होने पर ज्ञान का भ्रमत्व — यह कथन भी परास्त हुआ, क्योंकि उक्तरीति से (अर्थात् — सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व लक्षण घटित) अधिकरण की विवक्षा होने में कोई दोष नहीं होता।

शंका— ''वही नीचे है'' इत्यादि श्रुति से ब्रह्मसंबन्धितया ज्ञात देश कालादि उपाधि (अधिकरण) में स्वरूप से और पारमार्थिकत्व से ब्रह्म का अभाव होने से ब्रह्म में अतिव्याप्ति होती है।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि निर्धर्मक उस ब्रह्म में अभावप्रतियोगित्वरूप धर्म का अभाव है।

शंका — वैसा तो सत्यत्व भी ब्रह्म में नहीं होना चाहिये, तब तो ''सत्य ज्ञान अनन्तरूप ब्रह्म है'' इत्यादि श्रुति का व्याकोप होगा।

समाधान — ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि अधिकरण से अतिरिक्त अभाव को न मानने के कारण उक्त लक्षण घटित मिथ्यात्वाभावरूप सत्यत्व ब्रह्मस्वरूप से विरूद्ध नहीं है। इस सत्यत्व के व्याख्यान से — स्वप्रकाशत्वादि भी व्याख्यात हुआ; जैसे कि — अन्य से प्रकाश्यत्व का अभाव ही स्वप्रकाशत्व है; कालपरिच्छेद का (किसी काल में रहना और अन्य किसी काल में न रहना — इसका) अभाव नित्यत्व है, देश परिच्छेद का अभाव विभुत्व है, वस्तुपरिच्छेद का अभाव पूर्णत्व है — इत्यादि। इस प्रकार भावभूत धर्मो का आश्रय न होने पर भी, ब्रह्म सर्वधर्मो का अभावरूप होने से, कुछ भी अनुपपत्ति न होने के कारण सब दोषरहित है।।

इति प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपद्वितीयमिथ्यात्वविचारस्य—

राष्ट्रभाषानुवादः।।

४ : अथ तृतीयमिथ्यात्वविचारः

ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्। नन्वुत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञानेऽतिव्याप्तिः, मुद्गरपातादि-निवर्त्ये च घटादावव्याप्तिः, ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायामप्ययं दोषः, अधिष्ठान-साक्षात्कारत्वेन निवर्त्ये शुक्तिरजतादौ च ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात् साध्यविकलता, ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायां ज्ञानत्वव्याप्येन स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारेऽतिव्याप्तिरिति चेत्, न, ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्। अवस्थितिश्च द्वेधा, स्वरूपेण कारणात्मना च, सत्कार्यवादाभ्युपगमात्। तथा च मुद्गरपातेन घटस्य स्वरूपेणावस्थितिविरहेऽपि कारणात्मनावस्थितिविरहाभावाद्, ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त एव स इति नातीतघटादावव्याप्तिः। अत एवोत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने न सिद्धसाधनम्; न वा वियदादौ ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वेऽपि तद्वदेव मिथ्यात्वासिद्ध्यार्थान्तरम्; उत्तरज्ञानेन लीनस्य पूर्वज्ञानस्य स्वकारणात्मनावस्थानादवस्थितिसामान्यविरहानुपपत्तेः।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अब "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः" इत्यादि श्रुति के अर्थ में विवदमान् प्रतिवादी के प्रति साध्यान्तर को कहते है:— अथवा ज्ञान से निवर्त्यत्व मिथ्यात्व है।

शंका — इस लक्षण की उत्तरज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति है अर्थात् सिद्धसाधन है। {नैयायिकों के मत में — आत्मादिविभुपदार्थवृत्ति योग्य विशेषगुण स्वोत्तरवृत्तिस्वसमानाधिकरण योग्य विशेषगुण से नाश्य माना जाता है। जैसे आकाश का विशेषगुण शब्द स्वोत्तरोत्पन्नशब्द से नाश्य है, वैसे ही आत्मा का विशेषगुण ज्ञान भी स्वोत्तरोत्पन्नज्ञान से नाश्य होता है।} और मुद्गरपातादि से निवर्त्य घटादि में अव्याप्ति है (क्योंकि घट की निवृत्ति ज्ञान से न हुई)। ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व की विवक्षा करने पर यद्यपि उत्तरज्ञाननाश्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उत्तरवृत्तियोग्यविभुविशेषगुणत्वेन उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान का नाशक है, तो भी दूसरा अव्याप्तिरूप यह दोष तो रह ही जाता है, और अधिष्ठानसाक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्य शुक्तिरूप्यादि में ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व का अभाव होने से दृष्टान्त में साध्यविकलता भी है। और ज्ञानत्वव्याप्यधर्म से ज्ञाननिवत्यर्त्व की विवक्षा में तो ज्ञानत्वव्याप्य स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्य संस्कार में अतिव्याप्ति होगी।

समाधान — ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञानप्रयुक्त (अधिष्ठानतत्त्वज्ञानव्यापक) अवस्थितिसामान्याभाव का प्रतियोगित्व ही ज्ञाननिवर्त्यत्व का अर्थ है। और स्वरूप से अवस्थिति तथा कारणरूप से अवस्थिति के भेद से अवस्थिति दो प्रकार की होती है (इन दोनों का अभाव अवस्थितिसामान्याभाव है); कारणात्मना कार्य की अवस्थिति इसलिये है कि हम सत्कार्यवाद को मानते हैं। तब तो मुद्गरपात् से घट की स्वरूप से अवस्थिति का अभाव होने पर भी, कारण रूप से अवस्थिति के विरहाभाव होने से, ब्रह्मज्ञान अधीन (प्रयुक्त) ही वह अवस्थितिसामान्य का अभाव है; इस कारण विनष्ट घटादि में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। और इस कारण से ही उत्तरज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान में सिद्धसाधन नहीं (क्योंकि पूर्वज्ञान संस्कारात्मना रह जाता है), अथवा जिस प्रकार पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान से नाश्य होने पर भी मिथ्या नहीं होता, उसी प्रकार आकाशादि भी ब्रह्मज्ञान से नाश्य होने पर भी मिथ्या सिद्ध न होने से अर्थान्तर है — ऐसा कथन भी अनुचित है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से आकाशदि के अवस्थितिसामान्य का अभाव होता है, किन्तु उत्तरज्ञान से

शशविषाणादाववस्थितिसामान्यविरहेऽपि तस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। शुक्तिरजता- देश्चापरोक्षप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिभासकालेऽवस्थित्यङ्गीकारान्न बाधकज्ञानं विना तद्विरह इति न साध्यविकलता। अत एवोक्तं विवरणाचार्यैः— 'अज्ञानस्य स्वकार्येण प्रविलीनेन वर्तमानेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाधः' इति। वार्तिककृद्भिश्चोक्तम्—

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति।।

इति 'सह कार्येण नासीत्' इति लीनेन कार्येण सह निवृत्त्यभिप्रायम्, 'सह कार्येण न भविष्यति' इति तु भाविकार्यनिवृत्त्यभिप्रायमित्यन्यदेतत्। रूप्योपादानमज्ञानं स्वकार्येण वर्तमानेन लीनेन वा सहाधिष्ठानसाक्षात्कारान्निवर्तते। तत्तद्रूप्योपादानानामज्ञानानां भेदाभ्युपगमादिति न दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्; मुद्गरपातानन्तरं घटो नास्तीति प्रतीतिवदधि- ष्ठानज्ञानानन्तरं शुक्त्यज्ञानं तद्गतरूप्यं च नास्तीति प्रतीतेः सर्वसम्मतत्वात्। ज्ञानत्वव्याप्यध- र्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यपि साधु। उत्तरज्ञानस्य पूर्वज्ञाननिवर्तकत्वञ्च न ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण? किन्त्विच्छादिसाधारणेनोदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन, उदीच्यत्वेन वेति न सिद्धसाधनादि।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

लीन पूर्वज्ञान की तो स्वकारण अन्तःकरणरूप से रहने के कारण अवस्थिति सामान्य का अभाव नहीं हो सकता। और शशशृंगादि में अवस्थितिसामान्य का अभाव होने पर भी उस अवस्थितिसामान्याभाव में ज्ञान प्रयुक्तत्व (अधीनत्व) न होने से अतिव्याप्ति नहीं। इसी प्रकार शुक्तिरूप्यादि की अपरोक्षप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति होने से प्रतीतिकाल में अवस्थिति के अंगीकार होने के कारण बाधकज्ञान के बिना अवस्थितिसामान्य विरह न होने से उसमें साध्यविकलता नहीं होती। इसलिये विवरणाचार्य ने कहा है —"अज्ञान के प्रविलीन संस्कारात्मक और वर्तमान स्थूलात्मक स्वकार्य के साथ ज्ञान से निवृत्ति होना (अवस्थितिसामान्याभाव) बाध है" इति। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है —"तत्त्वमसि—इत्यादि महावाक्य से होने वाला साक्षात्कार रूप जीवब्रह्मैक्य सम्यग्ज्ञान के जन्ममात्र से अतीत, वर्तमान और अनागत स्वकार्य के सहित अविद्या का नाश होता है। "स कार्येण नासीत्" यह कथन लीन अर्थात् संस्काररूप कार्य के साथ अविद्या की निवृत्ति के अभिप्राय से है; और "सहकार्येण न भविष्यति" इस कथन का अभिप्राय तो अविद्याप्रयुक्त भाविकार्य के अभाव को लेकर है; किन्तु यह अन्य ही है अर्थात् कारणाभावाधीन कार्याभाव तो ज्ञान के बिना भी होने से वह बाधरूप नहीं; अतः वह प्रकृत में अनुपयुक्त है। (अब एकाज्ञानवाद को लेकर शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में साध्य वैकल्य की शंका करने पर अनेकाज्ञान वाद मानकर उसका परिहार करते हैं) — शुक्तिरूप्य के उपादान भूत अज्ञान की, वर्तमान और विलीन अपने कार्यों के सहित, अधिष्ठान के साक्षात्कार से निवृत्ति होती है, इसमें तत्तद्रजत के उपादानभूत अज्ञानों में भेद स्वीकृत होने से शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में साध्यविकलता नहीं है, क्योंकि मुद्गरपात के बाद जिस प्रकार "घट नहीं" ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार अधिष्ठान के साक्षात्कार के बाद शुक्त्यज्ञान और शुक्तितादात्म्यापन्न रजत नहीं — इस प्रकार की प्रतीति सर्व संमत है। ज्ञानत्व के व्याप्यधर्मरूप से ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व भी ठीक ही है। और उत्तरज्ञान का पूर्वज्ञान निवर्तकत्व तो ज्ञानत्व के व्याप्यधर्मरूप से नहीं, किन्तु इच्छादि साधारण उत्तरभावी

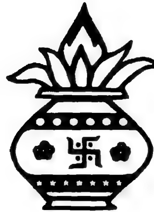
नापीच्छाद्यनिवर्त्ये स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारेऽतिव्याप्ति; (स्मृतित्वेन) स्मृतेः संस्कारनिवर्तकत्वे मानाभावात्। स्मृतौ हि जातायां संस्कारो दृढो भवतीत्यनुभवसिद्धम्। तस्य दृढत्वञ्च समानविषयकसंस्कारानेकत्वमित्यदोषः। वस्तुतस्तु साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम्; अतो न पूर्वोक्तदोषः। नापि निश्चयत्वेन ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्ये संशयेऽतिव्याप्तिरिति सर्वमवदातम्।

इति तृतीयमिथ्यात्वविचारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

आत्मविशेषगुणत्वरूप से निवर्तकत्व है, अथवा उत्तरभावित्वेन निवर्तकत्व है, इसलिये सिद्धसाधनादि दोष नहीं होता। तथा इच्छादि से अनिवर्त्य और स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्य संस्कार में भी अतिव्याप्ति नहीं, क्योंकि स्मृति के संस्कारनिवर्तकत्व में प्रमाण नहीं। इसके विपरीत – स्मृति होने पर संस्कार दृढ़ होता है – यह अनुभव सिद्ध है। संस्कार का दृढ़त्व तो समानविषयक संस्कारों का अनेकत्व है – इसलिये दोष रहित है। वस्तुतस्तु – साक्षात्कारत्व रूप से ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व विवक्षित है। इसलिये पूर्वोक्तदोष अर्थात् उत्तरज्ञाननिवर्त्य पूर्वज्ञान और स्मृतिनिवर्त्य संस्कार में अतिव्याप्ति, सिद्धसाधनादि दोष नहीं। और निश्चयत्वरूप ज्ञानत्वव्याप्यधर्म से ज्ञान निवर्त्य संशय में भी अतिव्याप्ति नहीं। इस कारण यह लक्षण भी सर्वप्रकार से अदुष्ट (निर्दोष) है।

इति तृतीयमिथ्यात्वविचारस्य राष्ट्रभाषानुवादः॥



५ : अथ चतुर्थमिथ्यात्वविचारः

स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्। तच्च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्। अतः पूर्ववैलक्षण्यम्। दूषणपरिहारः पूर्ववत्। न च संयोगिनि समवायिनि वा देशे तदत्यन्ताभावासम्भवः, सम्भवे तूपादानत्वाद्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, काले सहसम्भववद् देशेऽपि सहसम्भवाविरोधात्, प्रागभावसत्त्वेनोपादानत्वाविरोधाच्च। न चात्यन्ताभावाधिकरणे प्रागभावस्याप्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, काले व्यभिचारात्। न च काले प्रागभावात्यन्ताभावयोः सामानाधिकरण्यमिदानीं घटात्यन्ताभावः, इदानीं घटप्रागभाव इति प्रतीतिबलादङ्गीकृतम्, देशे तु तदुभयसामानाधिकरण्ये न किञ्चिदपि प्रमाणमिति वाच्यम्, मिथ्यात्वानुमितेः श्रुत्यादेश्च प्रमाणत्वात्। विषमसत्ताकभावाभावयोरविरोधः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अब चित्सुखाचार्यकृत मिथ्यात्वलक्षण का समर्थन करते है – अथवा स्वसमानाधिकरणक अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है। (यहा पर मिथ्यात्वेन अभिमत पदार्थ को स्वपद से लेना चाहिये)। और वह प्रतियोगित्व तो स्वात्यन्ताभाव के अधिकरण मे ही प्रतीयमानत्वरूप है। इसलिये इस चतुर्थलक्षण का द्वितीय मिथ्यात्व लक्षण से विलक्षणत्व है। इस लक्षण में दूषण और परिहार तो द्वितीयमिथ्यात्वलक्षण के समान समझना चाहिये (येन सबन्धविशेषेण येन चावच्छेदक–विशेषेण यदधिकरणताप्रतीतिर्यत्र भवितुर्महति तत्र तैनेव सबन्धविशेषेण, तेनैव चावच्छेदकविशेषेण तदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व मिथ्यात्वमिति विवक्षितत्वात् क्वापि न सिद्धसाधनादिदोष इत्यर्थः)।

शंका – घटादिसयोगी देश (भूतलादि) अथवा घटादिसमवायी देश (कपालादि) में घटादि का अत्यन्ताभाव असंभव है, सभव होने पर तो (प्रतियोगी और उसका अत्यन्ताभाव, दोनों का युगपत् एकदेश में होना संभव होने पर तो) कपालादि का घटादि के प्रति उपादानत्व नहीं होगा।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि काल मे जिस प्रकार प्रतियोगी और उसका अभाव दोनों का युगपत् सहसंभव होता है, वैसा ही देश मे भी सहसभव होने मे कोई विरोध नहीं (क्योंकि समसत्ता होने पर ही विरोध है, विषमसत्ता मे विरोध नही); और कपालादि देश में घटप्रागभाव वर्तमान होने से उपादानत्व का भी विरोध नही।

शंका – अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रागभाव का होना भी तो असंभव है। (क्योंकि प्राचीन नैयायिक अत्यन्ताभावाधिकरण मे ध्वंस और प्रागभाव नहीं मानते)।

समाधान – ऐसा भी न कहो, कारण कि कालरूप अधिकरण में व्यभिचार होता है (यदा यत्र यस्याऽत्यन्ताभावः, तदा तत्र न तस्य प्रागभावः – इस व्याप्ति में व्यभिचार है।)

शंका – काल मे प्रागभाव और अत्यन्ताभाव का समानाधिकरणत्व तो – कालिकसबन्ध से एतत्कालवृत्ति घटात्यन्ताऽभाव है तथा कालिकसंबन्ध से एतकालवृत्ति घटप्रागभाव है – ऐसी प्रतीति होने के बल से स्वीकृत है; और देश में तो अत्यन्ताभाव और प्रागभाव दोनों के दैशिक विशेषणतया एकाधिकरणत्व में कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान – ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि उसमे मिथ्यात्वानुमान और श्रुत्यादि प्रमाण है। विषमसत्ताक भाव और अभाव में अविरोध भी द्वितीयमिथ्यात्वविचार के प्रसंग में पहले ही

पूर्वमुपपादितः। न चासत्यतिव्याप्तिः, स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य विवक्षितत्वात्। न च 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्'(छा.६/२/१) इति श्रुत्याऽसतः सत्त्वप्रतीतेस्तत्रातिव्याप्तिर्दुष्परिहरेति वाच्यम्, 'सदेवेदमग्र आसीत्' इत्यस्यार्थस्याभाव एव नञा प्रतिपाद्यते, न त्वसतः सत्त्वम्, विरोधात्, अतो नातिव्याप्तिः। सर्वं चान्यत् पूर्वोक्तमेवानुसन्धेयमित्युपरम्यते।

इति चतुर्थमिथ्यात्वविचारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

उक्त हो चुका है (कपाल में घटात्यन्ताभाव परमार्थ है और घटप्रागभाव तो व्यावहारिक है — इस प्रकार विषमसत्ताकत्व होने से दोनों में अविरोध है)। और शशशृंगादि असत् में अतिव्याप्ति भी नहीं होगी; क्योंकि स्वात्यन्ताभाव के अधिकरण में ही सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूप मिथ्यात्व यहां विवक्षित है। (शशशृंग का तो वैसा नहीं होता)।

शंका — "इसके संबन्ध में कोई कहते हैं कि यह प्रपंच उत्पत्ति के पहले असत् ही था" इस श्रुति से असत् के सत्त्व की प्रतीति होने से असत् में अतिव्याप्ति दुष्परिहर है।

समाधान — "यह प्रपंच उत्पत्ति के पहले सत् ही था" इस श्रुति से प्रतिपाद्य सद्रूप अर्थ का अभाव अर्थात् सत्कार्य का अभाव ही नञ् से प्रतिपादित हुआ है, असत् के सत्त्व का प्रतिपादन नहीं, क्योंकि असत्त्वविशिष्ट असत् के सत्त्वविशिष्टत्व होने से विरोध है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। इससे अतिरिक्त शंका—समाधान तो द्वितीय मिथ्यात्वविचार में उक्त के साथ संबन्ध स्थापित करना चाहिये। इस कारण पूर्ण किया जाता है।

इति चतुर्थमिथ्यात्वविचारस्य राष्ट्रभाषानुवादः॥



६: अथ पंचममिथ्यात्वविचार:

सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम्। सत्त्वञ्च प्रमाणसिद्धत्वम्। प्रमाणत्वञ्च दोषासहकृत-ज्ञानकरणत्वम्, तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिध्यति। प्रमाणसिद्धत्वञ्चाबा-ध्यत्वव्याप्यमित्यन्यत्। अत्राप्यसति निर्धर्मके ब्रह्मणि चातिव्याप्तिवारणाय सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं विशेषणं देयम्, तयो: सत्त्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वाभावात्। अत एव सद्विविक्तत्वमित्यत्र सत्त्वं सत्ताजात्यधिकरणत्वं वा? अबाध्यत्वं वा? ब्रह्मरूपत्वं वा? आद्ये घटादावाविद्यकजाते—स्त्वयाभ्युपगमेनासम्भव:, द्वितीये बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वपर्यवसानम्, तृतीये सिद्धसाधनमिति निरस्तम्, अनभ्युपगमादेव। सदसद्विलक्षणत्वपक्षोक्तयुक्तयश्चात्रानु-सन्धेया:। अवशिष्टञ्च दृष्टान्तसिद्धौ वक्ष्याम:।

इत्यद्वैतसिद्धौ पञ्चममिथ्यात्वनिरुक्ति:

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अथवा सद्भिन्नत्व मिथ्यात्व है। (सत्त्व को जाति न समझे इस निमित्त कहते हैं) — और भेद का प्रतियोगितावच्छेदक सत्त्व यहां पर प्रमाणसिद्धत्व है, और प्रमाणत्व तो दोष से असत्कृत ज्ञानकरणत्व है (इसका अभिप्राय यह है — दोषरूप से अविद्या घटादि ज्ञान में निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं; इसलिये अविद्यानिष्ठनिमित्तकारणता के निरूपक ''तत्त्वमसि'' आदि वेदान्तवाक्यों से अजन्य घटादिप्रपंचज्ञान है, क्योंकि वह भ्रमरूप होने से अविद्यानिमित्तक है; और 'तत्त्वमसि'' आदि वाक्यजन्यज्ञान तो प्रमा होने से अविद्यानिमित्तक नहीं। अत: यहां पर प्रमाण केवल ''तत्वमसि'' आदिवाक्य हो सकता है, अन्य नहीं, उससे सिद्ध अद्वितीय सद्ब्रह्म है। उस सद्ब्रह्म से भिन्नत्व प्रपंच में रहेगा, इसलिये उसका मिथ्यात्व है)। इसलिये जिस प्रकार प्रमाणसिद्धभिन्नत्व होने से स्वप्नादि मिथ्यात्व होता है, उसी प्रकार घटादि प्रपच का भी मिथ्यात्व सिद्ध होता है। और प्रमाणसिद्धत्व तो अबाध्यत्व का व्याप्य है; इसलिये प्रपंच में अबाध्यत्व व्यापक के अभाव से व्याप्य प्रमाणसिद्धत्व का अभाव होना तो दूसरी बात है (अथवा—दोषासहकृतज्ञानकरणरूप प्रमाणसिद्धत्व के स्थान में अबाध्यविषयकधीजनक रूप प्रमाणसिद्धत्व क्यों नहीं कहते? ऐसी शंका होने पर उत्तर देते है —''बाध्यत्वं मिथ्यात्वम्'' इतना मात्र लक्षण हो सकता है तो ''बाध्यविषयकधी...'' इत्यादि कथन निष्प्रयोजन है; इसलिये यह लक्षण बाध्यत्वघटित से भिन्न ही है)। इस लक्षण में भी शशशृंगादि असत् और निर्धर्मक ब्रह्म में अतिव्याप्तिवारण के लिये ''सत्वेन प्रतीयमानत्व'' विशेषण देना चाहिये, क्योंकि दोनों में सत्त्व प्रकारक प्रतीतिविषयत्व नहीं (लक्षण का स्वरूप — सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे सति प्रमाणसिद्धभिन्नत्वं मिथ्यात्वम्। शुद्धब्रह्म में इसलिये अतिव्याप्ति है कि वृत्त्युपहित ब्रह्म में ही प्रमाणसिद्धत्व है, शुद्धब्रह्म तो स्वयं प्रकाशत्वेन स्वत: सिद्ध है)। इस कारण — ''सद्विविक्तत्व'' इस लक्षण में सत्त्व क्या सत्ताजात्यधिकरणत्व है? अथवा अबाध्यत्व है? अथवा ब्रह्मरूपत्व है? आद्यपक्ष में तो घटादि में भी आविद्यकजाति आपके मानने के कारण असम्भव है; द्वितीय में बाध्यत्वरूप मिथ्यात्व में पर्यवसान होता है; और तृतीय में सिद्धसाधन है — ऐसा कथन निरस्त हुआ, क्योंकि इन सब पक्षों को हम नहीं मानते। और यहां पर सदसद्विलक्षणत्वरूप प्रथममिथ्यात्व के लक्षण में कही गई युक्तियां अनुसंधेय है। और जो कुछ अवशिष्ट होगा, वह दृष्टान्तसिद्धि में कहा जायेगा।।

इति पंचममिथ्यात्वनिरुक्ते:राष्ट्रभाषाऽनुवाद:।।

७: अथ मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः

नन्वुक्तमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापातः, एकस्मिन् धर्मिणि प्रसक्तयोः विरुद्ध धर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वनियमात्, मिथ्यात्वसत्यत्वे च तद्वदेव प्रपञ्चसत्यत्वापत्तेः, उभयथाप्यद्वैतव्याघात इति चेन्न, मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वानुपपत्तेः। तत्र हि विरुद्धयोर्धर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वम्, यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकमुभयवृत्ति न भवेत्। यथा परस्परविरहरूपयो रजतत्वतदभावयोः शुक्तौ, यथा वा परस्परविरहव्यापकयो रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः तत्रैव; तत्र निषेध्यतावच्छेदकभेदनियमात्। प्रकृते तु निषेध्यतावच्छेदकमेकमेव दृश्यत्वादि, यथा गोत्वाश्वत्वयोरेकस्मिन् गजे निषेधे गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्वं निषेध्यतावच्छेदकमुभयोस्तुल्यमिति नैकतरनिषेधेऽन्यतरसत्त्वम्, तद्वत्। यथा च सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्, न वा परस्परविरहव्यापकत्वम्, तथोपपादितमधस्तात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – पूर्वोक्त मिथ्यात्व का मिथ्यात्व होने पर प्रपंच का सत्यत्व सिद्ध होगा, क्योंकि एक धर्मी में ज्ञात विरूद्ध दो धर्मों में से एक धर्म का मिथ्यात्व होने पर दूसरे धर्म का सत्यत्व होना नियम है। अर्थात् दोनों में से एक धर्म का अधिक सत्ताकत्व नियम है, और मिथ्यात्व का सत्यत्व होने पर मिथ्यात्व के समान ही प्रपंच के सत्यत्व की आपत्ति होगी (अर्थात् मिथ्यात्व का साधकमान मिथ्यात्व के मिथ्यात्व में यदि प्रवृत्त नहीं हैं तो प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करने के लिये भी प्रवृत नहीं होना चाहिये)। इसलिये दोनों तरफ से अद्वैत का व्याघात है (अर्थात् मिथ्यात्व को मिथ्या मानें तो प्रपंच की सत्यत्वापत्ति से अद्वैतव्याघात, तथा मिथ्यात्व को सत्य मानें तो उससे अद्वैत व्याघात है)।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व का मिथ्यात्व होने पर भी प्रपंच का सत्यत्व नहीं हो सकता। कारण कि – विरूद्ध दो धर्मों में से एक का मिथ्यात्व होने पर दूसरे का सत्यत्व वहां हीं होता है, जहां मिथ्यात्व का अवच्छेदक (दृश्यत्वादि धर्म) उभय में न रह कर एक में ही रहता हो। यथा – परस्परविरहरूप रजतत्व और रजतत्वाभाव का शुक्ति में होता है (शुक्ति में ''रजतं नास्ति'' इस निषेध का निषेध्यतावच्छेदक रजतत्व है और ''रजतत्वाभावो नास्ति'' इस निषेध में तो रजतत्वाभावत्व निषेध्यतावच्छेदक है। इस प्रकार निषेध्यतावच्छेदक भेद होने के कारण उनसे अवच्छिन्न अन्यतर के निषेध से दूसरे का रह जाना आवश्यक है)। यथा वा – परस्परविरह के व्यापक रजतभिन्नत्व और रजतत्व का शुक्ति में ही होता है (यत्र रजतत्वाभावः तत्र रजतभिन्नत्वम्; यत्र रजतभिन्नत्वाभावः, तत्र रजतत्वं – इस प्रकार परस्परविरहव्यापक रजतभिन्नत्व और रजतत्व में से किसी एक का शुक्ति में निषेध करने पर अन्य का सत्त्व निषेध्यतावच्छेदक भेद के कारण होता है)। इसलिये ऐसे स्थलों में निषेध्यतावच्छेदकभेद होना नियम है। प्रकृत मिथ्यात्व और प्रपंच में तो दृश्यत्वादिरूप एक ही निषेध्यतावच्छेदक है। यथा – एक ही गज में गोत्व और अश्वत्व के निषेध करने में गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्व रूप निषेध्यतावच्छेदक दोनों में समान है; इस कारण एकतर के निषेध होने पर अन्यतर का सत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत में भी है। और जिस प्रकार से सत्यत्व और मिथ्यात्व का परस्पर विरहरूपत्व नहीं होता, अथवा परस्पर विरहव्यापक दोनों नही होते; वह प्रकार प्रथममिथ्यात्वविचार के प्रसंग में उपपादित हो चुका है।

परस्परविरहरूपत्वेऽपि विषमसत्ताकयोरविरोधात्, व्यावहारिकमिथ्यात्वेन व्यावहारिकसत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिकसत्यत्वानपहारात्, तार्किकमतसिद्धसंयोगतदभाववत् (व्यावहारिक) सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयाभ्युपगमाच्च। एकसाधकेनापरस्य बाध्यत्वं विषमसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा शुक्तिरूप्यतदभावयोः। एकबाधकबा ध्यत्वञ्च समसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा शुक्तिरूप्यशुक्तिभिन्नत्वयोः। अस्ति च प्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोरेकब्रह्मज्ञानबाध्यत्वम्। अतः समसत्ताकत्वान्मिथ्यात्वबाधकेन प्रपञ्चस्यापि बाधान्नाद्वैतक्षति(हानि)रिति कृतमधिकेन।

इति मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

और दोनों में परस्परविरहरूपत्व मानने पर भी विषमसत्ताकत्व होने से विरोध नहीं होता, क्योंकि व्यावहारिकमिथ्यात्व से व्यावहारिकसत्यत्व की निवृत्ति होने पर भी प्रपंचनिष्ठकाल्पनिकसत्यत्व का अपहार नहीं होता, और तार्किकमत से सिद्ध संयोग और संयोगाभाव जिस प्रकार एकाधिकरण में रहते हैं, उसी प्रकार व्यावहारिकसत्यत्व और मिथ्यात्व दोनो का एकाधिकरण मे समुच्चय माना जाता है। और एक पदार्थ के साधक से अन्य पदार्थ का बाध्यत्व उन दोनों पदार्थों के विषमसत्ताकत्व में प्रयोजक (व्याप्य) है, जैसे शुक्तिरूप्य और शुक्तिरूप्याभाव में विषम सत्ताकत्व होता है। और एक बाधकबाध्यत्व (एक ही बाधक से दोनों का बाध्यत्व) दोनों के समसत्ताकत्व में प्रयोजक (व्याप्य) है (अर्थात् – ''यत्र एकबाधकबाध्यत्वम्, तत्र समसत्ताकत्वम्'' यह व्याप्ति होगी)। जैसे शुक्ति में शुक्तिरूप्य और शुक्तिभिन्नत्व का एकबाधकबाध्यत्व होता है। और प्रपंच और उसका मिथ्यात्व दोनों मे एकब्रह्मज्ञानबाध्यत्व है। अतः दोनों में समसत्ताकत्व होने से मिथ्यात्वबाधक मान से प्रपंच का भी बाध होने के कारण अद्वैत की हानि नहीं होती। इससे अधिक लिखने में कोई लाभ नही।

इति मिथ्यात्वसामान्योपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।



८ : अथ दृश्यत्वहेतूपपत्तिः

ननु मिथ्यात्वे साध्ये हेतूकृतं यद् दृश्यत्वं तदप्युपपादनीयम्। तथा हि किमिदं दृश्यत्वम्? वृत्तिव्याप्यत्वं वा?। फलव्याप्यत्वं वा?। साधारणं वा? कदाचित् कथञ्चिच्चिद्विषयत्वं वा? स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविद(न्तरा)पेक्षानियतिर्वा? अस्वप्रकाशत्वं वा? नाद्यः, आत्मनो वेदान्तजन्यवृत्तिव्याप्यत्वेन तत्र व्यभिचारात्। अत एव न तृतीयोऽपि। नापि द्वितीयः, नित्यातीन्द्रिये शुक्तिरूप्यादौ च तदभावेन भागासिद्धिसाधनवैकल्ययोः प्रसङ्गात्। नापि चतुर्थः, ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातमित्यनुभवेन आत्मनि व्यभिचारात्। नापि पञ्चमः, ब्रह्मण्यप्यद्वितीयत्वादिविशिष्टव्यवहारे संविदन्तरापेक्षानियतिदर्शनेन व्यभिचारात्। नापि षष्ठः, स हि अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपः, तथा च शुक्तिरूप्यादेरप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन साधनवैकल्यादिति चेन्मैवम्, फलव्यायत्व-व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यापि पक्षस्य क्षोदक्षमत्वात्। न च वृत्तिव्याप्यत्वपक्षे ब्रह्मणि व्यभिचारः,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — अब हेतु में अन्य द्वारा कहे हुए दूषणों के परिहार करने के लिये शंका उठाते हैं — मिथ्यात्व साध्य में हेतु किया हुआ जो दृश्यत्व है, वह भी उपपादनीय है — किन्तु उस का उपपादन नहीं हो सकता। तथाहि — क्या वह दृश्यत्व वृत्ति का आकाराख्य विषयत्व है? या तत्तदाकारान्तःकरणवृतिप्रतिबिम्बित चैतन्य का तादात्म्यरूप विषयत्व है? या वृत्तिव्याप्यत्व और फलव्याप्यत्व का अन्यतरत्व है? या किञ्चित्कालावच्छिन्न होकर आवृतानावृतसाधारण चित् का तादात्म्यरूप विषयत्व है? या स्वव्यवहार में स्वातिरिक्तसंवित् की अपेक्षा नियति हैं? (यहां पर स्वपद से मिथ्यात्वेनाभिमत पदार्थ का ग्रहण है और नियति का अर्थ व्याप्ति है; अतः स्वातिरिक्तसंविदपेक्षाव्याप्यस्वव्यवहारकत्व — इसका अर्थ है)। या अस्वप्रकाशत्व नाम दृश्यत्व है? आद्यपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा वेदान्तवाक्यजन्य वृत्ति का विषय होने के कारण, उसमें (आत्मा में) व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है। अतएव वृतिव्याप्यत्व फलव्याप्यत्वान्यतरवत्त्वरूप तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि अन्यतरवत्त्व कहने के कारण वृत्तिव्याप्यत्व को लेकर उक्त व्यभिचार होता है। फलव्याप्यत्वरूप द्वितीय पक्ष भी नहीं, क्यों नित्यातीन्द्रिय पदार्थ और शुक्तिरूप्यादि में केवलसाक्षिभाष्यत्व होने के कारण फलव्याप्यत्व का अभाव होने से, क्रम से भागासिद्धि (पक्षैकदेश में हेतु की स्वरूपासिद्धि), और साधनवैकल्य का प्रसंग है तथा कदाचित् कथंचिद्विषयत्वरूप चतुर्थपक्ष भी नहीं हो सकता; कारण कि —"ब्रह्म पहले ज्ञात नहीं था, अब वेदान्त से ज्ञात हुआ" ऐसा अनुभव होने के कारण ब्रह्मात्मक आत्मा में व्यभिचार है। और स्वव्यवहार में स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूप पंचम पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म में भी "ब्रह्म अद्वितीयम्" इस प्रकार के अद्वितीयत्वादिविशिष्ट व्यवहार करने में ज्ञानान्तर की अपेक्षानियति देखने से व्यभिचार होता है। तथा अस्वप्रकाशत्व रूप षष्ठ पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि अवेद्यत्व (फलव्याप्यत्वरहित) होने पर अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व स्वप्रकाशत्व है और उस योग्यत्व का अभाव रूप अस्वप्रकाशत्व है। तब तो फलव्याप्यत्वासमानाधिकरणक अपरोक्षव्यवहार योग्यत्व शुक्तिरूप्यादि में भी होने से साधन वैकल्य है।

समाधान — ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि फलव्याप्यत्व पक्ष को छोड़कर सब पक्षों में विचार सहत्व है।

अन्यथा ब्रह्मपराणां वेदान्तानां वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति वाच्यम्, शुद्धं हि ब्रह्म न दृश्यम्, 'यत्तदद्रेश्यम्' (मु.१/१/६) इति श्रुतेः, किन्तूपहितमेव, तच्च मिथ्यैव, न हि वृत्ति-दशायामनुपहितं तद्भवति। न च—'सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' (ब्रह्मसिद्धि ४/३) इति स्ववचनविरोध इति वाच्यम्, तस्याप्युपहितपरत्वात्। न चैवं सति शुद्धसिद्धिर्न स्यादिति वाच्यम्, स्वत एव तस्य (स्व)प्रकाशत्वेन सिद्धत्वात्।। नन्वज्ञाते धर्मिणि कस्यचिद् धर्मस्य विधातुं निषेद्धुं वाऽशक्यत्वेन शुद्धे दृश्यत्वं निषेधता शुद्धस्य ज्ञेयत्वमवश्यं स्वीकरणीयम्। न च स्वप्रकाशत्वेन स्वतः सिद्धे शुद्धे श्रुत्या दृश्यत्वनिषेध इति वाच्यम्, शुद्धं स्वप्रकाशमिति शब्दजन्यविशिष्टवृतौ शुद्धाप्रकाशे तस्य स्वप्रकाशत्वा-सिद्धेरिति चेन्न, वृत्तिकाले वृत्तिरूपेण धर्मेण शुद्धत्वासम्भवात्, शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वं न सम्भवति, अतः 'शुद्धं स्वप्रकाशम्' इति वाक्यस्य लक्षणयाऽशुद्धत्वमस्वप्रकाशत्व-व्यापकमित्यर्थः। तथा चाशुद्धत्वव्यावृत्या शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति, यथा भेदनिषे-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — वृत्तिव्याप्यत्व पक्ष में ब्रह्म में व्यभिचार है, अन्यथा ब्रह्म का वृत्तिव्याप्यत्व न माना जाय तो ब्रह्म परक वेदान्तों का वैयर्थ्य प्रसंग आता है।

समाधान — यह कथन अनुचित है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म वृत्तिव्याप्यरूप दृश्य नहीं, कारण कि "जो शुद्ध ब्रह्म है, वह अदृश्य है" यह श्रुतिप्रमाण है, किन्तु वृत्त्युपहित ब्रह्म ही दृश्य है, और वह उपहित ब्रह्म तो मिथ्या ही है, वृत्ति होने के काल में वह अनुपहित (उपाधिरहित) नहीं होता।

शंका — "सर्वज्ञानों से वेद्य इस व्यवस्थित ब्रह्मरूप में" इस स्वाचार्य ब्रह्मसिद्धिकार के वचन से विरोध है (इस कारिका का उत्तरार्द्ध है —"प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते")।

समाधान — ऐसा भी न कहो, क्योंकि आचार्य कथित यह वचन भी उपहित ब्रह्म परक है।

शंका — ऐसा ही मानेंगे तो शुद्ध ब्रह्म की सिद्धि नहीं होगी।

समाधान — यह कथन भी उचित नहीं; क्योंकि स्वयंप्रकाशरूप होने से वह स्वतः ही सिद्ध है।

शंका — अज्ञात् धर्मी में किसी एक धर्म का विधान या निषेध करना असम्भव होने से शुद्ध ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व के निषेध करने वाले आप से शुद्ध ब्रह्म का ज्ञेयत्व अवश्य स्वीकार्य है (तब तो ब्रह्म में व्यभिचार होता ही है)। और स्वप्रकाशत्वेन स्वतःसिद्ध शुद्धब्रह्म में "यत्तदद्रेश्यम्" इस श्रुति से दृश्यत्व का निषेध है — ऐसा भी कहना नहीं चाहिये, क्योंकि "शुद्ध ब्रह्म स्वप्रकाश है" इस शब्द जन्य विशिष्ट वृत्ति में शुद्ध का अप्रकाश होने पर उस शुद्ध के स्वप्रकाशत्व की असिद्धि हो जायेगी।

समाधान — ऐसा कथन अयुक्त है; क्योंकि शुद्ध के वृत्तिविषयत्व का स्वीकार करने पर तो वृत्तिकाल में वृत्तिरूप धर्म से शुद्धत्व ही नहीं हो सकता, इसलिये शुद्ध का वृत्तिविषयत्व संभव नहीं। इस प्रकार शुद्ध के वृत्तिविषयत्व होने में स्वप्रकाशत्व का विरोध होने के कारण "शुद्ध स्वप्रकाश है" इस वाक्य का लक्षणावृत्ति से "अशुद्धत्व अस्वप्रकाशत्व का व्यापक है" यह अर्थ है। तब तो व्यापकभूत अशुद्धत्व की निवृत्ति होने से शुद्ध में व्याप्य अस्वप्रकाशत्व की निवृत्ति होने कारण स्वप्रकाशत्व पर्यवसित होता है; जैसे भेद के निषेध से अभिन्नत्व पर्यवसित होता है।

शंका — केवल शुद्धपद में अभिधावृत्ति अथवा लक्षणावृत्ति द्वारा शुद्धब्रह्म का अप्रकाश

धेनाभिन्नत्वम्। न च शुद्धपदेनाभिधया लक्षणया वा शुद्धाप्रकाशे तत्प्रयोगवैयर्थ्यमिति वाच्यम्; पर्यवसितार्थमादाय सार्थकत्वोपपत्तेः। एवञ्च 'शुद्धं न दृश्यं न मिथ्या' इत्यस्याप्य-शुद्धत्वं दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यापकमित्येतत्परत्वेन शुद्धे दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यतिरेकः पर्यवस्यति। एतेन स्फुरणमात्रमेव मिथ्यात्वे तन्त्रम्, लाघवात्। अतः 'स्वतःस्फुरदपि ब्रह्म मिथ्यैव' इति शून्यवादिमतमपास्तम्; स्वतःस्फुरणरूपतायाः शुक्तिरूप्यादावभावात्, स्फुरणविषयत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः।

ननु विशिष्टज्ञाने विशेष्यस्यापि भाने श्रुत्या विशिष्टस्य दृश्यत्वेनैव विशेष्यस्यापि दृश्यत्वाद् व्यभिचारः। न च 'विष्णवे शिपिविष्टाय' इत्यादौ विशिष्टस्य देवतात्ववद् विशिष्टस्य विषयत्वम्, अग्नीषोमयोर्मिलितयोर्देवतात्ववद्वा मिलितस्य विषयत्वम्, अतो न विशेष्ये विषयत्वमिति वाच्यम्, तद्वदेव विशेषणस्याप्यविषयत्वे भागासिद्धिप्रसङ्गादिति चेन्न, विशेष्यतापन्नस्य विषयत्वेऽपि क्षत्यभावात्, तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। अत एवोप-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने पर तो शुद्धपद का प्रयोग व्यर्थ होगा।

समाधान — ऐसा भी न कहो; क्योंकि केवल शुद्धपद से पर्यवसितार्थ असम्भव होने पर भी "शुद्धं स्वप्रकाशम्" इस प्रकार प्रयोग होने पर शुद्ध में स्वप्रकाशत्वाभाव ज्ञान के असम्भवरूप पर्यवसित प्रयोजन को लेकर सप्रयोजनवत्त्व हो सकता है। इस प्रकार वृत्तिविषयत्व के बिना शुद्ध ब्रह्म में प्रयोजनसिद्धि संभव होने पर, "शुद्ध न दृश्य है, न मिथ्या है"— यह वचन भी अशुद्धत्व, दृश्यत्व और मिथ्यात्व का व्यापक है —"इस अर्थ परकत्व होने से अशुद्धत्वरूप व्यापक के अभाव से शुद्ध में दृश्यत्व और मिथ्यात्वरूप व्याप्य का अभाव पर्यवसित होता है। एवं वक्ष्यमाण हेतु से स्फुरणमात्र ही मिथ्यात्व में प्रयोजक है, क्योंकि उसमें लाघव है (और अन्ततः स्फुरण या स्वतः स्फुरण को प्रयोजक मानना गौरव है)। अतः "स्वतः स्फुरत् होता हुआ भी ब्रह्म (क्षणिकविज्ञानवादी के मत में सर्वविषयक निरुपप्लव क्षणिकविज्ञान की सन्तान में प्रविष्ट विज्ञान) भी मिथ्या है" यह शून्यवादी का मत भी निराकृत हुआ; क्योंकि हमारे मत में शुक्तिरूप्यादि में स्वतःस्फुरणता नहीं और ब्रह्म में भी स्फुरणविषयत्व की असिद्धि है।

शंका — भले ही केवल शुद्ध का वृत्तिविषयत्व न हो तो भी विशिष्टविषयक ज्ञान में (विशेषण, विशेष्य और दोनों का संसर्ग — इन तीनों को विषय करने वाले ज्ञान में) विशेष्य (शुद्ध) का भान होने पर "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादि गुण विशिष्ट ब्रह्मबोधक श्रुति से विशिष्ट के दृश्यत्व होने के कारण विशेष्य शुद्ध का भी दृश्यत्व होने से उसमें व्यभिचार होता है। और "रश्मियों से आविष्ट सूर्य के लिये" इत्यादि में जिस प्रकार रश्मिविशिष्ट विष्णु का देवतात्व होता है (शुद्धविष्णु का नहीं होता), उसी प्रकार सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का विषयत्व है (शुद्ध का नहीं) अथवा "अग्निषोमीयपशुमालभेत" इत्यादि में मिलित अग्निसोम का जिस प्रकार देवतात्व होता है (अलग–अलग का नहीं होता), उसी प्रकार विशेषण–विशेष्यमिलित अशुद्ध का विषयत्व है, अतः विशेष्य शुद्ध में विषयत्व नहीं — ऐसा भी कहना नहीं चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार विशेष्य मात्र में विषयत्व नहीं है, उसी प्रकार विशेषणमात्र का भी अविषयत्व होने पर विशेषणरूप पक्षैकदेश में वृत्तिव्याप्यत्व रूप दृश्यत्व हेतु की स्वरूपासिद्धि होने का प्रसंग होगा।

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेष्यतापन्न ब्रह्म का विषयत्व होने पर भी हमारे पक्ष में हानि

हितविषयत्वेऽप्युपधेयविषयत्वमक्षतमेवेत्यपास्तम्, उपहितात्मना तस्यापि मिथ्यात्वाभ्युपगमात्, ज्ञानान्तरविषयत्वेन विशेषणे भागासिद्ध्यभावाच्च।

ननु वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेरुपहितविषयत्वे तदानीमुपाध्यन्तराभावेन तस्या एवोपधायकत्वात् स्वविषयत्वापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, शाब्दबोधे शब्दानुपस्थिताभाननियमेन वृत्तेः शब्दानुपस्थिताया भानानुपपत्तेः, यथाकथञ्चिदुपपत्तौ वा न ततोऽज्ञानतत्कार्ययोर्निवृत्तिः स्यात्; अज्ञानतत्कार्याविषयकज्ञानस्यैव तदुभयनिवर्तकत्वाद्, अन्यथा 'अहमज्ञः, अयं घटः' इत्यादिज्ञानानामप्युपहितविषयकत्वेनाज्ञाननिवर्तकत्वप्रसङ्ग इति चेन्न; वृत्तेः शाब्दवृत्तावनवभासमानाया एवोपधायकत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः— 'शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्। एवञ्च नानुपहितस्य विषयता, वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते; न तु भास्यतया विषयकोटिप्रवेशेन' इति। अयमभिप्रायः— यथा अज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नाज्ञानं साक्षिकोटौ प्रविशति,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं होती, कारण कि विशेष्यभूत ब्रह्म का मिथ्यात्व स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार शुद्ध में वृत्तिविषयत्व न मानने के कारण — उपाधियुक्त के विषयत्व होने में भी उपधेय पदार्थ का विषयत्व होना अक्षत ही है — ऐसा कथन अपास्त हुआ, क्योंकि उपहितरूप से ही उपधेय ब्रह्म का भी मिथ्यात्व माना जाता है और विशिष्ट विषयक ज्ञान में विशेषण मात्र का अविषयत्व होने पर भी विशिष्टाविषयकज्ञानविषयत्व विशेषण में होने से भागासिद्धि नहीं होती।

शंका — वेदान्तजन्य अखण्डाकार वृत्ति का उपहितब्रह्मविषयकत्व होने पर वृत्तिकाल में वृत्यतिरिक्त उपाधि का अभाव होने से वही वृत्ति ही उपाधिरूप होने के कारण; उसमें स्वविषयकत्व की आपत्ति होगी। इसमें दृष्टापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शाब्दबोध में (शब्दजन्य ज्ञान में) शब्द से अनुपस्थित पदार्थो के अभान का नियम होने से शब्द द्वारा अनुपस्थित वृत्ति का भान नहीं हो सकता। और यथाकथंचित् अर्थात् शाब्दवृत्ति में वृत्तिभिन्न शब्दानुपस्थिति का ही अभान है — ऐसा स्वीकार करके वृत्ति का भान मान भी लिया जाय, तो भी उस वृत्ति से मूलाज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि मूलाज्ञान और उसके कार्य को विषय न करने वाला ज्ञान ही अज्ञान और तत्कार्य उभय का निवर्तक है (अर्थात् समानविषयतया ज्ञान और अज्ञान दोनों में निवर्तक निवर्त्यभाव होने से और तादृशशाब्दवृत्ति में अज्ञान समान विषयकत्व न होने से वह वृत्ति अज्ञान और तत्कार्य की निवृत्तिका कारण नहीं हो सकती)। यदि भिन्नविषयक ज्ञान अज्ञान का निवर्तक माना जाय तो "मै अज्ञ हूँ, यह घट है" इत्यादि ज्ञानों का भी अज्ञानादिविशिष्टात्मविषयकत्व होने से अज्ञाननिवर्तकत्व का प्रसंग होगा।

समाधान — ऐसा नहीं, क्योंकि शाब्दवृत्तिरूपज्ञान में अप्रतीयमान ब्रह्माकार अन्तःकरणवृत्ति ही उपाधि मानी जाती है। इस बात को कल्पतरूकार ने कहा है — "शुद्ध ब्रह्म को विषय करने वाली वृत्ति अपनी और अपने से भिन्न उपाधियों की निवृत्ति का हेतु होकर उदित होती है, कारण कि अपने आप भी एक उपाधि है; उसमें कोई विशेषता नहीं। इस प्रकार अनुपहित ब्रह्म की विषयता नहीं होती। और "वृत्ति से उपहित ब्रह्म विषय है" इस व्यवहार में वृत्ति का विषयत्व रूप संबन्ध विद्यमानत्वमात्र से उपयुक्त होता है, न कि भाष्य होकर विषय कोटि में प्रवेश करके" इति। इसका यह अभिप्राय है — जिस प्रकार अज्ञानोपहित चैतन्य साक्षी होने पर उपाधिभूत अज्ञान

जड़त्वात्, किन्तु साक्ष्यकोटावेव, एवं वृत्त्युपहितस्य विषयत्वेऽपि न वृत्तिर्विषयकोटौ प्रविशति, स्वस्याः स्वविषयत्वानुपपत्तेः, किन्तु स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां सम्पादयतीति न काप्यनुपपत्तिः। एतेन ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वं व्याख्यातम्; अज्ञानमपि हि स्वोपधानदशायामेव ब्रह्म विषयीकरोति; स्वानुपधानदशायां स्वस्यैवाभावात्। तथा च ज्ञानाज्ञानयोरुभयोरप्युपाध्यविषयकत्वे सत्युपहितविषयकत्वात् समानविषयत्वमस्त्येव। एतेनोपाधिविषयज्ञानानामज्ञानानिवर्तकत्वं व्याख्यातम्; अज्ञानस्योपाध्यविषयत्वेन समान-विषयत्वाभावात्, समानविषयत्वेनैव तयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावात्। वस्तुतस्तु शब्दाजन्य-वृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्; अन्यथा शशविषाणं तुच्छमित्यादिशब्दजन्यवृत्तिविषये तुच्छे व्यभिचारस्य दुरुद्धरत्वात्। एवञ्च सति शुद्धस्य वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि न तत्र व्यभिचारः; तुच्छशुद्धयोः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वानभ्युपगमात्। यद्वा सप्रकारकवृत्ति-विषयत्वमेव दृश्यत्वम्, प्रकारश्च सोपाख्यः कश्चिद्धर्मः, तेन निष्प्रकारकज्ञानविषयीभूते शुद्धे निरुपाख्यधर्मप्रकारज्ञानविषयीभूते तुच्छे च न व्यभिचारः। अभावत्वस्यापि सोपाख्यत्वादभावत्वप्रकारकज्ञानविषयीभूतेऽभावे न भागासिद्धिः। उपाख्या चास्तीतिधी-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

जड़ होने से साक्षिकोटि में प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु साक्ष्य कोटि में ही रहता है; उसी प्रकार वृत्त्युपहित ब्रह्म विषय होने पर भी उपाधिभूतवृत्ति विषयकोटि में प्रविष्ट नहीं होती, क्योंकि अपने आप अपने आप का विषय नहीं हो सकता, किन्तु स्वयं अविषय होने पर भी वृत्ति, चैतन्य की विषयता का सम्पादन करती है। इसलिये इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं हो सकती। इससे ज्ञान और अज्ञान दोनों का समानविषयकत्व भी व्याख्यात हुआ, क्योंकि अज्ञान भी अपने से उपहितत्व दशा में ही ब्रह्म को विषय करता है, कारण कि अज्ञान से अनुपहितत्व दशा में उसका स्वतः ही अभाव होता है (इस लिये ज्ञान और अज्ञान दोनों का भी उपाध्यविषयकत्व होने पर उपहित विषयकत्व होने से समानविषयकत्व है ही)। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान के समानविषयकत्व व्यवस्थापन से घटादिक उपाधि को विषय करने वाले ज्ञानों के अज्ञान का अनिवर्तकत्व भी व्याख्यात हुआ क्योंकि अज्ञान के घटाद्युपाध्यविषयत्व होने से ज्ञान के साथ समानविषयत्व नहीं होता और समानविषयत्व होकर ही दोनों का निवर्त्यनिवर्तकत्व होता है। वास्तव में तो शब्द से अजन्य वृत्ति का विषयत्व ही दृश्यत्व है, यदि शब्दाजन्य विशेषण नहीं देंगे तो "शशविषाण तुच्छ है" इत्यादि शब्द जन्य वृत्ति के विषय तुच्छ में व्यभिचार का निवारण असम्भव होगा। इस प्रकार के दृश्यत्व मानने पर तो शुद्ध ब्रह्म में वेदान्त जन्य वृत्ति का विषयत्व होने पर भी शुद्ध ब्रह्म में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि तुच्छ और ब्रह्म में शब्द से अजन्य वृत्ति का विषयत्व नहीं माना जाता। अथवा सप्रकारक वृत्ति का विषयत्व दृश्यत्व है; और प्रकार तो सोपाख्यत्वरूप (अस्तीति सत्तादात्म्ययोग्यत्वरूप) कोई एक धर्म है। इसलिये निष्प्रकारक ज्ञान के विषयीभूत शुद्ध ब्रह्म और निरूपाख्य धर्म प्रकारक ज्ञान के विषयीभूत तुच्छ में व्यभिचार नहीं होता। और अभावत्व भी सोपाख्यत्व होने से अभावत्वप्रकारक ज्ञान के विषयीभूत अभाव में भागासिद्धि (पक्षैकदेशभूत अभाव में हेतु की स्वरूपासिद्धि) नहीं होगी। और उपाख्या तो "अस्ति" बुद्धि का विषयत्वादि रूप है। इस प्रकार वृत्तिव्याप्यत्व के समर्थन से वृत्तिव्याप्य और फलव्याप्य इन दोनों

विषयत्वादीत्यन्यत्। एतेन वृत्तिव्याप्यफलव्याप्ययोः साधारणं व्यवहारप्रयोजकविषयत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः; ब्रह्मणि तुच्छे च व्यभिचारपरिहारोपायस्योक्तत्वात्। यद्वा दृश्यत्वं चिद्विषयत्वम्, तच्च यथा कथञ्चिच्चित्सम्बन्धित्वरूपं हेतुः, तच्च न चैतन्ये; अभेदे भेदनान्तरीयकस्य सम्बन्धस्याभावाद्, अतो न व्यभिचारः। तुच्छे च व्यभिचारः परिहरणीयः। यद्वा स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूपं दृश्यत्वं हेतुः; संविच्छब्देन च विषयाभिव्यक्तं वा वृत्त्यभिव्यक्तं वा (शुद्धं वा) चैतन्यमात्रमभिप्रेतम्, तथा च घटादौ नित्यातीन्द्रिये साक्षिभास्ये च सर्वोऽपि व्यवहारः स्वातिरिक्तसंवित्सापेक्ष इति नासिद्धिः। व्यवहारश्च स्फुरणाभिवदनादिसाधारणः। तत्र ब्रह्मणः स्फुरणरूपे व्यवहारे नित्यसिद्धे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षा नास्तीति नियतिपदेन व्यभिचारवारणम्। स्वगोचरयावद्व्यवहारे स्वातिरिक्तिसंविदपेक्षायां पर्यवसानात्। अत एवास्वप्रकाशत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः, स्वप्रकाशत्वं हि स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वम्, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. ३/४/१) इति श्रुतेः। तथा चान्यान—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

मे अनुगत व्यवहार के प्रयोजक फलविषयत्व और वृत्तिविषयत्व का अन्यतर रूप दृश्यत्व भी हेतु है; क्योंकि ब्रह्म और तुच्छ मे व्यभिचार के परिहार का उपाय कहा जा चुका है। अथवा दृश्यत्व चिद्विषयत्व है; और वह चिद्विषयत्व तो साक्षात् या परम्परारूप से चित्संबन्धित्व रूप हेतु हैं; और वह चित्संबन्धित्व शुद्ध चैतन्य में नहीं है; क्योंकि अभेद में भेद के साथ अविनाभावी भेदघटित संबन्ध का अभाव है। अतः व्यभिचार नहीं और तुच्छ में भी इस प्रकार व्यभिचार का परिहार करना चाहिये अर्थात् सत्‌रूप हेतु का अधिकरण भी अवश्य सत् होना चाहिये; असत् रूप तुच्छ में सत्‌रूप हेतु की वृत्ति नहीं हो सकती; अतः तुच्छ में हेतु का व्यभिचार नहीं। अथवा — अपने व्यवहार में अपने से अतिरिक्त संवित् की अपेक्षा का नियतिरूप दृश्यत्व हेतु है। यहां पर संवित् शब्द से विषयावच्छेदेन अभिव्यक्त चैतन्यमात्र (विषयगतवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य), या स्वाकारान्तःकरणवृत्ति प्रतिबिम्बितचैतन्य मात्र अभिप्रेत है। तब तो घटादि में, नित्यातीन्द्रिय धर्माधर्मादि में और साक्षिभास्य रज्जु सर्पादि में जो कुछ व्यवहार होता है, उन सबमें स्वातिरिक्त संवित् की सापेक्षा नियतरूप से है; अतः हेतु की स्वरूपासिद्धि नहीं होती। और व्यवहार तो स्फुरण, अभिवदनादि साधारण समझना चाहिये। उसमें ब्रह्म के नित्यसिद्ध स्फुरण रूप व्यवहार में ब्रह्मरूप चैतन्य से अतिरिक्त संवित् की अपेक्षा न होने के कारण ''नियति'' पद से व्यभिचार का निवारण हो जाता है। क्योंकि स्वविषयक जितने व्यवहार होते हैं, उन सब व्यवहारों में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा में लक्षण का पर्यवसान है। (अभिप्राय यह है कि ''अहं सुखमनुभवामि'' इत्यादि चैतन्य व्यवहार में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा होने पर भी स्व चैतन्य व्यवहार में स्वातिरिक्त संविद् की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि सुषुप्ति आदि में नित्यसिद्ध स्फुरण के व्यवहार में अन्य संवित् के बिना भी देखने में आता है)। अत एव (अर्थात् ब्रह्मस्फुरण व्यवहार में स्वान्यचिदनधीनत्व, और घटादिव्यवहार में स्वान्यचिदधीनत्व होने से) अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व भी हेतु है। क्यों कि स्वप्रकाशत्व स्वापरोक्षत्व में स्वातिरिक्त का अनपेक्षत्वरूप है। यह बात ''जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षरूप है'' इस श्रुति से सिद्ध होती है। तब तो स्वप्रकाशत्व का स्वरूप अन्यानधीन अपरोक्षत्व पर्यवसित होगा। अतः अन्यानधीनापरोक्षत्वा—

धीनापरोक्षत्वं पर्यवस्यति; तन्निरूपितभेदवत्त्वं हेतुः। तच्च नित्यपरोक्षे अन्याधीनापरोक्षे च घटादावस्तीति नासिद्धिः। न च ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मप्रतियोगिककाल्पनिकभेदवत्त्वात्तत्र व्यभिचारः, अकल्पितभेदस्य क्वाप्यसिद्धत्वादिति वाच्यम्; तद्भेदस्यान्यानधीनापरोक्षत्वरूप- धर्मानिरूपितत्वात्, जीवत्वेश्वरत्वादिरूपस्यान्यधर्मस्य तन्निरूपकत्वात्। एवं चावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः।

न च फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टं यदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्, तस्य ब्रह्मणीवा- विद्यान्तःकरणादौ शुक्तिरूप्यादौ च सत्त्वेनासिद्धिसा धनवैकल्य इति वाच्यम्; अज्ञान- निवर्तकवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वस्यापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वपदेन विवक्षितत्वात्, तस्य चाविद्यादौ शुक्तिरूप्यादौ चासत्त्वाद् नासिद्धिसाधनवैकल्ये। यथा च घटादेः फलव्याप्यत्वम्, तथाग्रे वक्ष्यामः। अविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वपक्षे तत्र व्यभिचारवारणायाज्ञानकालवृत्तित्वं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वच्छिन्नब्रह्मनिरूपितभेदवत्त्व ही दृश्यत्व हेतु है (अर्थात् अन्यानधीनापरोक्षत्वविशिष्टब्रह्मप्रतियोगिक भेद अन्याधीनापरोक्षत्व वाले पदार्थों में रहेगा, वह भेदवत्त्व ही दृश्यत्व हेतु का परिष्कृत स्वरूप है)। इस प्रकार अन्यानधीनापरोक्षत्वविशिष्ट ब्रह्म प्रतियोगिकभेदवत्त्व नित्यपरोक्ष गुरुत्वादि में और अन्याधीनापरोक्ष घटादि में होने से स्वरूपासिद्धि नहीं। अब जीव और ईश्वर के भेद को लेकर शंका करते हैं। शुद्ध ब्रह्म का भी "जीवो ब्रह्म न; ईशो ब्रह्म न" इत्यादिरूप से ब्रह्मप्रतियोगिक काल्पनिक भेदवत्त्व होने से उस शुद्ध ब्रह्म में व्यभिचार होगा, क्योंकि तुम्हारे मत में अकल्पित भेद कहीं भी सिद्ध नहीं होता – ऐसा कहना नहीं चाहिये; क्योंकि वह ब्रह्मप्रतियोगिक भेद अन्याऽनधीना परोक्षत्वरूप धर्म से निरूपित नहीं, किन्तु जीवत्व ईश्वरत्त्वादि रूप अन्य धर्म ही शुद्धचिद्रूपब्रह्मभेद का अनुयोगितावच्छेक है। इसी प्रकार – अवेद्यत्व होने पर (फलव्याप्यत्व रहित होने पर) अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व का अभावरूप दृश्यत्व भी हेतु है।

शंका – फलव्याप्यत्वाभावविशिष्ट जो अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व है, वह जिस प्रकार ब्रह्म में है, उसी प्रकार अविद्या अन्तःकरणादि में और शुक्तिरूप्यादि में है। अतः अविद्या आदि में हेतु की स्वरूपासिद्धि और शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में साधन वैकल्य दोष है।

समाधान – ऐसा न कहो; क्योंकि लक्षणघटित अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व पद से अज्ञान का निवर्तकवृत्तिविषयत्वयोग्यत्व विवक्षित है; और वह योग्यत्व अविद्यादि में तथा शुक्तिरूप्यादि में न होने से असिद्धि और साधनवैकल्य दोनों नहीं। और जिस प्रकार घटादि में फल व्याप्यत्व होता है, वह आगे कहा जायेगा। अविद्यानिवृत्ति के पंचमप्रकारत्व पक्ष में उस अविद्यानिवृत्ति में व्यभिचार के निवारण करने के लिये "अज्ञान कालवृत्तित्व" विशेषण हेतु में देना चाहिये। (न्यायमकरन्दकार आनन्दबोध आचार्य ने अविद्यानिवृत्ति को पंचमप्रकार इस प्रकार माना है – वह अविद्यानिवृत्ति सत् रूप नहीं, क्योंकि वह सत् माना जाय तो अद्वैत की हानि होगी। वह असत्रूप भी नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर वह ज्ञान निवर्त्य नहीं होगी। उस को सदसत् रूप भी कह नहीं सकते; क्योंकि सत् और असत् रूप में विरोध है। उसी प्रकार उस को सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय भी कह नहीं सकते, क्योंकि अनिर्वचनीय सादि पदार्थ अवश्य ही अज्ञानोपादानक होता है; तब तो मोक्षावस्था में भी अज्ञान की अनुवृत्ति का प्रसंग होगा और पुनः ज्ञाननिवर्त्यत्व की आपत्ति भी आयेगी। अतः उक्त प्रकार चतुष्टय से विलक्षण पंचमप्रकार

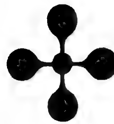
हेतुविशेषणं देयम्, तेनैव तुच्छेऽपि न व्यभिचारः। एवमेव सर्वेषु हेतुषु व्यभिचारपरिहाराय यतनीयम्। सद्विविक्तत्वमात्रे तु साध्ये तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च न व्यभिचारगन्धोऽपि सर्वमवदातम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वहेतूपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अविद्यानिवृत्ति है। इस अविद्यानिवृत्ति में "अवेद्यत्वे (फलव्याप्यत्वाऽभावे) सति अपरोक्षव्यवहार-योग्यत्वाभावः" रूप दृश्यत्व हेतु है किन्तु सदसद्विलक्षणरूप मिथ्यात्व साध्य नहीं। अतः उसमें हेतु का व्यभिचार निवारित करने के लिये "अज्ञानकालवृत्तित्व" हेतु में विशेषण दिया गया है; क्योंकि पंचम प्रकार अविद्यानिवृत्ति में "अज्ञानकालवृत्तित्व" विशेषण के अभाव से विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्ट हेतु का अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार परिष्कृत हेतु का स्वरूप यह हुआ "अज्ञानकालवृत्तित्वे सति फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टाऽपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावः")। और उस विशेषण से ही तुच्छ में भी व्यभिचार नहीं होता। इसी प्रकार से ही सब हेतुओं में व्यभिचार के परिहार का प्रयत्न करना चाहिये। यदि "सद्विविक्तत्व" मात्र ही साध्य किया जाय तो तुच्छ और पंचम प्रकाररूपा अविद्यानिवृत्ति में व्यभिचार का गन्धमात्र भी नहीं (क्योंकि इन दोनों में "फलव्याप्यत्वाऽभावविशिष्टापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाऽभाव" रूप हेतु होने पर "सद्विविक्तत्व" साध्य भी वर्तमान है)। इसलिये सब दोषरहित सिद्ध हुआ।

इति दृश्यत्वहेतूपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः॥



९: अथ जडत्वहेतूपपत्तिः

जडत्वमपि हेतुः। ननु किमिदं जडत्वम्? अज्ञातृत्वं वा? अज्ञानत्वं वा? अनात्मत्वं वा? नाद्यः; त्वन्मते पक्षनिक्षिप्तस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तत्रासिद्धेः, शुद्धात्मनोऽज्ञातृत्वेन तत्र व्यभिचाराच्च। नापि द्वितीयः; वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव ज्ञानत्वेन केवलाया वृत्तेः केवलस्य चैतन्यस्य चाज्ञानत्वेन वृत्तावसिद्धिपरिहारेऽपि चैतन्ये व्यभिचारतादवस्थ्यात्। नापि तृतीयः; आत्मत्वस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात्। तद्धि न जातिविशेषः; त्वयात्मन एकत्वाभ्युपगमाद्, विशिष्टात्मना भेदेऽपि तेषां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वात्। नाप्यानन्दरूपत्वम्, वैषयिकानन्दे तद्व्यतिरेकस्य हेतोरसिद्धेः, तस्याप्यात्मत्वेऽज्ञानपक्षोक्तदोषः प्रसञ्जनीय इति चेत्, मैवम्, द्वितीयतृतीयपक्षयोः दोषाभावात्। तथा हि—'अज्ञानत्वं जडत्वम्' इति पक्षे नात्मनि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रपंच के मिथ्यात्वसाधक अनुमान में ''जड़त्व'' भी हेतु है।

शंका — यह हेतुभूत ''जड़त्व'' क्या है? (१) क्या वह ''अज्ञातृत्व'' (ज्ञातृभिन्नत्व) है? (२) या ''अज्ञानत्व'' (ज्ञानभिन्नत्व) है? (३) अथवा ''अनात्मत्व'' (आत्मभिन्नत्व) है? इन में आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि तुम्हारे (अद्वैतवेदान्तियों के) मत में अनुमान की पक्षकोटि में निक्षिप्त (समाविष्ट) अहमर्थ (अन्तःकरणविशिष्टचैतन्य) का ज्ञातृत्व होने से उस अहमर्थ में अज्ञातृत्व हेतु की स्वरूपासिद्धि होती है और शुद्धात्मा में अज्ञातृत्व रहने से उसमें व्यभिचार भी होता है। द्वितीय पक्ष भी नहीं, क्योंकि विषयाकारवृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य का ही ज्ञानत्व होने से केवल वृत्ति और केवल चैतन्य में अज्ञानत्व होने के कारण वृत्ति में हेतु की स्वरूपासिद्धि का परिहार होने पर भी चैतन्य में हेतु का व्यभिचार होना तो ज्यों का त्यों है। तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि अनात्मत्वघटित आत्मत्व का ही निरूपण नहीं किया जा सकता। कारण कि वह आत्मत्व जाति विशेष नहीं हो सकता; क्योंकि तुमने आत्मा को एक ही माना है (जाति तो अनेकानुगत धर्मविशेष है; अतः आत्मत्व जाति नहीं) और अन्तःकरणविशिष्ट जीवात्माओं में नानात्व होने पर भी उन जीवात्माओं को तुमने अनुमान की पक्षकुक्षि में निक्षिप्त किया है। और आनन्दरूपत्व भी आत्मत्व नहीं, क्योंकि विषय संपर्कजन्य आनन्द में आनन्दभिन्नत्वरूप अनानन्दत्व हेतु की स्वरूपासिद्धि होती है; और विषयसंपर्कजन्य आनन्द का आत्मस्वरूपत्व होने पर अज्ञानपक्ष में कहे गये दोष का यहां भी उत्थापन करना चाहिये (जिस प्रकार वृत्त्युपरक्त चैतन्य को ज्ञान मानने पर शुद्ध चैतन्य में ज्ञानत्व न होने से अज्ञानत्व हेतु का उसमें व्यभिचार होता है, उसी प्रकार विषयसंपर्कजन्य आनन्द में आत्मस्वरूपभूत आनन्दत्व मानने पर केवल शुद्ध चित् में आनन्दत्व का अभाव होने के कारण उस शुद्ध चित् में अनानन्दत्व हेतु का व्यभिचार होगा अर्थात् शुद्ध चित् में अनानन्दत्व हेतु रह गया किन्तु मिथ्यात्वरूप साध्य नहीं है — यह भाव है)।

समाधान — वैसा नहीं होगा, क्योंकि द्वितीय और तृतीय पक्षों में दोष का अभाव है। क्योंकि— ''अज्ञानत्वं जड़त्वम्'' इस पक्ष में अज्ञानत्व हेतु का आत्मा में व्यभिचार नहीं; कारण कि अर्थ से उपलक्षित प्रकाश रूप चित् का ही ज्ञानत्व होने से मोक्षदशा में भी आत्मा के ज्ञानत्व का अभाव नहीं होता अर्थात् शुद्धचित्स्वरूपत्व का विनाश नहीं होता। (जैसे — लोक में ''काकवद् गृहम्'' इस निर्देश में काक से उपलक्षित गृहमात्र जाना जाता है, काकविशिष्ट गृह नहीं जाना जाता; काक तो केवल ज्ञापक मात्र होकर अलग रह जाता है, उसी प्रकार प्रकृत में

व्यभिचारः, अर्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन मोक्षदशायामपि तदनपायात्। न चाभावे सप्रतियोगित्ववदिच्छाज्ञानादिष्वपि सविषयकत्वस्य स्वाभाविकत्वादिच्छायामिव ज्ञानेऽपि तस्य समानसत्ताकत्वमिति वाच्यम्; ज्ञानस्य हि सविषयत्वं विषयसम्बन्धः, स च न तात्त्विकः, किन्त्वाध्यासिकः, वक्ष्यमाणरीत्या तात्त्विकसम्बन्धस्य निरूपयितु-मशक्यत्वात्, अतो न तस्य स्वाभाविकत्वम्; न हि शुक्तौ रूप्यं स्वाभाविकम्। एवञ्च ज्ञानोपाधिकस्यैव सविषयत्वस्येच्छादिष्वभ्युपगमात्, नतरां तत्र तस्य स्वाभाविकत्वम्। न चैवं ज्ञानवद् विषयसम्बन्धं विनापि कदाचिदिच्छायाः सत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्; सविषयत्वप्रयोजकोपाध्यपे–क्षयाऽधिकसत्ताकत्वस्य तत्र प्रयोजकत्वाद्, इच्छायाश्च तत्समानसत्ताकत्वात्। नच त्वया मोक्षावस्थायामात्मनो निर्विषयत्वाङ्गीकारादानन्दाप्रकाशे तदपुमर्थत्वं स्यादिति वाच्यम्; तदा ह्यानन्द एव प्रकाशो न त्वानन्दस्य प्रकाशत्वम्, अर्थोपलक्षितप्रकाशत्वं वा तदास्त्येवेति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भी वृत्त्यादि दृश्य पदार्थो से उपलक्षित चिन्मात्र ही जाना जाता है, वृत्त्यादि उपलक्षक दृश्य पदार्थ तो ज्ञापकमात्र होकर अलग रह जाते हैं। अतः चित् में ही ज्ञानत्व है; इसलिये मोक्षदशा में भी प्रकाशस्वरूपचिदात्मा के ज्ञानस्वरूपत्व का विनाश नहीं होता। इस कारण शुद्ध चित् में अज्ञानत्व हेतु का व्यभिचार नहीं होता – यह अभिप्राय है)।

शंका – अभाव में जिस प्रकार सप्रतियोगिकत्व का नियम होता है, उसी प्रकार इच्छा ज्ञानादियों में भी सविषयकत्व स्वाभाविक होने से इच्छा में जैसे सविषयकत्व का समान सत्ताकत्व है, वैसे ज्ञान में भी उसका (सविषयकत्व का) समान सत्ताकत्व होना चाहिये, तब तो सर्वदृश्योच्छेदरूप मोक्ष में ज्ञानत्वोपलक्षितशुद्धचित्स्वरूपत्व असम्भव है।

समाधान – ऐसा न कहिये, कारण कि ज्ञान का सविषयत्व विषय संबन्ध ही है; और वह विषय संबन्ध वास्तविक नहीं, किन्तु आध्यासिक है, क्योंकि वक्ष्यमाण रीति से तात्त्विक संबन्ध का निरूपण नहीं किया जा सकता (दृग्दृश्यसंबन्धभंगप्रकरण में इसका विचार आयेगा)। अतः सविषयकत्व ज्ञान में स्वाभाविक अर्थात् अनारोपित नहीं; जैसे शुक्ति में रजत स्वाभाविक नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान का सविषयकत्व अस्वाभाविक सिद्ध हो जाने पर ज्ञानोपाधिक अर्थात् ज्ञानीय सविषयत्व ही इच्छादियों में स्वीकृत होने से इच्छादियों में सविषयत्व का स्वाभाविकत्व सुतरां सिद्ध नहीं होता (ज्ञानपूर्वक इच्छा होती है, अतः इच्छाजनक ज्ञान का विषय ही इच्छा का भी विषय होता है, ज्ञानीय विषय को छोड़कर इच्छा का कोई भी स्वतंत्र विषय नहीं होता। इसलिये इच्छा का सविषयत्व अनारोपित नहीं)।

शंका – तब तो जैसे ज्ञान विषय संबन्ध के बिना भी रहता है, वैसे ही इच्छा का भी विषय सबन्ध के बिना कदाचित् अस्तित्व होने की आपत्ति आ जायेगी।

समाधान – वैसा कहना नहीं चाहिये; कारण कि – सविषयत्व की प्रयोजक अविद्यारूप उपाधि की अपेक्षा ज्ञान में अधिक सत्ताकत्त्व होना ही विषयसंबन्ध के बिना ज्ञान की स्थिति में प्रयोजक है; और इच्छा का तो उस उपाधि के साथ समानसत्ताकत्व है (अतः इच्छा का विषयसंबन्ध के बिना अस्तित्व नहीं हो सकता)।

शंका – तुमने मोक्षावस्था में आत्मा का निर्विषयत्व अंगीकार किया है, अतः आनन्दसंबन्धी प्रकाश (ज्ञान) का अभाव होने पर आनन्द का पुरुषार्थत्व सिद्ध नहीं होगा।

समाधान – ऐसा न कहो; क्योंकि उस समय आनन्द ही प्रकाश है, आनन्द का प्रकाशत्व

न ज्ञानत्वहानिरित्युक्तम्।

ननु तथापि ज्ञातुरभावात् तदा तन्न ज्ञानम्; न हि भोक्तृहीना भुजिक्रिया भवति। नचानादित्वेन क्रियारूपत्वाभावादनपेक्षत्वमिति वाच्यम्; अनादेः प्रागभावस्य प्रतियोगिनि, जातेर्व्यक्तौ, जीवब्रह्मविभागस्य धर्मिप्रतियोगिनोः, अज्ञानस्य चाश्रयाविषयोर्ब्रह्मसत्तायाश्च कर्तर्यपेक्षादर्शनात्, अन्यथा 'अस्ति ब्रह्म' इत्यादौ कर्तरि लकारो न स्यात्। एवञ्चा-तीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य चोत्पत्त्यर्थमर्थानपेक्षत्वेऽपि तन्निरूप्यत्वदर्शनेन ज्ञानस्य ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वं स्वभावः, अन्यथा 'इदमहं जानामि' इत्यनुभवो न स्यात्, 'ज्ञातुरर्थ-प्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' इति विवरणविरोधश्च स्यादिति चेत्; न, जातेर्व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचित्तदसम्बन्धवदुपपत्तेः, सम्बन्धप्रयोजकोपाध्यपेक्षयाऽधिकसत्ताकत्वात्। अत एव ज्ञानस्य सज्ञेयत्वं सज्ञातृत्वञ्च न स्वाभाविकम्। तथा हि सज्ञेयत्वं तावज्ज्ञेयजन्यत्वं वा? ज्ञेयव्याप्यत्वं वा? नाद्यः, परोक्षज्ञाने ईश्वरज्ञाने चाभावात्। नापि द्वितीयः, 'यदा ज्ञानं तदा अर्थः' इति कालिकव्याप्तौ पूर्ववद् व्यभिचारात्, दैशिकव्याप्तिस्तु दूरनिरस्तैव। न च यदा 'अपरोक्षज्ञानं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं (किन्तु प्रकाशत्वोपलक्षितस्वरूपत्व है) अथवा सर्वज्ञेयोपलक्षितज्ञानत्व मोक्षकाल में है ही। इस कारण शुद्ध चित् में ज्ञानत्व की हानि न होने की बात पहले कही जा चुकी है।

शंका — तो भी उस मोक्षकाल में ज्ञाता का अभाव होने से वह मुक्तात्मस्वरूप ज्ञान नहीं हो सकता (क्योंकि ज्ञानक्रिया कर्त्तारूप ज्ञाता की ही होनी चाहिये) भोक्ता से रहित खाने की क्रिया नहीं होती। इसमें तुम कहो कि ज्ञानत्व विशिष्ट ज्ञान सादि होने पर भी ज्ञानत्वोपलक्षित स्वरूपभूत ज्ञान अनादि होने से क्रियारूप न होने के कारण ज्ञाता की अपेक्षा नहीं करता — तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि अनादि प्रागभाव के प्रतियोगी की अपेक्षा, अनादि जाति के व्यक्ति की अपेक्षा, अनादि जीव और ब्रह्म के विभाग के अनुयोगी और प्रतियोगी की अपेक्षा, अनादि अज्ञान के आश्रय और विषय की अपेक्षा, तथा अनादिब्रह्मसत्ता के कर्त्ता की अपेक्षा देखने में आती है; यदि ब्रह्मसत्ता को कर्त्ता की अपेक्षा नहीं है तो ''अस्ति ब्रह्म'' इत्यादि में कर्ता में ''लट्'' लकार का प्रयोग नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार अतीतादिज्ञान और ''ईश्वरज्ञान की उत्पत्ति के लिये स्वविषय का अनपेक्षत्व होने पर भी स्वविषयविशिष्टरूप से प्रकाशमानत्व देखने में आने के कारण ज्ञान का ज्ञातृज्ञेयविशिष्टरूप से ही प्रकाशमानत्व स्वभाव होना चाहिये। यदि ज्ञान के ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्व को नहीं मानेंगे तो ''इसको मैं जानता हूँ'' इत्यात्मक अनुभव नहीं होगा; और ''ज्ञाता के अर्थप्रकाश का ज्ञानत्व होने से'' (अर्थात् ज्ञाता का अर्थविषयक प्रकाश ही ज्ञान है) इस विवरणाचार्य के वाक्य से विरोध होगा।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि गोत्वादि जाति का व्यक्तिविशिष्ट रूप से प्रकाशमानत्व होने पर भी जिस प्रकार कदाचित् व्यक्ति से असंबद्धत्व होता है, उसी प्रकार संसार दशा में ज्ञातृज्ञेयविशिष्टरूप से ज्ञान का प्रकाशमानत्व होने पर भी मोक्षदशा में ज्ञातृज्ञेय से असंबद्धत्व हो सकता है, कारण कि संबन्ध के प्रयोजक अविद्यारूप उपाधि की अपेक्षा ज्ञान का अधिक सत्ताकत्व है (परमत में जाति नित्य है और व्यक्ति अनित्य। इन दोनों के संबन्ध का प्रयोजक व्यक्तिप्रादुर्भावादि होता है। उसकी अपेक्षा नित्यजाति में अधिक सत्ताकत्व है। इसलिये व्यक्ति के प्रादुर्भावादि न होने की दशा में व्यक्ति के बिना भी जाति रहती है)। अत एव ज्ञान का सज्ञेयत्व

तदार्थः' इति कालिकव्याप्तौ नास्ति व्यभिचारः, आत्मा च 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुतेरपरोक्षज्ञानरूप इति सोऽप्यर्थव्याप्त इति वाच्यम्; ईश्वरज्ञाने योगिज्ञाने च व्यभिचारात्। 'यदैन्द्रियकं ज्ञानं तदार्थः' इति तु व्याप्तिः सर्वसम्मता। न चात्मरूपे ज्ञाने ऐन्द्रियकत्वमस्तीति न तया विरोधः।

ननु—'यदाऽपरोक्षं ज्ञानं तदार्थः' इति व्याप्त्यनभ्युपगमे 'इदं रजतम्' इत्यपरोक्षज्ञानान्यथानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयरजतसिद्धिर्न स्यात्, अर्थं विनाप्यपरोक्षत्वोपपत्तेरिति चेन्न, 'इदं रजतमहं जानामि' इत्यनुसन्धीयमानं यद् ज्ञानविषयत्वं तस्याश्रयान्तरानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयरजतसिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव परोक्षभ्रमेऽप्यनिर्वचनीयार्थसिद्धिः। जन्यापरोक्षत्वेन वाऽर्थव्याप्यता, आर्षज्ञानस्यापरोक्षत्वानभ्युपगमात्। तथा च नानिर्वचनीयरजतसिद्ध्यनुपपत्तिः।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

और सज्ञातृत्व अनारोपित स्वाभाविक नहीं होते। तथाहि वह सज्ञेयत्व क्या ज्ञेयजन्यत्व है? अथवा ज्ञेयव्याप्यत्व? आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि परोक्षज्ञान और ईश्वरज्ञान में ज्ञेय जन्यत्व नहीं हैं। द्वितीय पक्ष भी नहीं, कारण कि —" यदा ज्ञानं तदा अर्थः" इस काल संबन्धिनी व्याप्ति में पूर्ववत् अर्थात् परोक्षज्ञानादि में व्यभिचार होता है। "यत्र ज्ञानं तत्र अर्थः" यह देशसंबन्धिनी व्याप्ति तो दूर से ही निरस्त हो जाती है (क्योंकि ज्ञान और अर्थ का सामानाधिकरण्य नहीं होता)।

शंका —"यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थः" इस कालिकव्याप्ति में व्यभिचार नहीं, क्योंकि "जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षरूप है" इस श्रुति से आत्मा अपरोक्षज्ञानरूप है; अतः वह आत्मा भी अर्थ से व्याप्त है।

समाधान — ऐसा भी न कहिये; क्योंकि ईश्वरज्ञान और योगिज्ञान में व्यभिचार होता है (ईश्वर और योगी को अर्थ के बिना भी अपरोक्षज्ञान होता है)। "यदा ऐन्द्रियकज्ञानं तदा अर्थः" यह व्याप्ति तो सर्वसंमत है। किन्तु आत्मरूप ज्ञान में ऐन्द्रियकत्व नहीं, इस कारण उस व्याप्ति से कोई विरोध नहीं।

शंका —"यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थः" इस व्याप्ति को नहीं मानेंगे तो भ्रमस्थल में "यह रजत है" इस अपरोक्षज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से अनिर्वचनीय रजत की सिद्धि नही हो सकेगी, कारण कि अर्थ के बिना भी अपरोक्षत्व सम्भव है।

समाधान — ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि "इस रजत को मैं जानता हूँ" इस प्रकार अनुव्यवसाय से ज्ञायमान जो रजतनिष्ठ भ्रमज्ञानविषयत्व है, उस विषयत्व का हट्टादिस्थरजतरूप आश्रयान्तर असम्भव होने से प्रतीतिकालमात्रस्थायी तत्कालोत्पन्न अनिर्वचनीय रजत की सिद्धि वक्ष्यमाण है। इसलिये दिगादि परोक्षभ्रम स्थल में भी "इस दिशा को मैं जानता हूँ" इत्यादि अनुव्यवसाय के बल से अनिर्वचनीय अर्थ की सिद्धि होती है। अथवा जन्यापरोक्षत्वरूप से अर्थव्याप्यता है अर्थात् "यदा जन्यापरोक्षज्ञानं तदा अर्थः" यह व्याप्ति हो सकती है; कारण कि योगजधर्मजन्यज्ञान (योगसिद्धिजन्यज्ञान) के अपरोक्षत्व को हम स्वीकार नहीं करते (अभिप्राय यह है कि योगसिद्धिजन्यज्ञान में अपरोक्षत्व है किन्तु उस ज्ञानकाल में उसका विषय अतीतानागत अर्थ नहीं है, अतः उक्त व्याप्ति में आये हुये व्यभिचार दोष का मिवारण करने के लिये कहते हैं कि अनावृत्तसाक्षिचैतन्य के साथ तादात्म्यविशिष्ट अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान का अपरोक्षत्व होता है, किन्तु आर्षज्ञान साक्षी के अनावृत्तत्व का संपादक होने पर भी ज्ञानकाल में उसके विषय अतीतानागत अर्थ में साक्षितादात्म्य का अभाव होने से वह अपरोक्षज्ञान नहीं; अतः व्यभिचार दोष नहीं होता। वर्त्तमानविषय होने पर तो वह ज्ञान अपरोक्ष होता है और अर्थव्याप्य

एवं सज्ज्ञातृकत्वमपि किं ज्ञातृजन्यत्वम्? ज्ञातृव्याप्यत्वम्? ज्ञातृसमवेतत्वं वा? आद्ये ईश्वरज्ञाने व्यभिचारः; ज्ञाननित्यत्वस्य साधयिष्यमाणत्वाच्च। द्वितीयेऽप्यप्रयोजकता। न तृतीयः, ज्ञातृजन्यत्ववज्ज्ञानसमवेतत्वस्यापि असम्भवात्, ज्ञानस्य गुणत्वक्रियात्वयोरनभ्युपगमेन द्रव्याश्रयत्वानुमानायोगात्, कदाचिज्ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धेनैवानुभवस्य विवरणवाक्यस्य चोपपत्तेः। 'अस्ति ब्रह्म' इति च लकारो न ब्रह्मसत्तां प्रति ब्रह्मणः कर्तृत्वमाह, नित्यत्वेन तदसम्भवात्, किन्तु साधुत्वार्थ इति द्रष्टव्यम्।

ननु प्रमाभ्रमभिन्नं न ज्ञानम्, न चात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रमा, तद्विषयस्याविद्यादेस्तात्त्विकत्वापातात्। न चाप्रमा, दोषजन्यत्वापातादिति चेन्न; तार्किकसिद्धेश्वरज्ञानवद् घटादिनिर्विकल्पकवच्च स्वभावत उभयवैलक्षण्येनाप्युपपत्तेः, तत्राऽपि ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वे गुणजन्यत्वस्य, भ्रमत्वे दोषजन्यत्वस्य चापत्तेः, निष्प्रकारके च निर्विकल्पके तद्वति तत्प्रकारकत्वस्य तदभाववति तत्प्रकारकत्वस्य चानुपपत्तेः, जन्यसविकल्पकत्वेन भ्रमप्रमान्य-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भी होता है। इसलिये उक्त व्याप्ति में दोष नहीं) अतः अनिवर्चनीय रजतसिद्धि की अनुपपत्ति नहीं। इसी प्रकार सज्ञातृत्व भी क्या ज्ञातृजन्यत्व है? या ज्ञातृव्याप्यत्व है? अथव ज्ञातृसमवेतत्व है? आद्य पक्ष में — ईश्वरज्ञान नित्य होने से उसमें व्यभिचार है, और ज्ञानत्वोपलक्षित स्वरूपज्ञान का नित्यत्व आगे सिद्ध किया जाने वाला है। द्वितीय पक्ष में भी अप्रयोजकता है। (हेतु और साध्य में व्यभिचार शंका करने पर उसका निवर्तक अनुकूलतर्काभाव नाम हेतु की अप्रयोजकता है। प्रकृत में "जहां ज्ञानत्वोपलक्षितचिद्रूपत्व है, वहां समवेतत्वसंबन्ध से ज्ञातृत्व है" इस व्याप्ति में "ब्रह्म में ज्ञानत्वोपलक्षितचिद्रूपत्व रहे और समवेतत्वसंबन्ध से ज्ञातृत्व न रहे" ऐसी शंका करने पर अनुकूल तर्क का अभाव होता है)। तृतीयपक्ष भी नहीं, कारण कि ज्ञातृजन्यत्व के समान ज्ञातृसमवेतत्व भी असम्भव होता है; और ज्ञान में गुणत्व और क्रियात्व न मानने के कारण द्रव्याश्रयत्व का अनुमान भी किया नहीं जा सकता। कदाचित् (अविद्यावस्था में) ज्ञातृज्ञेय के संबन्ध से ही "इदमहं जानामि" इस अनुभव का तथा "ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्" यह विववरणवाक्य भी संभव है। और "अस्ति ब्रह्म" इसमें लट् लकार ब्रह्मसत्ता के प्रति ब्रह्म के कर्तृत्व को नहीं कहता, क्योंकि ब्रह्मसत्ता नित्य होने से उसका कर्तृत्व कहना असम्भव है; किन्तु पदप्रयोग के साधुत्व के लिये ही लट्लकार का प्रयोग है—ऐसा समझना चाहिये।

शंका — प्रमा और भ्रम से भिन्न और कोई ज्ञान नहीं; और आत्मस्वरूप ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता, क्योंकि उस आत्मस्वरूपप्रमाज्ञान के विषय अविद्यादि तात्त्विक होने का प्रसंग आता है (कारण कि त्रिकालाबाध्यविषयकत्व प्रमाज्ञान का लक्षण है)। और वह भ्रमज्ञान भी नहीं, क्योंकि उसमें दोषजन्यत्व की आपत्ति होगी।

समाधान — ऐसा नहीं होगा, कारण कि तार्किकमत से सिद्ध ईश्वरज्ञान के समान, और घटादिविषयक निर्विकल्पक ज्ञान के समान आत्मस्वरूपज्ञान भी स्वभाव से (अविद्याऽन्तःकरणवृत्तिद्वयानुपरक्तचिद्रूप से) भ्रम और प्रमा से विलक्षण सिद्ध हो सकता है। जैसे कि तार्किकमत में भी ईश्वरज्ञान में प्रमात्व होने पर इन्द्रियसन्निकर्षादिगुणजन्यत्व और भ्रमत्व होने पर दोषजन्यत्व की आपत्ति होती है; और निष्प्रकारक धर्मिमात्रविषयक निर्विकल्पकज्ञान में "तद्वति तत्प्रकारकत्व" रूप प्रमात्व और "तदभाववति तत्प्रकारकत्व" रूप भ्रमत्व की अनुपपत्ति है (यहां पर तत्शब्द से प्रकारधर्म का ग्रहण करना चाहिये। अतः घटत्ववाले घट को घटत्वविशिष्टरूप से समझना प्रमा है, इसी प्रकार सर्पत्वाभाववाली रज्जु को सर्पत्वविशिष्ट रूप से समझना भ्रम

तरत्वनियमे चास्माकं क्षत्यभावात्, विलक्षणवृत्तिद्वयोपरागेण च स्वभावतो भ्रमप्रमा-विलक्षणस्याप्यात्मज्ञानस्य तदुभयरूपेण व्यवहारोपपत्तेः। न च जडत्वस्य ज्ञानपदवाच्य-भिन्नत्वविवक्षायामुपाधेरपि ज्ञानपदवाच्यत्वात्तत्रासिद्धिः, ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्वविवक्षायां तु घटादेरपि ज्ञानपदलक्ष्यत्वात्तत्राप्यसिद्धिरिति वाच्यम्; ज्ञानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्न-त्वविवक्षायामुक्तदोषाभावात्। एवमानन्दभिन्नत्वरूपमनात्मत्वमुपपाद्यम्, वैषयिकानन्दस्यापि ब्रह्मरूपत्वात्, तदुपाधिमात्रस्यैवोत्पत्तिविनाशयोगित्वात्। न च ज्ञानभिन्नत्वस्यानन्दभिन्न- त्वस्य च काल्पनिकस्य ब्रह्मणि सत्त्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्; धर्मिसमानसत्ताक- तद्भेदस्य हेतुत्वात्। अनौपाधिकत्वेन वा भेदो विशेषणीयः, तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च व्यभिचारपरिहारः पूर्ववत्। एवमस्वप्रकाशत्वं वा जडत्वम्, तच्च पूर्वमेवोपपादितमिति शिवम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ जडत्वहेतूपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान में किसी भी धर्म का भान न होने से वह भ्रम और प्रमा से विलक्षण है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप ज्ञान भी भ्रमप्रमा से विलक्षण समझना चाहिये)। जन्यसविकल्प ज्ञान को भ्रमप्रमान्यतर मानने के नियम में तो हमारी कुछ भी हानि नहीं होती। स्वभाव से भ्रमप्रमाविलक्षण आत्मस्वरूप ज्ञान का विलक्षणवृत्तिद्वय (अविद्या और अन्तःकरण की दो वृत्ति) से संबन्ध होने के कारण भ्रम और प्रमा रूप से व्यवहार भी हो सकता है।

शंका —''जड़त्वं ज्ञानभिन्नत्वम्'' इसमें ज्ञाधातुवाच्यभिन्नत्व की विवक्षा होने पर वृत्तिरूप उपाधि में भी ज्ञाधातुवाच्यत्व होने से उसमें हेतु की स्वरूपासिद्धि होगी, और ज्ञाधातु लक्ष्यभिन्नत्व की विवक्षा होने पर तो घटादि का भी ज्ञाधातुलक्ष्यत्व होने से उस में भी हेतु की स्वरूपासिद्धि होगी (किसी ने ''ज्ञानवत् भूतलम्'' इस प्रकार घटवत्व के अभिप्राय से कहा। व्युत्पन्न श्रोता ने वहां घट देखकर ज्ञानशब्द से लक्षणा द्वारा घट समझा। ऐसे स्थलों पर ज्ञाधातुलक्ष्य घटादि होगा)।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि यहां पर ज्ञाधातुवाच्य प्रतीतिरूप (मानरूप) विशेष्य से भिन्नत्व की विवक्षा करने पर उक्त दोष का अभाव होता है। इस प्रकार से आनन्दभिन्नत्व रूप अनात्मत्व का भी प्रतिपादन करना चाहिये; क्योंकि वैषयिकानन्द (विषयसेवनजन्यवृत्ति से अवच्छिन्नचिद्रूप, आनन्दत्व से उपलक्षित आनन्द) भी ब्रह्मरूप ही है, केवल उसके उपाधि भूतवृत्ति मात्र का ही उत्पत्तिविनाशयोगित्व है।

शंका — काल्पनिक ज्ञानभिन्नत्व और काल्पनिक आनन्दभिन्नत्व ब्रह्म में होने से उसमें व्यभिचार है।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि धर्मिसमान सत्ताकज्ञानभेद या आनन्दभेद ही हेतु है (यहां धर्मिपद से जिसमें भेद रखना है, उसको लेना चाहियें। ब्रह्मसमानसत्ताक भेद नहीं है; अतः ब्रह्म में व्यभिचार का निवारण होता है)। अथवा अनौपाधिकत्व भेद का विशेषण देना चाहिये (ब्रह्म में ज्ञान भेद और आनन्दभेद औपाधिक है, अनौपाधिक नहीं है; अतः व्यभिचार नहीं)। तुच्छ और पंचमप्रकार अविद्यानिवृत्ति में व्यभिचार का परिहार पूर्ववत् समझना चाहिये अर्थात् अविद्याकालवृत्तित्व विशेषण ज्ञानभेद और आनन्दभेद में देना चाहिये। अथवा अस्वप्रकाशत्व जड़त्व है; और वह पहले ही उपपादित हो गया है (दृश्यत्व हेतूपपत्तिप्रकरण में ''अस्वप्रकाशत्वं दृश्यत्वम्'' इत्यादि से पहले प्रतिपादन किया गया है, उसमें स्थित युक्तियों को यहां भी लेना चाहिये)।। इति शिवम्।।

इति जड़त्वहेतूपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।

१०: अथ परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः

परिच्छिन्नत्वमपि हेतुः। तच्च देशतः कालतो वस्तुतश्चेति त्रिविधम्। तत्र देशतः परिच्छिन्नत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। कालतः परिच्छिन्नत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वम्। वस्तुतः परिच्छिन्नत्वमन्योन्याभावप्रतियोगित्वम्।

ननु समवायसम्बन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमात्मनि व्यभिचारि; तस्याप्याकाशादिवत् क्वाप्यसमवेतत्वात्; संयोगसम्बन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादावसिद्धम्; तस्य यावन्मूर्तयोगित्वनियमात्, अमूर्तनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभिप्राये त्वात्मनि व्यभिचार-स्तदवस्थः, सर्वसम्बन्धित्वाभावविवक्षायामपि सर्वसम्बन्धशून्ये परमात्मनि व्यभिचारः, अज्ञाने सर्वसम्बन्धिन्यसिद्धिश्च, ध्वंसप्रतियोगित्वमप्याकाशदावसिद्धम्, तेषां परैर्नित्यत्वा-भ्युपगमात्, अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं चात्मनि व्यभिचारि; तस्य जडनिष्ठान्योन्याभाव-प्रतियोगित्वात्, अन्यथा जडत्वापत्तेरिति चेत्, न, अत्यन्ताभावेऽन्योन्याभावे च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रपंचपक्षक मिथ्यात्व की अनुमिति में परिच्छिन्नत्व भी हेतु है। वह परिच्छिन्नत्व देशतः, कालतः और वस्तुतः भेद से तीन प्रकार का होता है (कहीं एक देशमात्र में विद्यमानत्व देशतः परिच्छिन्नत्व है; किसी कालविशेषमात्र में विद्यमानत्व कालतः परिच्छिन्नत्व है; और किसी एक वस्तु से पृथक्कृत होकर विद्यमानत्व वस्तुतः परिच्छिन्नत्व है। परिच्छिन्नत्व और परिच्छेद एक ही अर्थ के बोधक हैं)। उन तीनों में देशतः परिच्छिन्नत्व अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप है; कालतः परिच्छिन्नत्व प्रध्वंसाभावप्रतियोगित्वरूप है (यहां प्रागभावप्रतियोगित्व इसलिये नहीं कहा कि उससे प्रागभाव—मायादि गृहीत नहीं हो सकेंगे, क्योंकि वे अनादि होने से प्रागभावप्रतियोगी नहीं) वस्तुतः परिच्छिन्नत्व अन्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप है।

शंका — किस संबन्ध से प्रतियोगित्व लेते हो? यदि समवायसंबन्ध से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व लेते हो तो आत्मा में व्यभिचार है, क्योंकि जिस प्रकार आकाशादि कहीं भी समवायसंबन्ध से नहीं रहते, उसी प्रकार आत्मा भी समवायसंबन्ध से कहीं नहीं रहती (अतः उस अभाव का प्रतियोगी आत्मा भी बन जाती है)। और संयोगसंबन्ध से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व है तो वह आकाशादि में स्वरूपासिद्ध है, कारण कि आकाशादि का सर्वमूर्त (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन) पदार्थों के साथ संयोगित्व नियम है। यदि संयोगसंबन्ध से अमूर्तनिष्ठ (उक्त पृथिव्यादि पांचो से भिन्न में रहने वाले) अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व में अभिप्राय है तो आत्मा में व्यभिचार ज्यों का त्यों है। और सर्वसंबन्धित्वाभावप्रतियोगित्व की विवक्षा में भी सर्वसंबन्धशून्य परमात्मा में व्यभिचार है, और सर्वसंबन्धी अज्ञान में स्वरूपासिद्धि है। ध्वंस प्रतियोगित्व भी आकाशादि में असिद्ध है, क्योंकि तार्किकादि अन्यों से आकाशादिकों का नित्यत्व माना जाता है। और अन्योन्याभाव का प्रतियोगित्व भी आत्मा में व्यभिचारी है, क्योंकि आत्मा जड़निष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी है, यदि वह प्रतियोगी नहीं है तो आत्मा में जड़त्व की आपत्ति होगी।

समाधान — ऐसा नहीं होगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में प्रतियोगिसमसत्ताकत्व विशेषण देने से आत्मा में व्यभिचार का निवारण होता है; और अज्ञान आकाशादि में स्वसमानसत्ताक अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का प्रतियोगित्व रहने से असिद्धि का भी अभाव

प्रतियोगिसमसत्ताकत्वविशेषणेनात्मनि व्यभिचारपरिहारात्, अज्ञानाकाशादौ च स्वसमान-सत्ताकात्यन्ताभावान्योन्याभावप्रतियोगित्वसत्त्वेनासिद्ध्यभावात्। अविद्याकाशादेर्व्यावहारिकस्य पारमार्थिकाभावपक्षे ''स्वान्यूनसत्ताक'' इति विशेषणं देयम्, अत एव प्रातिभासिक-शुक्तिरूप्यादेर्व्यावहारिकाभाव प्रतियोगित्वेऽपि न साधनवैकल्यम्। निरुक्तमिथ्यात्वप्रकारा-णामेवंरूपत्वाभावान्न साध्या विशिष्टता। ध्वंसप्रतियोगित्वञ्चाकाशादौ नासिद्धम्; ''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'' (तै.उ. २/१/१) इति श्रुतिसिद्धजन्यत्वेनानुमितत्वात्, ''आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'' इत्यत्र चात्मनिदर्शनत्वं स्वसमानकालीन सर्वगत-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है (''प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'' इस द्वितीयमिथ्यात्व लक्षण के विचार के समय लक्षणघटित अत्यन्ताभाव के व्यावहारिकत्व और ब्रह्माभिन्नत्वेन पारमार्थिकत्व दोनों पक्षों का समर्थन किया गया है। उनमें अत्यन्ताभाव के व्यावहारिकत्व पक्ष को लेकर यह उत्तर है। संयोग या समवायसंबन्ध से अत्यन्ताभाव अथवा अन्योन्याभाव के प्रतियोगित्व में आत्मा को लेकर जो व्यभिचार कहा था, वह प्रतियोगिसमसत्ताकात्यन्ताभाव और प्रतियोगिसमसत्ता-कान्योन्याभाव का प्रतियोगित्व मान लिया जाय तो नहीं होगा, क्योंकि यहां प्रतियोगिभूत आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है और व्यावहारिकत्व पक्ष होने के कारण अभावद्वय में व्यावहारिकसत्ता है। अतः आत्मा में विषमसत्ताकत्व होने से आत्मा में व्यभिचार नहीं होगा। इसी प्रकार अज्ञान आकाशादि की व्यावहारिक सत्ता है तथा अत्यन्ताभाव और अन्योन्यभाव में भी स्वसमानसत्ता अर्थात् व्यावहारिकसत्ता है। यहां स्वशब्द से जिसमें हेतु रखना है, उसका ग्रहण करना चाहिये, वह प्रतियोगी ही होता है। अतः प्रतियोगिसमसत्ताक अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव के प्रतियोगित्व अज्ञान आकाशादि में असिद्धि का निवारण भी होता है। आगे पारमार्थिकत्वपक्ष को लेकर उत्तर देते हैं) व्यावहारिक अविद्या, आकाशादि के पारमार्थिक अभाव पक्ष में अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का ''स्वान्यूनसत्ताकत्व'' विशेषण देना चाहिये (उसी से अविद्या आदि में असिद्धि का निवारण हो जायेगा। यहां पर भी स्वशब्द से प्रतियोगिभूत अविद्यादि का ग्रहण है, उसी से कम सत्तावाला न हो, ऐसे अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का प्रतियोगित्व अविद्यादि में है; अतः असिद्धि नहीं। इसी प्रकार आत्मा में भी व्यभिचार नहीं, क्योंकि पारमार्थिक अभाव आत्मा से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप ही है, और स्व स्व का प्रतियोगी नहीं हो सकता; अतः पारमार्थिक अत्यन्ताभावादि का प्रतियोगित्व आत्मा में नहीं)। इसलिये प्रातिभासिक शुक्ति रूप्यादि में भी, व्यावहारिक अभाव का प्रतियोगी होने पर भी उस में साधनरहितत्व नहीं होता (क्योंकि स्वसमानसत्ताकाभावप्रतियोगित्व शुक्तिरूप्य में न रहने पर भी स्वान्यूनसत्ताकाभावप्रतियोगित्व है, कारण कि इस विशेषण से दोनों पक्षों का निर्वाह हो सकता है)। पूर्वकथित मिथ्यात्व के सदसद्विलक्षणत्वादिरूप पांच प्रकारों में एवंरूपता अर्थात् स्वान्यूनसत्ताकात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वादिरूपता न होने से साध्यविशिष्ट हेतु भी नहीं अर्थात् हेतु में साध्य प्रवेशरूप दोष नहीं। ध्वंसप्रतियोगित्व भी आकाशादि में असिद्ध नहीं, क्योंकि ''इस आत्मा से अभिन्न उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ'' इस श्रुति से सिद्ध आकाशनिष्ठ जन्यत्व से ध्वंसप्रतियोगित्व अनुमित होता है। और ''आकाशवत् आत्मा सर्वगत और नित्य है'' इस श्रुति में आत्मा के लिये आकाश का दृष्टान्त देना तो अपने (आकाश) समानकालीन सर्वमूर्तसंयोगी होने से, इसका

त्वेनाऽऽभूतसम्प्लवावस्थायित्वेन चेति द्रष्टव्यम्। ''अतोऽन्यदार्तम्'' (बृ.उ.३/४/२) इति श्रुत्याऽनात्ममात्रस्यैव विनाशित्वप्रतिपादनात्। अत एव 'घटादयः स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वात्, यथा सर्पमालादिकं स्वानुगतप्रतिभासे रज्ज्वा इदमंशे विभज्यते, एवं ब्रह्मण्यनुगच्छति घटादिकं विभज्यते 'सन् घटः सन् पटः' इत्यानन्दबोधोक्तमपि साधु। विभक्तशब्देन स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वरूपवस्तुपरिच्छेदस्य विवक्षितत्वान्न ब्रह्मतुच्छयोर्व्यभिचारः। न च 'खण्डो गौर्मुण्डो गौः' इत्येवमादिस्वानुगतप्रतिभासे गोत्वादौ व्यक्तीनामकल्पितत्वाद् व्यभिचार इति वाच्यम्; सत्सामान्यातिरिक्तगोत्वा-दिसामान्यानभ्युपगमात्, गोत्वाद्यभ्युपगमेऽपि गोत्वादिव्यञ्जकतावच्छेदकसामान्यानभ्युपगमाद् व्यक्तिविशेषाणामेवाननुगतानां सास्नादिमत्त्वाद्युपाध्यनुगतानां वा तद्व्यञ्जकत्ववद्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सर्वगतत्व और सृष्टि से लेकर महाप्रलय तक स्थायी होने से, नित्यत्व गौणरूप से समझना चाहिये। क्योंकि ''इस आत्मा से भिन्न सब विनाशी है'' इस श्रुति से अनात्ममात्र का ही विनाशित्व प्रतिपादन किया गया है। इसलिये वक्ष्यमाण हेतु से ''घटादि अनात्मपदार्थ अपने (घटादि के) साथ तादात्म्यापन्न होकर स्वरूप से भान होने योग्यवस्तु में कल्पित हैं, क्योंकि वे सब विभक्त होकर प्रतीत होते हैं; जैसे सर्पमालादिक सब स्वानुगत होकर प्रतिभासमान रज्जु के इदमंश में विभक्त होकर प्रतीत होते हैं; ऐसे ही सबमें अनुगत ब्रह्म में, सन्घटः, सन् पटः इत्यादि रूप से घटादिक विभक्तत्वेन प्रतीत होते हैं।'' यह आनन्दबोधाचार्य की उक्ति भी साधु है। क्योंकि ''विभक्त'' शब्द से स्वसमानसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप वस्तुपरिच्छिन्नत्व यहां विवक्षित होने से ब्रह्म और तुच्छ में व्यभिचार नहीं होता।

शंका – ''खण्ड गौ है'' ''मुण्ड गौ है'' इत्यादिस्थलों में अपने में (मुण्डगतादि में) अनुगत होकर भासमान गोत्वादि में गोव्यक्तियों के कल्पितत्व का अभाव होने से उक्त हेतु का व्यभिचार है।

समाधान – ऐसा नही, कारण कि – ब्रह्मरूप सत्सामान्य से अतिरिक्त गोत्वादिसामान्य (जाति) की स्वीकृति नहीं होती। (गोत्वादि अवच्छेदक की अपेक्षा किये बिना गोव्यक्त्यादि के व्यवहार की सम्भवता में आगे दृष्टान्त देते हैं) क्योंकि – जैसे गोत्वादि को मानने वालों के पक्ष में भी गोत्वादि को अभिव्यंजित करने के लिये कोई व्यंजकतावच्छेदक सामान्य न मानने से अननुगत व्यक्तिविशेषों के ही अथवा सास्नादिमत्त्वादि उपाधियों से अनुगत व्यक्ति विशेषों के ही गोत्वादि का व्यंजकत्व होता है, उसी प्रकार व्यक्तिविशेष से संसृष्टरूप सत्सामान्य के ही तत् तद् गोव्यक्त्यादि का व्यंजकत्व हो सकता है। (अभिप्राय यह है कि गोत्वादिजाति व्यंग होती है और गवादिव्यक्ति व्यंजक होता है किन्तु गोत्वादिनिष्ठ व्यंगत्व से निरूपित गवादिनिष्ठ व्यंजकता का अवच्छेदक कोई भी सामान्य गवादिव्यक्ति में नहीं, अतः अननुगत व्यक्तिविशेष या सास्नादिमत्त्वादि उपाधि से अनुगत व्यक्तिविशेष ही गोत्वादि व्यवहार का प्रयोजक माना जाता है; क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयोगसन्निकर्ष से गवादिव्यक्तियों का प्रत्यक्ष होता है और उस प्रत्यक्ष का ''स्वविषयसमवेतत्व'' संबन्ध से व्यक्तिनिष्ठ गोत्वादि के प्रत्यक्ष में कारणत्व है, इसलिये जाति प्रत्यक्ष के प्रयोजक उक्त संबन्ध में घटक होने से व्यक्तियों का जातिप्रत्यक्ष में प्रयोजकत्व होने के कारण जाति का व्यंजकत्व है। यहां ''स्वविषयसमवेतत्व'' इसमें स्वशब्द से व्यक्तिप्रत्यक्ष और विषयशब्द से व्यक्ति का ग्रहण करना चाहिये; उसमें समवेतजाति है)। तथा सद्रूप ब्रह्म चैतन्य

व्यक्तिविशेषविशिष्टत्वेन सत्सामान्यस्यैव तत्तद्व्यवहारजनकत्वोपपत्तेः। अत एव 'घटादिकं, सद्रूपे कल्पितम्, प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्, प्रत्येकं चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गचन्द्रवत्' इति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तमपि साधु। ननु सदर्थस्य ब्रह्मणः रूपादिहीनस्याऽऽसंसारमज्ञानावृतस्य शब्दैकगम्यस्य कथं घटः सन्नित्यादिबुद्धिविषयता स्यात्? तथा च 'घटोऽनित्यः' इत्यनेन घटगतानित्यतेव 'घटः सन्' इत्यनेनापि घटगतमेव सत्त्वं गृह्यते। न च स्वरूपेणाप्रत्यक्षस्य राहोश्चन्द्रावच्छेदेनेव ब्रह्मणोऽपि घटाद्यवच्छेदेनैव प्रत्यक्षतेति वाच्यम्; शब्दाद्यवच्छिन्नस्यापि गगनादेः श्रावणत्वाद्यापातात्, राहोस्तु दूरदोषेणाज्ञातस्य नीलस्य योग्यस्य शुक्लभास्वर-चन्द्रसम्बन्धाच्चाक्षुषता युक्तेति चेन्न; यतः सदात्मना न ब्रह्मणो मूलाज्ञानेनावृतत्वम्; किन्तु घटाद्यवच्छिन्न (चैतन्यनिष्ठ) शक्त्यज्ञानेनैव; तथा च चक्षुरादिजन्यवृत्त्या तदावरणभङ्गे सति 'सन् घटः' इत्यत्र ब्रह्मणः स्फुरणे बाधकाभावात्। न च रूपादिहीनतया चाक्षुषत्वाद्यनु-पपत्तिर्बाधिकेति वाच्यम्; प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्येष्वेव रूपाद्यपेक्षानियमात्, सर्वेन्द्रियग्राह्यन्तु सद्रूपं ब्रह्म, नातो रूपादिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः, सत्तायाः परैरपि सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वा-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का सामान्यरूप से सब पदार्थों में अनुगतत्व संभव होने से ही "घटादिक सद्रूप ब्रह्म में कल्पित है, क्योंकि उस सत् से अनुविद्ध (तादात्म्यापन्न) होकर प्रत्येक का प्रतीयमानत्व है, जैसे आकाशस्थ चन्द्र से अनुविद्ध (अर्थात् आकाशस्थचन्द्र तादात्म्यबुद्धिविषयतायोग्य होकर) जलतरंगों में प्रतीयमाण प्रत्येक चन्द्र कल्पित होता है" यह ब्रह्मसिद्धिकारोक्त अनुमान भी साधु है।

शंका – रूपादि से रहित, जब तक संसार है, तब तक अज्ञान से आवृत, और शब्द मात्र से ज्ञान करने योग्य सद्रूप ब्रह्म में किस प्रकार "घटःसन्" इत्यादि बुद्धि की विषयता होगी? (अर्थात् नहीं हो सकती)। इसलिये "घट अनित्य है" इस ज्ञान से जैसे घटगत अनित्यत्व गृहीत होता है, वैसे "घट सत् है" इस ज्ञान से भी घटगत सत्त्व ही गृहीत होना चाहिये। इसमें शंका हो कि स्वरूप से अप्रत्यक्ष राहु का चन्द्रावच्छेद से (चन्द्रतादात्म्यापन्न होकर) जैसा प्रत्यक्ष होता है, वैसा ब्रह्म का भी घटाद्यवच्छेद से (घटादि के साथ तादात्म्यापन्न होकर) प्रत्यक्षत्व है (शुद्धब्रह्म नहीं)। ऐसा भी कहना अनुचित है; कारण कि – उस रीति से तो शब्दादि से अवचिछन्न आकाशादि के भी श्रावणत्वादि प्रत्यक्षत्व का प्रसंग होगा (अतः शुद्ध को आवृत माना जाय तो विशिष्ट को आवृत अवश्य मानना चाहिये)। राहु के तो दूरत्वदोष से अज्ञात और स्वभाव से प्रत्यक्षयोग्य नीलरूप की शुक्लकिरण विशिष्ट चन्द्र से संबन्ध होने से चाक्षुषप्रत्यक्षता युक्त ही है।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि सद्रूप से (तथा चिद्रूप से) ब्रह्म का मूलाज्ञान द्वारा आवृतत्व नहीं (आनन्दरूप से आवृतत्व है); किन्तु सत् और चिद्रूप से ब्रह्म का आवृतत्व तो घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ आवरण के भंग हो जाने पर "सन् घटः" इस प्रत्यक्ष में ब्रह्म के स्फुरण (भान) होने में कोई बाधक नहीं। इसमें ब्रह्म रूपादिहीन होने से उसके चाक्षुषप्रत्यक्षत्वादि का असम्भव होना ही बाधक है – ऐसी शंका भी होनी नहीं चाहिये, कारण कि प्रत्येक नियतेन्द्रिय से ग्राह्य (साधारण रूप से सर्वेन्द्रियों से अग्राह्य) वस्तुओं में ही रूपाद्यपेक्षा का नियम है; सद्रूप ब्रह्म तो सब इन्द्रियों से ग्राह्य है। अतः रूपादिहीनत्व होने पर भी ब्रह्म के चाक्षुषप्रत्यक्षत्वादि का असम्भव नहीं; क्योंकि मीमांसकादि अन्य भी सत्ता का सर्वेन्द्रियग्राह्यत्व मानते हैं। इस बात को

भ्युपगमाच्च। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

'अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः।
अक्षादीनां स्वतःसिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता॥'' इति।

कालस्य च रूपादिहीनस्य मीमांसकादिभिः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात्। न च शब्दावच्छिन्नस्याकाशस्यापि श्रावणत्वं स्यादिति वाच्यम्। स्वभावतो योग्यस्य हि केन– चिन्निमित्तेन प्रतिरुद्धयोग्यताकस्यावच्छेदकादिना योग्यता सम्पाद्यते, यथा दूरत्वदोषेण प्रतिरुद्धयोग्यताकस्य राहोश्चन्द्रसम्बन्धेन। एवञ्चावरणेनप्रतिरुद्धयोग्यताकं ब्रह्म घटाद्यवच्छेदन योग्यं भवति, नभस्तु स्वभावायोग्यमेव; न प्रतिरुद्धयोग्यताकम्, येन शब्दावच्छेदेन योग्यं भवेत्। यद्वा द्रव्यग्रहे चक्षुषो रूपापेक्षा, नत्वन्यग्रहे, ब्रह्म तु न द्रव्यम्; ''अस्थूलमन– ण्वह्रस्वमदीर्घम्'' (बृ.उ.३/८/८) इति श्रुत्या चतुर्विधपरिमाणनिषेधेन द्रव्यत्वप्रतिषेधात्, अतो नानुपपत्तिः। अस्तु वा द्रव्यम्; तथाप्यध्यस्तद्रव्यत्ववति गुणादौ रूपानपेक्षचाक्षुषत्वदर्शनेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य जी ने भी कहा है—''अतः = चिद्भिन्न जड़पदार्थों के अज्ञातत्व (अज्ञानविषयत्व) का अभाव होने से, स्वतः सिद्धः = अनारोपित, अनुभव एवैकः = अनुभवात्मक सद्रूप आत्मा एक ही, अक्षादीनां = इन्द्रियादिजन्य प्रमाण रूप अन्तःकरणवृत्तियों का, विषयः = विषय है, क्योंकि अज्ञातलक्षणः = वह अज्ञातरूप है अर्थात् अज्ञान का विषय है (जड़ तो अज्ञानविषयी भूत सद्रूप आत्मा का अवच्छेदक होने के कारण गौणरूप से अज्ञात कहा जाता है, वस्तुतः वह अज्ञान का विषय नहीं)। यत्र = जिसमें अर्थात् उस सद्रूप अज्ञात आत्मा को विषय करने में, ही तेषां = उन प्रमाण रूप वृत्तियों की प्रमाणता है। कारण कि अबाधिताज्ञातार्थ– बोधकत्व ही प्रमाणत्व है। (अभिप्राय यह है कि अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तानुसार जड़प्रपंच अज्ञान का परिणाम है अर्थात् अज्ञानोपादानक है। यह नियम है कि उपादानकारण स्वकार्य का आवरणस्वरूप नहीं होता, जैसे कि अज्ञानोपादानक रज्जुसर्प अज्ञान से आवृत नहीं होता, तथा तन्तूपादानक वस्त्र तन्तुओं से आवृत नहीं होता। अतः जड़ में अज्ञानावरण न होने से अज्ञातत्व भी नहीं रहता।)। और ''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते।'' इत्यादिवाक्य से मीमांसकादि भी रूपादिहीन काल का सर्वेन्द्रियग्राह्यत्व मानते हैं। और वैसा होने पर शब्दावच्छिन्न आकाश का भी श्रावणप्रत्यक्षत्व होगा — ऐसी बात भी नहीं कहनी चाहिये; कारण कि — स्वभावतः प्रत्यक्षयोग्य और किसी निमित्त से अवरूद्ध योग्यतावाले पदार्थ की योग्यता का अवच्छेदकादि से सम्पादन किया जाता है; जैसे — दूरत्वदोष से प्रतिरूद्धयोग्यतावाले राहु की योग्यता का चन्द्रसंबन्ध से संपादन होता है। इसी प्रकार घटाद्यवच्छिन्न आवरण से प्रतिरूद्ध योग्यतावाला सद्रूप ब्रह्म घटाद्यवच्छेद से घटाद्याकारवृत्ति द्वारा प्रत्यक्षयोग्य होता है। आकाशादि तो स्वभाव से ही प्रत्यक्षायोग्य हैं, प्रतिरूद्ध योग्यताक नहीं; जिससे शब्दावच्छेद से प्रत्यक्षयोग्य हो जाय। अथवा द्रव्य के प्रत्यक्ष में चक्षु की रूपापेक्षा है, अन्य के प्रत्यक्ष में रूपापेक्षा नहीं; सद्रूप ब्रह्म तो द्रव्य नहीं, क्योंकि ''अस्थूल है, अनणु है, अह्रस्व है, अदीर्घ है'' इस श्रुति से चतुर्विध परिमाण के निषेध से ब्रह्म के द्रव्यत्व का प्रतिषेध किया गया है। अतः ''सन् घटः'' इत्यादि में सद्रूप ब्रह्म के भान होने में कोई अनुपपत्ति नहीं। अथवा — ब्रह्म द्रव्य ही हो, तो भी

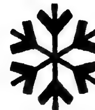
धर्म्यन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववत्येव चक्षू रूपमपेक्षते। ब्रह्मणि च द्रव्यत्वं धर्म्यपेक्षया न्यूनसत्ता–कमेवेति न तद्ग्रहे रूपाद्यपेक्षा। कल्पितत्वं च स्वाभाववति प्रतीयमानत्वं वा, स्वरूपज्ञान–निवर्त्यत्वं वेत्यन्यदेतत्। तस्मात् परिच्छिन्नत्वमपि भवति हेतुरिति सिद्धम्।

इति परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अध्यस्त संबन्ध के द्वारा द्रव्यत्ववाले गुणादि में रूपानपेक्ष चक्षुर्जन्य ज्ञानविषयत्व देखने में आने से धर्मी (आश्रय) से अन्यूनसत्ताक द्रव्यत्ववाले पदार्थों के प्रत्यक्ष में ही चक्षु को रूपापेक्षा है; (अभिप्राय यह है कि किसी को रूप में द्रव्य का भ्रम हुआ, अत: रूप अध्यस्त समवाय संबन्ध से द्रव्यत्ववाला हुआ, अध्यस्तद्रव्यत्व वाले उस रूप के प्रत्यक्ष में चक्षु की रूपापेक्षा नहीं, क्योंकि गुण निर्गुण होने से रूप में रूप नहीं। अत: यह नियम हुआ कि धर्मी (आश्रय) से अन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववाले पदार्थों के प्रत्यक्ष में ही चक्षु की रूपापेक्षा है। किन्तु रूप में आरोपित द्रव्यत्व तो प्रातिभासिक है और उसका आश्रयरूप व्यावहारिक है, अत: द्रव्यत्व अपने आश्रय रूप से न्यूनसत्ताक है, अन्यूनसत्ताक नहीं। इसलिये अध्यस्तद्रव्यत्ववाला रूप के प्रत्यक्ष में चक्षु की रूपापेक्षा नहीं)। इसी प्रकार ब्रह्म में भी द्रव्यत्व धर्मी की अपेक्षा से न्यूनसत्ताक है (अन्यूनसत्ताक नहीं, क्योंकि ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है और द्रव्यत्व की व्यावहारिकसत्ता; इस कारण सद्रूप ब्रह्म के प्रत्यक्ष में रूपादि की अपेक्षा नहीं। और उक्त दोनों साध्यों में कल्पितत्त्व तो स्वाभाववान् अधिकरण प्रतीयमानत्व है, अथवा स्वरूपज्ञान से निवर्त्यत्व है – यह तो दूसरी बात है (अर्थात् हेतु विषयक विचार प्रसंग में साध्य विषयक विशेषविचार की आवश्यकता नहीं)। अत: परिच्छिन्नत्व भी मिथ्यात्व अनुमिति के प्रति हेतु है – यह सिद्ध हुआ।

इति परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।



११: अथ अंशित्वहेतूपपत्तिः

चित्सुखाचार्यैस्तु 'अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वात्, इतरांशिवत्' इत्युक्तम्। तत्र तन्तुपदमुपादानपरम्, एतेन स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षण- मिथ्यात्वसिद्धिः। न च कार्यस्य कारणाभेदेन तदनाश्रितत्वात् सिद्धसाधनम्, अनाश्रितत्वेना- न्याश्रितत्वेन वोपपत्त्याऽर्थान्तरञ्चेति वाच्यम्। अभेदे कार्यकारणभावव्याहत्या कथञ्चिदपि भेदस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । न च 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'(ब्र.सू.२/१/१४) इत्य- धिकरणविरोधः, उपादानव्यतिरेकेणोपादेयं नास्तीत्यस्यैव तदर्थत्वात्। बाधात्तन्मात्राश्रितत्वेन पक्षविशेषणाद्वा नार्थान्तरम्। न च प्रकृतेऽपि बाधः; तस्योद्धरिष्यमाणत्वात्। न चात्यन्ताभावस्य प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पावकाशः, तस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। न च कस्यचित् पटस्य संयोगवृत्त्यैतत्तन्तुषु सत्त्वेन तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्; तत्समवेतस्य तन्निष्ठात्यन्ता-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

चित्सुखाचार्य ने तो –"यह वस्त्र इन तन्तुओं में निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अवयवी कार्य होने से, जैसे अन्य अवयवी कार्य" – ऐसा कहा है। उसमें तन्तुपद उपादान का बोधक है। इससे कार्य के स्वोपादाननिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व रूप मिथ्यात्व की सिद्धि होती है।

शंका – कार्य स्वोपादानकारण से अभिन्न होने से उसमें (स्वोपादान में) अनाश्रित होने के कारण यह तो सिद्ध का ही साधन हुआ (अर्थात् इस पट में इस पट का अत्यन्ताभाव प्रथमतः सिद्ध ही है, क्योंकि पटतादात्म्य पटात्यन्ताभाव का विरोधी नहीं; किन्तु पटाधिकरणक अत्यन्ताभाव का विरोधी है।) अभेद होने के कारण स्वोपादान तन्तुओं में पट अनाश्रित होने से अथवा स्वोपादान तन्तुओं से भिन्न में आश्रित होने से स्वोपादान तन्तु निष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व पट में स्वतः ही सिद्ध होने के कारण यह अनुमान अर्थान्तर है अर्थात् मिथ्यात्व सिद्ध करने में उपयुक्त नहीं।

समाधान – ऐसा कहना उचित नहीं, कारण कि अत्यन्त अभेद होने पर कार्यकारण भाव का व्याघात होने से किसी भी प्रकार से दोनों के भेद को तो अवश्य ही मानना होगा। और "कारण ब्रह्म से आकाशादि कार्यप्रपंच अभिन्न है, क्योंकि यह बात वाचारम्मणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा.उ. ६/१/१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होती है" इस आरम्भणाधिकरण से विरोध भी नहीं होगा, कारण – उपादान की सत्ता से अतिरिक्त उपादेय कार्य की सत्ता नहीं है – यह उस अधिकरण का अर्थ है। पट के अनाश्रितत्वबाध होने से अथवा स्वोपादानमात्राश्रितत्व विशेषण पक्ष में देने से प्रकृतानुपयुक्तरूप अर्थान्तर भी नहीं। और "अयं पटः" इत्यादि प्रकृत अनुमान में भी बाध नहीं होगा, कारण कि उस बाध का उद्धार आगे किया जायेगा। तथा अत्यन्ताभाव के प्रामाणिकत्व और अप्रामाणिकत्व के विकल्प का अवसर भी नहीं, क्योंकि उस विकल्प का पहले ही द्वितीयमिथ्यात्वविचारप्रसंग में निराकरण हो चुका है। ऐसा भी कहना नहीं चाहिये कि कोई एक वस्त्र संयोगसंबन्ध से एतत्तन्तुओं में स्थित होने पर उस वस्त्र में हेतु का साध्य से व्यभिचार होता है (उस वस्त्र में अंशित्व हेतु है किन्तु एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व नहीं, अतः व्यभिचार है), कारण कि तन्तु में समवेत पट के तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व को

भावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वतः तत्संयोगिनस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाङ्गीकारेण पक्षसमत्वात्। न चाव्याप्यवृत्तित्वेनार्थान्तरम्; पटतदभावयोरेकाधिकरणवृत्तौ विरोधस्य जगति दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात्, संयोगतदभावयोरप्येकाधिकरणवृत्तित्वानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्वमत्यन्ताभावस्य विशेषणं देयम्; एवमेतत्कालीनत्वमपि, तेन कालान्तरीयाभावमादाय नार्थान्तरम्। न च 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्यक्षबाधः; तस्य भ्रमसाधारणतया चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवदप्रामाण्यशङ्कास्कन्दिततत्वेनाबाधकत्वात्। बाधोद्धारे च विस्तरेणैतद्वक्ष्यामः। न चान्यासमवेतस्यांशित्वमेतत्तन्तुसमवेतत्वं विना न युक्तमिति विरुद्धो हेतुरिति वाच्यम्। एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽप्येतत्तन्तुसमवेतत्वस्य सत्त्वेनांशित्वस्य साध्येनाविरोधात्। एतन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं हि एतत्समवेतत्वे प्रयोजकं न भवति;

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अगीकार करने वाले के लिये तो तन्तुसंयोगी पट का तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व अंगीकृत होने से वह संयोगी पट पक्षसम ही है (अर्थात् साध्यसंदिग्धवान् होकर उसमें साध्यसिद्धि के लिये अनुमान करने योग्य है, जैसे — अयं संयोगिपटः संयोगसंबन्धेन एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगी, अशित्वात्, इतरांशिवदिति)। ''तन्तुषु दशायां न पटः'' अर्थात् तन्तुओं के प्रान्तभाग में पट नहीं— इत्यादि देखने में आने से स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप अव्याप्यवृत्तित्व होने से अर्थान्तर भी नहीं हो सकता, कारण कि समानसत्ताक होकर पट और पटाभाव की एकाधिकरणवृत्ति होने पर भाव और अभाव के विरोध का जगत् में दत्तजलांजलित्व प्रसंग होगा, और ''वृक्षे शाखायां कपिः, न मूले'' इत्यादिस्थल में भी संयोग और संयोगाभाव का वृक्षरूपैकाधिकरणवृत्तित्व हम नहीं मानते (कारण कि अवच्छेदक भेद से दोनों का अनुभव होने पर भी वृक्ष में कपि है— यह तो अनुभव होता है किन्तु कपि के वर्तमान समय में वृक्ष में कपि नहीं है— यह किसी को अनुभव नहीं होता)। अथवा भाव और अभाव का एकाधिकरणवृत्तित्व मानने पर एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्व विशेषण अत्यन्ताभाव का देना चाहिये (अर्थात् एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्व साध्य होना चाहिये। इससे यावत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का ग्रहण हो जायेगा, न कि तन्तुओं के एक देशवृत्ति अत्यन्ताभाव का)। इसी प्रकार— एतत्कालीनत्व विशेषण भी देना चाहिये, उससे कालान्तरीय अभाव को लेकर अर्थान्तर भी नहीं होगा। और ''इन तन्तुओं मे पट है'' इस प्रत्यक्ष से अनुमान का बाध भी नहीं होगा, क्योंकि वह प्रत्यक्ष भ्रमसाधारण होने से चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष (चन्द्र को वितष्टिपरिमाणमात्र देखने) के जैसे अप्रामाण्यशंका से आलिंगित होने के कारण बाधक नहीं बन सकता। और आगे बाधोद्वार प्रकरण में इस विषय को विस्तार से कहेंगे।

शंका — अन्य में असमवेत (समवायसंबन्ध से न रहने वाला) पट का एतत्तन्तुओं में समवेत हुए बिना अंशित्व (कार्यत्व) अयुक्त है। अतः यह अंशित्व हेतु विरूद्ध है अर्थात् साध्याभाव का ही साधक है।

समाधान — ऐसा न कहें, कारण कि पट में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रहने पर भी एतत्तन्तुसमवेतत्व होने से अंशित्व हेतु का साध्य के साथ विरोध नहीं है। और एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व एतत्समवेतत्व में प्रयोजक अर्थात् समव्यापक नहीं, क्योंकि न्यायमत में कहीं भी असमवेत (अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगिरूप) केवलान्वयी प्रमेयत्व—

परमते केवलान्वयिधर्ममात्रस्य एतत्समवेतत्वापत्तेः; किन्त्वेतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वादिकम्; तच्चेतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि न विरुद्धमित्युपपादितमधस्तात्। एतत्समवेतत्वञ्चैतदुपादानकत्वम्, न तु नित्यसम्बन्धशालित्वम्; तस्यानभ्युपगमात्। ननु 'अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वात्, व्यतिरेकेण पटान्तरवत्' इति प्रतिरोधः, न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम्। 'एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वात्, प्रागभावप्रतियोगित्ववत्' इति सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेः। न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अभिधेयत्वादि धर्ममात्र के एतत्समवेतत्व होने का प्रसंग आयेगा। किन्तु एतत्तन्तुनिष्ठ प्रागभावप्रतियोगित्वादि ही एतत्समवेतत्व का प्रयोजक है। वह एतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वादिक एतन्निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व के साथ एकाधिकरण में रहने में विरूद्ध नहीं – इस प्रकार पहले द्वितीयमिथ्यात्व प्रकरण में प्रतिपादित कर चुके हैं। और एतत्समवेतत्व का अर्थ एतदुपादानकत्व हैं, नित्यसंबन्धशालित्व नहीं, क्योंकि नित्यसंबन्धरूप समवाय को हम नहीं मानते।

शंका – सत्प्रतिपक्षत्व की शंका –"यह पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है, एतत्तन्तूपादानकत्व होने से, व्यतिरेक से पटान्तर के समान अर्थात् जो एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है, वह एतत्तन्तूपादानक नहीं, यथा पटान्तर – इस व्यतिरेकी अनुमान से आप का अनुमान सत्प्रतिपक्ष है। और इस अनुमान का पक्ष अप्रसिद्धसाध्यक (अप्रसिद्ध साध्यवाला) नहीं; कारण कि–एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व किंचिन्निष्ठात्यन्नाभाव का प्रतियोगी है (अर्थात् किसी न किसी धर्मी में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व का अत्यन्ताभाव है), क्योंकि वह संसर्गाभावप्रतियोगित्व का व्याप्य है (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव – इन तीनों को संसर्गाभाव कहते हैं। अतः संसर्गाभाव व्यापक होता है और इन तीनों में प्रत्येक व्याप्य होता है। यह संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वरूप हेतु एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप पक्ष में है), यथा प्रागभावप्रतियोगित्व – इस सामान्यतोदृष्टानुमान से साध्य की प्रसिद्धि होती है। (अभिप्राय यह है कि अनुमान में अनुमिति के विषय साध्य की कहीं न कहीं पहले प्रसिद्धि होनी चाहिये, जैसे महानसादि में अग्नि की प्रसिद्धि पहले से है, अतः कालान्तर में पर्वतादि में अग्नि की अनुमिति होती है; अन्यथा शशविषाणादि में भी साध्य होने की आपत्ति आएगी। प्रकृत में तो व्यतिरेकी अनुमान होने के कारण उसका साध्य पहले कहीं भी सिद्ध नहीं हुआ है। अतः सामान्यतो दृष्टानुमान से उसकी प्रसिद्धि सामान्यरूप से की गयी है – "जहां संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्व है, वहां किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रहता है" यह सामान्यव्याप्ति प्रागभावप्रतियोगित्व में देखी गयी है, क्योंकि प्रागभावप्रतियोगित्व संसर्गाभाव प्रतियोगित्व व्याप्य है और किंचिच्छब्दवाच्याकाशादिनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी भी है, क्योंकि नित्य होने से आकाशादि में प्रागभावप्रतियोगित्व का अभाव है। इसी प्रकार इस सामान्य व्याप्ति के बल से एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व का किसी धर्मिविशेष में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व सिद्ध होता है। और वह धर्मिविशेष पक्षेतर असम्भव होने से पक्ष को ही मानना होगा। अतः "अयं पटः" यह पक्ष एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अप्रतियोगी सिद्ध होता है)। इस अनुमान में सिद्धान्ती व्यभिचार दोष देते हैं – आकाशात्यन्ताभाव का घटादि में संसर्गाभाव प्रतियोगित्वव्याप्यत्व गृहीत होता है; घटादि में जैसे आकाशात्यन्ताभाव है वैसे संसर्गाभाव प्रतियोगित्व भी है। अतः "यत्र आकाशात्यन्ताभावः, तत्र संसर्गाभावप्रतियोगित्वम्" इस व्याप्ति की सिद्धि होने से आकाशात्यन्ताभाव का संसर्गाभाव प्रतियोगित्व व्याप्यत्व गृहीत

चाकाशात्यन्ताभावस्य घटादौ संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वग्रहात्तस्य च केवलान्वयित्वेन किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्। संसर्गाभावप्रतियोगित्वानधिकरणे केवलान्वयिनि धर्मे सत्त्वेनाकाशात्यन्ताभावस्य संसर्गाभावप्रतियोगित्वाव्याप्यत्वेन व्यभिचाराभावादिति चेन्न; यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तावेतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्योपाधित्वेन प्रतिरोधस्य हीनबलत्वात्। एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावव्यापकस्यैतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाव्यापकत्वात्, दृश्यत्वाद्यनुपपत्तिप्रतिकूलतर्कपराहतेर्वक्ष्य-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होता है। और वह आकाशात्यन्ताभाव केवलान्वयी होने से (सर्वत्र रहने से) उसमें किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप साध्य के अभाव होने के कारण हेतु का व्यभिचार है। इसमें पूर्वपक्षी समाधान करते हैं – वैसा न कहिए; क्योंकि संसर्गाभावप्रतियोगित्व के अनधिकरण केवलान्वयी प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि धर्म में आकाशात्यन्ताभाव विद्यमान होने से संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्व उसमें न रहने के कारण व्यभिचार का अभाव है। (सिद्धान्त्युक्त – यत्र आकाशात्यन्ताभावः, तत्र संसर्गाभावप्रतियोगित्वम् – इसमें व्यभिचार दिखाते हुये पूर्वपक्षी कहते है कि सर्वत्रस्थित होने से प्रमेयत्वादि केवलान्वयि धर्म में किंचिन्निष्ठ संसर्गाभावप्रतियोगित्व नहीं, किन्तु उसमें केवलान्वयी आकाशात्यन्ताभाव है। अतः इस व्याप्ति में व्यभिचार होने से आकाशात्यन्ताभाव संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्य न होने के कारण उक्त अनुमान के हेतु में व्यभिचार का अभाव है)।

समाधान – (सत्प्रतिपक्षत्व में सिद्धान्ती का समाधान)–वैसा नहीं होगा; कारण कि जहां एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व है, वहां एतत्तन्त्वारब्धत्व का अभाव है इस व्यतिरेक व्याप्ति में एतन्निष्ठ प्रागभावाऽप्रतियोगित्वरूप उपाधि लगने से आप का सत्प्रतिपक्ष अनुमान हीनबल वाला है (पूर्वपक्षी ने अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वात्, व्यतिरेकेण पटान्तरवत्–ऐसा व्यतिरेकी अनुमान किया है। और व्यतिरेकी अनुमान मात्र में किसी भी उपाधि का साध्यव्यापकत्व अंश कहीं भी घटा नहीं सकते; अतः प्रकृत में भी एतत्तन्त्वारब्धत्वरूप साधनविशिष्ट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव– प्रतियोगित्वाभावरूप साध्य का व्यापकत्व एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वरूप उपाधि में घटा नहीं सकते। इसलिये यहां पर साध्याभाव और साधनाभाव की व्यतिरेक व्याप्ति में एतत्तन्तुनिष्ठ–प्रागभावाप्रतियोगित्व रूप उपाधि लगाते है। "व्यतिरेक व्याप्ति में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ता–भावप्रतियोगित्व साधन है और एतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव साध्य है। इसमें साध्यव्यापक होने पर साधनाव्यापक रूप उपाधि को घटाने के लिये आगे कहते है) – जहां एतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव है, वहां एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व है – इस व्याप्ति से लब्ध एतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव का व्यापक एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व "अयं पटः" इस पक्ष में अवृत्ति होने से पक्षनिष्ठत्वेन संदेहविषयीभूत एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व का अव्यापक है (एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व संदिह्यमान इसलिये है कि सिद्धान्त्यनुमान में साध्यरूप से इसको पक्ष में रखा गया है)। और दृश्यत्वादि हेतुओं की अनुपपत्ति शंका तथा प्रतिकूल

माणत्वाच्च। अत एव एतत्तन्त्वनारब्धत्वमपि नोपाधिः, उपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेके साध्यमाने सोपाधिकत्वस्योक्तत्वात्, अव्याप्यवृत्तिसंयोगाभ्युपगमे तत्र व्यभिचाराच्च। अत एव यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वनारब्धत्वमिति न साध्यव्यापकताग्रहोऽपि तत्रैव व्यभिचारादिति सर्वमनवद्यम्। एवञ्च 'विमतं ज्ञानव्यतिरेकेणासत्, ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, स्वप्नादिवत्' इति विद्यासागरोक्तमपिसाधु। ज्ञानव्यति–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

तर्क का निराकरण भी वक्ष्यमाण ही है (अतः सिद्धान्ती के इस अनुमान में अनुपपत्तिशंका और प्रतिकूल तर्क का उपपादन नहीं किया जा सकता)। इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष अनुमान की असिद्धि होने से ''एतत्तन्त्वनारब्धत्व'' भी उपाधि नहीं होगी, क्योंकि उपाधि अभाव से साध्याभाव को सिद्ध करने वाले अनुमान का सोपाधिकत्व कह चुके हैं (जिस अनुमान में उपाधि लगाना हो, उस अनुमान में उपाधि घटाने का सामान्य नियम यह है कि उस अनुमान के दृष्टान्त में उपाधि का साध्यव्यापकत्व घटावे और पक्ष में साधनाव्यापकत्व घटावे। जैसे – अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वात्, पटान्तरवत्'' इस प्रकृत अनुमान में ''एतत्तन्त्वनारब्धत्व'' उपाधि का साध्यव्यापकत्व ''पटान्तर'' दृष्टान्त में है कारण कि उसमें ''एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व'' साध्य है और ''एतत्तन्त्वानारब्धत्व'' उपाधि भी है। एवं ''अयं पटः'' पक्ष में ''अंशित्व'' हेतु है और ''एतत्तन्त्वनारब्धत्व'' उपाधि नहीं, अतः उपाधिका उसमें साधनाव्यापकत्व समन्वित होता है और साध्यका व्यापक उपाधि होने से जहां व्यापक उपाधि का अभाव होता है; वहां व्याप्य साध्य का अभाव सामान्यतः सिद्ध है। अतः पक्ष में उपाध्यभाव से साध्याभाव होने के कारण हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करना उपाधि का प्रयोजन है। उसके लिये उपाध्यभाव को हेतु बनाकर और साध्याभाव को साध्य बनाकर प्रकृत पक्ष में अनुमान करना पड़ता है। जैसे ''अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वात्, व्यतिरेकेण पटान्तरवत्'' इति। किन्तु इस अनुमान में सोपाधिकत्व पहले ही सिद्ध हो चुका है। अतः सिद्धान्ती का अनुमान निर्दुष्ट रह जाता है)। और अव्याप्यवृत्ति संयोग को मानने पर उसमें उपाध्यभाव और साध्याभाव की व्याप्ति का व्यभिचार है (''यत्र एतत्तन्त्वारब्धत्वम्, तत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावः'' यह उपाध्यभाव और साध्याभाव की व्याप्ति है। और पटाग्रभागावच्छिन्नसंयोग में एतत्तन्त्वारब्धत्व है, किन्तु अव्याप्यवृत्तित्व होने से एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व का अभाव नहीं, अर्थात् प्रतियोगित्व है। अतः संयोग में इस व्याप्ति का व्यभिचार है)। इस व्यभिचार के कारण से ही ''यत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, तत्र एतत्तन्त्वनारब्धत्वम्'' इस व्याप्ति से उपाधिलक्षणघटित साध्यव्यापकत्व का ग्रहण भी नहीं होगा, क्योंकि उसमें (संयोग में) ही व्यभिचार होता है (कारण कि पटाग्रभागावच्छिन्न संयोग में अव्याप्यवृत्तित्व होने से एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है, किन्तु एतत्तन्त्वनारब्धत्व नहीं; अतः उपाधि का साध्यव्यापकत्व नहीं)। अतः सब निर्दुष्ट है। इसी प्रकार विवादास्पद प्रपंच ज्ञान के सिवाय असत् है (ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं) ज्ञान के सिवाय उपलभ्यमान न होने से, स्वप्नादिवत्– यह विद्यासागरोक्त अनुमान भी ठीक है। क्योंकि यहां ज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वरूप

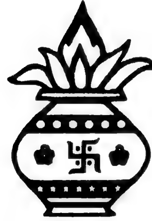
रेकेणासत्त्वमुक्तमिथ्यात्वान्यतमत्वं साध्यम्। ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वं चिदाभासे सत्येवोपलभ्यमानत्वं हेतुरिति न किञ्चिदनुपपन्नम्। एवमन्येषामपि प्रयोगा यथायोगमुप-पादनीया इति शिवम्।।

इति अंशित्वहेतूपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

साध्य उक्त पंचमिथ्यात्वों में से अन्यतम् है। (अर्थात् – ज्ञानविविक्तत्व साध्य है), तथा ज्ञानव्यतिरेकेणा– नुपलभ्यमानत्व हेतु का अभिप्राय है–चिदाभास के वर्तमान होने पर ही उपलभ्यमानत्व। अत: इस अनुमान में कुछ भी अनुपपन्न नहीं। इसी प्रकार से अन्य आचार्यों का अनुमान प्रयोग भी यथायोग्य उपपादनीय है। इति शिवम्।।

इति अंशित्वहेतूपपत्ते राष्ट्रभाषानुवाद:।।



१२: अथ सोपाधिकत्वनिरासः

ननु दृश्यत्वादिहेतवः सोपाधिकाः तथा हि स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वं वा विपक्षाद्व्यावृत्तं समव्याप्तम्, अत

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका –"विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्" इस अनुमान में दृश्यत्वादि सब हेतु उपाधिग्रस्त हैं; जैसे कि इसमें स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व उपाधि है (यहां स्वपद से जिसमें उपाधि की स्थापना करनी है, उस का ग्रहण करना चाहिये। अतः उपाधि का साध्यव्यापकत्व घटाने के लिये स्वपद से शुक्तिरूप्य को लिया, उसका बाधकत्वेन अभिमत "इयं शुक्ति" यह ज्ञान हुआ, उस ज्ञान से अबाध्य मूलाविद्या और तज्जन्य लोभादि दोष हुए, तद्दोष प्रयुक्तभानत्व शुक्तिरूप्य में रहा और मिथ्यात्व है। अतः दृष्टान्त में उपाधिलक्षणघटित साध्यव्यापकत्व सिद्ध हुआ। अब उपाधि का साधनाव्यापकत्व घटाने के लिये स्वपद से पक्षीभूत आकाशादि लिया, उसका बाधकत्वेन अभिमत ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान हुआ, उसी से अविद्यादिसंपूर्ण बाधित होने से अबाध्य दोष प्रयुक्तभानत्व आकाशादि में नहीं हुआ। किन्तु आकाशादि में दृश्यत्व हेतु है और उपाधि नहीं, अतः उपाधिका साधनाव्यापकत्वांश भी घटित हो गया (इसी से आकाशादि में उपाध्यभाव से मिथ्यात्वसाध्य का अभाव सिद्ध हुआ)। अथवा – स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्व उपाधि है (पहले के समान स्वपद से शुक्तिरूप्य लिया, उसका बाधक शुक्तिज्ञान है, उस शुक्तिज्ञान से अबाध्य बाधक "नात्ररूप्यम्" अर्थात् "यहां रूप्य नहीं" इस ज्ञान के प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्व शुक्ति रूप्य में रहा और मिथ्यात्व साध्य भी है। अतः शुक्तिरूप्य में उपाधि का साध्यव्यापकत्व घट गया। पुनः स्वपद से आकाशादि लिया, उसका बाधक ब्रह्माकारवृत्तिरूप चरम ज्ञान हुआ, अतः उससे अबाध्य बाधक और नहीं रहा; इसलिये चरम वृत्तिज्ञान से अबाध्यबाधक के प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्व आकाशादि में नही; किन्तु दृश्यत्वहेतु है, अतः उपाधि का साधनाव्यापकत्वांश भी घट गया। तथा आकाशादि पक्ष में उपाध्यभाव से मिथ्यात्वसाध्याभाव सिद्ध हुआ)। ये दोनों उपाधि विपक्ष ब्रह्म और तुच्छ से व्यावृत्त हैं अर्थात् ब्रह्म और तुच्छ में उपाधि घट नहीं सकती, इसलिये समव्याप्त है और समव्याप्त होने से ही व्यतिरेक व्याप्ति वाली उपाधि हैं (ब्रह्म, तुच्छ और पंचम प्रकार अविद्यानिवृत्ति इन तीनों में मिथ्यात्वसाध्य न होने से निश्चितसाध्याभाववद्रूप विपक्ष है, इन तीनों से अतिरिक्त यावत्पदार्थों में सिद्धान्तानुसार मिथ्यात्व है और पूर्वोक्त दोनों उपाधि भी हैं। अतः दोनों से बनी हुई व्याप्ति "तद्व्याप्यत्वे सति तद्व्यापकत्वम्" इत्यात्मिका समव्याप्ति है अर्थात् "यत्र साध्यम्, तत्र उपाधिः" अथवा "यत्र उपाधिः तत्र साध्यम्" इस प्रकार की व्याप्ति हो सकती है। इसलिये "यत्र साध्याभावः, तत्र उपाध्यभावः" अथवा "यत्र उपाध्यभावः, तत्र साध्याभावः" इस प्रकार से व्यतिरेकव्याप्ति भी हो सकती है। अतः मूल में उपाधि को व्यतिरेकव्याप्तिमत् कहा है। इन सबके निर्देश का अभिप्राय यह है कि उदयनाचार्यादि उपाधि के साध्यव्यापकत्व को समव्याप्तित्वेन मानते हैं, विषमव्याप्तित्वेन नहीं मानते। यदि विषमव्याप्तित्त्वेन साध्यव्यापकत्व को मान लिया जाय तो अनुमानमात्र के उच्छेद का प्रसंग आएगा। कारण कि "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस अनुमान में "पर्वतेतरत्व" उपाधि हो सकती है, क्योंकि महानसादि में साध्यव्यापकत्व और पर्वत में साधनाव्यापकत्व गृहीत हैं। किन्तु यहां "यत्र वह्निः, तत्र पर्वतेतरत्वम्" यह विषमव्याप्ति है। यदि साध्य और उपाधि की

एव व्यतिरेकव्याप्तिमदुपाधिरिति चेत्, न, ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्ये देहात्मैक्ये मिथ्याभूते साध्या-व्यापकत्वात्, पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिवत् साधनवत्पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणवत्त्वेन पक्षेतर-त्वतुल्यत्वाच्च। न च बाधोन्नीतत्वात् सोऽप्युपाधिः, बाधस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वात्। अपि च यद्व्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकसाधकत्वं तस्यैव साध्यव्यापकत्वम्; इतरांशेऽनुकूलत-र्काप्रसरात्। तथा च 'क्षित्यादिकं, न कर्तृजन्यम्, शरीराजन्यत्वात्' इत्यत्र यथा शरीरविशेषण-वैयर्थ्यान्न शरीरजन्यत्वं कर्तृजन्यत्वव्यापकम्, 'एवं वियदादिकं न मिथ्या, स्वबाधकाभिम-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समव्याप्ति मान ली जाय तो यह उच्छेदरूप दोष नही आयेगा। अतः "साध्यसमानाधिकरण-वृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व" रूप ही उपाधि मानी जाती है। यदि विषमव्याप्ति को भी उपाधि का प्रयोजक मान लिया जाय तो उपाधि के लक्षण मे "पक्षेतरत्वभिन्नत्वे सति" यह विशेषण देना होगा)।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योकि ब्रह्मज्ञान मात्र से बाध्य और मिथ्याभूत देहात्मैक्य में, उपाधि का साध्यव्यापकत्व नहीं। (देहात्मैक्य में मिथ्यात्व साध्य है, किन्तु स्वबाधकाभिमताबाध्यदोष प्रयुक्तभानत्व नहीं, कारण कि देहात्मैक्य के बाधकत्वेन अभिमत ब्रह्मज्ञान में अबाध्य दोष नहीं; उसी प्रकार द्वितीय उपाधि में भी स्वबाधकब्रह्मज्ञान से अबाध्य अन्य बाधक नहीं) और पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादि के समान साधनवत्पक्षमात्र का व्यावर्तक विशेषणवत्त्व होने से दोनों उपाधि पक्षेतर का समान ही है ("पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, महानसवत्" इस अनुमान में किसी ने "पर्वतावयववृत्त्यन्यत्व" उपाधि दी, क्योंकि वह साध्यवह्नि का व्यापक है और साधन धूम का अव्यापक है। किन्तु वह साधनवत्पक्षमात्र के व्यावर्तक पर्वतावयववृत्तित्वरूप विशेषण वाला है; यदि "अन्यत्व" मात्र उपाधि दी जाय तो, वह केवलान्वयी होने से पर्वत पक्ष में भी रह जायेगा और साधन धूम का अव्यापक सिद्ध नही होगा। अतः पर्वतपक्षमात्र की व्यावृत्ति करने के लिये उसमें "पर्वतावयववृत्तित्व" विशेषण दिया गया है। इस प्रकार के विशेषणों को उपाधि में व्यर्थ विशेषण कहा जाता है और उस विशेषण से युक्त को उपाधि नहीं माना जाता। यहां पर पर्वतावयववृत्ति शब्द का अर्थ है – पर्वत, कारण कि पर्वतावयवो मे ही पर्वत रहता है, अतः पर्वतावयववृत्त्यन्यत्व का अर्थ होता है – पर्वतेतरत्व, वह तो उपाधि नहीं होती। उसी प्रकार से प्रकृत में भी "दोष प्रयुक्तभानत्व" और "बाधकं प्रतिनिषेध्यत्वेन विषयत्व" मात्र उपाधि दी जाय तो आकाशादि पक्ष में भी वर्तमान होने से उपाधि का साधनाव्यापकत्व सिद्ध नहीं होगा। अतः पक्षमात्र की व्यावृत्ति के लिये क्रम से "स्वबाधकाभिमताबाध्य" और "स्वबाधकाबाध्य" ये दोनों विशेषण दिये गये हैं। इन विशेषणों से युक्त होने पर ये दोनों उपाधि पक्षेतर के समान ही हो जाती हैं)। अनुमान का साध्यमिथ्यात्व प्रत्यक्षादि से बाधित होने से उस बाध से समर्थित होकर साधनवत्पक्षमात्रव्यावर्तक विशेषण विशिष्ट भी उपाधि हो सकती है – ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि बाध का निराकरण आगे किया जाने वाला है। और भी – यह तो आपको मानना ही होगा कि – जिस का अभाव साध्याभाव का साधक, अर्थात् व्याप्य है, उसका ही साध्य व्यापकत्व है, क्योंकि उससे भिन्न विशेषणांश में अनुकूलतर्क प्रवेश कर नहीं पाता। तब तो – "क्षित्यादिक कर्तृजन्य नहीं, शरीराजन्यत्व होने से" इस साध्याभावसाधक अनुमान में जैसे शरीरविशेषण व्यर्थ होने से शरीरजन्यत्व कर्तृजन्यत्व का व्यापक नहीं होता, वैसे "आकाशादिक

ताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वात्' इति साध्यव्यतिरेकसाधने स्वबाधकाभिमताबाध्यभागस्य वैयर्थ्यात् स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं न मिथ्यात्वव्यापकम्। दोषप्रयुक्तभानत्वं तु भवति साध्यव्यापकम्, तच्च साधनव्यापकमपीति नोपाधिः। दृश्यत्वादिनैव मिथ्यात्व– वत्तस्यापि साधनात्। एवं द्वितीयोपाधावपि 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति' इति विशेषणं व्यतिरेकसाधने व्यर्थम्। विशेष्यभागस्तु साध्यसाधनयोर्व्यापक इति नोपाधिः। अत एवा– धिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वमुपाधिः। अत्र च ब्रह्मणोऽपि बौद्धकल्पितदोषवद्धेतुजन्यक्षणिकत्वादिज्ञानविषयत्वात् समव्याप्तिसिद्ध्यर्थमधिष्ठान

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

मिथ्या नहीं, स्वबाधकत्वेन अभिमतज्ञान से अबाध्यदोष से प्रयुक्तभानत्वरहितत्व होने से'' इस साध्याभावसाधक अनुमान में स्वबाधकाभिमताबाध्यांश व्यर्थ होने से स्वबाधकाभिमता– बाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व मिथ्यात्व का व्यापक नहीं (''क्षित्यादिकं कर्तृजन्यम्, कार्यत्वात्, घटवत्'' इस ईश्वरसाधक अनुमान में किसी ने ''शरीरजन्यत्व'' उपाधि दी, क्योंकि घटदृष्टान्त में कर्तृजन्यत्व और शरीरजन्यत्व दोनों रहने से उपाधि का साध्यव्यापकत्व सिद्ध है, और क्षित्यादिक पक्ष में कार्यत्व है और शरीरजन्यत्व नहीं, अतः उपाधि का साधनाव्यापकत्व सिद्ध है। अब उपाध्यभाव को हेतु बनाकर तथा साध्याभाव को साध्य बनाकर अनुमान का स्वरूप ''क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यं, शरीराजन्यत्वात्, आकाशादिवत्'' हुआ। इसमें नैयायिकों का कहना है कि शरीरजन्यत्व उपाधि में शरीर विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि वह पक्षमात्र को व्यावृत करने के लिये है; अतः शरीरजन्यत्व कर्तृजन्यत्व का व्यापक नहीं, जन्यत्वमात्र व्यापक है। उसी प्रकार प्रकृत में भी उपाध्यभाव को हेतु बनाकर साध्याभाव का अनुमान करते समय स्वबाधकाभिमताबाध्य यह विशेषणांश पक्षमात्र का व्यावर्तक होने से व्यर्थ है, अतः स्वबाधकाभिमताबाध्य दोष प्रयुक्तभानत्व मिथ्यात्व का व्यापक नहीं)। दोष प्रयुक्तभानत्व मात्र तो साध्य व्यापक है। किन्तु वह साधनव्यापक भी है, अतः उपाधि नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार आकाशादि में दृश्यत्वादि हेतु से मिथ्यात्व होता है, उसी प्रकार उस ही हेतु से दोषप्रयुक्तभानत्व भी आकाशादि में सिद्ध है। इसी प्रकार द्वितीय उपाधि में भी ''स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति'' यह विशेषण उपाध्यभाव से साध्याभाव के साधन में व्यर्थ है। विशेष्यभाग (निषेध्यत्वेन विषयत्व) तो साध्य और साधन दोनों का व्यापक होने से उपाधि नहीं। अतएव — ''अधिष्ठानत्वेन अभिमत पदार्थ के साथ समसत्ताक जो दोष है, उस दोष से युक्त हेतु से जन्य ज्ञान का विषयत्व'' उपाधि है; और यहां पर ब्रह्म के भी बौद्ध कल्पित दोषवत्स्वशास्त्ररूप हेतु से जन्य क्षणिकत्वादि ज्ञान का विषयत्व होने से समव्याप्तिसिद्धि के लिये ''अधिष्ठानसमसत्ताक'' विशेषण है, पक्षमात्र को व्यावृत करने के लिये नहीं, अतः पक्षेतर से तुल्यता नहीं — यह कथन भी निराकृत हुआ (यहां पर शुक्तिरूप्यदृष्टान्त में अधिष्ठानत्वेन अभिमत शुक्ति है और आकाशादि पक्ष में ब्रह्म है। अधिष्ठानत्वेन अभिमत शुक्ति का समसत्ताक काचकामलादि दोष युक्त नेत्ररूप हेतु से जन्य ''इदं रजतम्'' इत्यात्मक ज्ञान का विषयत्व और साध्यमिथ्यात्व दोनों शुक्तिरूप्य में रहने से साध्यव्यापकत्व हुआ, और अधिष्ठानत्वेन अभिमत ब्रह्म का समसत्ताक दोष कोई भी न होने से तद्दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्व आकाशादि पक्ष में न होने के कारण साधनाव्यापकत्व भी हुआ। यदि इसमें 'दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्व'' मात्र उपाधि मान ली जाय तो बौद्धपरिकल्पितदोषवद्धेतुजन्य

समसत्ताकेति विशेषणम्, न तु पक्षमात्रव्यावृत्त्यर्थम्, अतो न पक्षेतरत्वतुल्यतेत्यपास्तम्। ब्रह्मणीव ब्रह्मणि कल्पिते क्षणिकत्वादावपि मिथ्याभूते धर्मेऽधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानाविषयत्वादुपाधेः साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेकसाधने व्यर्थविशेषणत्वस्योक्तत्वाच्च। नापि श्रुतितात्पर्याविषयत्वमुपाधिः, श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्य ब्रह्ममात्रनिष्ठतया तदभावस्य साधनव्यापकत्वात्। नापि प्रातिभासिकत्वमुपाधिः, तद्धि ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वम्, तस्य च देहात्मैक्ये मिथ्याभूतेऽप्यसत्त्वेन साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेके व्यर्थविशेषणत्वाच्च। नापि प्रतिभासमात्रशरीरत्वमुपाधिः, दृष्टिसृष्टिपक्षे साधनव्यापकत्वात् परेषामसिद्धेश्चेति।

इति दृश्यत्वादीनां सोपाधिकत्वनिरासः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

क्षणिकत्वादिज्ञानविषयत्व'' ब्रह्म में भी रहेगा। अतः ''यत्र मिथ्यात्वं, तत्र दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वम्'' यह साध्य और उपाधि की व्याप्ति विषम व्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि मिथ्यात्व ब्रह्म में नहीं और दोषवद्धेतुजन्य ज्ञान विषयत्व है, किन्तु विषम व्याप्ति उपाधि की प्रयोजिका नहीं। अतः उपाधि की प्रयोजिका समव्याप्ति सिद्ध करने के लिये ''अधिष्ठान समसत्ताक'' यह विशेषण दोष का दिया गया है, पक्षमात्र के व्यावर्तन के लिये नहीं अर्थात् इस विशेषण से पक्ष की व्यावृत्ति भी हो जायेगी और साथ ही साथ समव्याप्तिसिद्धि रूप प्रयोजन भी हो जायेगा। अतः पक्षेतर की तुल्यता इसमें नहीं, पक्षेतरत्व तो पक्षमात्र को व्यावृत करता है – यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है)। अब सिद्धान्ती निराकरण का हेतु बताते हैं– जिस प्रकार अधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वरूप उपाधि नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म में कल्पित (ब्रह्माधिष्ठानक) मिथ्याभूत क्षणिकत्वादि धर्म में भी अधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्य ज्ञानविषयत्वाभाव होने से उपाधि का साध्यव्यापकत्व सिद्ध नहीं होगा (क्षणिकत्वादि के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का समसत्ताक कोई भी दोष न होने से तद्दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्व ब्रह्माधिष्ठानक क्षणिकत्वादि नहीं, किन्तु उसमें मिथ्यात्व है, अतः उपाधि का साध्यव्यापकत्वाभाव है) और उपाध्यभाव से साध्याभाव के साधन में ''अधिष्ठानसमसत्ताक'' विशेषण का व्यर्थत्व तो पहले ही कह चुके अर्थात् पहले के समान समझना चाहिये और श्रुतितात्पर्याविषयत्व भी उपाधि नहीं, कारण कि श्रुतितात्पर्यविषयत्व ब्रह्ममात्रनिष्ठ होने से श्रुतितात्पर्याविषयत्व आकाशादि पक्ष में वर्तमान होने के कारण साधन का व्यापक होता है, अव्यापक नहीं। प्रातिभासिकत्व भी उपाधि नहीं, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूप है, और मिथ्यारूप से आप के द्वारा तथा हमारे द्वारा माने हुए देहात्मैक्य में ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूप प्रातिभासिकत्व नहीं (कारण कि वह ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्य है), अतः उसमें उपाधि का साध्यव्यापकत्वाभाव है, और साध्याभाव के साधन में व्यर्थविशेषणत्व भी है (उपाध्यभाव और साध्याभाव की ''यत्र ब्रह्मज्ञानेतराऽबाध्यत्वम्, तत्र मिथ्यात्वाभावः'' इस व्याप्ति में ब्रह्मज्ञानेतर विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि ''यत्र अबाध्यत्वं, तत्र मिथ्यात्वाभावः'' इसी से ही चरितार्थ होता है)। प्रतिभासमात्रशरीरत्व भी उपाधि नहीं, कारण कि दृष्टिसृष्टिपक्ष में वह साधन का व्यापक सिद्ध होता है, अव्यापक नहीं (क्योंकि उस पक्ष में अनादि पदार्थों को छोड़कर पक्षकोटि में आए हुए आकाशादि सब जन्यपदार्थ प्रतिभासमात्रशरीर वाले हैं) और माध्वसंप्रदाय के पक्ष में तो आकाशादि को प्रतिभासमात्र शरीर मानना असिद्ध भी है।

इति सोपाधिकत्वनिरासस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।

१३: अथ आभाससाम्यभङ्गः

ननु विमतं प्रातिभासिकं दृश्यत्वात्। ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात्, असद्विलक्षणत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदित्याद्याभाससाम्यमिति चेत्, न, जगतो व्यावहारिकसत्त्वबाधे व्यवहारानुपपत्तिः, ब्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिश्चेति प्रतिकूलतर्कपराघातेन तयोरसाधकत्वात्, प्रकृते च प्रतिकूलतर्कस्य निरसिष्यमाणत्वात्। किञ्च प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वम्? प्रतिभासमात्रशरीरत्वं वा? आद्ये साध्ये देहात्मैक्ये व्यभिचारः, अप्रयोजकत्वञ्च। द्वितीये दृष्टिसृष्टिमतेन सिद्धसाधनम्। एवं ब्रह्मणि मिथ्यात्वे साध्ये सोपाधिके सिद्धसाधनम्। निरुपाधिके व्यवहारविषयत्वरूपो हेतुरसिद्धः। वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमेऽप्यप्रयोजकः। एवमसद्विलक्षणत्वमपि ब्रह्मण्यसिद्धमेव। क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वं ह्यसत्त्वम्, तद्विलक्षणत्वञ्च क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपम्। तच्च शुद्धे ब्रह्मणि नास्त्येव। न च बाध्यत्वमसत्त्वम्, तद्विलक्षणत्वञ्चाबाध्यत्वम्, तच्च ब्रह्मण्यस्त्येवेति वाच्यम्, अबाध्यत्वेन बाध्यत्व–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विवादविषयीभूत आकाशादि प्रातिभासिक हैं, क्योंकि उनमें दृश्यत्व है, जैसे शुक्तिरूप्य; ब्रह्म मिथ्या है, उसमें व्यवहार विषयत्व होने से, अथवा असद्विलक्षणत्व होने से, जैसे शुक्ति रूप्यादि – इत्यादि अनुमानों के साथ "विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्" इत्यादि सिद्धान्तीकृत अनुमान का आभास साम्य है (अनुमानवद् भासते इति अनुमानाभासः अर्थात् अनुमान तो न हो, किन्तु अनुमान जैसा प्रतीत हो, उसको अनुमानाभास कहते हैं यहां पूर्वपक्षी का अभिप्रायः यह है कि जिन प्रमाण और युक्तियों से उक्त अनुमानों को सिद्धान्ती अनुमानाभास सिद्ध करेंगे तो उन प्रमाण और युक्तियों से ही सिद्धान्तीका अनुमान भी आभास सिद्ध होगा, अतः दोनों में आभास साम्य है)। ऐसी शंका हो नहीं सकती, क्योंकि जगत् का व्यावहारिक सत्त्व बाधित होने पर व्यवहार की अनुपपत्ति; और ब्रह्म का मिथ्यात्व होने पर शून्यवाद की आपत्ति – इन दोनों प्रतिकूलतर्कों से निराकृत होने के कारण ये अनुमान अपने साध्यों के साधक नहीं बन सकते; और सिद्धान्तीकृत प्रकृत अनुमान में तो प्रतिकूलतर्कों का निराकरण किया जाने वाला है, अतः आभाससाम्य नहीं। इसके अतिरिक्त – प्रातिभासिकत्व क्या ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व है, या प्रतीतिमात्रशरीरत्व? आद्य साध्य में तो देहात्मैक्य में व्यभिचार है (क्योंकि उसमें दृश्यत्व हेतु है और ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूप साध्य नहीं) तथा हेतु में अप्रयोजकत्व है (साध्य और साधन में व्यभिचार की शंका करने पर अनुकूलतर्क के अभाव से हेतु के साध्यासाधकत्व को अप्रयोजकत्व कहते है)। द्वितीय में दृष्टिसृष्टिमत से सिद्ध साधन है। इसी प्रकार ब्रह्म पक्षक मिथ्यात्व साध्य में सोपाधिक ब्रह्म में मिथ्यात्व सिद्धसाधन है, निरूपाधिक ब्रह्म में व्यवहारविषयत्व रूप हेतु स्वरूपासिद्ध है, वेदान्तजन्यब्रह्माकारवृत्तिविषयत्व निरुपाधिक ब्रह्म में मानने पर भी हेतु अप्रयोजक है। इसी प्रकार असद्विलक्षणत्व भी ब्रह्म में असिद्ध ही है; कारण कि किसी भी अधिकरण में सत्रूप से प्रतीति होने का अयोग्यत्व ही असत्त्व है, और उससे विलक्षणत्व किसी भी अधिकरण में सत्रूप से प्रतीति होने का योग्यत्व है, और ऐसा असद्विलक्षणत्व शुद्ध ब्रह्म में है ही नहीं (क्योंकि शुद्ध ब्रह्म का कोई भी अधिकरण नहीं)। इसमें शंका हो कि बाध्यत्व असत्त्व है, और उससे विलक्षणत्व अबाध्यत्व है, वह अबाध्यत्व तो ब्रह्म में है ही तब तो अबाध्यत्व हेतु से बाध्यत्व रूप मिथ्यात्व के साधन करने में तो विरोध होगा; और शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में साधनवैकल्य (साधनरहितत्व) भी

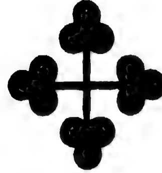
लक्षणमिथ्यात्वसाधने विरोधात्, शुक्तिरूप्यदृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। शून्यवादस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वाच्च। तस्मान्न दृश्यत्वादीनामाभाससाम्यमिति सिद्धम् ।

इति आभाससाम्यभङ्गः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होगा, क्योंकि उसमें अबाध्यत्व नहीं। (शुद्ध ब्रह्म में असद्विलक्षणत्व मान भी लिया जाय तो वह अप्रयोजक है और उसको प्रयोजक मान लिया जाय तो ब्रह्म मिथ्या होने से शून्यवाद का प्रसंग होगा) किन्तु शून्यवाद का आगे निराकरण होगा, इसलिये वह अप्रयोजक ही है। अत: दृश्यत्वादिकों का आभाससाम्य नहीं – यह सिद्ध हुआ।।

इति आभाससाम्यभंगस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



१४ : अथ प्रत्यक्षबाधोद्धारे सत्वाऽनिर्वचनम्

ननु 'सन् घटः' इत्याद्यध्यक्षबाधितविषया दृश्यत्वादय इति चेन्न, चक्षुराद्यध्यक्षयोग्य–मिथ्यात्वविरो-धिसत्त्वानिरुक्तेः। तथा हि न तावत्प्रमाविषयत्वं तद्योग्यत्वं वा, भ्रमाविषयत्वं वा तादृक्सत्त्वम्; चक्षुराद्यगम्यभ्रमप्रमाघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वात्, वक्ष्यमाणदूषणगणग्रा–साच्च। तथा हि नाद्यः; असति प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमाविषयत्वात्प्राक् सत्त्वस्य वक्तव्यत्वेन तस्य तदन्यत्वात्, सत्त्वनिरूपणं विना सदर्थविषयकत्वरूपप्रमात्वस्य निरूपणे चान्योन्या–श्रयात्, मिथ्याभूतस्य शुक्तिरजतसंसर्गस्य व्यवसायद्वारा साक्षाच्च निषेध्यत्वादिना प्रमा–विषयत्वाभ्युपगमाच्च। नापि द्वितीयः; योग्यताया अनिरूपणात्। न तृतीयः; असिद्धेः, सर्वस्यैव क्षणिकत्वादिना भ्रमविषयत्वाभ्युपगमात्। अत एव नासत्त्वाप्रकारकप्रमाविषय–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – "सन् घटः" इत्यादि चक्षुरादीन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से बाधित, मिथ्यात्वसाध्यरूप विषय वाले दृश्यत्वादि हेतु हैं।

समाधान – नहीं, क्योंकि चक्षुरादीन्द्रियों से प्रत्यक्ष योग्य हो, और मिथ्यात्व का विरोधी हो – ऐसा सत्त्व का निर्वचन करना असम्भव है। तथाहि – वह मिथ्यात्वाविरोधी प्रत्यक्षयोग्यसत्त्व न प्रमाविषयत्व है, न तो प्रमाविषयत्वयोग्यत्व है, अथवा न भ्रम का अविषयत्व, कारण कि उक्त तीनो विकल्पों में आये हुए भ्रम और प्रमा में चक्षुरादि जन्य प्रत्यक्ष से अगम्य (अर्थात् प्रत्यक्ष का अविषय) भ्रम और प्रमा समाविष्ट होने से चक्षुरादि प्रत्यक्ष के अयोग्य है तथा वक्ष्यमाण दूषण समुदाय से भी ग्रस्त है। जैसे सत्त्व का आद्य लक्षण नहीं हो सकता, कारण कि असत् वस्तु में प्रमाण की प्रवृत्ति न होने से, सद्विषयक प्रमाणजन्य प्रमा के विषयत्वरूप सत्त्व कहने से पहले प्रमाणविषयसत्त्व वक्तव्य होने से, वह प्रमाणविषय सत्त्व प्रमाविषयत्व से भिन्न है अर्थात् प्रमाणविषय सत्त्व का पहले लक्षण किये बिना उसको प्रमाविषयत्वरूप से कह नहीं सकते क्योंकि प्रमाणविषय सत्त्वनिरूपण के बिना सदर्थविषयत्व रूप प्रमा का निरूपण नहीं हो सकता, और यदि उसके बिना निरूपण करें तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा (प्रमाणविषय सत्त्वसिद्धि होने पर सदर्थविषयत्वरूपप्रमात्व की सिद्धि, और उस प्रमात्व की सिद्धि होने पर उस सत्त्व की सिद्धि – इस प्रकार का अन्योन्याश्रय दोष होगा)। मिथ्याभूत शुक्तिरजततादात्म्यसंबन्ध को परम्परारूप से व्यवसाय द्वारा तथा निषेध्यत्त्वरूपसे साक्षात् प्रमाविषय मानते हैं (अभिप्राय यह है कि "रजतमिदम्" इस प्रकार से शुक्तिरजततादात्म्यविषयक व्यवसायरूप भ्रमज्ञान हुआ। उसके बाद "रजतमिदं जानामि" इत्यात्मक भ्रमज्ञान विषयक अनुव्यवसाय प्रमाज्ञान हुआ, इस प्रमाज्ञान की विषयता साक्षात्–रूप से भ्रमात्मक व्यवसाय ज्ञान में है, किन्तु इस व्यवसाय ज्ञान का विषय शुक्तिरजतसंसर्ग है, इसलिये परम्परारूप से इस व्यवसाय के द्वारा अनुव्यवसाय प्रमाज्ञान की विषयता शुक्तिरजतसंसर्ग में है। इस रीति से मिथ्याभूत यह संसर्ग प्रमा का विषय होता है। इसी प्रकार "नेदं रजतम्" इस निषेध की प्रमा में निषेध्यत्वरूप से साक्षात् ही शुक्तिरजतसंसर्ग विषय बनता है। अतः प्रमाविषयत्वरूप सत्त्व भ्रमविषय साधारण होने से मिथ्यात्व का विरोधी नहीं है)। द्वितीय विकल्प भी नहीं, क्योंकि योग्यता का निरूपण नहीं हुआ है (योग्यतानिरूपण के लिये पहले योग्यतावच्छेदक निश्चित होना चाहिये, किन्तु उसका निश्चय हुआ नहीं) तृतीय भी नहीं, कारण कि भ्रमाविषयत्व असिद्ध है, क्योंकि सबपदार्थ क्षणिकत्वादिरूप से भ्रमविषय माने जाते हैं। अतएव– अर्थात् सब ही भ्रम के विषय होने से असत्त्व है अप्रकार (अविशेषण) जिसका, ऐसे भ्रम का अविषयत्व सत्त्व

त्वमपि; अन्योन्याश्रयाच्च। नापि सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वम्; आत्माश्रयात्। नाप्यसत्त्व-प्रकारकभ्रमाविषयत्वं सत्त्वम्, अन्योन्याश्रयात्। नापि प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकसत्त्व-निषेधविरहः; आत्माश्रयात्। नापि सत्ताजातिरर्थक्रियाकारित्वमसद्वैलक्षण्यं वा; एतेषां मिथ्यात्वाविरोधित्वेन तत्प्रत्यक्षेण मिथ्यात्वानुमाने बाधाभावात्। नापि वेदान्त्यभिमतमिथ्या-त्वाभावः सत्त्वम्; तुच्छेऽतिव्याप्तेः। नाप्यसद्विलक्षणत्वे सत्यनारोपितत्वम्; अनारोपितत्वं हि आरोपाविषयत्वम्, तच्चासम्भवि। सर्वस्यापि क्षणिकत्वादिना आरोपविषयत्वात्। नाप्यस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित् साक्षाद्विषयत्वम्, कालसम्बन्धित्वं वा सत्त्वम्, अस्तित्वञ्च वर्तमानत्वम्, न तु सत्त्वमतो नात्माश्रयः; अतीतादिरपि कदाचिद् वर्तत एवेति नाव्याप्तिः, आरोपितञ्च कालत्रयासम्बन्धित्वेन बाधेन बोधितमिति न द्वितीयलक्षणेऽति-व्याप्तिरिति वाच्यम्, प्रमात्वस्य सत्त्वघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वेन च पूर्वोक्तदोषात्, वर्तमानत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वेऽपि मिथ्यात्वाविरोधाच्च। द्वितीयमपि न मिथ्यात्वविरोधि;

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भी नहीं, और उसमें अन्योन्याश्रय भी सत्त्व और असत्त्व का है, (क्योंकि नञ् घटित सत्त्व लक्षण में आ गया है। अत: सत्त्वसिद्धि होने पर असत्त्वसिद्धि, और असत्त्वसिद्धि होने पर सत्त्वसिद्धि — इस प्रकार अन्योन्याश्रय है)। सत्त्व प्रकारक प्रमाविषयत्व भी सत्त्व नहीं, कारण कि सत्त्वसिद्धि के लिये लक्षण में सत्त्व का आश्रय लिया गया है, अत: आत्माश्रय दोष है और असत्त्व प्रकारक भ्रम का विषयत्व भी सत्त्व नहीं, क्योंकि अन्योन्याश्रय है। ज्ञात अधिकरण में त्रैकालिक सत्त्वनिषेध का अभावरूप सत्त्व भी नहीं, कारण कि उसमें आत्माश्रय है। तथा सत्ताजाति, अर्थक्रियाकारित्व या असद्विलक्षणत्व भी सत्त्व नहीं, कारण कि ये सब मिथ्यात्व के विरोधी न होने से इनके प्रत्यक्ष से मिथ्यात्व के अनुमान में कोई बाध नहीं। वेदान्ती से अभिमत मिथ्यात्व का अभाव भी सत्त्व नहीं, क्योंकि तुच्छ में अतिव्याप्ति होती है और असद्विलक्षणत्व होने पर अनारोपितत्व भी सत्त्व नहीं, कारण कि — अनारोपितत्व का अर्थ है—आरोप का अविषयत्व, और वह तो असम्भव ही है, क्योंकि सब पदार्थ क्षणिकत्वादिरूप से आरोप के विषय हो जाते है। (असत्त्वाप्रकारक-भ्रमाऽविषयत्वादि को इस प्रकार घटाना चाहिये — जहां असत् का सत्‌रूप से "सदिदम्" ऐसा भ्रम होता है — वहां असत्त्वाप्रकारक अर्थात् सत्त्वप्रकारक इदं विशेष्यक भ्रम का विषय इदं शब्द वाच्य असत् है, और अविषय सत् है। इसी प्रकार से "सदिदम्" इस प्रमास्थल में सत्त्व प्रकारक इदं विशेष्यक प्रमा का विषय सद् है। जहां सत् में "असदिदम्" ऐसा भ्रम होता है, वहां असत्त्व प्रकारक इदं विशेष्यक भ्रम का विषय इदं शब्द वाच्य सत् है।

शंका — अस्तित्व प्रकारक प्रमा के प्रति कदाचित् साक्षाद्विषयत्व सत्त्व है, अथवा कालसंबन्धित्व सत्त्व है; और यहां अस्तित्व का अर्थ वर्तमानत्व है, सत्त्व तो नहीं; इसलिये आत्माश्रय नहीं, अतीतादि पदार्थ भी कदाचित् हैं ही, इसलिये उनमें अव्याप्ति नहीं और आरोपित पदार्थ तो कालत्रयासंबन्धित्वरूप से बाध द्वारा बोधित होने के कारण उनमें "कालसंबधित्वं सत्त्वम्" इस द्वितीय लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं।

समाधान — ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि प्रमात्व सत्त्व घटित होने से और चक्षुरादि प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से पूर्वोक्त आत्माश्रयादि दोष यहां भी होता हैं। और वर्तमानत्व प्रकारक प्रमा के विषयत्व में भी मिथ्यात्व का विरोध नहीं। कालसंबन्धित्वरूप सत्त्व भी मिथ्यात्व का विरोधी नहीं, कारण कि शुक्तिरूप्य भी प्रतिभासकाल का संबन्धी है; क्योंकि बाध से तात्त्विककाल

शुक्तिरूप्यस्यापि प्रतिभासकालसम्बन्धित्वात्; बाधेन तात्त्विककालत्रयसम्बन्धनिषेधेऽप्य-तात्त्विककालसम्बन्धस्यानिषेधात्। नापि तात्त्विककालत्रयसम्बन्धित्वं तत्; तात्त्विकत्वस्या-द्याप्यनिरूपणात्, निरूपणे वा शेषवैयर्थ्यात्।

ननु भवन्मते यत् सत्त्वं ब्रह्मणि तदेवेह मम। उक्तं हि—

यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि।
तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः ।। इति।

न च तत्रापरिच्छिन्नत्वं सत्त्वम्ः तच्च न जगतीति वाच्यम्। तुच्छस्यापरिच्छिन्नत्वेऽपि सत्त्वानभ्युपगमान्नापरिच्छिन्नत्वं सत्त्वम्, किन्त्वन्यदेव; तच्च ब्रह्मणीव भ्रमाधिष्ठानत्वा-च्छुक्तिकादेरपि भविष्यतीति चेत्, नूनं विवाहसमये कन्यायाः पित्रा निजगोत्रं पृष्टस्य यदेव भवतां गोत्रं तदेव ममापि गोत्रमिति वदतो वरस्य भ्राता भवान्, यतो जामातृश्वशुर-योरेकगोत्रत्वे विवाहानुपपत्तिवज्जगद्ब्रह्मणोरेकसत्त्वे जगतोऽसत्त्वमेव स्यात्। तथा हि स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपत्वमेव ब्रह्मणः सत्त्वम्; तदेव चेज्जडस्यापि जगतस्तदा रजतत्व-विरोधिशुक्तिसत्तया रजतस्येव जडत्वविरोधिस्वप्रकाशसत्तया जगतः स्वरूपतो मिथ्या-त्वोपपत्तेः। चैतन्यस्यैवावच्छिन्नानवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वेन सर्वभ्रमाधिष्ठानत्वाभ्युपगमान्न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

(व्यावहारिक काल) त्रयसंबन्ध का निषेध होने पर भी अतात्त्विककाल (प्रतिभासकाल) संबन्ध का निषेध नहीं हुआ है। तात्त्विककाल संबन्धित्व सत्त्व है — ऐसा भी नहीं, क्योंकि अभी तक तात्त्विकत्व का निरूपण (निर्वचन) नहीं हुआ है, अथवा निरूपण हो भी जाय तो भी "तात्त्विकत्वं सत्त्वम्" इतना ही कहना पर्याप्त है शेष अर्थात् कालसंबन्धित्व अंश व्यर्थ है।

शंका — आपके मत में ब्रह्म में जो सत्त्व है, वही सत्त्व हमारे मत में भी इस जगत् में है। कहा भी है—"जिस प्रकार का सत्त्व ब्रह्म का है, उसी प्रकार का सत्त्व जगत् का भी हो। यदि ब्रह्मनिष्ठ वह सत्त्व निर्वचन के अयोग्य हो तो हमारे पक्ष में भी जगन्निष्ठ वह सत्त्व वैसा ही हो अर्थात् निर्वचन के अयोग्य हो।" यदि शंका हो कि ब्रह्म में देश--काल और वस्तु से अपरिच्छिन्नत्व ही सत्त्व है, और वह तो जगत् में नहीं है — तो ठीक नहीं, कारण कि तुच्छ में अपरिच्छिन्नत्व होने पर भी उसके सत्त्व का अभ्युपगम होता नहीं, अतः अपरिच्छिन्नत्व सत्त्व नहीं; किन्तु उससे भिन्न ही है, और वह जैसे ब्रह्म में है, वैसे भ्रमाधिष्ठान होने से शुक्तिकादि में भी होगा।

समाधान — इस प्रकार की बातें करने वाले आप तो विवाह के समय में कन्या के पिता से अपने गोत्र पूछने पर "आपका जो गोत्र है, वही मेरा भी गोत्र है" ऐसा उत्तर देने वाले वर के भाई अवश्य हैं; कारण कि जामाता और श्वशुर दोनो का एकगोत्रत्व होने पर जैसे विवाह की अनुपपत्ति होती है, वैसे जगत् और ब्रह्म दोनों के एकसत्त्व होने पर जगत् का असत्त्व ही होगा। क्योंकि स्वप्रकाश अद्वितीय शुद्धचैतन्यरूपत्व ही ब्रह्म का सत्त्व है, यदि वही सत्त्व जड़ जगत् का भी हो जाय तो रजतत्व की विरोधिनी शुक्तिसत्ता से जिस प्रकार स्वरूप से रजत का मिथ्यात्व होता है, उसी प्रकार जड़त्व की विरोधिनी प्रकाशसत्ता से जगत् का स्वरूप से ही मिथ्यात्व सिद्ध होगा। चैतन्य का ही अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न अज्ञानविषयत्व होने के कारण उसको (चैतन्य को) ही सर्वभ्रम का अधिष्ठान माना जाता है, अतः भ्रमाधिष्ठानत्वरूप से शुक्त्यादि के सत्त्व की सिद्धि नहीं होगी (सिद्धान्त में चैतन्य ही भ्रममात्र का अधिष्ठान माना जाता है, क्योंकि वह अज्ञान

भ्रमाधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेः सत्त्वसिद्धिः।

नन्वेवमपि सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम सत्त्वं तुच्छानिर्वचनीयसाधारणम्, तदभावः सत्त्वम्, तच्च ब्रह्मणीव जगत्यपीति ब्रूमः। न च संयोगेऽव्याप्तिः, तस्याव्याप्य–वृत्तित्वानभ्युपगमात्। तदभ्युपगमे च व्याप्यवृत्तित्वेनाभावो विशेषणीयः। नापि वियत्यव्याप्तिः; तदत्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वानङ्गीकारेण लक्षणस्य विद्यमानत्वादेव। न हि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा तस्याभावः, नित्यविभुत्वभङ्गप्रसङ्गात्। आकाशात्यन्ताभावस्य केवलान्वयि–त्वाभ्युपगमे च वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वेनाभावो विशेषणीय इति चेत्? न, चक्षुराद्ययोग्यानेक–पदार्थघटितत्वेनैतादृशसत्त्वस्य ग्रहणे चक्षुरादेरसामर्थ्यात्। न हि सर्वदेशीयत्रैकालिक-

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का आश्रय है, अतः उसमें ही अज्ञान का आवरण है, जड़ प्रपंच तो अज्ञान का ही परिणाम होने से उसका आश्रय नहीं हो सकता, तथा उसका आवरण भी प्रपंच में नहीं हो सकता, कारण कि कोई भी उपादान कारण स्वकार्य में आश्रित होता हुआ तथा स्वकार्य को आवृत करता हुआ लोक में देखा नहीं गया है। इसलिये शुक्तिरूप्यादि भ्रमोपादानाज्ञानविषयत्व शुक्त्याद्यवच्छिन्न है अर्थात् शुक्त्याद्यवचिछन्न चैतन्य शुक्तिरूप्यादि भ्रमोपादानभूत अज्ञान का विषय है; उसी प्रकार प्रपंच भ्रमोपादानाज्ञानविषयत्व अनवच्छिन्न है अर्थात् निरवच्छिन्नचैतन्य विषयक मूलाज्ञान है। अतः अनावृत होने से शुक्त्यादि भ्रमाधिष्ठान नहीं)।

शंका — ऐसा होने पर भी सर्वदेशवृत्तित्रैकालिकात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व असत्त्व है, और असत्त्व का लक्षण तुच्छ और अनिर्वचनीय पदार्थ में साधारण है, उस असत्त्व का अभाव सत्त्व है; और वह जैसे ब्रह्म में है, वैसे जगत् में भी है — ऐसा हम कहते हैं। और इस लक्षण की संयोग में अव्याप्ति नहीं, क्योंकि संयोग को हम अव्याप्यवृत्ति नहीं मानते। (अत्यन्ताभाव को नित्य मानने वालों के मत में अव्याप्यवृत्ति अर्थात् स्वाश्रयैकदेशस्थित संयोग का अभाव केवलान्वयी होने से संयोग में "सर्वदेशीयत्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व" रूप असत्त्वलक्षण घटित होता है। इसलिये असत्त्वलक्षणाभावरूप सत्त्व संयोग में न होने से अव्याप्ति दोष हो जाता है अतः उत्तर देते है कि संयोग को अव्याप्यवृत्ति नहीं मानते)। यदि संयोग को अव्याप्यवृत्ति मानें तो अव्याप्तिदोष निवारण के लिये असत्त्वलक्षण में अत्यन्ताभाव का व्याप्यवृत्तित्व विशेषण देना चाहिये। व्याप्यवृत्तित्व विशेषण देने पर "सर्वदेशीयत्रैकालिकव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभाव" रूप सत्त्व के लक्षण की आकाश में भी अव्याप्ति होगी (क्योंकि आकाशात्यन्ताभाव केवलान्वयी है) — ऐसा कहना भी ठीक नहीं, कारण कि आकाशात्यन्ताभाव को केवलान्वयी न मानने के कारण सत्त्व का लक्षण उसमें विद्यमान है; किसी देश या काल में आकाश का अभाव नहीं हो सकता, अभाव होने पर तो उसके नित्यत्व और विभुत्व भंग होने का प्रसंग आएगा। और आकाशात्यन्ताभाव के केवलान्वयित्व का अंगीकार होने पर तो असत्त्व के लक्षण में अत्यन्ताभाव का वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्व विशेषण देना चाहिये (सर्वदेशीयत्रैकालिकवृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्य–वृत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावः सत्त्वम् इस प्रकार का लक्षण हुआ और संयोग, समवाय अन्यतरसंबन्ध से किसी आश्रय में स्थित पदार्थ को वृत्तिमान कहते हैं, आकाश इस प्रकार से किसी में आश्रित नहीं, अतः असत्त्व का लक्षण उसमें घटित न होने से सत्त्व के लक्षण की आकाश में अव्याप्ति नहीं होगी)।

समाधान — यह नहीं हो सकता; कारण कि चक्षुरादि प्रत्यक्ष के अयोग्य अनेक पदार्थों

वृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वं कस्यापि प्रत्यक्षम्, येन तदभावः प्रत्यक्षो भवेत्। वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वव्याप्यवृत्तित्वपरित्यागेऽपि सर्वदेशीयत्वत्रैकालिकत्व-योरयोग्यत्वात्।

ननु स्वदेशकालवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वाभावे गृह्यमाणे कालत्रयमध्ये वर्तमानकालस्य सर्वदेशमध्ये प्रकृतदेशस्यापि प्रवेशेन तत्र निषेधप्रतियोगित्वाभावस्य गृहीतत्वात्तत्संवलितं कालत्रयवृत्ति सर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं नानुमानेन ग्रहीतुं शक्यत इति चेत्, न, स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधप्रतियोगित्वस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वेन तदभावस्य सुतरां तदयोग्यत्वात्, स्वदेशकालवृत्तियत्किञ्चिन्निषेधाप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्, स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यस्य च स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावाप्रसिद्ध्या केवलान्वयिनि, सम्बन्धभेदेन घटादौ चासिद्धेः, स्वात्यन्ताभावयावदधिकरणावृत्तित्वं वा,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से घटित होने से एतादृश सत्त्व के ग्रहण में चक्षुरादि का सामर्थ्य नहीं है। सर्वदेशीय त्रैकालिक वृत्तिमत्प्रतियोगिक और व्याप्यवृत्ति इन विशेषणों से विशिष्ट अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रूप असत्त्व किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जिससे उसके अभावरूप सत्त्व का प्रत्यक्ष हो जाय। इन विशेषणों में से वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्व और व्याप्यवृत्तित्व को छोड़ भी दिया जाय तो भी सर्वदेशीयत्व और त्रैकालिकत्व दोनों भी प्रत्यक्ष के अयोग्य है।

शंका – सत्त्वेनाभिमत पदार्थो में स्वदेश और स्वकाल में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का अभाव ग्रहण करने योग्य होने पर कालत्रयमध्य में स्वकाल और सर्वदेशमध्य में स्वदेश प्रविष्ट होने से तथा स्वकाल और स्वदेश में अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व का अभाव स्व में गृहीत होने से स्वकाल और स्वदेश से घटित त्रैकालिकसर्वदेशीयात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व अनुमान के द्वारा गृहीत किया नहीं जा सकता। (अभिप्राय यह है कि – ''प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'' इस लक्षण के अनुसार सर्वदेशकालवृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है, यह प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण अनुमान से गृहीत नहीं हो सकता; क्योंकि वह पदार्थ स्वकाल और देश में प्रत्यक्ष से गृहीत होता ही है। किन्तु अत्यन्ताभाव के विशेषण त्रैकालिकत्व में उस पदार्थ का स्वकाल भी प्रविष्ट हो गया तथा सर्वदेशीयत्व में स्वदेश भी प्रविष्ट हो गया। अतीतानागत देश और काल में भले ही वह अतीतानागत सर्वदेशकालनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो, परन्तु स्वकाल और स्वदेश में वह स्वदेशकालनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी किस प्रकार हो सकता है? अतः मिथ्यात्वानुमान प्रत्यक्ष से बाधित है)।

समाधान – सत्त्वेनाभिमत पदार्थ के देश और काल में वृत्ति सकल अत्यन्ताभावों का प्रतियोगित्व चक्षुरादिप्रत्यक्ष के अयोग्य होने से (क्योंकि स्वदेशकालनिष्ठ सकल अभावों में से अतीन्द्रिय विषयक अभाव भी हो सकता है, उस अभाव का अतीन्द्रियनिष्ठप्रतियोगित्व प्रत्यक्षगम्य न होने से) सकल निषेध प्रतियोगित्व का अभाव रूप सत्त्व चक्षुरादिप्रत्यक्ष के अयोग्य होना तो स्वतः सिद्ध है (सकल निषेध प्रतियोगित्वाभावरूप सत्त्व का सत्त्वेनाभिमत पदार्थ में प्रत्यक्ष होने पर ही वह मिथ्या नहीं होगा, क्योंकि वह सत्त्व मिथ्यात्व का विरोधी है); और सत्त्वेनाभिमत पदार्थ के देश और काल में वृत्ति यत्किंचित् (कुछ) अत्यन्ताभावों का अप्रतियोगित्वरूप सत्त्व तो मिथ्यात्व का अविरोधी है। और इसी प्रकार स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव का

स्वात्यन्ताभावयत्किञ्चिदधिकरणावृत्तित्वं वेति विकल्पेन पूर्वोक्तदोषाच्च तस्मात्तत्प्रकारान्तरस्य निरूपयितुमशक्यत्वान्मिथ्यात्वाविरोधित्वाच्च स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावप्रति–योगित्वाभावरूपमेव सत्त्वमुपेयम्। तच्च न चक्षुरादियोग्यमित्युक्तम्।

ननु यस्मिन्कस्मिंश्चित् स्वदेशकालवृत्तिनिषेधे एतद्देशैतत्कालवृत्तिनिषेधत्वं ज्ञात्वा तेन प्रत्यासत्तिभूतेनोपस्थापितानां स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधानां प्रतियोगित्वस्याभावो घटे ग्राह्यः, ततः सार्वदिकसर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वस्य ग्रहणं घटे दुर्घटमिति चेत्, न, एवं सामान्यलक्षणया सर्वनिषेधेषूपस्थितेष्वपि तत्प्रतियोगित्वाभावस्य चक्षुरादिना

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

असामानाधिकरण्यरूप सत्त्व की भी केवलान्वयी प्रमेयत्व–वाच्यत्वादि धर्मों में असिद्धि है; कारण कि केवलान्वयी धर्मों का स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव अप्रसिद्ध है। संबन्धभेद से भी घटादि मे भी उसकी असिद्धि है (क्योंकि उक्त सत्त्व संयोगसंबन्ध से घटादि में नहीं)। और स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यरूप इस लक्षण का क्या अभिप्राय है? क्या वह स्वात्यन्ताभाव के सकलाधिकरण मे अवृत्तित्वरूप है, अथवा स्वात्यन्ताभाव के यत्किचित् अधिकरण में अवृत्तित्वरूप है–इत्यादि विकल्प करने से पूर्वोक्तदोष अर्थात् स्वदेशकालवृत्ति सकल निषेध प्रतियोगित्व का चक्षुराद्ययोग्यत्वादि दोष प्रसक्त है। अत: सत्त्व के निर्वचन का प्रकारान्तर से निरूपण अशक्य होने से और मिथ्यात्व का अविरोधी होने से स्वसमानाधिकरणक सकल अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का अभावरूप ही सत्त्व है–ऐसा मानना होगा। वह तो चक्षुरादि के अयोग्य हैं ऐसा पहले ही कह चुके हैं।

शंका – किसी एक स्वदेशकाल वृत्ति निषेध (अत्यन्ताभाव) में स्वदेशकालवृत्ति निषेधत्व (अत्यन्ताभावत्व) को जानकर उस निषेधत्वरूप सामान्यप्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) से उपस्थापित स्वदेशकालवृत्ति सकल निषेधों के प्रतियोगित्व का अभावरूप सत्त्व घट में ग्रहण करने योग्य है, उसी से सार्वदिक अर्थात् त्रैकालिक सर्वदेशीयनिषेध के प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का ज्ञान अनुमान से घट में होना दुर्घट (असम्भव) है। (यहां पर सत्त्वेनाभिमत घट स्वपद से लिया, उसका देश कपाल है, और उस कपाल में घट का स्थितिकाल स्वकाल है। घट स्थिति काल में ही स्वदेश कपाल में "पटाभाववत् कपालम्" इस प्रकार पटाभाव का स्वसंयुक्तविशेषणतारूप अभावग्राहक लौकिकसन्निकर्ष (संबन्ध) से प्रत्यक्ष हुआ, यहां स्वशब्द से चक्षुरिन्द्रिय ली, उससे संयुक्त कपाल, और उसमें विशेषण पटाभाव हुआ। उस पटाभाव में स्वदेश कालवृत्त्यभावत्व रहता है, उस अभावत्व को जानकर स्वसंयुक्त विशेष्यक ज्ञान प्रकाररूपा सामान्यलक्षणा अलौकिकप्रत्यासत्ति से स्वदेशकालवृत्तिसकलाभाव का प्रत्यक्ष होगा, यहां स्वपद से चक्षुरिन्द्रिय ली, उससे संयुक्त पटाभाव हुआ, वही पटाभाव है विशेष्य जिसका ऐसा ज्ञान, उस ज्ञान में प्रकारीभूत धर्म स्वदेशकालवृत्यभावत्व है, वह अभावत्व जैसे पटाभाव में प्रत्यक्ष होता है, वैसा ही पटाभावसमानाधिकरण कपालनिष्ठसकलाभावों में भी प्रत्यक्ष होता है, इस रीति से स्वदेशकालवृत्तिसकलात्यन्ताभावों का प्रतियोगित्व घटभिन्नपदार्थों में रहेगा, उस प्रतियोगित्व का अभावरूप सत्त्व घट में रहेगा। अत: उस घट का मिथ्यात्व अनुमान से सिद्ध किया नहीं जा सकता)।

समाधान – इस रीति से सामान्यलक्षणा द्वारा सर्व अत्यन्ताभाव उपस्थित होने पर भी उन सर्व अत्यन्ताभावों के प्रतियोगित्व का अभावरूपसत्त्व घट में चक्षुरादि से प्रत्यक्ष करना अशक्य हैं, क्योंकि प्रत्यक्षयोग्यप्रतियोगिक संसर्गाभाव ही प्रत्यक्षयोग्य होता है, और सकलात्यन्ताभावों

ग्रहीतुमशक्यत्वात्। योग्यप्रतियोगिक एव हि संसर्गाभावो योग्यः। न चाशेषनिषेधानां प्रतियोगित्वमतीन्द्रियसाधारणञ्चक्षुरादियोग्यम्। वस्तुतस्तु सामान्यं नेन्द्रियप्रत्यासत्तिः, मानाभावात्। न च महानसीयधूमेन्द्रियसंयोगेन तत्रैव व्याप्तिग्रहे पर्वतीयधूमादनुमितिर्न स्यात्, सामान्यस्य च धूमत्वादेः प्रत्यासत्तित्वे तस्यापि प्रत्यासन्नत्वात्तत्र व्याप्तिग्रहे ततोऽनुमितिरिति वाच्यम्, पर्वतीयधूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायां धूमत्वेन प्रकारेण गृहीतस्मृत-व्याप्तेस्तत्र वैशिष्ट्यग्रहसम्भवात्, 'सुरभि चन्दनम्' इतिवत्, विशेष्येन्द्रियसन्नि-कर्षविशेषणज्ञानासंसर्गाग्रहरूपाया विशिष्टज्ञानसामग्र्या पूर्णत्वात्। व्याप्तिस्मृतिप्रकारेण

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का प्रतियोगित्व तो अतीन्द्रियसाधारण होने से चक्षुरादि से प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। (अभिप्राय यह है कि प्रतियोगिसत्त्वप्रसंजनप्रसज्जितप्रतियोगिकत्व ही अभाव का योग्य प्रतियोगिकत्व है – जैसे "अत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येत, न तूपलभ्यतेऽतोऽत्र घटाभावः" यहां घटाभाव प्रत्यक्ष है क्योंकि यहां प्रतियोगी घट के सत्त्व की प्रसक्ति से प्रसक्त घट अभाव का प्रतियोगी है। इसी प्रकार से धर्मादि को अभाव के संबन्ध में "मयि धर्मः स्यात्तर्हि उपलभ्येत, न तूपलभ्यते" ऐसा कह नहीं सकते, अतः धर्माभाव अनुमेय है, प्रत्यक्ष गोचर नहीं। प्रकृत में निखिलात्यन्ताभावप्रतियोगित्व अभाव का प्रतियोगी है, और निखिलात्यन्ताभावप्रतियोगित्व प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; इसलिये निखिलात्यन्ताभावप्रतियोगित्व का अभाव भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। अतः वह मिथ्यात्व का विरोधी भी नहीं होगा)। वास्तव में तो प्रमाणाभाव होने से सामान्यलक्षणारूप इन्द्रियप्रत्यासत्ति नहीं हो सकती।

शंका – महानसीयधूम के साथ इन्द्रिय का संयोग उस महानसीय धूम में है। व्याप्तिग्रह होने पर पर्वतीय धूम से वह्नि की अनुमिति नहीं होगी; और धूमत्वादि सामान्य धर्म को प्रत्यासत्ति मानेंगे तो पर्वतीय धूम भी इन्द्रिय से प्रत्यासन्न (संनिकृष्ट) होने से उस पर्वतीय धूम में भी व्याप्ति ग्रह होने पर उस पर्वतीय धूम से अनुमिति हो सकेगी। (महानसीय धूम के साथ महानसीयवह्नि का सहचार देखकर व्याप्ति ग्रह करना हो तो उसका स्वरूप "महानसीयधूम महानसीयवह्निव्याप्य है" ऐसा होगा, उस व्याप्ति की स्मृति से तो पर्वतीय धूम को देखकर पर्वतीय वह्नि की अनुमिति नहीं हो सकेगी। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति मान ली जाय तो धूमत्वरूप सामान्य धर्म के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने से जिस प्रकार महानसीयधूम में धूमत्वविशिष्टत्वरूप से धूममात्र का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार पर्वतीयादि तत्तस्थानीय यावत् धूम में भी धूमत्वप्रकारकत्वेन धूममात्र का प्रत्यक्ष होगा। तथा यावत् वह्नि का भी वह्नित्वविशिष्टत्वेन वह्निमात्र प्रत्यक्ष होगा। तब सामान्य रूप से "वह्निव्याप्य धूम है" इस प्रकार हेतु की साध्यसामानाधिकरण्यरूपा व्याप्ति का ज्ञान होगा। और कालान्तर में पर्वत में धूम को देखकर व्याप्ति की स्मृति होने पर वह्नि की अनुमिति होगी। इसलिये सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति अवश्य माननी चाहिये, यह अभिप्राय है)।

समाधान – ऐसा कहना नहीं चाहिये, कारण कि धूमत्वविशिष्टत्वेन गृहीत धूम का वह्नित्वविशिष्टत्वेन गृहीतवह्निके साथ जो सामानाधिकरण्य पूर्वगृहीत हुआ था, वह इस समय पर्वतीयधूम के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष की अवस्था में स्मृत हुआ, उस सामानाधिकरण्य रूप स्मृत व्याप्ति का, पर्वतीयधूम में "धूम वह्निव्याप्य" ऐसा विशेषणविशेष्यभाव संबन्धग्रह हो सकता है। क्योंकि "सुरभि चन्दनम्" इस स्थल के समान यहां भी विशेष्य के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष, विशेषण का ज्ञान, और विशेष्य के साथ विशेषण के असंसर्ग का अग्रह अर्थात् असंबन्ध का

वा पक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुता; महानसीय एव धूमो धूमत्वेन व्याप्तिस्मृतिविषयो भवति, धूमत्वेन पर्वतीयधूमज्ञानं चापि जातम्, तच्च सामान्यलक्षणां विनैव; तावतैवानुमितिसिद्धेः। न च सामान्यप्रत्यासत्तिं विना धूमो वह्निव्यभिचारी न वेत्यनुभूयमानसंशयो न स्यात्, प्रसिद्धधूमे वह्निसम्बधावगमादप्रसिद्धस्य चाज्ञानादिति वाच्यम्;। प्रसिद्धधूम एव तत्तद्धूम- त्वादिना व्याप्तिनिश्चयेऽपि धूमत्वेन तत्संशयोपपत्तेः। तथा चोक्तं मणिकृता- 'घटत्वेनेतरभेदनिश्चयेऽपि पृथिवीत्वादिना तत्र संशयसिषाधयिषे भवत एव' इति। निश्चितेऽप्यर्थे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अज्ञान (एक प्रकार से संबन्ध का ज्ञान) रूप विशिष्टज्ञान की सामग्री पूर्ण है (नैयायिकों के मत में—विशेष्यग्राहकेन्द्रियसंयुक्तमनः संयुक्तात्मसमवेत प्रकारविषयकज्ञानरूपा अलौकिक ज्ञानलक्षणा- प्रत्यासत्ति से "चन्दन सुरभि है" ऐसा ज्ञान होता है। पहले किसी एक स्थान में चन्दन को नेत्रों से देखकर और चन्दननिष्ठ गन्ध को घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण कर सुरभि चन्दन का दो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करते हैं। इस के बाद कालान्तर में दूर से ही चन्दन को नेत्रों से देखते समय "सुरभि चन्दन है" ऐसा सौरभविशिष्ट चन्दन का घ्राणेन्द्रिय के बिना नेत्रों से ही ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति द्वारा प्रत्यक्ष मानते हैं। यहां विशेष्यग्राहक इन्द्रिय हुई – चन्दनग्राहक चक्षुरिन्द्रिय, उससे संयुक्त मन, मन से संयुक्त आत्मा, और उस आत्मा में समवायसंबन्ध से स्थित सौरभविषयक ज्ञान – इस प्रकार परम्परा से ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति का उपयोग मानते है। इसमें चन्दन के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष, सौरभ का ज्ञान, और चन्दन के सौरभ का असंसर्गाग्रह ये तीन सामग्री हैं; इन तीनों सामग्रियों से जिस प्रकार "सुरभि चन्दन है" ऐसा ज्ञान होता है, वैसा ही प्रकृत में "वह्निव्याप्य धूम है" इसमें पर्वतीय धूम के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष, वह्निव्याप्यत्व विशेषण का ज्ञान, और धूम तथा वह्निव्याप्यत्व का असंसर्गाग्रह ये तीन विशिष्टविषयकज्ञान सामग्री पूर्ण होने से पर्वतीय धूम को देखकर "वह्निव्याप्योऽयं धूमः" यह ज्ञान हो सकता है)। अथवा व्याप्तिस्मृतिविशिष्टत्वेन अर्थात् व्याप्तिस्मरण पूर्वक पक्षधर्मता का ज्ञान (पक्ष में हेतु की वृत्तिता का ज्ञान) अनुमिति के प्रति हेतु है (अभिप्राय यह है – स्मर्यमाणव्याप्यतावच्छेदक धर्म प्रकारकपक्षधर्मताज्ञान—अर्थात् "वह्निव्याप्यो धूमः" इस प्रकार स्मर्यमाणव्याप्य धूम हुआ, तन्निष्ठव्याप्यतावच्छेदक धर्म हुआ धूमत्व, वही धूमत्व ही प्रकार है जिसका ऐसे धूम का पक्षवृत्तित्वेन ज्ञान ही अनुमिति के प्रति हेतु है। यहां महानसीय धूम ही धूमत्वेन व्याप्तिस्मृति का विषय है (महानसीयत्वेन धूम व्याप्तिस्मृति का विषय नहीं, कारण कि "महानस में धूम है" इस में धूमत्वेन ही धूम का ज्ञान होता है, महानसीयत्वेन नहीं—यह अनुभवसिद्ध है, इसी साध्यवह्नि का भी वह्नित्वेन ही वह्नि का ज्ञान समझना चाहिये)। इसी प्रकार धूमत्वेन पर्वतीय धूम का ज्ञान भी उत्पन्न होता है। उस पर्वतीय धूम में धूमत्वेन धूम का ज्ञान सामान्यलक्षणा के बिना ही होता है। और उतने मात्र से ही अनुमिति की सिद्धि होती है।

शंका – सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के बिना धूम वह्नि का व्यभिचारी है? अथवा नहीं? इस प्रकार से अनुभूयमान संशय न होगा, क्योंकि प्रसिद्ध धूम में वह्नि का संबन्ध ज्ञात रहता है और अप्रसिद्ध धूम का अज्ञान है (जिसका अज्ञान है, उसका संशय नहीं होता, जो सामान्य रूप से ज्ञात है और विशेष रूप से अज्ञात है, उसका ही संशय होता है। और सामान्यरूप से ज्ञात तो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से होता है। अतः सामान्यप्रत्यासत्ति को मानना चाहिये)।

समाधान – ऐसा न कहिये, क्योंकि प्रसिद्ध धूम में ही महानसीय धूमत्व, पर्वतीयधूमत्वादि से व्याप्तिनिश्चय होने पर भी धूमत्वरूप सामान्य धर्म से "धूमो वह्निव्यभिचारी न वा" यह संशय

प्रामाण्यसंशयाहितसंशयवद्धूमत्वं वह्निव्यभिचारिवृत्ति न वेति संशयादपि तादृशसंशयोपपत्तेश्च। एतेन वायू रूपवान्न वेति संशयोऽपि व्याख्यातः।

ननु सिद्धे नेच्छा, किन्त्वसिद्धे; सा च स्वसमानविषयकज्ञानजन्या, तच्च ज्ञानं न सामान्यप्रत्यासत्तिं विना। न च सिद्धगोचरसुखत्वप्रकारकज्ञानादेवाज्ञाते सुखे भवतीच्छा, समानप्रकारकत्वमात्रस्य नियामकत्वादिति वाच्यम्, रजतत्वेन प्रकारेण रजतेऽनुभूयमाने घटादौ रजतत्वप्रकारकेच्छाप्रसङ्गात्। न च प्रकाराश्रयत्वमपि नियामकम्; रजतभ्रमाच्छुक्तावि–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

हो सकता है। जैसे कि चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय ने कहा भी है – ''घटत्वेन घट में इतरभेद निश्चय होने पर भी पृथिवीत्वादि सामान्यधर्म से घट के इतर भेद में संशय और सिषाधयिषा (सिद्ध करने की इच्छा) हो ही जाती है।'' इसलिये निश्चित अर्थ में भी जिस प्रकार प्रामाण्य के संशय से उत्थापित संशय होता है, उसी प्रकार धूमत्व वह्निव्यभिचारी पदार्थ में स्थित है या नहीं। इस संशय से भी ''धूम वह्नि का व्यभिचारी है या नहीं – इत्यात्मक संशय हो सकता है (अतः उसके लिये सामान्यप्रत्यासत्ति की आवश्यकता नहीं)। उक्त संशय में सामान्यप्रत्यासत्ति की अनपेक्षा होने से ''वायु रूपवान् है, या नहीं'' इस संशय में भी उसका अनपेक्षित्व कथित हुआ (क्योंकि वायु में रूपाभाव का निश्चय होने पर भी ''रूपत्व पृथिव्यादित्रयव्यभिचारी पदार्थ में स्थित है या नहीं'' इस रूपत्वधर्मिक संशय से ''वायु रूपवान् है या नहीं'' यह संशय सामान्य प्रत्यासत्ति के बिना भी हो सकता है)।

शंका – प्राप्त वस्तु में प्राप्ति की इच्छा नहीं होती, किन्तु अप्राप्त में होती है, और वह इच्छा तो स्व (इच्छा) समानविषयक ज्ञान से जन्य है, और वह ज्ञान सामान्य प्रत्यासत्ति के बिना नहीं होता (सुख विषयकज्ञान से तत्सुख विषयक इच्छा हुई, किन्तु अतीतसुखविषयक ज्ञान से अतीत सुख की इच्छा करना व्यर्थ है, अतः अतीतसुखसमानजातीय सुखविषयक ज्ञान से ही अतीत सुख समानजातीय सुख की इच्छा माननी होगी, अतीत सुखसमानजातीय सुख तो वर्तमान नहीं, वर्तमान होता तो उसकी प्राप्ति की इच्छा नही होगी। अतः अतीतसुखसमानजातीय भाविसुखविषयक ज्ञान से उस भाविसुख की इच्छा होती है – ऐसा मानना होगा। और वह भाविसुखविषयकज्ञान सामान्य प्रत्यासत्ति से ही मानना होगा, अन्य उपाय नहीं)। शंका हो कि प्राप्तसुखविषयक सुखत्वप्रकारक ज्ञान (यदि सुखमस्तीत्यात्मकसुखत्वप्रकारक प्राप्त सुखविशेष्यक ज्ञान) से ही अज्ञात सुख में इच्छा होती है क्योंकि इच्छा के प्रति ज्ञान के जनकत्व में सुखत्वादि समान प्रकारकत्व मात्र प्रयोजक है (भाविसुखविषयकत्व प्रयोजक नहीं, अतः सामान्य प्रत्यासत्ति की आवश्यकता नहीं) ऐसा भी कहना अनुचित है – क्योंकि समानप्रकारकत्वमात्र प्रयोजक मानें तो रजतत्व प्रकार से रजतत्वावच्छिन्न रजत अनुभूयमान होने पर रजतत्वप्रकारकेच्छा घटादि में होने का प्रसंग होगा (कारण कि उसमें विषय का नियामक कोई नहीं, प्रकार का नियामक मात्र है)। यदि इस दोष को निवारित करने के लिये प्रकाराश्रयत्व को भी नियामक मानोगे तो रजतभ्रम से शुक्ति में इच्छा न होने का प्रसंग आयेगा (रजतत्वप्रकारक ज्ञान रजतत्वाश्रय को विषय करने वाली इच्छा का जनक है – यह कार्यकारणभाव है। अतः ''समान प्रकारकत्वे सति समानाश्रयकत्वम्'' यह इच्छा के प्रति ज्ञान के जनकत्व में नियामक अर्थात् प्रयोजक है। इस कारण घटादि में रजतत्वप्रकारकेच्छा होने का दोष नहीं आता। तो भी शुक्ति में रजत भ्रम होने के समय, शुक्ति रजतत्व का आश्रय न होने से उसको लेने के लिये इच्छा और प्रवृत्ति होनी नही चाहिये, किन्तु

च्छानुदयप्रसङ्गात्। तथा च समानप्रकारकत्वे सति समानविषयकत्वं तन्त्रम्। अत एवाख्यातिपक्षे रजतस्मरणस्यैव शुक्तौ प्रवर्तकत्वमित्यपास्तमिति चेत्, न, यतो रजतभ्रमाच्छुक्ताविच्छा नास्त्येव, किन्त्वनिर्वचनीये रजत इत्यनिर्वचनीयख्यातौ वक्ष्यते। प्रकाराश्रयत्वं नियामकं वदन्नख्यातिवादी परमेवं विभीषणीयः। तथा च प्रकाराश्रयत्वस्य नियामकत्वादन्यथाख्यातिपक्षोऽपि निरस्त एव। न च तर्हि भ्रमत्वं न स्यात्, इदं रजतमिति भ्रमत्वाभिमतज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वानभ्युपगमादिति वाच्यम्; बाधितविषयत्वेन हि भ्रमत्वं न तु व्यधिकरणप्रकारत्वेन, तस्यापि विषयबाधप्रयोज्यत्वादिति हि वक्ष्यते।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होती है, अत: उक्त नियामक ठीक नहीं) इन सब कारणों से समान प्रकारकत्व होने पर समानविषयकत्व ही तन्त्र अर्थात् नियामक है ऐसा मानना होगा (तब तो भाविसुखादि को ज्ञान के विषय माने बिना वह सुखेच्छा का जनक नहीं हो सकता, और भावि सुखज्ञान सामान्यप्रत्यासत्ति के बिना नहीं होगा। अत: सामान्यप्रत्यासत्ति का अंगीकार अवश्यकर्तव्य है)। अतएव – अर्थात् समानप्रकारकत्व होने पर समानविषयकत्व ही इच्छा और प्रवृत्ति का नियामक होने से सर्वज्ञानयथार्थवादियों के अख्यातिवाद पक्ष में रजतस्मरण ही शुक्ति में प्रवृत्ति का प्रवर्तक मानना खण्डित हुआ (क्योंकि समानविषयकत्व हुए बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती)।

समाधान – नहीं, क्योंकि रजतभ्रम से शुक्ति में अर्थात् शुक्ति विषयिका इच्छा होती ही नहीं किन्तु अनिर्वचनीय रजत विषयिका होती है; – इस बात को अनिर्वचनीयख्याति के समर्थन में कहेंगे। (एतावता यह सिद्ध हुआ कि ''समान प्रकारकत्वे सति समानाश्रयकत्वम्'' ही नियामक है; अत: सामान्यप्रत्यासत्ति का अंगीकार कर्तव्य नहीं)। और (भ्रमस्थल में भी) प्रकाराश्रयत्व को नियामक कहने वाले हो तो उन अख्यातिवादियों को वैसे आपने खूब भय दिखाया (अर्थात् वे लोग भी संवादि प्रवृत्ति यानि सफल प्रवृत्ति में ही प्रकाराश्रयत्व को नियामक मानते है, किन्तु भ्रमस्थल की विसंवादि प्रवृत्ति यानि निष्फल प्रवृत्ति में तो दोष और असंसर्गाग्रह को नियामक मानते हैं। अत: उनको भय दिखाना भी आपका अज्ञान मात्र है – यह अभिप्राय है)। इस प्रकार प्रकाराश्रयत्व ही नियामक होने से अन्यथाख्याति पक्ष भी परास्त ही हुआ (क्योंकि समानविषयकत्व को घटाने के लिये देशान्तरस्थ रजत को लिया जाय तो पुरोवर्त्ती में रजत का भान और रजतार्थी की प्रवृत्ति दोनों असम्भव है; अनिर्वचनीयख्याति में तो यह दोष नहीं)।

शंका – इस प्रकार अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति को अंगीकार करने पर तो 'इदं रजतम्'' इस ज्ञान का भ्रमत्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि ''इदं रजतम्'' इस प्रकार भ्रमत्वेन अभिमत ज्ञान के व्यधिकरणप्रकारत्व अर्थात् शुक्तिनिष्ठरजतत्वप्रकारत्व को आप स्वीकृत नहीं करते।

समाधान – ऐसा कहना नहीं चाहियें, कारण कि बाधित (मिथ्या) विषय होने से ही शुक्तिरूप्यज्ञान का भ्रमत्व है, न कि व्यधिकरणप्रकारत्व होने से भ्रमत्व; वह व्यधिकरणप्रकारत्व भी विषयबाध से ज्ञाप्य ही है–इस बात को आगे कहेंगे। (''रजतमिदम्'' इस प्रकार रजतप्रकारक–इदं विशेष्यक भ्रमज्ञान होता है। उसमें इदंनिष्ठ रजतत्व प्रकाररूप व्यधिकरण धर्म 'नेदं रजतम्'' इस बाध के द्वारा रजतरूप विशेषण के अभाव ज्ञान से बाधित होता है, इस प्रकार वह विषय बाध से ज्ञाप्य होता है। अत: प्रथमोपस्थित बाधित विषयत्व ही भ्रमत्व का प्रयोजक है पश्चात ज्ञात व्यधिकरणप्रकारत्व नहीं)।

नन्वभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानजन्यत्वात् प्रौढप्रकाशयावत्तेजोविरहरूपस्य तमसः प्रत्यक्षता न स्यात्, सामान्यप्रत्यासतिं विना प्रतियोग्यनुपस्थितेरिति चेन्न; अस्मन्मते तमसो भावान्तरत्वात्। न च तथापि तद्व्यञ्जकत्वात्तदपेक्षेति वाच्यम्, स्वरूपसत एव तादृक्ते-जोविरहस्य तमोव्यञ्जकत्वम्, न तु ज्ञानस्य मानाभावादित्यभ्युपगमात्। अन्येषां मते तादृक्तेजोविरहज्ञानस्यापेक्षितत्वेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव तत्सम्भवेन तदर्थं सकलप्रतियोगिज्ञानजनिकायाः सामान्यप्रत्यासत्तेरनुपयोगात्। न च गोत्वाभावज्ञानं गोत्वत्वप्रकारकज्ञानजन्यम्, तच्च गवेतरावृत्तित्वे सति सकलगोवृत्तित्वरूपं सामान्यप्रत्या-सत्तिमन्तरेण न शक्यमवगन्तुमिति साम्प्रतम्, यत्किञ्चिद्गोव्यक्तेरेव गोत्वत्वरूपत्वात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — अभावज्ञान प्रतियोगिज्ञान से जन्य होने से प्रौढ़प्रकाशयुक्त यावत्तेजों का अभावरूप तम का प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि सामान्यप्रत्यासत्ति के बिना यावत्तेजोरूप प्रतियोगी की उपस्थिति नहीं हो सकती (क्योंकि किंचित्तेज में इन्द्रियसन्निकर्ष से तेजस्त्व ज्ञात करके उसी से अतीन्द्रियादि यावत्तेज का ज्ञान होता है; वह ज्ञान सामान्य प्रत्यासत्ति के बिना नहीं हो सकता, अतः सामान्यप्रत्यासत्ति माननी होगी)

समाधान — नहीं, क्योंकि हमारे मत में अर्थात् पूवोत्तरमीमांसकों के मत में तम का भावों में अन्तर्भाव है अर्थात् तम भाव पदार्थ है, अभावरूप नहीं)

शंका — तो भी तम के व्यंजक होने से तेजोऽभावज्ञान की अपेक्षा है।

समाधान — नहीं, स्वरूप से वर्तमान प्रौढ़प्रकाशयुक्तयावत्तेजों का अभाव ही तम का व्यंजक है; प्रमाणाभाव से तादृक्तेजोऽभाव का ज्ञान व्यंजक नहीं, ऐसा हम मानते हैं। और प्रौढ़प्रकाशयुक्तयावत्तेजोऽभाव को ही तम मानने वाले वैशेषिकादि के मत में तमोव्यवहार के लिये तादृक्तेजोऽभावज्ञान अपेक्षित होने पर प्रतियोगितावच्छेदक प्रौढ़प्रकाशत्वप्रकारक ज्ञान से तादृक्तेजोऽभावज्ञानसम्भव होने से उस अभावज्ञान के लिये सकल प्रतियोगिज्ञानजनिका सामान्यप्रत्यासत्ति का उपयोग नहीं होगा। (कारण कि प्रौढ़प्रकाश का ज्ञान हो जाय तो प्रौढ़प्रकाशाभाव का ज्ञान हो ही जायेगा और उसी ज्ञान से विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव का ज्ञान भी अवश्य हो ही जायेगा। अतः यावत्तेजो के ज्ञान के बिना यावत्तेजोऽभावज्ञान सम्भव होने से यावत्तेजोविषयकज्ञान के लिये सामान्यप्रत्यासत्ति की आवश्यकता नहीं)

शंका — गोत्वाभावज्ञान गोत्वत्वप्रकारकज्ञान से जन्य है अर्थात् गोत्वत्वावच्छिन्न गोत्वज्ञान से जन्य है; और गोत्वत्व तो गो से भिन्न में अवृत्तित्व होने पर सकल गोवृत्तित्व रूप है, और उसका सकल गोवृत्तित्व सामान्यप्रत्यासत्ति के बिना ज्ञात नहीं हो सकता, अतः सामान्यप्रत्यासत्ति को अंगीकार करना चाहिये (अभिप्राय यह है कि अश्वादि में गोत्वाभाव का ज्ञान हुआ, इस अभावज्ञान का प्रतियोगी गोत्व और प्रतियोगितावच्छेदक गोत्वत्व है; उस प्रतियोगितावच्छेदक गोत्वत्व के ज्ञात हुए बिना प्रतियोगी गोत्व का ज्ञान नहीं हो सकता; किन्तु गोत्वत्व सखण्डोपाधि अर्थात् अनेक वृत्तिधर्म होने से गोत्ववृत्ति होता हुआ सकल गोव्यक्तियों में भी रहता है क्योंकि गोत्व समवायसंबन्ध से सकल गोव्यक्तियों में है, और उस गोत्व में गोत्वत्व समवेत है, अतः गोत्वत्व सकल गोव्यक्तियों में रहता है। उस गोत्वत्व को ज्ञात करने के लिये उसके आश्रयभूत सकलगोव्यक्तियों को जानना आवश्यक है। वह ज्ञान सामान्यप्रत्यासत्ति के बिना नहीं हो सकता। अतः उसको अंगीकार करना चाहिये)।

एतेन प्रागभावप्रतीतिरपि व्याख्याता। किञ्चानागतज्ञान स्यापेक्षितत्वेऽनुमानादेव तद्भविष्यति, तथा च न्यायकुसुमाञ्जलौ–

'शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः'।।

इत्यत्र शङ्कोपपादकमनागतज्ञानमनुमानादेवेत्युक्तम्। अनुमानञ्च 'वर्तमानपाकः पाकपूर्वकालीनः, पाकत्वादतीतपाकवत्' इत्यादि। न च चरमपाके व्यभिचारः, साध्य–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान – वैसा कहना साम्प्रत नहीं अर्थात् सम्प्रदाय के अनुकूल नहीं, क्योंकि यत्किंचित् गोव्यक्ति ही गोत्वत्व रूप है (अभिप्राय यह है कि समवेतत्व संबन्ध से गोव्यक्ति ही गोत्व का अवच्छेदक है, क्योंकि किंनिष्ठ गोत्व है – ऐसी अपेक्षा करने पर गोव्यक्तिनिष्ठ ही कहा जाता है, अतः गोत्व का व्यावर्तक गोव्यक्ति से अतिरिक्त कोई अन्य अनुभव में नही आता। अतः गोत्वव्यावर्तकत्वेन अभिमत गोत्वत्व गोव्यक्ति ही है और वह अवच्छेदक गोव्यक्ति तो कोई एक विशेष गोव्यक्ति भी हो सकता है। अतः उसके लिये सामान्य प्रत्यासत्ति की आवश्यकता नही)

इस कथन से प्रागभाव की प्रतीति भी खण्डित हो गई (अर्थात् "घटो भविष्यति" यह ज्ञान भाविघट के कपालनिष्ठ प्रागभाव को विषय करता है, उस प्रागभाव का प्रतियोगी भाविघट वर्तमान न होने से उसका ज्ञान सामान्यप्रत्यासत्ति के बिना नहीं होगा; इसी से सामान्यप्रत्यासत्ति को मानना चाहिये – यह कथन भी निरस्त हुआ, कारण कि प्रतियोगितावच्छेदकावचिछन्न–सकलप्रतियोगियों के ज्ञान के बिना भी प्रतियोगितावच्छेकप्रकारक ज्ञान अर्थात् भावित्वप्रकारकज्ञान से ही भाविघटप्रागभाव का ज्ञान हो सकता है। अतः सामान्यप्रत्यासत्ति अनावश्यक है) इसके अतिरिक्त – अनागतविषयक ज्ञान की अपेक्षा होने पर अनुमान से ही अनागतविषयक ज्ञान हो जायेगा (जैसे वर्तमानघटप्रागभावः घटप्रतियोगिकः घटप्रागभावत्वात् अतीतघटप्रागभावदिति) जैसे कि उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि में प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानने वाले चार्वाकों के प्रति कहा है – यदि तुमको देशान्तर और कालान्तर में धूम में वह्निव्यभिचार की शंका है तो अनुमान प्रमाण सिद्ध हो गया (क्योंकि देशान्तरस्थ और कालान्तरस्थ धूम प्रत्यक्ष तो होता नहीं, अतः तुमको उसे अनुमान द्वारा जानना ही होगा), और यदि शंका नहीं है तो सुतराम् अनुमान सिद्ध हो गया (क्योंकि "वह्निव्याप्य धूम" इस व्याप्ति से अनुमान होता है)। इस प्रकार चार्वाकों के प्रति कहने के बाद आचार्य अपने शिष्यों को समझाते है– व्याप्यारोप से व्यापकारोपरूप तर्क शंका की अवधि अर्थात् शंका की सामग्री का विघटक (विनाशक) माना जाता है। (उसमें शिष्य शंका करें कि तर्क भी तो व्याप्तिमूलक ही है, अतः अनवस्था होगी) इसका उत्तर देते है– यह अनवस्थारूपा आशंका व्याघातावधि होगी, अर्थात् "यदि सर्वत्र शंका करते हो तो धूमादि के लिये वह्न्यादि में तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी" इस तर्करूप व्याघात से वह आशंका निवारणीया है। इस कारिका में शंका के उपपादक अनागतविषयक ज्ञान को अनुमान से ही सिद्ध, आचार्य ने कहा है (यदि अनागतज्ञान सामान्य प्रत्यासत्ति से ही होता हो तो आचार्य को ऐसा ही कहना चाहिये था, अतः अनुमान से अनागत ज्ञान किया जा सकता है, उसके लिये सामान्यप्रत्यासत्ति अनावश्यक है)। अनागतसाधक अनुमान तो इस प्रकार होगा–वर्तमान कालीन विलक्षणादि–संयोगरूपपाक पाकपूर्वकालीन है (पाक से पूर्वकाल में स्थित है), क्योंकि उसमें पाकत्व है, जैसे अतीतपाक–इत्यादि (यहां अनागतपाककालीनत्त्व को लेकर पक्ष में पाकपूर्वकालीनत्व साध्य

सिद्ध्युपजीवकस्य व्यभिचारज्ञानस्यादोषत्वात्, अन्यथा सिद्ध्यसिद्धिव्याघातात्। किञ्च शब्दादपि सकलधूमपाकादिगोचरज्ञानसम्भवः। न च शङ्कादिपूर्वं शब्दस्योपस्थितिनियमाभाव इति वाच्यम्; कदाचिदेव शब्दादनुभूतस्य तदानीं प्रमुष्टतत्ताकस्मृतिसम्भवात्। नन्वनुमितेर्विशेषणज्ञानजन्यत्वेन सामान्यप्रत्यासत्तिसिद्धिः, न चानुमानान्तराद्विशेषण-ज्ञानमनवस्थानादिति चेन्न; विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव साध्यविशेषणकपक्ष-विशेष्यकानुमितिसम्भवात्। एतेन 'सुरभि चन्दनम्'इत्यादिविशिष्टज्ञानाय कल्पिता ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरपि निरस्ता; चन्दनत्वेन सुरभित्वानुमानोपपत्तेः, अन्यथा साध्यविशिष्ट-पक्षप्रत्यक्षोपपत्तेरनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। न चाभावसाध्यककेवलव्यतिरेकिणि साध्यप्रसिद्धे-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

घटाना चाहिये, तथा वर्तमानपाककालीनत्व को लेकर दृष्टान्त में पाकपूर्वकालीनत्व साध्य घटाना चाहियें इसी से अनागतपाक का ज्ञान होगा)। इसमें यदि कहो कि चरमपाक में पाकत्व हेतु है, किन्तु पाकपूर्वकालीनत्व साध्य नहीं, (क्योंकि चरमपाक होने से उसके आगे और पाक नहीं) अतः चरमपाक में व्यभिचार है– तो यह कथन ठीक नहीं, कारण कि साध्यसिद्धि का उपजीवक व्यभिचार ज्ञान दोष नहीं होता (अभिप्राय यह है कि –प्रकृतानुमान से पक्ष में पाकपूर्वकालीनत्व साध्य के निश्चय होने के बाद ही चरमपाक में साध्य का व्यभिचार ज्ञान हुआ, अतः उपजीव्य साध्यनिश्चय के अधीन उपजीवक व्यभिचार ज्ञान होता है–ऐसा मानना होगा, तब तो साध्यनिश्चय के बाद व्यभिचारज्ञान व्यर्थ हैं) अन्यथा–अर्थात् उस व्यभिचार को दोष मानोगे तो– सिद्धि और असिद्धि में व्याघात होता है (अर्थात् यदि भावी पदार्थ ज्ञात है तो उक्त अनुमान से ही हुआ, तब उसका ज्ञान होने पर पश्चाद्भावी व्यभिचारज्ञान से क्या? अर्थात् वह व्यर्थ ही है और यदि भावी अज्ञात है तो व्यभिचार ज्ञान होना असम्भव होने से दोनों तरफ से व्याघात होता है)। इसके अतिरिक्त – शब्द से भी सकल धूम और पाकादि को विषय करने वाला ज्ञान हो सकता है (क्योंकि विद्यमान पदार्थ में तो शक्त्यादि ज्ञान से बोध होता है और अविद्यमान पदार्थ में शब्द से बोध होता है, कारण कि यत्प्रकारक शक्त्यादि ग्रह होता है, तत्प्रकारक शाब्दबोध होता है यह नियम है)। शंकादि होने से पूर्व शब्द की उपस्थिति नियम से नहीं होती, अतः अर्थ की उपस्थिति कैसे होगी – ऐसा भी कहना अनुचित है, क्योंकि कदाचित् शब्द से अनुभूत पदार्थ का, शंकादि होने से पूर्व तत्कालतद्देशवृत्तित्वरूप तत्तांश से रहित केवल धूमादि की स्मृति होना सम्भव है।

शंका – "पर्वतो वह्निमान्" इत्यादि विशिष्टविषयक अनुमितिज्ञान, विशेषणात्मक साध्यज्ञान से जन्य होने के कारण, अनुमिति से पहले पर्वतादि में साध्यविषयकज्ञान होना चाहिये, वह सामान्यप्रत्यासत्ति के बिना नहीं होगा, अतः सामान्यप्रत्यासत्ति की सिद्धि होगी।

समाधान – नहीं, क्योंकि विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञान अर्थात् वह्नित्वावच्छिन्नवह्निज्ञान से ही वह्निरूपसाध्यविशेषणक पर्वतरूप पक्षविशेष्यक "पर्वतो वह्निमान्" इत्यात्मक अनुमितिज्ञान हो सकता है। वक्ष्यमाण हेतु से "सुरभि चन्दन है" इत्यादि विशिष्टज्ञान के लिये कल्पित ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति भी खण्डित हुई। कारण कि चन्दनत्व हेतु से सुरभित्व का अनुमान हो सकता है, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति मानें तो साध्यविशिष्ट पक्ष का प्रत्यक्ष संभव होने के कारण अनुमान मात्र का उच्छेद प्रसंग होगा। (क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष से अगोचर परमाणु आदि का भी मानस प्रत्यक्ष हो सकता है)।

रनङ्गत्वात्तत्र क्लृप्ताया अनुमितिसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्रीतो बलवत्त्वमिति वाच्यम्, अर्थापत्तिवादिभिरस्माभिस्तदनभ्युपगमात्। पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्य इति परामर्शात् साध्यविशेष्यकपक्षविशेषणकानुमित्यभ्युपगमे तु नैव काप्यनुपपत्तिः। अनुमितेः पक्ष—विशेष्यत्वनियमे मानाभावात्।

किञ्च धूमत्वादिसामान्यं न स्वरूपतः प्रत्यासत्तिः, धूलीपटले धूमभ्रमानन्तरं धूमत्वेन सकलधूमनिष्ठवह्निव्याप्तिग्रहानुदयप्रसङ्गात्, तत्र स्वरूपतो धूमत्वाभावान्न चेष्टापत्तिः तदुत्तरकालमनुमित्यनुदयापत्तेः, तथा च धूमत्वज्ञानं प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्; तच्च धूमेन्द्रिय—सन्निकर्षदशायां धूमज्ञानात्प्राङ्नास्त्येव। निर्विकल्पके मानाभावात्, विशिष्टज्ञानत्वेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — अभावसाध्यक केवलव्यतिरेकी अनुमान में साध्यप्रसिद्धि अनंग होने से उस व्यतिरेकी में क्लृप्त (नियत) अनुमिति की सामग्री प्रत्यक्ष की सामग्री से बलवती है, अतः अनुमान व्यर्थ नहीं (क्योंकि ''पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्'' इत्यादि अनुमान में इतरभिन्नत्वसाध्य पक्षभिन्नमें न होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, केवल इस अनुमान से ही पक्ष में साध्य है। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी की सामग्री प्रत्यक्षसामग्री से बलवती है)।

समाधान — ऐसा कहना नहीं चाहिये; कारण कि अर्थापत्ति प्रमाण को मानने वाले हम केवलव्यतिरेकी अनुमान को नहीं मानते। यदि ''पर्वतवृत्तिधूमो वह्नि व्याप्यः'' इस परामर्श से साध्यविशेष्यक पक्ष विशेषणक ''पर्वते वह्निरस्ति'' इत्यात्मिका अनुमिति मानने पर तो कुछ भी अनुपपत्ति ही नहीं अर्थात् इस अनुमिति के लिये पर्वतादि में पहले साध्यज्ञानार्थ ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति की आवश्यकता ही नही पड़ेगी, कारण कि यहां वह्नि विशेष्य है, और पर्वत विशेषण तो प्रत्यक्षसिद्ध है; वह्नि को विशेषण मानने पर ही ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति की आवश्यकता थी, कारण कि अनुमिति के पक्ष विशेष्यत्व नियम में प्रमाण नहीं है।

किंच — धूमत्वादि सामान्य धर्म स्वरूप से प्रत्यासत्ति नहीं, क्योंकि धूलीपटल में धूमभ्रम होने के बाद धूमत्वरूप से सकलधूमवृत्ति वह्निव्याप्ति के ज्ञान का अनुदय प्रसंग होता है; क्योंकि धूलीपटल में स्वरूप से धूमत्व का अभाव है। इसमें आप इष्टापत्ति नहीं कर सकते अर्थात् धूलीपटल में धूम भ्रम के बाद ''वह्निव्याप्यो धूमः'' इस व्याप्ति का ज्ञान अनुदित होना मान नहीं सकते, क्योंकि धूलीपटल में, धूम भ्रमानन्तर काल में अनुमिति न होने की आपत्ति आयेगी (परन्तु धूलीपटल में धूम भ्रम के बाद उस धूम से अनुमित वह्नि दैववशात् सिद्ध हो जाय तो भ्रम विषय धूम से अनुमिति का उदय मानते है)। तब तो आपके धूमत्वज्ञान को प्रत्यासत्ति कहना होगा (अभिप्राय यह है कि स्वरूपतः अर्थात् इन्द्रियसन्निकृष्ट धूमादिनिष्ठ ज्ञायमानधूमत्वादि— व्यक्तिरूप से धूमत्वादि सामान्य प्रत्यासत्तिरूप नहीं हुआ, क्योंकि भ्रम विषय धूम इन्द्रियसन्निकृष्ट नहीं और असन्निकृष्ट धूमनिष्ठ धूमत्व भी प्रत्यासत्तिरूप नहीं हो सकता, कारण कि वह अज्ञात है, ज्ञायमान धूमत्व ही प्रत्यासत्ति हो सकता है। तब तो अन्ततः धूमत्वसामान्य को प्रत्यासत्ति न कहकर धूमत्वज्ञान को ही प्रत्यासत्ति कहना होगा) और वह धूमत्वज्ञान धूम और इन्द्रिय के सन्निकर्षकाल में होने वाले धूमज्ञान से पूर्वकाल में है ही नहीं, क्योंकि निर्विकल्पज्ञान में प्रमाण का अभाव है (केवल धूमत्व के ज्ञान को निर्विकल्पक अर्थात् विशेषणविशेषसंबन्धानवगाहि ज्ञान मानने पर ही सन्निकृष्ट धूम ज्ञान से पूर्व है — ऐसा मान सकते है, किन्तु निर्विकल्पज्ञान में प्रमाण के अभाव से यह कह नहीं सकते; अतः सन्निकृष्ट धूमज्ञान के बाद धूमत्वज्ञान होता है, ऐसा कहना होगा।

विशेषणज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावानभ्युपगमात्, अवश्यक्लृप्तकार्यकारणभावविशेषेणैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः। न च धूमत्वेन सन्निकृष्टधूमव्यक्तिज्ञानानन्तरं तत्समानाकारमसन्निकृष्ट–धूमगोचरं ज्ञानान्तरमुत्पद्यत इत्यत्र मानमस्ति; धूमत्वेन पुरोवर्तिनं धूमं साक्षात्करोमि न व्यवहितमित्यनुभवाच्च। अन्यथा जगतीगतसकलधूमव्यक्तीरहं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसीयेत। न चैवमनुभवमात्रशरणैरभ्युपेयते। किञ्च सामान्यप्रत्यासत्त्यङ्गीकारे यत् प्रमेयम्, तदभिधे–यम्, यत्प्रमेयवत्, तदभिधेयवदित्यादिव्याप्तिपरिच्छेदे सार्वज्ञ्यापत्तिः। न चेष्टैव सा; परज्ञानविषयो घटो न वेत्यादिसंशयानुपपत्तेः। न च घटत्वप्रकारकघटविषयकनिश्चयो घटसंशयविरोधी, प्रमेयमिति निश्चयस्तु घटविषयोऽपि न घटत्वप्रकारक इति वाच्यम्, भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगिन एव प्रकारत्वात्, घटत्वस्यापिप्रमेयमिति ज्ञाने भासमानवैशिष्ट्य–प्रतियोगित्वात्। घटत्वप्रकारकनिश्चयस्य घटत्वज्ञानजन्यत्वविशेषणाददोष इति चेत्, न;

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

तब तो निर्विकल्प ज्ञान पूर्वक सविकल्पज्ञान होने का नियम न रहने से अप्रत्यक्षीभूत धूमत्वज्ञानरूप प्रत्यासत्ति से धूमत्वविशिष्ट यावद्धूम का अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आगे प्रमाणाभाव का हेतु कहते हैं); क्योंकि विशेषणज्ञानत्वरूप से धूमत्वज्ञान की कारणता, और विशिष्टज्ञानत्वरूप से धूमत्वविशिष्ट धूमज्ञान की कार्यता है – ऐसा कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता, कारण कि अवश्य नियत कार्यकारणभाव विशेष से ही सर्वव्यवहार हो सकता है (अर्थात्–"वह्नि–व्याप्यधूमवानयम्" इत्यादि परामर्शादिजन्यत्वेन परोक्षज्ञान में विशिष्टविषयता और "अयं घटः" इत्यादि अपरोक्ष ज्ञान में इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यत्वेन विशिष्ट विषयता है। अतः परामर्शादि और इन्द्रियसन्निकर्षादि ही अवश्य क्लृप्त है, उनसे ही सर्वव्यवहार हो सकते हैं)। तथा धूमत्वेन सन्निकृष्ट धूमव्यक्ति के ज्ञान होने के बाद उस धूम के समानाकार असन्निकृष्ट धूम को विषय करने वाला ज्ञानान्तर उत्पन्न होता है–इस प्राचीन नैयायिकोक्ति में भी कोई प्रमाण नहीं, और धूमत्वेन पुरोवर्ति धूम को साक्षात् करता हूं, व्यवहित धूम को नही – ऐसा अनुभव भी होता है। इस प्रमाणाभाव और अनुभव को नहीं मानोगे तो सारे संसार में स्थित सकल धूमव्यक्तियों का मैं साक्षात्कार करता हूँ – ऐसा अनुव्यवसाय ज्ञान होना चाहिये। परन्तु अनुभवमात्र का आश्रय लेने वाला कोई भी इसको नही मानता। किंच – सामान्य प्रत्यासत्ति का अंगीकार करने पर–"जो प्रमेय है, वह अभिधेय है" और "जो प्रमेयवान् है, वह अभिधेयवान्" इत्यादि व्याप्ति का निश्चय होने पर सर्वज्ञत्व की आपत्ति होगी; और वह आपत्ति इष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त उस सर्वज्ञ पुरुष को प्रमेयत्वेन ज्ञान के विषय घट में "घटो न वा" इस संशय की अनुपपत्ति होगी।

शंका – प्रमेयत्वेन घटज्ञान संशय का विरोधी नहीं, किन्तु घटत्वप्रकारक घटविषयक निश्चय घट संशय का विरोधी है, 'घट प्रमेय है' यह निश्चय तो घट विषयक होने पर घटत्व प्रकारक नहीं।

समाधान – यह कहना अनुचित है, क्योंकि ज्ञान में भासमान वैशिष्ट्य (विशेषणविशेषसंबन्ध) का प्रतियोगी ही प्रकार होता है, अतः घटत्व भी "घट प्रमेय है" इस ज्ञान में भासमान वैशिष्ट्य का प्रतियोगी ही है।

शंका – घटत्वप्रकारकनिश्चय (घटत्वविशिष्टघटनिश्चय) में घटत्वज्ञानजन्यत्व विशेषण देने से अदोष है (अर्थात् – "घटत्वज्ञान जन्यत्वे सति घटत्वप्रकारकघटविषयकनिश्चयो घटसंशय–

विशेषणज्ञानत्वेनैव तस्य जनकता वाच्या; तस्याः प्रागेव निरासात्; (प्रकाशतायाः) स्वरूपसम्बन्धविशेषाभ्युपगमे चानिर्वचनीयवादापत्तेरित्यादिदूषणानि बहुतरमूहनीयानि। तस्मात् सामान्यप्रत्यासत्त्या निषेधमात्रप्रतियोगित्वोपस्थितौ तदभावग्रहाद् बाध इत्यनुपपन्नमेव।।

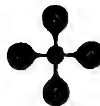
इति सामान्यप्रत्यासत्तिभङ्गेन लौकिकालौकिकप्रत्यक्षबाधोद्धारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विरोधी'' ऐसा मानने पर दोष नहीं)

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि विशेषणज्ञानत्वेन ही घटत्वज्ञान की जनकता माननी होगी, किंतु विशेषणज्ञानत्वेन घटत्वज्ञान की जनकता का खण्डन पहले ही कर चुके हैं और प्रकारता का ज्ञाननिष्ठ स्वरूपसंबन्धविशेष मानेंगे तो अनिर्वचनीयवाद की आपत्ति होगी। (अभिप्राय यह है कि नैयायिकों के मत में विषयता को सामान्यरूप से ज्ञानस्वरूप ही माना है, इसलिये घटादि विषयसंबन्धिज्ञाननिष्ठा घटादिविषयता घटज्ञान रूपा है, कारण कि घटादि के अवर्तमानदशा में भी घटादि का ज्ञान होता है, और अवर्तमान होने से घटादि में घटादिज्ञान विषयता नही रहती, किन्तु घटादि ज्ञान में ही रहती है और वह विषयता स्वकीय स्वरूपविशेष होने से ज्ञान में स्वरूपसंबन्ध से रहती है। अतः ''घटः प्रमेयः'' इस ज्ञान का घट में घटकत्व प्रकारकत्व होने पर भी ''घटो न वा'' इस संशय का विरोधित्व नहीं, क्योंकि प्रकार भी ज्ञान का विषय होने के कारण ज्ञानरूपविषयता विशेषरूपा प्रकारता है, उस ज्ञानरूप प्रकारता का तत्तज्ज्ञानव्यक्ति रूप से प्रतिबन्धकतावच्छेदक में निवेश किया जाना चाहिये। ''घटः प्रमेयः''इसमें तो प्रमेयत्वेन घट का ज्ञान होने से प्रमेयत्व प्रकारकज्ञानव्यक्ति का संशय प्रतिबन्धकतावच्छेदक में निवेश किया नहीं जा सकता, किन्तु घटत्व प्रकारकज्ञानव्यक्ति का ही निवेश किया जा सकता है। अतः ''घटः प्रमेयः'' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान सामान्यप्रत्यासत्ति से ही होता है। इसका उत्तर यह है कि प्रकारता ज्ञान ही है, उसको ज्ञान में रखने के लिये स्वरूपसंबन्ध मानेंगे तो स्व स्वका संबन्ध नहीं होता (स्व से स्व का संबन्ध भी नहीं होता) तथा स्व स्वकीय भी नहीं होता, तब तो प्रकारता और ज्ञान में कल्पित भेद मानना होगा, अतः भेद में मिथ्यात्व सिद्ध होने से अनिर्वचनीयवादापत्ति होगी। इसलिये सामान्यप्रत्यासत्ति मानना अयुक्त है; इत्यादि अनेक दूषणों का उत्थापन करना चाहिये। अतः सामान्यप्रत्यासत्ति से निषेधमात्र (सकल निषेध) के प्रतियोगित्व की उपस्थिति होने पर उस प्रतियोगित्व का अभावरूप सत्त्व के ज्ञान से मिथ्यात्व बाध होता है – ऐसा कथन अनुपपन्न ही है।

इति सामान्यप्रत्यासत्तिभंङ्गेन लोकिकालौकिप्रत्यक्षबाधोद्धारस्य राष्ट्राभाषानुवादः।



१५ : अथ साक्षिबाधोद्धारः

ननु प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहित्वे शुक्तिरूप्यादेः प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध–प्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं कथं प्रत्यक्षं स्यात्? अथ तत्र रजतत्वविरोधिशुक्तित्वे साक्षात्कृते तदन्यथानुपपत्त्या च रजतत्वाभावे निश्चिते मिथ्यैव रजतमभादिति तादृङ्निषेधप्रत्ययः स्वसम्बद्धसर्वावभासकेन साक्षिणैवोपपन्नः। तर्हि साक्षात् स्वविषयस्य गगनादेर्भाविकाल–निषेधाप्रतियोगित्वं सकलकालग्राहिणा साक्षिणा गृह्यतामिति चेन्न, साक्षिणो विद्यमानसर्वाव–भासकत्वेनाविद्यमानभाविबाधाभावभासकत्वानुपपत्तेः, साक्षिज्ञानस्य भ्रमप्रमासाधारणत्वेन प्रमाणाबाधकत्वाच्च।

ननु ज्ञानप्रामाण्यं गृह्णन् साक्षी घटादिगतमबाध्यत्वं गृह्णात्येव, न हि विषयाबाध–मनन्तर्भाव्य प्रामाण्यग्रहणं नाम इति चेत्, न, व्यवहारकालाबाध्यत्वमात्रेण प्रवृत्तावपि संवादोपपत्तेः तद्रूपप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि विरोधाभावात्। न हि घटादिज्ञानस्य संवादिप्रवृत्तिजनकतावच्छेदकं प्रामाण्यं त्रिकालाबाध्यविषयकत्वम्; किन्तु शुक्तिरूप्यादि–ज्ञानव्यावृत्तं व्यवहारकालाबाध्यविषयकसकलज्ञानवृत्तिव्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वमेव। तच्च न भाविकालबाधविरोधीत्युक्तम्। भाविकालबाधतदभावौ न च मानं विना साक्षिणा

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – प्रत्यक्ष उपस्थित वस्तुमात्र का ग्राहक होने से शुक्तिरूप्यादि के स्वाश्रयत्वेन ज्ञात अधिकरण में त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का प्रत्यक्ष किस प्रकार होगा? यदि कहो कि – उस ज्ञात अधिकरण में रजतत्व का विरोधी शुक्तित्व साक्षात्कृत होने पर उस साक्षात्कार की अन्यथानुपपत्ति से रजतत्वाभाव निश्चित हो जाने पर – "मिथ्या ही रजत प्रतीत हुआ था" इस प्रकार स्वाश्रयत्वेन ज्ञात अधिकरण में त्रैकालिकनिषेध का ज्ञान अपने से संबद्ध सबके अवभासक साक्षी से ही होता है; तब तो सकलकालग्राही साक्षी के द्वारा साक्षात् अपने विषय (अपने सहायक ज्ञानाज्ञानादि किसी की अपेक्षा किये बिना अपने से भास्य) आकाशादि के भाविकाल में प्रतीयमान निषेध के अप्रतियोगित्व को गृहीत करें।

समाधान – ऐसा नहीं, क्यांकि प्रमाणवृत्ति से अनुपहित साक्षिचैतन्य विद्यमानकाल में उपस्थित सबका अवभासक होने से अविद्यमान भाविबाध के अभाव का अवभासक नहीं हो सकता और (साक्षिचैतन्य ज्ञाततया अज्ञाततया सब का अवभासक है–इस सिद्धान्तानुसार अज्ञाततया भाविबाधके अभाव का अवभासक साक्षी को माने तो भी) साक्षिज्ञान भ्रम और प्रमा साधारण होने से प्रमाण का अबाधक है (साक्षी का शुक्तिरूप्यज्ञान भ्रम है और सुखज्ञान प्रमा है; अतः भाविबाधाभावज्ञान में भी भ्रमत्वशंका संभव होने से वह प्रमाण का बाधक नहीं होगा – यह अभिप्राय है)।

शंका – घटादिज्ञानप्रामाण्य को ग्रहण करता हुआ साक्षी घटादिगत अबाध्यत्व को भी ग्रहण करता ही है, विषयाबाध को अन्तर्भाव किये बिना प्रामाण्यग्रहण नाम तो होता नहीं।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि व्यवहार काल में अबाध्यत्वमात्र से प्रवृत्ति में भी संवाद अर्थात् सफलप्रयोजनत्व हो सकता है, और व्यवहारकालीनाबाध्यविषयकत्वरूप प्रामाण्य का ग्रहण साक्षी से होने पर भी उसमें कोई विरोध नहीं होता। कारण कि घटादिज्ञान की सफलप्रवृत्तिजनकता का अवच्छेदक प्रामाण्य त्रिकालाबाध्यविषयकत्व नहीं, किन्तु वह शुक्तिरूप्यादिज्ञान में अवृत्ति और व्यवहारकालाबाध्यविषयक सकलज्ञान में वृत्ति व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व ही

ग्रहीतुं शक्यौ, तस्य विद्यमानमात्रग्राहित्वादिति चोक्तम्। ननु तर्हि देहात्मैक्यज्ञानमुष्णं जलमित्यादिज्ञानञ्च प्रमा स्यात्, व्यवहारदशायां विषयाबाधादिति चेन्न; आब्रह्मज्ञानमबाधि-तत्वेन तेषामपि घटादिज्ञानसमानयोगक्षेमत्वात्। ननु कालान्तरस्थमपि यद् बाधकं तदपि किं यत्कालावच्छेदेनानेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधति, उतान्यकालावच्छेदेन, आद्ये कथमस्य प्रामाण्यम्? अन्त्येऽनित्यत्वादिकमेवेति चेत्, न, अबाध्यत्वरूपप्रामाण्यस्य प्रपञ्चज्ञाने मयाऽनङ्गीकारात्। यत्कालावच्छेदेनैवानेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधाभ्युपगमात्। यच्च प्रामाण्यं मयाभ्युपेयते तद् व्यवहारदशायां विपरीतप्रमारूपबा-धकस्यानुत्पन्नत्वादस्त्येव। न च यद् भवतां घटादिबुद्धेः प्रातिभासिकबुद्धितो वैलक्षण्यं विषयस्य व्यावहारिकसत्त्वसाधकम्, तदेवेह मम विषयस्य पारमार्थिकसत्त्वसाधकमस्त्विति वाच्यम्; प्रातिभासिकबुद्धिवैलक्षण्यं हि घटादिबुद्धेः सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयकत्वादिरूपम्;

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है। वह व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूप प्रामाण्य तो भाविकाल में होने वाले बाध का विरोधी नहीं — ऐसा पहले कह चुके है।

शंका — तब तो देहात्मैक्यज्ञान, उष्ण जलज्ञान इत्यादि सब प्रमा होना चाहिये, क्योंकि व्यवहार काल में उन ज्ञानों के विषय बाधित नहीं होते।

समाधान — ठीक है, ब्रह्मज्ञान होने तक अबाधित होने से उन सब ज्ञानों का भी घटादिज्ञान के साथ समान योगक्षेमत्व है।

शंका — कालान्तर में स्थित जो बाधक है अर्थात् भाविकाल में होने वाला जो बाधक है, वह जिस काल के भीतर इस घटादिप्रपंचविषयक ज्ञान ने घटादिप्रपंचरूप स्वार्थ का ग्रहण करता है, उसी काल के भीतर ही उस घटादि प्रपंच का निषेध करता है क्या? अथवा अन्य काल के भीतर निषेध करता है क्या? आद्य पक्ष में तो किस प्रकार घटादि प्रपंचज्ञान का प्रामाण्य होगा? अन्त्य पक्ष में वह बाधक घटादि प्रपंच के अनित्यत्वादिक का ही ज्ञापन करता है — ऐसा मानना होगा।

समाधान — नहीं, कारण कि प्रपंचज्ञान में अबाध्यत्व रूप प्रामाण्य को हम स्वीकार नहीं करते (व्यवहार का निर्वाहक होने से प्रपंचज्ञान में अबाध्यत्व का व्यवहारमात्र होता है); इसलिये जिस काल से अवच्छिन्न होकर, घटादिप्रपंचज्ञान से स्वार्थ गृहीत होता है, उस काल से अवच्छिन्न होकर ही उस स्वार्थ का निषेध मानते है। प्रपंचज्ञान में जिस प्रामाण्य को (अर्थात् सप्रकारकज्ञान बाध्यविषयकत्वरूप प्रपंच ज्ञान निष्ठ प्रामाण्य को) हम मानते हैं, वह प्रामाण्य तो व्यवहारकाल में उससे विपरीत निष्प्रकारक प्रमारूप बाधकज्ञान की उत्पत्ति न होने से है ही।

शंका — आप के मत में घटादिबुद्धि का प्रातिभासिकबुद्धि से विलक्षणत्व जो घटादि विषय का व्यवहारिक सत्त्व साधक है, वही विलक्षणत्व हमारे मत में इस व्यवहारदशा में घटादिविषय का पारमार्थिक सत्त्वसाधक हो।

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि घटादि बुद्धि का प्रातिभासिकबुद्धि से विलक्षणत्व सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयत्वादि रूप है (प्रातिभासिकरजतविषयक बुद्धि "इयं शुक्तिः" इस सप्रकारकशुक्तिज्ञान से बाधित होती, किन्तु व्यावहारिकघटादि बुद्धि किसी भी सप्रकारकज्ञान से बाधित नहीं होती, यही व्यावहारिक बुद्धि का प्रातिभासिक बुद्धि से विलक्षणत्व है); वह घटादिबुद्धिनिष्ठ विलक्षणत्व घटादि के पारमार्थिक सत्त्व का साधक हो नहीं सकता, क्योंकि

तन्न पारमार्थिकसत्त्वं घटादेः साधयितुं शक्तम्, देहात्मैक्यज्ञाने ब्रह्मज्ञानाव्यवहितभ्रमे च व्यभिचारात्। ननु ''घटः सन्'' ''रूप्यं मिथ्या'' इति प्रतीत्योरविशेषे कथं ''घटो मिथ्या रूप्यमिथ्यात्वं न मिथ्या'' इति विशेषः? न च तदपि मिथ्यैव; रूप्यतात्त्विकत्वापत्तेः, इति चेन्न; मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि यथा न रूप्यस्य तात्त्विकत्वं तत्रोपपत्तेरुक्तत्वात्। न च पारमार्थिकसत्त्वस्य प्रत्यक्षागोचरत्वे तन्निषेधश्रुतीनामप्रसक्तप्रतिषेधकता स्यादिति वाच्यम्, तासां चक्षुरादिप्रसक्तद्वैतनिषेधपरत्वात्, पारमार्थिकत्वेन द्वैतनिषेधपरत्वेऽपि नाप्रसक्त-निषेधकत्वम्; परोक्षप्रसक्तेः सम्भवात्, ''नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः'' (तै.सं.५/२/७) इत्यादि-वदप्रसक्तप्रतिषेधस्याप्युपपत्तेश्च। न चातात्त्विकप्रपञ्चे यदि तात्त्विकत्वमप्यध्यक्षेण न गृह्यते, कथं तर्हि तस्यातत्त्वावेदकत्वम्? नहि तदेव तत्त्वेनावेदयदतात्त्विकं नाम, दृश्यते च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

देहात्मैक्यज्ञान और ब्रह्मज्ञान से अव्यवहितपूर्वक्षणवृत्ति का भ्रम में व्यभिचार है (देहात्मैक्यज्ञान में सप्रकारकज्ञानबाध्यविषयकत्व है, किन्तु उसका विषय देहात्मैक्य पारमार्थिक नहीं, इसी प्रकार से ब्रह्मज्ञानाऽव्यवहित भ्रम में भी समझना चाहिये; अतः व्यभिचार होता है)।

शंका – ''घट सत् है'' ''रजत मिथ्या है'' इन दोनों प्रतीतियों में अविशेष होने पर – घट तो मिथ्या है और रजतमिथ्यात्व मिथ्या नही – ऐसा विशेष क्यों है? रजत का मिथ्यात्व भी मिथ्या ही है – ऐसा तो नहीं मान सकते, क्योंकि रजत के तात्त्विक होने की आपत्ति होगी।

समाधान – नहीं, क्योंकि रजतनिष्ठमिथ्यात्व का मिथ्यात्व होने पर भी जिस प्रकार से रजत का तात्त्विकत्व नहीं हो सकता है, इसी प्रकार से तात्त्विकत्वाभाव में युक्ति–मिथ्यात्वनिरूपण में कह चुके है।

शंका – प्रपंच में पारमार्थिकसत्त्व प्रत्यक्ष का अविषय होने पर उस पारमार्थिक सत्त्व रूप से प्रपंच की निषेधक श्रुतियों की अप्रसक्त–प्रतिषेधकता होगी (जिस रूप से जिसमें जो न ज्ञात हो, उस रूप से उसमें उसका निषेध करना अप्रसक्त–प्रतिषेध है)।

समाधान – यह कथन अनुचित है, क्योंकि उन श्रुतियों के दृश्यत्वादि रूप से चक्षुरादि से ब्रह्म में ज्ञात द्वैत का निषेधपरकत्व है। पारमार्थिकत्वरूप से द्वैतनिषेधपरत्व मान भी लें, तो भी श्रुतियों का अप्रसक्तप्रतिषेधकत्व नहीं, क्योंकि परोक्षरूप से प्रसक्ति होना संभव है। और ''अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिये'' इत्यादि के समान अप्रसक्तप्रतिषेध भी हो सकता है (अभिप्राय यह है कि ''हिरण्यं निधाय चेतव्यम्'' (तै.सं. ५/२/७/१) ''स्वर्ण रखकर उसके उपर अग्नि का चयण करना चाहिये'' इसविधि का अंग ''नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः'' यह अर्थवाद वाक्य है, उसका निषेध में तात्पर्य नहीं है, किन्तु मानान्तर से सिद्ध अन्तरिक्ष में चयनाभाव का अनुवाद करके विधेयस्तुति में तात्पर्य है, अतः उसमें अप्रसक्तप्रतिषेध दोषदायक नहीं होता, जहां निषेध में तात्पर्य होता है, वहां ही प्रतियोगी की प्रसक्ति के बिना निषेध करना व्यर्थ होने से वह दोषदायक है। प्रकृत में भी उसी प्रकार अनुमानादि से ब्रह्म में सिद्ध पारमार्थिक द्वैताभाव का अनुवाद करके 'नेह नानास्ति किंचन'' इत्यादि श्रुतियों का ब्रह्मस्तुति में तात्पर्य है, अतः अप्रसक्तनिषेध दोषदायक है)।

शंका – अतात्त्विक प्रपंच में यदि तात्त्विकत्व भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं है तो किस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतत्त्व का आवेदकत्व होगा? तद्रूपावच्छिन्नवस्तु को तद्रूपावच्छिन्नत्वरूप से आवेदन करता हुआ प्रत्यक्ष अतात्त्विक तो नहीं होता, प्रपंच में पारमार्थिकत्व का अनुभव

सार्वलौकिकं प्रपञ्चे पारमार्थिकत्वानुभव इति वाच्यम्; न ह्यस्माकं तत्त्वावेदकत्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वम्, तद्भिन्नत्वमतत्त्वावेदकत्वम्, किन्त्वबाधितविषयत्व तत्त्वावेदकत्वम्, बाधितविषयत्वं चातत्त्वावेदकत्वम्, अबाधितविषयत्वञ्च श्रौते ब्रह्मज्ञान एव, न तु तद्भिन्नज्ञाने तात्पर्यवद्वेदत्वेनैव तत्त्वावबोधकत्वात्। तथा च प्रपञ्चप्रत्यक्षस्य तात्त्विकत्वागोचरत्वेऽप्य– तत्त्वावेदकत्वं सङ्गच्छते। सार्वलौकिकी पारमार्थिकत्वप्रसिद्धिस्तु जलगतपिपासोपशमन– सामर्थ्यप्रसिद्धिवत् परोक्षतयाप्युपपन्ना नापरोक्षत्वपर्यवसायिनी।

तस्मादध्यक्षयोग्यस्य सत्त्वस्येहानिरुक्तितः।
नाध्यक्षबाधो मिथ्यात्वलिङ्गस्यात्रोपपद्यते।।
न लौकिकं न सामान्यजन्यं साक्ष्यात्मकं न च।
प्रत्यक्षं बाधते लिङ्गं मिथ्यात्वस्यानुमापकम्।

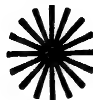
इति प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वाऽनिरुक्तया प्रत्यक्षबाधोद्धारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सार्वलौकिक देखने में आता है।

समाधान – ऐसा न कहें, क्योंकि हमारे मत में तत्त्वावेदकत्व ''तद्वति तत्प्रकारकत्वम्, तद्भिन्नत्वमतत्त्वावेदकत्वम्'' नहीं है अर्थात् रजतत्ववान् में रजतत्वप्रकारकज्ञान तत्त्वावेदक और रजतत्वाभाववान् में रजतत्वप्रकारकज्ञान अतत्त्वावेदक नहीं; किन्तु अबाधितविषयत्व तत्त्वावेदकत्व है और बाधितविषयत्व अतत्त्वावेदकत्व है; और अबाधितविषयत्व तो श्रुतिजन्य ब्रह्मज्ञान में ही है, श्रुतिजन्यब्रह्मज्ञान से भिन्नज्ञान में तो वह नहीं है, कारण कि ब्रह्म प्रतिपादनपरकवेदत्व उन वेदान्तश्रुतियों में होने से उनसे जन्य ज्ञान में तत्त्वावबोधकत्व है। इसलिये प्रपंच प्रत्यक्ष में तात्विकत्वाविषयत्व होने पर भी अतत्त्वावेदकत्व संगत है। सब लोगों में प्रपंच की पारमाथिकत्व प्रसिद्धि तो जलगत पिपासोपशमन करने की सामर्थ्य के समान परोक्षत्वरूप से भी हो सकती है, वह अपरोक्षत्व में पर्यवसायिनी प्रसिद्धि नहीं। इसलिये अनुमान के पक्षीभूत विमत प्रपंच में प्रत्यक्षयोग्य सत्त्व का निर्वचन असम्भव होने से, इस अनुमान में मिथ्यात्व के साधक दृश्यत्वादि हेतु का प्रत्यक्ष से बाध नहीं हो सकता। इस मिथ्यात्व का अनुमापक दृश्यत्वादि हेतु को न लौकिक प्रत्यक्ष बाधित करता है, न सामान्यप्रत्यासत्तिजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष बाधित करता है, न तो साक्षिरूप प्रत्यक्ष बाधित करता है।

इति प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वाऽनिरुक्त्या प्रत्यक्षाबाधोद्धारस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



१६: अथ सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधः

'किञ्चेदं रूप्यम्' इत्यत्र इदमितिवत् 'सन् घटः' इत्यत्रापि सदित्यधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव भासते। न च चाक्षुषादिज्ञाने रूपादिहीनस्य ब्रह्मणः कथं स्फुरणमिति वाच्यम्; रूपादिहीनस्यापि कालादिन्यायेन स्फुरणस्य प्रागेवोपपादितत्वात् ।

नन्वेवं 'नीलो घटः मिथ्या रूप्यमसन्नृशृङ्गम्' इत्यादावपि'नीलः' इत्यादिरधिष्ठानानुवेध इति स्यात्, न च नैल्यं घटादिष्वस्ति, सत्त्वं तु न तथेति वाच्यम्; अस्यारोपितत्वसिद्ध्युत्तर–कालीनत्वेनान्योन्याश्रयात्; अन्यथा 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यत्रापि सत्यमित्यधिष्ठानानुवेध एव स्यादिति चेत्, न, सन्नित्यस्य 'घटः' इत्यनेन सामानाधिकरण्यस्य बाधितत्वात्। तथा हि सत्ताजातिस्फुरणनिबन्धनं वा? स्वरूपसत्त्वनिबन्धनं वा? कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनं वा? सामानाधिकरण्यं स्यात्। न चाभावादिसाधारणसत्प्रतीतौ सत्ताजातिस्फुरणं सम्भवति; अभावादिषु त्वयापि तदनङ्गीकारात्। न च क्वचित्साक्षात्सम्बन्धेन क्वचित् परम्परासम्बन्धेन सदिति प्रतीत्युपपत्तिः; विजातीयसम्बन्धेन समानाकारप्रतीत्यनुपपत्तेः, अन्यथा सम्बन्धभेद एव न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसके अतिरिक्त – ''यह रजत है'' इस ज्ञान में जिस प्रकार अधिष्ठानभूत शुक्ति इदं रूप से भासित है, उसी प्रकार ''सन् घटः'' इस ज्ञान में भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म, सद्रूप से अध्यस्त के साथ तादात्म्यापन्न होकर भासित होता है। इसमें – चाक्षुषादिज्ञान में रूपादिहीन ब्रह्म का कैसे भान होगा – ऐसी शंका भी नहीं होनी चाहिये, क्योंकि रूपादिहीन ब्रह्म का स्फुरण कालादिस्फुरणन्याय से पहले ही (परिच्छिन्नत्व हेतूपपत्ति प्रकरण में) उपपादित हो चुका है।

शंका – तब तो उसी प्रकार से ''नील घट, मिथ्या रजत, असत् नृशृंग'' इत्यादि में भी नीलादि पदार्थ भी अधिष्ठान होकर आरोपितघटादि के साथ तादात्म्यापन्न होना चाहिये। और आप ऐसा भी नहीं कह सकते कि नीलिमादि तो आरोप्यमाण घटादियों के ही अन्तर्भूत हैं, किन्तु सत्त्व अर्थात् सद्रूप ब्रह्म वैसा नहीं; कारण कि सत् में घटादि प्रपंच के आरोपितत्व की सिद्धि के उत्तरकाल में ही घटादि में सत्त्वाभाव होने से अन्योन्याश्रय दोष है (घटादि में सत्त्वाभाव की सिद्धि होने पर घटादि के आरोपितत्व की सिद्धि और घटादि की आरोपितत्व सिद्धि होने पर घटादि में सत्त्वाभावसिद्धि ऐसा अन्योन्याश्रयदोष है); अन्यथा अर्थात् इस अन्योन्याश्रय की अवहेलना करके अधिष्ठानानुवेध मानोगे तो ''सन् घटः'' के समान ''सत्यं ज्ञानम्'' इसमें भी सत्य अर्थात् सत् आरोप्यतादात्म्यापन्न अधिष्ठान ही होना चाहिये।

समाधान – नहीं, क्योंकि ''सन् घटः'' इसमें ''सन्'' अर्थात् सत्त्व का ''घटः'' इस घटपदार्थ के साथ सामानाधिकरण्य अर्थात् तादात्म्य बाधित है। जैसे कि – वह सामानाधिकरण्य क्या सत्ताजाति स्फुरण से घटित है, अथवा स्वरूपसत्त्व से घटित है, या कालत्रयाबाध्यत्व से घटित है? ''सन् अभावः'' इत्यादि रूप से अभावादि साधारण सत्प्रतीति में सत्ताजाति का स्फुरण (भान) नहीं हो सकता, क्योंकि आपने भी अभावादि में सत्ताजाति का अंगीकार नहीं किया और कहीं (द्रव्य गुण कर्म में) साक्षात्संबन्ध से (समवाय संबन्ध से) तथा कहीं (सामान्य–विशेष–समवाय अभाव में) परम्परासंबन्ध से (स्वसमवायिवृत्तित्वरूपसंबन्ध से–यहां स्व से सत्ताजाति लेना चाहिये, उसका समवायी द्रव्यादित्रय, उन में सामान्यादि की वृत्ति है) ''सत्'' इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि विजातीयसंबन्ध से ''सत् सत्'' इस प्रकार समानाकार की प्रतीति होना असम्भव है। अन्यथा साक्षात्संबन्ध का प्रामाणिकत्व संभव होने पर भी परम्परासंबन्ध की

सिध्येत्। न च स्वरूपसत्त्वेनाभावादौ तत्प्रतीतिः, अननुगमात्, अननुगतेनाप्यनुगतप्रतीतौ जातिमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। अत एव न सर्वत्रापि स्वरूपसत्त्वेनैव सद्व्यवहारः,एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीत्युपपत्तौ बहूनां तद्धेतुत्वकल्पने मानाभावात्। नापि कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनं तत्, तस्य चक्षुराद्यगम्यत्वस्योक्तत्वात्,'सदिदं रजतम्' इत्यादिभ्रमेकालत्रयाभावाच्च। तस्मादेकं सर्वाधिष्ठानमेव सदिति सर्वत्रानुभूयत इति युक्तम्। नीलादेस्तु घटादिसामानाधिकरण्ये किमपि नास्ति बाधकम्, न वा नीलादेरधिष्ठानत्वं सम्भवतिः, घटोत्पत्तेः प्रागसत्त्वात्, नीलपीतादिप्रातिस्विकानन्ताधिष्ठानकल्पने गौरवात्, अधिष्ठे- यतुल्ययोगक्षेमत्वाच्च। अधिष्ठेयविषमसत्ताकमेव ह्यधिष्ठानं भवति; ''मिथ्या रूप्यमसन्नृशृङ्गम्'' इत्यादौ मिथ्यात्वासत्त्वयोरधिष्ठानत्वशङ्काऽपि नास्ति, शून्यवादापत्तेः। तत्र चानुपपत्तिरुक्ता; वक्ष्यते च। यत्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यत्रापि तथा स्यादिति। तन्न, यतो न तत्र सत्तासम्बन्धेन सत्त्वम्, किन्तु स्वरूपेणैवेत्युक्तदोषानवकाशात्। न चैवं घटादावपि स्वरूपेणैव तथात्वम्, पूर्वमेव निराकृतत्वात्।

इति सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधनिरूपणम्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कल्पना करेंगे तो संबन्धभेद (साक्षात्संबन्ध का नानात्व) ही सिद्ध नहीं होगा (क्योंकि एक ही मुख्य संबन्ध मानकर, अन्य सब परम्परासंबन्ध माना जा सकते है, जैसे यदि संयोग ही एक मुख्य संबन्ध मानें तो घट कपाल में भूतलसंयोगिकपालवृत्तित्व सबन्ध से रहेगा, तथा समवाय ही एक मुख्य संबन्ध मानें तो घट भूतल में घटसमवायिकपालाधारतासबन्ध से रहेगा) और स्वरूप सत्त्व से (स्वरूप से सत् होकर) अभावादि में प्रतीति भी नहीं होगी; कारण कि स्वरूपसत्त्व का अनेक में अनुगम नहीं होता, अननुगत धर्म से अनुगत प्रतीति मानें तो जातिमात्र का उच्छेदप्रसंग होगा। इसलिये सर्वत्र भावाभावादि सब पदार्थो में भी स्वरूप सत्त्व से ही सद्व्यवहार नहीं, क्योंकि एक ही सर्वानुगत सद् ब्रह्म से सर्वत्र सत्प्रतीति संभव होने पर बहुतों से सत्प्रतीति की हेतु कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है और कालत्रयाबाध्यत्व से घटित सत्प्रतीति भी नहीं, क्योंकि कालत्रयाबाध्यत्व का चक्षुरादि अज्ञेयत्व पूर्व ही कह चुके हैं; और ''सदिदं रजतम्'' इत्यादि भ्रम में कालत्रयाबाध्यत्व का अभाव भी है। इसलिये सर्वाधिष्ठान एक ही सत् है – ऐसा सबमें अनुभव होता है–यह कथन युक्त है। नीलादि का घटादि के साथ सामानाधिकरण्य होने में कुछ भी बाधक नहीं, और न तो नीलादि का अधिष्ठानत्व सम्भव है, क्योंकि घटोत्पत्ति से पहले उस का अभाव है, तथा नीलपीतादि प्रातिभासिक अनन्त अधिष्ठान की कल्पना करने में गौरव भी है, और अधिष्ठेय के साथ उनका योगक्षेमत्व तुल्य है। कारण कि अधिष्ठेय का विषमसत्ताक अधिष्ठान होता है। ''मिथ्या रूप्य, असत् नृशृंग'' इत्यादि में मिथ्यात्व और असत्त्व के अधिष्ठानत्व की शंका तक नहीं हो सकती, क्योंकि शून्यवाद का प्रसंग होता है; और उस शून्यवाद में उपपत्ति का अभाव पहले कह चुके है (आभास साम्य भंग में); और आगे भी कहेंगे (एक जीववाद प्रकरण में)। और जो ''सत्यं ज्ञानम्'' इसमें सत्यवाच्य सत् ब्रह्मतादात्म्यापन्न होकर अधिष्ठान होने का प्रसंग होगा; ऐसा कहा था, वह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म में सत्तादात्म्य से सद्रूपत्व नहीं, किन्तु वह स्वरूप से ही सद्रूप है, अतः उक्तदोष का अनवकाश है। इसी प्रकार से घटादि में भी स्वरूप से ही सत्तादात्म्य नहीं हो सकता, कारण कि इसका निराकरण पूर्व ही कर चुके हैं।

इति सन् घट इतिप्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधस्य राष्ट्रभाषानुवादः॥

१७: अथ जात्युपक्रमादिन्यायैः प्रत्यक्षप्राबल्यनिराकरणम्

किञ्च निश्चितप्रामाण्यमेव प्रत्यक्षमितरबाधकं भवेत्, न चात्र प्रामाण्यं निश्चितम्, आगमविरो-धात्, अनुमानविरोधात्, भाविबाधाभावानिर्णयाच्च। ननु प्रत्यक्षमेव प्रबलमनुमानागमबाधकम्, नानुमानागमौ; प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तद्विरोधाभावेनानुमानागमयोः प्रामाण्यम्, तयोः प्रामाण्ये च तद्विरोधात् प्रत्यक्षाप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयात्, न हि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येऽप्येवमन्योन्याश्रयः, तस्यानपेक्षत्वादिति चेत्, न, चन्द्रतारकादिपरिमाणप्रत्यक्षेऽनुमा-नागमविरोधेन तस्याप्रामाण्यदर्शनात्, तेनापि स्वप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमितराविरोधस्या-वश्यमपेक्षणीयत्वात्। तथा चान्योन्याश्रयतुल्यत्वात् परस्परविरोधेन प्रामाण्यसन्देहे सत्यनाप्ताप्रणीतत्वादिना प्रमाजनकत्वव्याप्तेर्वेदप्रामाण्यनिश्चये जाते तेन स्वतस्स-म्भावितदोषस्य प्रत्यक्षस्य बाधात्, अस्मन्मते क्वान्योन्याश्रयः? अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षबुद्ध्या बाधाद्देहभिन्नत्वमप्यात्मनो नागमानुमानाभ्यां सिध्येत्।

ननु प्रत्यक्षमनुमानाद्यपेक्षया जात्यैव प्रबलम्ः, कथमन्यथा औष्ण्यप्रत्यक्षेण वह्निशैत्यानुमितिप्रतिबन्धः? न च तत्रोपजीव्यत्वनिबन्धनं प्रत्यक्षस्य बाधकत्वम्;

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसके अतिरिक्त — जिस का प्रामाण्य निश्चित होता है, वही प्रत्यक्ष अन्य का बाधक हो, किन्तु इस प्रपंचसत्त्वग्राहक प्रत्यक्ष में तो प्रामाण्य निश्चित हुआ नहीं, क्योंकि उस प्रत्यक्ष का आगम से विरोध है, अनुमान से विरोध है, और प्रपंच के भाविबाध के अभाव का निर्णय भी हुआ नहीं।

शंका — प्रबल प्रत्यक्ष ही अनुमान और आगम का बाधक है, अनुमान और आगम प्रबल प्रत्यक्ष के बाधक नहीं हो सकते, कारण कि "प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य होने पर प्रत्यक्षविरोधाभाव से अनुमान और आगम का प्रामाण्य है, तथा अनुमान और आगम का प्रामाण्य होने पर उन दोनों के विरोध सें प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य है" इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है। प्रत्यक्ष के प्रामाण्य में भी इस प्रकार से अन्योन्याश्रय (अनुमान और आगम का अप्रामाण्य होने पर उन दोनों के विरोधाभाव से प्रत्यक्ष का प्रामाण्य है, और प्रत्यक्ष का प्रामाण्य होने पर उसके विरोध से उन दोनों का अप्रामाण्य है — इत्यात्मक अन्योन्याश्रय) नहीं आता, क्योंकि प्रत्यक्ष उन दोनों की अपेक्षा नहीं करता (किन्तु वे दोनों तो प्रत्यक्ष की अपेक्षा करते हैं)।

समाधान — नहीं, वैसा नहीं हो सकता, क्योंकि चन्द्र नक्षत्रादि के परिमाण विषयक प्रत्यक्ष में अनुमान और आगम से विरोध होने से उस प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य देखने में आता है, प्रत्यक्ष से भी स्वप्रामाण्य की सिद्धि के लिये औरों से अविरोध अवश्य अपेक्षणीय है। तब तो अन्योन्याश्रय तुल्य होने के कारण परस्परविरोध होने से प्रामाण्य में सन्देह होने पर "यत्र अनाप्ताऽप्रणीतत्वं तत्र प्रमाजनकत्वम्" इस व्याप्ति से भ्रम प्रमादादियुक्त पुरुषों से अप्रणीतत्व रूप हेतु से वेद में प्रमा जनकत्व सिद्ध करके, वेद के प्रामाण्य का निश्चय उत्पन्न होने पर, उस आगम से स्वतः सम्भावित दोष वाले प्रत्यक्ष का बाध होने से हमारे मत में कहां अन्योन्याश्रय होगा? यदि आगमादि के प्राबल्य को नहीं मानोगे तो देहात्मैक्यविषयक प्रत्यक्षबुद्धि से बाध के कारण आत्मा का देहभिन्नत्व आगम और अनुमान से सिद्ध नहीं होगा।

शंका — प्रत्यक्ष अनुमानादि की अपेक्षा प्रत्यक्षत्वरूप जाति से ही प्रबल है; यदि प्रवल नहीं होता तो उष्णत्व प्रत्यक्ष से वह्निशैत्य की अनुमिति (वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वाज्जलवत् — इस

धर्म्यादिश्चक्षुरादिनैव सिद्धेस्त्वचोऽनुपजीव्यत्वात्, किञ्च प्रत्यक्षस्य प्राबल्यमनुमानाद्यगृहीत–रेखोपरेखादिग्राहकत्वादनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वाच्चेति चेन्न, त्वाचप्रत्यक्ष–स्याप्युजीव्यत्वेनैव शैत्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वसम्भवात्, चक्षुरादिना धर्म्यादिग्रहेऽपि त्वचं विना साध्यप्रसिद्धेरभावात्। तथा च न जात्या प्राबल्ये मानमस्ति। तदगृहीतग्राहित्वमपि न प्राबल्ये प्रयोजकम्; प्रत्यक्षागृहीतधर्मादिग्राहकत्वेन परोक्षप्रमाणस्यैव प्राबल्यापत्तेः। नाप्यनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहनादिनिवर्तकत्वेन प्राबल्यम्; एतावता हि वैधर्म्यमात्रं सिद्धम्। न च तावतेतरप्रमाणापेक्षया प्राबल्यं भवति; अन्यथा त्वाचप्रत्यक्षानिवर्तितवंशोरग–भ्रमनिवर्तकत्वाच्चक्षुषोऽपि त्वगपेक्षया प्राबल्यं स्यात्। ततश्च चित्रनिम्नोन्नतज्ञानस्य चाक्षुषस्य तद्विरोधित्वाचज्ञानाद् बाधो न स्यात्। प्रत्युतागमस्यैव सर्वतः प्राबल्यं स्मार्यते। 'प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्' इति। न च तद्वैदिकार्थविषयमिति वाच्यम्; अद्वैतस्यापि वैदिकार्थत्वात्। क्व च प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमागमबाधितमिति तु परीक्षितप्रामाण्य–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अनुमिति) का बाध कैसे होगा? और उस अनुमिति में प्रत्यक्ष का बाधकत्व उपजीव्यत्वनिमित्तक नहीं, कारण कि वह्न्यादि धर्मी (पक्ष) की चक्षुरादि से सिद्धि होने से त्वाच औष्ण्यप्रत्यक्ष उपजीव्य नहीं होता (साक्षात् या परम्परा से किसी कार्य के जनक को उपजीव्य (प्रयोजक) कहा जाता है और उससे जन्य कार्य को उपजीवक (प्रयोज्य) कहते हैं। शैत्यानुमान में वह्निरूप धर्मी का ज्ञापक होने से चक्षुरादि ही उपजीव्य है, किन्तु वह्निनिष्ठ उष्णत्व का त्वाचप्रत्यक्ष तो साध्य शैत्य का बाधक ही है, उपजीव्य नही)। इसके अतिरिक्त–प्रत्यक्ष का प्राबल्य इसलिये है कि वह अनुमित्यादि से अगृहीत रेखा उपरेखादि का ग्राहक है और अनुमानादि से अनिवर्तित दिग्भ्रमादि का निवर्तक है।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योकि त्वाच प्रत्यक्ष भी उपजीव्यत्वरूप से शैत्यानुमिति का प्रतिबन्धक हो सकता है, कारण कि चक्षुरादि से वह्न्यादि धर्मी का ग्रह होने पर भी त्वगिन्द्रिय के बिना शैत्यादि साध्य की प्रसिद्धि का अभाव है (प्रसिद्ध पदार्थ ही अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का साध्य हो सकता है) अतः जाति से प्राबल्य होने में प्रमाण नहीं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष का अनुमानादि से अगृहीतग्राहित्व भी प्राबल्य में प्रयोजक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से अगृहीत धर्मादि मे ग्राहकत्वरूप से परोक्षप्रमाण की ही प्राबल्यापत्ति होगी। और अनुमानादि से अनिवर्तित दिग्भ्रमादि के निवर्तकत्वरूप से प्रत्यक्ष का प्राबल्य भी नही, क्योंकि इतने से उसका अनुमानादि से वैधर्म्यमात्र सिद्ध होता है, उस वैधर्म्य मात्र से अन्य प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष का प्राबल्य नहीं होता, यदि वैधर्म्य मात्र से प्राबल्य माना जाय तो त्वाच प्रत्यक्ष से अनिवर्तित बांस में सर्पभ्रम का निवर्तक होने से चक्षुका भी त्वक् की अपेक्षा प्राबल्य होना चाहिये (ठोकर खाने से बांस में सर्पभ्रम त्वगिन्द्रिय से हुआ, वह भ्रम चक्षु से ही निवारित होता है, त्वक् से नहीं, क्योंकि उस बांस का पुनः त्वगिन्द्रिय से संबन्ध नहीं होता)। और इस प्रकार चक्षु में प्राबल्य होने से चित्रगत निम्नोन्नत विषयक चाक्षुषज्ञान उसके विरोधी त्वाचज्ञान से बाधित नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत "प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम उन तीनों में जाति से आगम का ही प्राबल्य समझना चाहिये" यह स्मृति आगम का ही सबसे प्राबल्य बताती है। और वह स्मृतिवाक्य वैदिकार्थविषयक है – ऐसा कहना नहीं चाहिये; क्योंकि अद्वैत भी वैदिकार्थ ही है ("प्रत्यक्ष से ज्ञात अर्थ अनुमान और आगम से कहां बाधित होता है, अर्थात कहीं भी बाधित नहीं होता" यह स्मृतिवचन तो

प्रत्यक्षविषयम्।

ननु प्रत्यक्षस्यासञ्जातविरोधित्वादुपक्रमन्यायेनैव प्राबल्यम्। उक्तं हि–

"असञ्जातविरोधित्वादर्थवादो यथाश्रुतः।
आस्थेयस्तद्विरुद्धस्य विध्युद्देशस्य लक्षणा"

इति चेन्न, यत एकवाक्यस्थपरस्परसापेक्षपदत्वेन उभयोः साम्ये सत्युपक्रम–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

जिस का प्रामाण्यपरीक्षित हो चुका है, ऐसे प्रत्यक्ष का विषय है। (अन्यथा देहात्मैक्य प्रत्यक्ष, आगम से बाधित नहीं होगा)।

शंका – अनुत्पन्नविरोधित्व होने के कारण प्रत्यक्ष का उपक्रमन्यायद्वारा ही अनुमान और आगम से प्राबल्य है; इस विषय में कहा भी है – "अनुत्पन्नविरोधित्व होने से अर्थवादवाक्य यथाश्रुत अंगीकार्य है, उस असंजात विरोधी अर्थवाद से विरुद्ध विधिवाक्य की लक्षणा करनी चाहिये" इति। (इस उपक्रम न्याय के विषय में (मी.द. ३/३/१) में इस प्रकार विचार किया गया है – ज्योतिष्टोमप्रकरण में, "प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। स तपोऽतप्यत। तस्मात्तपस्तेपानास्त्रयो देवा असृज्यन्ताऽग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो देवा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदः" अर्थात्–यह जगत पहले एक मात्र प्रजापति ही था, उसने तप किया, उस तप करते हुए प्रजापति से अग्नि वायु और आदित्य ये तीन देव उत्पन्न हुए; उन देवों ने तप किया, उन तप करते हुए देवों से तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद। ऐसा उपक्रम (आरम्भ) करके आगे "उच्चैर्ऋचा क्रियते। उच्चैः साम्ना। उपांशु यजुषा" (तै.सं. १/८/१) अर्थात् ऋक् द्वारा उच्च स्वर से कार्य करना चाहिये, साम द्वारा उच्च स्वर से कर्म करे तथा यजुर्द्वारा उपांशु (अनुच्य) स्वर से क्रिया करें। यह ऋगादि के कर्म में विनियोग करने का विधिवाक्य है और पहला वाक्य इसका अर्थवाद है। इन दोनों वाक्यों को देखकर सन्देह होता है कि इस विधिवाक्य में ऋगादिशब्द ऋक्त्वादि जातिवाचक मानकर उनका अर्थ ऋग्मन्त्रादि का ग्रहण करना चाहिये अथवा अर्थवादवाक्य के अनुसार ऋगादि शब्दों से ऋग्वेदादि का ग्रहण करना चाहिये। इसमें पूर्वपक्षी कहते है कि यहां ऋगादि शब्दों से ऋक्त्वादिविशिष्ट ऋग्मन्त्रादि का ही ग्रहण करना चाहिये वेद का नहीं, क्योंकि अर्थवादवाक्य विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर विधि के प्राशस्त्यादि गुणों को ही बोधन कराता है; उसका स्वार्थ में कोई अभिप्राय नहीं रहता। इसमें सिद्धान्ती उत्तर देते है कि यद्यपि अर्थवादवाक्य विधिप्रशंसा परक है, तथापि यहां विधि के पहले अर्थवाद वाक्य आया है, इसलिये असंजातविरोधित्वेन उसका अर्थ पहले ही उपस्थित होने से वह अर्थ स्वीकार्य है, अतः बाद में उपस्थित विधिवाक्य में आए हुए ऋगादि शब्द ऋक्त्वादिजातिवाचक मानकर उनका अर्थ ऋग्मन्त्रादि का ग्रहण करना चाहिये अथवा अर्थवादवाक्य के अनुसार ऋगादि शब्दों से ऋग्वेदादि का ग्रहण करना चाहिये। इसमें पूर्वपक्षी कहते है कि यहां ऋगादि शब्दों का लक्षणा द्वारा ऋग्वेदादि अर्थ करना चाहिये। इसी प्रकार प्रकृत में भी असंजातविरोधित्वेन "सन् घटः" इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान प्रथम उपक्रम में ही उपस्थित होने के कारण बाद में उपस्थित अनुमान और आगम को बाधित कर देगा)।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि उपक्रमन्याय में एक वाक्यस्थ और परस्परसापेक्ष पदद्वय होने से दोनों में साम्य होने पर उपक्रमस्थ (प्रारम्भस्थ) वेदपद के अनुरोध से उपसंहारस्थ

स्थवेदपदानुरोधेनोपसंहारस्थर्गादिपदानां मन्त्रमात्रवाचिनां कृत्स्नवेदपरत्वे निर्णीतेऽपि न प्रकृतेतन्नयायः सम्भवति, उभयोः साम्याभावात्, गृहीतप्रमाणभावश्रुत्यपेक्षया भ्रमविलक्षण–त्वेनानिश्चितस्य प्रत्यक्षस्य न्यूनबलत्वात्, अन्यथा 'इदं रजतम्' इति भ्रमोऽपि ''इयं शुक्तिः'' इति आप्तोपदेशापेक्षया प्रबलं स्यात्। एतेन लिङ्गात् श्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात् प्रत्यक्षस्य प्राबल्यम्, तदुक्तम्

प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्।
शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथैव श्रुतिलिङ्गयोः।।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

(विधिवाक्यस्थ) ऋगादि मन्त्रवाची पदों का सम्पूर्ण वेदपरत्व निर्णीत होने पर भी प्रकृत ''सन् घटः'' इत्यादि प्रत्यक्ष में वह न्याय (उपक्रमन्याय) नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम में साम्य नहीं है, निश्चित प्रामाण्य वाली श्रुति की अपेक्षा से भ्रमविलक्षणत्व रूप से (बाधितविषयकान्यत्वरूप से) अनिश्चत प्रत्यक्ष न्यूनबल युक्त है; यदि उक्त प्रत्यक्ष को न्यूनबल युक्त नहीं मानोगे तो ''इदं रजतम्'' यह भ्रम भी प्रथमोपस्थित होने से उपक्रमन्याय द्वारा ''इयं शुक्तिः'' इस आप्तोपदेश की अपेक्षा प्रबल होना चाहिये। इससे, अर्थात् बाधकत्वेन अभिमत प्रत्यक्ष में न्यूनबलत्व होने से – जिस प्रकार शीघ्रगामित्व होने के कारण लिंग से श्रुति का प्राबल्य है, उसी प्रकार शीघ्रगामित्व होने से अनुमान से प्रत्यक्ष का प्राबल्य है; जैसे कि कहा भी है– ''शीघ्रगामित्व और मन्थरगामित्व होने से, जैसे लोक में प्रत्यक्ष और अनुमान में बलाबल होता है, वैसे ही श्रुति और लिंग में बलाबल है''–यह भी खण्डित हुआ; क्योंकि परीक्षित (प्रमाणत्वेन निश्चित) अनुमान का मन्थरगामित्व होने पर भी अपरीक्षित प्रत्यक्ष की अपेक्षा से प्राबल्य है। (कर्म के अंगबोधक श्रुतिलिंगादि के बलाबल के संबन्ध में मीमांसादर्शन में इस प्रकार विचार किया गया है – ''श्रुति–लिंग – वाक्य–प्रकरण–स्थान–समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'' (मी.द. ३/३/१४) अर्थात् श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान अर्थात् क्रम, और समाख्या नामक इन कर्मांगावबोधकों के समवाय होने पर (एक ही विषय में इनमें से एक से अधिक यथा सम्भव प्राप्त होने पर) परवर्त्ती की दुर्बलता होती है (परवर्ती पूर्ववर्त्ती की अपेक्षा दुर्बल होने से पूर्व द्वारा बाधित होता है), कारण कि अर्थ में (कर्म के अंगांगित्व निर्णयरूप विनियोग में) विप्रकर्ष अर्थात् विलम्बित भाव से परवर्त्ती की बोधकता होती है। कर्मांगबोधन में किसी की अपेक्षा किये बिना स्वतः प्रबोधक को श्रुति कहते हैं। वह तद्धित, द्वितीया, तृतीयादि विभक्ति होती है (निरपेक्षो खः श्रुतिः)। शब्दनिष्ठ अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य को लिंग कहते है। यह श्रुति का कल्पक होता है अर्थात् लिंग किसी अंग को स्वतन्त्ररूप से बोधन नहीं कर सकता, उसको श्रुति की सहायता लेनी पड़ती है, अतः वह अपनी सहायिका श्रुति का कल्पक है। इसलिये वह अपने अर्थ को उपस्थित करने में विलम्ब करता है। आगे वाक्यादि में भी वैसा ही समझना चाहिये। अंगांगिवाचक दो पदों के सहोच्चारण का नाम वाक्य है; यह लिंग का कल्पक है। उपकार्योपकारक भावापन्न दो वाक्यों की परस्पराकांक्षा को प्रकरण कहते है; वह वाक्य का कल्पक है। समानदेशता का नाम स्थान (क्रम) है; वह प्रकरण का कल्पक है और यौगिक शब्द का नाम समाख्या है; यह स्थान का कल्पक है। इस रीति से समाख्या द्वारा किसी कर्मांग को ज्ञात करना हो तो क्रम से श्रुति तक की कल्पना करनी होगी; अतः उससे विलम्बित होता है। यहां प्रकृत में श्रुति–लिंग का उदाहरण है; अतः उसके विषय में विचार किया जाता है–एक विधि इस प्रकार है –'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते''

इत्यपास्तम्, परीक्षितस्य मन्थरगामिनोऽपि प्राबल्यात्।

न च 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यस्मात् 'पदे जुहोति' इत्यस्य विशेषविषयत्वेन प्राबल्यवत्, घटविषयसत्त्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य सामान्यतो द्वैतनिषेधकश्रुत्यपेक्षया प्राबल्यमिति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

(ऐन्द्री अर्थात् इन्द्र संबन्धिनी ऋचा द्वारा गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान (पूजा) करे) वह ऐन्द्री ऋक् यह है ''कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'' (हे इन्द्र! आप किसी भी समय में हन्ता नहीं हुए हो; यह यजमान आप के उद्‌देश्य से आहुति दे रहा है, उसके ऊपर आप प्रसन्न हों)। यह मन्त्र अर्थ प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिंग के अनुसार इन्द्रदेवता का बोधक है, और लिंग के अनुसार इस मन्त्र का इन्द्रदेवतासंबन्धी कर्म में अंग होकर विनियोग होगा। तब तो ''ऐन्द्र्या ऋचा इन्द्रमुपतिष्ठेत'' इति श्रुति की कल्पना करनी होगी। किन्तु इस कल्पना के पहले ही ''ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'' इस विधि वाक्य में ''ऐन्द्र्या'' में तद्धित और गार्हपत्यम्'' में द्वितीया श्रुति से उस ऐन्द्र मन्त्र का गार्हपत्य के उपस्थान में विनियोग झट् ही प्राप्त होता है। अतः श्रुति शीघ्रगामिनी है और लिंग मन्थरगामी है। और यहां मन्थरगामी लिंग को शीघ्रगामिनी श्रुति बाधित करती है। उसी प्रकार प्रकृत में भी शीघ्रगामी निरपेक्ष प्रत्यक्ष बलवान होने से व्याप्ति आकांक्षा—योग्यता इत्यादि सापेक्ष मन्थरगामी अबलवान् अनुमान और आगम को बाधित करेगा। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि यह न्याय वहां लगाया जा सकता है, जहां दोनों ही परीक्षित हो गये हों; यहां तो प्रत्यक्ष परीक्षित नहीं, अनुमान और आगम तो परीक्षित है। अतः परीक्षित मन्थरगामी भी अपरीक्षित शीघ्रगामी से अधिक बलवान् होता है। इसलिये प्रत्यक्ष अनुमानागम से बाध्य है)।

शंका – ''जो कोई भी होम हो, वह आहवनीय अग्नि में करना चाहिये'' इस विधान से जिस प्रकार ''गौ के सप्तम पद में होम करें'' इस विधि का विशेष विषयत्व होने से प्राबल्य है, उसी प्रकार ''सन् घटः'' इसमें विशेषरूप से घट विषयसत्त्वग्राही प्रत्यक्ष का सामान्यरूप से द्वैतनिषेधक श्रुति की अपेक्षा प्राबल्य है। (मीमांसा दर्शन १०/८/८ अधिकरण में विचार किया गया है कि ''यदाहवनीये जुहोति'' इस अनारभ्याधीत अर्थात् किसी प्रकरण को आरम्भ किये बिना पठित इस विधि का उपदेश श्रुतियों में दिया गया है और ज्योतिष्टोम प्रकरण में तो ''पदे जुँहोति'' ''वर्त्मनि जुंहोति'' अर्थात् ''सोमलता से विनिमय करने के लिये ले जाती हुई गौ के सप्तम पद स्थान में होम करें'', ''सोमलता को ले जाते हुए हविर्धान नामक शकट (बैलगाड़ी) के मार्ग में होम करे'' ऐसा विधान है। इसमें सन्देह हुआ आहवनीय में होम और पद तथा मार्ग होम इनमें विकल्प होगा अथवा आहवनीय में होम को बाधित करके ये दोनों होम करना चाहिये। इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि आहवनीय में होम और पद में होम आदि सब प्रत्यक्ष श्रुति वचन द्वारा विहित है, अतः सब तुल्यबल होने से विकल्प होना उचित है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते है ''अविशेषेण यच्छास्त्रमन्यायत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्यात्'' (१०/८/१६) अविशेषेण यच्छास्त्रम्, आहवनीय में होम विधायकरूप सामान्य शास्त्र की आरात् अपेक्षा, विशेषशिष्टं स्यात्= पद होमादिविधायक विशेष शास्त्र की प्रवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि तत्संदिग्धम्=सामान्य शास्त्र (विधि) अशेषविशेष का विधायक है अथवा कुछ विशेषविधायक है— ऐसा सन्देह होने से विकल्पस्याऽन्यायत्वात्= उनमें विकल्प करना अन्याय है। इस अधिकरण की युक्ति को लेकर पूर्वपक्षी का कथन है)।

वाच्यम्; सामान्यविशेषन्यायस्य निश्चितप्रमाणभावोभयविषयत्वात्, अन्यथा 'अयं गौरश्वः' इत्यादेरपि ''गौरश्वो न भवति'' इत्यादितः प्राबल्यं भवेत्।

न च यथा ''यत्किञ्चित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ति'' इत्यत्रत्यस्य यत्किञ्चिच्छब्दस्य यत्किञ्चित्प्रकृतवाचित्वेन सामान्यविषयत्वेऽपि दीक्षणीयाव्यतिरिक्ते सावकाशत्वात् 'यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्' इत्यनेन निरवकाशेन सङ्कोचस्तथा प्रत्यक्षेण निरवकाशेन वृत्त्यन्तरेणानेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन सावकाशायाः श्रुतेः सङ्कोचः किं न स्यादिति वाच्यम्। तात्पर्यलिङ्गैरुपक्रमादिभिर्द्वैतनिषेधपरत्वेऽवधृतेऽद्वैतश्रुतेरपि निरवकाशत्वात्, प्रत्यक्षस्यापि व्यावहारिकद्वैतविषयतया सावकाशत्वात्, विरुद्धयोश्च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान – ऐसा न कहिये; क्योंकि सामान्यविशेषन्याय निश्चित प्रमाणभावापन्न दो पदार्थों को विषय करने वाला है। निश्चित प्रमाणभाव के बिना सामान्यविशेष न्याय को अंगीकार करोगे तो ''यह गौ अश्व है'' इत्यादि विशेष का ''गौ अश्व नहीं होता'' इत्यादि सामान्य से प्राबल्य हो जायेगा।

शंका – ज्योतिष्टोम प्रकरण मे उपदिष्ट ''अग्निषोमीयपशुयाग से पहले जो कुछ भी कर्म विहित है, उसमें उपांशु स्वर से (अर्थात् अत्यन्त धीमें जहां तक कि समीपस्थ को भी सुनाई न पड़े ऐसे स्वर से) मन्त्रों का उच्चारण करें'' इस विधि में प्रयुक्त ''यत्किंचित्'' इस शब्द का यत्किंचित्प्रकृतवाचित्व (अर्थात् जो कुछ भी प्रकरण में आये कर्मों का वाचकत्व) होने से सामान्यविषयत्व होने पर भी दीक्षणीया इष्टि से अतिरिक्त प्रकृत कर्मों में सावकाशत्व होने के कारण ''जितने उच्चैःस्वर से मन्त्रोच्चारण करने की इच्छा हो, उतने उच्चैःस्वर से दीक्षणीया इष्टि में मन्त्रोच्चारण करें'' इस निरवकाश विधि से जिस प्रकार ''यत्किंचित्प्राचीनम्'' इत्याद्युक्त विधिका संकोच होता है; उसी प्रकार 'सन् घटः'' इत्यादि निरवकाश प्रत्यक्ष से ''एकमेवाद्वितीयम्'' ''नेह नानास्ति किंचन'' इत्यादि श्रुतियों का वृत्त्यन्तर से (अर्थात् ''एकमेवाद्वितीयम्'' इस श्रुति में नञ् घटित द्वितीयादि पद की सत्त्वप्रत्यक्ष के अविषय अन्य द्वितीय पद में लक्षणावृत्ति से), अथवा अनेकार्थत्व होने से (अर्थात् ''हिरुङ्नानाचवर्जने'' इत्यादि कोशोक्तानुसार ''नेह नानास्ति किंचन'' इस श्रुति में नाना शब्द का अर्थ वर्जन यानि निषेध होने से ''इस ब्रह्म में कुछ भी निषेध नहीं है'' इत्यादि अर्थ सम्भव होने से) विषयान्तरपरकत्व होकर सावकाशत्व होने के कारण संकोच क्यों न हो? (मीमांसा दर्शन९/१/६/२०–२५) में ''यत्किंचित् प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेन उपांशुचरन्ति'' इस विधि को लेकर विचार किया गया है कि क्या यहां उपांशुत्व का विधान अग्नीषोमीय से पहले जो कर्म कह गये हैं, उन कर्मो मे प्रयुक्त है अथवा परमापूर्व से प्रयुक्त है। इसमें पूर्वपक्षी के मत में परमापूर्वप्रयुक्त उपांशुत्व है और सिद्धान्ती के मत में अग्नीषोमीय से पूर्व विहित कर्म जातोत्पन्न अवान्तरापूर्व में प्रयुक्त उपांशुत्व है। अतः यह पक्ष सर्वमान्य होने से यहां पर द्वैतवादी ने दृष्टान्त रूप से उसको दिया है। मूल में ''यत्किंचित्प्रकृतवाचित्वेन सामान्यविषयत्वेऽपि'' इस पाठ की टीका में गौड़ब्रह्मानन्दजी ने सामान्यविषयत्व के स्थान में ''सामान्याऽविषयत्व'' पाठ लेकर अर्थ किया है। प्रसग और टीकानुसार वही ठीक मालूम होता है)।

समाधान – ऐसा भी न कहिये; क्योंकि तात्पर्य के ग्राहक उपक्रमोपसंहारादि छः लिंगो में द्वैतनिषेधपरकत्व निर्धारित होने पर अद्वितीय ब्रह्मप्रतिपादिका श्रुति का भी निरवकाशत्व होता है; और प्रत्यक्ष का भी व्यावहारिक द्वैतविषयक होकर सावकाशत्व सम्भव है। ''मै मनुष्य हूँ''

द्वयो: 'अहं मनुष्य:' इत्यादिप्रत्यक्षे 'आकाशवत्सर्वगतश्चनित्य:' इत्यादिश्रुत्योरिव तात्त्विक-प्रामाण्यानुपपत्त्या कस्यचिद्व्यावहारिकं कस्यचित्तात्त्विकं प्रामाण्यमभ्युपेयम्; अत्यन्ताप्रामा-ण्यस्यान्याय्यत्वात्, तत्राद्वैतश्रुतेर्व्यावहारिकप्रामाण्यसम्भवे द्वैतग्राहिप्रत्यक्षादेस्तात्त्विकं प्रामाण्यं भवेत्, तदसम्भवे तु बलादेवाद्वैतश्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यमिति प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं पर्यवस्यतीति कृतबुद्धयो विदांकुर्वन्तु।

ननु पञ्चदशरात्रे प्रथमेऽहन्यग्निष्टुन्नामके नामातिदेशेन एकाहाग्निष्टुद्धर्मभूता सुब्रह्म-ण्याग्नेयी प्राप्ता, तस्या अल्पविषयत्वाच्चतुर्दशाहस्सु चोदकेन प्राप्तया ऐन्द्र्या सुब्रह्मण्यया

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इत्यादिरूप से आत्मप्रत्यक्ष तथा ''आकाश के समान आत्मा सर्वगत और नित्य है'' इत्यादि आत्मविषयिका श्रुति इन परस्पर विरुद्ध दोनों में तात्त्विक प्रामाण्य की अनुपपत्ति से; किसी का व्यावहारिक प्रामाण्य और किसी का तात्त्विक प्रमाण्य स्वीकर्त्तव्य है, कारण कि दोनों में अत्यन्त ही अप्रामाण्य मानना अन्याय है; उनमें अद्वैत श्रुति का व्यावहारिक प्रामाण्य सम्भव होने पर द्वैतग्राही प्रत्यक्षादि का तात्त्विक प्रामाण्य हो, और उसमें तात्त्विक प्रामाण्य असम्भव होने पर तो बलपूर्वक ही अद्वैतश्रुति का तात्त्विक प्रमाण्य सिद्ध होने से प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक प्रामाण्य ही पर्यवसित होता है — इस बातको बुद्धिमान लोग समझें।

शंका — पंचदशाहोरात्र में अनुष्ठेय पंचदशयागात्मक पंचदशरात्र नामक सत्र में अग्निष्टुत् नामक प्रथमदिन में अनुष्ठेय याग में नाम के अतिदेश होने से एकाहात्मक अग्निष्टुत् नामक आग्नेय याग की अंगभूता सुब्रह्मण्या आग्नेयी ऋक् (''अग्न आगच्छ'' इत्यादि ऋक्) प्राप्त हुई और इस आग्नेयी ऋक् का अल्पविषय (अग्निष्टुद्यागमात्र विषय) होने से चतुर्दशाह: यामों में अतिदेश द्वारा प्राप्त ''इन्द्रागच्छ हरिण आगच्छ'' इस ऐन्द्री सुब्रह्मण्या ऋक् से बहुविषय होने के कारण जैसे बाध होता है; कारण कि एक से बहुतों का बाध अन्याय है; वैसे ही द्वैतग्राही प्रत्यक्ष, उसका उपजीवी अनुमान, कर्मकाण्ड सगुणोपासनाविषयक श्रुतिवाक्यादि अनेक प्रमाणों का बाध न हो — इस निमित्त अद्वैत प्रतिपादक वाक्यों के प्रतीतार्थ अर्थात् यथा श्रुतार्थ का बाध क्यों न हो? कहा भी है — अनेक प्रमाणों से विरोध होने पर एक का अप्रामाण्य होता है, यह बात शुक्तिरजतादिविषयक ज्ञान में देखी गयी है। (मीमांसकों के मत में किसी प्रकरण में किसी एक कर्म का सांगोपांग पूर्णरूप से विधान किया गया हो तो वह कर्म प्रकृति कहा जाता है, उसी प्रकरण में अन्य किसी कर्म का सांगोपांग विधान तो नहीं किया किन्तु कुछ विशेष मात्र विधान किया गया हो तो वह कर्म विकृति कहा जाता है; उस विकृति कर्म को करने के लिये अन्य आवश्यक अंगोपांग प्रकृति कर्म से अतिदेश द्वारा लाया जाता है। अत: ''प्रकृतिवत् विकृतिर्भवति'' यह नियम प्रचलित है। यहां अग्निष्टुत् नामक याग ज्योतिष्टोम की विकृति है और प्रकृति याग ज्योतिष्टोम में सुब्रह्मण्यनामक ऋत्विक् से ''इन्द्रागच्छ हरिण आगच्छ'' इत्यादि निगद नामक ऋक् द्वारा इन्द्र का आह्वान किया जाता है। यह सुब्रह्मण्या ऐन्द्री ऋक् अतिदेश से विकृति याग अग्निष्टुत् में प्राप्त है। किन्तु ''आग्नेयी सुब्रह्मण्या भवति'' इस विधि से ''अह'' द्वारा इन्द्र के स्थान में ''अग्नि आगच्छ हरिण आगच्छ'' इत्यादि का पाठ होता है। इसका विचार मी.द. ९/१/४२—४४ अर्थात् पंचदशाधिकरण में किया गया है। इसी प्रकार पंचदशरात्र के प्रथमयाग अग्निष्टुत् में भी नामसामान्य से अतिदेश द्वारा एकाह अग्निष्टुत् याग की अंगभूत सुब्रह्मण्याग्नेयी ऋक् प्राप्त है। इसी प्रकार अवशिष्ट चतुर्दशाह यागों में भी उपसत्काल अर्थात् आज्यहविस्क इष्टि

बहुविषयया यथा बाधः, बहुबाधस्यान्याय्यत्वात्; तथा द्वैतग्राहिप्रत्यक्षतदुपजीव्यनुमान–कर्मकाण्डसगुणोपासनावाक्यादिरूपबहुप्रमाणाबाधायाद्वैतवाक्यस्य प्रतीतार्थबाधः किं न स्यात्? तदुक्तम् "बहुप्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यं दृष्टं शुक्तिरजतादिज्ञाने" इति चेन्न, दृष्टान्ते बहुविषयया बाधोऽत्र बहुभिरिति वैषम्यात्; देहात्मैक्ये प्रत्यक्षानुमानशब्दा–भासादिसत्त्वेऽपि देहात्मभेदबोधकस्यानन्यपरत्वेन प्राबल्यवदत्राप्यनन्यपरत्वेनाद्वैतश्रुतेः प्राबल्यात्, विद्याविद्याभेदेन विद्वदविद्वत्पुरुषभेदेन च विरोधाभावादिति।

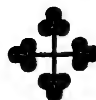
इति प्रत्यक्षस्य जात्युपक्रमन्यायादिभिः प्राबल्यनिरासः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

काल में अतिदेश से सुब्रह्मण्या ऐन्द्री ऋक् प्राप्त है। किन्तु इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रथम अग्निष्टुत् याग में सुब्रह्मण्या आग्नेयी ऋक् प्राप्त हो चुकी है, वह असंजातविरोधित्वेन प्रथम उपस्थित होने से उपक्रमन्याय (मी. ३/३/१ अधि) द्वारा सुब्रह्मण्या ऐन्द्री ऋक् को बाधित करेगी। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं – ''विप्रतिषिद्ध धर्मानां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मकत्वम्'' (मी. द. १२/२/२३) अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्मो का एक ही स्थान में (कर्म में) समावेश होकर अनुष्ठेयत्व हो जाय तो अधिक संख्यकों का सधर्मकत्व अर्थात् धर्म अनुष्ठेय होना चाहिये। यहां आग्नेयी ऋक् एक दिन का धर्म है और ऐन्द्री ऋक् चतुर्दशदिन का धर्म है। अतः एक के अनुरोध से बहुतों की उपेक्षा करना अनुचित है। एकत्व और बहुत्व में विरोध होने पर संख्याल्पपदार्थ के प्राबल्य में असंजातविरोधित्व हेतु नहीं होगा। इसलिये आग्नेयी ऋक् को बाधित करके ऐन्द्री ऋक् का ही प्रयोग होना चाहिये। यह निर्णय किया गया है। इसी प्रकार प्रकृत में भी द्वैतग्राही प्रत्यक्ष, अनुमानादि बहुसंख्यक होने से उनके द्वारा अल्पसंख्यक अद्वैतश्रुति का बाध होना चाहिये)।

समाधान – नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में अर्थात् ऐन्द्री ऋक् से आग्नेयी ऋक् के बाध में तो एक से यागरूप बहुविषयों के धर्म का अबाध है और प्रकृत में बहुतों से विषय का अबाध अर्थात् प्रत्यक्षादि अनेकों से द्वैतगत सत्यत्वरूप विषय का अबाध है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में वैषम्य है, देहात्मैक्य में ''मनुष्योऽहम्'' ऐसा प्रत्यक्षाभास, ''आत्मा देहाभिन्नः तथैव प्रतीयमानत्वात्'' इत्यादि अनुमानाभास, तथा ''सोऽयं पुरुषोऽन्नमयः'' इत्यादि शब्दाभास वर्तमान होने पर भी देहात्मभेद बोधक प्रमाण का अनन्यपरत्व होने से उन सबसे प्राबाल्य जैसे होता है, वैसे यहां भी अद्वैतश्रुति का अनन्यपरत्व होने से प्राबल्य है, इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान और अतत्त्वज्ञान के भेद से तत्त्ववित् और अतत्त्ववित् पुरुष का भेद होने से विरोध का अभाव है अर्थात् अतत्त्ववित् का विषय द्वैत सत्यत्व है और तत्त्ववित् का विषय अद्वितीय ब्रह्मात्मा है।

इति प्रत्यक्षस्य जात्युपक्रमन्यायेन प्राबल्यनिरासस्य राष्ट्रभाषानुवादः॥



१८: अथोपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षप्राबल्यनिराकरणम्

नन्वुक्तन्यायैः प्रत्यक्षस्य जात्या प्राबल्याभावेऽप्युपजीव्यत्वेन प्राबल्यम्; उपजीव्यत्वं चानुमानागमापेक्षिताशेषार्थग्राहकतया, सा च क्वचित्साक्षात्क्वचित्परम्परया; दृष्टं चापेक्षितैकदेशग्राहिणामप्युपजीव्यत्वम्, तद्विरुद्धग्रहणे तेन बाधश्च; यथा घटविभुत्वानुमाने पक्षग्राहिणाऽक्ष्णा, नरशिरश्शुचित्वानुमाने साध्यग्राहकेणागमेन, मनोवैभवानुमाने ज्ञानासमवाय्याधारत्वहेतुग्राहकेणानुमानेन, किमु वक्तव्यमपेक्षिताशेषग्राहिणा स्वविरुद्धग्राहकस्य बाधः? चक्षुरादेश्च शब्दतज्जन्यज्ञान प्रामाण्याद्यग्राहित्वेऽपि तद्ग्राहिश्रोत्रसाक्ष्यादिसजातीयत्वादुपजीव्यत्वम्। दृष्टञ्च नरशिरः कपालाशुचित्वबोधकागमस्य तच्छुचित्वानुमानोपजीव्यशुचित्वागमसजातीयत्वेन तदनुमानात् प्राबल्यम्। न चेन्द्रियमपि स्वज्ञानार्थमनुमानमुपजीवतीति सम एवोपजीव्योपजीवकभावः, अज्ञातकरणतया ज्ञानजननार्थमनुमाना–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – प्रत्यक्ष का पूर्वोक्तन्यायों से जाति द्वारा प्राबल्याभाव होने पर भी उपजीव्यत्वरूप से अनुमानागमापेक्षया प्राबल्य होगा, और प्रत्यक्ष में उपजीव्यत्व तो अनुमान और आगम से अपेक्षित अशेषार्थों के ग्राहकत्वरूप से है, और वह ग्राहकत्व कहीं साक्षात् रूप से और कहीं परम्परारूप से होता है; और अपेक्षित के एकदेशमात्र के ग्राहकों का भी उपजीव्यत्व देखा जाता है और उस उपजीव्य से विरुद्धार्थ का ग्रहण करने पर अनुमान और आगम का उसी के द्वारा बाध भी दृष्ट है; जैसे–"घटो विभुः द्रव्यत्वात् गगनवत्" इस घटविभुत्वसाधक अनुमान में परिच्छिन्नत्वरूप से घटरूप का पक्षग्राही चक्षु से बाध दृष्ट है, और "मृतनरशिरः शुचि प्राण्यंगत्वात् शंखवत्" इस अनुमान में 'त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य ह्याज्ञया। शंखे तिष्ठन्ति विप्रेन्द्र तस्माच्छंखं प्रपूजयेत्।" इस साध्यग्राहकागम का सजातीय "नारं स्पृष्टाऽस्थि सस्नायु सवासा जलमाविशेत्" इस आगम से बाध दृष्ट है; "मनो विभु, ज्ञानाऽसमवायिकारणसंयोगाधारत्वात्, आत्मवत्" इस मनोविभुत्वानुमान में "आत्मनि सुखाद्युपलब्धिः क्रमिकसंयोगवत्करणसाध्या, क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्" इस ज्ञानासमवायिकारणाश्रयत्वरूपहेतु ग्राहक अनुमान से बाध देखा गया है; तब तो अपेक्षित अशेषार्थ ग्राही प्रत्यक्ष से अपने विरूद्धार्थ ग्राहक अनुमान और आगम का बाध होता है – इसमें तो क्या ही कहना है? (क्योंकि अनुमिति में – व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मता अर्थात् पक्ष में हेतु की वृत्तिता का ज्ञान चाहिये; इनका ग्राहक प्रत्यक्ष है, अतः अनुमानापेक्षिताशेषार्थग्राहकत्व प्रत्यक्ष का है, अतः प्रत्यक्ष उपजीव्य और अनुमान उपजीवक है। तथा शाब्दबोध भी शब्दस्वरूप का प्रत्यक्ष करके उनकी योग्यता, परस्पराकांक्षादि जाने बिना होता नहीं; अतः आगमापेक्षिताशेषार्थग्राहकत्व प्रत्यक्ष का है। इसलिये उपजीव्य से स्वविरुद्धग्राहक उपजीवक का बाध स्वतः सिद्ध है) चक्षुरादि का शब्द और शब्दजन्यज्ञान प्रामाण्यादि में अग्राहित्व होने पर भी शब्द की ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय और शब्दजन्यज्ञानप्रमाण्य के ग्राहक साक्षी आदि के साथ ग्राहकत्वेन सजातीयत्व होने से उपजीव्यत्व है और नरशिरःकपाल के अशुचित्वबोधक "नारं स्पृष्ट्वा" इत्यादि आगम का नरशिरःकपाल शुचित्व साधक अनुमान के उपजीव्य "त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि" इत्यादि शुचित्व प्रतिपादक आगम के साथ सजातीयत्व होने से नरकपालशुचित्वानुमान की अपेक्षया प्राबल्य दृष्ट ही है। शंका हो कि इन्द्रिय भी स्वज्ञान के लिये (अपना बोध कराने के लिये) "रूपाद्युपलब्धिः सकरणिका क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्" इत्यादि अनुमान का उपजीवक है; अतः दोनों में उपजीव्योपजीवकभाव समान ही है – तो यह शंका ठीक नहीं, कारण कि इन्द्रियाँ अज्ञातकरण

नपेक्षणात्, अनुमानागमादिना तु ज्ञानजननार्थमेव तदपेक्षणादिति विशेषादिति चेन्न, उपजीव्याविरोधात्। तथा हि यत्स्वरूपमुपजीव्यते तन्न बाध्यते, बाध्यते च तात्त्विकत्वाकारः; स च नोपजीव्यते, कारणत्वे तस्याप्रवेशात्। तदुक्तम्—

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा।। इति।

किञ्चापेक्षितग्राहित्वमात्रेण चेदुपजीव्यता, तया च बाधकत्वम्, तदाऽपेक्षित-प्रतियोगिग्राहकत्वेन 'इदं रजतम्' इति भ्रमस्य बाधोपजीव्यत्वात् कथं 'नेदं रजतम्' इति बाधबुद्धिस्तद्विरुद्धोदीयात्? अथ निषेध्यार्थसमर्पकतया प्रतियोगिज्ञानत्वेन तस्योपजीव्यत्वेऽपि तत्प्रामाण्यं नोपजीव्यम्, न हि प्रतियोगिप्रमात्वेनाभावज्ञानजनकता, गौरवात्, प्रतियोगि-भ्रमादप्यभावज्ञानदर्शनाच्च, किन्तु तज्ज्ञानत्वेनैव; लाघवात्, अतस्तद्विरुद्धविषयकं ज्ञानमुदियादेवेति ब्रूषे, तुल्यमिदं प्रकृतेऽपि, पक्षज्ञानत्वादिना कारणता, न तु तत्प्रमात्वादिनाऽपीति। अथ यत्प्रामाण्यं स्वरूपसिद्ध्यर्थमपवादनिरासार्थञ्च यत्प्रामाण्यमुपजीवति तत्तस्योपजीव्यम्;

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने से (ज्ञात हुए बिना करण हो सकने से) ज्ञानजनन के लिये अनुमान को अपेक्षा नहीं करती, और अनुमान, आगमादि तो ज्ञानजनन के लिये (स्वनिष्ठज्ञानजनकता के लिये) प्रत्यक्षप्रमाणरूप इन्द्रियों की अपेक्षा करते हैं।

समाधान — ऐसा नही, क्योंकि अनुमानागमादि का अपने उपजीव्य से विरोध नहीं, जैसे कि — प्रत्यक्ष के जिस स्वरूप की (व्यवहारकालिकाबाध्यविषयकत्वरूप स्वरूप की) अनुमान और आगम से स्वोपजीव्यत्वेन (स्वप्रयोजकत्वरूप से) अपेक्षा की जाती है, वह स्वरूप दोनों से बाधित नहीं होता, किन्तु उसका तात्त्विकाकार अर्थात् त्रिकालाबाध्यत्वाकार बाधित है, वह तो स्वप्रयोजकत्वेन अपेक्षित नही है, क्योंकि उसका (तात्त्विकाकार का) कारणतावच्छेदक कोटि में प्रवेश नहीं होता। खण्डनकार ने कहा भी है —"कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणघटित जो अन्यथासिद्धरहित कार्य निरूपितव्यापकतावच्छेदकधर्मरूप अर्थात् अन्यथासिद्धकार्यनियतपूर्ववृत्तित्वरूप नियम है, वह नियमरूप कारणत्व हम दोनों से अर्थात् प्रपंचसत्यत्ववादी आप और प्रपंचमिथ्यावादी हमसे स्वीकृत हो जाने पर हेतु स्वरूप के बहिर्भूत सत्त्व और असत्त्व का विचार करना तो व्यर्थ ही है" इति। इसके अतिरिक्त — अनुमान और आगम से अपेक्षितार्थ के ग्राहकत्वमात्र से यदि प्रत्यक्ष की उपजीव्यता (प्रयोजकता) है, और उपजीव्यता द्वारा बाधकता है, तो निषेध से अपेक्षित प्रतियोगी का ग्राहकत्वरूप से "इदं रजतम्" इस भ्रम का बाध के प्रति उपजीव्यत्व होने से 'नेदं रजतम्" यह बाध बुद्धि उस उपजीव्य के विरूद्ध हुई हो तो कैसे उत्पन्न होगी? यदि आप कहें कि निषेध्यार्थसमर्पक होने के कारण प्रतियोगिविषयक ज्ञानत्व होने से भ्रम की उपजीव्यता रहने पर भी, उस भ्रम का प्रामाण्य उपजीव्य नहीं, प्रतियोगिविषयक प्रमात्वरूप से अभावज्ञानजनकता नहीं होती, क्योंकि उसमें गौरव है और प्रतियोगिविषयक भ्रम से भी अभावज्ञान देखने में आता है; किन्तु प्रतियोगिज्ञानत्वेन ही अभावज्ञानजनकता है, कारण कि उसमें लाघव है; अतः भ्रम विषयरजतविरूद्ध रजताभावविषयक ज्ञान उत्पन्न हो— तो प्रकृत मिथ्यात्वनुमानादि में भी यह तुल्य ही है, यहां भी प्रत्यक्ष की पक्षज्ञानत्वादिना कारणता है, न कि पक्षविषयक प्रमात्वादिरूप से भी। फिर भी आप यदि कहें कि जिस ज्ञान का प्रामाण्य स्वनिश्चयार्थ और स्वाभावज्ञान निरासार्थ जिस अन्यज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य की स्वप्रयोजकत्वेन अपेक्षा करता है, वह अन्य अपेक्षित

यथा स्मृतेरनुभवः, न च रजतभ्रमस्तथेति चेत्, तर्हि व्याप्तिधियोऽपि नानुमित्युपजीव्यत्वं स्यात्; लिङ्गाभासादपि वंह्निमति वह्निप्रमादर्शनात्।

ननु येन विना यस्योत्थानं नास्ति तत्तस्योपजीव्यमित्येव वक्तव्यम्; तथा च रजतभ्रमस्योपजीव्यत्वमस्त्येव, न तु प्राबल्यम्, न ह्युपजीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम्, किन्तु परीक्षिततया। परीक्षा च सजातीयविजातीयसंवादविसंवादाभावरूपा। न च तौ रजतभ्रमे स्तः, प्रकृते चाक्षस्य परीक्षितत्वेन प्राबल्यम्। अस्ति हि 'सन् घटः' इति विशेषदर्शन–जन्यज्ञानानन्तरं घटार्थक्रिया प्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावश्च। एवमेव जीवेशाभेदश्रुतौ निषेध्यार्पकभेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षञ्चादोषत्वात् परीक्षितमिति तदपि न बाध्यम्। एवमेव च दोषाभावादिज्ञानरूपपरीक्षायामप्यिनाश्वासे वेदे पौरुषेयत्वाभावज्ञाने त्वदुक्तानुमाने च योग्यानुपलब्ध्यादिना हेत्वाभासादिराहित्यज्ञाने ब्रह्ममीमांसायां प्रत्यधिकरणं सिद्धान्त्यभिप्रेतार्थ उपक्रमाद्यानुगुण्यज्ञाने चानाश्वासः स्यादिति प्रमाणतदाभासव्यवस्था न स्यादिति चेत्, न, परीक्षा हि प्रवृत्तिसंवादविसंवादाभावदोषाभावादिरूपा, तया च स्वसमानदेशकालीन–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ज्ञान उस अपेक्षा करने वाले ज्ञान का उपजीव्य होता है, जैसे स्मृति का उपजीव्य अनुभव है, किन्तु रजतभ्रम तो उस प्रकार के उपजीव्यत्व से विशिष्ट नहीं, तब तो व्याप्तिज्ञान में भी अनुमिति का उपजीव्यत्व होना नहीं चाहिये, कारण कि हेत्वाभास से भी वह्निमान् पर्वतादि पक्ष में वह्निविषयकप्रमा देखने में आती है।

शंका – जिसके बिना जिसका उत्थान नहीं होता, वह तृतीयान्त यच्छब्दनिर्दिष्ट पदार्थ उस षष्ठ्यन्तयच्छब्दनिर्दिष्ट पदार्थका उपजीव्य है – ऐसा ही कहना होगा; तब तो रजतभ्रम भी बाधका उपजीव्य है ही; तो भी उसका (रजत भ्रम का) प्राबल्य नहीं, क्योंकि उपजीव्यत्व होने मात्र से प्राबल्य नहीं होता, किन्तु परीक्षितत्वेन प्राबल्य होता है; और परीक्षा तो सजातीयज्ञानान्तर और विजातीय अर्थात् अबाधितविषयकत्वेन निश्चित प्रवृत्त्यादि, इन दोनों का संवाद अर्थात् समानविषयकत्व, तथा विसंवाद (विरूद्धार्थग्रहिकत्व) की अभावरूपा होती है और रजतभ्रम में सजातीय विजातीय संवाद और विसंवादाभाव दोनों नहीं हैं और प्रकृत में तो प्रत्यक्ष का परीक्षितत्व होने से प्राबल्य है, क्योंकि "सन् घटः" इस प्रत्यक्ष में विशेष दर्शनजन्यज्ञानान्तर, घटार्थक्रिया अर्थात् घटानयनादि में प्रवृत्त्यादि और प्रत्यक्ष में क्लृप्त दूरत्वादि दोषाभाव है, (इसलिये यह प्रत्यक्ष परीक्षित है)। और ऐसा ही जीवेशभेद प्रतिपादक श्रुति में निषेध्यभेदार्थकश्रुति और "अहमीशाद् भिन्नः" इस भेद का साक्षिप्रत्यक्ष दोपरहित होने से परीक्षित होने के कारण वह भी बाध्य नहीं है। और इस प्रकार से दोषाभावादि ज्ञानरूप परीक्षा में भी अविश्वास करने पर तो वेद में पौरुषेयत्व के अभावज्ञान में और आपसे कथित अनुमान में मिथ्यात्वविरोधिप्रत्यक्षयोग्य–सत्त्वानुपलब्धि आदि से हेत्वाभासादि राहित्यज्ञान में और ब्रह्ममीमांसादर्शन के प्रत्येक अधिकरण में सिद्धान्ती द्वारा अभिप्रेतार्थ में उपक्रमादि के ("उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिगं तात्पर्यनिर्णये"–इससे निर्दिष्ट उपक्रमादि तात्पर्यनिर्णायक छः लिंगों के) आनुकूल्यज्ञान में अविश्वास होने का प्रसंग होने से प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था न होगी।

समाधान – नहीं, कारण कि सजातीय विजातीयप्रवृत्ति संवाद, विसंवादाभाव, दोषाभावादिरूपा परीक्षा है और उस परीक्षा से अपने समान देशकालीन विषयों का प्रामाण्यघटक अबाध्यत्व व्यवस्थापित होता है, जैसे धूम से स्वसमानदेशकालीन वह्नि की व्यवस्था की जाती है। तब तो

विषयाबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यवस्थाप्यते धूमेन स्वसमानदेशकालीनवह्निरिव। तथा च स्वसमानदेशकालीनविषयाऽबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यव ाप्यते, धूमेन स्वसमानदेशकालीन-वह्निरिव व्यवहारदशामात्राबाध्यत्वं देहात्मैक्यसाधार परीक्षितप्रमाणे व्यवस्थितमिति कथमत्यन्ताबाध्यत्वाभावग्राहकागमानुमानयोः प्रवृत्तिर्न स्यात्? तस्माद् विश्वासप्रमाण-तदाभासव्यवस्था जीवेशभेदादिकञ्च व्यावहारिकमित्युपपन्नमेव सर्वं जगन्मिथ्येति।

ननु प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तत्सिद्धस्य व्याप्त्यादेर्बाधेनानुमेयादेरनुमित्यादिप्रामाण्यस्य च बाधः; अनुमेयादेर्व्याप्त्यादिनाऽनुमितिप्रामाण्यादिना च समानयोगक्षेमत्वात्, अन्यथा प्राति-भासिकव्याप्त्यादिमता बाष्पाध्यस्तधूमेन तात्त्विको व्यावहारिको वाग्निर्व्यावहारिक-व्याप्त्यादिमता धूमेन तात्त्विकोऽग्निर्व्यावहारिकेणाबाधेन विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन च विश्वस्य जीवेशभेदस्य च तात्त्विकं सत्त्वं सिध्येदिति चेत्, न, एतावता हि व्याप्त्यादिसमानसत्ताकमनुमेयं सिद्ध्यत्वित्यापत्तेः फलितोऽर्थः, स चास्माकमिष्ट एव; न हि ब्रह्मभिन्नं क्वचिदत्यन्ताबाध्य-मस्ति। न चायमनुमेयादेर्व्याप्त्यादिना समसत्ताकत्वनियमोऽप्यस्ति; व्यभिचारिणापि लिङ्गेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

परीक्षित प्रत्यक्ष प्रमाण में देहात्मैक्य साधारण व्यवहारदशामात्र में अबाध्यत्व सिद्ध होने से अत्यन्ताबाध्यत्व के अभाव ग्राहक आगम और अनुमान की प्रवृत्ति क्यों न होगी? इसलिये विश्वास, प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था होती है तथा जीवेशभेदादि भी व्यावहारिक है; अतः जगत् को मिथ्या मानना आदि सब ठीक ही है।

शंका – प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य होने पर प्रत्यक्ष से सिद्ध व्याप्त्यादि का बाध होने से अनुमेयादि पदार्थ और अनुमित्यादि के प्रामाण्य का बाध होगा; क्योंकि अनुमेयादि पदार्थ का व्याप्त्यादि और अनुमिति प्रामाण्यादि के साथ समानयोगक्षेमत्व है अर्थात् समानसत्ताकत्व है, यदि समानसत्ताकत्व नहीं मानेंगे तो प्रातिभासिक व्याप्त्यादिगृहीत वाष्पाध्यस्त धूम से तात्त्विक या व्यावहारिक अग्नि की सिद्धि होने लगेगी, और व्यावहारिक व्याप्त्यादि विशिष्ट धूम से तात्त्विक अग्नि सिद्ध होगी, तथा व्यावहारिक अबाध से विश्व का और विरुद्धधर्माश्रयत्व होने से जीवेशभेद का तात्त्विक सत्त्व भी सिद्ध हो जायेगा।

समाधान – नहीं, क्योंकि आपके इस कथन से तो व्याप्त्यादिसमानसत्ताक अनुमेय पदार्थ सिद्ध हो – इतना ही इस आपत्ति का फलितार्थ हुआ; वह तो इष्ट ही है; कारण कि कहीं भी ब्रह्मभिन्न अत्यन्ताबाध्य पदार्थ नहीं है। और अनुमेयादि पदार्थ के व्याप्त्यादि के साथ समान सत्ताकत्व का यह नियम भी नहीं है; क्योंकि "पर्वतो वह्निमान् द्रव्यत्वात्" इत्यादिरूप से व्यभिचारी हेतु से साध्यवान् पक्ष में अनुमिति प्रमा देखने में आती है, और ध्वनिनिष्ठ ह्रस्वत्व दीर्घत्वादिधर्मविशिष्टत्व होने से व्यवहारकाल में बाध्यमान होते हुए भी नित्य विभु वर्णों से व्यवहार कालाबाध्यविषयिका शाब्दप्रमा होती है – ऐसी मीमांसकों की मान्यता है। गन्धप्रागभावविशिष्ट उत्पत्तिकालीन घट में तात्त्विक व्याप्त्यादिमान् पृथिवीत्व से भी अतात्त्विकगन्ध की अनुमिति देखी जाती है ("उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति" इस नियम के अनुसार उत्पत्तिकालीन घट में गन्ध प्रागभाव रहता है। और "यत्र पृथिवीत्वं तत्र गन्धः" यह व्याप्ति तात्त्विक अर्थात् यथार्थ है; इस तात्त्विक व्याप्तिमान् पृथिवीत्व हेतु से "उत्पत्तिकालीन घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्" इस प्रकार गन्धप्रागभाव विशिष्टघट में तत्कालावृत्ति अतात्त्विक गन्ध की अनुमिति देखने में आती है)। और मिथ्या प्रतिबिम्ब से तात्त्विक बिम्ब की अनुमिति भी दृष्ट है (जलं बिम्बोपाधिः

साध्यवति पक्षेऽनुमितिप्रमादर्शनात्; ध्वनिधर्मह्रस्वत्वदीर्घत्वादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतैरपि नित्यैर्विभुभिर्वर्णैः सत्या शाब्दप्रमितिः क्रियत इति मीमांसकैरभ्युपगमात्, गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तात्त्विकव्याप्त्यादिमताऽपि पृथिवीत्वेनातात्त्विकगन्धानुमितिदर्शनात्, प्रतिबिम्बेन च बिम्बानुमितिदर्शनात्। न च तत्रापि बिम्बरहितावृत्तित्वरूपा व्याप्तिस्तात्त्विक्येवेति वाच्यम्; एवं सत्यवृत्तिगगनादेरपि व्याप्यतापत्तेः। न च तत्र बिम्बपूर्वकत्वमेवानुमीयते; बिम्बव्यतिरेक-प्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपेणाप्रातिभासिकेन हेतुनेति वाच्यम्। प्रयुक्तत्वं हि न तज्जनक-जन्यत्वादिरूपम्; व्यतिरेकयोः परस्परं तदभावात्, किन्तु व्याप्यव्यापकभावः, तथा च बिम्बव्यतिरेकव्यापकव्यतिरेकप्रतियोगित्वं हेतुः, स चाकाशादौ व्यभिचार्येव। तस्मात्तत्र प्रतिम्बेनैव बिम्बानुमानम्, अनुमेयस्य लिङ्गव्याप्त्यादिसमानसत्ताकत्वनियमस्यापास्तत्वात। एतेन शब्देऽपि योग्यतासमानसत्ताकेन शब्दार्थेन भवितव्यम्, योग्यतावाक्यार्थयोः समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं वेदान्तवाक्यार्थो योग्यताबाधेऽप्यबाधितः स्यादिति परास्तम्। वेदान्तवाक्येऽखण्डार्थरूपवाक्यार्थाबाधरूपाया योग्यताया अप्यबाधाच्च। न च तथापि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रतिबिम्बवत्त्वात् आदर्शवत् इति)।

शंका — उस बिम्बानुमिति में भी प्रतिबिम्बरूप हेतु की बिम्बरहित में अवृत्तिरूपा व्याप्ति तात्त्विकी ही है (बिम्ब प्रतियोगिकाभावाधिकरणनिरूपित वृत्तित्वाभावरूपाव्याप्ति प्रतिबिंबनिष्ठा तात्त्विकी ही है; अर्थात् साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा व्याप्ति है)

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि — ऐसा मानने पर संयोगसमवायान्यतर संबन्ध से अवृति गगनादि की भी व्याप्यता होने की आपत्ति आयेगी (क्योंकि वह्न्यादि साध्याभाववदवृत्ति होने से गगनादि की वह्न्यादि साध्य में व्याप्यता होगी)।

शंका — उस बिम्बानुमिति में बिम्बपूर्वकत्व का ही अनुमान किया जाता है; बिम्बाभावप्रयुक्तभावप्रतियोगित्वरूप अप्रतिभासिक हेतु के द्वारा (जैसे — प्रतिबिम्बो बिम्बपूर्वकः बिम्बव्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगित्वात्, यद् यद्व्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगि, तत् तत्पूर्वकं यथादण्डादिव्यतिरेकप्रयुक्तं व्यतिरेकप्रतियोगिघटादिकं दण्डादिपूर्वकमिति)

समाधान — ऐसा न कहें, क्योंकि बिम्बव्यतिरेकप्रयुक्तत्व उस बिम्बव्यतिरेकरूप जनक से जन्यत्वादिरूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि दो व्यतिरेकों का (दो अभावों का) जन्य जनक भाव नहीं होता; किन्तु व्याप्यव्यापकभाव ही मानना होगा; तब तो बिम्बव्यतिरेकव्यापकव्यतिरेक प्रतियोगित्व हेतु हुआ, वह तो आकाशादि में व्यभिचारी ही है (क्योंकि बिम्बाभाव का व्यापकाभाव अवृत्तिगगनादि अभाव भी है, कारण कि गगनादि का अभाव केवलान्वयी है, उस अभाव का प्रतियोगित्व गगनादि में होने से उसमें हेतु है और बिम्बपूर्वकत्वसाध्य नहीं, अतः हेतु व्यभिचारी है)। इस कारण उक्तस्थल में अतात्त्विक प्रतिबिम्ब से ही तात्त्विक बिम्ब का अनुमान है, क्योंकि अनुमेय (साध्य) का लिंगव्याप्त्यादि के साथ समानसत्ताकत्व का नियम खण्डित हो चुका है। (साध्यसाधन का समानसत्ताकत्व खण्डित होने से — शब्द में भी योग्यता समानसत्ताक शब्दार्थ होना चाहिये, क्योंकि शब्दनिष्ठयोग्यता और वाक्यार्थ दोनों में समानसत्ताकत्वनियम है; अतः योग्यता का बाध होने पर भी वेदान्तवाक्यार्थ कैसे अबाधित हो सकता है — यह कथन भी खण्डित हुआ और वेदान्तवाक्य में अखण्डार्थरूप वाक्यार्थ की अबाधरूप योग्यता का भी बाध नहीं होता।

वेदान्ततज्ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे कथं तात्त्विकाद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम्; शब्दतज्ज्ञानतात्त्विकत्वं हि न विषयतात्त्विकत्वे तन्त्रम्; इदं रजतमित्यनाप्तवाक्यस्य तज्जन्यभ्रमस्य च त्वन्मते तात्त्विकत्वेऽपि तद्विषयस्यातात्त्विकत्वात्। न च ज्ञानप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं शुक्तिरूप्यज्ञाने दृष्टमिति प्रकृतेऽपि ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम्; प्रामाण्यमिथ्यात्वं हि न विषयमिथ्यात्वे प्रयोजकम्, भ्रमप्रमाबहिर्भूते निर्विकल्पके विषयबाधाभावात्, किन्तु तदभाववति तत्प्रकारकत्वादिरूपमप्रामाण्यमेव तथा, तच्च प्रकृते नास्त्येव। न चार्थाबाधरूपप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वादर्थस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम्; अबाधितार्थविषयत्वं हि यत्प्रामाण्यं तस्य मिथ्यात्वं प्रकृते नार्थबाधात्; तद्बाधकप्रमाणासम्भवात्, तस्य सर्वबाधावधित्वात्, किन्तु तद्विषयत्वरूपसम्बन्धबाधात्तथा। तथा चाबाधितार्थ-विषयत्वरूपप्रामाण्यमिथ्यात्वेऽपि नार्थो मिथ्या। विशिष्टस्यैकांशमिथ्यात्वेऽप्यपरांशसत्यत्वात्, यथा दण्डबाधनिबन्धनदण्डिपुरुषबाधेऽपि पुरुषो न बाधित एवेति।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वभङ्गः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — तो भी वेदान्त और वेदान्तजन्यज्ञान के प्रामाण्य का मिथ्यात्व होने पर तात्त्विक अद्वैत की सिद्धि कैसे होगी?

समाधान — ऐसा न कहें; कारण कि शब्द और शब्दजन्यज्ञान का तात्त्विक विषय के तात्त्विकत्व में तन्त्र अर्थात् समव्यापक नहीं, क्योंकि "यह रजत है" इस अयथार्थवक्ता के वाक्य और उस वाक्य से जन्य भ्रम का तुम्हारे (माध्व के) मत में तात्त्विकत्व होने पर भी उस वाक्य और ज्ञान का विषय अतात्त्विक होता है।

शंका — ज्ञान प्रामाण्य का मिथ्यात्व होने पर विषय का भी मिथ्यात्व होना शुक्तिरूप्यज्ञान में दृष्ट है, अतः प्रकृत में भी ज्ञानप्रामाण्य का मिथ्यात्व होने पर ब्रह्मरूप विषय का भी मिथ्यात्व होना चाहिये।

समाधान — यह कथन अनुचित है; क्योंकि प्रामाण्यमिथ्यात्व विषयमिथ्यात्व में प्रयोजक अर्थात् व्याप्य नहीं है, कारण कि तार्किक मत में भ्रम और प्रमा से बहिर्भूत निर्विकल्पकज्ञान में विषय का बाध नहीं होता; किन्तु तदभाववान् में तत्प्रकारकत्वादि रूप अप्रामाण्य ही विषयमिथ्यात्व में प्रयोजक है; वह अप्रामाण्य तो प्रकृत वेदान्तजन्य ब्रह्मज्ञान में है ही नहीं।

शंका — विषयाबाधरूप प्रामाण्य का मिथ्यात्व होने से विषय का भी मिथ्यात्व होना चाहिये।

समाधान — ऐसा भी न कहो; क्योंकि जो अबाधितार्थविषयत्वरूप प्रामाण्य है, उसका प्रकृत में मिथ्यात्व है, अर्थबाध से मिथ्यात्व नहीं; क्योंकि ब्रह्मरूपविषय का बाधक प्रमाण असम्भव है, कारण कि वह सर्वबाध की अवधि है अर्थात् निरधिष्ठान बाध असम्भव होने से सर्वबाधबुद्धि का ब्रह्म विषय है; किन्तु ब्रह्मविषयत्वरूप ब्रह्माकारवृत्तिनिष्ठ संबन्ध के बाध से प्रामाण्यमिथ्यात्व का व्यवहार है। अतः अबाधितार्थविषयत्वरूप प्रामाण्य का मिथ्यात्व होने पर भी ब्रह्मरूप विषय मिथ्या नहीं। ज्ञान विषयत्वविशिष्ट ब्रह्म के वैशिष्ट्यरूप संबन्धांश में मिथ्यात्व होने पर भी ब्रह्मरूपविशेष्यांश में सत्यत्व है; जैसे "दण्डी पुरुषः" इसमें दण्डबाधनिमित्तक दण्डिपुरुष का बाध होने पर भी पुरुष बाधित होता ही नहीं।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वभंगस्य राष्ट्रभाषानुवादः॥

१९: अथ प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वम्

किञ्च विपक्षबाधकसचिवमनुमानमपि प्रत्यक्षबाधकम्।

ननु एवमपि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्', 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते', 'शरमयं बर्हिर्भवति' इति श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्षं यथाक्रमं ''औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या'' इति स्मृतिरूपेण

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

किंच – विपक्षबाधक (हेतु और साध्य की व्यभिचार–शंका करने पर उसका बाधक अनुकूलतर्क) रूप सहायक अनुमान भी प्रत्यक्ष का बाधक है।

शंका – वैसा होने पर तो ''गड़ी हुई उदुम्बरशाखा को स्पर्श करके उद्गाता सामगान करे'' ''इन्द्रसंबन्धिनी ऋग् द्वारा गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान (पूजन) करें'' ''सोमारौद्र इष्टि में बर्हि (कुश) शरमय होना चाहिये'' इन तीनों श्रुतियों के ग्राहक प्रत्यक्ष को यथाक्रम ''उदुम्बरशाखा को सर्वांग वस्त्र से लपेटना चाहिये'' इस स्मृतिरूप सर्ववेष्टन श्रुति के अनुमान से (लघुचन्द्रिका में इस का अनुमान इस प्रकार दिया है—औदुम्बरीसर्ववेष्टनस्मृति: तादृशश्रुतिमूलिका, बाधकाभावे सति शिष्टगृहीतस्मृतित्वात्, या बाधकाभावे सति यदर्थकशिष्टगृहीता स्मृति:, सा तदर्थकश्रुतिमूलिका, यथा प्रत्यक्षश्रुतिमूलिका स्मृतिरिति), ''हे इन्द्र! आप कदाचित हिंसक न रहे हों, इस यागकर्ता यजमान के उपर प्रसन्न हों'' इस मन्त्रगत इन्द्रादि पदों के इन्द्राद्यर्थ प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिंग से इन्द्रशेषत्व के अनुमान से (लघुचन्द्रिका में अनुमान इस प्रकार है – उक्त सामर्थ्यं उक्तमन्त्रे इन्द्रशेषत्व बोधिकया श्रुत्या युक्तम्, उक्त सामर्थ्यत्वात्, यत् यन्निष्ठयदर्थप्रकाशनसामर्थ्यम्, तत् तन्निष्ठस्य तदर्थशेषत्वस्य बोधिकया श्रुत्या युक्तम्, प्रत्यक्षश्रुतिविनियुक्तमन्त्रादिसामर्थ्यवदिति), और चोदनादिलिंग अर्थात् विधिवाक्यसादृश्यरूप कुशश्रुति के अनुमान से (चन्द्रिका में यह अनुमान है— सोमारौद्रचरूयाग: श्रुतिबोधितबर्हिरंगक:, तादृशपौर्णमासविधिसदृशविधिकत्वात्, यत् श्रुतिबोधित–यदंगकयदीयविधिसदृशविधिकम्, तत् श्रुतिबोधिततदंगकम्, यथा ''एतद्ब्राह्मणानि पंचहवींसि यद्ब्राह्मणानीतराणीति प्रत्यक्षवचनातिदिष्टश्रुतिबोधितांगकमिति), इस प्रकार उक्त तीन अनुमानों से बाधित होने से सर्वमीमांसाशास्त्र खण्डित हो जायेगा। (मीमांसादर्शन, प्रथमाध्याय, तृतीयपाद, श्रुतिप्राबल्याधिकरण में श्रुतिविरुद्ध स्मृति प्रमाण है या नहीं – इस विचार में – ''औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या'' यह स्मृति ''औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्'' इस श्रुति के विरुद्ध है, क्योंकि स्मृति के अनुसार वस्त्र द्वारा समग्ररूप से वेष्टन करने पर श्रुतिविहित स्पर्श असम्भव है। इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि श्रुति के समान स्मृति भी प्रमाण है, उसको अप्रमाण कहना उचित नहीं। अनुमान द्वारा स्मृत्यनुकूल श्रुति की कल्पना करके कर्त्ता की इच्छानुसार उदुम्बरशाखा के वेष्टन और अवेष्टन में विकल्प करना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं ''विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'' (मी.द. १/३/३) अर्थात् उपलभ्यमान श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही प्रमाण है, स्मृति की उपेक्षा करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति अनपेक्ष स्वत: प्रमाण है और स्मृति का प्रामाण्य श्रुतिसापेक्ष है और जहां तुल्यबल नहीं होता, वहां विकल्प भी नहीं हो सकता। अत: उपलभ्यमान श्रुति से विरोध न होने पर ही स्मृति का प्रामाण्य है और उस स्मृति की मूलभूत श्रुति का भी अनुमान करना चाहिये। तथा – 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'' इत्यादि का विवरण ''जात्युपक्रमन्यायै: प्रत्यक्षप्राबल्यनिरास:'' प्रकरण में दे चुके हैं, वहां ही देखना चाहिये। मीमांसादर्शन, दशमाध्याय चतुर्थपाद, प्रथमाधिकरण में विचार किया गया है कि ''सोमारौद्रं चरूं निर्वपेत् कृष्णानां व्रीहीणामभिचरन्'' अर्थात् अभिचार करते हुए कृष्ण व्रीहियों के सौमरौद्रचरू का

सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानेन 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे' इति मन्त्रसामर्थ्यलक्षणेनेन्द्रशेषत्वश्रुत्यनुमानेन चोदनालिङ्गरूपेण कुशश्रुत्यनुमानेन च बाध्यत इति सर्वमीमांसोन्मृदिता स्यादिति चेत्, न, वैषम्यात्, तथा हि किमिदमापाद्यते, श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्षमनुमानैर्बाध्येतेति वा, प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयमिति वा। नाद्य:, विरोधाभावेन तद्बाध्यबाधकभावस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

निर्वपण करे – ऐसा विधान है, इस सोमरौद्रयाग में "शरमयं बर्हिर्भवति" इससे शरनामक कुशसदृशतृण आस्तरणादि के लिये उपदिष्ट है। किन्तु प्रकृतियाग में बर्हि (कुश द्वारा) आस्तरणादि करने का उपदेश है। इसमें "प्रकृतिवत् विकृतय: कर्तव्या:" इस न्याय से प्रकृति में उपदिष्ट कुश के सहित शर का समुच्चय होना चाहिये या नहीं – ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहते है कि "शरमयम्" इसमें मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में है, अत: अधिक शर मिलाकर कुशों से ही आस्तरणादि करना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं "चोदनालिंगसंयोगे तद्विकार: प्रतीयेत प्रकृतिसन्निधानात्" (मी. १०/४/२) अर्थात् विधि द्वारा प्रकृतियाग में आस्तरणादि जो बर्हिका कार्य दृष्ट होता है, उस आस्तरणादि कार्य के संबन्ध में शरमय बर्हि का विकृतियाग में विधान है, अत: यहां विकृति में प्रकृतियागर्थ विहित बर्हि का बाध समझना चाहिये; कारण कि वह प्रकृतियागीय कार्य से संबन्धित है। मयट् प्रत्यय भी यहां प्राचुर्यार्थ में नहीं किन्तु विकारार्थ में है, और शर का विकार बर्हि होना असम्भव है, इसलिये लक्षणा द्वारा यहां बर्हि का कार्य आस्तरणादि लेना चाहिये, इसलिये "शरमयं बर्हिर्भवति" का – बर्हि का कार्य भूत आस्तरणादि कार्य शर का विकार होना चाहिये–यह अर्थ है। अत: शर और बर्हि का यहां समुच्चय नहीं हो सकता। इस प्रकार इन उदाहरणों से पूर्वपक्षी द्वैतवादी यह कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्ताधिकरणों में प्रत्यक्षविषयश्रुतियों का अनुमानबाधकत्व कहा गया है, किन्तु वेदान्तिमत में मिथ्यात्वानुमान से सत्त्वप्रत्यक्ष का बाध होने पर उक्त स्मृतिहेतुक अनुमानों से उक्तश्रुतित्रयप्रत्यक्ष का बाध होगा यह अभिप्राय है। चन्द्रिका के तृतीयानुमान में "एतद्ब्राह्मणानि एव पंचहवींसि" इत्यादि का जो उदाहरण दिया गया है, उसका यह अभिप्राय है–चार्तुमास्य नामक याग में वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और मुनासीरीय – ये चार पर्व है। इनमें वैश्वदेवप्रकरण में आग्नेयाष्टकपाल, सौम्यचरू, सावित्रद्वादशकपाल, सारस्वतचरू, पौष्णचरू, मारुतसप्तकपाल, वैश्वदेवी आमिक्षा, और द्यावापृथिव्य एककपाल – ये आठ हविर्द्रव्यविहित है। और वरुणप्रघास नामक द्वितीय पर्व में पूर्वोक्त अष्टहविर्द्रव्यों में से प्रथम पांच हविर्द्रव्यों का अतिदेश द्वारा विधान करते है– "एतद्ब्राह्मणानि एव पंचहवींसि, यद्ब्रह्मणानि इतराणि" अर्थात् वरूणप्रघास में इन ब्राह्मणवाक्यों से विहित आग्नेयाष्टकपालादि पांच ही हविर्द्रव्यों का अतिदेश करना चाहिये, तथा "वार्त्रघ्नानि वा एतानि हवींषि" यह अर्थवाद ब्राह्मणवाक्य और "नवप्रयाजा इज्यन्ते नवानुयाजा:" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों को भी यहां अतिदेश से लाना चाहिये; ऐसे प्रत्यक्षवचन से अतिदिष्ट श्रुतिबोधित अंग है। इसका विचार मीमांसादर्शन ७/१/३ अधिकरण में किया गया है)।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि इसमें वैषम्य है। तथाहि – यहां आप क्या प्रतिपादन करना चाहते हैं, श्रुतित्रय का ग्राहक प्रत्यक्ष अनुमानों से बाधित होता है – ऐसा प्रतिपादन करना चाहते हो, अथवा प्रत्यक्ष विषयीभूत श्रुतित्रय अनुमानों से बाधित है। ऐसा कहना चाहते हो? आद्य पक्ष तो नहीं होगा, कारण कि विरोध के अभाव से उक्त श्रुतित्रय प्रत्यक्ष और उक्त स्मृति हेतुक अनुमानों में बाध्यबाधकभाव शास्त्र का अर्थ नहीं; (क्योंकि उक्तानुमान को उक्त श्रुति से बाधित

शास्त्रार्थत्वाभावात्, अस्माभिरनभ्युपगमाच्च, अनुक्तोपालम्भमात्रत्वेन निरनुयोज्यानुयोगापत्तेः। अत एव न द्वितीयः; प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयस्य लिङ्गबाधकत्वपरेऽपि शास्त्रे प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे विरोधाभावात्, न हि शब्दप्रत्यक्षयोरैक्यमस्ति; शब्दस्य च सर्वप्रमाणापेक्षया बलवत्त्वमवोचाम। तस्मान्मौढ्यमात्रमेतन्मीमांसाविरोधोद्भावनम्।

ननु प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे वह्न्यौष्ण्यप्रत्यक्षं शैत्यानुमानस्यात्मस्थायित्व–प्रत्यभिज्ञानञ्च क्षणिकत्वानुमानस्य बाधकं न स्यात्, प्रत्युतानुमानमेव तयोर्बाधकं स्यादिति चेत् । न, अर्थक्रियासंवादेन श्रुत्यनुग्रहेण च तत्र प्रत्यक्षयोः प्राबल्येनानुमानबाधकत्वात्। अपरीक्षितप्रत्यक्षं हि परीक्षितानुमानापेक्षया दुर्बलम्, "नीलं नभः" इति प्रत्यक्षमिव नभोनीरूपत्वानुमानापेक्षया, अतो न सामान्यतो दृष्टमात्रेण सर्वसङ्करापत्तिः।

नन्वेवं पशुत्वेन शृङ्गानुमानमपि स्यात्, लाघवात् पशुत्वमेव शृङ्गवत्त्वे तन्त्रम्, न तु तद्विशेषगोत्वादिकम्; अननुगतत्वेन गौरवादित्येतत्तर्कसध्रीचीनत्वेन प्रत्यक्षापेक्षया प्राबल्यात्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

करना शास्त्र का अर्थ है, कारण कि दोनों में विरुद्धविषयकत्व है, किन्तु श्रुतिप्रत्यक्ष से तो उक्तानुमान बाधित नहीं होंगे; क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष और उक्तानुमान में विरुद्धविषयकत्व नहीं)। और अनुमानाविरुद्ध प्रत्यक्ष को अनुमान से बाधित तो हम नहीं मानते (विरुद्ध विषयकप्रत्यक्ष को अनुकूलतर्कयुक्त अनुमान से बाधित मानते हैं)। इस प्रकार अनुक्तोपालम्भमात्र होने पर आपके ऊपर निरनुयोज्यानुयोग की आपत्ति आयेगी (अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थनाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः — न्या.द. ५/२/२३ — अर्थात् अनिग्रहस्थान में निग्रह स्थान का अभियोग लगाना निरनुयोज्यानुयोग नामक पराजय हेतुभूत निग्रह स्थान है) अतएव द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षविषयीभूत श्रुतित्रय अनुमानबाधकत्वपरक शास्त्र होने पर भी प्रत्यक्ष के अनुमानबाध्यत्व में विरोध का अभाव है। शब्द और प्रत्यक्ष में एकता नहीं, और सब प्रमाणों की अपेक्षा शब्द प्रमाण का बलवत्त्व पहले ही (जात्युपक्रमन्याय से प्रत्यक्षप्राबल्य निराकरण प्रसंग में) कह चुके है। इसलिये यहां मीमांसाविरोध का उद्भावन तो मौर्ख्यमात्र है।

शंका —प्रत्यक्ष का अनुमानबाध्यत्व होने पर "अग्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात् जलवत्" इस शैत्यानुमान का वह्न्यौष्ण्यप्रत्यक्ष बाधक नहीं होगा, तथा "सोऽहम्" इत्यादि आत्मस्थायित्वप्रत्यभिज्ञान "आत्मा क्षणिकः सत्त्वात् प्रदीपकलिकावत्" इस क्षणिकत्वानुमान का बाधक नहीं होगा, इसके विपरीत अनुमान ही दोनों का बाधक हो जायेगा।

समाधान — नहीं, क्योंकि अर्थक्रियासंवाद अर्थात् दाहादिकार्यरूप प्रयोजन सिद्ध होने से अग्न्योष्ण्यप्रत्यक्ष और नित्यत्वादि प्रतिपादकश्रुति से अनुगृहीत होने से "सोऽहम्" इत्यादि आत्मस्थायित्व प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष इन दोनों में प्राबल्य होने से शैत्यानुमान और क्षणित्वानुमान का बाधकत्व है। और अपरीक्षित प्रत्यक्ष तो परीक्षित अनुमान की अपेक्षा दुर्बल है, जैसे "नीलं नभः" यह प्रत्यक्ष "नभो नीरूपं विभुत्वात् आत्मवत्" इस अनुमान की अपेक्षा दुर्बल है इसलिये व्याप्तिरहित सामान्यतो दृष्टमात्र से सबमें संकरापत्ति नहीं होती।

शंका — इसी प्रकार से तो "शशः शृंगी पशुत्वात् गोवत्" इस रीति से पशुत्वहेतु से शृंग का अनुमान भी होगा; लाघव होने से पशुत्व ही शृंगवत्त्व में व्याप्य है; न कि पशुत्व का विशेष गोत्वादिक, कारण कि सब शृंगियों में अननुगतत्व होने से गौरव है — इस तर्क से सहायत्व होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षया उसका प्राबल्य है; क्योंकि अनुकूल तर्क सहायकत्व ही अनुमान में बल

अनुकूलतर्कसाचिव्यमेव ह्यनुमाने बलम्; एवञ्च येन केनचित् सामान्यधर्मेण सर्वत्र यत्किञ्चिदनुमेयम्। लाघवतर्कसाचिव्यस्य सत्त्वात्, तावतैव प्रत्यक्षबाधकत्वादिति व्यावहारिक्यपि व्यवस्था न स्यात्, न ह्यत्र प्रत्यक्षबाधादन्यो दोषोऽस्तीति चेत्, न, अयोग्यशृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षबाधस्यासम्भवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्केष्वाभासत्वस्य त्वयाऽपि वक्तव्यत्वेन व्यवस्थाया उभयसमाधेयत्वात्, न हि तर्काभाससध्रीचीनमनुमानं प्रमाणमिति केनाप्यभ्युपेयते; अत उपपन्नं सत्तर्कसचिवमनुमानं प्रत्यक्षस्य बाधकमिति।

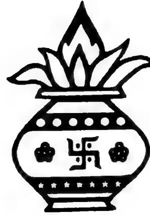
इति प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वसिद्धिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है। इसी प्रकार किसी न किसी एक सामान्य धर्म से सब स्थलों में कुछ न कुछ अनुमान करना चाहिये (जैसे — आकाशो रूपवान्, द्रव्यत्वात् जलवदित्यादि)। कारण कि लाघव तर्क सहायकत्व वर्तमान है ही; उतने मात्र से प्रत्यक्ष बाधकत्व भी सिद्ध होने से लौकिक व्यवहार की व्यवस्था ही नहीं होगी; यहां प्रत्यक्षबाध के अतिरिक्त अन्य कोई दोष तो नहीं।

समाधान — नहीं, क्योंकि ''शशोऽस्मदादिप्रत्यक्षायोग्यश्रृंगवान् पशुत्वात् देवपशुवदिति'' प्रत्यक्षायोग्य श्रृंगादि साधन में प्रत्यक्षबाध असम्भव होने से उस साधन में व्याप्तिग्राहक तर्कों में आभासत्व आपके द्वारा भी वक्तव्य होने से व्यवस्था का समाधान हम दोनों पक्षों को करना होगा। तर्काभाससहायक अनुमान प्रमाण है — ऐसा कोई भी नहीं मानता। अत: सत्तर्क सहायक अनुमान प्रत्यक्ष का बाधक सिद्ध हुआ।

इति प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वसिद्धे राष्ट्रभाषानुवादः।।



२०: अथ प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम्

किञ्च परीक्षितप्रमाणभावशब्दबाध्यमपि प्रत्यक्षम्।

ननु प्रत्यक्षं यदि शब्दबाध्यं स्यात्तदा जैमिनिना ''तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः'' इत्याद्यर्थवादस्य ''अदितिर्द्यौः'' इत्यादिमन्त्रस्य च दृष्टविरोधेनाप्रामाण्ये प्राप्ते ''गुणवादस्तु'' ''गुणादविप्रतिषेधःस्यात्'' इत्यादिना गौणार्थता नोच्येत। ''तत्सिद्धिजाति–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

किंच – जिनके प्रामाण्य परीक्षित हैं, वैसे शब्दों से भी प्रत्यक्ष बाध्य है।

शंका – यदि प्रत्यक्ष शब्दबाध्य होता तो जैमिनी को ''दिन में अग्नि का धूम ही दिखाई देता है, अग्निज्वाला दिखाई नहीं देती'' (तै.ब्रा. २/९/२) इस अर्थवाद के संबन्ध में ''गुणवादस्तु'' इस सूत्र से गौणवाद कहना न चाहिये था, तथा ''अदिति द्युलोक है, अदिति अन्तरिक्ष है'' (ऋ.वे. १/८९/१०) इत्यादि मन्त्र का दृष्टविरोध से अप्रामाण्य प्राप्त होने पर''गुणादप्रतिषेधः स्यात्'' अर्थात् गौणप्रयोग होने से विरोध नहीं, ऐसा भी कहना चाहिये था; इसी प्रकार तत्सिद्धि पेटिकाधिकरण में (१) तत्सिद्धि अर्थात् यजमानादि की कार्यसिद्धि जिससे होती है, उसको यजमानादिरूप से कहा जाना तत्सिद्धि है, जैसे ''यजमानः प्रस्तरः'' (तै.सं. २/६/५) यजमान प्रस्तर है अर्थात् कुशमुष्टि है, इत्यादि स्थल में तत्सिद्धि को लेकर प्रस्तर में यजमान शब्द का गौण प्रयोग है। (२) जाति अर्थात् एक ही स्थान से जन्म को लेकर गौण प्रयोग, जैसे ''अग्निर्वै ब्राह्मणः'' (तै.सं. ५/२/८) अर्थात् अग्नि ही ब्राह्मण है इत्यादि। अग्नि और ब्राह्मण की एक ही स्थान से उत्पत्ति को श्रुति ने इस प्रकार निर्देश किया – ''प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयमिति। स मुखतस्त्रिवृतं निरमीमीत। तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत। गायत्रीच्छन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनाम्। तस्मात्ते मुख्याः। मुखतो ह्यसृज्यन्तः। (तै.सं. २/६/३) अर्थात् प्रजापति ने कामना की कि प्रजाओं की सृष्टि करूँ। उसने अपने मुख से त्रिवृत्साम मन्त्रों का निर्माण किया; उसके बाद अग्नि देवता को उत्पन्न किया। इसी प्रकार गायत्री छन्द, रथन्तर नामक साममंत्र, मनुष्यों में ब्राह्मण और पशुओं में अज उत्पन्न किये; इसलिये वे मुख्य हैं, क्योंकि मुख से ही वे सब उत्पन्न किये गये। (३) सारूप्य अर्थात् तेजस्वित्वादि रूप सादृश्य में भी गौण प्रयोग होता है, जैसे –''आदित्यो यूपः'' (तै.ब्रा. २/१/५) यहां यज्ञीय पशुबन्धनस्तम्भरूप यूप घृतादि के लेपन से सूर्यसदृश उज्ज्वलताविशिष्ट है, अतः आदित्यशब्द का यूप में गौण प्रयोग है। (४) प्रशंसा अर्थात् अन्य की अपेक्षा किसी को अधिक प्रशंसा करना हो तो वहां शब्दों का गौण प्रयोग होता है, जैसे ''अपशवों वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः, पशवो गो अश्वाः'' (तै.सं. ५/२/९) अर्थात् गौ और अश्व से अतिरिक्त अन्य सब अपशु ही है, गौ और अश्व ही पशु है; यहां पर अपशु शब्द में पशु का लक्षणा से प्राशस्त्य अर्थ है और नञ् से उसका निषेध है; अन्य पशुओं में प्राशस्त्य गुण नहीं, गौ और अश्व में है–इस प्रकार प्रशंसापरक होने से अन्य पशुओं को अपशु कहना गौण है। (५) भूमा अर्थात् जहां किसी का आधिक्य या बाहुल्य होता है, वहां भी शब्दों का गौण प्रयोग होता है – जैसे – अग्नि चयन प्रकरण में इष्टिका (ईटों) के स्थापन के विषय में श्रुति है – ''सृष्टीरूपदधाति'' (तै.सं. ५/३/४) यहां ''सृष्टियों का उपधान (स्थापन) करें'' ऐसा अर्थ नहीं; किन्तु ''सृज्'' धातु का जिन मन्त्रों में बाहुल्य रूप से प्रयोग किया गया है, ऐसे ''एकया स्तुवते'' (तै.सं. ४/३/१०) इत्यादि सप्तदश मन्त्रों का विनियोगपूर्वक (उच्चारणपूर्वक) सप्तदश इष्टकाओं का उपधान करें, यह अर्थ है। इन सप्तदश मन्त्रों में से कुछ में तो ''सृज्''

सारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवायात्'' इति तत्सिद्धिपेटिकायां ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादेर्गौणार्थता च नोच्येत। त्वयापि प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वम्पदयोर्लक्षणा नोच्येत। श्रुतिविरोधे प्रत्यक्षस्यैवाप्रामाण्यसम्भवात्। न च तात्पर्यलिङ्गानामुपक्रमादीनामत्र सत्त्वान्नाद्वैतश्रुतीनाममुख्यार्थत्वमिति वाच्यम्। ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादावपूर्वत्वाद्येकैकलिङ्गस्य तात्पर्यग्राहकस्य विद्यमानत्वात्। एकैकलिङ्गस्य तात्पर्यनिर्णायकत्वे लिङ्गान्तरमनुवादकमेव, त्वन्मते प्रत्यक्षसिद्धे भेदे श्रुतिरिव, किम्बाहुल्येन इति चेत्, न, वाक्यशेषप्रमाणान्तरसंवादार्थक्रियादिपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन व्यवहारदशायामेव एतद्विरुद्धार्थग्राहिणो ''धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे'', ''अदितिर्द्यौः'' ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादेस्तद्विरोधेनामुख्यार्थ—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

धातु का प्रयोग नहीं, किन्तु अधिक मन्त्रों में प्रयोग है, उस बाहुल्य को लेकर लक्षणा द्वारा गौणवृत्ति से सप्तदश मन्त्रों का समुदाय जाना गया है। (६) लिंग समवाय अर्थात् किसी एक लिंग (ज्ञापक) के समवाय (सामीप्य) होने से उस ज्ञापक द्वारा समीपस्थ समुदाय अपने सहित जाना जाय तो ''छत्रिणो यान्ति'' जैसे उस शब्द का समुदायार्थ में गौण प्रयोग होता है, जैसे— ''प्राणभृत उपदधाति'' (तै.सं. ५/२/१०) इसका प्राणशब्दयुक्त मन्त्रों से इष्टकाओं का उपधान करे, यह अर्थ है। यहां पर प्रथम प्रस्ताव में पचास मन्त्र, द्वितीय प्रस्ताव में पांच मन्त्र और तृतीय प्रस्ताव में दश मन्त्र है। प्रत्येक प्रस्ताव के प्रथम मन्त्र में प्राण शब्द का प्रयोग है, उस प्राण शब्द को ज्ञापक मानकर स्वसहित समीपस्थ मन्त्रसमुदाय को गौण वृत्ति से प्राणभृत् शब्द से कहा गया है। और तत्सिद्धिपेटिका का अभिप्राय यह है कि तत्सिद्धि आदि गौणार्थक छः उदाहरण एक ही सूत्र में आने से यह सूत्र एक पेटिका (सन्दूक) समान हो गया, अतः इस सूत्र को लेकर इस अधिकरण का नाम है तत्सिद्धिपेटिकाधिकरण। मूल में दिये हुए ''तत्सिद्धि'' आदि सूत्र के अन्य में ''इति गुणाश्रयाः'' यह सूत्रशेष समझना चाहिये। अतः तत्सिद्धि – जाति–सारूप्य – प्रशंसा– भूमा – लिंगसहाय–ये सब गौणार्थ में आश्रित हैं–ऐसा तत्सिद्धिपेटिका में ''यजमानः प्रस्तरः'' आदि की गौणार्थता कहनी नहीं चाहिये थी। तुम्हारे मत से भी प्रत्यक्ष से अविरोध के लिये तत्त्वं पद की लक्षणा कहनी न चाहिये, क्योंकि श्रुति से विरोध होने पर प्रत्यक्ष का ही अप्रामाण्य संभव है। ऐसा भी न कहो कि तात्पर्य लिंग (ज्ञापक) उपक्रमादियों का प्रत्यक्षबाधकाद्वैत श्रुति में वर्तमानत्व होने से अद्वैतश्रुतियों का अमुख्यार्थत्व नहीं; (तात्पर्य ग्राहक लिंग यह है – उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।); क्योंकि ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादि में भी प्रस्तर और यजमान में अभेदादि का मानान्तर से अज्ञाततत्वरूप अपूर्वत्वादि एक–एक तात्पर्यग्राहक लिंग वर्तमान है। एक–एक लिंग में तात्पर्यनिर्णायकत्व होने पर लिंगान्तर तो अनुवादक है ही; तुम्हारे मत में प्रत्यक्षसिद्ध भेद में तत्प्रतिपादिका श्रुति जैसे अनुवादिका होती है; अधिक कहने से क्या लाभ?

समाधान – नहीं, क्योंकि वाक्यशेष अर्थात् विधिवाक्यरूप वाक्यशेष, प्रमाणान्तर का संवाद, अर्थक्रियाकारित्वादि परीक्षा से परीक्षित प्रत्यक्ष प्रबल होने से व्यवहारदशा में ही इस प्रत्यक्ष के विरुद्धार्थ को ग्रहण करने वाले ''धूम एवाऽग्नेर्दिवा ददृशे'' ''अदितिर्द्यौ'' ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादि वाक्यों का उस प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण, अमुख्यार्थत्व होने पर भी परमार्थाद्वैत प्रतिपादक आगम के परीक्षित प्रमाण से अविरोध होने से मुख्यार्थत्व की उपपत्ति है (यहां विधिवाक्यरूप वाक्यशेष को परीक्षा के अंगरूप से लेने का अभिप्राय यह है –

त्वेऽप्यद्वैतागमस्य परीक्षितप्रमाणविरोधाभावेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षादेर्हि परीक्षया व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रं सिद्धम्; तच्च नाद्वैतागमेन बाध्यते। बाध्यते तु तात्त्विकं प्रामाण्यम्, तत्तु परीक्षया न सिद्धमेव, अतो न विरोधः। ''धूम एवाग्नेः'' इत्यादेस्तु मुख्यार्थत्वे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं व्याहन्येत। अतो विरोधात्तत्रामुख्यार्थत्वमिति विवेकः। यत्तु प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वम्पदयोर्लक्षणा नाश्रीयेतेति तन्न; षड्विधलिङ्गैर्गतिसामान्येन चाखण्ड एवावधार्यमाणस्य तात्पर्यस्यानुपपत्तेर्जीवेशगतसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादीनामैक्यान्वयानुपपत्तेश्च तात्पर्यविषयीभूताखण्डप्रतीतिनिर्वाहायलक्षणाङ्गीकरणस्यैवोचितत्वात्, तात्पर्यविषयीभूतान्वयनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणस्य सर्वत्र दर्शनात्। न चैवं सत्यमुख्यार्थत्वं स्यादिति वाच्यम्; तद्धि प्रतीयमानार्थपरित्यागेनार्थान्तरपरत्वं वा अशक्यार्थत्वं वा? नाद्यः; सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानस्यैक्यस्यात्यागात्। नान्त्यः, जहदजलहल्लक्षणाश्रयणेन शक्यैकदेशपरित्यागेऽपि ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यादिवाक्य इव शक्यैकदेशस्यान्वया–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अर्थवादवाक्य का विधिवाक्य से विहित कर्मादि की प्रशंसा या निन्दादि में तात्पर्य रहता है, और उसी से विधिवाक्य के साथ उसकी एकवाक्यता होती है, अपने स्वार्थ प्रतिपादन में उसका तात्पर्य नहीं रहता; क्योंकि विधिवाक्य उसको स्वार्थ प्रतिपादन करने नहीं देता, अतः ''यजमानः प्रस्तरः'' आदि अर्थवादवाक्य स्वार्थ की दृष्टि से प्रत्यक्ष से दुर्बल होता है, इस बात को द्योतन करने के लिये परीक्षा के अंगो में विधिवाक्यरूप वाक्यशेष का समावेश किया गया है)। प्रत्यक्षादि का तो परीक्षा से व्यावहारिक प्रामाण्यमात्र सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष का वह व्यावहारिक प्रामाण्य अद्वैतागम से बाधित नहीं होता, किन्तु उसका तात्त्विक (पारमार्थिक) प्रामाण्य बाधित होता है; प्रत्यक्षगत वह तात्त्विक प्रामाण्य तो परीक्षा से सिद्ध ही नहीं होता; अतः अद्वैतागम से उसका विरोध नहीं। और ''अग्नि का धूम ही दिन में दिखाई पड़ता है'' इत्यादि का मुख्यार्थत्व मानने पर तो प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक प्रामाण्य व्याहत होगा। अतः विरोध होने से ''अग्नि का धूम ही'' इत्यादि में अमुख्यार्थत्व है – ऐसा विवेक है। जो आपने कहा था कि प्रत्यक्ष से विरोध न हो इस निमित्त तत् और त्वं पदों की लक्षणा का आश्रय लेना चाहिये (क्योंकि श्रुति प्रबल होने से प्रत्यक्ष बाधित हो ही जायेगा); वह ठीक नहीं, क्योंकि उपक्रमोपसंहरादि तात्पर्यग्राहक षड्विधलिंगे से और गतिसामान्य से अर्थात् सर्ववेदान्तजन्य ज्ञानों के तात्पर्य से जीवब्रह्मैकत्वविषयकत्व होने के कारण समानता होने से वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानाविषयरूप अखण्डार्थ में ही तत्त्वं पदों से अवधार्यमाण तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है और जीवेश्वरगत सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्वादि के ऐक्यबोध में भी अनुपपत्ति है; अतः तात्पर्यविषयीभूत अखण्डार्थ की प्रतीति के निर्वाह करने के लिये लक्षणा का अंगीकार करना ही उचित है; क्योंकि तात्पर्य विषयीभूत बोध के निर्वाह के लिये लक्षणा का आश्रय लेना सर्वत्र देखने में आता है। इस प्रकार लक्षणा का आश्रय लेने पर तो अमुख्यार्थत्व होगा – ऐसी बात नहीं; क्योंकि वह अमुख्यार्थत्व प्रतीयमान अर्थ का परित्याग करके अर्थान्तर परत्व है क्या, अथवा अशक्यार्थत्व? (शब्दनिष्ठ अभिधाशक्ति से बोध्यार्थ शक्यार्थ है, उससे विपरीत अशक्यार्थ है)। आद्य पक्ष नही होगा, कारण कि – सामानाधिकरण्य से (कार्यकारणभाव रहित द्रव्यमात्र में तात्पर्यक समान विभक्ति से प्रतिपाद्य नानानामत्व से) प्रतीयमान शुद्धव्यक्तिमात्ररूप ऐक्य का परित्याग नहीं हुआ है। अन्त्य पक्ष भी नहीं, क्योंकि जहदजहल्लक्षणा (भागत्याग लक्षणा) का आश्रय लेकर शक्यार्थ के एकदेश (विशेषणांश) का

भ्युपगमात्, विशेषणबाधेन विशेष्यमात्रान्वयस्यैवात्र लक्षणाशब्देन व्यपदेशात्। तथा चोक्तं वाचस्पतिमिश्रैः'प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्, अद्वैतवाक्यन्त्वनन्यशेषत्वान्मुख्यार्थमेव'। उक्तं हि शाबरभाष्ये 'न विधौ परः शब्दार्थ इति' इति। यथा चापूर्वत्वाद्येकैकतात्पर्यलिङ्गेन 'यजमानः प्रस्तरः' इत्याद्यर्थवादवाक्यानां न स्वार्थपरत्वं तथा वक्ष्यामः।

नन्वन्यशेषत्वानन्यशेषत्वे नामुख्यार्थत्वमुख्यार्थत्वयोः प्रयोजके, किन्तु मानान्तरविरोधाविरोधौ। अन्यशेषेऽपि मानान्तराविरोधे 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा' इत्यादौ लोके 'सोऽरोदीत्' इत्यादौ च वेदे प्रस्तरादिवाक्यवदमुख्यवृत्तेरनाश्रयणात्, अनन्यशेषेऽपि 'सोमेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

परित्याग होने पर भी जैसे "वही यह देवदत्त है" इत्यादि वाक्य में शक्य के एकदेश (विशेष्यांशो) का बोध होता है, वैसा ही तत्त्वं पद में शक्यैकदेश (विशेष्यरूपचेतनांश) का बोध अंगीकृत है ("सोऽयं देवदत्तः" इस वाक्य में "सः" का अर्थ तद्देशकालविशिष्ट देवदत्त है, और "अयम्" का अर्थ एतद्देशकालविशिष्ट देवदत्त है। इन दोनों में विरुद्ध विशेषण होने से ऐक्य नहीं हो सकता, अतः विरुद्ध विशेषणांश को त्याग कर अविरुद्ध विशेष्यांश देवदत्त पिण्ड मात्र का जैसा बोध होता है, वैसा ही "तत्त्वमसि" इस वाक्य में भी तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर चैतन्य और त्वं पद वाच्य अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट जीवचैतन्य, इन दोनों में विरुद्ध विशेषणांश का त्याग करके अविरुद्ध विशेष्यांश चैतन्य मात्र के ऐक्य का बोध हो सकता है)। यहां विशेषण के बाध से विशेष्यमात्र के बोध को ही लक्षणा शब्द से संबोधित किया गया है। जैसे कि वाचस्पतिमिश्र ने कहा है –"यजमानः प्रस्तरः" इत्यादि वाक्य अन्य (विधि) के अंग होने से अमुख्यार्थक है, "तत्त्वमसि" आदि अद्वैतवाक्य तो किसी अन्य का अंग न होने से मुख्यार्थक ही है"। इसी प्रकार शाबरभाष्य में भी कहा है –"विधि में अर्थात् विधायक अज्ञातज्ञापक वाक्य में प्रतीयमान से भिन्न शब्दार्थ तात्पर्य विषय नहीं" इति। और जिस रीति से अपूर्वत्वादि एक एक तात्पर्यलिंग से "यजमानःप्रस्तरः" इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का स्वार्थपरत्व नहीं, उस रीति से आगे आगमबाधोद्धार प्रकरण में कहेंगे।

शंका – अन्यशेषत्व अमुख्यार्थत्व का तथा अनन्यशेषत्व मुख्यार्थत्व का प्रयोजक नहीं, किन्तु मानान्तर का विरोध अमुख्यार्थत्व का और मानान्तर का अविरोध मुख्यार्थत्व का प्रयोजक है; क्योंकि अन्यशेष होने पर भी मानान्तर का अविरोध होने पर "यह गौ क्रययोग्या है, क्योंकि बहुत दूध देने वाली है" इत्यादि लौकिक वाक्य में "उसने रोया, रोने से रुद्र का रुद्रत्व है" इत्यादि वैदिक वाक्य "यजमानः प्रस्तरः" इत्यादि वाक्य के समान अमुख्यवृत्ति का आश्रय नहीं लिया गया है (लोक में –"इयं गौः क्रय्या" यह विधि है, और "बहुक्षीरा" यह अर्थवाद है; यहां "बहुक्षीरा" यह अर्थवाद क्रयविधि का शेष (अंग) होने पर भी मानान्तर के अविरोध से मुख्यार्थक है; तथा "बर्हिषि रजतं न देयं तस्य हिरण्यं दक्षिणा" (तै.सं. १/५/१/२) अर्थात् बर्हिनामक याग में रजत नहीं देना चाहिये उसकी दक्षिणा सुवर्ण होनी चाहिये – यह हिरण्यदक्षिणा की विधि है, और "सोऽरोदित् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्। तस्य यदश्रुशीर्यन्त तद्रजतम्" अर्थात् उस बर्हिः नामक अग्नि ने रोया, जो उसका रोना था, वह रुद्र का रुद्रत्व है और जो उसका अश्रु निकला था, वह रजत हुआ – यह उसका अर्थवाद है, इससे रजत की निन्दा करके हिरण्यदक्षिणा की प्रशंसा की गयी है। किन्तु यह अर्थवाद अन्यशेष होते हुए भी मानान्तराविरोध से मुख्यार्थक ही है – यह अभिप्राय है)। तथा अनन्यशेष होने पर भी "सोम से याग करें" इत्यादि विधि में

यजेत' इत्यादौ वैयधिकरण्येनान्वये विरुद्धत्रिकद्वयापत्त्या सामानाधिकरण्येनान्वये प्रत्यक्षा-विरोधाय च सोमवता यागेनेति मत्वर्थलक्षणाया आश्रयणात्। एवं विचारविधायके 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रे ''तद्विजिज्ञासस्व'' इति श्रुतौ च मानान्तराविरोधेन विध्यन्वयाय जिज्ञासाशब्देन विचारलक्षणाया: 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादौ चामुख्यार्थताया: स्वीकृतत्वात्, सर्वस्यापि वाक्यस्यावाच्ये ब्रह्मणि लक्षणाया एवेष्टत्वेनामुख्यार्थत्वनिषेधायोगाच्च, अन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा लक्षणाबीजस्य विध्यविधिसाधारणत्वाच्च। शाबरन्तु वचनमर्थवादमुख्यत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवम्परम्, तस्मान्न प्रत्यक्षं शब्दबाध्यमिति चेत्, न, भावानवबोधात्। तात्पर्यविषयीभूतार्थबोधकत्वं हि मुख्यार्थत्वम्, न शक्यार्थमात्रबोधकत्व-मन्यार्थतात्पर्यकत्वञ्चामुख्यार्थत्वम्; न लाक्षणिकत्वमात्रम्। तथा चाद्वैतागमस्य स्वतात्पर्य-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वैयधिकरण्य से सोम और याग का अन्वय करने पर विरुद्धत्रिकद्वयदोष की आपत्ति आने से और सामानाधिकरण्य से दोनों का अन्वय करने पर असम्भवरूप दोष प्रत्यक्ष होने से उस प्रत्यक्ष से अविरोध के लिये ''सोमवता यागेन'' इस प्रकार मतुप्प्रत्यय के अर्थ में लक्षणा आश्रय लिया गया है। (''सोमेन यजेत'' यह विधिवाक्य किसी का अंग नहीं, स्वतन्त्र है। इस में यदि ''सोमेन यागं भावयेत्, यागेन चेष्टं भावयेत्'' अर्थात् सोमरूप द्रव्य से याग करें और उस याग से इष्ट स्वर्गादि फल को प्राप्त करें – ऐसा वैयधिकरण्य अर्थात् सोम और याग में भिन्न भिन्न विभक्ति देकर अन्वय करे तो ''सोमेन यागं भावयेत्'', इस प्रथम वाक्य में कर्मकारकत्वेन याग उद्देश्य हुआ, सोमरूप साधन की अपेक्षा प्रधान भी हुआ, फिर ''किमर्थं यागं भावयेत्'' ऐसी आकांक्षा होने पर ''तेन यागेन स्वर्गं भावयेत्'' ऐसा उत्तर होने से वह अनुवाद्य (अनुवाद योग्य) भी हुआ। पुन: आकांक्षापूर्तिकारक द्वितीय वाक्य में वही याग स्वर्ग के लिये साधन होने से विधेय, उपादेय और गुण हुआ। इस प्रकार एक ही याग में उद्देश्यत्व, प्रधानत्व, अनुवाद्यत्व उद्देश्यगतधर्मत्रय तथा विधेयत्व, उपादेयत्व, गुणत्व विधेयगत धर्मत्रय आ गये, किन्तु यह त्रिकद्वय परस्पर विरुद्ध है; अत: वैयधिकरण्य से अन्वय होने पर विरुद्धत्रिकद्वय की आपत्ति है। इस दोष से निकलने के लिये, ''सोमेन यागेन इष्टं भावयेत्'' ऐसा सामानाधिकरण्य से मत्वर्थ में लक्षणा द्वारा, ''सोमवता यागेन स्वर्गं भावयेत्'' अर्थात् सोमसाधनयुक्त याग से स्वर्ग प्राप्त करें – ऐसा अर्थ है। अत: यहां पर लक्षणा का आश्रय है) इसी प्रकार ब्रह्मविचारविधायक ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इस वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र में, ''उसकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है'' इस श्रुति में विधिरूप से अन्वय करने के लिये जिज्ञासा पद की विचारार्थ में लक्षणा अंगीकृत है, तथा ''यह सब कुछ ब्रह्म है'' इत्यादि श्रुति में भी अमुख्यार्थ अंगीकृत है; और वेदान्त वाक्यों का भी अवाच्य ब्रह्म में लक्षणा ही इष्ट होने से अमुख्यार्थ का निषेध अयुक्त ही है। और अन्वयानुपपत्ति को चाहे लक्षणाबीज मानो या तात्पर्यानुपपत्ति को, वह बीज तो विधि और अविधि दोनों में साधारण है, ''न विधौ पर: शब्दार्थ:'' यह शबरमुनि का वाक्य तो – अर्थवाद को मुख्य सिद्ध करने के लिये विधि में लक्षणा नहीं होती – इसमें तात्पर्य रखता है। इसलिये प्रत्यक्ष शब्द से बाध्य नहीं।

समाधान – आप का यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि आप हमारे अभिप्राय को नहीं जान सके। स्वकीय तात्पर्यविषयीभूत वाक्यार्थ का बोधकत्व ही मुख्यार्थत्व है, शक्यार्थ मात्र का बोधकत्व नहीं, और अन्यार्थतात्पर्यकत्व अर्थात् स्वकीयतात्पर्याविषयीभूत वाक्यार्थ का बोधकत्व अमुख्यार्थत्व है, लाक्षणिकत्वमात्र नहीं। इसलिये अद्वैत प्रतिपादक आगम का स्वकीयतात्पर्यविषयीभूत

विषयीभूतार्थबोधकत्वनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणेऽपि मुख्यार्थत्वमुपपन्नमित्यवोचाम। एवञ्च 'सोमेन यजेत' इत्यादिविशिष्टविधेर्विशेषणे तात्पर्याभावान्मत्वर्थलक्षणायामपि स्वार्थापरित्यागाच्च नामुख्यार्थत्वम्। जिज्ञासापदे तु ज्ञाधातुनेष्यमाणज्ञानलक्षणाङ्गीकारानङ्गीकारमतभेदेऽपि सन्प्रत्ययस्य विचारे जहल्लक्षणाभ्युपगमस्योभयत्र तुल्यत्वात्। शक्यार्थपरित्यागेऽपिविधितात्पर्यनिर्वाहाद् नामुख्यार्थत्वम्। न हि वाक्यार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या पदमात्रे लक्षणायामपि वाक्यस्यामुख्यार्थत्वम्; प्रतीतस्यार्थस्यानन्यशेषत्वेन मुख्यत्वात्। यत्र पुनः प्रतीत एव वाक्यार्थोऽन्यशेषत्वेन कल्प्यते, तत्र वाक्यस्यामुख्यार्थत्वमेव। अन्यद्धि पदतात्पर्यमन्यच्च वाक्यतात्पर्यम्; 'सैन्धवमानय' 'गङ्गायां वसन्ति' इत्यादौ वाक्यतात्पर्ये—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वाक्यार्थ के अवबोधकत्व का निर्वाह करने के लिये लक्षणा का आश्रय लेने पर भी मुख्यार्थत्व उपपन्न होता ही है — ऐसा हम कह आये हैं (अतोऽद्वैतागमस्य लाक्षणिकत्वेऽपि मुख्यार्थत्वात् प्रत्यक्षबाधकत्वं सिद्धमिति)। और, इसी प्रकार "सोमेन यजेत" इत्यादि विशिष्टविधि (सोमवत्त्वविशिष्टयागविधि) का विशेषण में तात्पर्याभाव होने से (सोमरूप विशेषण में तात्पर्य होने पर विशिष्ट रूप मुख्यार्थ के त्याग होने का प्रसंग आने से) मतुबर्थलक्षणा आश्रित होने पर भी स्वार्थ न छोड़ने के कारण अमुख्यार्थत्व नहीं। जिज्ञासापद में तो ज्ञाधातु की इष्यमाण ज्ञान में लक्षणा के अंगीकार और अनंगीकार में मतभेद होने पर भी, सन्प्रत्यय की विचार में जहल्लक्षणा का अंगीकार दोनों पक्षों में तुल्य होने से सन्प्रत्यय के इच्छारूप शक्यार्थ का परित्याग होने पर भी विधि का तात्पर्य निर्वाह होने से अमुख्यार्थत्व नहीं होता। (अभिप्राय यह है कि ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा — इसमें ज्ञानार्थक ज्ञाधातु में इच्छा के अर्थ में सन्प्रत्यय किया गया है; और इच्छार्थक सन्प्रत्यय का लक्षणा से विचाररूप अर्थ लिया। तब ज्ञाधातु मात्र अवशेष रह जाता है, और उसका अर्थ करने में आचार्यो में मतभेद है। क्योंकि सन्प्रत्यय का लक्षणा से विचारार्थ करने के बाद "ब्रह्मजिज्ञासा" का अर्थ "ब्रह्मज्ञान के लिये विचार करना चाहिये" होता है, उसमें ब्रह्मज्ञान साध्य है और विचार साधन है। लोक में देखने में आता है कि इष्यमाण (इच्छाविषयीभूत) वस्तु को प्राप्त करने के लिये ही साधन सम्पादित किया जाता है; अतः यहां ज्ञाधातु का अर्थ ज्ञान भी साध्य होने से इष्यमाण होना चाहिये, वह तब ही हो सकता है, जब ज्ञा धातु का लक्षणा से इष्यमाण ज्ञान अर्थ किया जाय। दूसरे आचार्य कहते हैं कि साध्य इष्यमाण ही होना चाहिये — यह कोई नियम नहीं, क्योंकि साधन उपस्थित होने पर यह साधन किस लिये है — ऐसी आकांक्षा स्वतः ही उत्पन्न होती है, उस आकांक्षा की पूर्त्ति के लिये साध्य भी स्वतः उपस्थित होता है। अतः "विचार करना चाहिये" इस विधि से साधन रूप विचार उपस्थित होने पर इच्छा का विषय न होने पर भी साध्य ज्ञान स्वतः ही प्राप्त होगा, उसके लिये लक्षणा द्वारा ज्ञान में इष्यमाणत्व लाने की कोई आवश्यकता नहीं)। वाक्यार्थ प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से पदमात्र में लक्षणा होने पर भी वाक्य का अमुख्यार्थत्व नहीं होता, क्योंकि उससे प्रतीत अर्थ अन्यशेष न होने से मुख्य ही होता है। और जहां प्रतीत वाक्यार्थ ही अन्यशेषत्व रूप से कल्पित होता है, वहां वाक्य अमुख्यार्थक ही है। निश्चय ही पदतात्पर्य अन्य है और वाक्यतात्पर्य अन्य हैं; क्योंकि "सैन्धव लाओ" "गंगा में रहते है" इत्यादि में वाक्यतात्पर्य में ऐक्य होने पर पदतात्पर्य में भेद अर्थात् विलक्षणत्व है ("सैन्धव लाओ" यह एक सामान्य वाक्य है, सैन्धव का अर्थ लवण और अश्व होते हैं, इस वाक्य को भोजन के समय कहे तो लवण जाना जाता है और यात्रा के समय कहे तो अश्व। अतः किसी विशेष अवसर

क्येऽपि पदतात्पर्यभेदात्, 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादौ पदतात्पर्याभेदेऽपि वाक्यतात्पर्यभेदात्। अत एव "इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा" इत्यादिवाक्यार्थस्यावश्यं क्रेतव्येति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात्, 'सोऽरोदीत्' इत्यादिवाक्यार्थस्य च 'वर्हिषि रजतं न देयं हिरण्यं दक्षिणा' इति विधिशेषत्वेन रजतनिन्दाद्वारा तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" इति वाक्यार्थस्य 'शान्त उपासीत' इति शमविधिशेषत्वेनात्यनायाससिद्ध–त्वरूपतत्प्राशस्त्यलक्षकत्वादमुख्यत्वमेव। अत एव मानान्तरविरोध एव लक्षणेत्यपास्तम्। 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा' इत्यादिना प्राशस्त्यलक्षणायां व्यभिचारात्। किन्तु परमतात्पर्य–विषयीभूतार्थप्रतीतिनिर्वाहायैव सर्वार्थवादेषु लक्षणा। एतावांस्तु विशेषः विधिप्राशस्त्ये लक्षणातः प्राग्यदर्थवादवाक्यार्थज्ञानम्, तस्य प्रमाणान्तरविरोधे बाध एव; यथा 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्' इत्यादौ। अत एव तत्र गुणवादमात्रम्, प्रमाणान्तरप्राप्तौ त्वनुवादमात्रम्, 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादौ। अत एव तदुभयत्राबाधिताज्ञातज्ञापकत्व–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पर लवणत्वादिविशिष्ट घटित जो वाक्यार्थ होता है, वह तत्कालिक शाब्दबोध से पहले ज्ञात नहीं हो सकता, अतः वह सामान्य वाक्यतात्पर्य में घटित नहीं किन्तु सैन्धवपदार्थत्वेन सामान्यरूप से लवणादिघटित जो वाक्यार्थ होता है, उससे घटित वाक्यतात्पर्य होता है, वह लवण–अश्वपदार्थद्वयसाधारण प्रमाजननोपयोगी एक ही वाक्यतात्पर्य है, किन्तु पदतात्पर्य तो लवण–अश्वभेद से विलक्षणत्व होता है। इसी प्रकार "गंगा में रहते है" इसमें समझना चाहिये)। और "विष खाओ" इत्यादि विषरूपपदतात्पर्य में अभेद होने पर भी वाक्यतात्पर्य में भेद (विलक्षणत्व) है (क्योंकि किसी विषग्रस्त रोगी को "विष खाओ" ऐसा कहने पर औषधिरूप से वह विष इष्टसाधनत्वेन जाना जाता है और शत्रु घर में भोजन प्रसक्त होने पर "विष खाओ" कहे तो शत्रुगृह में भोजन करना अनिष्ट साधन समझा जाता है। अतः वाक्यतात्पर्य में भेद है, पदतात्पर्य में नहीं) अत एव "यह गौ क्रय योग्या है क्योंकि बहुक्षीरा है" इत्यादि वाक्य का "अवश्य क्रय करना चाहिये" इस विधि के अंगत्वरूप से गौ के प्राशस्त्य का लक्षकत्व होने से अमुख्यत्व ही है; इसी प्रकार "सोऽरोदीत्" इत्यादि वाक्यार्थ का भी "बर्हिषि, रजतं न देयम्, तस्य हिरण्यं दक्षिणा' इस विधि के अङ्गत्वेन रजतनिन्दा द्वारा हिरण्यप्राशस्त्य के लक्षकत्व होने से अमुख्यत्व है; तथा "यह सब कुछ ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म से ही उसकी उत्पत्ति है, ब्रह्म से उसकी स्थिति है और ब्रह्म में ही उसका लय है" इस वाक्य का "शान्त होकर उपासना करें" इस शमविधि के अङ्गत्वेन सब को ब्रह्म समझने के कारण लोभ के अन्यकारण न रहने से अति सरलता से सिद्धरूप शमप्राशस्त्य का लक्षकत्व होने से अमुख्यत्व ही है। इस प्रकार पूर्वोक्त हेतुओं से – मानान्तर विरोध होने पर लक्षणा होती है – यह कथन निरस्त हुआ। क्योंकि "इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा" इत्यादि वाक्यों का प्राशस्त्यलक्षणा में व्यभिचार है (क्योंकि उसमें मानान्तर विरोध नहीं) किन्तु परमतात्पर्यविषयीभूत अर्थ की प्रतीति के निर्वाह के लिये ही सब अर्थवादों में लक्षणा है, उसमें इतना विशेष है – विधि के प्राशस्त्य में लक्षणा करने के पहले अर्थवाद वाक्यों का अर्थज्ञान होना चाहिये; उस अर्थज्ञान का प्रमाणान्तर विरोध होने पर बाध ही है; जैसे "प्रजापति ने अपनी वपा को उखाड़ा" इत्यादि अर्थवाद में बाध है; अतएव उसमें गुणवादमात्र है अर्थात् गौणार्थ घटित वाक्यार्थबोधकत्व मात्र है और प्रमाणान्तर की प्राप्ति होने पर तो अनुवादमात्र है, जैसे "अग्नि शीत की औषधि है" इत्यादि में। अत एव अर्थात् गुणवाद में

रूपप्रामाण्यानिर्वाहादप्रामाण्यम्। यत्र पुनः प्रमाणन्तरप्राप्तिविरोधौ न स्तस्तत्र प्रामाण्यशरीर–निर्वाहाद् भूतार्थवादत्वम्। यथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादौ, अयमेव देवताधि–करणन्यायः।

ननु तर्हि ''आदित्यो यूपः'' इत्यादौ वाक्यार्थप्रतीत्यर्थमेव लक्षणाङ्गीकारादमुख्यार्थत्वं न स्यात्, न स्याद्यद्यादित्यसदृशो यूप इति वाक्यार्थपर्यवसानं स्यात्, किन्तु गुणवृत्त्या प्रतीतस्यापि वाक्यार्थस्य 'यूपे पशुं बध्नाति' इति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वमस्त्येव, तेनैवामुख्यत्वं न त्वादित्यपदगौणतयेति तत्सिद्धिपेटिकायां सर्वोदाहरणेष्ववान्तरवाक्यार्थ–प्रतीतये गुणवृत्तिप्रकाराः प्रदर्शिता इति द्रष्टव्यम्। कर्मप्राशस्त्यलक्षणा च सर्वार्थवादसाधारणी तत्रास्त्येवेति नामुख्यार्थत्वानुपपत्तिः। अत उपपन्नं प्रस्तरादिवाक्यवैषम्यमद्वैतवाक्यस्य। यच्चोक्तमर्थवादमुख्यार्थत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरं शबरस्वामिवचनमिति, तन्न, अश्वप्रतिग्रहेष्टौ 'प्रतिगृह्णीयात्' इति विधौ प्रतिग्राहयेदिति व्यवधारणकल्पनयाऽर्थवादानुसारेण

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रमाणान्तरविरोध और अनुवाद में प्रमाणान्तर की प्राप्ति होने से ही उन दोनों में क्रम से अबाधितत्व और अज्ञातज्ञापकत्व रूप प्रामाण्य के अनिर्वाह के कारण अप्रामाण्य है। जहां फिर प्रमाणान्तर की प्राप्ति और विरोध नही है, वहां प्रामाण्य शरीर का निर्वाह होने से भूतार्थवादत्व अर्थात् यथाश्रुत वाक्यार्थ प्रमापकत्व है; जैसे "इन्द्र ने वृत्र को वज्र से मारा" इत्यादि में; यह भूतार्थवाद ही उत्तरमीमांसा का देवताधिकरण न्याय है (वेदान्तदर्शन १/३/२६–३३ सू., का नाम देवताधिकरण है। अर्थवादों का मुख्यतात्पर्य विधि के प्राशस्त्य में है, और प्राशस्त्य ज्ञान में द्वार अर्थवादों का वाक्यार्थ है – यदि वह वाक्यार्थ प्रमाणान्तर का संवादी भी नहीं, और विसंवादी भी नहीं है तो, उसी से बोधित देवताविग्रहादि को भी मानना चाहिये, जैसे –"इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" इत्यादि भूतार्थवाद में प्रतिपादित इन्द्रादि का विग्रह – इस प्रकार इस अधिकरण में निर्णय किया गया है। अतः इसको देवताधिकरणन्याय कहा जाता है)।

शंका – तब तो "आदित्य यूप है।" इत्यादि में वाक्यार्थ प्रतीति के लिये ही लक्षणा का अंगीकार होने से अमुख्यार्थत्व न होगा।

समाधान – न हो, यदि आदित्य सदृश यूप है – ऐसा वाक्यार्थपर्यंवसान हो तो, किन्तु यहां तो गौणवृत्ति से प्रतीत वाक्यार्थ का "यूप में पशु को बाधना चाहिये" इस विधि के अङ्गत्वेन उसके प्राशस्त्य का लक्षकत्व है ही, इस प्रकार अन्यशेषत्वेन अमुख्यार्थत्व है; आदित्यपद की गौणता से तो नहीं। तत्सिद्धिपेटिका में आए सर्व उदाहरणों में अवान्तर वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये गौणवृत्तियों का प्रकार प्रदर्शित हैं – ऐसा समझना चाहिये (और सर्वार्थवादसाधारणी कर्मप्राशस्त्यलक्षणा तो "आदित्यो यूपः" इसमें है ही, अतः अमुख्यार्थत्व की अनुपपत्ति नहीं। इसलिये "यजमानः प्रस्तरः" इत्यादि वाक्यों से अद्वैतवाक्य का वैषम्य है। "न विधौ परः शब्दार्थः" इस विषय में जो आपने कहा था कि अर्थवाद का मुख्यार्थत्व करने के लिये विधि में लक्षणा नहीं होनी चाहिये – यही अभिप्रायपरक शबर स्वामी का वचन है–वह आप का कथन ठीक नहीं, कारण कि अश्वप्रतिग्रहेष्टि में "प्रतिगृह्णीयात्" इस विधि में "प्रतिग्राह्येत्" ऐसा व्यवधारण (हेतुकर्तृव्यापार अर्थात् प्रेरक के व्यापार से घटित वाक्यार्थ तात्पर्य) की कल्पना करके अर्थवादानुसार प्रयोजक (प्रेरक) के व्यापार की लक्षणा का अंगीकार किया गया है (मीमांसादर्शन, तृतीयाध्याय, चतुर्थपाद, पंचदशाधिकरण में इसका विचार आया

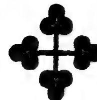
प्रयोजकव्यापारलक्षणयाऽङ्गीकरणात् तस्माद्विधौ तात्पर्यवति वाक्ये प्रतीयमानवाक्यार्थातिरिक्तोऽन्यः शेषी नास्तीत्येवंपरमेव तद्वचनम्। अतः सिद्धमद्वैतागमस्य लाक्षणिकत्वेऽपि मुख्यार्थत्वात् प्रत्यक्षबाधकत्वमिति शिवम्।

इति प्रत्यक्षस्याऽऽगमबाध्यत्वम्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है –''प्रजापतिर्वरुणायाऽश्वमनयत्, स स्वां देवतामार्च्छत्, स पर्यदीर्यत, स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तन्निरवपत्, ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत, वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्, वरुणमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं वरुणपाशान्मुंचति'' (तै.सं. २/३/१२/१) अर्थात् 'प्रजापति ने वरुण के लिये अश्व दान किया, उसी से प्रजापति को जलोदर रूप से वरुण देवता मिला, अर्थात् दान देने के बाद उनको जलोदर रोग हो गया, उसी से दुःखी होते हुये प्रजापति ने चतुष्कपालपुरोडाशद्रव्यक वरुणदेवताकयाग को देखा, उसी से वरुण का यागानुष्ठान किया, और उसी याग से वह वरुणपाशरूप रोग से मुक्त हो गया, वरुण उसको जलोदर करता है, जो अश्व को (प्रतिगृह्णाति) दान करता है, जितने अश्व (प्रतिगृह्णीयात्) दान करे, उतने वारुण चतुष्कपाल का निर्वपण करें, उसी से तृप्त वरुण उसको अपने पाश से मुक्त करते हैं। यहां पर अश्वदान वैदिकदान समझना चाहिये लौकिक नहीं क्योंकि ''वडवा दक्षिणा'' (तै.सं. १/८/२१) इत्यादि से यागदक्षिणारूप से दिया हुआ अश्व ही जाना जाता है। अतः इसके पूर्वाधिकरण में यह निर्णीत हो चुका है। उपरिकथित इस श्रुति में ''योऽश्वं प्रतिगृह्णाति, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्'' यह अंग विधिवाक्य है ''प्रजापतिर्वरुणाय'' इत्यादि अर्थवाद है। विधिवाक्य में ''प्रतिगृह्णाति'' ''प्रतिगृह्णीयात्'' अर्थात् जो अश्व दान लेता है जितने अश्व लेता है।'' इसी से ज्ञात होता है कि अश्वदान ग्रहण कर्ता को ही वारुण याग करना चाहिये। किन्तु अर्थवाद वाक्य में तो अश्वदान दाता प्रजापति ने ही वारुणयाग किया, ऐसा कहा गया है; अतः उपक्रमन्याय से असंजातविरोधित्वेन अर्थवाद के अनुसार ''प्रतिगृह्णाति'' के स्थान में ''प्रतिग्राह्यति'' तथा ''प्रतिगृह्णीयात्'' के स्थान में ''प्रतिग्राह्येत्'' समझना चाहिये, ऐसा निर्णय किया गया है) अतः अर्थवाद को मुख्यार्थक बनाने के लिये विधि वाक्य में भी लक्षणा संभव होने से विधि में अर्थात् तात्पर्यवान् वाक्य में जो प्रतीयमान वाक्यार्थ है, उससे अतिरिक्त अन्य शेषी अर्थात् अंगी नहीं – यह अभिप्रायपरक शबर मुनि का वचन है। अतः अद्वैतागमका लाक्षणिकत्व होने पर भी मुख्यार्थत्व होने से प्रत्यक्षबाधकत्व है – यह सिद्ध हुआ। इति शिवम।

इति प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



२१: अथापच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः

किञ्चापच्छेदन्यायेनाप्यागमस्य प्राबल्यम्। यथा हि ''पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्'' (मी.द. ६/५/५४) इत्यधिकरण उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन परेण प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्यपूर्वसिद्धनिमित्तकस्य बाध इति स्थितम्, तथेहा—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसके अतिरिक्त – अपच्छेद न्याय से आगम का प्रत्यक्ष से प्राबल्य है। जैसे कि ''अपच्छेद निमित्तक विरुद्ध प्रायश्चित्तद्वय–एक पूर्व में और दूसरा पश्चात्भावी, होवे तो परनैमित्तिककर्म की अपेक्षा पूर्वनैमित्तिक कर्म दुर्बल है, जैसे, विकृतिकर्म की अपेक्षा प्रकृतिकर्म दुर्बल होता है।'' इस अधिकरण में उद्गाता के अपच्छेदनिमित्तक पश्चाद्भावी अदक्षिणयाग से प्रतिहर्ता के अपच्छेदनिमित्तक पूर्वसिद्ध सर्वस्वदक्षिणयाग का बाध है–ऐसा स्थित है। (ज्योतिष्टोम प्रकरण में प्रसंग आया है कि हविर्धान नामक मण्डल में कलस के अन्दर रखे हुए पवमान सोम (सोमलता से रस निकालने के बाद छान कर रखे हुए सोमरस को पवमान कहते हैं) की स्तुति के लिये यज्ञमण्डप से बाहर यजमान सहित ऋत्विग्गण को जाना पड़ता है, उसमें पिपीलिका के समान पंक्तिबद्ध होकर क्रम से एक के पीछे एक जाना होता है और आगे आगे वाले के कच्छ को भी पीछे वाले को पकड़ना पड़ता है। उसका क्रम इस प्रकार है – सबसे पहले अध्वर्यु और उसके बाद क्रम से प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता, ब्रह्मा, यजमान और सबसे पीछे प्रशास्ता। कदाचित् किसी कारणवश किसी के द्वारा पकड़े हुए कच्छ को छोड़ दिया तो उसके लिये प्रायश्चित्त कर्मो का विधान किया गया है। प्रकृत में दो के द्वारा क्रम से कच्छ छोड़ दिये जायें तो कौन सा प्रायश्चित कर्म करना चाहिये उसके संबन्धमें विचार है। श्रुति में लिखा है कि – ''यदि प्रस्तोता अपच्छिन्द्यात् ब्रह्मणे वरं दद्यात्, यदि प्रतिहर्त्ता सर्ववेदसं दद्यात्, यद्युद्गाता अदक्षिण यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत्, यत्र तद्दद्यात् यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यादिति'' अर्थात् यदि प्रस्तोता अध्वर्यु के कच्छ को छोड़ दे तो ब्रह्मा को वर देवे, यदि प्रतिहर्ता उद्गाता के कच्छ को छोड़ दे तो उस यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा के रूप में देवे। यदि उद्गाता प्रस्तोता के कच्छ को छोड़ दे तो उस यज्ञ को दक्षिणा रहित समाप्त कर के पुन: उसी यज्ञ को करे और पहले यज्ञ में जो कुछ दक्षिणारूप में देना था, उसको उस यज्ञ में दक्षिणारूप से देवे। प्रकृत में उदाहृत अधिकरण से अव्यवहित पूर्वाधिकरण में यह निर्णय हो चुका है कि उद्गाता और प्रतिहर्त्ता दोनों ने युगपत् अपच्छेद (कच्छ को छोड़ना) किया तो दक्षिणारहित और सर्वस्वदक्षिण याग परस्पर विरुद्ध होने से दोनों में से विकल्प करके एक का अनुष्ठान करें। अब विचार होता है कि – अपच्छेदद्वय युगपत् न होकर क्रमिक हो जाय तो कौन सा नया प्रायश्चित्त करें। मान लें कि प्रतिहर्त्ता ने प्रथम अपच्छेद किया और बाद में उद्गाता ने; इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रथम उपस्थित होने के कारण प्रतिहर्ता के अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणयागरूप प्रायश्चित्त करना चाहिये–ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती उत्तर देते है कि पौर्वापर्य होने पर पूर्वप्रायश्चित्त परप्रायश्चित्त की अपेक्षा दुर्बल है, कारण कि जिस समय पूर्वापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्त ज्ञान होता है, उस समय उत्तरापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित उत्पन्न हुआ नहीं, अनुत्पन्न ज्ञान को प्रथमोत्पन्न ज्ञान बाधित नहीं कर सकता; किन्तु उत्तरज्ञान तो पूर्वज्ञान को बाधित करके ही उत्पन्न होता है। अत: प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिण याग को बाधित करके उद्गात्रपच्छेदनिमित्तक अदक्षिणयाग का ही अनुष्ठान करना चाहिये; जैसे, पूर्वभावी प्रकृतियाग में विहित कर्मों को बाधित करके उत्तरभावी विकृतयाग में

प्युदीच्यागमेन पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य बाधः।

ननु प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्य प्रतिहर्तृमात्रापच्छेदे, युगपदपच्छेदे, क्रमेणापच्छेदेऽपि प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य पाश्चात्यत्वे चावकाश इति युक्त उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन बाधः, अन्यथा 'यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्ववेदसं दद्यात्' इति शास्त्रमप्रमाणं स्यात्। अत एव 'विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात्' (मी. द.६/५/५१) इत्यधिकरणे द्वयोर्युगपदपच्छेदे विकल्प उक्तः। किञ्च 'यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद् यथेतरस्मिन्' (मी. द. ६/५/५५) इत्यधिकरण उद्गात्रपच्छेदस्य प्रतिहर्त्रपेच्छदात् परत्वे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तं पूर्वं प्रयोगं दक्षिणाहीनं सम्पाद्य कर्तव्यज्योतिष्टोमस्य द्वितीयप्रयोगे 'तद् दद्याद्यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्' इति श्रुत्युक्ता या दक्षिणा सा पूर्वभाविप्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकपूर्वप्रयोगस्थसर्वस्वदित्साया अबाधेन सर्वस्वरूपैव, न तु या ज्योतिष्टोमे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विहित कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है)। उसी प्रकार से यहां भी उत्तरभावी आगम से पूर्वसिद्ध प्रत्यक्ष का बाध होता है।

शंका — प्रतिहर्ता के अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिण याग के प्रतिहर्ता मात्र से होने वाले अपच्छेद में, एककालावच्छेदेन दो के अपच्छेद में और क्रम में अपच्छेद होने पर भी प्रतिहर्ता के अपच्छेद के पश्चाद्भावित्व दशा में अवकाश प्राप्त होने से उद्गाता के अपच्छेदनिमित्तक अदक्षिणयाग से बाध तो उचित ही है; सावकाशत्व का अभाव होने पर भी सर्वस्वदक्षिणयाग का बाध्यत्व होने पर तो "यदि प्रतिहर्ता कच्छ से अपच्छेद करे तो उस याग में सर्वस्वदक्षिणा देवे" यह शास्त्र अप्रमाण होगा; इसलिये "उन युगपत्प्राप्त प्रायश्चित्तों में परस्पर विरोध होने से विकल्प होना चाहिये", इस अधिकरण में प्रतिहर्ता और उद्गाता दोनों के द्वारा युगपत अपच्छेद करने पर विकल्प करने को कहा गया है; अर्थात् कुछ अवकाश दिये बिना शास्त्र को बाधित मानना अनुचित होने से। इसके अतिरिक्त "यदि उद्गाता जघन्य अर्थात् पश्चाद्भावी अपच्छेद का निमित्त हो जाय तो पुन: जो यज्ञ करना है, उस यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा के रूप में देवें, जो प्रतिहर्ता द्वारा किये हुए अपच्छेद से अनुष्ठेय याग में देना था" इस अधिकरण में उद्गाता द्वारा कृत अपच्छेद का प्रतिहर्ता द्वारा कृत अपच्छेद से पश्चाद्भावित्व होने पर उद्गाता से कृत अपच्छेदनिमित्तक पूर्वप्रयोग (पूर्व आरम्भ किया हुआ ज्योतिष्टोमयाग) दक्षिणाहीन समाप्त करके पुन: कर्तव्य ज्योतिष्टोम के द्वितीय प्रयोग (अनुष्ठान) में "जो पूर्व प्रयोग में दक्षिणारूप से देना था, उसको द्वितीय प्रयोग में देवें" ऐसी जो श्रुति ने दक्षिणा कही है, वह दक्षिणा सर्वस्वरूपा है, क्योंकि प्रतिहर्ता के पूर्वभावी अपच्छेद को निमित्त बनाकर होने वाले पूर्वप्रयोग में विहित सर्वस्वदक्षिणा की इच्छा का उससे बाध नहीं होता, और ज्योतिष्टोम में "तस्य द्वादशशतम्" इस श्रुति विहित जो द्वादशाधिकशतरूपा (११२) नियत दक्षिणा है, वह भी नहीं; क्योंकि वह नैमित्तिक सर्वस्वदान से बाधित होती है। (ज्योतिष्टोम में प्रदेय सब द्रव्यों का निर्देश करते समय संख्याविशिष्ट दक्षिणा का भी इस प्रकार निर्देश किया गया —"गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभश्चाजाश्चावयश्च व्रीहयश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च तस्य द्वादशशतं दक्षिणेति"; इसका विचार मी. १०/३/११ अधि. सू. ३९—४४ में विचार किया गया है। उपरिनिर्दिष्ट प्रत्येक वस्तु की संख्या द्वादशशत प्राप्त होने पर "तस्य द्वादशशतम्" इसमें "तस्य" इस एक वचन के बल से उपरिनिर्दिष्ट द्रव्यों में से किसी एक का द्वादशशत (११२) होना चाहिये; अन्य तो यजमान की

नित्या द्वादशशतरूपा। तस्मान्न प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सर्वथा बाधः, किन्तु प्रयोगान्तरे निक्षेप इत्युक्तम्। उक्तं हि टुप्टीकायां 'तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेपः' इति। अपि च क्रमिकनिमित्तद्वयेन क्रमेणादक्षिणसर्वस्वदक्षिणयोः प्रयोगयोः सम्भवेन विरोध एव नास्ति; यथा बदरीफले क्रमिकनिमित्तवतोः श्यामरक्तरूपयोः। उक्तं ह्यपच्छेदा-धिकरणे नैमित्तिकशास्त्रस्य ह्ययमर्थः, 'निमित्तोपजननात् प्रागन्यथाकर्तव्योऽपि क्रतुर्निमित्ते सत्येवं कर्तव्यः' इति। तस्मादपच्छेदन्यायः सावकाशविषयः, अद्वैतागमेन प्रत्यक्षबाधे तु न प्रत्यक्षप्रामाण्यस्यावकाशोऽस्तीति चेत्, न, उद्गात्रपच्छेदाभावे, युगपदुभयापच्छेदे, प्रतिहर्त्रपच्छेदस्योद्गात्रपच्छेदः पाश्चात्ये च ज्योतिष्टोमद्वितीयप्रयोगे प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तसर्वस्वदक्षिणयागप्रतिपादकशास्त्रस्य सावकाशत्ववद् व्यावहारिकप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि सावकाशत्वात्, तत्रैकप्रयोगे विरोधवदत्रापि तात्त्विकत्वांशे विरोधात्। अत एव सगुणसप्रपञ्चश्रुत्योर्निर्गुणनिष्प्रपञ्चश्रुतिभ्यामपच्छेदन्यायेन बाध इति सुष्ठूक्तम्। तदुक्तमानन्दबोधाचार्यैः—

तत्परत्वात् परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्।
पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्यादिवाक्यवत् ॥ इति।

ननु मानान्तरविरोधे श्रुतेस्तत्परत्वमसिद्धम्, परत्वन्तु प्रमाऽनन्तरभ्रमे व्यभिचारि,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इच्छानुसार ही होना चाहिये – ऐसा सिद्धान्त किया गया है)। इस प्रकार उक्ताधिकरण का सावकाशत्वज्ञापकत्व होने से प्रतिहर्ता द्वारा कृत अपच्छेद का सर्वथा बाध नहीं, किन्तु प्रयोगान्तर में तन्निमित्तक कर्म का निक्षेप है – ऐसा कहा गया है। और कुमारिल भट्ट ने टुप्टीका में कहा है –''प्रतिहर्तृकृतापच्छेदनिमित्तकप्रायश्चित्त का प्रयोगान्तर में निक्षेप है'' इति। और भी – क्रमिक निमित्तद्वय के कारण क्रम से अदक्षिण और सर्वस्वदक्षिण दोनों प्रयोग सम्भव होने से परस्पर विरोध ही नहीं; जैसे – बदरीफल में क्रमिकनिमित्त वाले श्यामवर्ण और रक्तवर्ण दोनों का परस्पर विरोध नहीं। अपच्छेदाधिकरण में शास्त्रदीपिकाकार ने कहा भी है –''नैमित्तिकशास्त्र का यह अर्थ है – अपच्छेदरूप निमित्त की उत्पत्ति होने के पहले अन्य प्रकार से याग कर्तव्य होता हुआ भी निमित्त हो जाने पर अदक्षिण या सर्वस्वदक्षिण होकर कर्तव्य होता है''। इसलिये अपच्छेदन्याय अर्थात् पौर्वापर्यबोधकन्याय सावकाशविशिष्टविषयक है; और अद्वैतागम से प्रत्यक्ष का बाध होने पर तो प्रत्यक्षप्रामाण्य का अवकाश नहीं है।

समाधान – नहीं, यह कथन अनुचित है, क्योंकि उद्गाता द्वारा कृत अपच्छेद के अभाव में युगपत् दोनों के अपच्छेद में और प्रतिहर्तृकर्तृक अपच्छेद का उद्गातृ कर्तृक अपच्छेद से पश्चाद्भावित्व होने पर ज्योतिष्टोम के द्वितीय प्रयोग में प्रतिहर्तृकर्तृक अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्व दक्षिणयाग के प्रतिपादक शास्त्र का जिस प्रकार सावकाशत्व होता है; उसी प्रकार व्यावहारिक प्रामाण्य में प्रत्यक्ष का भी सावकाशत्व होता ही है। उस सर्वस्वदक्षिणत्व में एक प्रयोग अर्थात् अदक्षिण प्रयोग कालानुष्ठानांश में जैसे विरोध होता है, वैसे आगमबाध्य प्रत्यक्ष में भी तात्त्विकांश में विरोध है। इस कारण – सगुण और सप्रपञ्च की प्रतिपादिका दोनों श्रुतियों का निर्गुण और निष्प्रपञ्च की प्रतिपादिका दोनों श्रुतियों से अपच्छेदन्यायद्वारा बाध है – ऐसा कथन समुचित ही है। इस बात को आनन्दबोधाचार्य ने कहा है– ''अद्वैतपरकत्व होने से, पश्चाद्भावित्व होने से और निर्दोषत्व होने से ''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादि वैदिक अर्थात् श्रुति पूर्वप्रवृत्तप्रत्यक्षादि की बाधिका है, जैसे ''नायं सर्पः'' इत्यादि पूर्व प्रवृत्तसर्पप्रत्यक्षादि का बाधक है'' इति।

दृश्यते च 'न क्त्वा सेट्' इति परं प्रति 'मृडमृदगुधकुशक्लिशवदवसः क्त्वा' इति पूर्वमपि बाधकम्। निर्दोषत्वं त्वर्थान्तरप्रामाण्येनान्यथासिद्धम्। तदुक्तम्:—

तत्परत्वमसिद्धत्वात्परत्वं व्यभिचारतः।
निर्दोषताऽन्यथासिद्धेः प्राबल्यं नैव साधयेत्।।

इति चेन्न, प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यम्, श्रुतेस्तु तात्त्विकमिति विरोधाभावेन तत्परत्वसिद्धेः। परशब्देन च मानान्तराबाधितपरत्वं विवक्षितम्, तेन प्रमाऽनन्तरभ्रमे न व्यभिचारः। तस्य तदुत्तरभाविमानबाधितत्वात्। 'न क्त्वा सेट्'इत्यस्य तु पाठतः परत्वेऽपि स्वभावसिद्धकित्त्वस्यानेनापाकरणं विना पुनस्तत्प्रतिप्रसवार्थं 'मृडमृद...' इत्यादेरप्रवृत्तेस्तदपेक्षयाऽर्थतः पूर्वत्वमेव। अपवादापवादे उत्सर्गस्यैव स्थिरत्वादतो निर्दोषत्वमपि नान्यथासिद्धम्; तात्पर्यविषय एव प्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वात्, इत्यबोधमात्रविजृम्भितमपच्छेदन्यायवैषम्याभिधानमिति।

इत्यपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — मानान्तर का विरोध होने पर श्रुति का अद्वैतपरत्व असिद्ध है, और परत्व तो प्रमा के बाद होने वाले भ्रम में व्यभिचारी है (अर्थात् शुक्ति में ''इयं शुक्तिः'' इस प्रकार प्रमा होने के बाद किसी कारणवश ''इदं रजतमेव'' यह भ्रम हुआ, किन्तु यह भ्रम प्रमा का बाधक नहीं; अतः ''यत्परं, तद्बाधकम्'' यह व्यभिचार ग्रस्त है)। यह व्यभिचार देखने में भी आता है — 'न क्त्वा सेट्'' (पा. १/२/१८) यह सेट् धातुओं में क्त्वा प्रत्यय का कित्त्वनिषेधक परसूत्र है, किन्तु ''मृडमृद'' (पा.सू. १/२/७) यह पूर्वसूत्र क्त्वा प्रत्यय का कित्त्व बोधक है और पूर्वोक्त परसूत्र का बाधक है, और श्रुति का निर्दोषत्व भी धर्म और उपासनादि अर्थान्तर के प्रामाण्य से अन्यथासिद्ध अर्थात् अद्वैतागम के यथाश्रुतार्थ में प्रामाण्य के बिना भी सिद्ध है। इसको कहा भी है —''श्रुतियों के अद्वैतपरत्व असिद्ध होने से, प्रत्यक्ष से आगम के परत्व में व्यभिचार होने से, और निर्दोषता अन्यथासिद्ध होने से प्रत्यक्ष से आगम का प्राबल्य सिद्ध करना नहीं चाहिये'' इति।

समाधान — नहीं, कारण कि प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक प्रामाण्य है, और श्रुति का प्रामाण्य तो तात्त्विक है; इस प्रकार विरोधाभाव होने से श्रुति का अद्वैतपरत्व सिद्ध है; और यहां परत्व शब्द से मानान्तर से अबाधित परत्व विवक्षित है, इस कारण प्रमा के बाद होने वाले भ्रम में व्यभिचार नहीं, क्योंकि उस भ्रम का उसके अनन्तरभावी प्रमाण से बाधितत्व है। 'न क्त्वा सेट्'' इस सूत्र का तो पाठक्रम से परत्व होने पर भी स्वभावसिद्ध कित्त्व के इस सूत्र से निषेध किये बिना पुनः उस कित्त्व के प्रतिप्रसव अर्थात् प्राप्ति के लिये ''मृडमृद्'' इस सूत्र की प्रवृत्ति अयुक्त होने से ''मृडमृद्'' इस सूत्र की अपेक्षा अर्थतः पूर्वत्व ही है; क्योंकि अपवाद का अपवाद करने पर अपनी पूर्वस्थिति में ही स्थिर होता है; इस प्रकार तत्परत्व और परत्व निर्दोष होने से निर्दोषत्व भी अन्यथासिद्ध नहीं, कारण कि तात्पर्यविषय में ही प्रामाण्य स्वीकर्तव्य होता है। इसलिये अबोधमात्र से विजृम्भित अपच्छेदन्यायवैषम्य का अभिधान अर्थात् कथन है।

इति अपच्छेदन्यायवैषम्यभंगस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।

२२: अथ मिथ्यात्वानुमितेः शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गः

ननु यदि प्रत्यक्षबाधितमप्यनुमानं साधयेत्तदा वह्न्यनौष्ण्यमपि साधयेत्, तथा च कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रोच्छिद्येत। न चौष्ण्यप्रतियोगिकाभावे साध्ये पक्ष एव प्रतियोगिप्रसिद्धिरिति तत्र बाधः सावकाशः, इति वाच्यम्। वह्निविशेषेऔष्ण्याभावानुमाने शैत्यानुमाने वा तदभावात्। पक्षातिरिक्तस्य प्रतियोगिप्रसिद्धिस्थलस्य तत्र सत्त्वात्। न च यत्र प्रत्यक्षं प्रबलं तत्र बाधव्यवस्था, न चात्र तथेति न बाध इति वाच्यम्, प्रकृतेऽप्यौष्ण्यप्रत्यक्ष समकक्षस्य प्राबल्यप्रयोजकस्य विद्यमानत्वात्, अनौष्ण्यानुमितेर्मिथ्यात्वानुमितेश्च समानयोगक्षेमत्वात्। न च मिथ्यात्ववादिनां प्रतिपन्नोपाधावौष्ण्यनिषेधग्राह्यनुमानेन मिथ्यात्वानुमितेः समत्वमिष्टमेवेति वाच्यम्; औष्ण्यानौष्ण्ययोर्भावाभावरूपतया तदनुमितिसाम्येऽपि शैत्यानुमितिसाम्यस्यानभ्युपगमात्, शैत्यस्यौष्ण्याभावरूपत्वाभावात्। तस्माद् बाधस्य दोषता वा त्याज्या, औष्ण्यप्रत्यक्षायजमानत्वप्रत्यक्षादेःसत्त्वप्रत्यक्षापेक्षया विशेषो वा वक्तव्यः। न चौष्ण्यप्रत्यक्षं परीक्षितोभयवादिसिद्धप्रामाण्यं सत्त्वप्रत्यक्षं तु न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— यदि प्रत्यक्षसे बाधित अर्थ भी अनुमान सिद्ध कर सकता है तो अग्नि के अनुष्णत्व को भी सिद्ध करे; तब तो बाधित हेतु की कथा सर्वत्र उच्छिन्न हो जायेगी। इसमें शंका हो कि— उष्णत्वप्रतियोगिकाभाव अर्थात् अनुष्णत्व साध्य अपेक्षणीय होने पर वह्निरूप पक्ष में प्रतियोगी उष्णत्व की प्रसिद्धि होने से उस वह्निपक्ष में बाध (पक्ष में साध्याभावनिश्चय) सावकाश होगा— तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि (पर्वतीयादि) वह्नि विशेष (जिस वह्नि में उष्णत्वरूप प्रतियोगी की प्रसिद्धि होती है, उससे भिन्न वह्नि) में उष्णत्वाभाव का अनुमान या शैत्यानुमान में पक्षीभूत पर्वतीयादि वह्नि में प्रतियोगी उष्णत्व की प्रसिद्धि का अभाव है (अतः उसमें बाध कहा नहीं जा सकता); और पर्वतीय वह्नयादि पक्ष से अतिरिक्त उष्णत्वप्रतियोगिप्रसिद्धिस्थल उक्त दोनों अनुमानों में है। फिर भी शंका हो कि— जहां प्रत्यक्ष प्रबल है, वहां बाध की व्यवस्था है, किन्तु हमारे मिथ्यात्वानुमान में तो (श्रुतिसहकृतत्व होने से) प्रत्यक्ष प्रबल नहीं है, इस कारण प्रत्यक्ष से बाध नहीं होता— यह कथन भी अनुचित्त ही है, क्योंकि प्रकृत उष्णत्वाभावानुमान या शैत्यानुमान में भी उष्णत्वप्रत्यक्षसमकक्ष्य परीक्षिततत्वादिरूप प्राबल्यसाधक प्रयोजक वर्तमान है; और अनुष्णत्वानुमिति और मिथ्यात्वानुमिति का समानयोगक्षेमत्व भी है। यह भी न कहो कि— मिथ्यात्ववादियों के लिये तो ज्ञानाश्रयभूत अग्नि में औष्ण्याभावग्राहिका अनुमिति के साथ मिथ्यात्वानुमिति का समत्व इष्ट ही है— क्योंकि औष्ण्य और अनौष्ण्य ये दोनों भाव और अभावरूप होने से औष्ण्याभाव तथा प्रपञ्चाभाव को विषय करने वाली दोनों अनुमितियों में साम्य होने पर भी शैत्यानुमिति के साथ मिथ्यात्वानुमिति का साक्ष्य नहीं माना जा सकता, कारण कि शैत्य औष्ण्यावभावरूप नहीं होता। इस कारण या तो बाध की दोषता का त्याग करना होगा, या अनौष्ण्यसाधक अनुमान के बाधक औष्ण्यप्रत्यक्ष और ''यजमानः प्रस्तरः'' इस श्रुति के बाधक अयजमानत्व प्रत्यक्षादि का ''घटः सन्'' इस प्रकार घटसत्त्व प्रत्यक्ष की अपेक्षा से विशेष कहना होगा (जिससे सत्त्वप्रत्यक्ष की श्रुति और अनुमान से बाध्यता हो जाय)। इसमें पुनः शंका हो कि— औष्ण्यप्रत्यक्ष का उभयवादिसिद्ध परीक्षित प्रामाण्य है, और सत्त्व प्रत्यक्ष का तो वैसा नहीं, इसलिये यही विशेष है, तो यह कथन ठीक नहीं, कारण कि सत्त्वप्रत्यक्ष में भी प्रामाण्य की असम्मति में कोई हेतु नहीं है (अर्थात्

तथेति विशेष इति वाच्यम्; सत्त्वप्रत्यक्षेऽपि प्रामाण्यासम्मतौ हेत्वभावात्, परीक्षायास्तुल्यत्वादिति चेत्, मैवम्, विरुद्धार्थग्राहित्वेन विशेषात्, प्रत्यक्षसिद्धायजमानत्वौष्ण्यादिवच्छब्दलिङ्गग्राह्ययजमानत्वानौष्ण्याद्यपि व्यावहारिकमिति समत्वात् प्रत्यक्षेण बाध्यते। प्रकृते तु सत्त्वं व्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्धं, तद्विरुद्धं च न मिथ्यात्वम्; तस्य पारमार्थिकसत्त्वविरोधात्। अतो न तद्व्यावहारिकसत्त्वग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यते।

ननु एवं वदतस्तव को वाऽभिप्रायः? किं तात्त्विकविषयत्वाद् बाधकतैव मिथ्यात्वानुमानादेर्न बाध्यता? उत सत्यमिथ्यात्वग्राहिणोर्व्यावहारिकतात्त्विकविषययोः परस्परविरुद्धविषयत्वाभावान्नबाध्यबाधकभावः? अन्त्येऽपि किमध्यक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्वाभावमगृहीत्वैव तदसिद्धस्य तात्त्विकसत्त्वस्यैवाभावं गृह्णात्यनुमानादि उत? प्रत्यक्षविषयीकृतस्यैव तात्त्विकमभावम्? नान्त्यः; प्रत्यक्षविषयाभावग्राहिणि तदबाधकत्वोक्त्ययोगात्। न द्वितीयः प्रत्यक्षागृहीतप्रतिषेधकत्वेनाप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेः, प्रत्यक्षविषयस्य तात्त्विकत्वापत्तेश्च। न प्रथमः; उपजीव्यप्रत्यक्षविरोधेनानुमित्यादिविषयस्य तात्त्विकत्वासिद्धेरिति चेन्न, प्रथमे द्वितीये च पक्षेऽनुपपत्त्यभावात्। तथाहि—प्रथमे पक्षे न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

असम्मति में दृश्यत्वादि हेतु नहीं हो सकता); और औष्ण्यप्रत्यक्ष तथा सत्त्वप्रत्यक्ष दोनों में परीक्षा भी तुल्य ही है।

समाधान— वैसा नहीं हो सकता, कारण कि विरुद्धार्थग्राहित्व रूप से विशेष है; प्रत्यक्षसिद्ध अयजमानत्व, औष्ण्यादि के समान शब्द और लिङ्ग से ग्राह्य यजमानत्व तथा अनौष्ण्यादि भी व्यावहारिक होने से समस्त अर्थात् समान सत्ताकत्व होने के कारण अयजमानत्व और औष्ण्य के ग्राहक प्रत्यक्ष से बाधित होते हैं। प्रकृत में तो व्यावहारिक घटादिसत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध है, और उस व्यावहारिक सत्त्वग्राही प्रत्यक्ष से अनुमानसाध्य मिथ्यात्व तो विरुद्ध नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व का पारमार्थिक सत्त्व से ही विरोध है। अत: मिथ्यात्व व्यावहारिक सत्त्वग्राहक प्रत्यक्ष से बाधित होता नहीं।

शंका— इस प्रकार कहने वाले आपका क्या अभिप्राय है? तात्त्विक विषयत्व होने से मिथ्यात्वानुमानादि की बाधकता ही है, बाध्यता नहीं— यह अभिप्राय है क्या? अथवा व्यावहारिक और तात्त्विक अर्थ को विषय करने वाले सत्त्वग्राहक प्रत्यक्ष और मिथ्यात्वग्राही अनुमान में परस्पर विरुद्ध विषयत्व के अभाव से बाध्यबाधकभाव नहीं— यह अभिप्राय है क्या? इस अन्त्य पक्ष में भी इन्द्रिय प्रत्यक्षसिद्ध व्यावहारिक सत्त्व के अभाव को ग्रहण किये बिना ही उस प्रत्यक्ष से असिद्ध तात्त्विक सत्त्व के अभाव को ही घटादि में अनुमानादिग्रहण करता है क्या? अथवा प्रत्यक्षविषयीकृत सत्त्व के ही तात्त्विकाभाव को ग्रहण करता है क्या? अन्तिम पक्ष तो नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के विषय सत्त्व के अभाव का ग्रहण करने वाले अनुमान में प्रत्यक्ष का अबाधकत्व कहना अयुक्त है। द्वितीय भी नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा अगृहीत तात्त्विक सत्त्व के प्रतिषेधकत्व होने से अप्रसक्तप्रतिषेध की आपत्ति है और प्रत्यक्ष के विषय सत्त्व की तात्त्विकत्वापत्ति भी होगी (क्योंकि प्रत्यक्षविषयसत्वाभाव का ग्रहण नहीं हुआ)। प्रथम पक्ष भी नहीं, कारण कि उपजीव्यप्रत्यक्ष से विरोध होने से अनुमित्यादि के विषय मिथ्यात्व के तात्त्विकत्व की असिद्धि है।

समाधान— नहीं, कारण कि प्रथम और द्वितीय पक्ष में असम्भव नहीं है। तथाहि— प्रथम पक्ष में भी तात्त्विकत्व की असिद्धि नहीं होगी, क्योंकि "यह रजत है" इस भ्रमज्ञान में "यह रजत

तात्त्विकत्त्वासिद्धिः यस्मात् 'इदं रजतम्' इत्यनेन 'नेदं रजतम्' इत्यस्य बाधादर्शनात् परीक्षितमेव बाधकमभ्युपेयम्। परीक्षा च प्रवृत्तिसंवादादिरूपा व्यवहारदशायामबाध्यत्वं विनाऽनुपपन्ना तद्दशाबाधग्राहिणं बाधते, नाद्वैतश्रुत्यनुमानादिकमित्युक्तमेव। द्वितीयेऽपि पक्षे नाप्रसक्तप्रतिषेधः, परोक्षप्रसक्तेः सम्भवात्। यत्तु केचिदात्मनि तात्त्विकसत्त्वप्रसिद्ध्या प्रसक्तिमुपपादयन्ति। तन्न; न हि प्रतियोगिज्ञानमात्रं प्रसक्तिः, किं तर्हि निषेधाधिकरणक-प्रतियोगिज्ञानम्। न चात्मा निषेधाधिकरणम्; तस्मात् परोक्षप्रसक्तिरेव दर्शनीया। अथवा मा भूत् प्रसक्तिः; अभावप्रत्यक्षे हि संसर्गारोपत्वेन सोपयुज्यते, शब्दानुमानयोस्तु तस्याः क्वोपयोगः। न चाप्रसक्तौ निषेधवैयर्थ्यम्; अनर्थनिवृत्तिरूपस्य प्रयोजनस्य विद्यमानत्वात्। न च प्रत्यक्षविषयतात्त्विकत्वापत्तिः; तद्विषयाधिकरणस्यैव पारमार्थिकत्वव्यतिरेकस्य बोधनात्। तथा

च न काप्यनुपपत्तिः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

"पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः।
विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन"॥ इति।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं है" इस प्रमाज्ञान का बाध देखने में नहीं आता (यहां पर रजतज्ञान उपजीव्य है और रजताभावज्ञान उपजीवक है) अतः बाधक परीक्षित्व ही को मानना चाहिये। और परीक्षा तो प्रवृत्तिसंवादादिरूपा अर्थात् प्रवृत्ति में सफल प्रयोजनत्वादिरूपा है, वह व्यवहारदशा में अबाध्यत्व के बिना अनुपपन्ना है अर्थात् हो नहीं सकती; इस कारण वह व्यवहारदशा में अग्न्यादि के उष्णत्वादि के बाधग्राही अनुष्णत्वानुमानादि को बाधित करती है, किन्तु परमार्थरूप से अद्वैतप्रतिपादिका श्रुति तथा मिथ्यात्व प्रतिपादक अनुमान को बाधित नहीं करती— यह बात कह चुके हैं। द्वितीय पक्ष में भी अप्रसक्तप्रतिषेध नहीं, कारण कि परोक्षरूप से प्रसक्ति सम्भव है ("इस वृक्ष में भूत है" इत्यादि स्थलों में जैसे भूत की प्रसक्ति परोक्षरूप से होती है)। कुछ लोग आत्मा में तात्त्विक सत्त्व की प्रसिद्धि होने से उस तात्त्विक सत्त्व की प्रपञ्च में प्रसक्ति का जो प्रतिपादन करते हैं, वह ठीक नहीं, क्योंकि तात्त्विकसत्त्वरूप प्रतियोगी का ज्ञानमात्र प्रसक्ति नहीं होती, किन्तु निषधाधिकरणकतात्त्विक सत्त्वरूप प्रतियोगी का ज्ञान प्रसक्ति है, और आत्मा के निषेध का अधिकरण नहीं (तात्त्विकसत्त्व निषेध का अधिकरण तो यहां प्रपञ्च है)। अथवा प्रसक्ति ही न होवे, क्योंकि अभावप्रत्यक्ष में संसर्गारोपत्वरूप से अर्थात्" अत्र यदि घटः स्यात् तर्हि उपलम्येत" इस प्रकार प्रतियोगिप्रसञ्जन रूपसंसर्ग के आरोपत्व रूप से प्रसक्ति का उपयोग होता है; शब्द और अनुमान में तो उस प्रसक्ति का कहां उपयोग होगा? प्रपञ्च में तात्त्विकसत्त्व की अप्रसक्ति होने पर निषेध करना व्यर्थ है— ऐसा भी नहीं, क्योंकि निषेध करने पर अनर्थनिवृत्तिरूप प्रयोजन विद्यमान है। और प्रत्यक्ष के विषय व्यावहारिक सत्त्व का निषेध न करने पर इस व्यावहारिक सत्त्व की तात्त्विकत्वापत्ति भी नहीं होगी, कारण कि प्रत्यक्षविषय व्यावहारिक सत्त्व के अधिकरणरूप प्रपञ्च के ही पारमार्थिकत्वाभाव का बोधन है। तब तो कुछ भी अनुपपत्ति नहीं। खण्डनकार ने इस बात को कहा भी है— "पारमार्थिक द्वैताभाव से घटित परमब्रह्मरूप शरण को पाकर प्रपञ्च को मिथ्याबोधन करने वाली अद्वैतश्रुति उपजीव्यप्रत्यक्ष के साथ विरोध से कभी भी नहीं डरती" इति।

नन्वेवमप्यनौष्ण्यं तात्त्विकमिति तदनुमितिरपि न बाध्येत व्यावहारिकौष्ण्य-ग्राहिणाध्यक्षेण। एवं च "आदित्यो यूपः" इत्यादावपि–

"तात्त्विकादित्यतां यूपस्याश्रित्य शरणं श्रुतिः।
विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन"।।

इत्याद्यपि स्यादिति चेन्न; अनौष्ण्यं तात्त्विकं स्यादिति कोऽर्थः? यदि तत्त्वत औष्ण्यं नास्तीत्यर्थः, तदाऽद्वैते पर्यवसानादिष्टापत्तिः। यदि व्यवहारतोऽपि नास्तीति, तदा व्यवहाराविसंवादादिरूपपरीक्षितत्वविशिष्टमौष्ण्यप्रत्यक्षं बाधकमिति नाऽनौष्ण्यस्य तात्त्विकत्वसिद्धिः। एतेन शैत्यानुमानं व्याख्यातम्। एवमादित्ययूपभेदस्य तत्त्वतो व्यवहारतो वा निषेधे योज्यम्। श्रुतेरन्यशेषतयाऽऽदित्ययूपाभेदपरत्वाभावेन परीक्षितप्रत्यक्षविरोधेन गौणार्थतया स्तावकत्वोपपत्तेश्च। अत एव "तात्त्विकादित्यतां यूपस्य" इत्यादिनाऽद्वैतश्रुतेः 'आदित्यो यूपः' इत्यादिश्रुतिसाम्यापादनमपास्तम्। न चानुमितिसिद्धमिथ्यात्वग्राहकत्वे सत्यद्वैत-श्रुतिरनुवादिका स्यात्, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिश्रुतिः– प्रमाणान्तरगृहीतहिम-निवारणशक्त्यनुवादिकेति वाच्यम्; स्वस्वचमत्कारानुसारिणोऽनुमानस्य सकलसाधारण्याभावेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका– ऐसा होने पर तो अनौष्ण्य तात्त्विक सिद्ध होने से अनौष्ण्यविषयिका अनुमिति व्यावहारिकौष्ण्य ग्राही प्रत्यक्ष से बाधित होनी नहीं चाहिये, ऐसे ही "आदित्यो यूपः" इत्यादि श्रुति में भी–"यूप की तात्त्विकादिसत्ता का शरणरूप से आश्रय लेकर यूप के तात्त्विकस्वरूप का बोधन करने वाली श्रुति उपजीव्यप्रत्यक्ष के साथ विरोध से कभी भी नहीं डरती" इत्यादि भी हो।

समाधान– नहीं, क्योंकि–" अनुष्णत्व तात्त्विक हो" ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है? यदि "तात्त्विकत्वेन औष्ण्य नहीं" यह अभिप्राय हो तो अद्वैत में पर्यवसान होने से हमारी इष्टापत्ति है और यदि "वह्नि में औष्ण्य व्यावहारिकत्वेन नहीं" यह अभिप्राय हो तो व्यवहार में अविसंवादादि रूप परीक्षितत्व से विशिष्ट औष्ण्य प्रत्यक्ष उसका बाधक होने से अनुष्णत्व की तात्त्विकसिद्धि नहीं। इस युक्ति से शैत्यानुमान भी खण्डित हुआ (वह्नि में शैत्य तत्त्वतः है, या व्यवहारतः? आद्य में अद्वैत का नामान्तरकरणमात्र है, द्वितीय में प्रत्यक्षविरोध है)। इसी प्रकार आदित्य और यूप के भेद का निषेध तात्त्विकत्वेन है या व्यावहारिकत्वेन? भेद को तत्त्वतः निषेध करने पर अद्वैत में पर्यवसान है और व्यवहारतः निषेध तो प्रत्यक्ष से बाधित है– ऐसा योजनीय है। और "आदित्यो यूपः" इस श्रुति के अन्यशेषत्व होने के कारण आदित्य और यूप के अभेदपरत्व का अभाव होने से तथा परीक्षित प्रत्यक्ष से विरोध होने से गौणार्थकत्वेन स्तावकत्व की उपपत्ति है। इसलिये– "यूप की तात्त्विकादित्यता को" इत्यादि से अद्वैतश्रुति का "आदित्यो यूपः" इत्यादि श्रुति से साम्यप्रतिपादन भी निरस्त हुआ।

शंका– अनुमिति से सिद्ध मिथ्यात्व का ग्राहकत्व होने पर अद्वैतश्रुति उसकी अनुवादिका होगी, जैसे "अग्नि हिम की औषधि है" इत्यादि श्रुति प्रमाणान्तर से गृहीत अग्निनिष्ठ हिमनिवारण शक्ति की अनुवादिका होती है।

समाधान– ऐसा कहना नहीं चाहिये; कारण कि अपने–अपने चमत्कार अर्थात् बुद्धिकौशल्य के अनुसार अनुमान हुआ करता है, अतः सकलसाधारण्य अर्थात् सब के प्रति निर्दोषत्व का अभाव होने से वह (अनुमान) श्रुतिनिष्ठानुवादकत्व का अप्रयोजक है (अर्थात् श्रुति उसकी

तस्य श्रुत्यनुवादकत्वाप्रयोजकत्वात्। तदुक्तं 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इत्यत्र वाचस्पतिमिश्रैः—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते।। इति।

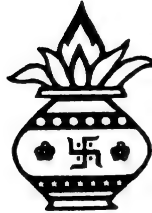
दृष्टान्तीकृतश्रुतौ तु हिमनिवृत्तिकारणताया वह्नौ सर्वसाधारणप्रत्यक्षार्थापत्तिभ्यामवसेयत्वाद् वैषम्यम्। तस्मान्मिथ्यात्वानुमानस्य न वह्निशैत्यानुमितिसाम्यम्।

इति मिथ्यात्वानुमितेः शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अनुवादिका नहीं हो सकती)। इसलिये "तर्काप्रतिष्ठानात्" इस सूत्र की भाष्य–व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"कुशल अनुमाताओं से यत्नपूर्वक अनुमित अर्थ भी कुशलतर अन्य अनुमाताओं से अन्यथा ही उपपादित किया जाताहै" इति। और दृष्टान्तीकृत श्रुति में तो अग्नि में हिम निवृत्तिकारणता (हिमविरुद्धस्वभावता) का सर्वसाधारण प्रत्यक्ष और अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण से निश्चय करने योग्यत्व होने से दार्ष्टान्तिक से वैषम्य है। इसलिये मिथ्यात्वानुमिति का वह्निशैत्यानुमिति से साम्य नहीं।

इति मिथ्यात्वानुमितेः शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



२३: अथ प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम्

किञ्च परीक्षितत्वेनैव प्राबल्यम्, नोपजीव्यत्वादिना; अनुमानशब्दबाध्यत्वस्य प्रत्यक्षेऽपि दर्शनात्। तथा हि 'इदं रजतम्' इति प्रत्यक्षस्यानुमानाप्तवचनाभ्याम्, नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन, 'गौरोऽहम्' इत्यस्य 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इत्यस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य चानुमानागमाभ्यां 'पीतः शङ्खस्तिक्तो गुडः' इत्यादेश्चानुमानाप्तवचनाभ्यां बाधो दृश्यते।

ननु साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविशेषदर्शनमेव विरोधीत्यभ्युपेयम्; अन्यथा परोक्षप्रमाया अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वोपपत्तौ वेदान्तवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वव्युत्पादनप्रयासो व्यर्थः स्यादिति चेत्, न; 'नायं सर्पः' इत्यादिवाक्यादिना सविलासाज्ञाननिवृत्त्यभावेऽपिभ्रमगताप्रमाणत्वज्ञापनेन भ्रमप्रमाणत्वबुद्धेस्तद्विषयसत्यताबुद्धेश्च निवर्तनात्, तावता च भ्रमनिवर्तकत्वव्यपदेशात्, भ्रमे प्रामाण्यविभ्रमस्य तद्विषये सत्यताविभ्रमस्य च परोक्षत्वेनापरोक्षबाधानपेक्षत्वात्। नहि दुष्टकरणाजन्यत्वमबाधितविषयत्वं वा प्रामाण्यं कस्यचित् प्रत्यक्षम्। न वा सर्वदेशसर्वकालसर्वपुरुषाबाध्यत्वरूपं विषयसत्यत्वम्। अतस्तयोः परोक्षप्रमाबाध्यत्वमुचितमेव। तयोश्च बाधितयोः रजतादिभ्रमः स्वरूपेण सन्नपि स्वकार्याक्षमत्वादसन्निवेति बाधित इत्युच्यत इत्यनवद्यम्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

किञ्च– परीक्षितत्व रूप से ही प्रमाणों का प्राबल्य है, उपजीव्यत्वादि (आदि पद से –ज्येष्ठत्व और जाति गृहीत है) द्वारा नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष का भी अनुमान और शब्द से बाध्यत्व देखने में आता है। तथाहि–" यह रजत है" इस प्रत्यक्ष का अनुमान और आप्त वचन से, नभोनैल्यप्रत्यक्ष का निरूपत्वग्राहक अनुमान से, "मैं गौर हूं" इस का, " मैं इसी घर में जानता हुआ रहता हूं" इसका और चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष का अनुमान और आगम से और "शंख पीत है, गुड तिक्त है" इत्यादि प्रत्यक्ष का अनुमान और आप्तवचन से बाध देखा जाता है।

शंका– साक्षात्कारी भ्रम में साक्षात्कारी विशेषदर्शन ही विरोधी है– ऐसा मानना उचित है, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो परोक्षप्रमा से अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्व की उपपत्ति होने पर वेदान्तवाक्यों के अपरोक्षज्ञान जनकत्व का व्युत्पादनार्थ प्रयास व्यर्थ होगा।

समाधान– नहीं, क्योंकि "यह सर्प नहीं" इत्यादि आप्तवाक्य से कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति का अभाव होने पर भी भ्रमगत अप्रामाण्य के ज्ञापन से भ्रमनिष्ठ प्रमाणत्व बुद्धि और भ्रमविषयगतसत्यत्व बुद्धि की निवृत्ति होती है और उतने मात्र से भ्रमनिवर्तकत्वरूप शब्द द्वारा निर्देश किया जाता है, और भ्रम में प्रामाण्य का विभ्रम और भ्रमविषय में सत्यता का विभ्रम, दोनों ही परोक्ष होने से अपरोक्षबाध की अपेक्षा नहीं रखते। क्योंकि दुष्टकरणों से अजन्यत्वरूप अथवा अबाधितविषयत्वरूपप्रामाण्य किसी का भी प्रत्यक्ष नहीं; अथवा सर्वदेश और सर्वकाल में सर्वपुरुषों से अबाध्यत्व रूप विषयसत्यत्व नहीं। अतः उन दोनों का (प्रामाण्यविभ्रम और भ्रमविषयसत्यता विभ्रम दोनों का) परोक्षप्रमा से बाध्यत्व उचित ही है। और वे दोनों बाधित होने पर रजतादि भ्रम स्वरूप से रहते हुये भी अपने कार्य में (रजतार्थी को अपने में प्रवृत्तादि कराने में) अक्षम होने से असत् जैसा होने के कारण बाधित ऐसा कहा जाता है। अतः कोई दोष नहीं।

ननु 'इदं रजतम्' इत्यत्र सयुक्तिकं प्रत्यक्षं बाधकं न तु युक्तिमात्रम्, 'गौरोऽहम्' इत्यत्रापि मम शरीरमिति बलवत् प्रत्यक्षमेव बाधकम् 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इति तु प्रमाणमेव जीवस्याणुत्वादिति चेन्न; रजताभेदशरीराभेदप्रत्यक्षयोर्जाग्रतोः युक्त्या प्रतिबन्धाक्षमत्वे तद्विरुद्धविषयप्रत्यक्षोत्पत्तेरेवानवकाशात्। न च तत्र परम्परासम्बन्धेन कर्दमलिप्ते वस्त्रे 'नीलं वस्त्रम्' इतिवत् 'गौरोऽहम्' इति गौणम्; कर्दमवस्त्रयोरिव शरीरात्मनोर्भेदानध्यवसायेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। तथा चात्रैक्याध्यास एवोचितः। एवञ्च 'उष्णं जलम्' इत्यत्रापि यदि कर्दमवस्त्रयोरिव तोयतेजसोर्भेदग्रहः, तदा गौणतैव। यदि च शरीरात्मवद् भेदानध्यवसायस्तदाऽध्यास एव; तथा च युक्तिबाध्यमेवेति तदप्युदाहरणम्। यत्त्वहमिहैवेति प्रमाणमित्युक्तं तन्न; आत्मन 'आकाशवत् सर्वगतश्च' इति सर्वगतत्वेन इहैवेति व्यवच्छेदस्याप्रामाणिकत्वात्। न च जीवोऽणुः, युगपदेव पादशिरोऽवच्छेदेन सुखदुःखानुभवात्। न ह्येकोऽणुरेकदा व्यवहितदेशद्वयावच्छिन्नो भवति। न च युगपत्प्रतीतिर्भ्रमः, उत्सर्गसिद्धप्रामाण्यपरित्यागे बीजाभावात्। विस्तरेण चैतदग्रे वक्ष्यामः।

ननु नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन न बाधः लिङ्गाभावात्, न च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका– ''यह रजत है'' इसमें युक्तिसहित प्रत्यक्ष बाधक है, युक्तिमात्र बाधक नहीं, ''मैं गौर हूं'' इसमें भी ''मेरा शरीर'' यह बलवान् प्रत्यक्ष ही बाधक है; '' मैं इसी घर में जानता हुआ रहता हूं'' यह तो प्रमाण ही है, क्योंकि जीव अणु है।

समाधान– नहीं, क्योंकि पुरावर्ती के साथ रजत के अभेद और आत्मा के साथ शरीर का अभेद के विषय करने वाले दोनों प्रत्यक्ष जागृत रहने पर युक्ति से दोनों का प्रतिबन्ध करना असंभव होने से उक्ताभेदद्वय प्रत्यक्ष से विरुद्धविषयक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति का अवकाश ही नहीं; स्वाश्रयसंयोगरूप परम्परा संबन्ध से जिस प्रकार कर्दमलिप्त वस्त्र में ''नील वस्त्र'' ऐसा गौण प्रयोग होता है (क्योंकि नील वर्ण कर्दम का है,वस्त्र का नहीं), उसी प्रकार आत्मा में शरीरादि के साथ परम्परा संबन्ध से '' मैं गौर हूं'' ऐसी गौणी प्रतीति भी नहीं होती, कारण कि कर्दम और वस्त्र के समान शरीर और आत्मा में भेद का निश्चय न होने से दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है। इसलिये '' मैं गौर हूं'' इसे अध्यास मानना ही उचित है। और वैसे ही ''जल उष्ण है'' इसमें भी यदि कर्दम और वस्त्र के समान जल और तेज का भेदग्रह हो जाय तो उसकी गौणता ही है और यदि शरीरात्मा जैसे भेद का अनिश्चय हो जाये तो उसमें अध्यास ही है। तब तो युक्ति (अनुमानजन्य परोक्षप्रमा) से वह बाध्य ही होने से, '' जल उष्ण है'' यह भी परोक्षप्रमा से भ्रम के बाध्यत्व का एक उदाहरण है। जो आपने कहा था कि '' मैं इस घर में ही'' इत्यादि तो प्रमाण है, वह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ''आकाश जैसा सर्वगत है'' इस श्रुति से आत्मा का सर्वगतत्व होने से ''इस घर में ही रहता हूं'' ऐसा परिच्छिन्नत्व का अनुभव अप्रामाणिक है। और जीव भी अणु नहीं, क्योंकि एक ही समय में पाद और सिर अवच्छेद से सुख–दुःख का अनुभव होता है। एक अणु एक ही समय में व्यवहित देशद्वय से संबंधित नहीं होता। और वह युगपत्प्रतीति भ्रम भी नहीं, कारण कि स्वभाव से सिद्ध प्रामाण्य के परित्याग में कोई कारण नहीं। इस बात को विस्तार से आगे (आत्मा के अणुत्वभङ्ग प्रकरण में) कहेंगे।

शंका– नभोनैल्यप्रत्यक्ष का नीरूपत्वग्राहक अनुमान से बाध नहीं होता, क्योंकि उसको सिद्ध करने के लिये कोई लिङ्ग (हेतु) नहीं। और उसमें परममहत्त्व और द्रव्यानारम्भकत्व लिङ्ग नहीं

परममहत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वादेर्लिङ्गत्वम्; त्वन्मतेऽसिद्धेः। निःस्पर्शत्वन्तु तमसि व्यभिचारि। पृथिव्यादित्रयेतरभूतत्वादि चाप्रयोजकम्। तथा च नीरूपत्वग्राहकसाक्षिप्रत्यक्षमेव तद्बाधकं वाच्यम्। न च रूपग्रहणासमर्थस्य साक्षिणः कथं नीरूपत्वग्राहकत्वमिति वाच्यम्, पिशाचाग्राहकस्यापि चक्षुषस्तदभावग्राहकत्ववदुपपत्तेः, परेणापि साक्षिणोऽपि रूपवत्तमो–ग्राहकत्वाभ्युपगमाच्च, अचाक्षुषेऽपि नभसि वायाविव चक्षुषैव रूपाभावग्रहणसम्भवेन चाक्षुष- प्रत्यक्षबाधादिति चेन्न। 'नीलं नभः' इति प्रत्यक्षे जाग्रति रूपाभावग्रहणस्य चक्षुषा साक्षिणा चासम्भवात्। तथा च बलवती युक्तिरेव तद्बाधिका। न च लिङ्गाभावः, चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिरूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्वाद् रूपवदिति लिङ्गसम्भवात्। न चाप्रयोजकत्वम्; नभो यदि सरूपं स्यात् तदा चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रतीतौ रूपा–सम्बन्धितया विषयो न स्यादिति तर्कोपपत्तेः। न चेष्टापत्तिः; सविधे रूपासम्बन्धितया

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

हो सकते, कारण कि तुम्हारे मत में "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत आकाशाद्वायुः" इत्यादि श्रुति से जन्य होने से परममहत्व और वायु के आरम्भक होनेसे द्रव्यानारम्भकत्व की स्वरूपासिद्धि है (पक्ष में हेतु की अवृत्ति को स्वरूपासिद्धि कहते हैं)। निःस्पर्शत्व तो भावरूप तम में व्यभिचारी है और पृथिव्यादित्रयेतरभूतत्वादि हेतु तो अप्रयोजक है ("नभो नीरूपं पृथिव्यादित्रयेतर भूतत्वान् वायुवत्" इस अनुमान में नभ में हेतु रहे और साध्य न हो– ऐसी शंका होने पर व्यभिचार शंका निवर्तक अनुकूलतर्क के अभाव का नाम अप्रयोजकत्व है)। तब तो नभोनिष्ठनीरूपत्व के ग्राहक साक्षी का प्रत्यक्ष ही नैल्यप्रत्यक्ष का बाधक है– ऐसा कहना होगा। और इसमें–रूपग्रहण में असमर्थ साक्षी का कैसे नीरूपत्व ग्राहकत्व होगा– ऐसा कहना नहीं चाहिये, क्योंकि पिशाच के अग्राहक नेत्र का जैसे पिशाचाभावग्राहकत्व है, वैसे साक्षी का भी नीरूपत्वग्राहकत्व सम्भव है, और वेदान्तियों ने भी साक्षी का भी रूप विशिष्ट तमोग्राहकत्व स्वीकार किया है, और जैसे वायु में रूपाभाव चक्षु से गृहीत होता है वैसे ही नेत्र के अविषय आकाश में भी रूपाभाव नेत्रों से ही गृहीत संभव होने से चाक्षुषप्रत्यक्ष द्वारा "नभो नीलम्" इस प्रतीति का बाध किया जा सकता है।

समाधान– नहीं; क्योंकि "आकाश नील है" इस प्रत्यक्ष के रहते हुए रूपाभाव का ग्रहण नेत्रों से और साक्षी से असम्भव है। तब तो बलवती युक्ति (अनुमिति) ही नभोनैल्यप्रत्यक्ष की बाधिका है। और नभोनीरूपत्व के अनुमान में लिङ्गाभाव नहीं; क्योंकि चक्षुरन्वयव्यतिरेकानु विधायिरूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्व लिङ्ग हो सकता है और उसमें दृष्टान्त रूप है (गुण निर्गुण होने से रूप नीरूप है, उसकी प्रतीति चक्षुरन्वय अर्थात् उन्मीलित चक्षु होने पर होती है और चक्षु का व्यतिरेक अर्थात् निमीलित चक्षु होने पर नहीं होती, और वह प्रतीति अपने विषयरूप के अतिरिक्त अन्य रूप से भी अविशेषित अर्थात् असम्बन्धित है। इसलिये चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी जो रूपासंबन्धितया प्रतीति होती है, उसका विषयत्व रूप में है और नीरूपत्व भी है, उसी प्रकार आकाश में चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी रूपासंबन्धित प्रतीति का विषयत्व है, अतः आकाश में नीरूपत्व सिद्ध है)। और यह हेतु अप्रयोजक नहीं; क्योंकि नभ यदि सरूप होता तो चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतीति में रूप से असंबन्धित्वरूप से विषय न होता– ऐसा अनुकूल तर्क हो सकता है और सरूपत्व की इष्टापत्ति भी नहीं हो सकती। कारण कि समीप में रूपाऽसंबन्धितया नभ की सिद्धि सर्वजन सम्मत है और आकाश की साक्षिवेद्यता में भी

नभसः सिद्धेः सर्वजनसम्मतत्वात्। नभसः साक्षिवेद्यतायामपि चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधान-मवर्जनीयमेव। अन्यथाऽन्धस्यापि तद्ग्रहणं स्यात्। न च पञ्चीकरणाद्रूपवदारब्धत्वेन नभसो नीरूपत्वं बाधितमिति वाच्यम्; त्रिवृत्करणपक्षेऽस्य दूषणस्यानवकाशात्। पञ्चीकरण-पक्षेऽप्यपञ्चीकरणदशायां यस्मिन् भूते यो गुणः स पञ्चीकरणाद् व्यवहारयोग्यो भवतीत्येतावन्मात्राभ्युपगमान्नाकाशे रूपारम्भप्रसङ्गः। न च 'नायं सर्पः' इत्युक्तेऽपि किमेवं वदसि परम्? अपि पुनः परामृश्य पश्यसि? इति प्रतिवचनदर्शनान्न शब्दमात्रं रज्जुसर्पादिभ्रम-निवर्तकम्; किन्तु प्रत्यक्षमेवेति वाच्यम्; प्रतिवचनस्थले भ्रमप्रमादादिशङ्काक्रान्तत्वेन 'नायं सर्पः' इत्यादेर्दुर्बलतया न भ्रमनिवर्तकत्वम्। यत्र तु तादृक्शङ्कानाक्रान्तत्वम्, तत्र भ्रमनिवर्तकतैव। अत एव तादृक्शङ्कानाक्रान्तपित्रादिवचसि नेदृक्प्रतिवचनम्, किन्तु सिद्धवत्प्रवृत्त्यादिकमेव। ज्वालैक्यप्रत्यक्षमप्येवमेव युक्तिबाध्यम्। न च निर्वापितारोपितस्थले स्पष्टतरभेदप्रत्यक्षबाधितमित्यन्यत्रापि दीर्घेयं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षमेव तद्बाधकमिति वाच्यम्; निर्वापितारोपितातिरिक्तस्थले तावदयं विचारः, तत्र दीर्घेयं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षं वक्तुमशक्यम्, यैव ह्रस्वा सैवेदानीं दीर्घेति ह्रस्वत्वदीर्घत्वाभ्यामुपस्थितयोरभेदस्य साक्षा-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधान तो अत्याज्य ही है (अर्थात् चक्षुःसंयोगविशिष्टालोकावच्छिन्न आकाश साक्षिवेद्य है, और ऐसा न होगा तो वह आवरणयुक्त होकर साक्षिवेद्य नहीं होगा)। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अन्धे को भी आकाश साक्षिवेद्य हो जायेगा।

शंका— पञ्चीकरण से रूपवद्द्रव्य द्वारा आरब्ध होने के कारण आकाश को नीरूप कहना बाधित है।

समाधान— ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि त्रिवृत्करण पक्ष में (छान्दोग्योपनिषदनुसार पृथिवी, जल और अग्नि के त्रिवृत्करण पक्ष में) इस दूषण का अवकाश नहीं। पञ्चीकरण पक्ष में भी अपञ्चीकरण की अवस्था में जिस भूत में जो गुण है, वह पञ्चीकरण से व्यवहारयोग्य होता है— इतना मात्र स्वीकृत होने से आकाश में रूपारम्भ का प्रसङ्ग नहीं।

शंका— "यह सर्प है" ऐसा कहने पर भी—"दूसरे को तुम ऐसा क्यों कहते हो? क्या तुमने फिर सोचकर अच्छी तरह से देख लिया है?" ऐसा प्रतिवचन सुनने मे आने से शब्दमात्र रज्जुसर्पादि भ्रम का निवर्तक नहीं किन्तु प्रत्यक्ष ही निवर्तक है।

समाधान— ऐसा न कहो, कारण कि प्रतिवचन के स्थल में भ्रम—प्रमादादि की शंका से आक्रान्तत्व होने से "यह सर्प नहीं" इत्यादि वचन दुर्बल होने से भ्रमनिवर्तक नहीं हुआ। अतएव इस प्रकार की शंका से अनाक्रान्त पितादि के वचन में ऐसा प्रतिबचन नहीं होता, किन्तु सिद्ध जैसी ही प्रवृत्त्यादि होती है। ज्वालाओं का एक्य रूप से प्रत्यक्षात्मक भ्रम भी इसी प्रकार से ही युक्ति द्वारा बाध्य होता है।

शंका— जहां ज्वाला बुझा दी गई और पुनः जला दी गई, ऐसे स्थल में अधिक स्पष्ट रूप से ज्वालाओं के भेद का प्रत्यक्ष होता है, उस भेद प्रत्यक्ष से ज्वालैक्य बाधित होने से अन्यत्र भी "यह ज्वाला दीर्घ है, ह्रस्व नहीं" ऐसा भेद प्रत्यक्ष ही ज्वालैक्य का बाधक है।

समाधान— ऐसा न हो, क्योंकि निर्वापित और आरोपित स्थल के अतिरिक्त स्थल में यह विचार है, वहां "यह ज्वाला दीर्घ है, ह्रस्व नहीं" ऐसा भेद प्रत्यक्ष कह नहीं सकते, क्योंकि "जो ज्वाला ह्रस्व ही थी, वही अब दीर्घ हो गई" इस प्रकार ह्रस्वत्व और दीर्घत्व से उपस्थापित दोनों

त्क्रियमाणत्वात्। तथा च ज्वालाप्रत्यभिज्ञा युक्तिबाध्यैव। सर्वदा पित्तदूषितनेत्रस्य 'पीतः शङ्खः' इति प्रत्यक्षे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षे च परोक्षातिरिक्तस्य बाधकस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वात्, युक्त्यादिबाध्यतैव वक्तव्या।

ननु सर्वत्रैवात्र प्रकारान्तरेणाऽसत्कल्पे प्रत्यक्षे मानान्तरप्रवृत्तिः। तथा हि द्विविधं ज्ञानम्, द्विकोटिकमेककोटिकञ्च। अन्त्यमपि द्विविधमप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितं तदकलङ्कितञ्च। तत्राद्यौ सर्वप्रमाणावकाशदौ; अर्थापरिच्छेदकत्वादप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वाच्च। अप्रामाण्यधीकलङ्कितत्वञ्च द्वेधा भवति, दुष्टकरणकत्वनिश्चयादर्थाभावनिश्चयाच्च। तथा च शैलाग्रस्थितविटपिनां प्रादेशिकत्वप्रतीतिर्दूरदोषनिबन्धना दृष्टेति दूरतरस्थस्य चन्द्रमसः प्रादेशिकत्वप्रत्ययो दोषनिबन्धन एवेति निर्णीयते। एवमाकाशे समीपे नीरूपत्वनिश्चयाद् दूरे रूपवत्त्वधीर्दूरदोषजन्येति प्रागेव निश्चीयते। 'पीतः शङ्खः' इत्यादि प्रत्यक्षं तु प्राथमिकपरीक्षितप्रत्यक्षेण 'शङ्खो न पीतः' इत्यर्थाभावनिश्चयादप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितमेवोत्पद्यते। एवं सवितृसुषिरादिप्रत्यक्षमपि। तथा च चन्द्रादिप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षं दूरत्वदिदोषनिश्चयात् 'पीतः शङ्खः' इत्यादिप्रत्यक्षं प्राथमिकार्थाभावनिश्चयादेव बाधितमिति पश्चादनुमानागमादिप्रसर इति न ताभ्यां तद्बाधः। येन हि यस्य भ्रमत्वं ज्ञायते, तत्तस्य बाधकमित्युच्यते। न च चन्द्रप्रादेशिक–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ज्वालाओं के भेद का साक्षात् प्रत्यक्ष क्रियमाणत्व है। इसलिये यह ज्वाला प्रत्यभिज्ञा युक्ति से ही बाध्य है। सदा पित्त से दूषित नेत्र वाले पुरुष का "शंख पीत है" इस प्रत्यक्ष में और चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष में परोक्ष के अतिरिक्त बाधक की शंका करना तक भी असम्भव होने से युक्त्यादि से ही बाध्यता कहना उचित है।

शंका – यहां सर्वत्र ही प्रकारान्तर से असत्सदृश प्रत्यक्ष में मानान्तर की प्रवृत्ति है। जैसे कि– द्विकोटिक और एककोटिक भेद से ज्ञान द्विविध है। अन्त्य अर्थात् एककोटिक ज्ञान भी अप्रामाण्य शंका से कलङ्कित तथा अप्रामाण्यशंका से अकलङ्कित भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से आद्य अर्थात् द्विकोटिक (विकल्पित ज्ञान) और अप्रामाण्यशंकाकलङ्कित ये दोनों ज्ञान सब प्रमाणों को अवकाश देने वाले हैं, क्योंकि ये दोनों क्रम से, अर्थ के अनिश्चायक और अप्रामण्य शंका से दूषित होते हैं। और यह अप्रामाण्यशंका कलङ्कितत्व भी दुष्टकरणकत्वनिश्चय से तथा अर्थाभाव के निश्चय से दो प्रकार का होता है। इसलिये पर्वत शिखर में स्थित वृक्षों की प्रादेशिकत्व प्रतीति दूरत्वदोषनिमित्तिका मालूम होने से, अधिक दूर स्थित चन्द्रमा का प्रादेशिकत्वज्ञान दोषनिमित्तक ही है– ऐसा निर्णय किया जाता है। इसी प्रकार समीप में आकाश के नीरूपत्व के निश्चय होने से दूर में रूपवत्त्व का ज्ञान दूरत्वदोष से उत्पन्न है–ऐसा प्रथम ही निश्चय किया जा सकता है। "शंख पीत है" इत्यादि प्रत्यक्ष तो पित्तरोग होने से पहले होने वाले "शंख पीत नहीं" इस परीक्षित प्रत्यक्ष से अर्थाभाव (शंख में पीतत्वाभाव) का निश्चय होने के कारण अप्रामाण्य ज्ञान से आस्कन्दित (आलंबित) होकर ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सूर्य के छिद्रादि के प्रत्यक्ष को भी समझना चाहिये। तब तो चन्द्रादि के प्रादेशिकत्व का प्रत्यक्ष दूरत्वादिदोषनिश्चय से और "शंख पीत है" इत्यादि प्रत्यक्ष प्राथमिक अर्थाभाव के निश्चय से ही बाधित होने के कारण बाद में अनुमान और आगम की प्रवृत्ति होने से अनुमान और आगम से चन्द्र प्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष और शंखपीतत्वप्रत्यक्ष का बाध नहीं। क्योंकि जिस प्रमाण से जिस ज्ञान का भ्रमत्व ज्ञात होता है, वह प्रमाण उस ज्ञान का बाधक कहा जाता है। चन्द्र प्रादेशिकत्वादि प्रत्यक्ष का भ्रमत्व

त्वादिप्रत्यक्षस्यागमादिना भ्रमत्वं ज्ञायते, भ्रमत्वज्ञानोत्तरकालमेव तत्प्रवृत्तेः। अप्रामाण्यज्ञाना-कलङ्कितन्तु स्वार्थपरिच्छेदकं निःशङ्कप्रवृत्तिजननयोग्यम्। यथा 'वह्निरुष्ण एव', 'प्रस्तरो यजमानभिन्न एव', 'घटः सन्नेव' इत्यादि। तन्नान्यस्यावकाशदं नान्येन बाध्यम्। नह्यत्र प्रागिव दूरादिदोषधीर्वा, अर्थाभावनिश्चयो वा कोट्यन्तरालम्बित्वं वास्ति। किञ्च क्वचित् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षान्तरगौरवाद्युक्तिबाध्यं भवतु। क्वचिच्चलिङ्गादिकं श्रुतिगौरवाच्छ्रुत्यनुसारि-प्रकरणादिबाध्यं भवतु। राजामात्य इव राजगौरवेण राजभृत्यबाध्यः, तथापि न युक्तिमात्रस्य प्रकरणमात्रस्य वा प्रत्यक्षलिङ्गादिबाधकत्वम्,; प्रत्यक्षाद्यनुसारित्वस्य सर्वत्राभावात्। न हि प्रधानभूताचमनादिपदार्थविषयया 'आचामेदुपवीती दक्षिणाचारः' इत्यादिस्मृत्या पदार्थधर्मभूत-क्रमादिविषया 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति श्रुतिर्वेदकरणानन्तरं क्षुतनिमित्तकाचमनोपनिपाते

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

आगमादि से ज्ञात नहीं, क्योंकि दूरत्वादि दोषनिश्चय द्वारा भ्रमत्वज्ञान होने के उत्तरकाल में ही अनुमान और आगम की प्रवृत्ति है। और अप्रामाण्यज्ञान से अकलङ्कित प्रमाणरूप ज्ञान तो सर्वार्थनिश्चायक होकर निःशङ्कप्रवृत्ति को उत्पन्न करने योग्य है, जैसे-''अग्नि उष्ण ही है'', ''प्रस्तर यजमान से भिन्न ही है'', ''घट सत् ही है'' इत्यादि। वह अप्रामाण्यज्ञानाकलङ्कितज्ञान प्रमाणान्तर को अवकाश देने वाला नहीं, और वह प्रमाणान्तर से बाध्य भी नहीं। इस ज्ञान में अप्रामाण्यशंकाकलङ्कित ज्ञानादि के समान दूरत्वादि दोष शंका या अर्थाभावनिश्चय या कोट्यन्तरालम्बित्व नहीं। किञ्च- कहीं प्रत्यक्ष प्रत्यक्षान्तर के गौरव से युक्तिद्वारा बाध्य हो, और कहीं लिङ्गादिक श्रुति गौरव से श्रुत्यनुसारी प्रकरणादि से बाध्य हो, जैसे राजा के गौरव से राजभृत्य द्वारा राजमंत्री बाध्य होता है; तो भी युक्तिमात्र या प्रकरणमात्र प्रत्यक्ष और लिङ्गादि का बाधक नहीं, कारण कि युक्त्यादि का प्रत्यक्षाद्यनुसारित्व सर्वत्र नहीं होता, '' छींक आने पर आचमन करें, यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये, दक्षिणहस्त से करना चाहिये'' इत्यादि प्रधानभूत आचमनादि पदार्थों को विधान करने वाली स्मृति से पदार्थ धर्मभूत क्रमादि का विधान करने वाली ''वेद अर्थात् संमार्जनसाधनभूत दर्भमुष्टि विशेष को बनाकर वेदि अर्थात् गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि के मध्य चतुरङ्गुल लम्बी-चौड़ी भूमि को खोदे'' यह श्रुति वेद बनाने के बाद क्षुत् अर्थात् छींक निमित्तक आचमन, वेदि खोदने से पहले बीच में प्राप्त होने पर बाधित हो जाती है, एतावता अन्य श्रुतियों में भी स्मृतियों से बाध्यता ही होनी चाहिये-ऐसा नहीं होता। (मीमांसादर्शन, प्रथमाध्याय, तृतीयपाद, शिष्टाकोपाधिकरण में विचार आया है कि '' क्षुत् आचामेत्, आचामन्तेन कर्तव्यम्, उपवीतिना कर्तव्यम्, दक्षिणाचारेण कर्तव्यम्'' अर्थात् छींक आने पर आचमन करें, आचमन करके कर्म करना चाहिये, यज्ञोपवीती होकर कर्म करें, दक्षिण हस्त से कर्म करना चाहिये'' ये स्मृतियां हैं, तथा ''वेदं कृत्वा वेदिं करोति'' अर्थात् कुश की संमार्जनी बनाकर चतुरंगुलखातभूमि बनानी चाहिये'' यह श्रुति है। इसमें कदाचित् वेद बनाने के अव्यवहितोत्तरकाल में वेदि बनाने से पहले छींक आ जाय तो स्मृतिविहित आचमन करना चाहिये अथवा नहीं- ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ''वेदं कृत्वा वेदिं करोति'' इस श्रुति में ''क्त्वा'' प्रत्यय द्वारा वेदकरणव्यवहितोत्तरकाल में ही वेदिकरण ज्ञात होता है। यदि मध्य में आचमन करें तो व्यवधान होगा, अतः श्रुतिविरुद्ध होने से ''विरोधत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् (पू.मी. १/३/३) इस श्रुति प्राबल्याधिकरणन्याय से स्मृति विहित आचमन नहीं करना चाहिये- ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती उत्तर देते हैं-''अपि वा कारणाऽग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्'' (पू.मी. १/७/७) यहां ''अपि वा''

बाध्यत इत्यन्यत्रापि तथा भवितव्यमिति चेत्, मैवम्, यतो युक्तिरेवैषा। यद् यद् दूरस्थाल्प-परिमाणज्ञानं तत्तद् दूरत्वदोषनिबन्धनमप्रमा, शैलाग्रस्थविटप्यल्पपरिमाणज्ञानवदिदमपि तथेति। तथा चैवंरूपया युक्त्यैव चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्य बाधं वदन् युक्त्या न प्रत्यक्षस्य बाध इत्यनेनाजैषीः परं मन्दबुद्धे मन्दाक्षं न तु परम्। एवं 'पीतः शङ्खः' इति प्रत्यक्षेऽपि प्राचीनार्थाभावप्रत्यक्षं न बाधकम्, तस्येदानीमभावात्। न च तत्स्मृतिर्बाधिका, तस्या अनुभवाद् दुर्बलत्वात्। केवलं युक्त्युत्पादन एव सोपयुज्यते। तेन युक्त्यागमाभ्यामेवोदाहृत-स्थलेषु बाधः। यत्तु क्वचिद् युक्त्यादेर्बाधकत्वदर्शनमात्रेण सर्वत्र न बाधकत्वं वक्तुं शक्यम्, युक्त्यादिबाधकताया अनुम्रियमाणप्रत्यक्षगौरवनिबन्धनत्वादित्युक्तम्। एतदनुक्तोपालम्भनम्। न हि मया क्वचिद्दर्शनमात्रेण युक्तेर्बाधकतासर्वत्रोच्यते। अपितु चन्द्रप्रादेशिकत्वशङ्खपीतत्वप्रत्यक्षादौ यावदागमादेर्बाधकताप्रयोजकं दृष्टं तावत्सत्त्वेन। न च तत्रानुम्रियमाणं प्रत्यक्षमस्ति; यद्गौरवेण बाधकतायामन्यथासिद्धिं ब्रूयाः। तस्माच्चन्द्र-प्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्षस्य च तुल्यवदेव बाध्यता, युक्त्यागमयोश्च तुल्यवदेव बाधकतेति। नहि चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षेऽपि प्रागेव दुष्टकरणकत्वनिश्चयः; नैकट्यस्यापि क्वचिद्दोषत्वेन सर्वत्र परिमाणज्ञानाविश्वासप्रसङ्गात्, किन्त्वागमादिना बाधा-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पूर्वपक्षनिवारणार्थ है, स्मृतिविहित कर्मों में अप्रामाण्य का कारण लोभमोहादिविषयक ज्ञानाभाव होने पर और श्रुति से अविरोध होने पर स्मृतिप्रयुक्त आचमनादि कर्मों को ग्राह्यत्वेन समझना चाहिये।'' अतः यहां श्रुतिबोधित क्रम को वाधित करके मध्य में आचमन करने का निर्णय होने से स्मृति से श्रुति बाध्या हो गई)।

समाधान— वैसा नहीं, क्योंकि जो कुछ भी आपने कहा है, यह युक्ति ही है, क्योंकि जो जिस दूरस्थ वस्तु का अल्पपरिमाण ज्ञान होता है, वह ज्ञान उसके दूरत्व दोष से होने वाली अप्रमा है, जैसे पर्वतशिखरस्थ वृक्ष का उसके दूरत्व दोष से अल्पपरिमाणज्ञान होता है, वैसे हि चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष भी दूरत्वदोष निबन्धन अप्रमा है। तब तो इस प्रकार की युक्ति से ही चन्द्रप्रादेशिकत्वादि प्रत्यक्ष के बाध को कहने वाले आपने ''युक्ति से प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता'' ऐसा कहकर केवल लज्जा को जीत लिया, हे मन्द बुद्धे! दूसरे विपक्षी को तो नहीं जीता। इसी प्रकार ''शंख पीत है'' इस प्रत्यक्ष में भी प्राचीन (प्राथमिक) अर्थाभावप्रत्यक्ष बाधक नहीं, क्योंकि वह इस समय नहीं रहा; और अर्थाभाव की स्मृति भी बाधिका नहीं, कारण कि स्मृति अनुभव से दुर्बल है, केवल युक्ति के उत्पादन में ही उसका उपयोग है। इस कारण युक्ति (अनुमान) और आगम से ही उदाहृत स्थलों में बाध है। जो आपने कहा था कि— कहीं युक्त्यादि के बाधकत्व दर्शनमात्र से सर्वत्र बाधकत्व कहा नहीं जा सकता, क्योंकि युक्त्यादिनिष्ठ बाधकता के अनुम्रियमाण प्रत्यक्ष का गौरव निमित्तकत्व है, वह ठीक नहीं, क्योंकि यह तो अनुक्त का उपालम्भन है, हमने कहीं देखने मात्र से सर्वत्र युक्ति की बाधकता कहीं नहीं, किन्तु चन्द्रप्रादेशिकत्व, शंखपीतत्व के प्रत्यक्षादि में जितना आगमादिनिष्ठबाधकता का प्रयोजक देखा गया है, उतने प्रयोजक के सद्भाव से बाध्यकत्व कहा है। इस प्रयोजक में अनुम्रियमाण प्रत्यक्ष नहीं है, जिसके गौरव से बाधकता में अन्यथासिद्धि कही जाय। इस कारण चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष और प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्ष की समानरूप से ही बाध्यता है। और युक्ति और आगम में भी समान रूप से ही बाधकता है। और चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष में भी बाधोदय से पहले ही दुष्टकरणकत्व का

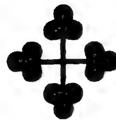
नन्तरमेव; तद्वत् प्रकृतेऽपि मिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरमेवाविद्यारूपदोषनिश्चयः। तथा च सर्वात्मना साम्यम्। यत्तु दृष्टस्य वस्तुनो बलवद्दृष्टिं विनाऽन्यद् बाधकं नास्तीत्युक्तम्, तत् दुर्बल–शब्दलिङ्गादिविषयम्। यदप्युक्तं विवरणे 'यत्राविचारपुरस्सरमेव प्रत्यक्षावभासमप्यनुमानादिना बाधितमुच्छिन्नव्यवहारं भवति तत्र तथा भवतु। यत्र पुनर्विचारपदवीमुपारूढयोर्ज्ञान–योर्बलाबलचिन्तया बाधनिश्चयस्तत्र नानुमानादिना प्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वसिद्धिः, इति, तदपि गृहीतप्रामाण्यकशब्दतदुपजीव्यानुमानातिरिक्तयुक्तिविषयम्। एकत्र प्रामाण्यनिश्चये बलाबल–चिन्ताया एवानवकाशात्।

इति प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

निश्चय नहीं होता, क्योंकि (जैसे दूरत्वदोष है, वैसे कहीं निकटत्व का भी दोषत्व होने से सर्वत्र परिमाणज्ञान में अविश्वास का प्रसङ्ग है; किन्तु आगमादि से बाध होने के बाद ही दुष्टकरणत्व का निश्चय होता है, उसी प्रकार से प्रकृत प्रपञ्च में भी अनुमादि से मिथ्यात्वसिद्धि होने के बाद अविद्यारूप दोष का निश्चय है। इसलिये चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षादि के साथ प्रपञ्चसत्यत्व प्रत्यक्ष का सर्वात्मना साम्य है। आपने जो कहा था कि दृष्ट वस्तु का बलवान् प्रत्यक्ष के बिना अन्य बाधक नहीं, वह दुर्बल शब्द और लिङ्गादिविषयक है (प्रबल शब्द और लिङ्गादि तो दृष्टवस्तु का बाधक होते ही हैं)। जो विवरण में कहा है–''जहां अविचारपूर्वक प्रत्यक्षरूप से अवभासित पदार्थ अनुमानादि से बाधित होकर उच्छिन्नव्यवहार (व्यवहार के अयोग्य) है, वहां प्रत्यक्ष वस्तु में मिथ्यात्व की सिद्धि हो, किन्तु जहां विचार पदवी को आरूढ़ (प्राप्त) दोनों ज्ञानों के बलाबल चिार मे बाध का निश्चय है, वहां अनुमानादि से प्रत्यक्ष वस्तु की मिथ्यात्वसिद्धि नहीं होती'' इति। वह भी. जिसका प्रामाण्य गृहीत हो गया है, ऐसा शब्द और उस शब्द के उपजीवी अनुमान के अतिरिक्त युक्ति का विषय है,क्योंकि बाध्य और बाधक में एक साथ प्रामाण्यका निश्चय होने पर बलाबलचिन्ता का अवकाश ही नहीं रहेगा।

इति प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



२४: अथ भाविबाधोपपत्तिः

एवञ्च 'भाविबाधनिश्चयाच्च' इति यदुक्तं तदप्युपपन्नमेव; प्रकारान्तरेणाबाधितस्य चन्द्रप्रादेकिशकत्वप्रत्यक्षस्य यथाऽऽगमेन बाधः, तथा प्रकारान्तरेणाबाधितस्य 'सन् घटः' इत्यादिप्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वबोधकागमेन बाध इति निर्णयात्। एवञ्च भाविबाधशङ्कामादाय यत्परैर्दूषणमुक्तं तदनुक्तोपालम्भनतयाऽपास्तम्। वस्तुतस्तु बाधशङ्कामादायापि प्रत्यक्षस्य बाधकतोद्धारः समीचीन एव; प्रत्यक्षशब्दयोर्बलाबलविचारात् प्राक् किमयं शब्द उपचरितार्थः? आहोस्वित् प्रत्यक्षमप्रमाणम्? इति शङ्कायामुभयोरबाधकत्वप्राप्तौ तात्पर्यलिङ्गैः श्रूयमाणार्थपरतया निश्चितस्यागमस्योपचरितार्थत्वशङ्काव्युदासेन लब्धावकाशत्वसम्भवात्। न च शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षाबाधकतया प्रत्यक्षान्तरस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेनाबाधकतया च बाधकसामान्याभावे निश्चिते बाधशङ्का न युक्तेति वाच्यम्। शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्ष-बाधकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्प्रत्येकं विशेषाभावनिश्चयेऽपि विशेषाणामियत्तानवधारणदशायां संशयसम्भवात्। प्रत्यक्षस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेन शङ्काविरहोपपादनस्यासम्भव-दुक्तिकत्वाच्च। अथैवं जाग्रदादिज्ञानस्याप्रमात्वे स्वप्नदृष्टस्य शुक्तिरूप्यादेश्च बाधासिद्धौ कथं दृष्टान्तसिद्धिः स्यादिति चेन्न, आरोप्यसत्ताऽधिकसत्ताकविषयत्वेनापेक्षिकप्रमाणत्वेना-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

और इसी प्रकार– "भाविबाध निश्चय होने से" ऐसा "जात्युपक्रमन्यायैः प्रत्यक्षप्राबल्यनिरासः" इस प्रकरण में जो कहा था, वह भी उपपन्न ही है, क्योंकि प्रकारान्तर से अर्थात् व्यावहारिकत्व रूप से चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष का जैसे आगम द्वारा बाध होता है, वैसे प्रकारान्तर से (व्यावहारिकत्वरूप से) अबाधित "सन् घटः" इत्यादि प्रत्यक्ष का मिथ्यात्वबोधक अनुमान से बाध होता है– ऐसा निर्णय होता है। और उस रीति से–भाविबाध शंका को लेकर जो विपक्षियों ने दूषण कहा था, वह अनुक्तोपालम्भण होने से खण्डित हुआ। वस्तुतस्तुप्रत्यक्ष की भाविबाधशंका को लेकर भी आगमादि निष्ठप्रत्यक्षबाधकता का उद्धार समीचीन ही है। कारण कि प्रत्यक्ष और शब्द के बलाबल विचार करने से पहले–क्या यह शब्द गौणार्थक है? अथवा प्रत्यक्षप्रमाण गौणार्थक ? ऐसी शंका होने पर, दोनों में अबाधकत्व की प्राप्ति होने पर उपक्रमोपसंहारादि षड्विध तात्पर्यलिङ्गों से शब्द की श्रूयमाणार्थपरता होने से, निश्चित आगम के गौणार्थत्व की शंका के निवारण से शब्दनिष्ठप्रत्यक्षबाधकता की शंका का लब्धावकाशत्व सम्भव है।

शंका– शब्द और लिङ्ग "सन् घटः" इत्यादि प्रत्यक्ष के अबाधक होने से और प्रत्यक्षान्तर तो अप्रमाणत्वेन शंक्यमान होने के कारण अबाधक होने से, बाधकसामान्य का अभाव निश्चित होने पर प्रत्यक्षबाध शंकायुक्त नहीं।

समाधान– ऐसा न कहिये, क्योंकि शब्द और लिङ्ग का प्रत्यक्षबाधकत्व पहले व्यवस्थापित हो चुका है, और प्रत्येक विशेषबाधकाभाव का निश्चय होने पर भी विशेषों में इतने ही बाधक हैं, इस प्रकार निश्चयाभाव की अव्यवस्था में प्रत्यक्षबाध की शंका हो सकती है और (तुम्हारे कथनानुसार) प्रत्यक्ष अप्रामाण्यरूप से शंक्यमान होने से, उस में शंकाविरह का उपपादन करना असंभवदुक्तिक हो जायेगा।

शंका– यदि वैसा ही है तो– जाग्रदादि ज्ञान का अप्रमात्व होने पर, स्वप्नदृष्ट पदार्थ और शुक्तिरूप्यादि की बाधासिद्धि होने पर, किस प्रकार अनुमान में शुक्तिरूप्य दृष्टान्त की सिद्धि होगी?

ऽन्यूनसत्ताकविषयत्वेन वा बाधकत्वात्। अत एव यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके–

प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रद्बोधे मृषा भवेत्।
स्वप्नादिदृष्टिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृतः।।

इति तत्सङ्गच्छते।

ननु भ्रमकालीनापरोक्षबुद्ध्यविषयविशेषविषयैव धीर्बाधिका दृष्टा, न च विश्वबाधिका धीस्तथेति चेन्न, अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, विश्वनिवर्तकब्रह्मज्ञानस्य तथात्वात्। न च सप्रकारिकैव धीर्भ्रमनिवर्तिका, इयन्तु निष्प्रकारिका कथं तथेति वाच्यम्, निवर्तकतायां सप्रकारकत्वस्य गौरवादप्रवेशात्।

नन्वावश्यकः सप्रकारकत्वनियमः व्यावृत्ताकारज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, अन्यथा अनुवृत्ताकारज्ञानादपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति चेत्? सत्यम्, व्यावृत्ताकारत्वेन ज्ञानस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान– नहीं,क्योंकि जाग्रदादिज्ञान आरोप्यवस्तु की सत्ता से अधिकसत्ताकविषयक होने से उसमें आपेक्षिक प्रमाणत्व रहने के कारण, अथवा अन्यूनसत्ताक विषयक होने के कारण, बाधक हो सकता है। इसलिये बौद्धों के प्रति कुमारिल भट्ट के वार्तिक में ''ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय की सत्ता को मानने वाले हमारे मत में दृष्ट अर्थात् प्रमात्वेन निश्चित प्रतियोगी अर्थात् बाधकतायोग्य जाग्रद्बोध होने पर स्वाप्नपदार्थादिविषयक ज्ञान बाध्य होता है। और ज्ञानातिरिक्त ज्ञेय को न मानकर कल्पितभेद से ज्ञान को ही ज्ञेय मानने वाले योगाचार तथा उस ज्ञान को भी मिथ्या मानने वाले माध्यमिक शून्यवादियों के मत में भेद अर्थात् स्वप्नादिज्ञान बाध्य है और जाग्रदादि ज्ञान बाधक है– ऐसा विशेष किससे प्रयुक्त है?'' इस प्रकार जो कहा है, उसका सङ्गत्व है।

शंका– ''इदं रजतम्'' इत्यात्मकभ्रमकालीन इदंत्वेन जो अपरोक्षज्ञान होता है, उस ज्ञान के अविषय शुक्तित्वादि विशेष को विषय करने वाला ज्ञान ही बाधक देखा जाता है, और विश्वबाधक ज्ञान तो वैसा नहीं (अर्थात् विश्वभ्रमनिवर्तक शुद्ध ब्रह्मज्ञान है, और शुद्ध ब्रह्म तो सद्रूप से सब भ्रमों में भासित होता है, इसलिये ब्रह्म निर्विशेष होने के कारण विश्वभ्रमनिवर्तक शुद्ध ब्रह्मज्ञान विशेषविषयक नहीं और अन्य भ्रमनिवर्तक ज्ञान विशेषविषयक है)।

समाधान– विशेषविषयकत्वेन ज्ञान भ्रमनिवर्तक नहीं, किन्तु अधिष्ठान तत्त्वज्ञानत्वेन भ्रमनिवर्तक है, और विश्वभ्रमनिवर्तक ब्रह्मज्ञान भी अधिष्ठानतत्वज्ञानत्वेन ही है।

शंका –परन्तु सप्रकारक ज्ञान ही भ्रमनिवर्तक है, यह ब्रह्मज्ञान तो निष्प्रकारक है तब वह भ्रमनिवर्तक कैसे होगा?

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि भ्रमनिवर्तक ज्ञान में सप्रकारकत्व का गौरव होने से प्रवेश नहीं।

शंका– भ्रमनिवर्तक ज्ञान में सप्रकारकत्व का नियम आवश्यक है, क्योंकि व्यावृत्ताकार ज्ञानत्व रूप से (अर्थात् व्यावर्तक धर्माश्रयविषयक ज्ञानत्वरूप से) यहां भ्रमविषय रजत हुआ, उससे व्यावर्तकधर्म शुक्तित्व है, उस शुक्तित्व का आश्रय शुक्ति है, तद्विषयकज्ञानत्वरूप से, ज्ञान का भ्रमनिवर्तकत्व है यदि व्यावृत्ताकारज्ञानत्वेन भ्रमनिवर्तकत्व नहीं मानेंगे तो अनुवृत्ताकार अर्थात् इदमाकार ज्ञान से भी भ्रमनिवृत्ति की आपत्ति होगी।

समाधान– ठीक है, व्यावृत्ताकारत्व रूप से ज्ञान की भ्रमनिवर्तकता है, किन्तु विशेष प्रकारकत्व का नियम नहीं। तथाहि–व्यावृत्ताकारता दो प्रकार से होती है– एक तो विशेषण से

भ्रमनिवर्तकता, न तु तत्र विशेषप्रकारकत्वनियमः। तथाहि–व्यावृत्ताकारता हि द्वेधा भवति। विशेषणादुपलक्षणाच्च। तत्राद्ये सप्रकारकत्वनियमः। द्वितीयेऽपि धर्मान्तरस्य यदुपलक्षणं तस्माद् व्यावृत्ताकारत्वे सप्रकारकतैव। यदि तु स्वरूपोपलक्षणाद् व्यावृत्ताकारता तदा निष्प्रकारतैव। उपलक्षणस्य तत्राप्रवेशात्, स्वस्य च स्वस्मिन्नप्रकारत्वात्। न च प्रमेयत्वादिवत् स्वस्यैव स्वस्मिन् प्रकारत्वमिति वाच्यम्। त्वयापि केवलान्वयिन्येवागत्या तथाङ्गीकारात्, न तु सर्वत्र। अथ आकारप्रकारयोरभेदाद् ब्रह्माकारतैव ब्रह्मबुद्धेस्तत्प्रकारतेति चेन्न, विशिष्टबुद्धेर्विशेष्याकारत्वेऽपि तदप्रकारकत्वात्, आकारप्रकारयोर्भेदात्। आकारश्च वृत्तिनिष्ठः कश्चिद्धर्मोऽसाधारणव्यवहारहेतुरिति वक्ष्यते। तस्माद्यथाऽऽकाशपदाच्छब्दाश्रयत्वोपलक्षितधर्मिस्वरूपमात्रं ज्ञायते, तद्वदत्रापि द्वितीयाभावाद्युपलक्षितब्रह्मस्वरूपज्ञानं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

और दूसरी उपलक्षण से (व्यावर्त्य पदार्थ से अन्वित व्यावर्तक पदार्थ विशेषण है, अत: विशेषण से व्यावृत्ताकार बुद्धि में भासमान व्यावर्तक धर्म को लेकर व्यावृत्ताकारता होती है, तथा व्यावर्त्य पदार्थ से अनन्वित व्यावर्तक पदार्थ उपलक्षण है; अत: उपलक्षण से व्यावृत्ताकारबुद्धि में अभासमान व्यावर्तक धर्म को लेकर व्यावृत्ताकारता होती है)। उनमें आद्य पक्ष में सप्रकारत्व का नियम है और द्वितीय पक्ष में भी "काकवद् गृहम्" इत्यादि स्थल में उत्तृणत्वादिरूप धर्मान्तर का जो काकादिरूप उपलक्षण है,उस काकादि को लेकर व्यावृत्ताकारत्व होने में सप्रकारता ही है (क्योंकि उत्तृणत्वादि के प्रति व्याप्यत्वेन ज्ञापक काकादिवत्त्व उपलक्षण है, कारण कि "उपलक्ष्यते ज्ञायतेऽनेन धर्मेण" इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ सिद्ध है। इसलिये काकादिवत्त्व से ज्ञापित उत्तृणत्वादि विशेपणरूप से गृहादि में प्रतीत होने से सप्रकारकत्वनियम यहां भी होता है)। और यदि धर्मान्तर के अनुपस्थापक स्वरूपोपलक्षण को लेकर व्यावृत्ताकारता होती है तो निष्प्रकारता ही है। क्योंकि उपलक्षण का व्यावृत्याकारबोध में अविषयत्व है और स्व का स्व में प्रकारत्व नहीं होता। (इस प्रकार का उपलक्षण "प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र:" इत्यादि में देखने में आता है)।

शंका– प्रमेयत्वादि के समान स्व में स्व का प्रकारत्व है (प्रेमेयत्वादि धर्म केवलन्वयी है, अत: प्रेमेयत्व में प्रमेयत्व का प्रकारत्व है, अन्यथा प्रमेयत्व में प्रमेयत्व न होने से प्रमेयत्व प्रमेय नहीं होगा)।

समाधान– ऐसा न कहो, कारण कि कोई गति न होने से आपने भी प्रमेयत्वादि केवलान्वयी धर्ममात्र में स्व में स्व का प्रकारत्व माना है, सर्वत्र तो नहीं माना (हमारे मत में तो निर्धर्मक चित् में प्रमेयत्वादि कोई धर्म न होने से केवलान्वयी का अङ्गीकार नहीं होता।)

शंका– आकार और प्रकार (विशेषण) में अभेद होने से ब्रह्माकारता ही ब्रह्मबुद्धि की ब्रह्मप्रकारता है।

समाधान– नहीं, क्योंकि विशिष्ट बुद्धि (विशेषणविशेष्यविषयक बुद्धि) का विशेष्याकारत्व होने पर भी विशेष्यप्रकारत्व नहीं होता, तथा आकार और प्रकार में भी भेद है। आकार तो वृत्तिनिष्ठ कोई एक धर्म है, जो असाधारण व्यवहार का हेतु है– ऐसा आगे प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्ति प्रकरण में कहेंगे। इसलिये उपलक्षण से व्यावृत्ताकारत्व संभव होने से जैसे आकाश पद से शब्दाश्रयत्व द्वारा उपलक्षित धर्मिस्वरूपमात्र जाना जाता है, वैसे ही इस ब्रह्मज्ञान में भी द्वितीयाभावादि से उपलक्षित ब्रह्मस्वरूप ज्ञान है और वह द्वैतनिवर्तकतायोग्य व्यावृत्ताकार अपरोक्षज्ञान है। और जिस प्रकार से शब्द से वह ज्ञान संभव होता है, वही प्रकार आगे "शब्दादपरोक्षोपपत्तिः" प्रकरण में कहा जायेगा।

व्यवृत्ताकारं द्वैतनिवर्तकमपरोक्षम्। यथा च शब्दात्तादृग्ज्ञानसम्भवस्तथा वक्ष्यते। न च बाधकधियां भ्रमतद्धेत्वज्ञानदोषाध्यस्तद्रष्ट्रादीनामबाधकत्वं दृष्टमिति कथं ब्रह्मज्ञानस्य तद्बाधकत्वं घटतामिति वाच्यम्। यत्र हि स्वप्ने द्रष्टारं दुष्टकरणवन्तं कल्पयित्वा तस्य भ्रमं कल्पयति, तत्र जागरज्ञानेन सर्वेषां निवृत्तिदर्शनात्। जाग्रद्दशायामपि यदा मनुष्यप्रतिकृतौ चैतन्यं कल्पयित्वा तत्समीपवर्तिन्यनादर्शे एवाऽऽदर्शत्वं कल्पयित्वा स्वप्रतिबिम्बमयं पश्यतीति कल्पयति, तदा "नायं चेतनो न चायमादर्शः" इति प्रमया सर्वनिवृत्तिदर्शनाच्च नेयमदृष्टचरी कल्पना। तथा चेयं शुक्तिरित्याद्यधिष्ठानज्ञानं रज्ज्वां सर्पभ्रममिव द्रष्ट्राद्यध्यासं मा निवीवृतत्, तत् कस्य हेतोः? तदधिष्ठानसाक्षात्कारत्वाभावात्, ब्रह्मज्ञानं त्वाकाशादि-प्रपञ्चभ्रममिव दुर्दोषादिभ्रममपि निवर्तयेदेव, तत्कस्य हेतोः? अशेषभ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षा-त्कारत्वात्। एवञ्च बाधबुद्धित्वं न दोषाद्यबाधकत्वे प्रयोजकम्, अपितु तद्भ्रमाधिष्ठानतत्त्व-साक्षात्कारभिन्नत्वमिति द्रष्टव्यम्। ननु कल्पिततत्वादुक्तदृष्टान्ते तद्बाध्यतामिह तु कथमिति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

(नैयायिकों के मत में आकाश पद से शब्दाश्रयत्वविशिष्ट में शक्तिग्रह नहीं होता, किन्तु शब्दाश्रयत्वोपलक्षित आकाशस्वरूपमात्र में होता है, क्योंकि आकाश एक ही व्यक्ति होने के कारण आकाश पद से व्यक्तिमात्र में शक्तिग्रह हो सकता है, उसके लिये शक्यतावच्छेदक शब्दाश्रयत्व की आवश्यकता नहीं, अत: शब्दाश्रयत्व आकाश पद का शक्यार्थ नहीं, जहां घटादि व्यक्ति अनेक हैं, वहां घटत्वादिविशिष्ट में शक्तिग्रह होता है, क्योंकि एक ही घटव्यक्ति में शक्तिग्रह हो जाय तो घटान्तर में घट पद का शाब्दबोध नहीं होगा। प्रकृत में भी वैसा समझना चाहिये।)

शंका — बाधक ज्ञान में भ्रम, भ्रम का हेतु अज्ञान और दोष तथा अध्यस्त का द्रष्टादियों में भ्रम, भ्रम हेतु अज्ञान और अध्यस्त का बाधकत्व होने पर भी सब का तो अबाधकत्व देखा जाता है (अर्थात् दोष और द्रष्टा अबाधित रह जाते हैं), तब किस प्रकार ब्रह्मज्ञान दोष और द्रष्टादि सहित सबका बाधक हो सकता है?

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि जिस स्वप्न में द्रष्टा को दुष्टकरणयुक्त कल्पित करके उस द्रष्टा के भ्रम की कल्पना होती है, उस स्वप्न में होने वाले द्रष्टादि सब की जाग्रतज्ञान से निवृत्ति देखने में आती है। और जाग्रदवस्था में भी जिस समय मनुष्य की मूर्ति में चैतन्य की कल्पना करके उसके समीपस्थ अदर्पण में ही दर्पणत्व की भी कल्पना करके वह मूर्तिरूपमनुष्य अपने प्रतिबिम्ब को देखता है— ऐसी कल्पना की जाती है, उस समय "यह मनुष्य तो न चेतन है, और न समीपस्थ पदार्थ भी दर्पण है" ऐसी प्रमा से सब के सब निवृत्त दिखने के कारण यह कोई अदृष्टचरी कल्पना नहीं है (इससे यह फलित हुआ कि " यह शुक्ति है" ऐसा अधिष्ठानज्ञान जिस प्रकार रज्जु में सर्पभ्रम को निवृत्त कर देता है, उसी प्रकार द्रष्टादि के अध्यास को निवृत्त न करे। किन्तु उसकी निवृत्ति न होने का क्या हेतु है? हेतु यह है कि उस समय द्रष्टादि अध्यास के अधिष्ठान का साक्षात्कारत्वाभाव है। और ब्रह्मज्ञान तो आकाशादि सर्वप्रपञ्च के भ्रम को जिस प्रकार निवृत्त कर देता है, उसी प्रकार द्रष्टा के दोषादि भ्रम को भी निवृत्त करा ही देता है। उसका कारण क्या है? कारण यह है कि— उस समय अशेष भ्रम के अधिष्ठानतत्त्व का साक्षात्कारत्व है। इसी से यह सिद्ध हुआ कि बाधबुद्धित्व दोषादि के अबाधकत्व में प्रयोजक नहीं; अपितु दोषादि भ्रमाधिष्ठानरूप ब्रह्मतत्व साक्षात्कार भिन्नत्व ही प्रयोजक है— ऐसा समझना चाहिये।)

शंका— कल्पितत्व होने से उक्त मनुष्य प्रतिकृत्यादि दृष्टान्त से भले ही द्रष्टादि का अध्यास

चेत्? हन्त ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कल्पितत्वमङ्गीकुर्वतामस्माकमिदमनिष्टं महदापादितं देवानां प्रियेण। ननु साक्षिप्रत्यक्षं न बाध्यम्, दोषाजन्यत्वात्, प्रत्युत श्रुतिजनिताद्वैतज्ञानमेव बाध्यम्, तात्पर्यभ्रमरूपदोषजन्यत्वादिति चेन्न, चैतन्यस्य स्वरूपतो दोषाजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, तत्प्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात्। अद्वैततात्पर्यग्रहस्य च प्रत्यक्षाद्यविरोधेन प्रमारूपतया दोषत्वाभावान्न तज्जन्यमद्वैतज्ञानं बाध्यम्; भ्रमजन्यत्वस्य विषयबाधाप्रयोजकत्वाच्च। न च बाधकतुल्यमानताकद्वैत-श्रुतिसंवादिद्वैतप्रत्यक्षं कथं बाध्यमिति वाच्यम्। द्वैतस्य प्रत्यक्षादिलौकिकमानसिद्धत्वेन तद्बोधकश्रुतेरनुवादकतया फलवदज्ञातस्वार्थतात्पर्यकाद्वैतश्रुतिसाम्याभावात्। ननु बाधकधी-बोध्यं न बाध्यम्, भेदश्च बाधकधीबोध्यः, तया स्वविषयस्य भिन्नत्वेनैव ग्रहान्नेदं रजतमितिवदभिन्नतयोदासीनतया वा ग्रहणे बाधकत्वायोगादिति चेन्न,बाधकधियो भेदविषय-त्वानभ्युपगमात्, इयं शुक्तिरित्येव बाधबुद्ध्युदयात्। तस्यास्तु नेदं रजतमिति भेदबुद्धिः फलम्। व्यावृत्ताकारतैव बाधधिय आवश्यकी, सा च स्वरूपोपलक्षणबलान्निष्प्रकारक-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

बाधित हो, प्रकृत में पक्षीभूत प्रपञ्च का कैसे बाध होगा?

समाधान— बड़े दुःख की बात है; ब्रह्मभिन्न सबके कल्पितत्व को अङ्गीकार करने वाले हमारे लिये आप जैस मूर्ख ने यह बड़ा भारी अनिष्ट आपादित किया है।

शंका— साक्षिप्रत्यक्ष तो बाध्य नहीं, क्योंकि वह दोष से जन्य नहीं, इसके विपरीत श्रुतिजनित अद्वैतज्ञान ही बाध्य है, कारण कि वह श्रुतितात्पर्यभ्रम रूप दोष से जन्य है (यहां अद्वैत में श्रुतितात्पर्य को द्वैतवादी अपनी दृष्टि से भ्रम कह रहा है)।

समाधान— नहीं, क्योंकि चैतन्य स्वरूपतः दोष से अजन्य होने पर भी उस चैतन्य की व्यावर्त्तिका अविद्यावृत्ति दोषजन्य है; उस अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही साक्षिपदार्थ है (क्योंकि जिस विषयाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बितचैतन्य उस विषय के प्रति साक्षी है)। और अद्वैत में तात्पर्यग्रह का प्रत्यक्षादि से अविरोध होने से प्रमारूपत्व होने के कारण दोषत्वाभाव होने से उस तात्पर्य ग्रह से जन्य अद्वैतज्ञान बाध्य नहीं, क्योंकि भ्रमजन्यत्व विषय के बाध में अप्रयोजक है (''यत्र भ्रमजन्यत्वं तत्र विषयबाधः'' इस व्याप्ति में धूलिपटल में धूमभ्रम से जन्य यथार्थानुमिति है, किन्तु उसके विषय अग्नि का बाध न होने से व्यभिचार स्पष्ट है)।

शंका— प्रपञ्चबाधिका अद्वैतश्रुति के साथ तुल्य प्रमाणताक द्वैतश्रुति से समर्थित द्वैतप्रत्यक्ष किस प्रकार बाध्य हो सकता है?

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि द्वैतप्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से सिद्ध होने से द्वैतबोधक श्रुति की अनुवादकता होने के कारण फलयुक्त अद्वैतरूप अज्ञात स्वार्थ में तात्पर्यवाली श्रुति के साथ समानता नहीं।

शंका— बाधक ज्ञान से बोध्य पदार्थ बाध्य नहीं, और भेद बाधकज्ञान से बोध्य है, क्योंकि उस बाधकज्ञान से अपने विषय को भिन्नत्व रूप से ही गृहीत होता है,क्योंकि ''यह रजत नहीं'' इस ज्ञान में जैसे बाधकत्व है, वैसे अभिन्नत्वरूप से उदासीनत्वरूप से ''यह शुक्ति है'' इस शुक्तिमात्र ज्ञान में बाधकत्व अयुक्त है।

समाधान— नहीं, क्योंकि बाधक ज्ञानमात्र का भेदविषयकत्व नियम नहीं माना जा सकता, क्योंकि ''यह शुक्ति है'' वैसी भी बाधबुद्धि का उदय होता है और उस बुद्धि का ''यह रजत

ब्रह्मज्ञानेऽप्यस्तीति न बाधकधीबोध्यत्वं भेदस्य।

ननु स्वप्नविलक्षणफलपर्यन्तपरीक्षायामपि चेच्छङ्का स्यात्, तदाऽद्वैतश्रुतिप्रत्यक्ष–तत्प्रामाण्यशङ्कायामद्वैतश्रुतिरपि न सिध्येत्। बाधेऽपि बाधशङ्कायामबाधितबाधप्रसिद्धिरपि न स्यात्। बाधितबाधशङ्कायाश्चाबाध्यत्वाविरोधित्वात्। भाविबाधेऽपि बाधशङ्कापातेन स्वक्रियाव्याघातश्च स्यात्। शङ्काप्रत्यक्षेऽपि शङ्कायां शङ्कापि न सिद्ध्येत्। एवं सर्वत्र शङ्काप्रसरात् सर्वविप्लवापत्तिरिति चेत्? मैवं मंस्थाः। यतः समत्वेन प्रमाणान्तर उपस्थित एव निश्चितेऽपि सत्त्वादौ शङ्का भवतीति ब्रूमः, न तु निश्चितमात्रे शङ्का भवतीति। तथा च यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके–

दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधोऽपि युज्यते।
गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिध्यति।।

इति, तदपि न विरुध्यते। गृहीतमात्रबाधस्य तच्छङ्कायाश्चानुक्तेः। ननु सत्त्वादिप्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावनिश्चये कथं शङ्कोदयः? न च क्लृप्तानामभावनिश्चयेऽप्यक्लृप्तस्य शङ्का स्यात्, शब्दे क्लृप्तवक्तृनिबन्धनदोषस्य नित्यत्वेन वेदेऽभावेऽपि दोषान्तरशङ्कायाः सुवचत्वात्। न च स्वाप्नप्रत्यक्षे तदा दूराद्यभावनिश्चयेऽप्यप्रामाण्यदर्शनेन तद्वदत्रापि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं'' यह भेदबुद्धि फल है। बाधबुद्धि में व्यावृत्ताकारता ही आवश्यकी है। और वह व्यावृत्ताकारता स्वरूपोपलक्षण के बल से निष्प्रकारक ब्रह्मज्ञान में भी होने से भेद का बाधकबुद्धिबोध्यत्व नहीं।

शंका – स्वप्नज्ञान से विलक्षण जाग्रद्घटादिज्ञान का सफलप्रवृत्तिजनकत्वरूप फलपर्यन्त जैसी होनी चाहिये, वैसी परीक्षा करने पर भी यदि शंका हो तो अद्वैतश्रुतिप्रत्यक्ष और अद्वैतश्रुति–प्रामाण्य में शंका होने पर अद्वैतश्रुति भी सिद्ध नहीं होगी। और बाध में भी बाध शंका होने पर अबाधित बाध की प्रसिद्धि भी नहीं होगी, क्योंकि बाधित बाध की शंका अबाध्यत्व की अविरोधिनी है। और भाविबाध में भी बाध शंका का आपात होने से स्वक्रिया में व्याघात होगा (अर्थात् अनुमान से साध्य प्रपञ्च मिथ्यात्व में प्रत्यक्षबाध निवारण के लिये की हुई वेदान्तिनिष्ठभावि– बाधशंकारूप क्रिया में पुनः बाध शंका करे तो व्याघात होगा)। और शंका प्रत्यक्ष में भी शंका होने पर शंका ही सिद्ध नहीं होगी। इसी प्रकार सर्वत्र शंका के प्रसरण से सर्वविप्लव की आपत्ति होगी।

समाधान– ऐसा न मानो, क्योंकि समानतारूप से विरोधी–प्रमाणान्तर उपस्थित होने पर ही, निश्चित होने पर भी सत्त्वादि में भी शंका होती है– ऐसा हम कहते हैं, निश्चित मात्र में तो शंका नहीं होती। इसलिये बौद्धों के प्रति भट्टवार्तिक में इस प्रकार जो कहा है– ''दुष्टज्ञान से गृहीत पदार्थ का प्रतिषेध भी युक्तियुक्त है। गृहीतमात्र अर्थात् आत्मानात्मरूप गृहीतमात्र का बाध स्वीकार करने पर तो स्वपक्ष अर्थात् माध्यमिक के मत में शून्यवाद भी सिद्ध नहीं होगा।'' वह भी विरुद्ध नहीं, क्योंकि गृहीतमात्र के बाध और गृहीतमात्र की बाध–शंका की उसमें अनुक्ति है। तात्त्विकविषयकप्रमाण के बिना बाध असम्भव है– यह अभिप्राय है।

शंका– सत्त्वादि प्रत्यक्ष में क्लृप्त (निश्चित) दूरत्वादि दोषों का अभावनिश्चय होने पर शंका का उदय कैसे होगा? यदि तुम कहो– क्लृप्त दोषों का अभावनिश्चिय होने पर भी अक्लृप्त दोष की शंका हो सकती है– तो ठीक नहीं; कारण कि शब्द में होने वाले वक्तृनिमित्तक क्लृप्त दोष का नित्यत्व होने से वेद में अभाव होने पर भी दोषान्तर की शंका सुवच हो जायेगी। यह भी न कहो कि स्वाप्नप्रत्यक्ष में, उस स्वप्नकाल में दूरत्वादि दोषाभाव का निश्चय होने पर भी

शङ्केति वाच्यम्; शून्यमेव तत्त्वमिति स्वाप्नवेदेऽपि तदा भ्रान्त्यादिदोषाभावनिश्चयेऽप्य-प्रामाण्यदर्शनस्य वेदेऽपि समानत्वात्; स्वप्नवैषम्यानुभवस्तूभयत्रापि समान इति चेत्। न, सत्त्वप्रत्यक्षाद्वैतागमयोः क्लृप्तदोषाभावनिश्चयस्य समानत्वेन प्रामाण्यशङ्कायामप्रतिबन्ध-कत्वात्। नहि सत्प्रतिपक्ष उभयत्र दोषाभावनिश्चयः किमत्र तत्त्वमिति जिज्ञासां प्रतिबध्नाति; विरुद्धविशेषादर्शनकालिकस्यैव विशेषदर्शनस्य शङ्काप्रतिबन्धकत्वात्, अवच्छेदकवृत्त्य-नित्यत्वेन च साक्षिप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वोक्तेः। अत एव यदुक्तं तार्किकैः

''तदेव ह्याशङ्क्यते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा न भवन्ति''।

उक्तञ्च भट्टवार्तिके बौद्धं प्रति-

इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपपद्यते। योग्यवस्थागतानान्तु न विद्मः किम्भविष्यति।। इति।

तथा च प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वादिह चोत्पत्तिस्वतस्त्वापवादस्य दोषस्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वापवादस्य बाधस्य चादर्शनात्, निर्मूलशङ्कायाश्च स्वक्रियाविरोधेनानुत्थानाभ्युपगमात् स्वस्थं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति तदपि निरस्तम्। आगमादिप्रमाणमूलकशङ्काया एव स्वीकारात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अप्रामाण्य दिखने में आने से, उसी प्रकार यहां सत्त्वप्रत्यक्ष में भी शंका है— क्योंकि जैसे तुम कहते हो वैसा ही स्वप्न में वेद से ''शून्य ही तत्त्व है'' ऐसा ज्ञात हुआ, और उस स्वप्नकाल में स्वाप्निक वेद में भी भ्रान्त्यादिदोषाभाव का निश्चय होने पर भी, अप्रामाण्य दिखने से वास्तविक वेद में भी अप्रामाण्य दर्शन की समानता आ जायेगी। और स्वप्न से वैषम्यानुभव तो जाग्रतत्कालीन प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्ष और वास्तविक वेद में भी समान है।

समाधान— नहीं, क्योंकि सत्त्वप्रत्यक्ष और अद्वैतागम दोनों में क्लृप्तदोषाभाव का निश्चय समान होने से वह निश्चय प्रामाण्यशंका में प्रतिबन्धक नहीं। सत्प्रतिपक्षस्थल में (साध्याभावसाधक हेत्वन्तर जिसका हो— ऐसे अनुमान स्थल में) एक ही धर्मी (पक्ष) में एक अनुमान की भावबोधकव्याप्ति होगी और दूसरे अनुमान की अभावबोधक व्यप्ति होगी; उन दोनों व्याप्तियों में दोषाभावनिश्चय ''इन दोनों में से कौन शुद्ध अनुमान है''? इस प्रकार की तत्त्व जिज्ञासा का प्रतिबन्ध नहीं करता; क्योंकि विरुद्धार्थ ग्राहित्वरूप विशेष के अनिश्चयकाल में प्रमात्वग्राहित्वरूप विशेष का निश्चय ही शंका का प्रतिबन्धक है। (और आपने कहा था कि दोषाजन्य होने से साक्षिप्रत्यक्ष अबाध्य है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि—) साक्षिचैतन्य की अवच्छेदिकावृत्ति अनित्य होने से साक्षिप्रत्यक्ष के दोषजन्यत्व की उक्ति है। अतएव, अर्थात् उक्त प्रकार से (यहां''अतएव'' यह पद दूरस्थ ''निरस्तम्'' पद से संबन्धित है) जो तार्किकों ने न्यायकुसुमाञ्जलि में कहा—''उसकी ही आशंका की जाती है, जिसकी शंका की जाने पर अपनी क्रिया में व्याघातादि दोष न हों'' और भट्टवार्तिक में बौद्धों के प्रति जो कहा है— इस जन्मावधिकाल में किसी के भी मत में सर्वबाध नहीं हो सकता। न जाने योगियों की अवस्था प्राप्त करने वाले लोगों की तो क्या अवस्था होती होगी। तब तो दोषशून्य ज्ञानसामान्यसामग्री से प्रमात्व की उत्पत्ति और बाधकधीशून्य ज्ञानग्राहकसामग्री से प्रमात्व की ज्ञप्ति में स्वतस्त्व होने से और प्रपञ्चप्रत्यक्ष में उत्पत्तिस्वतस्त्व का अपवादक दोष तथा ज्ञप्तिस्वतस्त्व का अपवादक बाध न दिखने से, और निर्मूल शंका का स्वक्रिया विरोध होने से अनुत्थान स्वीकृत होने से प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वस्थ है'' यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि आगमादिप्रमाणमूलक शंका का ही स्वीकार है। ''यह रजत नहीं'' इत्यादि रजतादि निषेध का तो, अद्वैतश्रुति का आनुकूल्य होने से शंकास्कन्दन अर्थात् शंकाविषयत्व नहीं। अतः वृद्धि को चाहने वाले के मूलहानि की आपत्ति नहीं (अर्थात्

रूप्यादिनिषेधस्य तु 'नेदं रजतम्' इत्यादेरद्वैतश्रुत्यनुगुणत्वेन नाप्रामाण्यशङ्कास्कन्दनम्। अतो न वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्तिः। नापि 'सन् घटः' इत्यादेः 'नेदं रजतम्' इत्यनेन समानयोगक्षेमता, अद्वैतश्रुतिविरोधाविरोधाभ्यां विशेषात्। अत एव सौषुप्तिकानन्दानुभवस्याप्यप्रामाण्ये कथमात्मन आनन्दरूपता तात्त्विकी, आनन्दश्रुतेरनुभूतातात्त्विकानन्दानुवादकत्वोपपत्तेरित्यपास्तम्; आनन्दस्य ब्रह्मरूपत्वेनाद्वैतश्रुतिविरोधाभावेन तदप्रामाण्यप्रयोजकाभावात्। अत एव नानन्दश्रुतेरप्रामाण्यम्। तदुक्तंखण्डने

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि। अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम्॥ इति।

उक्तञ्च सुरेश्वरवार्तिके—

अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात्। अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः॥ इति।

अत्र चाक्षादिवदिति निदर्शनं व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रेणेति द्रष्टव्यम्। एवञ्च तात्त्विकप्रामाण्याभावेऽपि प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रामाण्याभ्युपगमात् न स्वक्रियाव्याघातः। न वा—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमाः। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥

इत्यादिस्मृतिविरोधः। तस्मात्सिद्धं बाधनिश्चयेन तच्छङ्कया वा प्रत्यक्षादेरद्वैतागमानुमानाद्यविरोधित्वम्।

इतिभाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानरूप वृद्धि चाहने वाले वेदान्ती की दृष्टान्तासिद्धिरूप मूलहानि नहीं) और "सन् घटः" इत्यादि प्रत्यक्ष की "नेदं रजतम्" इसके साथ समानयोगक्षेमता भी नहीं; क्योंकि दोनों में अद्वैतश्रुति से विरोध और अविरोध रूप विशेष है। अतएव अर्थात् अद्वैतश्रुतिविरुद्धविषयकों से अन्य अप्रामाण्यशंकानास्कन्दित होने से— सुषुप्तिकालीन आनन्दानुभव का भी अप्रामाण्य होने पर कैसे आत्मा की आनन्दरूपता तात्त्विकी होगी? क्योंकि आनन्दविषयक श्रुति के अनुभूत अतात्त्विक आनन्द का अनुवादकत्व हो सकता है— यह कथन निरस्त हुआ। कारण कि आनन्द ब्रह्मरूप होने से, अद्वैतश्रुति से विरोधाभाव होने के कारण सौषुप्तानन्दानुभाव के अप्रामाण्य की शंका प्रयोजक नहीं। अतएव अर्थात् अप्रामाण्य की शंका प्रयोजक के अभाव से आनन्दविषयक श्रुति का अप्रामाण्य नहीं। इसलिये खण्डन में कहा है—"अत्यन्त असत् अर्थ में अर्थात् विवादस्थल में तात्कालिक बाधधी विषय में भी शब्द ज्ञान को उत्पन्न करा ही देता है। अतः इस शुद्धानन्द में शब्द अबाध होने से स्वतःप्रामाण्यरूप से निश्चला अर्थात् स्वकार्यक्षमा प्रमा को उत्पन्न करा ही देता है"। और सुरेश्वराचार्य कृत वार्तिक में भी कहा है—"श्रुति का इन्द्रियादि के समान अपने विषय में प्रमाणत्व है, क्योंकि श्रुति में अज्ञातज्ञापकत्व, दुष्टकारणरहितत्व और अबाधितत्व है।" यहां "अक्षादिवत् यह दृष्टान्त व्यावहारिक प्रामाण्यमात्र को लेकर दिया हुआ समझना चाहिये। इसलिये तात्त्विक प्रामाण्य का अभाव होने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यावहारिक प्रामाण्य स्वीकृत होने से स्वक्रिया में व्याघात नहीं होता और "प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध आगमरूप शास्त्र इन तीनों को धर्म के वास्तविक रूप को जानने की इच्छा वालों को सुविदित करना चाहिये।" इत्यादि स्मृति से भी विरोध नहीं होता। इसलिये भाविबाधनिश्चय से अथवा भाविबाध—शंका से प्रत्यक्षादि का आगम, अनुमानादि से अविरोधित्व सिद्ध है।

इति भाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारस्य राष्ट्रभाषानुवादः॥

२५: अथ मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधोद्धारः

स्यादेतत्— अध्यक्षस्य भिन्नविषयत्वादिना बाधाक्षमत्वेऽप्यनुमानमेव बाधकं स्यात्। तथा हि ब्रह्मप्रमान्येन वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षहेतुज्ञानान्येन वाऽबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, विमतं वा, सत्, परमार्थसद्वा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवद्वेति चेत्, न, त्वन्मते प्रातिभासिकस्याप्यसत्त्वेन व्यर्थविशेषणतया व्याप्यत्वासिद्धेः। अस्मन्मत-माश्रित्य हेतूकरणे च देहात्मैक्ये ब्रह्मज्ञानेतराबाध्ये व्यभिचारात्। न हि प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वादन्यत्। त्वया हि प्रातिभासिकस्य शुक्तिरूप्यादेरपक्षत्वाय सत्यन्तमाद्यं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — प्रत्यक्ष भिन्नविषयत्वादि से अर्थात् आगमानुमान के विषय मिथ्यात्व के अविरोधी व्यावहारिक सत्त्व को विषय करने वाला होने से आगमानुमान के बाध में अक्षम भले ही हो, तो भी अनुमान ही बाधक होगा। जैसे कि— ब्रह्मप्रमाभिन्नज्ञान से अबाध्यत्व होने पर, अथवा वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्यज्ञान से भिन्न ज्ञानद्वारा अबाध्यत्व होने पर अथवा मोक्ष हेतु ज्ञान से भिन्नज्ञान द्वारा अबाध्यत्व होने पर तथा असत्त्व का अनधिकरणत्व होने पर ब्रह्मभिन्न अथवा विवादास्पद जगत् सत् है अथवा परमार्थ सत् है,क्योंकि प्रातिभासिकत्व का अनधिकरणत्व होने पर असद्विलक्षणत्व उसमें है, जैसे ब्रह्म अथवा व्यतिरेक से अर्थात् साध्याभाव और साधनाभाव दोनों की व्यतिरेक व्याप्ति से शशशृङ्ग के समान है।

समाधान — नहीं, क्योंकि तुम्हारे मत में प्रातिभासिकत्व का भी असत्त्व होने से व्यर्थ विशेषणत्व होने के कारण हेतु की व्याप्यत्वासिद्धि है (व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार के होते हैं; एक तो सोपाधिक हेतु है और दूसरा साध्य के साथ असहचरित हेतु है। यह दूसरा व्याप्यत्वासिद्ध व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभाव से होता है। प्रकृत हेतु को यह दूसरा व्याप्यत्वासिद्ध समझना चाहिये। माध्व के मत में प्रातिभासिक को असत् मानने के कारण '' असद्विलक्षणत्व'' हेतु करने मात्र से प्रातिभासिक निवारित होता है। अतः प्रातिभासिकत्व विशेषण व्यर्थ है; इस कार्यत्वमात्र से यहां व्याप्यत्वासिद्धि की गयी है, क्योंकि व्याप्तिग्रह में प्रातिभासिकत्व का कोई उपयोग न होने से उसके सहित व्याप्तिग्रह में कोई प्रमाण नहीं। मूल में आगे यह स्पष्ट होगा) और यदि हमारे मत में आश्रय को लेकर हेतु दिया हुआ हो तो ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यदेहात्मैक्य में व्यभिचार है (क्योंकि उसमें हेतु है, किन्तु साध्य नहीं); प्रातिभासिकत्व तो ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व से भिन्न नहीं अर्थात् ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व है। तुमने ही शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थ को पक्षकोटि में न लाने के लिये आद्यसत्यन्त तीन विशेषण विकल्प से पक्ष में प्रक्षिप्त किये हैं। उनमें आद्य ''ब्रह्मप्रमाऽन्येनाबाध्यत्वे सति'' यह विशेषण '' ब्रह्म वृत्तिव्याप्य है''इस मत से दिया है (''ब्रह्म वृत्ति व्याप्य है'' का अर्थ है—''ब्रह्म ब्रह्माकारवृत्तिरूप प्रमा का विषय है'' यह कुछ आचार्यों का मत है; और मत के अनुसार अनुमान करते समय पक्ष में प्रातिभासिक पदार्थ न आ जाय, इस निमित्त '' ब्रह्मप्रमान्याबाध्यत्व'' पक्ष का विशेषण है, क्योंकि प्रातिभासिक में ब्रह्मप्रमान्यबाध्यत्व है, अबाध्यत्व नहीं)। ब्रह्म को वृत्तिव्याप्य न मानने वालों के पक्ष में तो शब्दजन्य प्रमा के प्रति तात्पर्यप्रमा हेतु है— इस मत से ''वेदान्ततात्पर्य प्रमितिजन्यज्ञानान्याबाध्यत्वे सति'' यह द्वितीय विशेषण पक्ष में दिया है (''वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में ही है'' इत्यात्मिका प्रमा से जन्य अविद्या और अविद्याप्रयुक्तजगत् के उच्छेदक चरमवृत्तिरूप ज्ञान से अन्य द्वारा अबाध्यत्व

विशेषणत्रयं विकल्पेन पक्षे प्रक्षिप्तम्। तत्र ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमिति मतेनाद्यम्, तदनभ्युपगमे तु शाब्दप्रमां प्रति तात्पर्यप्रमाहेतुरिति मतेन द्वितीयम्। अन्योन्याश्रयत्वान्न सा हेतुरिति मतेन तृतीयम्। तथा च प्रातिभासिकस्यासत्त्वानधिकरणत्वमङ्गीकृतमेव, अन्यथा तुच्छवारका-सत्त्वानधिकरणत्वविशेषणेनैव तद्व्यावृत्तावेतावत्प्रयासवैयर्थ्यापत्तेः। एवञ्च देहात्म्यैक्यस्यापि पक्षत्वे बाध एव। बाधे च सति पक्षविशेषणस्य पक्षत्वस्यासिद्ध्याऽऽश्रयासिद्धिरपि। अत एव स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषजन्यज्ञानाविषयत्वे सतीति वा, स्वबाधकाभिमताबाध्यबाधका-विषयत्वे सतीति वा, स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रातिभासिक पदार्थों में नहीं; किन्तु व्यावहारिक जगत् में ही है; इसलिये पक्ष कोटि में प्रातिभासिक पदार्थों का निवारण करने के लिये यह द्वितीय विशेषण है)। और ''अन्योन्याश्रयदोष होने से शाब्दप्रमा के प्रति तात्पर्यप्रमा हेतु नहीं'' इस मत से ''मोक्षहेतुज्ञानान्याबाध्यत्वे सति'' यह तृतीय विशेषण पक्ष में दिया। (प्रातिभासिक पदार्थ तो मोक्ष हेतुभूत ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्यात्मक ज्ञान से अन्य के द्वारा बाध्य है, अबाध्य नहीं, अत: पक्षकोटि में वह नहीं आया। और शाब्दप्रमा के प्रति तात्पर्यप्रमा को हेतु मानने पर अन्योन्याश्रयदोष इस प्रकार आता है—''तात्पर्यप्रमा होने पर शाब्दप्रमोत्पत्ति और शाब्दप्रमा होने पर तात्पर्य प्रमोत्पत्ति''। कारण कि तात्पर्य शाब्दप्रमानुकूल शक्ति है। अत: तात्पर्यप्रमा करने के लिये पहले शाब्दप्रमा अवश्य चाहिये, अन्यथा तात्पर्य प्रमा नहीं हो सकती)। तब तो आपने प्रातिभासिक का असत्त्वानधिकरणत्व मान ही लिया। यदि प्रातिभासिक को अङ्गीकार नहीं करेंगे तो तुच्छनिवारक असत्त्वानधिकरणत्व विशेषण से ही प्रातिभासिक की व्यावृत्ति होने पर इतना प्रयत्न (विकल्प करके तीन विशेषण देने का प्रयत्न) करना व्यर्थ हो जायेगा। इस प्रकार देहात्मैक्य भी पक्ष होने से बाध भी है (क्योंकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से देहात्मैक्य में सत्व या परमार्थसत्त्वरूपसाध्याभाव की सिद्धि है) और बाध होने पर पक्षतावच्छेदक पक्षविशेषण की असिद्धि से आश्रयासिद्धि भी होगी (क्योंकि पक्षतावच्छेदक की अप्रसिद्धि का नाम आश्रयासिद्धि है)। इस प्रकार बाधादिदोष होने से ही (हेतु में प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व के स्थान में) स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषजन्यज्ञानाविषयत्व (यहां स्वपद से प्रातिभासिक रजतादि लिया, उसका बाधकत्वेन अभिमत '' नेदं रजतम्'' यह ज्ञान हुआ, उससे अबाध्य भ्रमजनक दोष हुआ, उससे जन्यज्ञान ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमज्ञान हुआ, उसका अविषयत्व) विशेषण, अथवा स्वबाधकाभिमताबाध्यबाधकविषयत्व (स्वपद से शुक्तिरूप्यादि लिया, उसका बाधकत्वेन अभिमत ''इयं शुक्तिः'' इत्यात्मक ज्ञान हुआ, उस से अबाध्य बाधक ''नेदं रजतम्'' यह ज्ञान हुआ, उस ज्ञान का विषय रजतादि हुआ और अविषयत्व व्यावहारिक प्रपञ्च में रहा; अत: उक्ताविषयत्व) विशेषण, अथवा स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीन ज्ञानाबाध्यत्व (स्वपद से प्रपञ्चनिवर्तक ब्रह्मज्ञान लिया, उसका समानाधिकरण अर्थात् उसके साथ एक ही अन्त:करण में स्थित कर्म हुआ—यागादिजन्यापूर्व, उस कर्म के प्रागभावसमकालीन ''नेदं रजतम्'' इत्यादि ज्ञान से बाध्य शुक्तिरूप्यादि हुआ, और उससे अबाध्यत्व व्यावहारिक प्रपञ्च में रहा; अत: उक्ताबाध्यत्व) विशेषण का प्रक्षेप करने पर भी निस्तार नहीं, क्योंकि देहात्मैक्य में पूर्वोक्त बाधादि दोष की निवृत्ति ही नहीं होती। (ब्रह्मज्ञान समानाधिकरणादृष्टजनक कर्म का प्रागभाव ब्रह्मज्ञानानन्तर नहीं रहता, क्योंकि वह उस समय पुन: अदृष्ट धर्माधर्म को उत्पन्न नहीं करता)।

वा विशेषणप्रक्षेपेऽपि न निस्तारः। देहात्म्यैक्ये पूर्वोक्तदोषाव्यावृत्तेरेव।

यत्तु प्रथमे साध्ये व्यावहारिकसत्त्वमादाय सिद्धसाधनम्। द्वितीयसाध्ये तु वादिनः परमार्थत्वविशेषणं व्यर्थम्, व्यावर्त्याप्रसिद्धेरिति। तन्न, व्यावहारिकसत्त्वं सत्त्वेन व्यवहारमात्रमिति मतेन प्रथमप्रयोगात्। अनुगतं पृथग्व्यावहारिकं सत्त्वमिति तु मते द्वितीयः प्रयोगः। न च विशेषणं व्यर्थं परार्थानुमाने परं प्रति सिद्धसाधनोद्धारस्य तत्प्रयोजनत्वात्। ईश्वरानुमाने जन्यकृत्यजन्यमित्यत्र जन्यत्वस्येव विश्वपरमार्थत्ववादिनं प्रति परमार्थत्वस्य प्रमेयत्वादिवदुपरञ्जकत्वेन विशेषणत्वोपपत्तेश्च। तस्मात् पूर्वोक्त एव दोषः, हेतौ च व्यर्थविशेषणत्वदोषः। यद्यपि मतद्वयेऽप्यप्रामाणिकस्यापि निषेधप्रतियोगित्वाभ्युपगमा—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अब कुछ आचार्यों के इस अनुमान के खण्डन करने की प्रणाली का निराकरण करते हैं— जो प्रथम सत्त्वसाध्य में व्यावहारिकसत्त्व को लेकर सिद्धसाधन दोष देना और द्वितीय परमार्थसत्त्व साध्य में तो वादी माध्व के प्रति व्यावर्त्य की अप्रसिद्धि से परमार्थ विशेषण व्यर्थ है, वह ठीक नहीं, कारण कि— व्यावहारिकसत्त्व सत्त्वरूप से व्यवहारमात्र है (अधिष्ठानत्वेन प्रतीयमान ब्रह्म की सत्ता से व्यतिरिक्त नहीं); इस मत से सत्वसाधक प्रथम प्रयोग है; और पारमार्थिक सत्त्व के अतिरिक्त सर्वव्यावहारिकपदार्थानुगत व्यावहारिक सत्त्व है— ऐसा मानने वालों के मत में तो परमार्थसत्त्वसाधक द्वितीय प्रयोग है और सत्त्व का ''परमार्थ'' विशेषण व्यर्थ नहीं, क्योंकि परार्थ अनुमान में प्रतिवादी के प्रति सिद्धसाधन दोष का उद्धार करना उसका (विशेषण का) प्रयोजन है; जैसे कि—नैयायिकों द्वारा कर्ममीमांसक के प्रति ईश्वरानुमान में ''जन्यकृत्यजन्यम्'' इसमें जन्यत्व के समान प्रकृतानुमानकर्ता विश्वपरमार्थत्ववादी के प्रति प्रमेयत्वादि के समान परमार्थत्व भी अव्यावर्तकत्वरूप से विशेषण हो सकता है। (चिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्याय का यह ईश्वरानुमान है—''अदृष्टद्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यानि जन्यानि समवेतानि, स्वजनकादृष्टद्वार— कोपदानगोचराऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि, समवेतत्वे सति प्रागभावप्रतियोगित्वात्, यदेवं, तदेवम्, यथा घटः। नच जन्यत्वस्य व्यावर्त्याऽसिद्धिः; 'प्रमेयो घटः'' इतिवत् अव्यावर्तकत्वेऽपि तदुपरक्तबुद्धेरुद्देश्यत्वेन तस्योपरञ्जकत्वात्''। अर्थात् अदृष्टद्वारक जो उपादान है, तदुपादानविषयक जन्यकृति (जन्यप्रयत्न) से अजन्य और स्वसमवायिकारण में समवेत क्षित्यंकुरादिजन्य पदार्थ, स्वजनकादृष्टद्वारक उपादानविषयक अपरोक्षज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्नवालों से जन्य है, क्योंकि समवेतत्व होने पर प्रागभावप्रतियोगित्व उसमें है, जो समवेत होकर प्रागभावप्रतियोगी है, वह स्वजनकादृष्टद्वारकोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्य होता है, जैसे घट। और ''जन्य कृत्यजन्यानि'' इसमें जन्यत्व की व्यावर्त्यसिद्धि नहीं; क्योंकि 'प्रमेयो घटः'' इत्यादि में प्रमेयत्व की व्यावर्त्यासिद्धि होने पर केवलान्वयित्व होने से (अव्यावर्तकता होने पर) भी प्रमेयत्व से उपरक्तबुद्धि उद्देश्य होने से जिस प्रकार वह उपरञ्जक मात्र है,उसी प्रकार यहां भी जन्यत्व उपरञ्जकमात्र है। इसी प्रकार प्रकृतानुमान में भी द्वैतवादी माध्व के प्रति जन्यत्व या प्रमेयत्व के समान परमार्थत्व अव्यावर्तक होने पर भी उद्देश्यपूर्ति के लिये उपरञ्जकमात्र हो सकता है)। इसलिये देहात्मैक्य में बाधादि पूर्वोक्तदोष और हेतु में व्यर्थविशेषणत्व दोष ही होना चाहिये। यद्यपि द्वैतवादी माध्व और अद्वैतवादी सिद्धान्ती के मतद्वय में भी अप्रामाणिक पदार्थ का भी निषेधप्रतियोगित्व स्वीकृत होने से आरोपितत्वेन उभय (माध्व और सिद्धान्ती) सम्मतत्वरूप अथवा प्रतिभासमात्र शरीरत्व रूप प्रातिभासिकत्व की प्रसिद्धि है; यदि इसकी प्रसिद्धि को न माना

दारोपितत्वेनोभयसम्मतत्वरूपस्य वा प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपस्य वा प्रातिभासिकत्वस्य प्रसिद्धिरस्ति, अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मिथ्यात्वानुमाने प्रातिभासिकान्यस्यैव पक्षीकर्तव्यत्वाद् दोषसाम्यं स्यात्। तथापि हेतौ प्रातिभासिकत्वविशेषणं व्यर्थम्, अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपत्तेः, शुद्धमेव हि ब्रह्म दृष्टान्तत्वेनाभ्युपेयम्, धर्मवतो दृष्टान्तत्वे साध्यवैकल्यापत्तेः। साध्यन्तु बाधाभावरूपत्वादधिकरणस्वरूपमेव न धर्मः, धर्म्यतिरिक्ताभावानभ्युपगमस्योक्तत्वात्। तथा च चक्षुस्तैजसत्वानुमाने रूपादिषु मध्य इत्यस्यासिद्धिवारकस्यापि व्याप्तिग्रहौपयिकत्वेन व्यभिचारवारकविशेषणतुल्यतया यद्यपि सार्थकत्वम्, व्यभिचारवारकस्यापि सार्थकत्वे व्याप्तिग्रहौपयिकत्वमात्रस्य तन्त्रत्वात्, तथापि 'क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यं शरीराजन्यत्वात्' इत्यत्र शरीरस्येव व्याप्तिग्रहानुपयोगित्वेन प्रातिभासिकत्वस्य वैयर्थ्यमेव, आकाशादावजन्यत्वकर्तृजन्यत्वाभावयोरिवनिर्धर्मके ब्रह्मण्यनधिकरणत्वपरमार्थसत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहोपपत्तेः। तथा चैकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयासिद्ध्यापात्तिः। स्वरूपासिद्धिपरिहारार्थं विशेषणं प्रक्षिपतो व्याप्यत्वासिद्धिरित्यर्थः,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

जाये तो सिद्धान्त में भी मिथ्यात्व के अनुमान में प्रातिभासिक पदार्थों से भिन्न का ही पक्ष कर्तव्य होने से प्रतिवादी और सिद्धान्ती में पक्ष हेतु प्रसिद्धिरहितत्वरूप दोषसाम्य होगा। तथापि हेतु में ''प्रातिभासिकत्व'' विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि ''अनधिकरणत्व होने पर असत्त्वानधिकरणत्व'' मात्र ही परमार्थसत्त्व का साधक हो सकता है (यहां पर अनधिकरणत्व को वृत्तिनियामक संबन्ध से समझना चाहिये अर्थात् संयोग समवायान्यतर संबन्ध से अनधिकरणत्व समझना चाहिये। अतः ब्रह्म आध्यासिक तादात्म्यसंबंध से अधिकरण होने पर भी उसमें कोई दोष नहीं आता), क्योंकि शुद्ध ब्रह्म ही इस अनुमान से दृष्टान्तरूप से स्वीकर्तव्य है; धर्मविशिष्ट ब्रह्म का दृष्टान्तत्व होने पर परमार्थसत्त्वरूप साध्य से रहितत्व की आपत्ति होगी। परमार्थसत्त्वरूप साध्य तो बाधाभावरूप होने से अधिकरणस्वरूप ही है (अभाव भावान्तर के अतिरिक्त कुछ नहीं– इस सिद्धान्त को लेकर यहां बाधाभाव को अधिकरणस्वरूप कहा गया है, जैसे भूतल में घटाभाव भूतलरूप अधिकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं), वह धर्म नहीं, क्योंकि धर्मी (अधिकरण) से व्यतिरिक्त अभाव का अनङ्गीकार द्वितीयमिथ्यात्वप्रकरण में कहा जा चुका है। तब तो ''चक्षुः'' तैजसम्, रूपादिषु मध्ये रूपस्यैव व्यञ्जकत्वात्, दीपवत्'' इस चक्षुस्तैजसत्व के अनुभाव में हेत्वन्तर्गत ''रूपादिषु मध्ये'' यह अंश, दृष्टान्त–दीप में द्रव्यग्राहकत्व भी होने से स्वरूपासिद्धिवारक होता हुआ भी व्याप्ति ग्रहौपयोगित्वेन व्यभिचारवारकतुल्य होने से यद्यपि सार्थक है, क्योंकि व्यभिचारवारकः के सार्थकत्व में भी व्याप्तिग्रहौपयोगित्वमात्र प्रयोजक है; तथापि '' क्षित्यादिक कर्तृजन्य नहीं, शरीराजन्यत्व होने से'' इस अनुमान में हेतुगत ''शरीर'' विशेषण के समान व्याप्तिग्रहानुपयोगित्व होने से प्रकृतानुमान में भी प्रातिभासिकत्व विशेषण व्यर्थ ही है (चिन्तामणिकार ने कहा है– ''शरीराजन्यत्वे व्यर्थ विशेषणत्वम्, लाघवेनाजन्यत्वस्यैव व्याप्यत्वात्'' इति। इसलिये यहां भी प्रातिभासिकत्व व्यर्थ है, लाघव से ''अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्व'' ही व्याप्य अर्थात् हेतु हो सकता है); क्योंकि आकाशादि में जिस प्रकार अजन्यत्व और कर्तृजन्याभाव का व्याप्तिग्रह होता है, उसी प्रकार निर्धर्मक ब्रह्म में भी ''अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्व और परमार्थसत्त्व के व्याप्तिग्रह की उपपत्ति होती है। तब तो एक असिद्धि का परिहार करने वाले की दूसरी असिद्धि आ गई, अर्थात् स्वरूपासिद्धि के परिहारार्थ प्रातिभासिकत्व विशेषण को प्रक्षिप्त करने वाले की

व्याप्तावनुपयोगस्य दर्शितत्वात्। किञ्च व्यावहारिकसत्त्वमात्रेणैवोपपत्तेः, उक्तहेतोरप्रयोजकत्वम्, परमार्थसत्त्वे बाधानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराघाताच्च।

ननु ब्रह्मण्यसत्प्रातिभासिकव्यावृत्तिरूपं हेतुं प्रति व्यावर्तकतया प्रयोजकत्वेन परमार्थसत्त्वं क्लृप्तम्, अपृथिवीव्यावृत्तिं प्रति पृथिवीत्वस्येवासद्व्यावृत्तिं प्रति तद्विरुद्धसत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वात्, ज्ञानत्वानन्दत्वादिकन्तु न तत्प्रयोजकम्, साक्षादसत्त्वाविरोधित्वात्, प्रपञ्चे तदभावाच्च, तथा च ब्रह्मविश्वसाधारणं परमार्थसत्त्वमेव तत्प्रयोजकम्। न च विश्वमिथ्यात्वात्परमार्थसत्त्वमपि न विश्वसाधारणम्, ज्ञानत्वानन्दत्वादिवदिति वाच्यम्, अन्योन्याश्रयापत्तेरिति चेत्? अयुक्तमेतत्; न हि प्रातिभासिकासतोरेका व्यावृत्तिरुभयो वा समव्याप्ता, येनैकप्रयोजकप्रयोज्या भवेत्, किन्तु प्रातिभासिकव्यावृत्तिप्रयोजकं ब्रह्मविश्वासत्साधारणमेव वक्तव्यम्, असत्यपि प्रातिभासिकत्वाभावात्, एवमसद्व्यावृत्तावपि प्रयोजकं ब्रह्मविश्वप्राति-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

व्यर्थविशेषणत्वरूप व्याप्यत्वासिद्धि हो गई; क्योंकि विशेषणांश का व्याप्ति में अनुपयोग दर्शित हो चुका है। किञ्च– व्यावहारिक सत्त्वरूप साध्यमात्र से ही उक्तहेतु की उपपत्ति होने से परमार्थसत्त्वरूप साध्य में उसका अप्रयोजकत्व है, और "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद्विजानतः" इत्यादि श्रुति से अनुवादित बाध की अनुपपत्तिरूप प्रतिकूल तर्क से भी प्रपञ्चनिष्ठ परमार्थसत्त्व निराकृत है।

शंका– ब्रह्म में असत्प्रातिभासिकव्यावृत्तिरूप अर्थात् असत्प्रातिभासिकोभयप्रतियोगिक भेदवत्त्वरूप हेतु के प्रति अनुमापकत्व होने से परमार्थसत्त्व प्रयोजक होना निश्चित है (यहां अनुमान इस प्रकार होगा– "ब्रह्म असत्प्रतिभासिकोभयप्रतियोगिक भेदवत् परमार्थसत्त्वात्, व्यतिरेके यथा असदिति); क्योंकि अपृथिवीव्यावृत्ति के प्रति जैसे पृथिवीत्व प्रयोजक है, वैसे असद्व्यावृत्ति के प्रति असद्विरुद्ध सत्त्व ही प्रयोजक है। ज्ञानत्व, आनन्दत्वादि तो असत्प्रातिभासिककोभव्यावृत्ति के प्रति प्रयोजक नहीं, क्योंकि भावाभावरूप से साक्षात् असत्त्व के वे दोनों विरोधी नहीं; और प्रपञ्च में उन दोनों का अभाव भी है। तब तो ब्रह्म और विश्व में साधारण परमार्थसत्त्व ही असत्प्रातिभासिकोभयव्यावृत्ति का प्रयोजक है। यहां विश्व में मिथ्यात्व होने से परमार्थसत्त्व भी ज्ञानत्व और आनन्दत्वादि के समान विश्वसाधारण नहीं– ऐसा भी कहना नहीं चाहिये; क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय की आपत्ति है (अन्योन्याश्रय इस प्रकार है– विश्वमिथ्यात्व की सिद्धि होने पर परमार्थसत्त्व की अप्रयोजकत्वसिद्धि और परमार्थसत्व की अप्रयोजकत्व सिद्धि होने पर विश्वमिथ्यात्व की सिद्धि)।

समाधान– यह कथन अयुक्त है; क्योंकि प्रातिभासिक और असत् की एक ही व्यावृत्ति नहीं (अर्थात् दोनों का अन्यों से भेद एक नहीं, क्योंकि प्रातिभासिकत्वेन भेद से असत्त्वेन भेद अन्य ही है) अथवा समव्याप्ता उभयी व्यावृत्ति भी नहीं (अर्थात् प्रातिभासिक की व्यावृत्ति और असत् की व्यावृत्ति, दोनों व्यावृत्तियों का परस्पर व्याप्यत्व होकर परस्परव्यापकत्व भी नहीं–अर्थात्, यत्र प्रातिभासिकप्रतियोगिभेदः, तत्र असत्प्रतियोगिक भेदः, और यत्र असत्प्रतियोगिक भेदः, तत्र प्रतिभासिकप्रतियोगिक भेदः – ऐसी समव्याप्ति भी नहीं)। जिससे दोनों की व्यावृत्ति एक ही प्रयोजक से प्रयोज्या मानी जाय; किन्तु प्रातिभासिक व्यावृत्ति का प्रयोजक तो ब्रह्म, विश्व और असत् तीनों में साधारण ही वक्तव्य है; क्योंकि असत् में भी प्रातिभासिकत्व का अभाव है। इसी प्रकार असद्व्यावृत्ति में भी प्रयोजक ब्रह्म, विश्व और प्रातिभासिक तीनों को साधारण ही कहना

भासिकसाधारणमेव वक्तव्यम्, प्रातिभासिकेऽप्यसत्त्वाभावात्। तथा च प्रयोजकद्वयसमावेशादेव ब्रह्मण्युभयव्यावृत्त्युपपत्तौ नीलत्वघटत्वरूपावच्छेदकद्वयसमावेशोपपन्ननीलघटत्ववन्नातिरिक्त– प्रयोजककल्पनायामस्ति किञ्चिन्मानमिति कृतबुद्धय एव विदांकुर्वन्तु। नित्यत्वं चोपाधिः, तुच्छप्रातिभासिकयोर्नित्यत्वव्यतिरेके साध्यव्यतिरेकदर्शनात्। अत एवानिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वादित्यपि न हेतुः। किञ्च प्रमात्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वम्? तत्त्वावेदकत्वं वा? आद्ये दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यम्। न हि परमार्थसतः शुद्धस्य ब्रह्मणः सप्रकारक– ज्ञानविषयत्वम्। न च धर्मवतो दृष्टान्ततेत्युक्तम्, तस्य पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेन निश्चितसाध्य– वत्त्वाभावात्। द्वितीये तत्त्वावेदकत्वस्याबाधितविषयत्वरूपत्वेन साध्याविशेष–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

चाहिये, क्योंकि प्रातिभासिक में भी असत्त्व का अभाव है। तब तो असद्व्यावृत्ति और प्रातिभासिकव्यावृत्ति दोनों का प्रयोजकद्वय के साथ समावेश अर्थात् समानाधिकरणत्वेन स्थित ब्रह्मविश्वान्यतरत्वादि से ही ब्रह्म में असत्प्रातिभासिकोभयव्यावृत्ति की उपपत्ति होने पर (अर्थात्–" ब्रह्म असत्प्रतियोगिक– प्रातिभासिक प्रतियोगिकभेदद्वयवत्, ब्रह्मविश्वान्यतरत्वात्, विश्ववत्" इस प्रकार उभयव्यावृत्ति का अनुमापक ब्रह्मविश्वान्यतरत्व सम्भव होने पर), परमार्थसत्त्वरूप अतिरिक्त– प्रयोजक की कल्पना करने में कुछ भी प्रमाण नहीं, जैसे नीलत्व और घटत्वरूप अवच्छेदक द्वय के समावेश से नीलघटत्व उपपन्न होता है (अर्थात्– घटीय नीलरूप के प्रति कपालीय नीलरूप और घट के प्रति दण्डादि– इन दोनों नियत सामग्रियों से ही नीलघट की उत्पत्ति सिद्ध होने पर उसमें अन्य कारण की कल्पना नहीं की जाती, उसी प्रकार प्रकृत में भी क्लृप्त ब्रह्मविश्वान्यतरत्व से ही असत्प्रातिभासिकोभयव्यावृत्ति का अनुमान संभव होने पर, उसके लिये ब्रह्म और विश्व में साधारण परमार्थसत्त्वादिक की कल्पना करना अनुचित है; अन्यथा तुच्छ और ब्रह्म दोनों का विश्व में व्यावर्तक के असत्यत्व होने का प्रसङ्ग आ जायेगा)। इसलिये बुद्धिमान लोग ही इस अर्थ को समझें। और द्वैतवादिकृत इस अनुमान में "नित्यत्व" उपाधि है (कारण कि दृष्टान्तीभूत ब्रह्म में नित्यत्व का साध्यव्यापकत्व है और विमत प्रपञ्चरूप पक्ष में साधनाव्यापकत्व है। इसको मूल में आगे स्पष्ट करते हैं।) क्योंकि तुच्छ और प्रातिभासिक दोनों में उपाधिभूत नित्यत्व का अभाव होने पर सत्त्व और परमार्थसत्त्वरूप साध्य का अभाव देखा जाता है। (इसी से ज्ञात हुआ कि जहां अनित्यत्व है, वहां परमार्थसत्त्व नहीं है)। अतएव – अर्थात् बाधानुपपत्तिरूप प्रतिकूल तर्क तथा नित्यत्वरूप उपाधि होने से–"अनिषेध्यत्वरूप से प्रमा के प्रति साक्षाद्विषयत्व" रूप हेतु भी ठीक नहीं। किञ्च– यहां प्रमात्व तद्वान् में तत्प्रकारकत्व है क्या? अथवा तत्त्वावेदकत्व है? आद्य पक्ष में दृष्टान्त ब्रह्म में साधनवैकल्य है, क्योंकि परमार्थसत् शुद्ध ब्रह्म का सप्रकारकज्ञानविषयत्व नहीं हो सकता (तद्वति तत्प्रकारत्वरूप प्रमात्व का अर्थ है– रजतत्व विशिष्ट में रजतत्व प्रकारक ज्ञान, उसी प्रकार दृष्टान्तीभूत ब्रह्म में कोई न कोई एक धर्म चाहिये, जिससे तद्धर्मविशिष्ट ब्रह्म में तद्धर्मप्रकारक ज्ञान हो जाय, किन्तु शुद्ध ब्रह्म निर्धर्मक है, अतः उसमें "अनिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षद्विषयत्व" हेतुरहितत्व है)। और धर्मवद्ब्रह्म की दृष्टान्तता नहीं हो सकती– इस बात को पहले कह चुके हैं; कारण कि सधर्मक ब्रह्म (ईश्वर) का पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्व होने से उसमें निश्चित परमर्थसत्त्वरूप साध्यवत्त्व का अभाव है। द्वितीय पक्ष में भी–तत्त्वावेदकत्व का अबाधितविषयकत्व रूप होने से, परमार्थसत्त्वरूप साध्य से अविशेष में ही पर्यवसान होने से, पक्ष में हेतुका ज्ञान होने पर साध्य का ज्ञान स्वतः होने से सिद्ध साधन है ("तत्वावेदकत्वं प्रमात्वम्" इसमें तत्वावेदकत्व

पर्यवसानाद्धेतुग्रहे सिद्धसाधनम्, हेत्वग्रहे तु स्वरूपासिद्धिः। यत्तु प्रमाविषयत्वमात्रेणैव परमार्थत्वोपपत्तौ विशेषणे व्यर्थे, इति। तन्न, पुरोवर्तिनं रजततया जानामीत्याद्यनुव्यवसाय–रूपप्रमाविषये प्रातिभासिके व्यभिचारवारकत्वात् साक्षात्पदस्य, तत्रैव च मिथ्यात्वप्रमितेः साक्षाद् विषये व्यभिचारवारकत्वादनिषेध्यत्वेनेत्यस्य। न ह्यनुव्यवसायमिथ्यात्वप्रमे भ्रमे भवतः। नाप्यनिषेध्यत्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वं हेतुः, सत्यत्वसिद्धिं विनाऽनिषेध्यत्वेने–त्यस्यासिद्धेः। तथा चान्योन्याश्रयः। न चेश्वरज्ञानविषयस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, मिथ्याभूतस्य मिथ्यात्वेनैव ग्रहणात्, ऐन्द्रजालिकवद् भ्रान्तत्वायोगात्,अन्यथा सविषयकभ्रमज्ञातृत्वेन भ्रान्तत्वस्य दुर्वारत्वापत्तेः। अथ निषेध्यत्वेन ज्ञाने तत्पालनार्थमीश्वरस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्? न, ऐन्द्रजालिकप्रवृत्तिवदीश्वरप्रवृत्तेरपि तथाविधत्वात् । नापि सप्रकारा–बाध्यार्थक्रियाकारित्वं हेतुः, सप्रकारकजाग्रद्बोधाबाध्यस्वप्नजलावगाहनप्रियासङ्गमादि–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का अर्थ है– अबाधितविषयत्व और अबाधितत्व का अर्थ है– परमार्थसत्त्व; तब तो पक्ष में हेतुज्ञान होने के साथ ही साध्यज्ञान ही हो गया, पर के प्रति अनुमान करने की कोई आवश्यकता नहीं रही। करेंगे तो हेतुकोटि में साध्य आने से सिद्धसाधनदोष होगा)। यदि पक्ष में हेतु होने का ज्ञान ही नहीं है तो स्वरूपासिद्धि होगी (क्योंकि पक्ष में हेतु न होने का नाम स्वरूपासिद्धि है)। और इसमें जो कोई कहते हैं– प्रमाविषयत्वमात्र से ही परमार्थत्व संभव होने पर दोनों विशेषण अर्थात् " अनिषेध्यत्वेन" और "साक्षात्" पद देना व्यर्थ है; सो ठीक नहीं, क्योंकि "पुरोवर्ती पदार्थ को रजतरूप से जानता हूं" इत्यादि अनुव्यवसायरूप प्रमा के विषय प्रातिभासिकररजत में व्यभिचार–निवारक यह साक्षात्पद है (क्योंकि अनुव्यवसायज्ञान का विषय साक्षात् नहीं होता, किन्तु व्यावसायज्ञान के द्वारा परम्परा से होता है, साक्षाद्विषय तो व्यवसाय का ही होता है) और "यद् रजतमभात्, तन्मिथ्या" इस मिथ्यात्व प्रमा के साक्षाद्विषय प्रातिभासिक रजतादि में व्यभिचार निवारण के लिये "अनिषेध्यत्वेन" यह विशेषण है, क्योंकि अनुव्यवसाय प्रमा और मिथ्यात्वप्रमा भ्रम नहीं होती। और "ईश्वर के प्रति अनिषेध्यत्वेन साक्षादपरोक्षत्व" भी हेतु नहीं; क्योंकि प्रपञ्च की सत्यत्वसिद्धि बिना "अनिषेध्यत्वेन" इस विशेषण की असिद्धि है। तब तो इसमें अन्योन्याश्रय है (प्रपञ्च की सत्यत्वसिद्धि होने पर अनिषेध्यत्व सिद्धि और प्रपञ्च की अनिषेध्यत्वसिद्धि होने पर सत्यत्वसिद्धि– इस प्रकार अन्योन्याश्रय है)। और ईश्वरज्ञान के विषय प्रपञ्च का मिथ्यात्व होने पर, ईश्वर में भ्रान्तत्व का प्रसङ्ग भी नहीं, क्योंकि मिथ्याभूत प्रपञ्च को मिथ्यात्वरूप से ही ग्रहण करने के कारण–ऐन्द्रजालिक के समान ईश्वर में भ्रान्तत्व असङ्गत है, यदि मिथ्यात्व वस्तु को मित्थ्यात्वरूप से समझने वाले ज्ञाता का भ्रान्तत्व मानेंगे तो बाधितविषयकभ्रम के ज्ञातृत्वरूप से भ्रान्तत्वव्यवहार दुर्वार होगा। ("दर्पण में मेरा मुख है" ऐसा बाधितविषयक भ्रम होता है, इस भ्रम के ज्ञाता को कोई भी भ्रान्त नहीं कहता, किन्तु प्रतिवादी के कथनानुसार तो उसको भी भ्रान्त कहना चाहिये; तब तो उस ज्ञाता में भ्रान्तत्व व्यवहार अवश्य होना चाहिये, परन्तु होता नहीं, अत: प्रतिवादी का कथन ठीक नहीं)।

शंका– प्रपञ्च का निषेध्यत्वेन ज्ञान होने पर उसको पालन करने के लिये ईश्वर की प्रवृत्ति नहीं होती?

समाधान– नहीं, क्योंकि ऐन्द्रजालिक की प्रवृत्ति के समान परमात्मा की प्रवृत्ति भी मिथ्यात्वेन ज्ञायमान होने से व्यवहारमात्र है और "सप्रकारकज्ञान से अबाध्य अर्थक्रियाकारित्व"

विशेषिताप्रमाणीभूतज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वदर्शनेन तद्विषये तत्र व्यभिचारात्। अथ तत्र ज्ञानमेव सुखादिजनकं तच्चाबाध्यमेवेति मतम्, तदसत्, ज्ञानमात्रस्य हि तादृक्सुखाजनकत्वेन किञ्चिद्विशेषितस्यैव तथात्वं वाच्यम्, ज्ञाने च विशेषो नार्थातिरिक्त:। तदुक्तम्— 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' इति। अर्थेनेत्यर्थ एवेत्यर्थ:। तथा च मिथ्याभूतविशेषितस्य जनकत्वाभ्युपगमे मिथ्याभूतस्यापि जनकत्वाद् व्यभिचार एव। तथा चोक्तं शास्त्रदीपिकायां बौद्धं प्रति— 'अथ सुखज्ञानमेवार्थक्रिया, तच्चाव्यभिचार्येव। न हि क्वचिदप्यसति सुखे सुखज्ञानमस्तीत्याशङ्क्यसत्यमेतन्न तु तेन पूर्वज्ञानप्रामाण्याध्यवसानं युक्तम्, अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनात्' इति। ननु विषयविशेषोपलक्षितस्यैव ज्ञानस्य सुखजनकत्वमस्तु, तत्कुतो विषयस्य जनकत्वमिति चेन्न, स्वरूपाणामननुगततया

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भी हेतु नहीं; क्योंकि सप्रकारक (सविकल्पक) जाग्रद्बोध से अबाध्य जो स्वप्नजलावगाहनप्रिया संगमादि से विशिष्ट अप्रमाणीभूतज्ञान होता है, उस ज्ञान का अर्थ क्रियाकारित्व देखने में आने से उस ज्ञान के विषय जलावगाहनादिमें व्यभिचार है। (सप्रकारक जाग्रद्बोध से स्वप्नकालीन जलावगाहनादि बाधित होने पर भी उसका ज्ञान बाधित नहीं होता, यदि बाधित होता तो ''स्वप्नकाल में मैंने जलावगाहनादि नहीं किया था'' ऐसा जाग्रद्बोध होता, किन्तु ऐसा होता नहीं; और उस ज्ञान से स्वप्नकाल में सुखादि का भी अनुभव हुआ था, अत: उस ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व मानना ही होगा, परन्तु निर्विषयक ज्ञान न होने से उस ज्ञान के मिथ्याभूत जलावगाहनादि विषय में भी अर्थक्रियाकारित्व अवश्य मानना होगा; तब तो जलावगाहनादि में भी हेतु चला गया और साध्य पारमार्थिकत्व नहीं, इसलिये व्यभिचार स्पष्ट है)। यहां स्वाप्निक ज्ञान को अबाधित कहने का अभिप्राय अर्थक्रियाकारित्व मात्र से है, स्वरूपत: अबाधित नहीं, क्योंकि विषयबाध से ज्ञान का भी स्वरूपत: बाध होता है। यदि स्वप्न में ज्ञान ही सुखादिजनक है और वह अबाध्य ही है— ऐसा आपका मत हो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानमात्र जलावगाहनादिनिमित्तक सुखादि का अजनक होने से किञ्चिद्विशिष्ट ज्ञान का ही उक्तसुखादिजनकत्व कहना चाहिये। और ज्ञान में विशेष तो अपने विषयभूत अर्थ से अन्य कोई है नहीं; उदयनाचार्य ने कहा भी है— ''ज्ञान निराकार होने से उसमें अर्थ ही विशेष है'' यहां ''अर्थेन'' का अर्थ ही'' यह अर्थ है। तब तो मिथ्याभूतार्थ विशिष्ट ज्ञान का जनकत्व स्वीकृत करने पर मिथ्याभूतार्थ का भी जनकत्व होने से व्यभिचार ही है। जैसा कि शास्त्रदीपिका में बौद्ध के प्रति स्वप्नज्ञानके अप्रमात्व के संबन्ध में कहा है—'' सुखज्ञान ही अर्थ क्रिया है, और वह सुखज्ञान अपने विषय सुख से अव्यभिचारी ही है। क्योंकि सुख न होने पर कहीं भी सुखज्ञान नहीं होता—ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं—ठीक है, सुखज्ञान सुख से व्यभिचारी नहीं होता, परन्तु उस सुखज्ञान से स्वकारणीभूत पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करना तो अयुक्त है; क्योंकि अप्रमाणीभूत प्रियासंगमविज्ञान से स्वप्नावस्था में सुख देखने में आता है।'' इति।

शंका— प्रियासङ्गमादिविषय विशेष से उपलक्षित ज्ञान का ही सुखजनकत्व हो, तब किस कारण से विषयका सुखादिजनकत्व होगा?

समाधान— नहीं; क्योंकि ज्ञान के स्वरूपों की अननुगतता होने से ज्ञानत्वादि की अतिप्रसक्ततता होने से अनुगत और अनतिप्रसक्त ज्ञाननिष्ठोपलक्ष्यतावच्छेदक के अभाव से उपलक्षणत्व असम्भव है। (अभिप्राय यह है कि विषय से उपलक्षित ज्ञान मान लिया जाय तो

ज्ञानत्वादेश्चातिप्रसक्ततयाऽनुगतानतिप्रसक्तोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावादुपलक्षणत्वासम्भवात्। ननु विशेषणत्वमप्यसम्भवि, अनागतज्ञानजन्यैतत्कालाविद्यमानस्य विषयस्य पूर्वभावित्व-रूपजनकत्वासम्भवादिति चेन्न, स्वव्यापारजन्ये व्यापारिणोऽसतोजनकत्ववत् स्वज्ञानजन्येऽप्यसतो जनकत्वसम्भवात्। अतीतानागतावस्थस्यासत्त्वधर्माश्रयत्वेनैवाभ्युपगमात्, अन्यथा ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वतज्ज्ञानविषयत्वादीनामनाश्रयत्वापत्तेः, प्रमाणबलात् कारणत्वाभ्यु-पगमस्यात्रापि तुल्यत्वात्।

किञ्च; स्वरूपाबाध्यस्य विषयाबाध्यत्वदर्शनेन विषयबाधे स्वरूपबाधस्यावश्यकतया स्वप्नादिज्ञानं सदेवेत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अनादित्वस्य विषमव्याप्तस्योपाधित्वाच्च।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

उपलक्ष्यज्ञाननिष्ठोपलक्ष्यता का कोई न कोई अवच्छेदक धर्म चाहिये, वह धर्म स्वयं विषय तो नहीं हो सकता, जैसे "काकवद्गृह" इसमें काक से उपलक्षित गृहनिष्ठोपलक्ष्यता का अवच्छेदक धर्म उत्तृणत्व है, काक नहीं, वैसे ही "प्रियासंगमादिज्ञान सुख का हेतु है" इत्यादि में भी ज्ञाननिष्ठोपलक्ष्यता का अवच्छेदक धर्म चाहिये; क्योंकि ज्ञानव्यक्तियों के स्वरूप अनेक होने से एक अनुगत धर्म के बिना वह हेतु बन नहीं सकता, और ज्ञानत्व को भी अवच्छेदक कह नहीं सकते क्योंकि वह सब ज्ञानों में रहने से अतिप्रसक्त होता है। अतः अनुगत और अनतिप्रसक्त ज्ञाननिष्ठोपलक्ष्यतावच्छेदक के अभाव से विषय का उपलक्षण होना असम्भव है।)

शंका – ज्ञान में विषय का विशेषण होना भी असम्भव है, क्योंकि अनागतार्थविषयकज्ञानजन्य इच्छाप्रवृत्तिरूपकार्यादि में ज्ञानकाल में अविद्यमान विषय का कार्यपूर्वभावित्वरूपजनकत्व असम्भव है।

समाधान– नहीं, क्योंकि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि स्थल में स्वशब्दवाच्य यागादि रूपव्यापारिनिष्ठ अपूर्वरूप व्यापार से जन्य स्वर्गादि के प्रति जिस प्रकार असत् (क्रियात्मक होने से स्वर्गादिफलकाल में सत्) व्यापारी यागादि का जनकत्व होता है, वैसे ही भाविविषय ज्ञानजन्य इच्छाप्रवृत्त्यादि कार्य के प्रति असत् भाविविषय का भी जनकत्व सम्भव है, क्योंकि अतीतानागतावस्था विशिष्ट विषय को असत्त्वधर्म का आश्रय माना जाता है; यदि वैसा नहीं मानेंगे तो ध्वंस और प्रागभाव के प्रतियोगित्व का तथा ध्वंस और प्रागभाव के प्रतियोगिज्ञानविषयत्व का अनाश्रयत्व होगा (यदि अतीतावस्थाविशिष्ट घट को नहीं मानेंगे तो घटध्वंसप्रतियोगित्व कहां रहेगा? इसी प्रकार अनागतावस्थाविशिष्ट घट को नहीं मानेंगे तो घटप्रागभाव प्रतियोगित्व कहां रहेगा? तथा ध्वंसप्रतियोगिघटज्ञान का विषयत्व और प्रागभावप्रतियोगीघटज्ञान का विषयत्व कहां रहेंगे? सबका अनाश्रयत्व प्रसङ्ग होगा)। और प्रमाणबल से कारणत्व का अङ्गीकार तो यहां अवर्तमान विषय में भी तुल्य है।

किञ्च – स्वरूप से अबाध्यज्ञान के विषय में बाध्यत्व देखने से विषयबाध होने पर ज्ञानस्वरूप का बाध आवश्यक होने पर स्वप्नादिज्ञान अबाध्य सत् ही है; ऐसा कह नहीं सकते ("अथ तत्र ज्ञानमेव सुखादिजनकम्, तच्चाबाध्यमेवेति मतम्" इस प्रकार पूर्ववादी ने कहा था, उसका यह उत्तर है। "जिस ज्ञान में स्वरूपतः बाध्यता नहीं, उस ज्ञान में विषयतः भी बाध्यता नहीं" इस नियम से विषयाबाध स्वरूपाबाध का व्यापक होने से, विषयाबाधरूप व्यापक के अभाव से, ज्ञानस्वरूपाबाधरूपव्याप्य का अभाव स्वतः सिद्ध है)। और इसमें विषमव्याप्त "अनादित्व" उपाधि होने से दूषितहेतु है। ("यत्र सप्रकारकज्ञानाबाध्यार्थक्रियाकारित्वं तत्र परमार्थसत्त्वम्" इस व्याप्ति में "अनादित्व" उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त ब्रह्म में अनादित्व है और साध्य

न चार्थक्रियाकारित्वं प्रति परमार्थसत्वस्य ब्रह्मणि प्रयोजकत्वेनावधारणादकारणककार्योत्पत्तिरूपविपक्षबाधकतर्केण हेतोः साध्यव्यापक (व्याप्य)तया तदव्यापकतयोपाधेः साध्याव्यापकत्वमिति वाच्यम्। प्रातिभासिकरज्जुसर्पादौ भयकम्पादिकार्यकारित्वदर्शनेन प्रातिभासिकसाधारणस्य तुच्छव्यावृत्तस्य प्रतीतिकालसत्त्वस्यैवार्थक्रियाकारित्वं प्रति प्रयोजकत्वात्। प्रातिभासिकस्यार्थक्रियाकारित्वानभ्युपगमे सप्रकारकाबाध्येति हेतुविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः। कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले केनापि पुरुषेणाबाध्यत्वं हि परमार्थसत्त्वम्, तदपेक्षया प्रतीतिकालसत्त्वस्य लघुत्वाच्च। किञ्च शुद्धस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् साधनविकलत्वमुपहितस्य पक्षनिक्षेपात् साध्यविकलत्वम्। आरोपितमिथ्यात्वकत्वादित्यपि न हेतुः। आरोपितत्वं प्रातिभासिकत्वञ्चेत्, प्रपञ्चे हेतोरसिद्धिः, तत्सिद्धेः पारमार्थिकत्वसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात्। व्यावहारिकत्वञ्चेत्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारः। उभयसाधारण्येऽप्ययमेव

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

परमार्थसत्व भी; अतः साध्यव्यापकत्व सिद्ध है, किन्तु '' यत्र परमार्थसत्वम् तत्र अनादित्वम्'' यह विषमव्याप्ति है, समव्याप्ति नहीं, क्योंकि अविद्या, प्रागभावादि अनादि पदार्थों में परमार्थसत्व नहीं, उपाधि समव्याप्त ही होनी चाहिये, ऐसा नियम नहीं; व्यभिचाररहित विषमव्याप्तिघटित भी उपाधि हो सकती है, उसमें इतना विशेष है कि ''पक्षेतरत्व'' से भिन्नत्व होना चाहिये; समव्याप्ति मानने का अभिप्राय भी केवल ''पक्षेतरत्व'' को उपाधि होने से निवारित करना है। और यह अनादित्व पक्ष प्रपञ्च में नहीं और हेतु है, अतः साधनाव्यापक है। तथा पक्ष में अनादित्व व्यापक के अभाव से परमार्थसत्त्वसाध्य व्याप्य का अभाव सिद्ध है)।

शंका— ब्रह्मनिष्ठ अर्थक्रियाकारित्व के प्रति परमार्थसत्त्व प्रयोजक होने का निश्चय होने से अकारणक कार्योत्पत्तिरूप विपक्षबाधकतर्क (''यदि घटादौ परमार्थसत्त्वं न स्यात्, तर्हि अर्थक्रियां प्रति घटादिकारणं न स्यात्'' इस तर्क) से हेतु का साध्यव्यापकत्व (यत्र परमार्थसत्त्वम् तत्र सप्रकाराबाध्यार्थक्रियाकारित्वम्'' इस प्रकार हेतु का साध्यव्यापकत्व) होने से अर्थात् हेतु और साध्य की समव्याप्ति होनेसे हेतु की अव्यापक ''अनादित्व'' उपाधि का साध्याव्यापकत्व भी है।

समाधान—ऐसा न कहो, क्योंकि (परमार्थसत्त्व अर्थक्रियाकारित्व के प्रति प्रयोजक इसलिये नहीं होता कि) प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि में भयकम्पादिकार्यकारित्व देखने से तुच्छ व्यावृत तथा प्रातिभासिकसाधारण प्रतीतिकालसत्त्व ही अर्थक्रियाकारित्व के प्रति प्रयोजक है; यदि प्रातिभासिक पदार्थ का अर्थक्रियाकारित्व नहीं मानेंगे तो ''सप्रकाराबाध्य'' यह हेतु का विशेषण व्यर्थ होगा। (क्योंकि यह विशेषण प्रातिभासिक में हेतु न चला जाय— इस निमित्त दिया गया है, वह सप्रकारबाध्य है), किसी भी देश में और किसी भी काल में किसी भी पुरूष द्वारा अबाध्यत्व ही परमार्थसत्त्व है, उसकी अपेक्षा से प्रतीतिकाल सत्त्व लघु होने से उसको प्रयोजक मानना उचित ही है। किञ्च— शुद्ध ब्रह्म में अर्थक्रियाकारित्व के अभाव से साधनाविकलत्व है और उपहित ब्रह्म तो पक्षकोटि में निक्षिप्त होने से उसमें साध्यविकलत्व है। आरोपित मिथ्यात्वकत्व भी हेतु नहीं, क्योंकि यदि आरोपितत्व को प्रातिभासिकत्व मानें तो प्रपञ्च में हेतु की स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि प्रातिभासिकमिथ्यात्वकत्व की सिद्धि प्रपञ्च में परमार्थिकत्वसिद्धि के उत्तरकाल में होती है। यदि आरोपितत्व को व्यावहारिकत्व मानें तो शुक्तिरूप्यादि में व्यभिचार है, (क्योंकि शुक्तिरूप्यादि व्यावहारिकत्वेन मिथ्या है)। यदि आरोपितत्व को प्रातिभासिकत्वव्यावहारिकतान्यतरत्व मानें तो

दोषः। कल्पकरहितत्वादित्यपि न हेतुः, असति व्यभिचारात्, यथाश्रुतस्यासिद्धेश्च।

ननु नासिद्धिः, शुद्धं हि चैतन्यं न कल्पकमदृष्टत्वात्, नोपहितम्, कल्पितत्वादेवान्यथानवस्थानात्, तथा च यावद्विशेषाभावे कल्पकसामान्याभावसिद्धिरिति चेन्न, शुद्धस्याप्यनाद्यविद्योपधानवशेन कल्पकत्वोपपत्तेः। कल्पकत्वं हि कल्पनां प्रत्याश्रयत्वं, विषयत्वं, भासकत्वं वा, तच्च सर्वं कल्पनासमसत्ताकत्वेन शुद्धत्वाव्याघातकम्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।। इति।

अस्तु वोपहितस्य कल्पकत्वम्, न चानवस्था, अविद्याध्यासस्याध्यासान्तरानपेक्षत्वात्, स्वपरसाधारणसर्वनिर्वाहकत्वोपपत्तेः, अकल्पितस्य कल्पकत्वादर्शनाच्च। कल्पितप्रतिबिम्बविशिष्टादर्शादिरादर्शान्तरे प्रतिबिम्बकल्पकत्वदर्शनाच्च। बिम्बस्य द्वितीयादर्शसम्मुखत्वाभावेन तत्र कल्पकत्वायोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। विस्तरेण चैतदग्रे वक्ष्यामः। तदेवं निराकृताः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भी स्वरूपासिद्धि और व्यभिचाररूप यह दोष है ही। कल्पकरहितत्व भी हेतु नहीं; क्योंकि शशशृङ्गादि असत् में व्यभिचार है, और कल्पकरहितत्व का यथाश्रुत अर्थ अर्थात् कल्पनाहेतुरहितत्व लिया जाय तो प्रपञ्चरूप पक्ष में स्वरूपासिद्धि है (कारण कि प्रपञ्च में सकल्पकत्व है)।

शंका— स्वरूपासिद्धि नहीं होगी, क्योंकि शुद्धचैतन्यकल्पकत्वेन (श्रुत्यादि में) अदृष्ट होने से कल्पक नहीं, और उपहित चैतन्य भी स्वयं कल्पित होने से ही कल्पक नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित को भी कल्पक मानें तो (उस कल्पित का अन्य कल्पितकल्पक, उस का भी अन्य कल्पित कल्पक) इस प्रकार अनवस्था होगी, तब तो इस रीति से यावद्विशेषकल्पक का अभाव होने पर कल्पकसामान्याभाव की सिद्धि होती है।

समाधान— नहीं, क्योंकि शुद्ध चैतन्य भी अनाद्यविद्यारूप उपाधि के वश से कल्पक हो सकता है और कल्पकत्व क्या है? क्या वह कल्पना के प्रति आश्रयत्व है, या विषयत्व है, या भासकत्व है? वे सब तो कल्पनासमसत्ताकत्वेन मिथ्या होने से शुद्धत्व का व्याघातक नहीं; संक्षेप शारीरक में इस बात को कहा है—" जीवेशादि के विभाग से रहित केवल शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय तथा विषय है, क्योंकि पश्चाद्भावी अहंकाराद्यवच्छिन्न आत्मा पूर्वसिद्ध अविद्या का आश्रय और विषय नहीं हो सकती, (इस प्रकार शुद्ध ही, अविद्या का आश्रय और विषय होने के कारण, अविद्याकृतप्रपञ्च का भी आश्रय और विषयादि होकर कल्पक हो सकता है)। अथवा उपहित चेतन ही कल्पक हो। और इसमें अनवस्था नहीं होगी, क्योंकि अविद्या का अध्यास अध्यासान्तर की अपेक्षा नहीं करता और वह अविद्याध्यास स्व और पर साधारणरूप से सब अध्यासों का निर्वाहक हो सकता है (क्योंकि अविद्याध्यास ही मूल कारण है, उसके द्वारा आगे अर्थाध्यास, ज्ञानाध्यास आदि सबका निर्वाह होता है); और अकल्पित कल्पक हो, ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आने से कल्पित ही कल्पक है, और कल्पित प्रतिबिम्ब से विशिष्ट दर्पणादि के दर्पणान्तर में प्रतिबिम्ब का कल्पकत्व देखने में आता है, कारण कि बिम्ब का द्वितीय दर्पण के सन्मुख न होने से द्वितीय दर्पणस्थित प्रतिबिम्ब का कल्पक होना अयुक्त है। यदि आदर्शसाम्मुख्याभाव होने पर भी बिम्ब को प्रतिबिम्ब का कल्पक मानोगे तो सब स्थलों में अतिप्रसङ्ग होगा अर्थात् सब ही कल्पक माना जा सकता है। इस अर्थ को आगे "असतः साधकत्वाभावे बाधक निरूपणम्ः और "अज्ञानवादेऽविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः" प्रकरण में विस्तार से कहेंगे; इस प्रकार

परमार्थसत्त्वे साध्ये षडमी हेतवः। एवमन्येऽपि निराकार्याः। अथ विमतं न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वादात्मवदित्यनुमानान्तरम्भविष्यतीति मतम्। तन्न, प्रातिभासिके शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारात्। न च तत्रासद्विलक्षणत्वहेतुरेव नास्तीति वाच्यम्, असद्विलक्षणत्वाभावे ह्यपरोक्षतया प्रतीतिरेव न स्यात्। ननु तर्ह्यसद्विलक्षणत्वे तद्विरुद्धसद्विलक्षणत्वायोगः, तथा च साध्यस्यापि विद्यमानत्वान्न व्यभिचार इति चेन्न, सत्त्वे सर्वजनसिद्धबाधविरोधात्। गजादौ गोवैलक्षण्येऽपि तद्विरुद्धाश्ववैलक्षण्ययोगवत् सद्वैलक्षण्येऽप्यसद्वैलक्षण्ययोगोपपत्तेःप्रथममिथ्यात्वनिरुक्तावुक्तत्वात्।

ननु विमतं न चैतन्याज्ञानकार्यम्, न तत्कार्यधीविषयः, न तत्कार्यसत्त्ववत्, न तज्ज्ञानबाध्यसत्त्ववद्वा, तस्मिन्नपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटेऽपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानः पटो न घटाज्ञानकार्यादिः, विपक्षे च तदापरोक्ष्ये तदज्ञानव्याहतिरेव बाधिका। न चासिद्धिः, अधिष्ठानतया सुखादिसाक्षित्वेन च तदानीमपि चैतन्यापरोक्ष्यादिति चेन्न, सामान्याकारेणापरोक्ष्येऽपि शुक्त्यादौ रजतादेरनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानतया तत्र व्यभिचारात्। अथ व्यावृत्ताकारेण यस्मिन् भासमाने यदनिषेध्यत्वेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रपञ्च के परमार्थसत्व साध्य में ये छः हेतु निराकृत हुए। ऐसे ही अन्य हेतु भी निराकार्य हैं।

शंका— विमत प्रपञ्च सत् से विलक्षण नहीं, कारण कि वह असत् से विलक्षण है, जैसे आत्मा—यह अनुमानान्तर होगा, यह मत है।

समाधान— यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि में व्यभिचार है। और शुक्तिरूप्यादि में असिद्वलक्षणत्व हेतु ही नहीं— ऐसा कहना नहीं चाहिये; क्योंकि उसमें असद्विलक्षणत्व का अभाव होने पर अपरोक्षत्वेन प्रतीति ही नहीं होगी।

शंका— तब तो असद्विलक्षणत्व होने पर उससे विरुद्ध सद्विलक्षणत्व होना अयुक्त है, तब तो शुक्तिरूप्यादि में सद्विलक्षणत्वाभावरूप साध्य रहने से व्यभिचार नहीं।

समाधान— नहीं, क्योंकि शुक्तिरूप्यादि का सत्त्व होने पर सर्वजनसिद्ध बाध का विरोध है, गजादि में गोवैलक्षण्य होने पर भी गोविरुद्धाश्वविलक्षणत्व जैसे रहता है, वैसे शुक्तिरूप्यादि में भी सद्विलक्षणत्व होने पर भी असद्विलक्षणत्व का योग हो सकता है— यह बात प्रथम मिथ्यात्वनिरूक्ति में कही जा चुकी है।

शंका— विमत प्रपञ्च चैतन्यनिष्ठ अज्ञान का कार्य नहीं, उस अज्ञान की कार्यरूपबुद्धि का विषय नहीं, उस अज्ञान के कार्यरूप सत्त्व से विशिष्ट नहीं, अथवा उस चैतन्य के ज्ञान से बाध्य सत्त्व से युक्त भी नहीं, क्योंकि उस चैतन्य का अपरोक्ष होने पर भी अनिषेध्यत्वरूप से साक्षाद्भासमानत्व प्रपञ्च में है, जो जिसका अपरोक्ष होने पर भी अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमान है, वह उसके अज्ञान का कार्यादि नहीं होता, जैसे घट का अपरोक्ष होने पर भी अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमान पट घटाज्ञान का कार्यादि नहीं, और विपक्ष में अर्थात् साध्यसाधन की व्यभिचार शंका में चैतन्य का अपरोक्षत्व होने पर चैतन्यविषयक अज्ञान की व्याहति ही बाधिका है, और हेतु की स्वरूपासिद्धि भी नहीं, क्योंकि अधिष्ठानत्वरूप से सुखादि का साक्षी होकर उस समय भी, व्यवहार काल में भी चैतन्य अपरोक्ष है।

समाधान— नहीं, क्योंकि सामान्याकार से अपरोक्ष होने पर भी शुक्त्यादि में रजतादि की अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानता होने से उस रजतादि में हेतु का साध्य से व्यभिचार है।

साक्षाद् भासते तन्न तदज्ञानकार्यादीति व्याप्तिरिति मन्यसे तर्ह्यसिद्धिः। न हि चैतन्यमिदानीं भ्रमनिवर्तकत्वाभिमतव्यावृत्ताकारापरोक्षप्रतीतिविषयः, तथा सत्यधिष्ठानमेव न स्यात्। यदा तु वेदान्तवाक्यजन्यवृतौ व्यावृत्ताकारतयाऽपरोक्षम्, तदाऽनिषेध्यत्वेन प्रपञ्चे आपरोक्ष्य–शङ्कापि नास्ति। अतः प्रमाणजन्यासाधारणाकारभानस्यैवाज्ञानविरोधित्वान्नापरोक्षतामात्रेणा–ज्ञानपराहतिप्रसङ्गः। यत्त्वज्ञानपदेन ज्ञानाभावोक्तौ सिद्धसाधनमनिर्वचनीयाज्ञानोक्तौ च तस्य खपुष्पायमाणत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धिरिति तत्तुच्छम्, असत्प्रतियोगिकाभावं स्वीकुर्वतः पराभ्युपगममात्रेणैव प्रतियोगिप्रसिद्धिसम्भवात्।

ननु विमतं नात्मन्यध्यस्तम्, आत्मसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो पटो न तत्राध्यस्तः, न चासिद्धिः, ईशजीवन्मुक्तयोरात्म–साक्षात्कारवतोरपि जगद्रक्षणभिक्षाटनादौ प्रवृत्तेः। शङ्खेऽध्यस्तमपि पीतत्वं न शङ्खश्वेतत्व–साक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषय इति न तत्र व्यभिचार इति चेन्न, प्रतिबिम्बे व्यभिचारात्। स हि मुखैक्यसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो मुखेऽध्यस्तः। तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वस्योपाधित्वाच्च।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका– व्यावृत्ताकार से (भ्रमनिवर्तकतायोग्यरूपेण) जिसके भासमान होने पर जो अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासित होता है, वह भासित पदार्थ व्यावृत्ताकार से भासमान उस पदार्थ के अज्ञान का कार्यादि नहीं– ऐसी व्याप्ति है।

समाधान– तुम ऐसा मानते हो तो हेतु की स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि इस समय (सुखादि व्यवहार काल में) चैतन्य भ्रमनिवर्तकत्वेन अभिमत व्यावृताकार की अपरोक्ष प्रतीति का विषय हुआ नहीं, यदि विषय हुआ है तो चैतन्य अधिष्ठान ही नहीं होता (क्योंकि भ्रम काल में ही आरोपित का चैतन्य अधिष्ठान होता है, अन्य काल में नहीं)। और जिस समय वेदान्तवाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्ति में व्यावृत्ताकारतारूप से चैतन्य अपरोक्ष होता है, उस समय तो अनिषेध्यत्वेन प्रपञ्च में अपरोक्षत्व की शंका भी नहीं हो सकती। अतः प्रमाणजन्य असाधारण आकार का भान ही अज्ञानविरोधी होने से अपरोक्षतामात्र से अज्ञानविनाश का प्रसङ्ग नहीं। और जो अज्ञान पद से ज्ञानाभाव की उक्ति होने पर सिद्ध साधन है, और अनिर्वचनीय अज्ञान की उक्ति होने पर तो वह माध्वमत में वह अनिर्वचनीय अज्ञान, आकाशकुसुमसदृश होने से प्रतियोगी की अप्रसिद्धि है– ऐसा वेदान्त्येकदेशी का दूषण कथन है, वह तुच्छ है, कारण कि असत्प्रतियोगिकाभाव को स्वीकार करने वाले माध्व के मत में वेदान्ती के अभ्युपगम मात्र से ही अनिर्वचनीयाज्ञानरूप प्रतियोगी की प्रसिद्धि सम्भव है।

शंका– विमत प्रपञ्च आत्मा में अध्यस्त नहीं, क्योंकि वह आत्मसाक्षात्कारवत् पुरूषों की प्रवृत्ति का विषय है, वह उस साक्षात्कृत पदार्थ में अध्यस्त नहीं होता, जैसे घट साक्षात्कारवत्पुरूष की प्रवृत्ति का विषय पट उस घट में अध्यस्त नहीं। इस हेतु की स्वरूपासिद्धि भी नहीं, क्योंकि ईश्वर और जीवन्मुक्त दोनों की आत्मसाक्षात्कारवत्त्व होने पर भी जगत् की रक्षा और भिक्षाटनादि में प्रवृत्ति होती है और शंख में अध्यस्त होता हुआ भी पीतत्व शंखश्वेतत्व साक्षात्कारवत्पुरूष की प्रवृत्ति का विषय न होने से उस पीतत्व में व्यभिचार नहीं।

समाधान– नहीं, क्योंकि प्रतिबिम्ब में व्यभिचार है। कारण कि प्रतिबिम्ब, मुख और प्रतिबिम्ब दोनों के ऐक्य के साक्षात्कारवत्पुरूष की प्रवृत्ति का विषय होता हुआ, मुख में अध्यस्त है (क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्ब से अभिन्न है, दर्पणादि तो उसकी उपाधिमात्र है, अधिष्ठान नहीं,

एवञ्च विमतं नेश्वरमायाकल्पितम्, तं प्रत्यपरोक्षत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा चैत्रं प्रत्यपरोक्षो घटो न चैत्रमायाकल्पितः। विमतं न जीवकल्पितम्, तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यवस्थिततत्वात्, आत्मवत्। न चासिद्धिः, प्रत्यभिज्ञानात्, अदृष्टादेरभावे पुनरुत्थानायोगाच्चेत्यपि निरस्तम्, आद्ये ऐन्द्रजालिकं प्रत्यपरोक्षे तन्मायाकल्पिते व्यभिचारात्। मायाविद्ययोरभेदेन देहात्म्यैक्यभ्रमे व्यभिचाराच्च। द्वितीये त्वसिद्धेः। न च प्रत्यभिज्ञया प्रपञ्चस्य स्थायित्वसिद्धेर्नासिद्धिः सुषुप्तिकालस्थायित्वासाधकत्वस्य प्रत्यभिज्ञाया दृष्टिसृष्टिसमर्थने वक्ष्यमाणत्वात्, अदृष्टादेः कारणात्मनाऽवस्थिततत्वेन पुनरुत्थानसम्भवाच्च। मिथ्यात्वं आत्मान्यसर्ववृत्ति न, मिथ्यामात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्, इत्यपि न, मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वस्योपाधित्वात्। मिथ्यात्वञ्च सदसद्विलक्षणत्वम्, सद्विलक्षणत्वमात्रं वा? आद्ये सिद्धसाधनम्, तस्यात्मान्यसर्वमध्यपतितासद्वृत्तित्वाभावात्। द्वितीये तु हेतौ मिथ्यापदस्य सदद्वैलक्षण्यपरत्वे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसलिये जिस प्रकार भ्रमस्थल में पुरोवर्ती पदार्थ के साथ अध्यस्त के ऐक्य ''अयं सर्प''इत्यादि में होता है, उसी प्रकार यहां दर्पण के साथ मुख का ऐक्य ''इदं मुखम् '' ऐसा नहीं होता, किन्तु ''मम मुखम्'' ऐसा होता है, अतः बिम्बभूत मुख में ही प्रतिबिम्बमुख का अध्यास है)। और इस अनुमान से तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्व उपाधि है (दृष्टान्त में तत्पद से घट का ग्रहण है, अतः घटसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषय पट में घटभिन्नत्वेन उपलभ्यमानत्व होने से साध्यव्यापकत्व है, और पक्ष प्रपञ्च में तत्पदवाच्यात्मभिन्नत्वेन उपलभ्यमानत्व आत्मसाक्षात्कारवान् में नहीं; अतः साधनाव्यापकत्व है। इस प्रकार पक्ष में व्यापक उपाधि के अभाव से व्याप्य साध्य का अभाव अर्थात् आत्मा में अनध्यस्तत्व का अभाव सिद्ध होता है यानि आत्मा में प्रपञ्च का अध्यस्तत्व सिद्ध है)। इसी प्रकार — विमत जगत् ईश्वरमाया से कल्पित नहीं, क्योंकि ईश्वर के प्रति जगत् अपरोक्ष है, जो जिस के प्रति अपरोक्ष है, वह उसकी माया से कल्पित नहीं होता, जैसे चैत्र के प्रति अपरोक्ष घट चैत्र की माया से कल्पित नहीं। तथा विमत जगत् जीवकल्पित नहीं, क्योंकि जीव की सुषत्त्यवस्था में भी जगत् अवस्थित है, जैसे आत्मा। और हेतु की स्वरूपासिद्धि भी नहीं, क्योंकि ''सोने से पहले जिस घट को मैंने देखा था, वही घट यह है'', इस प्रकार सुप्तोत्थित की प्रत्यभिज्ञा होती है और अदृष्टादि के अभाव होने पर पुनरूत्थान का अयोग भी है— ये प्रयोग भी निरस्त हुए; क्योंकि आद्य प्रयोग में ऐन्द्रजालिक के प्रति उसकी माया से कल्पित अपरोक्ष पदार्थ में व्यभिचार है, और माया तथा अविद्या में अभेद होने से जीवाविद्याकल्पित देहात्मैक्यभ्रम में व्यभिचार भी है। द्वितीय प्रयोग में तो स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा से प्रपञ्च की स्थायित्वसिद्धि से स्वरूपासिद्धि का अभाव नहीं हो सकता, कारण कि प्रत्यभिज्ञा के सुषुप्तिकालस्थायित्व का असाधकत्व दृष्टिसृष्टि समर्थन में आगे कहना है। और अदृष्टादि सुषुप्तिकाल में कारणरूप से स्थित होने के कारण पुनरुत्थान भी सम्भव है। और—मिथ्यात्व आत्मभिन्नसर्ववृत्ति नहीं, क्योंकि उसमें मिथ्यामात्रवृतित्व है, जैसे शुक्तिरूप्यत्व यह प्रयोग भी ठीक नहीं; क्योंकि इसमें मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्व उपाधि है (शुक्तिरूप्यत्व दृष्टान्त में साध्य के साथ मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्व है, अतः साध्यव्यापकत्व है तथा पक्ष मिथ्यात्व में उपाधि नहीं और हेतु है; अतः साधनाव्यापकत्व है)। और पक्षीकृत मिथ्यात्व सदसद्विलक्षणत्व है क्या, या सद्विलक्षणत्वमात्र? आद्य में सिद्ध साधन है, क्योंकि सदसद्विलक्षणत्वरूप मिथ्यात्व की आत्मभिन्न सर्वमध्यान्तर्गत असत् में वृत्ति नहीं। द्वितीय में तो हेत्वन्तर्गत मिथ्यापद का सदसद्विलक्षणार्थकत्व होने पर

स्वरूपासिद्धिः, सद्वैलक्षण्यरूपे पक्षे तुच्छसाधारणे सदसद्विलक्षणेतरावृत्तित्वरूपहेत्वभावात्। तस्यापि सद्वैलक्षण्यमात्रपरत्वे सन्दिग्धानैकान्तिकता, साध्याभाववत्यात्मभेदे हेतुसन्देहात्। अप्रयोजकत्वादिकञ्च पूर्वोक्तं दूषणमनुवर्तत एव । आत्मा परमार्थसदन्यः, पदार्थत्वादनात्मवत्। न च कल्पितात्मप्रतियोगिकभेदेनार्थान्तरम्, कल्पितमिथ्यात्वेन मिथ्यात्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनापत्तेरित्यपि न, व्यावहारिकपदार्थमादाय सिद्धसाधनेऽतिप्रसङ्गाभावात्। अनानन्दत्वस्योपाधित्वाच्च।

अथ आत्मा यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानभावरूपानात्मवान् वा, स्वज्ञानाबाध्यानात्मवान्, स्वज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मवान् वा पदार्थत्वात्, भावत्वाद्वा घटादिवदिति। अत्र पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमपक्षे सिद्धसाधनपरिहाराय साध्ययोर्भावरूपपदमनात्मविशेषणमित्यापि मन्दम्। 'यावत्स्वरूपम्' इत्यस्य यत्किञ्चित्स्वरूपपरत्वे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

स्वरूपासिद्धि है, कारण कि तुच्छसाधारण सद्विलक्षणत्वरूप पक्ष में सदसद्विलक्षणेतरावृत्तित्वरूपहेतु अर्थात् सदसद्विलक्षणरूप मिथ्यामात्रवृत्तित्वात्मक हेतु का अभाव है। और हेत्वन्तर्गत मिथ्यापद का सद्विलक्षणत्वमात्र परत्व होने पर सद्विलक्षणमात्रवृत्तित्वरूप हेतु की संदिग्धानैकान्तिकता है, कारण कि आत्मान्यसर्ववृत्तित्वाभावरूप साध्यरहित आत्मप्रतियोगिक भेद में हेतु का सन्देह है (यहां आत्मप्रतियोगिक भेद का आत्मान्यसर्ववृत्तित्व होने से साध्याभाववत्त्व है और उस भेद में सद्विलक्षणमात्रवृत्तित्वरूप हेतु है या नहीं– ऐसा सन्देह है)। और इस प्रयोग में अप्रयोजकत्वादि पूर्वोक्त दूषणजात भी आ ही जाते हैं।

शंका– आत्मा परमार्थसत् से भिन्न है, उसमें पदार्थत्व होने से, जैसे अनात्मा। और यह प्रयोग कल्पितात्मप्रतियोगिक भेद को लेकर परमार्थसद्भिन्नत्वसाध्य सम्भव होने से अर्थान्तर अर्थात् प्रकृतानुपयुक्त नहीं, क्योंकि कल्पितमिथ्यात्व से मिथ्यात्वानुमान में भी सिद्धसाधन की आपत्ति होगी (प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्'' इस अनुमान में कल्पितमिथ्यात्व प्रपञ्च में मानकर सिद्ध साधन होने लगेगा)।

समाधान– यह प्रयोग भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यावहारिक पदार्थ अर्थात् आत्मभिन्न पदार्थ को लेकर सिद्धसाधन कहने में अतिप्रसङ्ग का अभाव है (अर्थात् हमारे मिथ्यात्वानुमान में आप सिद्धसाधन नहीं कह सकते) और इसमें अनानन्दत्व की उपाधि है (क्योंकि अनात्मा में अनानन्दत्व रहने से उपाधि का साध्यव्यापकत्व है और पक्ष में न रहने से साधनाव्यापकत्व है)।

शंका– आत्मा (१) जब तक अपना स्वरूप है, तब तक अनुवर्तमान अनात्मवान् है, अथवा जब तक अपना स्वरूप है तब तक अनुवर्तमान भावरूप अनात्मवान् है; (२) स्वज्ञान से (आत्मज्ञान से) अबाध्य अनात्मवान् है, अथवा स्वज्ञान से (आत्मज्ञान से) अबाध्य भावरूप अनात्मवान् है, पदार्थत्व अथवा भावत्व होने से, जैसे घटादि। इनमें पञ्चम प्रकार अविद्यानिवृत्ति के अभ्युपगम पक्ष में (अविद्यानिवृत्ति न सत् है, न असत् है, न सदसत् है, न सदसदुभयविलक्षण है, किन्तु वह पञ्चम प्रकार ही है– ऐसा न्यायमकरन्दकार के अभ्युपगम पक्ष में) सिद्धसाधन परिहार के लिये दोनों साध्यों में ''भावरूप'' पद अनात्मा का विशेषण है (क्योंकि इस पक्ष में मोक्षावस्था में अन्य अनात्मपदार्थ न होने पर भी आत्मा अविद्यानिवृत्तिरूप अनात्मवान् है, अतः सिद्ध साधन है; यदि अनात्म का विशेषण ''भावरूप'' दिया जाय तो सिद्धसाधन नहीं होगा, क्योंकि अविद्यानिवृत्ति अभावरूप है; अन्य पक्ष में तो इस विशेषण की आवश्यकता

सिद्धसाधनात्, आत्मस्वरूपपरत्वे साध्याप्रसिद्धेः। न हि यावदात्मस्वरूपमनुवर्तमानोऽनात्मा प्रसिद्धोऽस्ति तथा सत्यनुमानवैयर्थ्यात्। अथ स्वरूपपदस्य समभिव्याहतपरत्वाद् व्याप्तिग्रह–दशायां दृष्टान्तस्वरूपं पक्षधर्मताग्रहदशायां चात्मस्वरूपमेव प्राप्यत इति न साध्याप्रसिद्धिर्न वा सिद्धसाधनमिति चेन्न, शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानेऽनुपयोगात्। स्वज्ञानाबाध्येत्यत्र स्वशब्देऽपि तुल्योऽयं दोषः। अत एव विमता बन्धनिवृत्तिः, स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञाना–बाध्यानात्मसमकालीना, उक्तज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मसमकालीना वा, बन्धनिवृत्तित्वात्, निगलबन्धनिवृत्तिवदित्यपि निरस्तम्, पक्षदृष्टान्तयोर्बन्धपदार्थस्यैकस्याभावेन स्वरूपासिद्धि–साधनवैकल्यान्यतरापातात्। स्वपदे चोक्तः साध्याप्रसिद्धिदोषः। हेतौ च बन्धेति विशेषणवैयर्थ्याद् व्याप्यत्वासिद्धिः। अप्रयोजकत्वञ्च कस्याश्चिन्निवृत्तेरनात्मसमानकालीन–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं। अतः दो अनुमानों में विकल्प करके दो–दो साध्य दिये गये हैं। वस्तुतः यहां दो ही अनुमान हैं, चार नहीं)।

समाधान– ये प्रयोग भी मन्द ही हैं, क्योंकि प्रथम अनुमान में ''यावत्स्वरूपम्'' इस पद का यत्किञ्चित्स्वरूपपरकत्व होने पर सिद्धसाधन है; और आत्मस्वरूपपरत्व होने पर (वेदान्ती के प्रति) साध्य की अप्रसिद्धि है, कारण कि जब तक आत्मस्वरूप है,तब तक अनुवर्तमान अनात्मा (वेदान्तियों में) प्रसिद्ध नहीं, यदि प्रसिद्ध होता तो अनुमान करना व्यर्थ ही है (केवल व्यतिरेकी अनुमान को छोड़कर अन्य अनुमानों में साध्याप्रसिद्धि एक दोष है, प्रसिद्ध साध्य को लेकर ही अनुमान किया जाता है)।

शंका– यहां स्वरूपपद सहोच्चारित पदार्थपरक होने से व्याप्तिग्रह काल में उससे दृष्टान्तस्वरूप और हेतु के पक्ष में वृत्तित्वरूप पक्षधर्मता ग्रहकाल में आत्मस्वरूप ही जाना जाता है, इस कारण साध्याप्रसिद्धि नहीं (क्योंकि यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवत्त्व घटदृष्टान्त में प्रसिद्ध है) और सिद्धसाधन भी नहीं (क्योंकि स्वरूप पद से आत्मस्वरूप ही लिया जाता है)।

समाधान– नहीं, क्योंकि अनुमान में शब्दस्वभाव का उपन्यास उपयुक्त नहीं होता (शब्दस्वभाव का उपन्यास तो शाब्दबोध के प्रसङ्ग में हो सकता है, किन्तु अनुमान में नहीं, क्योंकि स्वरूप–अननुगत होने से दृष्टान्त में साध्यस्वरूप अन्य होगा और पक्ष में साध्यस्वरूप अन्य होगा, तब तो साध्य में ही भेद प्रसङ्ग होगा। कारण कि पक्ष में यावदात्मस्वरूपानुवर्तमानानात्मवत्त्व रखना चाहते हैं, और दृष्टान्त में यादद्धटस्वरूपानुवर्तमानानात्मवत्त्व रखना चाहते हैं। अतः दृष्टान्तागत साध्य से यावदात्मस्वरूपादि साध्य की प्रसिद्धि नहीं हो सकती)। इसी प्रकार द्वितीय अनुमान में भी ''स्वज्ञानाबाध्य'' इत्यादि साध्य में स्वशब्द में भी यह दोष तुल्य है। और उक्त दोष होने से ही– विवादास्पद बन्धनिवृत्ति स्वपदवाच्यनिवृत्ति के प्रतियोगी बन्ध के विषय आत्मा (अथवा पुरूष) को विषय करने वाले ज्ञान से अबाध्य अनात्मा से समकालीन होती है, अथवा उक्त ज्ञान अर्थात् स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञान से अबाध्य भावरूप अनात्मा के समकालीन होती है, बन्धनिवृत्तित्व होने से, जैसे निगलबन्धनिवृत्ति (यहां संसाररूपबन्धनिवृत्तिरूप पक्ष में साध्य का समन्वय करते समय बन्धरूप प्रतियोगी के विषय को आत्मा लेना चाहिये और निगलबन्धनिवृत्तिरूप दृष्टान्त में बन्ध प्रतियोगी के विषय को सामान्य पुरुष लेना चाहिये, यह प्रयोग भी निरस्त हुआ; क्योंकि पक्ष और दृष्टान्त में बन्ध पदार्थ एक न होने से स्वरूपासिद्धि और साधन वैकल्य दोनों में से अन्यतर दोष होता है (अर्थात् दृष्टान्तगतबन्ध पदार्थ के ग्रहण में हेतु की स्वरूपासिद्धि और

त्वदर्शनं निवृत्तिमात्रस्य तथात्वसाधने संसारकालीनाया दुःखनिवृत्तेः समानाधिकरणदुःख–प्रागभावकालीनत्वदर्शनमिव दुःखनिवृत्तिमात्रस्य तथात्वसाधने। नन्वेवं सामान्यानुमानेषु निराकृतेषु विशिष्यानुमानं भविष्यति। आत्मधीः न स्वविषयविषयकधीबाध्या, धीत्वात्, शुक्तिधीवदित्यपि बालभाषितम्, स्वविरोध्यविषयकप्रत्ययत्वस्योपाधित्वात्। अन्धोऽयं रूपज्ञानवानित्यन्धस्य रूपविषयतया कल्पितं यज्ज्ञानं तस्य रूपं नान्धगम्यमिति स्वविषयविषयकप्रत्ययबाध्यत्वदर्शनेन व्यभिचारात्। कल्पितत्वात्तत्र तद्बाधने प्रकृतेऽपि वृत्तेः कल्पितत्वं समम्। धीपदेन चैतन्यमात्रविवक्षायान्तु सिद्धसाधनमेव। आत्माधिष्ठान–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पक्षगत बन्धपदार्थ के ग्रहण में दृष्टान्त में साधन वैकल्य होते हैं)। और स्वपद में उक्त साध्याप्रसिद्धिरूप दोष है; और हेतु में ''बन्ध'' यह विशेषण व्यर्थ होने से विशेषणासिद्धिरूप व्याप्यत्वासिद्धि भी है। संसारकालीन दुःखनिवृत्ति के समानाधिकरण दुःखप्रागभावकालीनत्व का दर्शन जिस प्रकार दुःखनिवृत्तिमात्र के समानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीनत्व के साधन में अप्रयोजक है, उसी प्रकार यहां भी किसी बन्धनिवृत्ति के अनात्मसमानकालीनत्व का दर्शन बन्धनिवृत्तिमात्र के अनात्मसमानकालीनत्व के साधन में अप्रयोजक है। (या संसारकालीन दुःखनिवृत्तिः, सा स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभावकालीना'' इस व्याप्ति को देखकर ''मोक्षकालीन दुःखमात्रनिवृत्तिः स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीन; दुःखनिवृतित्वात्, संसारकालीन दुःखनिवृत्तवत्'' यह अनुमान किया नहीं जा सकता, क्योंकि संसारकालीनदुःखनिवृत्ति के अधिकरण में अन्य दुःखों का प्रागभाव रहने पर भी मोक्षकालीन सर्वदुःखनिवृत्ति के अधिकरण में फिर दुःखप्रागभाव नहीं रहता। अतः जिस प्रकार मोक्षकालीन दुःखनिवृत्तिमात्र में स्वसमानाधिकरणप्रागभावकालीनत्व के साधन में दुःखनिवृत्तित्व अप्रयोजक है, उसी प्रकार ''या संसार कालीनबन्ध निवृत्तिः, सा अनात्मसमानकालीना'' इस व्याप्ति को देखकर ''मोक्षरूपबन्धनिवृत्तिः अनात्मसमानकालीना, बन्धनिवृत्तित्वात्, निगलबन्धनिवृत्तिवत्'' ऐसा अनुमान कर नहीं सकते, क्योकि मोक्षरूपबन्धनिवृत्ति मे अनात्मसमानकालीनत्व के साधन में बन्धनिवृत्तित्व अप्रयोजक है– यह अभिप्राय है)।

शंका– अच्छा, इस प्रकार से सामान्य अनुमान खण्डित हो जाने पर विशिष्ट अनुमान होगा– आत्मधी अर्थात् आत्मव्यवहार प्रयोजक धी अपने विषय आत्मा (अथवा शुक्त्यादि) को विषय करने वाली बुद्धि से बाध्य नहीं; धीत्व होने से, जैसे शुक्तिधी।

समाधान– यह भी बालभाषित ही है, क्योंकि इसमें स्वविरोध्यविषयकप्रत्ययत्व उपाधि है (यहां ''स्वविरोध्यविषयविषयकत्वस्य'' ऐसा पाठान्तर भी है। दोनों में स्वपद से आत्मा या शुक्ति का ग्रहण है। दृष्टान्त शुक्तिधी में शुक्तिविरोध्यविषयकप्रत्ययत्व है, अतः उपाधि का साध्यव्यापकत्व है और पक्ष आत्मधी में आत्मविरोध्यविषयक प्रत्ययत्व नहीं, क्योंकि व्यावहारिकात्म–विरोधिशुद्धब्रह्मात्मविषयक प्रत्ययत्व भी है, अविषयकप्रयत्यत्व नहीं; अतः साधनाव्यापकत्व है); और '' यह अन्धा रूपज्ञानवान् है'' इस प्रकार अन्धे का रूपविषयत्वेन जो कल्पितज्ञान है, उस ज्ञान का विषयरूप अन्धगम्य न होने से स्वविषयविषयक ज्ञानबाध्यत्व देखने में आने से अन्धधी में साध्याभाव होने के कारण धीत्व हेतु का व्यभिचार है (यहां स्वपद से अन्धधी ली, उसका विषय रूप हुआ, तद्रूपविषयक ज्ञान से अन्धरूपधी का बाध्यत्व है, अबाध्यत्व नहीं, अतः व्यभिचार है)। यदि कहो कि अन्धरूपधी में कल्पितत्व होने से उस रूपधी का बाध है तो प्रकृत में भी आत्मधीरूप वृत्तिज्ञान का भी कल्पितत्व समान है। और धी पद से चैतन्यमात्र की विवक्षा

कभ्रमहेतुः न स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानज्ञानबाध्यः, भ्रमहेतुत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा शुक्त्यधिष्ठानकभ्रमहेतुकाचादीत्यपि न साधु, व्यावृत्त्याकाराधिष्ठानज्ञानानवधित्वस्य, स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानानारोपितत्वस्य वा उपाधित्वात्। दूरादिदोषादुपलादौ यत्र चाकचिक्यकल्पना तेन चाकचिक्यदोषेण शुक्ताविव रजतकल्पना तत्राधिष्ठानज्ञानेन चाकचिक्यरूप्ययोरुभयोरपि बाधदर्शनेन व्यभिचाराच्च। ब्रह्मान्यदनादि परमार्थसत्, अनादित्वात्, ब्रह्मवदित्यपि न भद्रम्, ध्वंसाप्रतियोगित्वस्योपाधित्वात्। ब्रह्म देशकालसम्बन्धं बिना नावतिष्ठते, पदार्थत्वात्, घटवदित्यपि न, कालसम्बन्धं विना नावष्ठित इत्यस्य यदा ब्रह्म तदावश्यं कालसम्बन्ध इत्येवंरूपा व्याप्तिरित्यर्थः। तथा च सुस्थिरं सिद्धसाधनम्। न हि यस्मिन् काले ब्रह्म तस्मिन काले ब्रह्मणः कालसम्बन्धो नास्ति। एवं यत्रात्मा तत्र देशसम्बन्धः (कालसम्बन्धः) इति दैशिकव्याप्तावपि सिद्धसाधनम्। न हि देशकालासम्बन्धः कदाप्यस्ति। परममुक्तौ तु न देशो न काल इति सुस्थिरं सिद्धसाधनम्। ब्रह्मान्यद्वेदैकगम्यं धर्मादि, परमार्थसत्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्, ब्रह्मवदित्यपि न साधु; पारमार्थिकत्वेन श्रुति–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने पर तो सिद्ध साधन है ही।

शंका– आत्माधिष्ठानक भ्रमहेतु (अज्ञान) स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानज्ञान से बाध्य नहीं, भ्रमहेतुत्व होने से, जो भ्रमहेतु होता है, वह स्वकार्यभ्रमाधिष्ठान से बाध्य नहीं होता, जैसे शुक्त्यधिष्ठानक भ्रमहेतु काचादि।

समाधान– यह प्रयोग भी साधु नहीं, क्योंकि व्यावृत्ताकाराधिष्ठानज्ञानानवधित्व (अनिवर्त्यत्व) अथवा स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानाऽनारोपितत्व उपाधि है (ये दोनों उपाधियां दृष्टान्त काचादि में हैं, अतः उपाधि का साध्यव्यापकत्व है और आत्माधिष्ठानक भ्रमहेत्वज्ञान रूप पक्ष में उपाधि न होने से साधनाव्याप्यकत्व है, अतः वे दोनों इस अनुमान में उपाधि हो सकती हैं); और जहां दूरत्वादि दोष से उपलादि (पत्थर आदि) में चाकचिक्य की कल्पना होती है, और उस चाकचिक्य दोष से शुक्ति में रजत की कल्पना के समान पत्थर में रजत की कल्पना होती है; वहां उपलादिरूपाधिष्ठानज्ञान से चाकचिक्यरूप भ्रमहेतु दोष और रजत दोनों का बाध देखने में आने से उसमें हेतु का व्यभिचार है।

शंका– ब्रह्मभिन्नानादि परमार्थसत् है, अनादित्व होने से, जैसे ब्रह्म।

समाधान– यह अनुमान भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें ध्वंसाप्रतियोगित्व उपाधि है (ब्रह्मभिन्न सब अनादि ध्वंसप्रतियोगी है, अतः उनमें ध्वंसाप्रतियोगित्व न होने से उपाधि का साधनाव्यापकत्व है और दृष्टान्त ब्रह्म में साध्यव्यापकत्व तो है ही)।

शंका– ब्रह्म देशकाल के साथ संबन्ध के बिना नहीं रहता, पदार्थत्व होने से, जैसे घट।

समाधान– यह भी नहीं हो सकता, कारण कि काल संबन्ध के बिना नहीं रहता, इसका अभिप्राय क्या है? यदि ''जिस काल में ब्रह्म है, उस काल में अवश्य काल संबन्ध है'' यह व्याप्ति– उसका अर्थ है तो सिद्ध साधन सुस्थिर है, क्योंकि जिस काल में ब्रह्म है, उस काल में ब्रह्म का काल संबन्ध नहीं, सो बात नहीं। इसी प्रकार ''जहां आत्मा है, वहां काल संबन्ध है'' इस दैशिक व्याप्ति में भी सिद्ध साधन है। क्योंकि देश और काल के रहते हुए किसी भी काल में आत्मा का देश और काल से असंबन्ध नहीं। परममुक्ति में तो न देश है और न काल है (जिससे ब्रह्म का संबन्ध हो जाय); अतः सिद्धसाधन सुस्थिर है।

शंका– ब्रह्मभिन्न वैदैकगम्य धर्मादि परमार्थसत् हैं, श्रुतितात्पर्यविषयत्व होने से, जैसे ब्रह्म।

तात्पर्यविषयत्वस्योपाधित्वात्। साक्षिवेद्यं सुखादि, परमार्थसत्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वात्, आत्मवदित्यपि न, शुक्तिरूप्यादिषु व्यभिचारात्। तेषां दोषजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि दोषाजन्यसाक्षिविषयत्वात्, शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वानभ्युपगमे दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। दोषजन्यज्ञानाविषयत्वविवक्षायां वाऽसिद्धो हेतुः, साक्ष्यवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, असद्गोचरशाब्दज्ञानात्मकविकल्पस्य दोषाजन्यत्वेनासति व्यभिचाराच्च। आत्मनो वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे दोषजन्यदेहात्मैक्यभ्रमविषयत्वात् साधनविकलो दृष्टान्तः। तदनभ्युपगमे त्वविषयत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपत्तौ दोषजन्यज्ञानेति विशेषणवैयर्थ्याद् व्याप्यत्वासिद्धिः। तावन्मात्रञ्च पक्षे स्वरूपासिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः। विमतं परमार्थसत्, स्वविषयज्ञानात्पूर्वभावित्वात्, आत्मवदित्यपि न, दृष्टिसृष्टिपक्षेऽसिद्धेः। विषमव्याप्तस्यानादित्वस्योपाधित्वाच्च।

अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्वम्, एतद्घटसमानाधिकरणवृत्ति,अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिका–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान– यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पारमार्थिकत्वेन श्रुति तात्पर्यविषयत्व उसमें उपाधि है।

शंका– साक्षिवेद्य सुखादि परमार्थसत् है, क्योंकि उसमें अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञान के प्रति साक्षाद्विषयत्व है, जैसे आत्मा।

समाधान– यह प्रयोग भी साधु नहीं, क्योंकि शुक्तिरूप्यादि में व्यभिचार है, कारण कि शुक्तिरूप्यादिकों का दोपजन्याविद्यावृत्तिविषयत्व होने पर भी दोषाजन्यसाक्षिविषयत्व है, और शुद्ध ब्रह्म को वृत्तिविषय न मानने के पक्ष में दृष्टान्त का साधनविकलत्व है। दोषजन्यज्ञान के अविषयत्व की विवक्षा होने पर तो हेतु स्वरूपासिद्ध है; कारणकि साक्षी की अवच्छेदिका अविद्यावृत्ति दोषजन्य है और (शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'' इस पातञ्जलयोग के सूत्रानुसार) असद्विषयक शाब्दज्ञानरूपविकल्पदोषाजन्य होने से उसके विषय असत् में व्यभिचार है। और आत्मा को वृत्तिविषय मानने के पक्ष में दोषजन्य देहात्मैक्यभ्रम अर्थात् विशिष्टविषयकाऽहमाकारवृत्ति का शुद्धात्मविषयत्व होने से दृष्टान्त आत्मा में साधनविकलत्व है; और आत्मा को वृत्तिविषय न मानने के पक्ष में तो अविषयत्वमात्र ही परमार्थसत्त्व का साधक सम्भव होने पर ''दोष जन्यज्ञान'' यह विशेषण व्यर्थ होने से व्याप्यत्वासिद्धि है; और अविषयत्वमात्र को हेतु करें तो पक्ष में उसकी स्वरूपासिद्धि है। यह अन्यत्र अर्थात् इस प्रकरण के प्रारम्भ भाग में विस्तार से कहा जा चुका है।

शंका– विमत जगत् परमार्थसत् है, क्योंकि उसमें स्वविषयज्ञान से पूर्वभावित्व है, जैसे आत्मा।

समाधान– यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दृष्टिसृष्टि पक्ष में जगत् में स्वविषयक ज्ञान से पूर्वभावित्व की असिद्धि है। और साध्य के साथ विषमव्याप्त अनादित्व उपाधि है (क्योंकि ''यत्र परमार्थसत्त्वं तत्र अनादित्वम्'' यह व्याप्ति हो सकती है, किन्तु ''यत्र अनादित्वं तत्र परमार्थसत्त्वम्'' यह व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनादि अविद्यादि में परमार्थसत्त्व नहीं। जगत् में अनादित्व उपाधि के अभाव से परमार्थसत्त्व साध्य का अभाव है)।

शंका – अन्योन्याभाव के अतिरिक्त एतद्घट समानाधिकरण और एतद्घटप्रतियोगिक जो अभाव है, तन्निष्ठ अभावत्व–एतद्घटसमानाधिकरणावृत्ति है, क्योंकि उस अभावत्व में अन्योन्याभाव

भावमात्रवृत्तित्वात्, एतद्घटप्रागभावत्ववत्, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपक्षे व्यधिकरण-धर्मानवच्छिन्नेत्यपि विशेषणीयम्। अत्र च स्वसमानाधिकरणः स्वसमानकालीनो योऽत्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वलक्षणसत्त्वसिद्धिरित्यपि न साधुः। साधनावच्छिन्नसाध्य-व्यापकस्यैतद्घटप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वस्योपाधित्वात्। न च पक्षीभूतधर्म-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के अतिरिक्त एतद्घटसमानाधिकरण और एतद्घट प्रतियोगिक अभावमात्र में वृत्तित्व है, जैसे एतद्घटप्रागभावत्व (एतद्घटाधिकरणभूतलादिनिष्ठ एतद्घटभेदनिष्ठाभावत्व में साध्य बाधित होने से उसके निवारणार्थ पद में "अन्योन्याभावातिरिक्तत्व" विशेषण है, तथा समवायसंबन्ध से एतद्घट का भूतलादि में जो अत्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताभाव में स्थित अभावत्व में साध्य बाधित होने से उसके निवारण के लिये "एतद्घटसमानाधिकरणत्व" विशेषण है; और कपालरूपादिनिष्ठ एतद्घटसमानाधिकरणत्व में बाध होने से "एतद्घटप्रतियोगिकाभाव" विशेषण है। इसी प्रकार हेतु में भी एतद्घटभेदनिष्ठाभावत्व में, समवायसंबन्धावच्छिन्नैतद्घटात्यन्ताभावत्व में और पटात्यन्ताभावत्व में, व्यभिचारनिवारण के लिये क्रम से विशेषण समझना चाहिये। और दृष्टान्त में "प्रागभावत्व" मात्र कहने पर साधनवैकल्य होने से "एतद्घट" यह विशेषण है)। और ऐसा होने पर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव मानने वालों के पक्ष में पटत्वेन एतद्घटात्यन्ताभाव को लेकर हेतु का व्यभिचार होगा; अतः अनुमानीय पक्ष में "व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्न" भी एतद्घट प्रतियोगिकाभाव का विशेषण देना चाहिये। और इससे इस अनुमान में एतद्घटसमानाधिकरण और एतद्घटसमानकालीन जो अत्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताभाव का अप्रयोगित्वरूप सत्त्व एतद्घट में सिद्ध होगा (इसी से स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व की एतद्घट में सिद्धि नहीं होगी)।

समाधान— यह प्रयोग भी साधु नहीं, क्योंकि साधनावच्छिन्नसाध्य के व्यापक एतद्घट प्रतियोगिक जन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्व इस अनुमान में उपाधि है (साध्यव्यापकत्व होने पर साधनाव्यापकत्वरूप उपाधि केवल साध्यव्यापक, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, साधनावच्छिन्न-साध्यव्यापक और उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक—भेद से चार प्रकार की होती है। इनमें—साध्यतावच्छेदकधर्म के अतिरिक्त धर्म से अनवच्छिन्न साध्य की व्यापक उपाधि हो तो उसको केवलसाध्यव्यापक उपाधि कहते हैं— जैसे " पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्" इस अनुमान में "आर्द्रेन्धनसंयोग" उपाधि का साध्यतावच्छेदकधूमत्वावच्छिन्नधूममात्र व्यापकत्व है। पक्षधर्म से अवच्छिन्न साध्य की व्यापक उपाधि का उदाहरण यह है—"वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्" इस अनुमान में बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्वरूप साध्य की व्यापक उद्भूतरूपवत्त्व उपाधि है। यहां केवल प्रत्यक्षत्व साध्य की व्याएकत्व उद्भूतरूप में नहीं, क्योंकि आत्मा में प्रत्यक्षत्व है, उद्भूतरूपवत्त्व नहीं, किन्तु वायुरूप पक्ष के धर्म बहिर्द्रव्यत्व से अवच्छिन्न प्रत्यक्षत्व का व्यापकत्व उद्भूतरूप में है। अतः यह भी एक उपाधि है। इसी प्रकार साधन से अवच्छिन्न साध्य का व्यापकत्व रूप उपाधि का यह उदाहरण है—"प्रध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्" इसमें जन्यत्वावच्छिन्नविनाशित्व साध्य की व्यापक भावत्व उपाधि है। यहां विनाशित्व मात्र लिया जाय तो वह प्रागभाव में है और भावत्व नहीं, अतः उपाधि का साध्यव्यापकत्व नहीं होता, किन्तु जन्यत्वावच्छिन्नविनाशित्व लिया जाय तो वह प्रागभाव में नहीं जायेगा, क्योंकि प्रागभाव विनाशी होने पर भी जन्य नहीं। पक्षधर्म और साधन से अनवच्छिन्न होकर किसी अन्य धर्म से अवच्छिन्न साध्यव्यापकत्व को उदासीन

स्यात्यन्ताभाववृत्तित्वसन्देहे साधनाव्यापकत्वसन्देह इति वाच्यम्, विपक्षबाधकतर्कानवतारदशायां सन्दिग्धोपाधेरपि दूषणत्वसम्भवात्; घटात्यन्ताभावत्वे च व्यभिचारात्, संयोगसंबन्धेन घटवत्यपि भूतले समवायसम्बन्धेन घटात्यन्ताभावसत्त्वात्, साध्याभाववति हेतोर्वृत्तेरित्यलमतिविस्तरेण।

इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

साध्यव्यापकोपाधि कहते हैं, जैसे–''प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्'' इस अनुमान में जन्यत्वावच्छिन्न विनाशित्वरूप साध्य की व्यापक भावत्व उपाधि है। यहां पर भी पक्ष प्रागभाव में विनाशित्व है, भावत्व नहीं, और जन्यत्वावच्छिन्नविनाशित्व लिया जाये तो दोष नहीं होगा। यहां ''जन्यत्व'' न पक्षधर्म है, न तो साधन है किन्तु उदासीन धर्म है। प्रकृत अनुमान में भी अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्घट समानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्वरूप साधनावच्छिन्नैतद्घटसमानाधिकरणावृत्तित्वरूप साध्य व्यापक एतद्घटप्रतियोगिक जन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वरूप उपाधि है। अर्थात् एतद्घटप्रतियोगिक जो एतद्घटजन्य प्रध्वंस और एतद्घटजनक प्रागभाव है, उन दोनों के अन्यतरमात्र में वृत्तित्व उपाधि है। यहां पर एतद्घटसमानाधिकरणावृत्तित्वरूपसाध्य पटादि में है क्योंकि एतद्घटसमानाधिकरणक कपालरूपादि होगा, उसमें अवृत्तित्व पटादि का है ही और पटादि में एतद्घटप्रतियोगिकप्रध्वंस प्रागभावान्यतरमात्रवृत्तित्वरूप उपाधि नहीं, यह वृत्तित्व तो केवल ''एतद्घटप्रागभावत्व और एतद्घटप्रध्वंसाभावत्व में है; अत: इस उपाधि का साध्यव्यापकत्व सिद्ध नहीं होगा; किन्तु उक्तरूप से साधनावच्छिन्नसाध्य लिया जाय तो इस उपाधि का साध्यव्यापकत्व होता है। इसलिये यह उपाधि है। यह उपाधि पक्ष में साधनाव्यापक भी है। अत: पक्ष में उपाधिभूतव्यापक के अभाव से व्याप्य साध्य का अभाव सिद्ध है।)

शंका– पक्षीभूत धर्म अर्थात् अन्योन्याभावातिरिक्तद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व के अत्यन्ताभाववृत्ति का सन्देह होने पर साधनाव्यापकत्व का सन्देह होता है (क्योंकि एतद्घट में मिथ्यात्वसन्देह काल में एतद्घट के समवायी कपाल में समवाय से एतद्घटात्यन्ताभाव का सन्देह होने से पक्ष में भी अत्यन्ताभाववृत्तित्व का संदेह हो सकता है)।

समाधान– ऐसा कहना अनुचित है; क्योंकि साध्यसाधनव्यभिचारशंकारूप विपक्ष के बाधकतर्क की अनवतारावस्था में सन्दिग्ध उपाधि का दूषण होना सम्भव है (क्योंकि जहां व्यभिचारशंका विरोधी तर्क अवतरित होता है, वहां व्यभिचारबुद्धि कुण्ठित हो जाती है, अत: संन्दिग्ध उपाधि से उस अनुमान में दूषण नहीं होता; किन्तु व्यभिचारशंका विरोधी तर्क अनवतरित हो जाय तो व्यभिचारबुद्धि रह जाने से सन्दिग्ध उपाधि भी अनुमान की बाधक दूषण हो ही जाती है) और घटात्यन्ताभावत्व में व्यभिचार भी है, क्योंकि संयोगसंबन्ध से घटवद्भूतल में समवायसंबन्ध से घटात्यन्ताभाव होने से साध्याभाववद्भूतल में हेतु की वृत्ति है। अब अतिविस्तार से अलम् करें।

इति अद्वैतसिद्धौ विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गस्य राष्ट्रभाषायामनुवादः।।



२६: अथ मिथ्यात्वे विशेषानुमानम्

मिथ्यात्वे च विशेषतोऽनुमानानि। ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यब्रह्मान्यासत्त्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणावृत्ति, ब्रह्मावृत्तित्वात्,शुक्तिरूप्यत्ववत्, परमार्थसद्भेदवच्च।१।। विमतं मिथ्या, ब्रह्मान्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्।। २।। परमार्थसत्त्वं स्वसमानाधिकरणान्योन्याभाव–प्रतियोग्यवृत्ति, सदितरावृत्तित्वात्, ब्रह्मत्ववत्।। ३।। ब्रह्मत्वमेकत्वं वा सत्त्वव्यापकम्, सत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, असद्वैलक्षण्यवत्।। ४।। व्याप्यवृत्तिघटादिः जन्याभावातिरिक्तस्व–समानाधिकरणाभावमात्रप्रतियोगी, अभावप्रतियोगित्वात्, अभिधेयत्ववत्। अभिधेयत्वं हि परमते केवलान्वयित्वादन्योन्याभावमात्रप्रतियोगि। स च समानाधिकरण एव। अस्मन्मते तु मिथ्यैवेति नोभयथापि साध्यवैकल्यम्।। ५।। अत्यन्ताभावः प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिः, नित्याभावत्वात्, अन्योन्याभाववत्।। ६।। अत्यन्ताभावत्वं प्रतियोग्यशेषाधिकरण–वृत्तिमात्रवृत्ति, प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिमात्रवृत्ति वा नित्याभावमात्रवृत्तित्वात्, अन्योन्याभावत्ववत्।। ७।। घटात्यन्ताभावत्वं (स्व)प्रतियोगिजनकाभावसमानाधिकरणवृत्ति, एतत्कपालसमानकालीनैतद्घटप्रतियोगिकाभाववृत्तित्वात्,प्रमेयत्ववत्।। ८।। एतत्कपाल–मेतद्घटात्यन्ताभावाधिकरणम्, आधारत्वात्, पटादिवत्।। ९।। ब्रह्मत्वं न परमार्थसन्निष्ठा–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

जगत् के मिथ्यात्व में विशेष रूप से ये अनुमान हैं– (१) ब्रह्मज्ञान से भिन्न ज्ञान द्वारा अबाध्य ब्रह्मान्य में जो असत्त्वानधिकरणत्व है, वह पारमार्थिक सत्त्वाधिकरण में अवृत्ति है, ब्रह्म में अवृत्तित्व होने से, जैसे शुक्तिरूप्यत्व अथवा परमार्थ सद्भेद। (२) विमत जगत् मिथ्या अर्थात् सद्विलक्षण है, ब्रह्मभिन्नत्व होने से,जैसे शुक्तिरूप्य (यहां पर साध्यमिथ्यात्व का अर्थ सद्विलक्षणत्व है, अतः असत् में चले जाने पर भी कोई दोष नहीं, क्योंकि सद्विलक्षणत्व साध्यमात्र से जगत् सत् सिद्ध नहीं होगा)। (३) परमार्थसत्त्व स्वसमानाधिकरणनिष्ठ (परमार्थ सत्व का अधिकरणरूप ब्रह्मनिष्ठ) व्यावहारिक भेद के प्रतियोगी में अवृत्ति है, परमार्थ सद्भिन्न में अवृत्तित्व होने से, जैसे ब्रह्मत्व। (४) ब्रह्मत्व अथवा एकत्व सत्त्व का व्यापक है, सत्व के साथ समानाधिकरणत्व होने से, जैसे असद्वैलक्षण्य (इसी से "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति के अनुसार एक ही ब्रह्म सिद्ध होता है)। (५) स्वाश्रय में व्याप्यवृत्ति घटादि जन्याभाव (प्रध्वंसाभाव) के अतिरिक्त स्वसमानाधिकरणाभावमात्र का प्रतियोगी है, अभाव प्रतियोगितत्व होने से, जैसे अभिधेयत्व, (इसी से स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व सिद्ध है)। पर–मत में अभिधेयत्व केवलान्वयी होने से अन्योन्याभाव मात्र का प्रतियोगी है, और वह अन्योन्याभाव अभिधेत्व के साथ समानाधिकरणक है ही, और हमारे मत में तो अभिधेयत्व मिथ्या ही है। अतः दोनों पक्षों में अभिधेयत्व रूप दृष्टान्त में साध्यवैकल्य नहीं। (६) अत्यन्ताभाव प्रतियोगी से विशिष्ट देश में है, नित्याभावत्व होने से, जैसे अन्योन्याभाव (इसी से कपालादि में घटादि का स्ववर्तमानकाल में अत्यन्ताभाव सिद्ध हुआ)। (७) अत्यन्ताभावत्व अशेषस्वप्रतियोग्यधिकरणवृत्ति मात्र (अर्थात् अत्यन्ताभाव मात्र) में है, अर्थात प्रतियोगिविशिष्टाधिकरण में स्थित पदार्थमात्र में है, नित्याभावमात्र में वृत्तित्व होने से, जैसे अन्योन्याभावत्व। (८) घटात्यन्ताभावत्व स्व के (अत्यन्ताभाव के) प्रतियोगी घट के जनकाभाव (घट प्रागभाव) के साथ समानाधिकरण पदार्थ में स्थित है, क्योंकि एतत्कपाल समानकालीन जो एतद्घटप्रतियोगिक अभाव है, उस में वृत्तित्व है, जैसे प्रमेयत्व। (९) एतत्कपाल

न्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, ब्रह्मवृत्तित्वात्, असद्वैलक्षण्यवत्।। १०।। परमार्थ-सत्प्रतियोगिको भेदो न परमार्थसन्निष्ठः, परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वात्, परमार्थसत्त्वावच्छिन्न-प्रतियोगिकाभाववत्।। ११।। भेदत्वावच्छिन्नं सद्विलक्षणप्रतियोग्यधिकरणान्यतरवत्, अभावत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकाभाववत्।। १२।। परमार्थसन्निष्ठो भेदो न परमार्थ-सत्प्रतियोगिकः, परमार्थसदधिकरणकत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत्।। १३।। मिथ्यात्वं ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्वव्यापकम्, सकलमिथ्यावृत्तित्वात्, मिथ्यात्वसमानाधिकरणात्यन्ता-भावाप्रतियोगित्वाद्वा, दृश्यत्ववत्।। १४।। दृश्यत्वं परमार्थसदवृत्ति, अभिधेयमात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्।। १५।। दृश्यत्वं परमार्थसद्भिन्नत्वव्याप्यम्, दृश्येतरावृत्तिधर्मत्वात्, प्रातिभासिकत्ववत्।।१६।। उभयसिद्धमसद्विलक्षणं मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मान-धिकरणम्, आधारत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्।। १७।। प्रतियोग्यवच्छिन्नो देशोऽत्यन्ताभावाश्रयः, आधारत्वात्, कालवत्।। १८।। आत्मत्वावच्छिन्नं परमार्थसत्त्वाधिकरणप्रतियोगिक-भेदत्वावच्छिन्नरहितम्, परमार्थसत्त्वात्, परमार्थसत्त्वावच्छिन्नवत्। परमार्थसति परमार्थसद्-भेदाङ्गीकारवादिमतेऽपि सद्भेदो न परमार्थसत्त्वावच्छिन्ननिष्ठः, किन्तु घटत्वाद्यवच्छिन्ननिष्ठ एव।। १९।। शुक्तिरूप्यं मिथ्यात्वेन प्रपञ्चान्न भिद्यते, व्यवहारविषयत्वात्, ब्रह्मवत्। साध्यसत्त्वमत्र त्रेधा। स्वस्यामिथ्यात्वेनोभयोर्मिथ्यात्वेनोभयोरमिथ्यात्वेन वा। तत्रान्तिमपक्षस्या-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

एतद्घटात्यन्ताभाव का अधिकरण है, आधारतत्व होने से जैसे पट (१०) ब्रह्मत्व परमार्थसन्निष्ठ अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं, ब्रह्मवृत्तित्व होने से, जैसे असद्वैलक्षण्य। (११) परमार्थसत्प्रतियोगिक भेद परमार्थ सन्निष्ठ नहीं, परमार्थसत्प्रतियोगिकत्व होने से, जैसे परमार्थसत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिक अभाव। (१२) भेदत्वावच्छिन्न भेद– स्वप्रतियोगी और स्वाधिकरण है। दोनों में से सद्विलक्षणान्यतरवान् है, अभावत्व होने से, जैसे शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकाभाव (इसी से सद्ब्रह्म न भेद प्रतियोगी है, न भेदानुयोगी है– यह सिद्ध है)। (१३) परमार्थसन्निष्ठ भेद परमार्थप्रतियोगिक नहीं, परमार्थ सदधिकरणत्व होने से, जैसे शुक्तिरूप्यप्रतियोगिक भेद (इसी से ब्रह्मानुयोगिक भेद का प्रतियोगी जगत् अपरमार्थ सिद्ध है)। (१४) मिथ्यात्व ब्रह्म और तुच्छ दोनों के अन्यत्व का व्यापक है, क्योंकि उसका सकल मिथ्यापदार्थों में वृत्तित्व है, अथवा मिथ्यात्व के साथ समानाधिकरणनिष्ठ अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व उसका है, जैसे दृश्यत्व (इसी से ब्रह्मतुच्छभिन्न यावत्पदार्थ मिथ्यासिद्ध हैं)। (१५) दृश्यत्व परमार्थसत् में अवृत्ति है, अभिधेयमात्र में वृत्तित्व होने से, जैसे शुक्तिरूप्यत्व (इसी से '' यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'' इस श्रुति से सिद्ध अनभिधेय ब्रह्म परमार्थसत् और तदन्य सब पदार्थ मिथ्या सिद्ध हैं)। (१६) दृश्यत्व परमार्थ सद्भिन्नत्व का व्याप्य है, दृश्यभिन्न में अवृत्तिधर्मत्व होने से, जैसे प्रातिभासिकत्व। (१७) उभयवादिसम्मत असद्विलक्षण पदार्थ मिथ्यात्व के साथ असमानाधिकरण धर्म का अनधिकरण है, आधारत्व होने से, जैसे शुक्तिरूप्य (अधिष्ठानत्वेन ब्रह्म का आधारत्व होने पर भी यहां व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि वेदान्तिमन में धर्माधिकरणत्वाभाव ब्रह्म में स्वीकृत होने से वह पक्षसम है)। (१८) प्रतियोगिविशिष्ट देश प्रतियोग्यत्यन्ताभाव का आश्रय है, आधारत्व होने से जैसे काल (इसी से '' प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्'' इत्यात्मक मिथ्यात्व की सिद्धि है)। (१९) आत्मत्वावच्छिन्न आत्मा–परमार्थसत्व का जो अधिकरण ब्रह्म है, तद्ब्रह्मप्रतियोगिकभेदत्वावच्छिन्न भेद से रहित

सम्भवात्, पक्षे साध्यसिद्धिपर्यवसानं मध्यमपक्षेण, दृष्टान्ते तु प्रथमपक्षेणेति विवेकः।।२०।। विमतं मिथ्या, मोक्षहेतुज्ञानाविषयत्वे सत्यसदन्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्।। २१।। मोक्षहेतुज्ञान–विषयत्वं परमार्थसत्त्वव्यापकम्, परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, पारमार्थिकत्वेन श्रुति–तात्पर्यविषयत्ववत्।। २२।। एतत्पटात्यन्ताभाव एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटानाद्यभावत्वात्, एतत्पटान्योन्याभाववत्। तन्तुनाशजन्यपटनाशस्य कदापि तन्तुवृत्तिता नास्तीति तत्र व्यभिचारवारणायानादिपदम्। यस्य पटस्याश्रयविभागेन नाशस्तदत्यन्ताभावस्य पक्षत्वे त्वनादिपदमनादेयमेव। अत्र चैतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नस्य पक्षीकरणान्न सम्बन्धान्तरेणात्यन्ताभावमादायांशतः सिद्धसाधनम्, पक्षतावच्छेकावच्छेदेन साध्यसिद्धे–रुद्देश्यत्वात्। समवायसम्बन्धावच्छिन्नो व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नश्च य एतत्पटात्यन्ताभावः स एव वा पक्षः। तन्तुशब्देन च पटोपादानकारणमुक्तम्। तत्र च (पट)प्रागभावस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है, परमार्थसत्व होने से, जैसे परमार्थसत्त्वावच्छिन्न ब्रह्म। परमार्थ सत् में परमार्थ सद्भेद का अङ्गीकार करने वालों के मत में भी सत्प्रतियोगिक भेद परमार्थसत्त्वावच्छिन्नानुयोगिक नहीं होता, किन्तु घटत्वाद्यवच्छिन्नघटाद्यनुयोगिक भेद ही होता है। (इसलिये इस अनुमान से आत्मा और ब्रह्म का अभेद सिद्ध है)। (२०) शुक्तिरूप्य मिथ्यात्वेन प्रपञ्च से भिन्न नहीं, व्यवहार विषयत्व होने से, जैसे ब्रह्म। यहां साध्यसत्त्व तीन प्रकार से होता है– स्व का (जिसमें साध्य रखना है, उसका) अमिथ्यात्वेन साध्यसत्व, दोनों का अर्थात् यत्प्रतियोगिक भेद का अभाव कहना है, उसका (प्रपञ्च का), तथा प्रपञ्च प्रतियोगिक भेदाभावरूप साध्य जिसमें रखना है, उसका मिथ्यात्वेन साध्यसत्व, अथवा पूर्वोक्त दोनों का अमिथ्यात्वेन साध्यसत्त्व। उनमें आद्य और अंतिम पक्ष के असम्भव होने से पक्ष में साध्यसिद्धि का पर्यवसान मध्य पक्ष से होता है, और दृष्टान्त में तो प्रथम पक्ष से साध्यसिद्धि है– ऐसा विवेक करना चाहिए। (अभिप्राय यह है कि इस अनुमान में मिथ्यात्वलिङ्गकप्रपञ्चप्रतियोगिकभेदवत्वाभाववत्व साध्य है अर्थात् "शुक्तिरूप्यं प्रपञ्च प्रतियोगिक भेदवत्, मिथ्यात्वात्, रज्जुसर्पवत्" इस अनुमान के साध्य प्रपञ्चप्रतियोगिकभेद का अभाव प्रकृतानुमान में साध्य है। दृष्टान्त ब्रह्म में प्रपञ्च प्रतियोगिक भेदाभाव इसलिए है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियों में बाधसामानाधिकरण्य होने से अधिष्ठान ब्रह्म से अध्यस्त प्रपञ्च का भिन्न अस्तित्व नहीं)। (२१) विमत् जगत् मिथ्या है, क्योंकि उसमें मोक्ष हेतु ज्ञानाविषयत्व होने पर असदन्यत्व है, जैसे शुक्तिरूप। (२२) मोक्षहेतु ज्ञानविषयत्व परमार्थसत्व का व्यापक है, परमार्थसत्व के साथ समानाधिकरणत्व होने से, जैसे पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व। (२३) एतत्पटात्यन्ताभाव एतत्तन्तुनिष्ठ है,क्योंकि उसमें एतत्पट प्रतियोगिक अनाद्यभावत्व है, जैसे एतत्पटप्रतियोगिक अन्योन्याभाव। यहां तन्तुनाश से जन्य पटनाश अर्थात् पटध्वंस की कभी भी तन्तुवृत्तिता न होने से पटध्वंस में व्यभिचार निवारण के लिए हेतु में अभाव का विशेषण अनादि है। और जिस पट का समवायिकारणविभाग से अर्थात् असमवायिकारण नाश से नाश होता है, उस पट के अत्यन्ताभाव को पक्ष करें तो "अनादि" पद देना ही नहीं चाहिए। और यहां एतत्पटप्रतियोगिक अत्यन्तात्वावच्छिन्न अत्यन्ताभाव को पक्ष करने के कारण सम्बन्धान्तर अर्थात् संयोग सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव को लेकर अंशतः (पक्षैक देशतः) सिद्धसाधन नहीं, क्योंकि पक्षतावच्छेदकावच्छेद से साध्यसिद्धि यहां उद्देश्य है। (प्रारम्भ में ही पक्षता के विषय में

सत्त्वान्न तेन व्यभिचारः। कार्यकारणयोरभेदेन सिद्धसाधनादिदूषणानि प्रागेव तत्त्वप्रदीपिकानुमानोपन्यासे निराकृतानि॥ २३॥ यद्वा समवायसम्बन्धावच्छिन्नोऽयमेतत्पटात्यन्ताभाव एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वात्, सम्बन्धान्तरावच्छिन्नैतत्पटात्यन्ताभाववदिति विशिष्यानुमानम्॥ २४॥ अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्युक्तपक्षतावच्छेदकवत्, स्वसमानाधि करणात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मत्वात्, संयोगवत्। न च विश्वात्यन्ताभावे व्यभिचारः, तस्याधिकरणस्वरूपत्वेऽनात्मत्वहेतोरेवाभावात्, अतिरिक्तत्वे तस्य मिथ्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगितया साध्यस्यैव सत्त्वात्। न चात्यन्ताभावस्यात्यन्ताभावे तत्प्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्वासिद्धिरिति वाच्यम्, अभावेऽभावप्रतियोगित्वस्य भावगताभावप्रतियोगित्वाविरोधित्वात्, प्रागभावस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सर्वसिद्धत्वात्। उपपादितश्चैतन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वे। अत्र चाव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणशब्देनैकदेशावच्छेदेनाविद्यमानत्वं पक्षविशेषणं विवक्षितम्। एतेन स्वसमानाधिकरणा–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विचार हो चुका है, उसमें देखना चाहिए।) अथवा स्वसमवायिकारण में समवाय सम्बन्ध से स्थित और व्यधिकरण धर्म अर्थात् एतत्पटत्व से भिन्नधर्म से अविशिष्ट एतत्पट का जो अत्यन्ताभाव हैं, वही यहां पक्ष है। और एतत्तन्तु शब्द से एतत्पट का उपादानकारण कहा गया है, और एतत्तन्तु में एतत्पट का प्रागभाव होने से उस प्रागभाव को लेकर हेतु का व्यभिचार नहीं। कार्य और कारण में अभेद से सिद्धसाधनादि दूषणजात तो तत्वप्रदीपिका (चित्सुखी) के अनुमानोपन्यास (अंशित्वहेतूपपत्ति) में पहले ही खण्डित हो चुके हैं। (२४) अथवा– समवाय सम्बन्धावच्छितैत्पटप्रतियोगिक यह अत्यन्ताभाव एतत्तन्तुनिष्ठ है, क्योंकि उसमें एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्व है, जैसे संबन्धान्तर अर्थात् संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न एतत्पट का अत्यन्ताभाव– इस प्रकार विशेष रूप से अनुमान है। (२५) अव्याप्यवृत्तित्व का अनधिकरणत्व होने पर उक्त पक्षतावच्छेदकवत् अर्थात् ब्रह्मज्ञानेतर से अबाध्य ब्रह्मान्यनिष्ठ जो असत्त्वानधिकरणत्व है, तदसत्त्वानधिकरणत्ववत् जगत् (यह प्रथमानुमान का पक्षतावच्छेदकवत् पक्ष है) स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है (यहां स्व से जगत् लेना) अनात्मत्व होने से, जैसे संयोग (यहां अव्याप्यवृत्तित्ववत् में सिद्धसाधनवारण के लिए सत्यन्त पक्ष का विशेषण है।)

शंका – विश्वात्यन्ताभाव में व्यभिचार है (क्योंकि विश्वात्यन्ताभाव में अनात्मत्व हेतु है, किन्तु स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व साध्य नहीं)

समाधान – नहीं, क्योंकि उस विश्वात्यन्ताभाव का अधिकरणस्वरूपत्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूपत्व होने पर उसमें अनात्मत्व हेतु का अभाव ही है, और अधिकरण ब्रह्म से अतिरिक्तत्व होने पर वह मिथ्या होने से अत्यन्ताभावप्रतियोगी होने के कारण उनमें साध्य का सद्भाव है ही।

शंका – अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव स्वीकृत होने पर निषेध्य अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी विश्व में अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व की असिद्धि है। (क्योंकि अभाव का अभाव भान होता है।

समाधान – ऐसा कहना नहीं चाहिए, कारण कि अभाव में अभाव प्रतियोगित्व भावगत निषेध्याभाव प्रतियोगित्व से विरूद्ध नहीं, क्योंकि प्रागभाव का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व होने पर भी प्रागभावप्रतियोगित्व घटादि में सर्वसिद्ध है। और यह सब मिथ्यात्वमिथ्यात्व प्रकरण में प्रतिपादित हो चुका है। और यहां पर अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरण शब्द से स्वाश्रय में एकदेशावच्छेद से अविद्यमानत्व पक्ष का विशेषण विवक्षित है।

त्यन्ताभावप्रतियोगित्वोक्तौ बाधः, अवयववृत्तित्वानधिकरणत्वोक्तौ घटादीनामपक्षत्वापत्तिरिति दूषणद्वयमपास्तम्। अनात्मत्वहेतुस्तु जड़त्वहेतुव्याख्यानेनैव व्याख्यातः।। २५।। अत एव नित्यद्रव्यान्यदव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणमुक्तपक्षतावच्छेदकवत्, केवलान्वय्यत्यन्ता–भावप्रतियोगि, पदार्थत्वात्, नित्यद्रव्यवत्, इत्यपि साधुः। दृष्टान्तश्चायं पररीत्या, स्वमते तु शुक्तिरूप्यवदित्येव। न च स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽत्यन्तासत्त्वापातः, तद्वैल–क्षण्यप्रयोजकाभावादिति वाच्यम्, उत्पत्तिनिवृत्त्योरन्यतरप्रतियोगित्वेन परिहारात्।।२६।। आत्मत्वावच्छिन्नधर्मिको भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, आत्माऽप्रतियोगिकत्वात्; शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत्। न च घटपटसंयोगे व्यभिचारः, हेतुमत्तया निर्णीतेऽङ्कुरादाविव साध्यसन्देहस्यादोषत्वात्। एवमन्येऽपि प्रयोगाः यथोचितमारचनीया विपश्चिद्भिरिति दिक्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

एतेन—अर्थात् अभावाभाव प्रतियोगित्व के भावगत निषेध्याभावप्रतियोगित्व का अविरोधित्व होने से तथा एकदेशावच्छेदेन अविधानत्व पक्ष विशेषण के कथन से— स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरहित में स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व के साधन में बाध है। और अवयववृत्तित्वानधिकरणत्व के कथन में घटादियों की अपक्षत्वापत्ति है— ऐसे दूषणद्वय का कथन अपास्त हुआ। अनात्मत्वहेतु जो जडत्वहेतु के व्याख्यान से ही व्याख्यात हुआ।

(२६) इस प्रकार पूर्वोक्त का निर्दोषत्व होने से— नित्यद्रव्य से अन्य— अव्याप्यवृत्तित्व का अनधिकरण और ब्रह्म प्रमेतराबाध्यब्रह्मान्यासत्वानधिकरणत्ववत् जगत् केवलान्वयी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, पदार्थत्व होने से, जैसे नित्य द्रव्य, यह प्रयोग भी साधु है। (यहां अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगित्व साध्य है, इसलिए अधिष्ठानचिद्रूप अत्यन्ताभाव ही केवलान्वयी अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगित्वरूप साध्य अनात्ममात्र में है)। और नित्यद्रव्यरूप यह दृष्टान्त पररीति (नैयायिक—रीति) से है। स्वमत में तो दृष्टान्त शुक्तिरूप्य ही है।

शंका — जगत् का स्वरूप से ही अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व होने पर तो अत्यन्त असत्त्व प्राप्त होगा, क्योंकि अत्यन्त असत्व से जगत् के विलक्षणत्व होने में प्रयोजक का अभाव है।

समाधान — ऐसा न कहिये, क्योंकि पक्ष में उत्पत्ति और निवृत्ति दोनों में से अन्यतर का प्रतियोगित्व विशेषण भी देना चाहिए, उसी से अत्यन्त असत्व का परिहार हो जायेगा।

(२७) आत्मत्वावच्छिन्नात्मानुयोगिक भेद—परमार्थसत्प्रतियोगिक नहीं, आत्माऽप्रतियोगिकत्व होने से, जैसे शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेद। और इस हेतु का घट और पट के संयोग में व्यभिचार नहीं, क्योंकि जिस प्रकार हेतुमत्त्वेन निर्णीत अङ्कुरादि में साध्यसन्देह अदोष होता है, उसी प्रकार घटपट संयोग में आत्माप्रतियोगिकत्व हेतुमत्त्वेन निर्णीतत्व होने से साध्यसन्देह अदोष है। (''क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्'' इत्यादिस्थल में पक्ष में हेतु निर्णीत होने पर साध्याभाव का सन्देहरूप व्यभिचारज्ञानव्याप्तग्राहकतर्क का अभाव होने पर ही व्याप्ति ग्रह का विरोधी है, व्याप्तिग्राहकतर्क होने पर तो विरोधी नहीं, अन्यथा सन्दिग्धसाध्यवत्पक्षक अनुमान मात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा। अतः ऐसे स्थलों में व्यभिचार का संदेह अदोष ही होता है। वैसे ही प्रकृत में भी घटपटसंयोग में आत्माऽप्रतियोगिकत्व हेतु निर्णीत होने पर परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वाभावसाध्य का व्यभिचारसन्देह अदोष है, क्योंकि वहां भी व्याति के बल से साध्य सिद्ध हो ही जायेगा)। इसी प्रकार विद्वानों द्वारा यथोचित अन्य अनुमानों की भी

हेतवोऽभीष्टसिद्ध्यर्थं सम्यञ्चो बहवश्च नः।
अल्पाः परस्य दुष्टाश्चेत्यत्र स्पष्टमुदीरितम्॥ १॥
अभीष्टसिद्धावनुकूलतर्कबलाबलं चात्र परीक्ष्य यत्नात्।
प्रवक्ष्यते दोषगणः परेषां न खेदनीयं तु मनोऽधुनैव॥ २॥

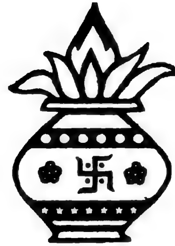
इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वमिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

रचना करनी चाहिये।

जगत् के मिथ्यात्वरूप अभीष्ट की सिद्धि के लिये हमारे बहुत अदुष्ट हेतु हैं, और द्वैतवादियों के तो अल्प और दुष्ट हेतु हैं— यह बात यहां स्पष्ट रूप से कथित हो चुकी है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में उस अभीष्ट की सिद्धि में अनुकूल तर्कों के बलाबल की यत्नपूर्वक परीक्षा करके विपक्षियों का दोषगण कहा जायेगा; अतः अभी से ही मन में खेद नहीं करना चाहिए।

इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वमिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानां राष्ट्रभाषानुवादः॥



२७: अथागमबाधोद्धारः

नन्वस्तु शब्दबाधः, तथा हि ''विश्वं सत्यम्,'' ''यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघम्''— ''याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'' इत्यादिश्रुतिभिः ''असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्'' (गी.१६/८) इत्यादिस्मृतिभिः ''नाभाव उपलब्धेः, (वे.द.२/२/२९) वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' (वे.द.२/२/२८) इत्यादिसूत्रैश्च विश्वस्य सत्यत्वप्रतिपादनादिति चेत्, न, श्रुतेस्तत्परत्वाभावात्। तथा हि—''विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्च न प्रमिणन्ति व्रतं वाम्। अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम्'' (ऋ.मं.२/३/३४) इति ऋक्संहिताद्वितीयाष्टकवाक्यस्यायमर्थः— हे इन्द्राब्रह्मणस्पती! मघवाना मघवानौ, मघमिति धननाम, धनवन्तौ मघवन्ताविति वा। विश्वं सर्वं सत्यं कर्म, सद्भूतत्वात्, फलस्यावश्यम्भावित्वाद्वा। तादृशं कर्म, युवयोरित् युवयोः, इत्—इत्थमवधारणे वा। युवामेवोद्दिश्य सर्वाणि कर्माणि अनुष्ठेयानीत्यर्थः। आपो व्यापनशीला देवताः, चन इत्येतत् पदद्वयसमुदायः, ऐकपद्यं त्वध्यापकसम्प्रदाय—सिद्धम्। वां युवयोर्व्रतं संकल्पं कर्म वा। न प्रमिणन्ति न हिंसन्ति (मीङ् हिंसायां क्रैयादिकः) किन्त्वनुमोदन्त इति यावत्। नोऽस्माकं हविर्दध्यादिकम्, अन्नं च पुरोडाशादिकं च। अच्छ अभिलक्ष्य वाजिना वेगवन्तावश्वाविव। युजा युक्तौ सन्तौ।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — जगत् के मिथ्यात्व का शब्दों से बाध हो, जैसा कि —''विश्वसत्य है'', ''जिसको सत्य ही जानता है, वह मोघ अर्थात् मिथ्या नहीं'' ''परमात्मा ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए याथातथ्यरूप से सब पदार्थों की रचना की''इत्यादि श्रुतियों से ''असुर लोग जगत् को असत्य, अप्रतिष्ठ और अनीश्वर कहते हैं'' इत्यादि स्मृतियों से, और '' बाह्य पदार्थ का अभाव नहीं,क्योंकि उपलब्धि होती है'' तथा '' वैधर्म्य होने से स्वप्नादिवत् बाह्य पदार्थ नहीं'' इत्यादि सूत्रों से, विश्व का सत्यत्व प्रतिपादित होने से जगन्मिथ्यात्वानुमान का शब्दों से बाध है।

समाधान — नहीं, क्योंकि श्रुति का विश्वसत्यत्व प्रतिपादन करने में तात्पर्य नहीं। तथाहि—*''विश्वं सत्यं मधावाना'' इत्यादि ऋक्संहिता के द्वितीयाष्टक के वाक्य का यह अर्थ है— हे इन्द्राब्राह्मणस्पती! तुम दोनों मघवाना = मघवान् हो, मघशब्द धनवाचक है। अतः धनवान् या मघवान् हो। विश्वं = सर्व, सत्यं = कर्म क्योंकि वह सद्रूप है अथवा उसका फल अवश्यम्भावी है। इस प्रकार के सर्व कर्म युवयोः = तुम दोनों का इत् = अवश्य ही है। तुम दोनों को ही उद्देश्य लेकर सब कर्म अनुष्ठेय हैं— यह अर्थ है। आपः = व्यापनशील देवता भी ''चन'' यह पदद्वय का समुदाय है, इसमें एकपदत्व तो अध्यापक परम्परा से सिद्ध है

वां = तुम दोनों के व्रतं = संकल्प या कर्म की न प्रमिणन्ति = हिंसा नहीं करते, किन्तु अनुमोदन ही करते हैं (यहां मीङ् हिंसायाम् धातु क्रैयादिक है)। नः = हम लोगों के हविः = दध्यादिक, अन्नञ्च = और पुरोडाशादिक द्रव्यों को अच्छ = लक्ष्य लेकर युजा =जोड़े हुए वाजिना

---

* '' हे इन्द्राब्रह्माणस्पती! तुम दोनों धनवान हो। तुम दोनों के उद्देश्य से ही सब धर्म किये जाते हैं। व्यापनशील देवता भी आप दोनों के कर्म को नष्ट नहीं करते। तुम दोनों जोड़े हुए बेगवान् दो घोड़ों के समान दौड़ते हुए हम लोगों से दिए हुए हविस् रूप अन्न को ग्रहण करने के लिए इस यज्ञभूमि में आओ।''

जिगातम्—देवयजनमागच्छतम्, (जिगातिर्गतिकर्मा जौहोत्यादिकः) अन्नं घासं प्रति अश्वाविवेति वा। यद्वा—हे इन्द्राब्रह्मणस्पती! विश्वं सत्त्वेन परिदृश्यमानं जगत्, युवयोरित् युवयोरेव, युवाभ्यामेव सृष्टम्, अथवा युवयोरेव विश्वं सर्वं स्तोत्रम्, सत्यं यथार्थम्। यद्यत् गुणजातं स्तुत्या प्रतिपाद्यते तत्सर्वं युवयोर्विद्यमानमेव न तु आरोपितमित्यर्थः। आपो व्यापनशीला देवताः, अबुपलक्षितानि पञ्चभूतानि वा। युवयोर्व्रतं जगदुत्पादनाख्यं कर्म न हिंसन्ति। इत्थं महानुभावौ युवां जिगातम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्। तथा च स्तुतिपरतया नास्य विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम्।

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीलः।

यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता।। इत्यस्यापि अष्टमाष्टकस्थ—स्येन्द्रस्तुतिपरतया न विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम्। तथा हि—शाक्मना शाकैव (शाक्मैव) शाक्मा तेन शाक्मना बलेन। शाकः शक्तः, स्वशक्त्यैव सर्वं कर्तुं शक्त इत्यर्थः। न हीन्द्रस्य सहायान्तरापेक्षास्ति, इन्द्रत्वादेव। अरुणः अरुणवर्णः कश्चित् शोभनवर्णः सुपर्णः पक्षी आगच्छतीत्यध्याहारः; उपसर्गश्रुतेः। यो महो महान् शूरः विक्रान्तः, सनात् पुराणः, अनीलः अनीडः नीडस्याकर्ता। न हीन्द्रोऽग्निवत् कुत्रचिदपि यज्ञे निकेतनं करोति। एवं सुपर्ण इत्यादिरूपकेणेन्द्रमाह—स इन्द्र इदमिदानीं कर्तव्यमति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इव = वेगवान् दो अश्वों जैसे दौड़ते हुए जिगातं = इस देवयजन स्थान में आओ (जिगाति गत्यर्थक धातु जौहोत्यादिक है) अथवा अन्नं = घास के प्रति दो अश्वों के समान आओ। अथवा— हे इन्द्राब्राह्मणस्पती! विश्वं = सत्रूपसे परिदृश्यमान यह जगत् युवयोरित् = तुम दोनों का ही यानि तुम दोनों के द्वारा ही सृष्ट है। अथवा — तुम दोनों का ही विश्वं = सर्व स्तोत्र सत्यं = यथार्थ है। जो जो गुणजात स्तुति करके प्रतिपाद्य है, वह सब तुम दोनों में ही विद्यमान है, कुछ भी आरोपित नहीं— यह अर्थ है। आपः = व्यापनशील देवता अथवा जल से उपलक्षित पञ्चभूत, युवर्योव्रतं = तुम दोनों के जगदुत्पादनरूप कर्म की हिंसा नहीं करते। इस प्रकार के गुणों से युक्त महानुभाव तुम दोनों आ जाओ। शेष का पूर्व के समान व्याख्यान करना चाहिये। तब तो इस मन्त्र का स्तुतिपरत्व होने से विश्वसत्यत्व में तात्पर्य नहीं।

"अपने सामर्थ्य से सब कुछ करने में समर्थ, महान् शूरवीर, पुरातन, अनिकेत और शोभनवर्णयुक्त पक्षिरूप इन्द्र आ रहा है (यहां पक्षी के रूपक से इन्द्र को कहा गया है), वह इन्द्र, समयानुसार क्या करना चाहिए— इस विषय में सब कुछ जानता है, वह ज्ञात विषय सत्य ही है, व्यर्थ नहीं, वह शत्रुओं से स्पृहणीय धन को जीतता है और जीते हुए धन को स्तोताओं के लिए देता भी है।" इत्यादि अष्टमाष्टकस्थ मन्त्र का इन्द्रस्तुतिपरत्व होने से विश्वसत्यत्व में तात्पर्य नहीं। तथाहि— शाक्मना =शाक ही शाक्मा है, उस शाक्मा से अर्थात् बल से शाकः = समर्थ, यानि स्वशक्ति से सब कुछ करने में समर्थ— यह अर्थ है; क्योंकि इन्द्र को सहायान्तर की अपेक्षा नहीं, इन्द्रत्व होने से ही। अरुणः अरुण वर्ण, कोई शोभनवर्ण सुपर्णः = पक्षी आता है—यहां "आ" इस उपसर्ग की श्रुति से "गच्छति" इस पद का अध्याहार है। यो महः = जो महान्, शूरः = विक्रान्त, सनात् = पुरातन, अनीलः = अनिकेत यानि निकेत (गृह) का अकर्त्ता, क्योकि अग्नि के समान इन्द्र कहीं भी यज्ञ में निकेतन नहीं करता है। इस प्रकार से यहां "सुपर्णः" इत्यादि रूपक से इन्द्र को कहा। वह इन्द्र "अब क्या कर्तव्य है" इस प्रकार यच्चिकेत = जो जानता है.

यच्चिकेत जानाति, तत्सत्यमित् सत्यमेव, न मोघं, न व्यर्थं, स्पार्हं स्पृहणीयं, वसु निवासार्हं धनं, जेता जयति शत्रुभ्यः सकाशात्। उत अपि, दाता ददाति च स्तोतृभ्यः। जेता दातेति तृनन्ते, तेन 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। एवमेवान्यदपि सत्यत्वप्रतिपादकमुन्नेयम्। ''याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्'' इत्यपि वाक्यं न प्रपञ्चसत्यत्वे प्रमाणम्, तस्य पूर्वसृष्टप्रकारेण सर्जनमर्थः, न तु जगत्सत्यत्वं जगत्सर्जनगतसत्यत्वं वा। यत्र च स्तुत्यादिपरत्वं नास्ति तत्रापि प्रत्यक्षसिद्धानुवादकतया ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्'' इत्यादिवाक्यवन्न तत्परत्वम्। न च त्वमन्ते सर्वत्र ब्रह्मसत्त्वस्यैव स्फुरणात्तदति– रिक्तस्य कालत्रयाबाध्यत्वरूपस्य घटादिसत्त्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तेः तद्बोधकत्वेन श्रुतेर्नानुवादकत्वमिति वाच्यम्, इतरसत्त्वबाधपुरस्सरत्वाद् ब्रह्मसत्त्वस्फुरणाभ्युपगमस्य तत्रैव सत्यादिपदप्रवृत्तिस्वीकारेण तदतिरिक्तविश्वसत्यत्वस्य शाब्दबोधाविषयत्वात्तदा– दायानुवादकत्वापरिहारात्। अथ 'पृथिवी इतरभिन्ना', 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादौ घटादावेकदेशे प्रत्यक्षेण, ब्राह्मणादावेकदेशे वाक्यान्तरेण, विधेयसिद्धावपि सर्वत्रासिद्धत्वाद् यथा नानुवादकत्वम्, तथा विश्वमात्रसत्यत्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तत्वात् नानुवादकत्वमिति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

तत्सत्यमित् = वह सत्य ही है, न मोघं = व्यर्थ नहीं। वह स्पार्हं = स्पृहणीय वसु = निवासार्ह, धन को जेता = शत्रुओं से जीत लेता है, और दाता = स्तोताओं को देता भी है। यहां पर जेता और दाता दोनों ही तृनन्त हैं, इसलिए '' न लोक...'' इत्यादि सूत्र से षष्ठी का प्रतिषेध है (''कर्तृकमर्णोः कृतिः'' (पा. २/३/६५) इस सूत्र से ''वसु'' शब्द की षष्ठी विभक्ति प्राप्त होने पर '' न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'' (पा. २/३/६९) इस सूत्र से तृनन्त होने के कारण तृजन्त के अभाव से षष्ठी का निषेध है– यह भाव है)। इस प्रकार ही जगत्सत्यत्वप्रतिपादक अन्य वाक्य भी अन्यपरत्वेन उन्नेय हैं। और '' याथातथ्यतोऽथर्नान्व्यदधात्'' यह वाक्य भी प्रपञ्च सत्यत्व में प्रमाण नहीं, क्योंकि उसका पूर्वसृष्ट इस प्रकार से सृष्टि– अर्थ है, न कि जगत्सत्यत्व, अथवा न तो जगत्सर्जनगत सत्यत्व। और जहां स्तुत्यादि परत्व नहीं, वहां भी ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्'' इत्यादि वाक्यवत् प्रत्यक्षसिद्धानुवादकत्व होने से जगत्सत्यत्वपरक वाक्य नहीं।

शंका – तुम्हारे मत में सर्वत्र ब्रह्मसत्व ही स्फुरण होने से उस ब्रह्म सत्व के अतिरिक्त कालत्रयाबाध्यत्वरूप घटादिसत्त्व की प्रत्यक्ष से अप्राप्ति होने से उसके बोधकत्वरूप से श्रुति का अनुवादकत्व नहीं।

समाधान – ऐसा न कहें, क्योंकि ब्रह्मसत्व के स्फुरण का अभ्युपगम प्रपञ्चसत्वबाधपूर्वक होने से उस ब्रह्मसत्व में ही सत्यादिपद की प्रवृत्ति का अङ्गीकार होने के कारण ब्रह्मसत्यत्व के अतिरिक्त विश्वसत्यत्व सत्यादिपदजन्य शाब्दबोध का अविषय होने से उस ब्रह्मसत्यत्व को लेकर विश्वसत्यत्वप्रतिपादक वाक्यों में अनुवादकत्व अपरिहार्य है।

शंका – ''पृथ्वी अष्टद्रव्यभिन्न है'' ''सब भूतों की हिंसा न करें'' इत्यादि में पृथ्वी के एकदेश घटादि में प्रत्यक्ष से विधेय इतरभिन्नत्व (अष्टद्रव्यभिन्नत्व), और सर्वभूतों के एकदेश ब्राह्मणादि में '' ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इस वाक्यान्तर से विधेय हिंसाऽभाव की सिद्धि होने पर भी उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन पृथिवी और सर्वभूत में असिद्धत्व होने से इतरभिन्नत्वप्रतिपादक और सर्वभूतहिंसाऽभाव प्रतिपादक वाक्यों का जिस प्रकार अनुवादकत्व नहीं है, उसी प्रकार विश्वमात्र का सत्यत्व प्रत्यक्ष से अप्राप्त होने से विश्वमात्रसत्यत्वप्रतिपादक वाक्यों का अनुवादकत्व नहीं।

मन्यसे? मैवम्, दृष्टान्ते हि पृथिवीत्वं हिंसात्वञ्च एकोऽनुगतो धर्म इति तदवच्छेदेन विधेयस्याप्राप्तत्वेन तत्र नानुवादकत्वं युक्तम्, इह तु विश्वत्वं नाम नैको धर्मोऽस्ति, किन्तु विश्वशब्दः सर्वनामत्वात्तेन तेन रूपेण घटपटादीनामुपस्थापकः, तेषु च प्रत्येकं सत्त्वं गृहीतमेवेति कथं नानुवादकत्वम्? प्रकारवैलक्षण्याभावात्। न चैकशाखास्थविधि–वाक्यैकार्थशाखान्तरस्थविधिवाक्यस्य पुरुषान्तरं प्रतीव येन पुंसा वादिविप्रतिपत्त्यादिना घटादिसत्ता प्रत्यक्षेण न निर्णीता तं प्रत्यर्थवत्त्वेन नानुवादकत्वमिति वाच्यम्, एवं सत्यनुवादस्थलस्यैवाभावप्रसङ्गात्। न च सर्वाविवादस्थलमेवोदाहरणम्, सर्वाविवादस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्, पुरोवादपूर्वकत्वादनुवादस्यात्रायं पुरोवाद इत्यस्यैवाभावान्न शाखान्तरस्थवाक्यस्यानुवादकत्वप्रसङ्गः। यत्तु—बृहदारण्यकभाष्ये देहभिन्नात्मबोधिकायाः 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इत्यादिश्रुतेः प्रत्यक्षप्राप्तानुवादित्वमाशङ्क्य वादिविप्रतिपत्तिदर्शना–दित्यादिना तत्परिहृतम्। तथा च प्रत्यक्षसिद्धसत्त्वग्राहकत्वेऽपि वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थकत्वेन नानुवादकत्वं प्रकृतेऽपीत्युक्तम्। तदयुक्तम्, भाष्यार्थानवबोधात्। तथा हि—तत्र वादिविप्रति–पत्तिदर्शनेन देहव्यतिरिक्तत्वेनात्मनः प्रत्यक्षतैव नास्ति। अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिन–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— वैसा भी न मानिये, क्योंकि दृष्टान्त में पृथिवीत्व और हिंसात्व एक अनुगत धर्म होने से तद्धर्मावच्छेदेन विधेय इतरभिन्नत्व और हिंसाऽभाव अप्राप्त होने के कारण दृष्टान्तीभूत दोनों वाक्यों में अनुवादकत्व नहीं, प्रकृत में तो विश्वत्व नाम एक धर्म नहीं, किन्तु विश्वशब्द सर्वनाम होने से घटत्वपटत्वादि रूप से घटपटादिकों का उपस्थापक है और उन घटपटादिकों के प्रत्येक में सत्त्व गृहीत होने ही से विश्वसत्यत्वप्रतिपादक वाक्यों का अनुवादकत्व क्यों नहीं होगा? क्योंकि अनुवाद स्थलीय प्रकार से विलक्षणत्व का अभाव यहां भी है।

शंका — वेद के एकशाखास्थ विधिवाक्य के एकार्थक शाखान्तरस्थ विधिवाक्य का पुरुषान्तर के प्रति जिस प्रकार अनुवादकत्व नहीं, उसी प्रकार जिस पुरुष ने वादिविप्रतिपत्यादि से घटादिसत्त्व का प्रत्यक्ष से निर्णय नहीं किया है, उस पुरुष के प्रति अर्थवत्त्व होने से विश्वसत्यत्वप्रतिपादक श्रुतियों का अनुवादकत्व नहीं।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि जैसे तुम कहते हो, वैसा होने पर अनुवादस्थल के ही अभाव का प्रसङ्ग है और सर्ववादियों से अविवादस्थल ही उदाहरण नहीं हो सकता; क्योंकि सब वादियों से अविवाद का निश्चय किया नहीं जा सकता और अनुवाद—पुरोवादपूर्वक होने से वेद की एक शाखास्थ अग्निहोत्रादि वाक्य में उस वेद के शाखान्तरस्थ अग्निहोत्रादिवाक्य की अपेक्षा से यह पुरोवाद है ऐसे अर्थ का अभाव होने के कारण शाखान्तरवाक्य के अनुवादकत्व का प्रसंग नहीं। और बृहदारण्यकारम्भ में प्रमाणभाष्य में देहभिन्नात्मबोधिका "आत्मा है— इस प्रकार से ही उपलब्ध करना चाहिए" इत्यादि श्रुति का प्रत्यक्ष प्राप्त अनुवादित्व की शंका करके "वादिविप्रतिपत्ति के दर्शन से" इत्यादि भाष्य द्वारा उसका परिहार किया गया है, वैसे ही विश्वसत्यत्वप्रतिपादिका श्रुति का प्रत्यक्षसिद्ध सत्त्वग्राहकत्व होने पर भी वादिविप्रतिपत्ति का निरासार्थकत्व होने से अनुवादकत्व का अभाव प्रकृत में भी समान है— ऐसा जो कहा है, वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसा कथन भाष्यार्थ के अनवबोध से है। तथाहि— उस भाष्य में—वादिविप्रतिपत्तिदर्शन से देह से भिन्नत्वेन आत्मा की प्रत्यक्षता ही नहीं, यदि प्रत्यक्षता है तो प्रत्यक्षमात्र—प्रमाणवादी चार्वाकादि को देहव्यतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व में विप्रतिपत्ति ही नहीं

श्चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यादित्युक्तम्, न तु वादिविप्रतिपत्तिनिरासेनास्तीत्यादेस्सार्थकत्वम्, अननुवादकत्वं वा। तथा चोक्तं तत्रैव—तस्माज्जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारविशेषोपाये च शास्त्रं प्रवर्तत इति।

ननु चातुर्मास्यमध्यपर्वणोः "द्वयोः प्रणयन्ति" इति वाक्यस्य चोदकप्राप्ताग्निप्रणयनव्यतिरिक्ताग्निप्रणयनविधायकत्ववत् प्रत्यक्षप्राप्तव्यावहारिकसत्त्वविलक्षणत्रिकालनिषेधाप्रतियोगित्वरूपसत्त्वप्रमापकत्वं प्रकृतेऽस्त्विति चेन्न, त्रैकालिकसत्त्वनिषेधकश्रुतिविरोधेन विश्वसत्यत्वश्रुतेस्त्रैकालिकसत्त्वपरत्वाभावात्। न च वैपरीत्यमेव किं न स्यात्? विनिगमकाभावादिति वाच्यम्, तात्पर्यान्यथानुपपत्तिगतिसामान्यानामेव विनिगमकत्वात्। अद्वैतश्रुतिर्हि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होती— ऐसा कहा है, वादिविप्रतिपत्ति के निरास से " अस्ति" इत्यादि श्रुति का सार्थकत्व है, अथवा ननुवादकत्व है— ऐसा तो नहीं कहा है। और उस भाष्य में ही यह कहा है— " इसलिये जन्मान्तर सम्बन्धी आत्मा के अस्तित्व और जन्मान्तरीय इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के विशेष उपाय में शास्त्र की प्रवृत्ति है" इति।

शंका — चातुर्मास्य याग के चार पर्वों में से मध्यस्थित दो पर्वों में "द्वयोः प्रणयन्ति" यह वाक्य अतिदेश से प्राप्त अग्निप्रणयन के अतिरिक्त अग्निप्रणयन का विधायक जिस प्रकार होता है (अनुवादक नहीं होता), उसी प्रकार प्रत्यक्ष से प्राप्त व्यावहारिकसत्व से विलक्षण और त्रैकालिकनिषेध के अप्रतियोगित्वरूप सत्त्व का प्रमापकत्व विश्वसत्यत्वश्रुति के प्रकृत में भी हो (चातुर्मास्य कर्म के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय ये चार पर्व होते हैं। इनमें मध्यस्थ वरूणप्रघास और साकमेध इन दोनों के लिये अग्निप्रणयन का इस प्रकार विधान किया है—" द्वयोः प्रणयन्ति, तस्माद् द्वाभ्यामेति,ऊरू वा एतौ यज्ञस्य यद्वरुणप्रघासाश्च साकमेधाश्च" अर्थात् दोनों में अग्निप्रणयन करें, क्योंकि उन दोनों से जाता है, ये दोनों यज्ञ के ऊरू है, जो वरुणप्रघास और साकमेध हैं। इस विषय में मीमांसादर्शन (अ.७/पा.३/अधि. ८,९/सू. १९—२५ तक) में विचार किया गया है कि क्या यह प्रणयन सौमिक अर्थात् सोमयाग में विहित धर्मसमेत अग्निप्रणयन है? अथवा दर्शपूर्णमासीय? ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि चातुर्मास्ययाग का प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास है, अतः" प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" इस न्याय से अतिदेश द्वारा दर्शपूणमासीय अग्निप्रणयन स्वतः प्राप्त होने से यह विधान निरर्थक न हो, इस निमित्त धर्मसमेत सौमिक अग्निप्रणयन का यहां विधान समझना चाहिये। इसमें सिद्धान्ती कहते हैं कि " प्राकृतं वाऽनामत्वात्" (मी.७/३/२१) यह प्रणयन प्राकृतदर्शपूर्णमासीय है, सौमिक नहीं, क्योंकि यह सौमिक प्रणयन का नामधेय नहीं, अर्थात् कर्म संज्ञा नहीं। जिससे धर्म समेत अतिदेश किया जाय किन्तु क्रिया मात्र है। और प्राकृत होने पर भी यह विधान निरर्थक नहीं, क्योंकि अतिदेश द्वारा चारों पर्वों में अग्निप्रणयन प्राप्त होने पर मध्यस्थ दो में ही विधायक होने से सार्थक है, और प्रकृति के विधान से विलक्षण है। इसको दृष्टान्त बना द्वैतवादी ने अपना पक्ष स्थापित किया है)।

समाधान — नहीं, क्योंकि त्रैकालिक सत्त्व की निषेधक श्रुतियों से विरोध होने से विश्वसत्यत्व श्रुतियों के त्रैकालिक सत्त्वपरत्व का अभाव है।

शंका — इसका वैपरीत्य ही क्यों न हो? क्योंकि विनिगमक (एकतरपक्षपातिनी युक्ति) का अभाव है।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि तात्पर्यान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाण और वेदान्तवाक्यों

षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेता। तत्र त्रिविधं तात्पर्यलिङ्गम्प्रामाण्यशरीरघटकमर्थनिष्ठम–ज्ञातत्वमबाधितत्वं प्रयोजनवत्त्वञ्च। त्रिविधं तु शब्दनिष्ठम्। अतिप्रसङ्गवारकमुपक्रमोप–संहारयोरैकरूप्यमभ्यासोऽर्थवादश्चेति। तत्र शब्दनिष्ठलिङ्गत्रये तावन्न विवादः, सर्वासामेवोप–निषदामेवं प्रवृत्तत्वात्। मानान्तरासिद्धतया मोक्षहेतुज्ञानविषयतया चाज्ञातत्वं सप्रयोजनत्वञ्च निर्विवादमेव। अबाधिततत्वमात्रं सन्दिग्धम्। तच्चान्यथानुपत्तिगतिसामान्याभ्याञ्च निर्णीयते। न हि सर्वप्रपञ्चनिषेधरूपमद्वैतं व्यावहारिकं येन तत्र श्रुतेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं स्यात्। अतस्तत्र तात्त्विकमेव प्रामाण्यम्, द्वैतसत्यत्वं तु व्यावहारिकम्, अतस्तत्र न श्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यम्। परस्परविरुद्धयोर्द्वयोस्तात्त्विकत्वायोगात्, वस्तुनि च विकल्पासम्भवात्, तात्त्विकव्यावहारिकप्रामाण्यभेदेन च व्यवस्थोपपत्तेः। स्तुति(अतत्) परत्वेनावधारितस्य विश्वसत्यत्ववाक्यस्यैवान्यथाव्याख्यातुमुचितत्वात्। तथा हि–चतुर्धा हि सामानाधिकरण्यम्;– अध्यासे 'इदं रजतम्' इत्यादौ, बाधायां 'स्थाणुः पुमान्' इत्येवमादौ, विशेषणविशेष्यभावेन 'नीलमुत्पलम्'इत्यादौ, अभेदेन 'तत्त्वमसि'इत्येवमादौ। अत्र च बाधायामध्यासे वा सामानाधिकरण्योपपत्तेर्न सत्यत्वबोधकश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिबाधकत्वम्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का गतिसामान्य अर्थात् अद्वैतावगतिजनकत्व रूप से समानतारूप विनिगमक है। कारण कि अद्वैतश्रुति षड्विधतात्पर्य ग्राहक लिङ्गों से युक्त है। (उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंङ्ग तात्पर्य निर्णये।।) इन षड्विध लिङ्गों में अज्ञातत्व (अपूर्वता), अबाधिततत्व (उपपत्ति) और प्रयोजनवत्त्व (फल) ये त्रिविध तात्पर्यलिंङ्ग प्रमात्व शरीर का घटक होकर अर्थ निष्ठ है। और अन्य त्रिविध लिङ्ग उपक्रमोपसंहार का ऐकरूप्य (एकार्थपर्यवसान), अभ्यास (अनन्यपरक होकर पुनः पुनः श्रवण) और अर्थवाद (स्तुतिनिन्दाऽन्यतरबोधकवाक्य) तो शब्दनिष्ठ होकर अतिप्रसङ्गवारक हैं। इनमें शब्दनिष्ठ लिङ्गत्रय के विषय में किसी का विवाद नहीं, क्योंकि सब उपनिषदों की वैसी ही प्रवृत्ति है। उसी प्रकार मानान्तर से असिद्धत्व और मोक्षहेतु ज्ञानविषयत्व रूप से अज्ञातत्व और सप्रयोजनत्व के विषय में भी निर्विवाद ही है। इनमें अबाधिततत्वमात्र सन्दिग्ध है और वह अवाधितत्व तो तात्पर्य की अन्यथानुपपत्ति और गति सामान्य से निर्णीत किया जाता है; क्योंकि सर्वप्रपञ्च का "नेति नेति" इत्यादि से निषेध रूप अद्वैत व्यावहारिक नहीं, जिससे (व्यावहारिक होने से) उस अद्वैत में श्रुति का व्यावहारिक प्रामाण्य हो, अतः अद्वैत में श्रुति का प्रमाण्य तात्त्विक ही है और द्वैतसत्यत्व तो व्यावहारिक है। अतः द्वैतसत्यत्व में श्रुति का प्रामाण्य तात्त्विक नहीं, क्योंकि परस्पर विरुद्ध दोनों का तात्त्विकत्व अयुक्त है और वस्तु में विकल्प असंभव है तथा तात्त्विक और व्यावहारिक प्रामाण्य के भेद से विश्वसत्यत्व की व्यवस्था हो सकती है, क्योंकि अविश्वसत्यत्वपरत्वेन (स्तुतिपरत्वेन) अवधारित विश्वसत्यत्व वाक्य (विश्वं सत्यं–इत्यादि श्रुतिवाक्य) का अन्यथा (व्यावहारिक सत्यत्वेन) व्याख्यान करना उचित ही है। तथा हि– सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिक परस्परसाकांक्षक पदद्वयत्व, यहां सामानाधिकरण्य है) चार प्रकार से होता है; जैसे– अध्यासमें सामानाधिकरण्य "इदं रजतम्" इत्यादि में होता है, बाध में सामानाधिकरण्य " स्थाणुः पुमान्" अर्थात् जिसको स्थाणु समझा वह तो पुमान् है – इत्यादि में होता है। " नील कमल" इत्यादि में विशेषण विशेष्यभाव से सामानाधिकरण्य होता है और "तत्त्वमसि" इत्यादि में अभेद से सामानाधिकरण्य होता है। और, "विश्वं सत्यम्" इत्यादि में बाध अथवा अध्यास में सामानाधिकरण्य सम्भव होने

ननु– आत्मन आनदत्वबोधिका श्रुतिः "सुखं सुप्तोस्मि" इति साक्षिप्रत्यक्षसिद्धानन्दानुवादिनी सत्त्वश्रुतिवद्भवेदिति चेन्न, साक्षिण उपहितानन्दविषयत्वेन श्रुतेश्च निरुपाधिकानन्दविषयत्वेन भिन्नविषयत्वादनुवादत्वायोगात्। तदा हि स्वरूपानन्दो गृह्यते। स्वरूपञ्चाज्ञानोपहितमेव साक्षिविषयः। ननु "तत्त्वमसि" इत्यादौ नवकृत्वोऽभ्यासवत्, पिपासितस्य जलगोचरप्रमाणसंप्लववदैक्ये षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्, भावरूपाज्ञाने प्रत्यक्षसिद्धे "तम आसीत्" इत्यादिश्रुतिवत् सत्त्वश्रुतिर्दार्ढ्यार्था इति चेन्न, अशेषविशेषग्राहिप्रत्यक्षप्राप्ते तद्दार्ढ्यार्थमन्यामानानपेक्षणात्। पिपासितस्य शब्दलिङ्गानन्तरं जले प्रत्यक्षमपेक्षितं, न तु प्रत्यक्षानन्तरं शब्दलिङ्गे। न च तर्हि "तम आसीत्" इत्यादेः न किञ्चिदवेदिषमिति प्रत्यक्षसिद्धाज्ञानदार्ढ्यार्थत्वं न स्यादिति वाच्यम्, "तम आसीत्" इत्यस्य सृष्टिपूर्वकालसम्बन्धित्वेनाज्ञानग्राहितया सुषुप्तिकालसम्बन्धित्वेनाज्ञानग्राहकं प्रत्यक्षमपेक्ष्य भिन्नविषयत्वेनैव प्रामाण्यसम्भवात्।

ननु 'षड्विंशतिरस्य वंक्रयः' इति मन्त्रस्याश्वमेधे चोदकप्राप्तस्य "चतुस्त्रिंशद्वाजिनोः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पर विश्वसत्यत्वबोधक श्रुति षड्विधतात्पर्यग्राहक लिङ्गों से समर्थित अद्वैतश्रुति की बाधिका नहीं हो सकती।

शंका – तब तो विश्वसत्त्वश्रुति के समान आत्मा के आनन्दत्व की बोधिका श्रुति भी " सुख से सोया हूँ" इस साक्षिप्रत्यक्षसिद्ध आनन्द की अनुवादिनी होगी।

समाधान – नहीं, क्योंकि साक्षी का विषय उपहित आनन्द है और श्रुतिका विषय निरुपाधिक आनन्द है, इस प्रकार भिन्नविषयत्व होने से आनन्दबोधिका श्रुति का अनुवादकत्व अयुक्त है। कारण कि सुप्तावस्था में स्वरूपानन्द गृहीत है और उस समय अज्ञानोपहितस्वरूप ही साक्षी का विषय है।

शंका – जैसे "तत्त्वमसि" इत्यादि में नववार अभ्यास (पुनः पुनः कथन), पिपासित पुरुष का जल विषयक प्रमाणों का सम्प्लव (प्रमाणों का एकविषयत्व ही प्रमाणसंम्प्लव है), अद्वैत में षड्विध तात्पर्यग्राहकलिङ्ग समावेश और प्रत्यक्षसिद्ध भावरूप अज्ञान में "तम आसीत" इत्यादि श्रुतिवाक्य अर्थ की दृढ़ता के लिये ही होते हैं; वैसे ही विश्वसत्त्व श्रुति भी प्रत्यक्षसिद्ध जगत्सत्त्वरूप अर्थ की दृढ़ता के लिए है।

समाधान – नहीं क्योंकि अशेषविशेषों के ग्राहक प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध वस्तु में उसकी दृढ़ता के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं होगी; पिपासित पुरूष का तो शब्द और अनुमान के अनन्तर भी जल में प्रत्यक्ष अपेक्षित है, किन्तु जल प्रत्यक्ष के अनन्तर तो शब्द और अनुमान अपेक्षित नहीं होते।

शंका– तब तो " तम आसीत" इत्यादि श्रुति " न किञ्चिदवेदिषम्" इस सुषुप्तिकालीन प्रत्यक्षसिद्ध अज्ञान की दृढ़ता के लिए नहीं होगी।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि " तम आसीत्" यह श्रुति सृष्टिपूर्वकाल सम्बन्धी अज्ञान की ग्राहिणी है। अतः सुषुप्तिकालसम्बन्धी अज्ञान के ग्राहक प्रत्यक्ष की अपेक्षा भिन्नविषयत्व होने से उसका (तमः श्रुतिका) प्रामाण्य संभव है।

शंका – "षड्विंशतिरस्य वंक्रयः" अर्थात् " इस पशु की वक्र पार्श्वस्थ अस्थियां छब्बीस हैं" यह मन्त्र अतिदेश द्वारा अश्वमेध से प्राप्त है। (प्रकृतिभूत अग्नीषोमीययाग में पशुविधायक

देवबन्धोः" इति वैशेषिकमन्त्रेणापोदितस्य षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति वचनवत् प्रत्यक्षप्राप्तजगत्सत्त्वस्य मिथ्यात्वश्रुत्यापाततोऽपोदितस्य प्रतिप्रसवार्थं सत्त्वश्रुतिरिति चेन्न, मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षबाधकत्वाभ्युपगमे तस्याः बलवत्त्वेन तद्विरोधात् सत्यत्वश्रुतेरन्यपरत्वाद्देवताधिकरणन्यायासम्भवाच्च प्रतिप्रसवार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। ननु सत्त्वप्रत्यक्षप्रामाण्ये तेनैव मिथ्यात्वश्रुत्यनुमानादिबाधः। तदप्रमाण्ये न तेन सत्त्वश्रुतेरनुवादकत्वमिति चेन्न, प्रत्यक्षाप्रामाण्येऽपि तत्सिद्धबोधकस्यानुवादकत्वसम्भवात्। न हि प्रमितप्रमापकत्वमनुवादकत्वम्, किन्तु पश्चाद्बोधकत्वमात्रम्। पश्चात्त्वञ्च प्रमाणावधिकमप्रमाणावधिकञ्चेति न कश्चिद् विशेषः। न च श्रुतेः सर्वसिद्धप्रमाणभावायाः सदर्थत्वायाननुवादकत्वाय च प्रत्यक्षाप्राप्ततात्त्विकसत्त्वविषयत्वमवश्यं वक्तव्यम्। तथा चाप्रमाणेन प्रत्यक्षेण कथं श्रुतेरनुवादकत्वमिति वाच्यम्। सत्त्वांशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि वाक्यार्थस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वाक्य से विकृतिभूत अश्वमेध में " प्रकृतिवत् विकृतयः कर्तव्याः" इस न्याय से यह मन्त्र प्राप्त है), इस प्राप्त मन्त्र का " चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोः" अर्थात् " इस देवबन्धु अश्व की अस्थियाँ तो चौंतीस होती हैं" इस विकृतिप्रकरण में पठित विशेष भावगत मन्त्र से अपवाद होता है। पुनः इस अपवाद का "न चतुस्त्रिंशदित्ति ब्रूयात्" " षड्विंशतिरित्येवब्रूयात्" अर्थात् " चौंतीस कहना नहीं चाहिए, छब्बीस ही अस्थियां कहना चाहिए" इस वचन से जिस प्रकार अपवाद होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वश्रुति द्वारा आपाततः अपवादितप्रत्यक्षप्राप्त जगत्सत्त्व के प्रतिप्रसवार्थ (निषिद्ध का पुनर्विधान प्रतिप्रसवत्व है) विश्वसत्त्वश्रुति है। (इसका विचार मीमांसादर्शन अ. ९/अधि.१,२/सू.१—२१ तक में किया गया है)।

समाधान — नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व श्रुति के प्रत्यक्षबाधकत्व का अभ्युपगम होने पर, बलवती होने के कारण उसके विरोध से विश्वसत्यत्व श्रुति का अन्यपरत्व अर्थात् स्तुतिपरत्व है और देवताधिकरण न्याय भी यहां असम्भव होने से विश्वसत्यत्व श्रुति का प्रतिप्रसवार्थत्व कहना भी अशक्य है। (देवताओं के विग्रहवत्त्व में और विद्याऽधिकारित्व में प्रमाणान्तर का अविरोध है, किन्तु प्रकृत में तो प्रमाणान्तर का विरोध है। अतः देवताधिकरण न्याय से विश्वसत्यत्व श्रुति का प्रतिप्रसवार्थत्व कहा नहीं जा सकता।)

शंका — विश्वसत्वप्रत्यक्ष का प्रामाण्य होने पर उस प्रत्यक्ष से ही मिथ्यात्वश्रुति, अनुमानादि का बाध होगा, और उस प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य होने पर उस प्रत्यक्ष को लेकर विश्वसत्त्वश्रुति का अनुवादकत्व नहीं होगा।

समाधान — नहीं, क्योंकि विश्वसत्त्वप्रत्यक्ष का अप्रामाण्य होने पर भी उस प्रत्यक्ष से सिद्ध विश्वसत्त्व की बोधक श्रुति का अनुवादकत्व हो सकता है। कारण कि प्रमितपदार्थ का प्रमापकत्व अनुवादकत्व नहीं, किन्तु पश्चात् बोधकत्वमात्र अनुवादकत्व है। और पश्चात्त्व प्रमाणावधिक तथा अप्रमाणावधिक होता है, उसमें कोई विशेष नहीं।

शंका — सर्वमतसिद्धप्रमाणभाव विश्वसत्त्वश्रुति का सदर्थकत्व और अननुवादकत्व के लिये प्रत्यक्ष से अप्राप्त तात्त्विकसत्त्वविषयत्व अवश्य कहना चाहिए, तब तो अप्रमाण प्रत्यक्ष को लेकर विश्वसत्व श्रुति का अनुवादकत्व कैसे हो सकता है?

समाधान — ऐसा न कहो, कारण कि विश्वसत्यत्व श्रुति द्वारा कथित सत्त्वांश प्रत्यक्षसिद्ध होने पर भी "प्रमिणन्ति" क्रियादिपदों के साथ सहोच्चारण से सिद्ध स्तुतिरूप वाक्यार्थ मानान्तर

क्रियादिसमभिव्याहारसिद्धस्यापूर्वत्वेन तद्विषयतयैवाननुवादकत्वोपपत्तावद्वैतश्रुतिविरुद्ध— तात्त्विकसत्त्वविषयत्वकल्पनायास्तदर्थमयोगात्। परमार्थसद्विषयता तु सर्वश्रुतीनां शुद्धब्रह्मतात्पर्यकत्वेनैव, अवान्तरतात्पर्यमादाय व्यावहारिकसद्विषयतेति कर्मकाण्डप्रामा— ण्योपपादने वक्ष्यते। न च प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयार्थं श्रुतिसंवादमपेक्षत इति न तेन श्रुतेरनुवादकत्वम्। अन्यथा "सत्यं ज्ञानम्", "नेह नाना" इत्यादिश्रुतिरप्यनुवादिनी स्यात्। ब्रह्मसत्त्वस्य लोकतो भ्रमाधिष्ठानत्वेन लिङ्गेन च मिथ्यात्वस्य दृश्यत्वाद्य— नुमानेनावेदमूलप्रवाहानादिविज्ञानवादादिना च प्राप्तेरिति वाच्यम्। यदि हि दृष्टेऽप्यर्थे प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयाय श्रुतिसंवादमपेक्षेत तदा श्रुतिसंवादविरहिणि दृष्टे कुत्रापि निश्शङ्कप्रवृत्तिर्न स्यात्। न स्याच्चैवम्,"अग्निर्हिमस्य भेषजम्"इत्याद्यप्यनुवादकम्। न चेष्टापत्तिः, मानान्तरगृहीतप्रमाणभावप्रत्यक्षनिर्णीते मानान्तरस्याननुवादकत्वे जगत्यनुवादक— त्वकथोच्छेदप्रसङ्गात्। न च "सत्यं ज्ञानम्" "नेह नाना" इत्यादेरप्यनुवादकतापत्तिः, अनुवादकता हि न तावत् प्रत्यक्षेण, ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वादिकं ह्यनेन प्रति— पादनीयम्, तच्च न प्रत्यक्षगम्यम्। नाप्यनुमानेन, न हि तर्कः सर्वदेशकालीनपुरुषसाधारण इत्यादिना प्रागेव निराकृतत्वात्। नापि प्रवाहानादिविज्ञानवादिमतेन, तस्यापौरुषेय—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से अज्ञात होने के कारण— स्तुति विषयत्वेन विश्वसत्यत्वश्रुति का अननुवादकत्व सम्भव होने पर अज्ञातसदर्थकत्वसिद्धि के लिये अद्वैतश्रुतिविरुद्ध तात्त्विकसत्त्व विषयत्व की कल्पना अयुक्त है। और सर्व श्रुतियों की परमार्थसद्विषयता तो शुद्धब्रह्म में ही तात्पर्यकत्व होने से है और अवान्तर तात्पर्य को लेकर व्यावहारिक सद्विषयता है— इस बात को कर्मकाण्ड प्रामाण्य के उपपादन के समय आगे अद्वैतश्रुतिबाधोद्धार प्रकरण में कहेंगे।

शंका — प्रत्यक्ष स्वप्रामाण्य के निर्णयार्थ श्रुतिसंवाद (श्रुति से समर्थन) की अपेक्षा करता है, इस कारण उस प्रत्यक्ष से श्रुति का अनुवादकत्व नहीं, यदि प्रत्यक्षसिद्ध की अनुवादिनी श्रुति मानेंगे तो ''सत्यं ज्ञानम्'' ''नेह नाना'' इत्यादि श्रुति भी अनुवादिनी होगी, क्योंकि ब्रह्मसत्व की लोक और भ्रमाधिष्ठानत्वरूप लिङ्ग से प्राप्ति है, तथा जगन्मिथ्यात्व की दृश्यत्वादि अनुमान और अवेदमूलक प्रवाहरूप से अनादिविज्ञानवादादि मत से प्राप्ति है।

समाधान — ऐसा न कहिये, क्योंकि यदि दृष्ट अर्थ में भी प्रत्यक्ष स्वप्रामाण्यनिर्णय के लिए श्रुतिसंवाद की अपेक्षा करता है तो श्रुतिसंवाद से रहित किसी भी दृष्ट पदार्थ में किसी की निःशङ्क प्रवृत्ति नही होगी और वैसे ही ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्'' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी अनुवादक ही नहीं होगा। इसमें इष्टापत्ति नहीं, क्योंकि मानान्तरगृहीत प्रमाणभाव प्रत्यक्ष से निर्णीत पदार्थ में मानान्तर का अननुवादकत्व होने पर जगत् में अनुवादकत्व की कथा का उच्छेदप्रसंग होगा। और 'सत्यं ज्ञानम्'' 'नेह नाना'' इत्यादि श्रुतिवाक्यों की भी अनुवादकता की आपत्ति नहीं, कारण कि अनुवादकता प्रत्यक्ष से नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्य से अर्थात् ब्रह्मत्व विशिष्ट ब्रह्म में सत्त्वादिक ही इस श्रुतिवाक्य से उपपादनीय है। और वह ब्रह्म तो प्रत्यक्षगम्य नहीं; और अनुमान से भी इन श्रुतियों की अनुवादकता नहीं, क्योंकि तर्क सर्वदेशीय सर्वकालीन पुरुषों में साधारण नहीं— इस प्रकार पहले ही 'प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यते बाधकम्'' इस प्रकरण में निराकृत हो चुका है। और प्रवाहरूप से अनादिविज्ञानवादादि मत से इन श्रुतियों की अनुवादकता नहीं, क्योंकि प्रवाहानादिविज्ञानवादादि का अपौरुषेय श्रुतिप्रमाण से पूर्वकत्वाभाव है।

श्रुत्यवधिकपूर्वत्वाभावात्। न च सत्त्वश्रुतेः सत्त्वप्रत्यक्षानपेक्षत्वात्, न सापेक्षानुवादकत्वम्, निरपेक्षानुवादकत्वं तु धारावहनवन्नाप्रामाण्यहेतुः। उक्तं हि नयविवेके– "सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः, न तु दैवादनुवादे धारावहनवदिति" इति वाच्यम्। यतो लाघवाद–नुवादकत्वमेवाप्रामाण्ये प्रयोजकम्, न तु सापेक्षानुवादकत्वम्, अनधिगतार्थबोधकत्वस्य प्रामाण्यघटकस्य तावतैव गतार्थत्वात्। न च तर्हि धारावहनबुद्धावप्रामाण्यम्, तस्याः वर्तमानार्थग्राहकत्वेन तत्तत्क्षणविशिष्टग्राहकतया अनुवादकत्वाभावात्। किन्तु श्रुतेरतत्परत्वे प्राप्तत्वमात्रमेव प्रयोजकम्, अन्यथा वैफल्येन स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेः। अपि चेयं सत्त्वश्रुतिरपि सत्त्वप्रत्यक्षसापेक्षत्वात् सापेक्षानुवादिन्येव। नहि सत्त्वप्रत्यक्षं विना तन्मूलशक्त्यादिग्रहमूलकशब्दप्रवृत्तिसम्भवः। अत एव "यत्र तु प्रमाणान्तरसंवादस्तत्र प्रमाणान्तरादिवार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिध्यति; द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानु–मानयोरिवैकार्थप्रवृत्तेः, प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वम्। प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः, प्रथमं प्रत्यक्षादिभ्यो यथाऽर्थमवगच्छति, न तथा आम्नायतः। तत्र व्युत्पत्त्यपेक्षत्वात्" इतिवाचस्पतिमतमप्येतमर्थं संवादयति। तेन आम्नायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षत्वेन प्रत्यक्षसापेक्षत्वस्यैवोक्तेः। न च वादिविप्रति–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — विश्वसत्व श्रुति का सत्त्व प्रत्यक्ष की अपेक्षा न होने से सापेक्ष अनुवादकत्व नहीं, और निरपेक्ष अनुवादकत्व तो धारावाहिक ज्ञान के समान अप्रामाण्य का हेतु नहीं, भवनाथ मिश्र ने नयविवेक में कहा भी है–''सापेक्ष अनुवाद में ही प्रमाणजन्य प्रमाज्ञान नहीं होता, दैव से अर्थात् निरपेक्ष अनुवाद में तो नहीं, अर्थात् प्रमा होती है, जैसे धारावाहिक ज्ञान'' इति।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि लाघव से अनुवादकत्व ही अप्रामाण्य में प्रयोजक है, सापेक्ष अनुवादकत्व नहीं, कारण कि प्रामाण्यघटक अनधिगतार्थबोधकत्व अनुवादकत्वमात्र से गतार्थ अर्थात् भग्न होता है। (और, एतावता धारावाहिक बुद्धि में अप्रामाण्य भी नहीं होगा, क्योंकि वह बुद्धि वर्तमानार्थ अर्थात् स्वाधिकरणक्षणविशिष्ट वस्तु की ग्राहिका होने से तत्तत्क्षणविशिष्ट ग्राहकत्वरूप से उसका अनुवादकत्व नहीं; और अर्थवादादि अनुवादिका, श्रुति के वाच्यार्थ भिन्नार्थपरत्व में प्राप्तत्व मात्र ही प्रयोजक है, अन्यथा, अर्थात् वाच्यार्थमात्रपरत्व होने पर (ज्ञातज्ञापकत्व होने के कारण) वैफल्य होने से स्वाध्यायविधि द्वारा उनकी ग्रहणानुपपत्ति है। (''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' इस विधि से प्रयोजन तदर्थज्ञान के लिए वेदाध्ययन का विधान किया जाता है, वह अर्थज्ञान अन्य प्रमाणों से सिद्ध हो जाय तो अनुवादकादि श्रुतिवाक्यों के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति अध्ययन विधि से नहीं होगी– यह अभिप्राय है) इसके अतिरिक्त– यह विश्वसत्त्वश्रुति भी सत्त्वप्रत्यक्ष की अपेक्षा रखने से सापेक्ष अनुवादिनी ही है, क्योंकि सत्त्वप्रत्यक्ष हुए बिना सत्त्वप्रत्यक्षमूलक शक्तिग्रहादिमूलक शब्दप्रवृत्ति असंभव है। इसलिये जहां प्रमाणान्तर का संवाद होता है, वहां जिस प्रकार प्रमाणान्तर से जो अर्थ प्रसिद्ध होता है, उसी प्रकार अर्थवाद से भी वही अर्थ प्रसिद्ध होता है,क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के समान परस्परनिरपेक्ष प्रमाणान्तर और अर्थवाद की एकार्थ में प्रवृत्ति होती है। उसमें भी प्रमाता की अपेक्षा से तो अनुवादकत्व है। और '' अव्युत्पन्नप्रमाता प्रत्यक्षादिप्रमाणों से जिस प्रकार प्रथम अर्थ को जान लेता है, उसी प्रकार आम्नाय (वेद) से नहीं जानता क्योंकि आम्नाय में व्युत्पत्ति की अपेक्षा है'' यह वाचस्पति का मत भी इस अर्थ को पुष्ट करता है। कारण कि वाचस्पति मिश्र ने आम्नाय के लिए व्युत्पत्ति सापेक्षत्व रूप से प्रत्यक्ष सापेक्षत्व को ही कहा है।

पत्तिनिरासप्रयोजनकत्वेन न निष्प्रयोजनानुवादकत्वम्, सप्रयोजनानुवादकत्वं तु न स्वार्थपरत्वविरोधि; विद्वद्वाक्ये समुदायद्वित्वापादनरूपप्रयोजनवत्त्वेनानुवाद्यस्वार्थपरताया दृष्टत्वात्, अत एव तत्र वाक्यैकवाक्यता उक्ता, अन्यथा अर्थवादवत् पदैकवाक्यतैव स्यादिति वाच्यम्। प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासरूपप्रयोजनवत्त्वेन प्रमाणान्तरस्य सप्रयोजनतया स्वार्थपरत्वोक्तौ "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्याद्यपि तेनैव प्रयोजनेन सप्रयोजनं स्वार्थपरञ्च स्यात्। तथा च न प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थमन्यापेक्षा, दृष्टान्ते तु समुदायानुवादेन द्वित्वसम्पादनस्योद्देश्यस्यान्यतो लब्धुमशक्यतया तेन प्रयोजनेन स्वार्थपरत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्। एतदभिप्रायञ्च पूर्वोक्तं नयविवेकवाक्यम्। न चानुवादत्वेऽपि नैष्फल्यमात्रम्, न त्वप्रामाण्यम्। याथार्थ्यमेव प्रामाण्यम्। न त्वनधिगतार्थत्वे सति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — वादिविप्रतिपत्ति का निरासरूप प्रयोजनवत्त्व होने से विश्वसत्त्वश्रुतिका निष्प्रयोजन अनुवादकत्व नहीं, और सप्रयोजन अनुवादकत्व तो स्वार्थपरत्व का विरोधी नहीं, क्योंकि " य एवं विद्वान्" इत्यादि विद्वद्वाक्य में दर्शपूर्णिमारूप समुदायद्वय का द्वित्वप्रतिपादनरूप प्रयोजनवत्व होने से अनुवाद्य दर्शपूर्णिमारूप स्वार्थपरत्व देखने में आता है। (अभिप्राय यह है कि "यदाग्नेयोऽष्टकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाऽच्युतो भवति। तावन्नतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्। (तै.सं. २/६/३/३); ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्। (तै.सं. २/५/२/३), ऐन्दं दध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम् (तै.सं. २/५/४/१)" यहां पर आग्नेयाष्टकपाल, आज्यभाग उपांशु, अग्नीषोमीयैकादशकपाल— ये तीन पौर्णमास याग हैं तथा आग्नेयाष्टकपाल ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पय: ये तीन दर्शयाग हैं। इस प्रकार छ: यागों का विधान् करके कहते हैं —" य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानमावास्यां यजते (तै.सं. २/६/९/१) अर्थात् उक्थ्य के समान जानकर जा पौर्णमासी याग करता है वह उक्थ्यसमानफलभाक् होता है और जो अतिरात्र के समान जानकर अमावस्यायाग करता है। वह अतिरात्रसमानफलभाक् होता है। ये दोनों वाक्य विद्वद्वाक्य हैं। इस विद्वद्वाक्य से उपरिकथित छ: यागों का अनुवाद करके "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस फलवाक्य में श्रुत द्विवचन को लेकर तीन—तीन यागरूप दो समुदायों का विभाजक होने से विद्वद् वाक्य अनुवादक होने पर भी प्रयोजनवान् है और स्वार्थपरक है। इसका विचार मीमांसादर्शन अ.२/पा.२/अधि.३/सू/३—८ तक में किया गया है।) इस प्रकार स्वार्थपरत्व होने से विद्वद्वाक्य में "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस फलवाक्य के साथ वाक्यैकवाक्यता कही है, अन्यथा, अर्थात् अज्ञात समुदायद्वय बोधकत्व रूप से स्वार्थपरत्व न होने पर तो अर्थवाद की जैसे उसकी पदैकवाक्यता ही होती।

समाधान — ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु में वादिविप्रतिपत्तिनिरास रूप प्रयोजनवत्व से प्रमाणान्तर की सप्रयोजनता मानकर स्वार्थपरत्व की उक्ति होने पर तो " अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादि भी वादिविप्रतिपत्तिनिरासरूप प्रयोजन से सप्रयोजन और स्वार्थपरक होगा। इसलिए प्रत्यक्षसिद्धवस्तु में वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थ प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं, दृष्टान्त में तो समुदाय का अनुवाद करके द्वित्वसम्पादनरूप उद्देश्य की अन्य प्रमाण से प्राप्ति अशक्य होने से द्वित्वसम्पादन रूप प्रयोजन से स्वार्थपरत्व कहा जा सकता है और पूर्वोक्त नयविवेक वाक्य भी सप्रयोजन अनुवाद के अभिप्राय से है।

शंका — विश्वसत्यत्वश्रुति के अनुवादत्व में भी निष्प्रयोजनत्व मात्र है, अप्रामाण्य तो नहीं है,

याथार्थ्यमिति वाच्यम्। तात्पर्यविषये शँब्दः प्रमाणम्। "यत्परः शब्दः सँ शब्दार्थः" इत्यभियुक्ताभ्युपगमात्। अन्यथा स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेरुक्तत्वाच्च। नह्यन्यतः सिद्धेऽर्थे शास्त्रतात्पर्यम्। अतो न तत्र प्रामाण्यम्। यदाहुर्भट्टाचार्याः– "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्"इति।

नन्वयमनुवादो न "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादिवत् स्तुत्यर्थः "न वा दध्ना जुहोति" इत्यादिवदन्यविधानार्थः। अनुवाद्यत्वेऽप्यन्यविधानाय प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्व–नियमात्। न हि "ब्रीहीन् प्रोक्षति"इत्यादावारोपितब्रीह्यादेर्धीरनुवाद्यस्यासत्त्वे ह्याश्रयासिद्धौ धर्मधर्मिसंसर्गरूपानुमितिवेद्य इवानुवाद्यविधेयसंसर्गरूपवाक्यार्थो बाधितः स्यादिति चेन्न, अस्यानुवादस्याप्राप्तान्यप्राप्त्यर्थत्वात्। न च प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमः। स्वप्ना–ध्याये, शुक्तौ, नेदं रजतमिति वाक्ये च व्यभिचारात्। अथ तत्र ज्ञानविषयतया निषे–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

क्योंकि अबाधितार्थकत्व ही प्रामाण्य है, अनधिगतार्थत्व होने पर अबाधितार्थकत्व तो प्रामाण्य नहीं।

समाधान – ऐसा भी न कहो, कारण कि तात्पर्य के विषय में ही शब्द प्रमाण है, " जिस अर्थ में तात्पर्यक शब्द है, वही उस शब्द का अर्थ है" ऐसा अभियुक्त शबरमुनि का अभ्युपगम है; यदि ऐसा नहीं माना जाय तो स्वाध्यायाध्ययनविधि से विश्वसत्यत्व श्रुत्यादि के ग्रहण की अनुपपत्ति प्रथम कह चुके हैं। प्रमाणान्तर से सिद्ध वस्तु में शास्त्र का तात्पर्य नहीं होता। अतः उस वस्तु में शास्त्र का प्रामाण्य नहीं। भट्टाचार्य कुमारिल ने कहा है– "प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ में शास्त्र सार्थक है।" इति।

शंका – ("विश्वं सत्यम्" इत्यादि श्रुति में किस प्रकार का अनुवादकत्व है? क्या वह स्तुत्यर्थ है, अथवा अप्राप्तविधानार्थ है? दोनों ही संभव नहीं– इस अभिप्राय से शंका करते हैं)– "विश्वं सत्यम्" इत्यादि यह अनुवाद "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि के समान स्तुत्यर्थ नहीं, अथवा "दध्ना जुहोति" इत्यादि के समान अन्य विधानार्थ भी नहीं ("अग्निहोत्रं जुहोति" इसविधि से अग्निहोत्र होम का विधान करने पर– किस द्रव्य से होम होना चाहिए–ऐसी आकांक्षा में "जुहोति" का अनुवाद करके "दध्ना जुहोति" इस प्रकार होमार्थ दधि का विधान है।) क्योंकि "जुहोति" का अनुवाद्यत्व होने पर भी दधिरूप अन्य विधान के लिए प्रमाण द्वारा अनुवादित का तात्त्विकत्व नियम है; कारण कि " ब्रीहीन् प्रोक्षति" इत्यादि में "ब्रीहीनवहन्ति" इस विधि से ब्रीहि का अनुवाद करके प्रोक्षण का विधान किया गया है, उसमें आरोपित ब्रीह्यादि की बुद्धि नहीं होती (उसी प्रकार प्रत्यक्षसिद्ध सत्त्व का अनुवाद "विश्वं सत्यम्" श्रुति से करने पर भी प्रत्यक्षसिद्ध सत्त्व में आरोपितत्व की बुद्धि नहीं होती); अनुवाद्य ब्रीह्यादि का असत्त्व होने पर आश्रयासिद्धि होने से जिस प्रकार धर्म–धर्मी अर्थात् पक्ष–साध्य का सम्बन्धरूप अनुमितिवेद्य बाधित होता है, उसी प्रकार अनुवाद्य ब्रीह्यादि और विधेय प्रोक्षणादि का संसर्गरूप वाक्यार्थ बाधित होगा।

समाधान – नहीं, क्योंकि "विश्वं सत्यम्" इस अनुवाद को (इस मन्त्रान्तर्गत) " देवा अपि न प्रमिणन्ति" इस अप्राप्त निषेध का प्राप्त्यर्थकत्व है। और प्रमाण से अनुवादित का तात्त्विकत्व नियम नहीं, कारण कि स्वप्नाध्याय (अज्ञात स्वप्नफलज्ञापकग्रन्थ) और शुक्ति में 'नेदं रजतम्" इस वाक्य में व्यभिचार है। (प्रमाणरूपस्वप्नाध्याय से अनूदित स्वप्न और शुक्तिप्रतिपादकप्रमाणभूत वाक्य से अनुवादित शुक्तिरूप्य में तात्त्विकत्व न होने पर व्यभिचार है)। यदि कहो कि उन दोनों में क्रम से भ्रमविषयत्व और मिथ्यात्वेन निषेध्यत्व रूप से अनुवाद होने

ध्यतया चानुवाद इति न तात्त्विकत्वम्। तर्हि प्रकृतेऽपि ''नेह नाना'' इति निषेधार्थत्वाद-स्यानुवादस्य न तात्त्विकत्वमिति गृहाण। अत एव न वाक्यार्थस्यासत्त्वप्रसङ्गः, तात्पर्यविषयस्य सत्त्वात्। अथ ''किञ्चन'' इत्यनेनैवानुवादस्य कृतत्वात् किमधिकेनेति चेन्न, सामान्यतो निषेधस्य हि ''किञ्चन'' इत्यनेन निषेध्यसमर्पणेऽपि विशिष्य निषेधे विशिष्य निषेध्यसमर्पणस्योपयोगात्। अथ निषेधवाक्यस्य न निषेध्यसमर्पकवाक्यान्त-रापेक्षा। अन्यथा ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' इत्यादावपि निषेध्यसमर्पणार्थं ''कलञ्जं भक्षयेत्'' इत्यादिवाक्यान्तरसापेक्षत्वप्रसङ्ग इति चेन्न, सर्वत्रापेक्षानियमाभावात्। सति सम्भवे प्रकृते त्यागायोगात्। ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'', ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' इत्यादौ वाक्यान्तरप्राप्तस्य निषेधदर्शनाच्च। न च तद्वदेव विकल्पापत्तिः। सिद्धे वस्तुनि विकल्पायोगात्। षोडशिग्रहणाग्रहणवाक्ययोरुभयोरपि मानान्तराप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलत्ववदिह सत्त्वश्रुतेर्मानान्तरप्राप्तविषयत्वेन निषेधश्रुतेश्चाप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबल-त्वाभावाच्च। अत एव निषेधवाक्यप्राबल्यात् तदनुरोधेनेतरन्नीयते। अथाप्राप्तान्यप्राप्त्य-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के कारण तात्त्विकत्व नहीं है, तो प्रकृत में भी ''नेह नाना'' यह निषेधार्थक होने से इस वाक्य के साथ वाक्यैकवाक्यतापन्न ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' इस अनुवाद का तात्त्विकत्व (अनुवाद के विषय प्रपञ्च का निषेध्यत्वेन तात्त्विकत्व) नहीं– ऐसा जानिये। इस प्रकार निषेधार्थकत्व होने से वाक्यार्थ का असत्त्व प्रसङ्ग नहीं, क्योंकि स्तुत्यादि तात्पर्यविषय उसमें वर्तमान है।

शंका –''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस वाक्य में ''किञ्चन'' इस पद से ही अनुवाद्य का अनुवादकृत होने से ''विश्वं सत्यम्'' ''इदं सर्वम्'' इत्यादि; अधिक कहने से क्या लाभ?

समाधान– नहीं, क्योंकि दृश्यसामान्यमात्र के अधिकरण ब्रह्म में निषेध का ''किञ्चन'' इस पद से निषेध्यसमर्पण होने पर भी विशेष रूप से निषेध करने में विशेषरूप से निषेध्यसमर्पण उपयुक्त है। (विशेष रूप से घटाद्यधिकरण में घटादिविशेष के निषेध करने में प्रतियोगिप्रसक्ति की आवश्यकता होती है, अतः उस स्थल में प्रतियोगिप्रसक्ति के लिये ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्य हैं और उसका निषेध ''न प्रमिणन्ति'' इत्यादि है)।

शंका – निषेध वाक्य को निषेध्यसमर्पक वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं, यदि अपेक्षा है तो ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' इत्यादि निषेध वाक्य में भी निषेध्य समर्पणार्थ ''कलञ्जं भक्षयेत्'' इत्यादि वाक्यान्तर का अपेक्षत्व प्रसङ्ग होगा।)

समाधान – नहीं, क्योंकि सर्वत्र निषेध्यसमर्पणापेक्षानियम नहीं होता (क्योंकि कलञ्जभक्षण निषेध में कलञ्जभक्षण रागतः प्राप्त है), निषेध्य समर्पणापेक्षा सम्भव होने पर प्रकृत में उसका त्याग अयुक्त है। और ''अत्रिरात्रयाग में षोडशी नामक ग्रह (पात्र) की स्थापना करें'' ''अतिरात्र में षोडशी की स्थापना न करें'' इत्यादि में वाक्यान्तर से प्राप्त का निषेध देखने में आता है। और यहां षोडशिग्रहण के समान विकल्पापत्ति नहीं, कारण कि सिद्ध वस्तु में विकल्प का अयोग है। और षोडशिग्रहणाग्रहण दोनों वाक्यों में जिस प्रकार मानान्तर से अप्राप्तविषयत्व होने से तुल्यबलवत्त्व है, उसी प्रकार यहां प्रकृत में विश्वसत्यत्वश्रुति का प्रत्यक्षरूपमानान्तरप्राप्त सत्त्वविषयत्व होने से और निषेधश्रुति का अप्राप्त विषयत्व होने से तुल्यबलवत्त्व का अभाव है। (दोनों में तुल्यबलवत्त्व होने पर ही विकल्प होता है)। इस प्रकार तुल्यबलत्व के अभाव से निषेध वाक्य का प्राबल्य होने से ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्य व्यावहारिक सत्त्व परत्वेन लिया जाता है।

र्थत्वेऽप्यलौकिकस्य ''आपश्च न प्रमिणन्ति'' इत्यादिपदार्थसंसर्गस्य विषेयस्य सत्त्वान्न निषेध्यार्थानुवादकत्वमिति चेन्न, तदन्यपरत्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्। ननु ''यत्तन्न'' इति निषेधानुवादलिङ्गाभावान्नानुवादः, न; यत्किञ्चिल्लिङ्गाभावेन लैङ्गिकाभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्। ननु–तर्हि ''तत्सत्यम्'' इत्याद्यपि ''न सत्तन्नासदुच्यते'' इति ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इति च निषेधाय, ''सन् घटः'', ''सद्घटज्ञानम्'', ''सत्सुखस्फुरणम्'' इत्यादिसिद्ध ब्रह्मसत्तानुवादि स्यादिति चेन्न, ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वस्य प्रत्यक्षादिभ्योऽप्राप्तेः, शून्यवादप्रसङ्गेन तस्य निषेधायोगाच्च। ''इदं सर्वम्'' ''यदयमात्मा'' इत्यत्रानुवादलिङ्गसम्भवेन(सद्भावेन) कल्पनाच्च। एवमानन्दश्रुतेरपि ''अदुःखमसुखं समम्'' इति निषेधाय न प्रत्यक्षप्राप्तानन्दानुवादित्वम्, दुःखसाहचर्येण सुखस्यापि वैषयिकस्यैव ग्रहणेन तन्निषेधाय ब्रह्मरूपसुखानुवादायोगात्। एतच्च सर्वमुक्तं विवरणे ''निष्प्रपञ्चा–स्थूलादिवाक्यानुसारेण 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादीनि निषेध्यसमर्पकत्वेनैकवाक्यतां प्रतिपद्यन्ते, सुषुप्तौ निष्प्रपञ्चतायाः(या) पुरुषार्थत्वदर्शनात्'' इति। अथ निष्प्रपञ्चता न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – विश्वसत्यत्वश्रुति का अप्राप्त अन्य –प्राप्त्यर्थत्व होने पर भी प्रत्यक्षादि के अविषय ''व्यापनशील देवता भी यथार्थत्व रूप से जानते हैं'' (यहां पर पूर्वपक्षी ''आपश्चन'' ऐसा एक पदत्वेन व्याख्यान करते हैं) इत्यादि पदार्थसंसर्गरूप विधेय होने से निषेध्यार्थानुवादकत्व नहीं।

समाधान – नहीं, क्योंकि ''आपश्च न प्रमिणन्ति'' अर्थात् 'देवता तुम्हारे कर्मों की हिंसा नहीं करते'' ऐसा स्तुतिपरकत्वेन अर्थ पूर्व ही कह चुके हैं।

शंका – ''यत्–तन्न'' इस प्रकार निषेधानुवाद के लिङ्ग ''यत्'' शब्द के अभाव से यह अनुवाद नहीं हो सकता।

समाधान– नहीं, थोड़े बहुत लिङ्ग के अभाव से लैङ्गिक अनुवाद का अभाव कह नहीं सकते।

शंका– तब तो ''न सत्तन्नाऽसदुच्यते'' इस प्रकार सत्प्रतियोगिकनिषेधार्थ ''तत्सत्यम्'' इत्यादि वाक्य तथा ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' ऐसा सत्प्रतियोगिकनिषेधार्थ ''सन् घटः'' '' सद्घटज्ञानम्'' '' सत्सुखस्फुरणम्'' इत्यादि वाक्य सिद्धब्रह्मसत्त्व के अनुवादी होंगे।

समाधान – नहीं, क्योंकि ब्रह्मत्व के साथ सामानाधिकरण्येन स्थित सत्त्व की प्रत्यक्षादि से अप्राप्ति है और शून्यवाद के प्रसङ्ग होने से ब्रह्मसत्त्व का निषेध अयुक्त है और 'इदं सर्वं यदयमात्मा'' इसमें अनुवादलिङ्ग सम्भव होने से यच्छब्दादिलिङ्गरहित विश्वसत्त्वानुवाद में यच्छब्दादिरूपानुवाद लिङ्ग की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार '' आनन्दं ब्रह्म'' इत्यादि आनन्दश्रुति का भी ''अदुःखमसुखं समम्'' इस रीति से सुखनिषेध के लिए प्रत्यक्षप्राप्त आनन्द का अनुवादकत्व नहीं, क्योंकि दुःखसहकृत होने से वैषयिकसुख ही का ग्रहण होने से, वैषयिक सुख के निषेध के लिए ब्रह्मरूप सुख का अनुवाद करना अयुक्त है। यह सब कुछ विवरण में कहा है–''निष्प्रपञ्च, अस्थूलादि श्रुतिवाक्य के बलवत्तानुरोध से 'इदं सर्वं यदयमात्मा'' इत्यादिवाक्य निषेध्यसमर्पकत्वरूप से निष्प्रपञ्चादि वाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं, क्योंकि सुषुप्ति की निष्प्रपञ्चता में पुरुषार्थ देखने में आता है।

शंका – सुषुप्तिकालीन निष्प्रपञ्चता पुरुषार्थ नहीं, कारण कि मूर्च्छा में पुरुषार्थत्व देखने

पुरुषार्थः, मूर्च्छायां तत्त्वादर्शनात्। न च तदा तदज्ञानमात्रं न तु तदभाव इति वाच्यम्; समं सुषुप्तावपीति चेन्न, मूर्च्छायां स्वरूपसुखस्फुरणाभावात्, तथा च सूत्रम्— 'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्' इति। सुषुप्तिमुक्तिकालीननिष्प्रपञ्चतायां स्वरूपसुखानुभवेन तस्याः पुरुषार्थत्वात्। तथा च श्रुतिः ''द्वितीयाद्वै भयं भवति'' इति। अथ ''तस्मादेकाकी न रमते'' इति श्रुतेः सप्रपञ्चतापि पुरुषार्थः। न, तस्याः दुःखसाधनत्वेन पुरुषार्थत्वायोगात्। कर्मकाण्डवदस्याः श्रुतेः अविवेकिपुरुषपरत्वाच्च। ननु 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' इति भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वश्रवणात् कथं न सप्रपञ्चता पुरुषार्थ इति चेन्न, मतेः पूर्वं ममापि प्रेरकपृथक्त्वदृष्टेः सगुणब्रह्मज्ञानवत् प्रेरकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्यापि परम्परयोपकारकत्वात्। 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्'— इत्यादिवाक्यस्वारस्यादभेदज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षहेतुत्वात्। अत एव प्रेरकत्वज्ञानस्य जोषहेतुत्वमुक्तम्। तथोत्तरत्रापि 'वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनि वि मुक्ताः' 'तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

में नहीं आता और मूर्च्छावस्था में प्रपञ्च का अज्ञानमात्र है, किन्तु उसका (प्रपञ्च का) अभाव नहीं, ऐसा भी न कहिये, क्योंकि यह बात तो सुषुप्ति में भी समान है।

समाधान— नहीं, क्योंकि मूर्च्छा में स्वरूपसुख का स्फुरण नहीं होता; इस विषय में यह सूत्र है—''मूर्च्छावस्था में सुषुप्ति की अर्धसम्पत्ति आवृत्त साधी में होती है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों का उपरम होने पर भी कर्मेन्द्रियों का परिशेष रह जाता है और सुषुप्ति और मुक्तिकालीन निष्प्रपञ्चता में तो स्वरूपसुखानुभव होने से तत्कालीन निष्प्रपञ्चता का पुरुषार्थत्व सिद्ध है। (आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः—इस श्रुति से यह सिद्ध है)। और '' द्वितीयाद् वै भयं भवति'' यह श्रुति जाग्रदादिसुख से उसकी विशेषता कहती है।

शंका — ''इसलिये एकाकी रमण नहीं करता'' इस श्रुति से सप्रपञ्चता अर्थात् जाग्रदादि सुख भी पुरुषार्थ है।

समाधान— नहीं, क्योंकि सप्रपञ्चता दुःख का साधन होने से पुरुषार्थ नहीं हो सकती और जैसे कर्मकाण्ड— अविवेकियों के लिये है, वैसे यह श्रुति भी अविवेकिपुरुषपरक है।

शंका — आत्मा को पृथक्त्वेन और प्रेरकत्वेन जानकर उसका सेवन करता हुआ व्यक्ति उस ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।'' इस प्रकार भेदज्ञान ही मोक्ष हेतुरूप से श्रुत होने से सप्रपञ्चता (सप्रपञ्चजाग्रदादिसुख) पुरूषार्थ क्यों नहीं होगी?

समाधान — नहीं, कारण कि मति के (जानने के) पूर्व, मेरे मत में भी, प्रेरकत्व और पृथक्त्व की दृष्टि का अङ्गीकार है। (इस मन्त्र में प्रेरकत्वेन और पृथक्त्वेन जानकर मोक्ष होता है—ऐसा नहीं कहा है। किन्तु तत्त्वमति से पूर्व प्रेरकत्त्वेन और पृथक्त्वेन उपलभ्यमान अखण्डात्मा को जानकर मोक्ष होता है, ऐसा कहा है); सगुण ब्रह्मज्ञान के समान प्रेरकत्वेन ब्रह्मज्ञान भी परम्परा से मोक्ष का उपकारक है और ''एक ही रूप से अनुद्रष्टव्य है'' इत्यादि श्रुतिवाक्य के स्वारस्य से अभेदज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् हेतु है। प्रेरकत्वादिज्ञान साक्षात् मोक्ष के अहेतु होने से इस मन्त्र में प्रेरकत्वादि ज्ञान जोशहेतु (प्रीतिसेवनका हेतु) कहा है—(यहां क्रममुक्ति का अभिप्राय है—परमात्मा को पृथक्त्वेन और प्रेरकत्वेन समझकर उसकी उपासना करके ब्रह्मलोक में उसकी फलभूतप्रीति के सेवनानन्तर वहां ही तत्त्व साक्षात्कार करके उपासक मुक्त होता है। यह पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ है)। इस प्रकार शुद्ध ज्ञान को मोक्ष का हेतु कहने के कारण आगे भी ''वेदविद् लोग उस शुद्ध

कृतार्थो भवते वीतशोकः' इत्यभेद एव श्रूयते। अतो न भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वम्। एतेन 'नेह नाना' इति श्रुतिरेव 'विश्वं सत्यम्' इत्यबाध्यत्वरूपबाधनिषेधाय विज्ञानवादादिप्राप्तविश्वनिषेधानुवादिनी किन्न स्यादिति निरस्तम्। भावाभावयोः परस्परविरहरूपत्वे समेऽपि भावग्रहो निरपेक्षत्वान्नाभावग्रहमपेक्षते। अभावग्रहस्तु सप्रतियोगितया भावग्रहमपेक्षते। अतो 'नेति नेति' श्रुतेरेव सत्त्वश्रुत्यपेक्षा, न तु सत्त्वश्रुतेर्नेति श्रुत्यपेक्षा। अन्यथा अन्योन्याऽश्रयापत्तेः।

ननु—उत्सर्गापवादन्यायोऽस्तु यथा हि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति श्रुतिरविशेषप्रवृत्तावपि हिंसात्वसामान्यस्य प्रत्यक्षादिप्राप्तत्वातन्निषेध्योपस्थितौ नाग्नीषोमीयवाक्यमपि निषेध्यसमर्पणायापेक्षते, तथा 'नेति' नेत्यादिश्रुतिरविशेषप्रवृत्तापि प्रत्यक्षप्राप्तघटादिसत्त्वरूपनिषेध्यमादाय निराकाङ्क्षा सती न प्रत्यक्षाप्राप्तधर्माधर्मादिसत्यत्वबोधिकां ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादिश्रुतिमपि निषेध्यसमर्पणायापेक्षितुमर्हति, यत्र तु मानान्तरेण निषेध्यस्याप्राप्तिस्तत्र (निषेधश्रुतिः) निषेध्यसमर्पणाय श्रुत्यन्तरमपेक्षत एव, यथा षोडशिग्रहणाग्रहणयोः, मानान्तरेण निषेध्योपस्थितावपि वाक्यापेक्षणे अग्नीषोमीयहिंसाया अपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

आत्मतत्त्व को वेदान्तवाक्यतात्पर्यद्वारा साक्षात्कार करके शुद्ध ब्रह्म में एकीभूत और तत्पर होकर योनिविमुक्त अर्थात् जन्महीन होते हैं, उस आत्मतत्त्व को सम्यग्रूप से समझकर देही द्वितीयरहित और कृतार्थ होता हुआ वीतशोक होता है।'' इस प्रकार से अभेद ही श्रुत है। इसलिये भेदज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं। इससे, अर्थात् निष्प्रपञ्चसुख सप्रपञ्चसुख से उत्कृष्ट होने से तथा विश्वसत्त्वबोधकश्रुति की निष्प्रपञ्चबोधकश्रुति की अङ्गता का प्रतिपादन होने से—'नेह नाना'' यह श्रुति ही ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति द्वारा जगन्निष्ठत्वेन कल्पित अबाध्यत्वरूप अर्थात् मिथ्यात्वरूपबाध का निषेध करने के लिये विज्ञानवादादि से प्राप्त विश्वनिषेध की अनुवादिनी क्यों न हो— यह कथन निरस्त हुआ; (इसके अतिरिक्त ''विश्वं सत्यम्'' इस प्रकार सत्त्वप्रतिपादन करने के लिये'' नेह नाना'' इत्यादि से निषेधप्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि—(भाव और अभाव में परस्परविरहरूपत्व सम होने पर भी भावग्रहनिरपेक्षत्व होने से अभावग्रह की अपेक्षा नहीं करता, और अभावग्रह तो सप्रतियोगित्व होने से भावग्रह की अपेक्षा करता है। अतः 'नेति नेति'' इस श्रुति की ही सत्त्वश्रुत्यपेक्षा है, सत्त्वश्रुति की तो 'नेति नेति'' इस निषेध श्रुत्यपेक्षा नहीं, यदि सत्त्वश्रुति के लिये निषेधश्रुत्यपेक्षा मानी जाय तो अन्योन्याश्रय की आपत्ति होगी।

शंका— उत्सर्गापवादन्याय यहां हो, जैसे —'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' यह श्रुति अविशेष रूप से प्रवृत्त होती हुई भी हिंसात्वसामान्यप्रत्यक्षादि से प्राप्त होने के कारण हिंसारूपनिषेध्य की उपस्थिति होने पर निषेध्यसमर्पण के लिये '' अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्'' इस अग्नीषोमीयवाक्य की भी अपेक्षा नहीं करती; वैसे ही 'नेति नेति'' इत्यादि श्रुति अविशेषरूप से (सामान्यरूप से) प्रवृत्त होती हुई भी प्रत्यक्षप्राप्त घटादिसत्त्वरूप निषेध्य को लेकर निराकांक्षा होती हुई प्रत्यक्ष से अप्राप्त धर्माधर्मादिसत्यत्व की बोधिका '' विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुति की निषेध्यसमर्पण के लिए अपेक्षा न करें; और जहां पर मानान्तर से निषेध्य की अप्राप्ति होती है, वहां पर तो निषेध्यसमर्पण के लिये श्रुत्यन्तर की अपेक्षा होती ही है; जैसे षोडशी के ग्रहण और अग्रहण में ग्रहण की अपेक्षा अग्रहण को होती है। यदि मानान्तर से निषेध्य की उपस्थिति हो जाने पर भी निषेध्यसमर्पक वाक्य की अपेक्षा होने पर तो अग्नीषोमीय हिंसा का भी निषिद्धत्व होने से अधर्मत्व होगा।

निषेध्यत्वेनाधर्मत्वं स्यादिति चेत्, मैवम्, अग्नीषोमीयवाक्यस्य निषेधविषयन्यूनविषय- त्वेनानन्यशेषतया स्वार्थतात्पर्यवत्त्वेन च न निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषता, ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादेस्तु निषेधविषयसमविषयत्वेन स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेन च निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषतोचितैव। अत एव प्रत्यक्षाप्राप्तधर्मादिसत्त्वोपस्थापनेन वाक्यसाफल्यमपि, स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेन च नाग्नीषोमीयवाक्यतुल्यत्वमित्युक्तम्। अतो दृश्यत्वादिहेतोर्धर्माद्यंशेऽपि श्रुत्या न बाधः। अथवा–व्यावहारिकसत्त्वपरेयं विश्व- सत्यत्वश्रुतिः। न च व्यावहारिकसत्त्वे सर्वाविप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यम्, दशाविशेषे स्वर्गनरकादिसत्त्वप्रतिपादनेन तत्प्राप्तिपरिहारार्थं प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव तत्प्रयोजनत्वात्। व्याव- हारिकत्वं च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं न त्वबाध्यत्वम्, मिथ्यात्वबोधकश्रुतिविरोधात्। न चैवं दृढभ्रान्तिजनकत्वादत्यन्ताप्रामाण्यापत्तिः, स्वप्नार्थप्रतिपादनवदुपपत्तेः। एतावानेव विशेषः–तत्प्रातिभासिकम्, इदन्तु व्यावहारिकमिति।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान – वैसा नहीं,क्योंकि अग्नीषोमीयवाक्य '' न हिंस्यात्'' इत्यादि निषेधवाक्यविषय सर्वभूत की अपेक्षा से न्यूनविषयत्व (एकपशुविषयत्व) होने के कारण अनन्यशेषत्व (अन्य के अङ्गत्व का अभाव) और स्वार्थतात्पर्यवत्त्व होने से हिंसारूपनिषेध्य के समर्पण द्वारा ''न हिंस्यात्'' इत्यादि निषेध वाक्य का अङ्ग नहीं, और '' विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्य तो ''नेति नेति'' इस निषेध के विषय सर्वप्रपञ्च के साथ समविषयत्व (सर्वप्रपञ्चविषयत्व) और स्वार्थतात्पर्यरहितत्व होने से विश्वसत्यत्व रूप निषेध्य के समर्पण द्वारा ''नेति'' इत्यादि निषेध वाक्य का अङ्ग ही उचित है। इस प्रकार निषेधवाक्यशेषत्व होने से प्रत्यक्ष से अप्राप्त धर्मादि सत्त्व के उपस्थापन से ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्य का साफल्य भी है और स्वार्थ में तात्पर्यरहितत्व होने से अग्नीषोमीय वाक्य के साथ उसका तुल्यत्व नहीं। ऐसा कह चुके हैं। इसलिये, अर्थात् विश्वसत्यत्वश्रुति का मिथ्यात्वश्रुति के अबाधकत्व स्थित होने पर दृश्यत्वादि हेतु का धर्माद्यंश में भी विश्वसत्यत्वश्रुति से बाध नहीं। अथवा– यह विश्वसत्यत्व श्रुति व्यावहारिक सत्त्व की प्रतिपादिका है।

शंका – व्यावहारिकसत्त्व में सब वादियों की अविप्रतिपत्ति होने से व्यावहारिकसत्व का प्रतिपादन करना व्यर्थ है।

समाधान – नहीं, क्योंकि किसी कारणवश स्वर्गादिसत्त्वविषयक सन्देह की दशा में स्वर्गनरकादिसत्त्व के प्रतिपादन से स्वर्गप्राप्ति और नरक परिहारार्थ धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति ही व्यावहारिकविश्वसत्यत्व श्रुति का प्रयोजन है और व्यावहारिकत्व तो ब्रह्मज्ञानभिन्न से अबाध्यत्व; अबाध्यत्व मात्र नहीं है, कारण कि ऐसा होने पर मिथ्यात्वबोधक श्रुति से विरोध है।

शंका – विश्वसत्यत्वश्रुति का व्यावहारिक जगत् में दृढ़भ्रान्तिजनकत्व होने से अत्यन्त अप्रामाण्य होगा।

समाधान – नहीं, स्वप्नार्थप्रतिपादनवत् उसका प्रामाण्य हो सकता है। ('' यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने'' इस श्रुति में स्वप्नार्थ के जैसे प्रतिपादन होता है, वैसे विश्वसत्यत्व श्रुति में व्यावहारिक पदार्थ का प्रतिपादन है और श्रुति का उसमें प्रामाण्य है), उन दोनों में इतना विशेष है–स्वप्नार्थ प्रातिभासिक है और यह तो व्यावहारिक है।

शंका – ''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादि मिथ्यात्वश्रुति का लक्षणा से अखण्डचिन्मात्र परत्व

ननु मिथ्यात्वश्रुतेर्लक्षणया अखण्डचिन्मात्रपरत्वेन सत्त्वबोधनाविरोधित्वमेव। न, अखण्डार्थबोधस्य द्वितीयाभावबुद्धिद्वारकत्वेन जगत्सत्यत्वविरोधित्वात्। न च प्रपञ्चसत्यत्वश्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः, अतत्त्वावेदकत्वस्यावान्तरतात्पर्यमादायेष्टत्वात्, परमतात्पर्येण तु तत्त्वावेदकत्वं सर्वश्रुतीनामपि समम्। प्रातिभासिकव्यावृत्तस्य व्यावहारिकस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वादिरूपस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, आसां व्यावहारिकं प्रामाण्यमव्याहतमेव। ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इत्यादिश्रुत्यनुरोधेनापि ''तत्सत्यम्'' इत्यादिश्रुतिर्न ब्रह्मणि व्यावहारिकसत्वपरा, ब्रह्मणो व्यवहारातीतत्वात्, तस्यापरमार्थत्वे च निरधिष्ठानतया शून्यवादापत्तेः, किञ्चित्तत्त्वमगृहीत्वा च बाधानुपपत्तेः। अत एव सत्यत्वश्रुतिविरोधेन मिथ्यात्वश्रुतिरेवान्यपरेत्यपि न, षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतत्वेन मिथ्यात्वश्रुतेरनन्यपरतया प्रबलत्वात्। वैदिकतात्पर्यविषयस्य च तात्त्विकत्वनियमेन तात्पर्यज्ञापकानामपिलिङ्गनामर्थतथात्वे एव पर्यवसानात्। सत्त्वश्रुतिवाक्यस्थपदानाञ्चान्यपरत्वान्न सत्त्वे तात्पर्यलिङ्गाशङ्का।

ननु यदि सत्त्वश्रुतिः प्रत्यक्षप्राप्तार्थत्वान्न स्वार्थपरा, तर्हि मिथ्यात्वश्रुतिरपि तद्विरुद्धार्थत्वात् स्वार्थपरा न स्यात्तत्प्राप्तितद्विरोधयोस्तात्पर्याभावहेत्वोरुभयत्रापि समत्वादिति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने से विश्वसत्यत्वश्रुति द्वारा सत्त्व बोधन में अविरोधित्व है।

समाधान– नहीं, क्योंकि अखण्डार्थबोध द्वितीयाभावबुद्धिद्वारक होने से जगत्सत्यत्व का विरोधी है और ऐसा होने पर भी विश्वसत्यत्वश्रुति का अप्रामाण्यप्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि स्तुतिपरत्वादि अवान्तर तात्पर्य को लेकर अतत्त्वावेदकत्वरूप अप्रामाण्य तो इष्ट ही है, और परमतात्पर्य से तो सर्वश्रुतियों का तत्त्वावेदकत्वरूपप्रामाण्य सम है; और प्रातिभासिकों से व्यावृत तद्वति तत्प्रकारकत्वादिरूप व्यावहारिकप्रामाण्य का निराकरण अशक्य होने से इन श्रुतियों का व्यावहारिक प्रामाण्य अव्याहत ही है। '' असद्वा इदमग्र आसीत्'' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से भी (''असत्'' इसमें नञ्घटित सच्छब्दवाच्य व्यावहारिक प्रपञ्च के अनुरोध से भी) ''तत्सत्यम्'' इत्यादि श्रुति ब्रह्म में व्यावहारिकसत्त्व की प्रतिपादिका नहीं, कारण कि ब्रह्म व्यवहार से अतीत है; और ब्रह्म का अपरमार्थत्व होने पर निरधिष्ठानत्व होने से शून्यतावाद की आपत्ति होगी और अधिष्ठानत्वेन किञ्चित्तत्त्व के ग्रहण किये बिना बाध की अनुपपत्ति है (तथा बाधक साक्षी के बिना बाध भी नहीं हो सकता)। इस कारण विश्वसत्यत्वश्रुति से विरोध होने से मिथ्यात्वश्रुति ही अन्यपरा है– ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि षड्विधतात्पर्यलिङ्गयुक्तत्व होने से, मिथ्यात्वश्रुति का अन्यपरत्वाभाव होने के कारण, सत्यत्वश्रुति से प्राबल्य है; और वैदिक महातात्पर्य के विषय में तात्त्विकत्व नियम होने से तात्पर्यज्ञापकलिङ्गों का भी विषय तात्त्विकत्व में ही पर्यवसान है। और विश्वसत्त्वश्रुतिवाक्य में स्थित पदों का अन्यपरत्व (स्तुतिपरत्व) होने से विश्वसत्त्व में तात्पर्यलिङ्ग की आशंका नहीं हो सकती।

शंका –यदि विश्वसत्त्वश्रुति प्रत्यक्षप्राप्तसत्त्वविषयिका होने से स्वार्थपरा नहीं है, तो मिथ्यात्वश्रुति भी प्रत्यक्ष से विरुद्धार्थविषयिका होने से स्वार्थपरा होनी नहीं चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष से प्राप्ति और प्रत्यक्ष से विरोधरूप दोनों तात्पर्यभाव हेतुओं की विश्वसत्त्वश्रुति और मिथ्यात्वश्रुति, दोनों में भी समानता है।

समाधान – नहीं, कारण कि–प्रत्यक्ष की अपेक्षा से जिस प्रकार चन्द्र के अधिक परिमाण

चेन्न, प्रत्यक्षापेक्षया चन्द्राधिकपरिमाणबोधकागमस्येव मिथ्यात्वबोधकागमस्यापि बलवत्त्वेन प्रत्यक्षप्राप्तानुवादिसत्त्वश्रुत्यपेक्षयापि बलवत्त्वात्। अन्यथा उभयोरप्यप्रामाण्यापत्तेः। तदुक्तं संक्षेपशरीरके— ''अतत्परा तत्परवेदवाक्यैर्विरुध्यमाना गुणवाद एव'' इति। अत एवानन्यशेषमिथ्यात्वश्रुतिविरोधान्न प्रत्यक्षागृहीतत्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यत्वपरा जगत्सत्यत्वश्रुतिरित्युक्तम्। अद्वैतश्रुतेश्च प्राबल्ये निरवकाशत्वतात्पर्यवत्त्वादिकमेव प्रयोजकम, न निषेधवाक्यत्वम्। एतेन निषेधवाक्यत्वेन प्राबल्ये किति तद्धिते वृद्धिविधायकात् ''किति च'' इति सूत्रात् सामान्यतो गुणवृद्धिनिषेधकं ''क्ङिति च'' इति सूत्रं बलवत् स्यात्। अग्नीषोमीयवाक्यादहिंसावाक्यम्, षोडशिनोग्रहणवाक्यादग्रहणवाक्यम्, ''सत्यं ज्ञानम्'' इत्यादिवाक्यात् ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इत्यादिवाक्यं च बलवत्स्यादित्यपास्तम्। सामान्यविशेषभावादिना सावकाशत्व निरवकाशत्वादिरूपबलवैपरीत्यात् ''विश्वं सत्यम् इत्यादेस्तु व्यावहारिकसत्वविषयतया अन्यशेषतया च सावकाशत्वादेः प्रागुक्तत्वात्। तस्मान्न सत्त्वश्रुतिविरोधः। नापि—

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।
एतां बुद्धिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः॥

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का बोधक आगम बलवान् है, उसी प्रकार मिथ्यात्वबोधक आगम भी, प्रत्यक्षापेक्षा से बलवान् होने से, प्रत्यक्षप्राप्त की अनुवादिनी सत्वश्रुति की अपेक्षा से भी बलवान् है; बल समत्व होने पर तो सत्वश्रुति और मिथ्यात्वश्रुति दोनों में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। संक्षेपशारीरिक में इस बात को कहा है—''अस्वार्थपरा विश्वसत्त्वादि श्रुति स्वार्थपरश्रुति वाक्यों से विरुद्ध होती हुई गुणवादरूप अर्थवाद ही है।'' इस प्रकार अतत्परत्व होने में और अनन्यशेषमिथ्यात्व श्रुति से विरोध होने से प्रत्यक्ष से अगृहीत त्रिकालाबाध्यत्व रूप सत्यत्व की प्रतिपादिका जगत्सत्यत्वश्रुति नहीं— ऐसा कह चुके हैं। और अद्वैतश्रुति के प्राबल्य में तो निरवकाशत्व, तात्पर्यवत्त्वादिक ही प्रयोजक है, न कि निषेधवाक्यत्व। इस निरवकाशत्वादिक को प्राबल्य में प्रयोजक मानने से और निषेधवाक्यत्व को प्रयोजक न मानने से— निषेध वाक्यत्वरूप से प्राबल्य होने पर कित् तद्धित प्रत्यय के परे होने पर वृद्धि विधायक ''किति च'' इस सूत्र से सामान्यतः गुणवृद्धिनिषेधक ''क्ङिति च'' यह सूत्र बलवान होना चाहिए, इसी प्रकार अग्नीषोमीयहिंसा वाक्य से ''न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' यह अहिंसावाक्य, षोडशिग्रहणवाक्य से अग्रहणवाक्य, ''सत्यं ज्ञानम्'' इत्यादिवाक्य से '' असद्वा इदमग्र आसीत्'' इत्यादि वाक्य बलवान् होने चाहियें— ऐसा कथन निरस्त हुआ, कारण कि सामान्यविशेषभावादि से सावकाशत्वादिकबल—वैपरीत्य है और निरवकाशत्वादिक बल है; और ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि का तो व्यावहारिकसत्त्वविषयत्व और अन्यशेषत्व होने से सावकाशत्वादि पूर्व ही कह चुके हैं। इसलिये मिथ्यात्वानुमान का विश्वसत्त्वश्रुति से विरोध नहीं।

इसी प्रकार —'' असत्यमप्रतिष्ठम्'' ''एतां बुद्धिमवष्टम्य'' इत्यादि स्मृतियों से भी मिथ्यात्वानुमान का विरोध नहीं, क्योंकि जगत् में सत्प्रतियोगिकभेद मानने वाले होते हुए भी हम असिद्धलक्षणत्व का भी अङ्गीकार करते हैं। अतः जगत् के सदसद्विलक्षणत्व का प्रतिपादन करने वाली स्मृति से विरोधाभाव है। (क्योंकि इस स्मृति का अर्थ यह है—''यह जगत् अनीश्वर अर्थात् ईश्वरोपादानरहित होने से असत्य अर्थात् सत्योपादानशून्य है, इसलिये अप्रतिष्ठ अर्थात् अधिष्ठानशून्य है— ऐसा शून्यवादी माध्यमिक लोग कहते हैं; वे अल्पबुद्धि लोग इस बुद्धि का अवलम्बन करके

इत्यादिस्मृतिविरोधः, सद्विविविक्तत्ववादिनो मम जगत्यसद्वैलक्षण्याङ्गीकारेण तत्प्रतिपादकस्मृतिविरोधाभावात् ।

ननु ''नाभाव उपलब्धेः'', ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' इति सूत्रद्वयेन जगतः पारमार्थिकसत्त्वबोधनेन विरोधः। न चानेन शून्यवादिनिरासार्थेनासद्वैलक्षण्यमात्रप्रतिपादनान्न विरोधः, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्यासद्वैलक्षण्यस्य शून्यवादिमतेऽपि सत्त्वेन तन्मतनिरासार्थत्वानुपपत्तेः। निषेधाप्रतियोगित्वरूपस्यासद्वैलक्षण्यस्य त्वयाप्यनङ्गीकारात्। असद्वैलक्षण्यमात्रस्य साधने सूत्रे स्वप्नवैलक्षण्योक्त्ययोगाच्च। व्यावहारिकसत्यत्वमात्रेण स्वप्नवैलक्षण्यस्य त्वयाप्यङ्गीकारात्, असद्वैलक्षण्यमात्रस्य तन्मतेऽपि सत्त्वाच्च। तदुक्तं बौद्धैः ''द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना'' इति चेन्न, सूत्रार्थानवबोधात्, तथा हि—सद्रूपाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य सर्वमसदित्यनुमानेन विरोधसन्देहे ''न सन्नासन्नसदसन्न चानुभयतत्त्वकम्। विमतं तर्कपीड्यत्वान्मरीचिषु यथोदकम्।'' इति ब्रह्मसाधारण्यान्निस्तत्त्वतायां प्राप्तायां सूत्रेण परिहारः। सतो ब्रह्मणो नाभावः = न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अपने आपको नष्ट करने वाले होते हैं''— इस माध्यमिकनिन्दा से जगत् सत्योपादानक और सत्यज्ञानबाधक कहा गया है)।

शंका — '' उपलब्धि होने से इस जगत् का अभाव नहीं'', '' वैधर्म्य होने से यह जगत् स्वप्न जैसा नहीं'' इस सूत्रद्वय से जगत् के पारमार्थिक सत्त्व का बोधन होता है। इस बोधन से मिथ्यात्वानुमान का विरोध है। इसमें —शून्यवादिनिरासार्थ इस सूत्रद्वय से जगत् के असद्विलक्षणत्व मात्र का प्रतिपादन होने से विरोध नहीं, ऐसा आप कह नहीं सकते, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व रूप असद्विलक्षणत्व शून्यवादी के मत में भी अङ्गीकृत होने से यह सूत्रद्वय शून्यवाद निरासार्थ नहीं हो सकते। और निषेध का अप्रतियोगित्व रूप असद्विलक्षणत्व तो जगत् में तुमने भी अङ्गीकृत किया है, और असद्विलक्षणत्वमात्र के साधन में सूत्र में स्वप्नविलक्षणत्व की उक्ति अयुक्त भी है; व्यावहारिकसत्यत्वमात्र से स्वप्नविलक्षणत्व का तुमने भी अङ्गीकार किया है और असद्विलक्षणत्वमात्र शून्यवादी के मन में भी वर्तमान है; बौद्धों ने इस विषय में कहा भी है—''दो सत्त्व अर्थात् सांवृत्त और पारमार्थिक, का आश्रय लेकर बुद्ध का धर्मोपदेश है'' इति।

समाधान — नहीं, क्योंकि तुमने सूत्रार्थ को नही समझा। तथाहि—(आगे शास्त्रदर्पणोक्तानुसार सूत्रों का अर्थ करते हैं)— सद्रूप ब्रह्म से जगत्सृष्टि का प्रतिपादन करने वाले समन्वयाध्याय (वेदान्तदर्शन का प्रथमाध्याय) का ''सर्वमसत् तर्कपीड्यत्वात्'' इस अनुमान से विरोधसंदेह होने पर (शून्यवादी कहते हैं) सत्त्वेन प्रतीत्यर्ह विमत जगत् सत् नहीं (बाधयोग्यत्व होने से), असत् नहीं (काल सम्बन्ध होने से), सदसत् नहीं (विरोध होने से),और तात्त्विकत्वेन सदसदुभय से भिन्न भी नहीं (दोनों से निर्वचन असम्भव होने से), क्योंकि उसमें (तर्क विरुद्धरूप) तर्क पीड्यत्व है, जैसे मरूमरीचियों में जल। इस अनुमान में ब्रह्मसाधारण्य होने से (ब्रह्म भी पक्षकोटि में आने से) निस्तत्त्वता (शून्यता) प्राप्त होने पर सिद्धान्ती सूत्र से परिहार करते हैं— सत् ब्रह्म का अभाव नहीं अर्थात् शून्यत्व नहीं, क्योंकि उपलब्धि अर्थात् प्रमाण से सत्त्वेन उसकी प्रतीति होती है। (ब्रह्मबाध्य नहीं; बाधायोग्यत्व होने से— इस अनुमान में इस कथन का तात्पर्य है)। तब तो शून्यवादी को भी कोई एक परमार्थ सत् अवश्य स्वीकार्य है, अनङ्गीकार होगा तो बाध के निरवधिकत्व अर्थात् निराधिष्ठानकत्व का प्रसङ्ग है— यह सूत्रार्थ है। और यह सूत्रार्थ प्रपञ्चमिथ्यात्व का विरोधी नहीं।

शून्यत्वम्। उपलब्धेः=सत्त्वेन प्रमाणात् प्रतीतेः। तथा च किञ्चित् परमार्थसद्वश्यं शून्यवादिनापि स्वीकार्यम्, अन्यथा बाधस्य निरवधिकत्वप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः। स च न प्रपञ्चमिथ्यात्वविरोधी। तथा चोक्तम्–

"बाधितोऽपह्नवो मानैः व्यावहारिकमानता।
मानानां तात्त्विकं किञ्चिद्वस्तु नाश्रित्य दुर्भणा।।" इति।

नापि स्वप्नवैधर्म्योक्त्ययोगः, तस्याः "विमतं निस्तत्त्वं तर्कपीड्यत्वात्, मरुमरीचिकाजलवत्" इत्यनुमाने बाध्यत्वप्रमाणागम्यत्वदोषजन्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनपरत्वात्, विज्ञानवादनिराकरणपरेणापि नानेन सूत्रेण विरोधः। रूपादिरहितब्रह्मणजगदुपादानत्व–प्रतिपादकसमन्वयस्य नीलाद्याकारं विज्ञानं साधयता अनुमानेन विरोधसन्देहे–

"स्वप्नधीसाम्यतो बुद्धेर्बुद्ध्याऽर्थस्य सहेक्षणात्।
तद्भेदेनानिरूप्यत्वात् ज्ञानाकारोऽर्थ इष्यताम्।।

विमता धीः, न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्, स्वप्नधीवत्। विपक्षे च ज्ञानाभा–नेऽप्यर्थभानप्रसङ्गो बाधकः। न हि भिन्नयोरश्वमहिषयोः सहोपलम्भनियमोऽस्ति। तस्मात् ज्ञानातिरिक्तं सदिति प्राप्ते परिहारसूत्रं–'नाभाव उपलब्धेः' इत्यादि।।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस विषय में कहा भी है– "वस्तु का अपह्नव = बाध अर्थात भ्रम, प्रमाणों से बाधित होता है, और बाधकप्रमाणों की व्यावहारिक प्रमाणता किसी एक तात्त्विक वस्तु का आश्रय लिये बिना अर्थात् बाधकधीविषयत्वेन अङ्गीकार किये बिना दुर्भणा अर्थात् दुस्संगाद्य है। (बाधक प्रमाण का बाध्यरूपविषय के अतिरिक्त और बाध्यसत्ता से अधिकसत्ताकवस्तु का अधिष्ठानत्वेन विषय अवश्य होना चाहिये, क्योंकि निरधिष्ठानक आरोप नहीं हो सकता; अतः अधिष्ठानावशेष होने से शून्यवाद नहीं हो सकता) अथवा अनाश्रित्य का अर्थ–साक्षित्वेन स्वीकार किये बिना लेना चाहिए। (निःसाक्षिक बाध की अनुपपत्ति से साक्ष्यवशेष से शून्यवाद नहीं)। स्वप्नवैधर्म्योक्ति भी अयुक्त नहीं, क्योंकि उस उक्ति के "विमत ब्रह्म निस्तत्त्व है, तर्कपीड्यत्व होने से जैसे मरूचिका जल। इस अनुमान में बाध्यत्व, प्रमाणागम्यत्व, दोषजन्यत्वादि उपाधियों का प्रदर्शनपरत्व है। (बाध्यत्वादि स्वप्नधर्मो का ब्रह्म में अभाव दिखाकर स्वप्नादि में उपाधि का निश्चितसाध्यव्यापकत्व और ब्रह्म में साधनाव्यापकत्व उस उक्ति से दर्शित हैं– यह भाव है)। और विज्ञानवादनिराकरणपरक इस सूत्र से भी मिथ्यात्वानुमान का विरोध नहीं। तथाहि–रूपादि रहित ब्रह्म के जगदुपादानत्व के प्रतिपादक समन्वयरूप प्रथमाध्याय का नीलाद्याकारविज्ञान के साधक अनुमान से विरोध सन्देह होने पर (विज्ञानवादी कहते हैं) "बुद्धि का स्वप्नधी से साम्य होने से, बुद्धि के साथ अर्थ का सहेक्षण अर्थात् सहोपलम्भ होने से और बुद्धि से भिन्नत्वेन अर्थ का अनिरूप्यत्व होने से अर्थ का ज्ञानाकार ही मानना चाहिये।" विमत नीलादिधी ज्ञानव्यतिरिक्त आलम्बन (विषय) से रहित है, धीत्व होने से, जैसे स्वप्न–धी। और विपक्ष में अर्थात् साध्य और साधन में व्यभिचार शंका होने पर–ज्ञानाभावावस्था में भी अर्थभान का प्रसङ्ग होना बाधकतर्क है; क्योंकि भिन्न अश्व और महिष में सहोपलम्भ का नियम नहीं। इसलिये क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त सत् पदार्थ नहीं– ऐसा प्राप्त होने पर उसका यह परिहासूत्र है " नाभाव उपलब्धेः" इत्यादि। (आगे शास्त्रदर्पण का वाक्य उद्धृत करते हैं) 'विमता धी न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्''। इस अनुमान में बाध के साथ सोपाधिकत्व है। (प्रमाण द्वारा ज्ञान से अर्थ का अत्यन्त भेद उपलब्ध होने से ज्ञान और ज्ञेय मे

बाधेन सोपाधिकतानुमाने, उपायभावेन सहोपलम्भः।
सारूप्यतो बुद्धितदर्थभेदः स्थूलार्थभङ्गे भवतोऽपि तुल्यः॥

सूत्रार्थस्तु नाभावः = ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्य नासत्त्वम्, किन्तु व्यवहारदशाऽबाध्यार्थक्रियाकारित्वरूपं सत्त्वमेव। उपलब्धेः = ज्ञानातिरेकेण प्रमाणैरुपलब्धेः। स्वप्नवैधर्म्योक्तिः बाध्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनाय। तेन बाधात् सोपाधिकत्वाच्च पूर्वानुमानं दुष्टमित्यर्थः। तस्मान्नैवमपि विरोधशङ्का। तदुक्तं "तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः किन्तु बाह्यः।" स चार्थक्रियाकारित्वसत्त्वोपेतोऽप्यद्वैतश्रुतिवशात् ब्रह्मणि कल्पितो न परमार्थसन्निति सिद्धान्तस्य सुगतमताद्भेद इति। उक्तं चात्मतत्त्वविवेके—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अभेद का बाध है, अतः यह अनुमान बाधितसाध्यक है और इस अनुमान में बाध्यत्व, प्रमाणागम्यत्व, दोषजन्यत्वादि उपाधि भी वर्तमान है, क्योंकि दृष्टान्त स्वप्नधी में बाध्यत्वादि होने से उपाधि का साध्य व्यापकत्व है और विमत नीलादिधीरूप पक्ष में बाध्यत्वादि नहीं, कारण कि व्यवहारदशा में प्रमाणों द्वारा नीलादिधी बाधित नहीं होती, इसलिये उपाधिलक्षण घटित साधनाव्यापकत्व है। तब तो पक्ष में व्यापक उपाधि के अभाव से व्याप्य साध्य का अभाव स्वतः सिद्ध है); और ज्ञान के साथ विषय का सहोपलम्भ उपायभाव से है, अभेदभाव से नहीं (जैसे—रूपग्रह में रूप के साथ आलोक का सहोपलम्भ होता है, वह सहोपलम्भ रूपग्रह में उपायभाव से है, रूप के साथ आलोक के अभेदभाव से नहीं, उसी प्रकार ज्ञानग्रह में ज्ञान के साथ विषय का सहोपलम्भ होता है, क्योंकि व्यवहार दशा में निर्विषयक ज्ञान नहीं होता; इसलिये वह सहोपलम्भ ज्ञानग्रह में उपायभाव से है, ज्ञान के साथ अभेदभाव से नहीं)। और स्थूलार्थभङ्ग में भी जैसे अनुमेय बाह्यर्थवादी सौत्रान्तिक का है, वैसे ही आप (योगाचार) का भी सारूप्य से ज्ञान और ज्ञान विषय में भेद तुल्य ही है। (अनुमेय बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिक अवयव अवयविभाव को न मानकर युक्तियों से अवयवी स्थूलार्थ का खण्डन करते हैं और ज्ञान से अत्यन्त भिन्न परमाणु समूहरूप अनुमेय बाह्यार्थ मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध न होने पर भी अनुमेय बाह्यार्थ नहीं माने तो ज्ञान में प्रतिबिम्ब रूप विषय सारूप्य नहीं माना जा सकता; इसी प्रकार बाह्य स्थूलार्थ का खण्डन करने वाले योगाचारों को भी ज्ञान से विषय को अत्यन्त भिन्न मानना होगा, अन्यथा ज्ञान में विषय तादात्म्यरूप जो सारूप्य योगाचार ने माना है, वह नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान और विषय में अभेद होने पर तादात्म्य की अनुपपत्ति होती है, ज्ञान ज्ञान है— ऐसी तादात्म्यबुद्धि नहीं होती)। सूत्रार्थ तो— नाऽभावः = ज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थ का असत्त्व नहीं किन्तु व्यवहार दशा में अबाध्य अर्थक्रियाकारित्वरूप—सत्त्व अवश्य है, क्योंकि उपलब्धेः = ज्ञान से भिन्नत्वेन प्रमाणों द्वारा बाह्यार्थ की उपलब्धि होती है। और, "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इस सूत्र से स्वप्नवैधर्म्य की उक्ति तो बाध्यत्वादि उपाधि के प्रदर्शनार्थ है। इस कारण = बाध से और सोपाधिकत्व से पूर्वोक्त अनुमान दुष्ट है— यह सूत्रार्थ है। इसलिये क्षणिक विज्ञानवाद को लेकर भी समन्वयाध्याय की विरोधशंका नहीं हो सकती। इस विषय में कहा है—"इसलिये अर्थ ज्ञानाकार नहीं, बाह्य है। और वह बाह्यार्थ अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्व से युक्त होता हुआ भी अद्वैतश्रुतिवश ब्रह्म में कल्पित है, परमार्थ सत् नहीं। इसकारण अद्वैत सिद्धान्त का बुद्धमत से भेद है" इति। और उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा भी है —"ग्राह्यभेदम् = घटादि बाह्यार्थ को, अवधूय = निराकृत करके, धियो न वृत्तिरस्ति = ज्ञान का घटादिरूपाकार से, अभिन्नरूप से कहीं भी सम्बन्ध नहीं, तद्बाधके

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति,
स्तद्बाधने वलिनि वेदनये जयश्रीः।
नोचेदनित्यमिदमीदृशमेव विश्वं,
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः।।

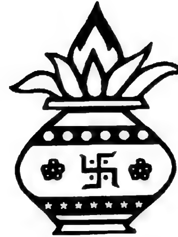
इति धर्मिग्राहकमानबाधश्च प्रागेव परिहृत इति शिवम्।

इति विश्वमिथ्यात्वस्यागमबाधोद्धारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

= इस बौद्धमत के बाधक, बलिनि वेदनये = बलवान् वेदान्त दर्शन में ही, जयश्रीः = परमोत्कर्ष—जय है। नो चेत् = जब तक साक्षात्कार रूप ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तब तक यह जगत् बाधित नहीं है तो अनित्यमिदं विश्वम् = यह जगत् अनित्य, ईदृशमेव तथ्यम् = वैसे ही—व्यावहारिक सत्यत्वेन रहे, तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः = ज्ञान से अत्यन्ताभिन्न यह जगत् अलीक है— ऐसे बौद्धमत का तो कहां अवकाश होगा? इति। (मिथ्यात्वानुमान में मानसिद्ध ही पक्ष होने से पक्षरूपधर्मिग्राहक प्रमाण से अनुमान के बाध की शंका का निराकरण करते हैं)— धर्मि ग्राहकमान से बाध तो पहले ही परिहृत हो चुका है। (अर्थात्— धर्मिग्राहकमान में व्यावहारिक प्रामाण्य ही उपजीव्य है, वह तो मिथ्यात्वानुमान से खण्डित नहीं होता, खण्डित होता है केवल तात्त्विक प्रामाण्य, वह तो उपजीव्य नहीं—ऐसा पूर्व में कह चुके हैं) इति शिवम्।।

इति विश्वमिथ्यात्वस्यागमादिबाधोद्धारस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



२८: अथाऽसतः साधकत्वोपपत्तिः

ननु—सत्त्वसाधकानां मिथ्यात्वसाधकानुमानेभ्यः प्राबल्यम्, मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वाबोधने सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः, तद्बोधने परस्परव्याहतिराश्रयासिद्ध्यादिकं चेति—चेन्न, मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वबोधनेऽपि व्याहत्यभावात्, प्रतिज्ञादिभिस्तेषां त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वाप्रतिपादनात्।

ननु— साधकत्वान्यथानुपपत्त्या परमार्थसत्त्वमायाति, परमार्थसत एव साधकत्वात्, साधकतायाः प्राक्सत्त्वघटितत्वात्, न तु धीमात्रविषयत्वम्, अपरोक्षधीविषयत्वम्, सत्त्वेन तादृशधीविषयत्वं वा साधकताप्रयोजकम्, तुच्छे नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्त्यव्याप्तिभ्याम्। तत्त्वेन ज्ञानमपि न तत्र प्रयोजकम्, वह्नित्वेनाज्ञातेऽपि वह्नौ दाहकत्वदर्शनात्, वह्नित्वेन ज्ञातेऽपि गुञ्जापुञ्जे तददर्शनाच्च। नापि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधितासत्त्वप्रतीतिस्तन्त्रम्, आत्मनो

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — मिथ्यात्वसाधक अनुमानों से सत्त्वसाधक अनुमानों का प्राबल्य है, क्योंकि मिथ्यात्वसाधक प्रतिज्ञादि (आदि पद से हेतु और उदाहरण) से प्रापित पक्ष हेत्वादि के मिथ्यात्व का अबोधन होने पर सर्वमिथ्यात्व की असिद्धि होगी, और पक्षादि के मिथ्यात्व का बोधन होने पर परस्पर में व्याघात और आश्रयासिद्ध्यादिक होंगे (अभिप्राय यह है कि सिद्धान्ती ''विमतं जगन्मिथ्या दृश्यत्वात्'' इस अनुमान से जगदन्तर्गत यावत्पदार्थ को, यहां तक कि साध्यरूप मिथ्यात्व को भी मिथ्या सिद्ध करना चाहते हैं; इसलिये यहां मिथ्यात्वसाधक प्रतिज्ञादि और उससे उत्पन्न मिथ्यात्वानुमिति में परस्पर व्याघात होता है, जैसे कि—''विमतं जगन्मिथ्या'' इस प्रतिज्ञावाक्य से साध्यमिथ्यात्व का तथा दृश्यत्वादिहेतुवाक्य से हेत्वादि का अबाध्यत्व अर्थात् अमिथ्यात्व सिद्ध होता है, और उन प्रतिज्ञादिवाक्यों से उत्पन्न मिथ्यात्वानुमिति द्वारा प्रतिज्ञाहेत्वादि यावद्दृश्यमात्र का मिथ्यात्वरूप बाध्यत्व सिद्ध होता है, इसलिये परस्पर व्याघात है। इसी प्रकार पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नपक्ष की अप्रसिद्धिरूप आश्रयासिद्धि है, क्योंकि मिथ्यात्वानुमिति द्वारा पक्षतावच्छेदक धर्मों का स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व होने से पक्षीभूत जगत् की अप्रसिद्धि है। आदि पद से बाध और स्वरूपासिद्धि को भी समझना चाहिये; मिथ्यात्व साध्य मिथ्या होने से बाध है और दृश्यत्व हेतु का मिथ्यात्व होने से स्वरूपासिद्धि है। अतः सत्त्वसाधक अनुमानों की अपेक्षा मिथ्यात्वसाधक अनुमानों की दुर्बलता है)।

समाधान — नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व के साधक प्रतिज्ञादि से उपनीत पक्षादिकों का मिथ्यात्वबोधन होने पर भी (व्यवहारकालमात्र बाध्यत्व होने से) व्याघात नहीं, कारण कि प्रतिज्ञादि वाक्यों से पक्षादिकों के त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

शंका — प्रतिज्ञादि वाक्यों की अनुमिति के प्रति साधकत्वान्यथानुपपत्ति से परमार्थसत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि परमार्थसत् का ही साधकत्व है, और साधकता प्राक्सत्त्व घटित है (कार्यपूर्वनियतवृत्तित्वरूपवत्त्व घटित है); किन्तु धीत्वाविशिष्टधी विषयत्वरूपसत्त्व, या अपरोक्ष धीविषयत्वरूपसत्त्व या सत्त्वेन अपरोक्षधीविषयत्त्व साधकताघटकसत्त्वरूप नहीं, क्योंकि प्रथम विकल्प की तुच्छ में अतिव्याप्ति है तथा द्वितीय और तृतीय विकल्प की नित्यातीन्द्रिय पदार्थों में अव्याप्ति है। और तत्त्वेन अर्थात् साधकत्वेन ज्ञान भी साधकता का प्रयोजक नहीं, क्योंकि वह्नित्वेन अज्ञात होने पर भी वह्नि में दाहकत्व देखने में आता है, और वह्नित्वेन ज्ञात होने पर भी गुञ्जापुञ्ज में दाहकत्व देखने में नहीं आता, और तीन चार कक्षा तक अबाधित होकर

गौरत्वेनानित्यत्वस्य नभसो नैल्येन स्पर्शवत्त्वस्य चापत्तेः, 'गौरोऽहं, नीलं नभः इत्यादिप्रतीतावपि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधात्, यौक्तिकबाधस्य त्वन्मते प्रकृतेऽपि भावादिति— चेन्न, यादृश्या बुद्ध्या तव नभोनैल्यादिधीव्यावृत्तया घटादौ सत्त्वसिद्धिः, तादृग्बुद्धिविषय— त्वस्यैव साधकत्वे तन्त्रत्वात्। अत एव लोकप्रसिद्धिस्तन्त्रमितीष्टसिद्ध्युक्तमप्युक्ताभिप्रायेण सम्यगेव। एवं त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता वादिप्रतिवादिप्राश्निकादीनां सत्त्वबुद्धिस्तन्त्रमित्युप— पन्नमेव। गुञ्जापुञ्जस्य वह्नित्वे आत्मनो गौरत्वे नभसो नीलत्वे च तादृग्बुद्धिविषयत्वस्य तवाप्यसंप्रतिपत्तेः, अन्यथा तेषामपि तत्र सत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्। अथ—यादृश्या शब्दे क्लृप्तदोषरहितया बुद्ध्या तव ब्रह्मणि सत्त्वसिद्धिः तादृश्या प्रत्यक्षे क्लृप्तदोषरहितया मम जगति सत्त्वसिद्धिरस्तु साधकतुल्यत्वादिति चेन्न, ब्रह्मसत्त्वबुद्धिवद् जगत्सत्त्वबुद्धेरबाधितत्वाभावात्, त्रिकालाबाध्यत्वरूपस्य सत्त्वस्य प्रत्यक्षाविषयताया उक्तत्वाच्च। न च—बुद्धिविषयत्वस्य तन्त्रत्वे वह्नित्वेनाज्ञातस्य वह्नेरदाहकत्वप्रसङ्गः, अमृतत्वेन ज्ञातस्य च विषस्य सञ्जीवकत्वप्रसङ्ग इतिवाच्यम्, वह्नौ तादृग्बुद्धिविषयत्व— स्येश्वरादिसाधारणस्य सत्त्वात्, विषे सञ्जीवकत्वप्रसङ्गस्य नभोनैल्यादितुल्यत्वात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सत्वप्रतीति भी साधकता की प्रयोजक नहीं, कारण कि गौरत्वेन आत्मा के अनित्यत्व की और नीलत्वेन आकाश के स्पर्शवत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि'' मैं गौर हूँ'' ''आकाशनील है'' इत्यादि प्रतीति में भी तीन चार कक्षा तक बाध नहीं और आकाश तथा आत्मा में विभुत्वेन रूपवत्त्वाभावरूप यौक्तिकबाध एक ही कक्षा में होता है तो तुम्हारे मत में प्रकृत साधक में भी अनुमान द्वारा मिथ्यात्वेंन सत्वाभावरूप यौक्तिकबाध एक ही कक्षा में होता है।

समाधान — नहीं, क्योंकि तुम्हारे मत में नभोनैल्यादिबुद्धि से व्यावृत्त जिस प्रकार की बुद्धि से घटादि में सत्त्वसिद्धि होती है, उस प्रकार की बुद्धि का विषयत्वरूपसत्त्व ही साधकत्व में प्रयोजक है अर्थात् व्यावहारिकसत्वेन धीविषयत्व ही साधकता में प्रयोजक है। इस कारण ''साधकता में लोकप्रसिद्धि प्रयोजक है'' यह इष्टसिद्धिकार का कथन भी उक्ताभिप्राय होने से ठीक ही है, इसी प्रकार तीन चार कक्षा तक अबाधित होकर वादी, प्रतिवादी, मध्यम्थादि की सत्त्वबुद्धि प्रयोजक है— यह कथन भी ठीक ही है। गुञ्जापुञ्ज के वह्नित्व में, आत्मा के गौरत्व में और आकाश के नीलत्व में त्रिचतुर कक्षा पर्यन्त अबाधितसत्त्वबुद्धिविषयत्व तुम को भी संप्रतिपन्न नहीं, यदि संप्रतिपन्न है तो उन वह्नित्वादिकों की गुञ्जापुञ्जदिकों में सत्त्वसिद्धि का प्रसङ्ग है।

शंका— शब्द में जिस प्रकार की अनुवादित्वादि क्लृप्तदोषरहित बुद्धि से ब्रह्म में सत्त्वसिद्धि तुम्हारे मत में होती है; प्रत्यक्ष में उस प्रकार की दूरत्वादिक्लृप्तदोषरहितबुद्धि से हमारे मत में भी जगत् में सत्त्वसिद्धि हो, क्योंकि साधक में तुल्यत्व है।

समाधान — नहीं, कारण कि जैसे ब्रह्मसत्त्वबुद्धि का अबाधितत्व है, वैसे जगत्सत्त्वबुद्धि का नहीं, और त्रिकालाबाध्यत्व रूप सत्त्व की प्रत्यक्षाविषयता पूर्व ही कही जा चुकी है।

शंका — बुद्धिविषयत्व का साधकता में प्रयोजकत्व होने पर वह्नित्वेन अज्ञातवह्नि के अदाहकत्व का प्रसङ्ग होगा, और अमृतत्वरूप से ज्ञात विष के सञ्जीवकत्व का प्रसंग होगा।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि वह्नि में वह्नित्वरूप से ईश्वरादिसाधारण बुद्धिविषयत्व वर्तमान हैं, और विष में सञ्जीवकत्व का प्रसङ्ग तो आकाश में नैल्यादि के प्रसङ्ग के समान है।

वस्तुतस्तु—ज्ञाताज्ञातसाधारणं व्यावहारिकं सत्त्वमेव साधकत्वे तन्त्रम्, तच्च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वमेव, तच्च न मिथ्यात्वघटितम्, अत्यन्ताबाध्ये ब्रह्मज्ञानबाध्ये च तुल्यत्वात्। अत एव नेदं परमार्थसत्त्वव्याप्यम्। एवञ्च परमार्थसत्त्वस्य साधकतायामतन्त्रत्वेन तदभावेऽपि न साधकतानुपपत्तिः। एतेन—व्यावहारिकत्वं ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वं वा? व्यावहारिक (व्यवहार) विषयत्वे सति सत्त्वं वा? सत्त्वेन व्यवहारमात्रं वा? नाद्यः, मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्याश्रयात्। नापि द्वितीयः, तस्यास्माकं मिथ्यात्वविरोधित्वेनेष्टत्वात्। न तृतीयः, सत्त्वाभावे साधकत्वानुपपत्तेरिति—निरस्तम्, उक्तनिरुक्तेरदुष्टत्वात्। न च—हेत्वादीनां व्यावहारिकसत्त्वे साध्यस्यापि व्यावहारिकसत्त्वमेव स्यादनुमितिविषयसाध्यस्य परामर्शविषयहेतुना समानसत्ताकत्वनियमादिति—वाच्यम्, दृश्यत्ववन्मिथ्यात्वस्यापि व्यावहारिकत्वेन समानसत्ताकत्वस्येष्टत्वात्, समानसत्ताकत्वनियमासिद्धेश्च, धूलीपटले धूमभ्रमादपि वह्न्यनुमितिप्रमादर्शनात्, गन्धव्याप्यपृथिवीत्वप्रमातोऽपि गन्धप्रागभावावच्छिन्ने

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नील आकाश कहने से आकाश नील नहीं होता, उसी प्रकार विष अमृत नहीं होता। वस्तुतः तो—ज्ञात और अज्ञात साधारण व्यावहारिक सत्त्व ही साधकत्व में प्रयोजक हैं, और वह सत्त्व ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप ही है, और वह मिथ्यात्वघटित नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व व्यावहारिक सत्त्व का, अत्यन्ताबाध्य और ब्रह्मज्ञानबाध्य दोनों में तुल्यत्व है अर्थात् दोनों में व्यावहारिक सत्त्व रहता है। इस प्रकार व्यावहारिक सत्त्व ही साधकता में प्रयोजक होने से साधकत्व परमार्थसत्त्व का व्याप्य नहीं (अर्थात् जहां साधकत्व है, वहां परमार्थसत्त्व होना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं)। इस प्रकार परमार्थसत्त्व का साधकता में अप्रयोजकत्व होने से परमार्थसत्त्वाभाव होने पर भी साधकता की अनुपपत्ति नहीं।

इस ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व के निरूपण से—व्यावहारिकत्व क्या है? क्या वह ब्रह्मज्ञानबाध्यत्व है, या व्यवहारविषयत्व होने पर सत्त्व है, अथवा सत्त्वरूप से व्यवहार मात्र है? आद्य नहीं, क्योंकि मिथ्यात्वसिद्धि से पहले ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व की असिद्धि होनेसे अन्योन्याश्रय है (प्रपञ्चनिष्ठमिथ्यात्व की सिद्धि होने पर ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व की साधकत्वेन सिद्धि, और साधकत्वेन उस व्यावहारिकत्व के सिद्ध होने पर प्रपञ्चनिष्ठमिथ्यात्व की सिद्धि—इस प्रकार अन्योन्याश्रय है)। द्वितीय भी नहीं, क्योंकि व्यवहारविषयत्वरूप सत्त्व मिथ्यात्व के विरोधित्वरूप से हमारा इष्ट है। तृतीय भी नहीं, कारण कि वस्तुतः सत्वाभाव होने पर साधकत्व की अनुपपत्ति है;—यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप उक्त व्यावहारिकत्व अदुष्ट है।

शंका — हेत्वादिकों का व्यावहारिक सत्त्व होने पर मिथ्यात्वरूप साध्य का भी व्यावहारिकसत्व ही होना चाहिये, क्योंकि ''विमतं मिथ्या'' इस अनुमिति के विषय मिथ्यात्वसाध्य का ''मिथ्यात्व—व्याप्यदृश्यत्ववत्'' इस परामर्श के विषय दृश्यत्वहेतु के साथ समानसत्ताकत्वनियम है।

समाधान — ऐसा न कहिये, क्योंकि दृश्यत्व हेतु के समान मिथ्यात्वसाध्य का भी व्यावहारिकत्वरूप से समानसत्ताकत्व इष्ट है। और हेतु और साध्य में समानसत्ताकत्वनियम की असिद्धि भी है, कारण कि धूलीपटल में धूमभ्रम से भी वह्नि की अनुमितिरूप प्रमा देखने में आती है; और गन्ध के व्याप्य पृथिवीत्व की प्रमा से भी गन्धप्रागभावयुक्त घटरूप पक्ष में बाध्य की अस्फुर्तिदशा में गन्धप्रकारक अनुमिति का भ्रम देखने में आता है। ('' उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं

घटे पक्षे बाधास्फूर्तिदशायामनुमितिभ्रमदर्शनाच्च। मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेऽपि तत्त्वावेदकश्रुति–वेद्यत्वोपपत्तिः, सत्त्वेन सत इव मिथ्यात्वेन मिथ्याभूतस्यापि प्रमाणगम्यत्वाविरोधात्, एकांशे तत्त्वावेदकत्वाभावेऽपि अपरांशे तत्त्वावेदकत्वोपपत्तेः। ननु—व्यावहारिकत्वं साधकतायामतन्त्रम्, अज्ञानादिसाधके परमार्थसति साक्षिणि तदभावादित–चेन्न, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वस्यात्यन्ताबाध्येऽपि सत्त्वस्योक्तत्वात्। त्रैविध्यविभागे पारमार्थिकव्यावृत्त–व्यावहारिकत्वनिरुक्तावपि जनकतायां तत्साधारण्येऽप्यदोषात्। वस्तुतस्तु साक्ष्यप्यज्ञानोपहित एवाज्ञानादिसाधकः, स च व्यावहारिक एव, अनुपहितेन परमार्थसदाकारेण तस्यासाधकत्वात्, एवञ्च व्यवहारिकसत्त्वमेव सर्वत्र साधकतायां प्रयोजकमिति स्थितम्। यथा चाज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नात्माश्रयादिदोषः, तथोक्तं दृश्यत्वहेतूपपादने प्राक्, अग्रे च वक्ष्यते। यत्र च यत्साधकं व्यावहारिकम्, तत्र तद् व्यावहारिकम्, यत्र तु साधकं प्रातीतिकम्, तत्र फलमपि तथैव, न तु व्यावहारिकमिति सर्वविधिप्रतिषेधादिव्य–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

निष्क्रियञ्च तिष्ठति'' इस नियमानुसार उत्पत्युत्तरक्षणविशिष्ट घट में गन्ध नहीं रहता, गन्धप्रागभाव रहता है। उस अवस्था में कोई अनुमान करे कि ''उत्पत्युत्तरक्षणविशिष्टो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्'' इति। तब तो यहां पर अनुमिति का भ्रम ही होता है)। और मिथ्यात्व के मिथ्यात्व होने पर भी तत्त्वावेदक श्रुति का वेद्यत्व हो सकता है, क्योंकि जिस प्रकार व्यावहारिक सत्त्वरूप से सत् का प्रमाणगम्यत्व है, उसी प्रकार मिथ्याभूत वस्तु के मिथ्यात्वरूप से प्रमाणगम्यत्व होने में विरोध नहीं, और मिथ्यात्वांश में 'नेह नाना'' इत्यादि श्रुति का तत्त्वावेदकत्वाभाव होने पर भी अपरांश में अर्थात् मिथ्यात्व घटक तात्त्विकाधिकरणात्मक अत्यन्ताभावरूप अंश में तत्त्वावेदकत्व हो सकता है और अत्यन्ताभाव को जिस पक्ष में अधिकरणात्मक नहीं मानते, उस पक्ष में परमतात्पर्य से अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्मांश में तत्त्वावेदकत्व है।

शंका – व्यावहारिकत्व साधकता में प्रयोजक नहीं, क्योंकि अज्ञानादि के साधक परमार्थसत् साक्षिचैतन्य में व्यावहारिकत्व का अभाव है।

समाधान – नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व अत्यन्त अबाध्य में भी हो सकता है– ऐसा पहले कह चुके हैं। सत्तात्रैविध्यविभाग में पारमार्थिक से व्यावृत्त व्यावहारिकत्व का निर्वचन होने पर भी, साधकता में पारमार्थिक से व्यावृत्त व्यावहारिकत्व का निर्वचन होने पर भी, साधकता में पारमार्थिक साधारण्य होने पर भी, दोष का अभाव है। वस्तुतः तो साक्षी भी अज्ञानोपहित होकर ही अज्ञानादि का साधक है अर्थात् अज्ञानादि के ज्ञातृत्वेन अज्ञानादिविषयकेच्छाद्वेषादिकार्य का जनक है; और वह साक्षी व्यावहारिक ही है, क्योंकि अनुपहित परमार्थसद्रूप से साक्षी साधक होता नहीं, इसलिये व्यावहारिकसत्त्व ही सर्वत्र साधकता में प्रयोजक स्थित हुआ। और जिस प्रकार से अज्ञानोपहित चैतन्य का साक्षित्व होने पर भी आत्माश्रयादिदोष नहीं होता, इस प्रकार से पहले दृश्यत्वहेतूपपादन में कह चुके हैं अर्थात् अज्ञान उपाधि होने के कारण साक्षिकोटि में नहीं आता, जड़ होने से पृथक ही रह जाता है। अतः अज्ञानविषयकसाक्षिज्ञानादि में अज्ञान को लेकर आत्माश्रयादि नहीं, और इस बात को आगे भी कहेंगे (और जिस कार्य में जो साधक (कारण) व्यावहारिक है अर्थात् व्यावहारिक प्रमाणसिद्ध है, उस कार्य में वह साधक व्यावहारिक है अर्थात् उस साधक से उत्पन्न कार्य व्यावहारिक प्रमाणसिद्ध है, और जिस कार्य में तो साधक प्रातिभासिक है, उस कार्य में फल भी वैसा ही है

वहारासङ्करः। अत एव लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकवाङ्मात्रत्वापत्तिरित्युदयनोक्तमपि निरस्तम्, व्यावहारिकसत्त्वेन लोकमर्यादानतिक्रमात्। भट्टाचार्यवचनानि विरुद्धत्वेन भासमानानि सत्त्वत्रैविध्यनिरूपणायामविरोधेन व्याख्यास्यन्ते। तस्मात् पक्षादिसर्वमिथ्यात्वसाधनेऽपि न व्याहतिः।

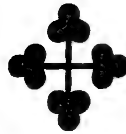
इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वोपपत्तिः।।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अर्थात् प्रातिभासिक है, व्यावहारिक नहीं) इस कारण सर्वविधिप्रतिषेधादि व्यवहारों में सङ्कर नहीं। इस प्रकार असङ्कर होने से ही–"लोक व्यवहार अर्थात् सत् ही साधक है, असत् नहीं– इस व्यवहार का व्यतिक्रम करने पर तो विचार यादृच्छिक वाङ्मात्र होने की आपत्ति आयेगी" यह उदयनाचार्य का कथन निरस्त हुआ, क्योंकि व्यावहारिकसत्त्वेन साधक मानने के कारण लोकमर्यादा का अतिक्रम नहीं। और कुमारिल भट्ट के विरुद्धत्वेन भासमान वचन के सत्त्वत्रैविध्यनिरूपण में अविरुद्धत्वेन व्याख्यान करेंगे–

("सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः। विरोधान्नहि सिंहत्वं सामान्यं सिंहवृक्षयोः।।" इस तर्कपादीय भट्टकारिका का यह अर्थ है– विरोध होने से मिथ्यार्थ और परमार्थ दोनों में सत्यत्व सामान्य नहीं हो सकता, क्योंकि सिंह और वृक्ष दोनों में सिंहत्व सामान्य नहीं – इसका उत्तर यह है कि–परमसत्यत्व मृषार्थ में नहीं–इस बात को हम मानते हैं, किन्तु तुच्छवैलक्षण्यरूप सामान्य तो मृषार्थ और परमार्थ दोनों में हो सकता है)। इसलिये मिथ्यात्वानुमान से पक्षादि सब के मिथ्यात्व का साधन होने पर भी व्याघात दोष नहीं।

इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वोपपत्तेः राष्ट्रभाषानुवादः।।



२९: अथाऽसतः साधकत्वाभावे बाधकनिरूपणम्

ननु—सत्त्वापेक्षया तुच्छविलक्षणत्वादेर्गौरवत्वेन साधकत्वे कथं तन्त्रत्वमिति—चेन्न, त्रिकालबाधविरहरूपस्य सत्त्वस्य लघुत्वाभावात्, जात्यादिरूपस्य तस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्, उभयसिद्धे सद्विविक्ते साधकत्वदर्शनेन पारमार्थिकसत्त्वस्य साधकत्वाप्रयोजकत्वाच्च। तथा हि—प्रतिबिम्बे बिम्बसाधकत्वं तावदस्ति। तस्य बिम्बात्मना सत्त्वेऽपि प्रतिबिम्बाकारेणासत्त्वात् परमार्थसत्त्वं न साधकत्वे प्रयोजकम्। एवं स्व(स्वा) प्नार्थस्यासतोऽपि भाविशुभाशुभसूचकत्वम्। यद्यपि तत्रत्यदर्शनस्यैव सूचकत्वम्—'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति' इत्यादिश्रुतिबलात्, तथापि दर्शनमात्रस्यातिप्रसक्तत्वेन विषयोऽप्यवश्यमपेक्षणीय एव। एवं स्फटिकलौहित्यस्य उपाधिसन्निधानसाधकत्वञ्च।। न च—लौहित्यं स्फटिके न मिथ्या, किन्तु धर्ममात्रप्रतिबिम्ब इति न पृथगुदाहरणमिति—वाच्यम्। धर्मिभूतमुखादिनैरपेक्ष्येण तद्धर्मभूतरूपादिप्रतिबिम्बादर्शनात्, प्रतिबिम्बस्या- व्याप्यवृत्तित्वनियमेन लौहित्यस्य स्फटिके व्याप्यवृत्तिप्रतीत्ययोगाच्च। लौहित्ये स्फटिकस्य त्वारोपे तस्य प्रतिबिम्बत्वम्, स्फटिके लौहित्यारोपे तु तस्य मिथ्यात्वमिति विवेकः। स्फटिकमणेरिवोपधाननिमित्तो लोहितिमेति लोहितिम्नो मिथ्यात्वं दर्शितं प्रतिबिम्बसत्यत्ववादिभिः पञ्चपादिका-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — सत्त्व की अपेक्षा से तुच्छ विलक्षणत्वादि का गौरव होने से साधकत्व में प्रयोजकत्व किस प्रकार होगा?

समाधान — नहीं, क्योंकि त्रिकालबाधविरहरूप सत्त्व के शरीरकृत लाघव का अभाव है; और जात्यादिरूप—सत्त्व का मिथ्यात्व से विरोध नहीं; और उभयवादिसिद्ध सद्विविक्त प्रातिभासिक में साधकत्व दृष्ट होने से पारमार्थिक—सत्त्व का साधकत्व में अप्रयोजकत्व है। तथाहि— प्रतिबिम्ब में बिम्बसाधकत्व है ही। और प्रतिबिम्ब का बिम्बरूप से सत्त्व होने पर भी प्रतिबिम्बाकार से असत्त्व होने से परमार्थसत्त्व साधकत्व में प्रयोजक नहीं (औपाधिकपरिच्छेद से शून्यत्व होने पर उपाधि के अंतर्गतत्वरूपसे आरोपित धर्मविशिष्टत्व प्रतिबिम्बत्व है, और आरोपित धर्मशून्यत्व होने पर उपाधिसन्निहितत्त्व बिम्बत्व है)। इसी प्रकार असत् होने पर भी स्वप्नार्थ भाविशुभाशुभ का सूचक है। यद्यपि ''कृष्ण—दन्त काले—पुरुष को देखता है'' इत्यादि श्रुतिबल मे स्वप्नस्थ पदार्थों के दर्शन का ही सूचकत्व है, तथापि दर्शनमात्र तो अतिप्रसक्त होने से दर्शन का विषय भी अवश्य अपेक्षणीय ही है। इसी प्रकार स्फटिक में लौहित्य भी उपाधिसन्निधान का साधक है।

शंका — स्फटिक में लौहित्य मिथ्या नहीं, किन्तु धर्ममात्र का प्रतिबिम्ब है, अतः इसका पृथक उदाहरण देना नहीं चाहिये।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि धर्मिभूत मुखादि की अपेक्षा किये बिना, मुखादि के धर्मभूत रूपादि का प्रतिबिम्ब दृष्ट नहीं होता। और प्रतिबिम्ब का अव्याप्यवृत्तित्व नियम होने से (उपाधि दर्पणादि के एकदेश में ही वृत्तित्व का नियम होने से) लौहित्य की स्फटिक में व्याप्यवृत्ति की प्रतीति अयुक्त है। यहां पर लौहित्य में स्फटिकस्थत्व का आरोप करने पर लौहित्य का प्रतिबिम्बत्व है, और स्फटिक में लौहित्य का आरोप करने पर तो लौहित्य का मिथ्यात्व है— ऐसा विवेक है। '' जैसे उपाधिनिमित्तक लौहित्य स्फटिकमणि का होता है'' (वैसे अन्तःकरणोपाधिनिमित्तक कर्तृत्व आत्मा का होता है)— इस प्रकार प्रतिबिम्बसत्यत्ववादी पञ्चपादिकाकार पद्मपादाचार्यने

कृद्धिः। एवं रेखातादात्म्येनारोपितानां वर्णानामर्थसाधकत्वम्। न च–रेखास्मारिता वर्णा एवार्थसाधका इति–वाच्यम्, आशैशवमयं ककारोऽयं गकार इत्यनुभवात्, अभेदेनैव स्मरणात्, विवेके सत्यपि दृढतरसंस्कारवशाद् नारोपनिवृत्तिः। अत एव ककारं पठति लिखति चेति सार्वलौकिको व्यवहारः। वर्णारोपितदीर्घत्वह्रस्वत्वादीनां च नगो नाग इत्यादावर्थविशेषप्रत्यायकत्वम्। न च–वर्णेष्वनारोपितध्वनिसाहित्यं तदभिव्यक्तिरूपं वा दैर्घ्यं प्रत्यायकम्, एवं ह्रस्वत्वादिकमपीति–वाच्यम्; ध्वनीनामस्फुरणेऽपि दीर्घो वर्ण इत्यादिप्रत्ययात्। ननु–आरोपितेन वर्णदैर्घ्यादिना कथं तात्त्विकार्थसिद्धिः, न ह्यारोपितेन धूमेन तात्त्विकवह्नि–सिद्धिरिति–चेन्न, साधकतावच्छेदकरूपवत्त्वमेव साधकतायाः प्रयोजकम्, न त्वारोपितत्वमनारोपितत्वं वा, धूमाभासस्य त्वसाधकत्वम्, साधकता–वच्छेदकरूपव्याप्त्यभावात्, नासत्त्वात्, अनाभासत्वग्रहश्च तत्र बहुलोर्ध्वतादिग्रहणव–द्व्याप्तिग्रहणार्थमेवापेक्षितः। तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः–

''यथा सत्यत्वाविशेषेऽपि चक्षुषा रूपमेव ज्ञाप्यते न रसः,
तथैवासत्त्वाविशेषेऽपि वर्णदैर्घ्यादिना सत्यं ज्ञाप्यते, न तु धूमाभासादिना"इति।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

लौहित्य का मिथ्यात्व बताया है। इसी प्रकार रेखा के तादात्म्यरूप से आरोपित वर्णों का अर्थसाधकत्व है।

शंका – रेखाओं से स्मारित वर्ण ही अर्थसाधक है।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि बाल्यकाल से लेकर ''यह ककार है'' ''यह गकार है'' इस प्रकार अनुभव होने से रेखा और वर्ण का अभेदरूप से ही स्मरण होता है, और दोनों का विवेक होने पर भी दृढ़तर संस्कार के वश से आरोप की निवृत्ति नहीं होती। इसलिये संस्कारवश ''ककार को पढ़ता और लिखता है'' ऐसा सब लोगों में व्यवहार है। और वर्णो में आरोपित दीर्घत्व, ह्रस्वत्वादिक नग (पर्वत) नाग (सर्प) इत्यादि में अर्थविशेष के ज्ञापकत्व हैं।

शंका– वर्णों में अनारोपित दीर्घत्वाश्रयभूतध्वनिसाहित्य अथवा ध्वनि का अभिव्यक्तिरूप दैर्घ्य ही अर्थविशेष का प्रत्यायक है, और इसी प्रकार ह्रस्वत्वादिक भी है।

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि ध्वनियों का स्फुरण न होने पर भी दीर्घवर्ण इत्यादि का ज्ञान होता है।

शंका – वर्ण के आरोपित दैर्घ्यादि से कैसे तात्विकार्थ की सिद्धि होगी? कारण कि आरोपित धूम से तात्त्विक वह्नि की सिद्धि नहीं होती।

समाधान – नहीं, क्योंकि धूमादिनिष्ठसाधकता का अवच्छेदकरूप जो धूमत्वादि है, उस धूमत्वादि से विशिष्टत्व ही साधकता का प्रयोजक है, किन्तु आरोपितत्व अथवा अनारोपितत्व प्रयोजक नहीं; और धूमाभास का असाधकत्व तो धूमनिष्ठ साधकता का अवच्छेदकरूप जो धूमत्व है, वही धूमत्वरूप व्यापक के अभाव से है। (कारण कि ''यत्र साधकत्वं, तत्र साधकतावच्छेदकरूपत्वम्'' यह व्याप्ति है; धूमाभास में साधकतावच्छेदक रूपवत्व व्यापक के अभाव से व्याप्यसाधकत्व का अभाव है), असत्त्व अर्थात् आरोपितत्व होने से नहीं, और धूम में अनाभासत्वग्रह अधिकता से ऊर्ध्वत्वादि के ग्रहण जैसे व्याप्तिग्रह के लिए अपेक्षित है। वाचस्पति मिश्र ने कहा भी है–'' जिस प्रकार सत्यत्व अविशेष होने पर भी चक्षु से रूप ही ज्ञापित होता, रस नहीं, उसी प्रकार असत्त्व में अविशेष होने पर भी वर्ण में आरोपित दैर्घ्यादि

इष्टं हि मायाकल्पितहस्त्यादेः रज्जुसर्पादेश्च भयादिहेतुत्वं सवितृसुषिरस्य च मरणसूचकत्वं शङ्काविषस्य च मरणहेतुत्वम्। ननु तत्र शङ्कैव भयमुत्पाद्य धातुव्याकुलतामुत्पादयतीति सैव मरणहेतुः, न तु शङ्कितं विषमपि, एवं सवितृसुषिरमायाकल्पितगजादीनामपि ज्ञानमेव तत्तदर्थक्रियाकारि, न त्वर्थोऽपि, तथा च सर्वत्रोदाहृतस्थलेषु ज्ञानमेव हेतुः, तच्च स्वरूपतः सत्यमेव, अन्वयव्यतिरेकावपि ज्ञानस्यैव कारणतां ग्राहयतः, न हि सन्निहितं सर्पमजानानो बिभेति। न च—अर्थानवच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽतिप्रसङ्गादर्था- वच्छिन्नमेव ज्ञानं हेतुः, तथा चार्थोऽपि हेतुरेवेति वाच्यम्, अर्थावच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि अवच्छेदकस्यार्थस्य ताटस्थ्येनाहेतुत्वोपपत्तेः। (१) घटावच्छिन्नस्य तदत्यन्ताभावतद्ध्वंसादेर्घटदेशकालभिन्नदेशकालादित्वेऽप्यवच्छेदकस्य घटस्य तदभाववत्, (२) घटेच्छाब्रह्मज्ञानयोर्घटज्ञानवेदान्तसाध्यत्वेऽपि घटब्रह्मणोः तदभाववत्, (३) घटप्रागभावस्य घटं प्रति जकत्वेऽपि घटस्याजनकत्ववत्, (४) विशेषादर्शनस्य भ्रमं प्रति जनकत्वेऽपि विशेषदर्शनस्य तदभाववत्, (५) विहिताकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वेऽपि विहितकरणस्य तदभाववत्, (६) स्वर्गकामनाया यागजनकत्वेऽपि स्वर्गस्य तदजनकत्ववत्, (७) अतीतादिस्मृत्यादेर्दुःखादिजनकत्वेऽप्यतीतादेस्तदजनकत्ववत्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से सत्य जाना जाता है, धूमाभासादि से तो नहीं''इति। और मायाकल्पित हस्त्यादि तथा रज्जुसर्पादि का भयादिहेतुत्व इष्ट ही है, इसी प्रकार सूर्य के कल्पित सुषिर (छिद्र) का मरणसूचकत्व और शंकाविष का मरणहेतुत्व इष्ट ही है।

शंका — शंका—विष में शंका ही भय उत्पादित करके धातु में व्याकुलता का उत्पादन करने के कारण, शंका ही मरणहेतु है, किन्तु शंकित विष तो मरणहेतु नहीं; इसी प्रकार सूर्य का सुषिर, मायाकल्पित गजादियों का ज्ञान ही मरणसूचकत्वादि तत्तदर्थक्रियाकारी है, सवितृसुषिरादि अर्थ (ज्ञानविषय) भी तत्तदर्थक्रियाकारी नहीं, तब तो सर्वत्र उदाहृतस्थलों में ज्ञान ही हेतु है; और वह ज्ञानस्वरूप से सत्य ही है; और अन्वयव्यतिरेक भी ज्ञान की ही कारणता का ग्रहण कराते है (''सर्पज्ञाने सति भयसत्त्वम्, सर्पज्ञानाभावे भयाभावः'' इत्यादि अन्वयव्यतिरेक है), कारण कि सन्निहित सर्प को न जानने वाले को भय नहीं होता। यदि शंका हो कि अर्थानवच्छिन्न (अर्थविषयक) ज्ञान का हेतुत्व होने पर अतिप्रसङ्ग होने से अर्थविषयक ज्ञान ही हेतु है, अतः अर्थ भी हेतु ही है— तो ऐसा न कहिये; क्योंकि अर्थावच्छिन्न ज्ञान का हेतुत्व होने पर भी ज्ञान के अवच्छेदक अर्थात् उपाधिभूत अर्थ का ताटस्थ्य अर्थात् उपलक्षणत्व होने से अहेतुत्व हो सकता है; जैसे—(१) घटोपाधिक घटात्यन्ताभाव, घटध्वंसादि का घटदेश और घटकाल से भिन्न देशकालादित्व होने पर भी उपाधिभूतघट का घटदेशकाल से भिन्नदेशकालादित्व नहीं होता; (२) घटेच्छा और ब्रह्मज्ञान का क्रम से घटज्ञान और वेदान्त से साध्यत्व होने पर भी घट और ब्रह्म में घटज्ञान और वेदान्त में साध्यत्व का अभाव है; (३) घटप्रागभाव का घट के प्रति जनकत्व होने पर भी घट का घट के प्रति अजनकत्व होता है; (४) विशेष के अज्ञान का भ्रम के प्रति जनकत्व होने पर भी विशेष के ज्ञान का भ्रम के प्रति जनकत्वाभाव है, (५) विहिताकरण का प्रत्यवायजनकत्व होने पर भी विहितकरण का प्रत्यवायजनकत्व नहीं होता; (६) स्वर्गकामना का यागजनकत्व होने पर भी स्वर्गका यागजनकत्व नहीं होता; (७) अतीतादिविषयकस्मृति का दुःखादिजनकत्व होने पर भी अतीतादिविषयका दुःखादिजनकत्वाभाव होता है; (८) असद्विषयक

(८) असद्विषयकपरोक्षज्ञानस्य तद्व्यवहारहेतुत्वेऽप्यसतस्तदभाववत्, (९) चिकीर्षितघट–बुद्धेर्घटहेतुत्वेऽपि घटस्य तदहेतुत्ववत्, (१०) ब्रह्मज्ञानस्य तदज्ञाननिवर्तकत्वेऽप्युदा–सीनस्वभावस्य ब्रह्मणस्तदभाववत्, (११) ब्रह्माज्ञानस्य जगत्परिणामिकारणत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदभाववच्च। न च–तथापि मिथ्यार्थे ज्ञानव्यावर्तकताऽस्तीत्यसतोऽपि हेतुत्वमिति–वाच्यम्, न हि व्यावृत्तिधीहेतुत्वं व्यावर्तकत्वम्, किन्तु व्यावृत्तिधीहेतुधीविषय–त्वमेव, सत्यपि दण्डे तदज्ञाने व्यावृत्त्यज्ञानात्। अथावच्छेदकस्य मिथ्यात्वे अवच्छिन्नस्यापि तन्नियमः, न, तुच्छज्ञाने तुच्छवैलक्षण्ये च तुच्छत्वस्य, प्रातिभासिकाद्वैलक्षण्ये प्रातिभासिकत्वस्य, पञ्चमप्रकारायामात्मस्वरूपभूतायां वा अनिर्वचनीयाज्ञानस्य निवृत्तौ चतुर्थप्रकारानिर्वचनीयत्वस्य, पारमार्थिकात्मस्वरूपे तद्भिन्ने वा अनृतद्वैतस्या–भावेऽनृतत्वस्य चादर्शनात् तत्रावच्छेदकानामसदादीनां ताटस्थ्येऽत्रापि तथास्त्विति–चेत्। अत्रोच्यतेयदुक्तं ताटस्थ्यलक्षणमुपलक्षणत्वमेव सर्वत्रावच्छेदकस्येति, तन्न, विशेषणत्वे सम्भवत्युपलक्षत्वायोगात्। विशेषणत्वबाधपूर्वकत्वादुपलक्षणत्वकल्पनायाः, अन्यथा 'दण्डी

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

परोक्षज्ञान का असद्व्यवहार हेतुत्व होने पर भी असत् का असद्व्यवहारहेतुत्व नहीं होता; (९) चिकीर्षित घटबुद्धि का घटहेतुत्व होने पर भी घट का घटहेतुत्व नहीं होता; (१०) ब्रह्मज्ञान का ब्रह्माज्ञाननिवर्तकत्व होने पर भी उदासीनस्वभाव वाले ब्रह्मका ब्रह्माज्ञाननिवर्तकत्व नहीं होता; (११) और ब्रह्माज्ञान का जगत्परिणामिकारणत्व होने पर भी ब्रह्म का जगत्परिणामिकारणत्व नहीं होता, (इसी प्रकार से प्रकृत में भी ज्ञान के अवच्छेदक अर्थ का भी भयादिहेतुत्व नहीं होता)।

इसमें शंका हो– तो भी मिथ्यार्थ में ज्ञानव्यावर्तकता है अर्थात् ज्ञाननिष्ठ व्यावृत्तिविषयकधी जनकता है ('' रजतज्ञानम्'' इस ज्ञान में निष्ठ व्यावृत्ति को विषय करने वाली ''घटज्ञानाद्भिन्नम्'' इस बुद्धि की जनकता मिथ्यारजत में है); इसलिये मिथ्यार्थ का भी हेतुत्व है– तो यह कथन अनुचित है; क्योंकि व्यावृत्तिधी का हेतुत्व व्यावर्तकत्व नहीं, किन्तु व्यावृत्तिधी की हेतुधी का विषयत्व व्यावर्तकत्व है (''रजतज्ञानं घटज्ञानाद्भिन्नम्''इस व्यावृत्तिधी की हेतुभूत ''इदं रजतम्'' इम धी का विषयत्व व्यावर्तकत्व है, अर्थात् रजत व्यावर्तक है), क्योंकि ''दण्डी पुरुषः'' इसमें दण्ड रहने पर भी दण्ड का अज्ञान होने पर अदण्डी मे व्यावृत्ति का ज्ञान नहीं होता (अदण्डिप्रतियोगिक दण्ड्यनुयोगिकव्यावृत्ति का अज्ञान होता है)। फिर भी शंका हो कि अवच्छेदकरूप उपाधि का मिथ्यात्व होने पर अवच्छिन्न अर्थात् उपहित ज्ञान का भी मिथ्यात्व नियम है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण कि–तुच्छ ज्ञान और तुच्छविलक्षणत्व में तुच्छत्व, प्रातिभासिक मे विलक्षणत्व में प्रातिभासिकत्व, पञ्चम प्रकार अथवा आत्मस्वरूपभूत अनिर्वचनीयाज्ञाननिवृत्ति में चतुर्थप्रकारानिर्वचनीयत्व (न सत्, नाऽसत्, न सदसत्, न सदसद्विलक्षणमित्यात्मकानिर्वचनीयत्व) और पारमार्थिकात्मस्वरूपभूत अनृतद्वैताभाव में अथवा आत्मस्वरूपभिन्न अनृतद्वैताभाव में अनृतत्व दृष्टिगोचर नहीं होता, इस प्रकार उक्त उदाहरण स्थलों में अवच्छेदक असदादिकोंका ताटस्थ्य होने पर तो यहां प्रकृत में भी अर्थात् शंकितविषादि में भी शंकादि ही मरणकारणादि हो, विषादि नहीं।

समाधान – इसमें उत्तर दिया जाता है– सब स्थलों में अवच्छेदक का ताटस्थ्यरूप उपलक्षणत्व ही है–ऐसा जो कहा था, वह ठीक नहीं, क्योंकि विशेषणत्व सम्भव होने पर उपलक्षणत्व मानना अयुक्त है, कारण कि उपलक्षणत्व की कल्पना विशेषणत्वबाधपूर्विका होती

प्रैषानन्वाह', 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादावपि वेदे दण्डलौहित्यादेरुपलक्षणत्वात्, तदभावेऽपि अनुष्ठानप्रसङ्गः, 'सर्वादीनि सर्वनामानी'त्यत्र सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न स्यात्, 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यत्र जन्मनो ब्रह्मलक्षणत्वं न स्यात्, विशेषणार्थत्वेन तद्‌गुणसंविज्ञान–बहुव्रीहिसम्भवेऽप्युपलक्षणार्थत्वेनातद्‌गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिस्वीकारप्रसङ्गात्। एवं 'असिपाणयः प्रवेश्यन्ताम्' इत्यादिलौकिकप्रयोगेऽपि। प्रतिबिम्बादिज्ञानानां जनकत्वे च विशेषणतया प्रतिबिम्बादीनामपि जनकत्वे बाधाभावात् नोपलक्षणत्वपक्षो युज्यते, उदाहृतस्थलेषु सर्वत्र बाधकमस्त्येवेति विशेषः। तथा हि–प्रथमे घटदेशकालौ गृहीत्वा तद्भिन्नदेशकालत्वं तदत्यन्ताभावादौ ग्राह्यम्, घटस्यापि तत्सम्बन्धे तद्देशकालभिन्नदेश–कालत्वमेव व्याहतं स्यात्। द्वितीये त्विष्टापत्तिः, क्वचिद् घटज्ञानस्य घटेच्छाजनकत्ववद् घटं प्रत्यपि जनकत्वाद्, ब्रह्मणो वेदान्तसाध्यत्वे तु नित्यत्वविरोधः। तृतीये प्रागभाववद् घटस्य स्वजनकत्वे प्रतियोगिप्रागभावयोः समानकालीनत्वापत्तिः, स्वावधिकपूर्वत्व–घटितजनकत्वस्य स्वस्मिन् व्याहतत्वं च। चतुर्थे पञ्चमे च प्रतियोगितदभावयोः सहावृत्त्या भ्रमप्रत्यवाययोरनुत्पत्तिप्रसङ्गः। षष्ठे कामनावत् कामनाविषयस्य यागजनकत्वे तस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है, यदि विशेषणत्वबाधपूर्विका उपलक्षणत्व कल्पना नहीं होती है तो ''दण्डी होकर मैत्रावरुण को प्रैषमन्त्र और उसका उत्तररूप मन्त्र कहना चाहिये'' ''लोहितोष्णीग् धारण करके ऋत्विग् लोगों को प्रचरण करना चाहिये'' इत्यादि वेद में भी दण्ड और लौहित्यादि के उपलक्षणत्व का आपात् होने से दण्ड और लोहितोष्णीगादि के अभाव में भी विहितकर्मानुष्ठान का प्रसङ्ग होगा, ''सर्वादीनि सर्वनामानि'' इस पाणिनीय सूत्र में भी सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी और ''जन्माद्यस्य यतः'' इस व्याससूत्र में जगज्जन्म का ब्रह्मलक्षणत्व नहीं होगा, क्योंकि विशेषणार्थत्व रूप से तद्‌गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि का सम्भव होने पर भी उपलक्षणार्थत्व रूप से अतद्‌गुण संविज्ञान बहुब्रीहि के स्वीकार होने का प्रसङ्ग है (जिस अन्यपदार्थान्वयी समास में समासघटक पदार्थान्वय हो जाय तो वह तद्‌गुण संविज्ञान बहुब्रीहि है– जैसे ''लम्बकर्णमानय''; और उसमें समासघटक पदार्थान्वय न हो तो अतद्‌गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि है– जैसे ''दृष्ट सागरमानय'')। इसी प्रकार ''असिपाणयः प्रवेश्यन्ताम्'' इत्यादि लौकिक प्रयोग में भी ''असि'' अर्थात् खड्गादि का त्याग प्रसङ्ग होगा। और प्रतिबिम्बादिज्ञानों के बिम्बज्ञान के जनकत्व में विशेषणतारूप से प्रतिबिम्बादिकों के भी जनकत्व में बाधाभाव होने से उपलक्षणत्व पक्ष मानना अयुक्त है, उदाहरणस्थलों में तो सर्वत्र विशेषणत्व का बाधक होने से ही विशेष है अर्थात् उपलक्षणत्व है। तथाहि–प्रथम उदाहरण में घट के देश और काल को ग्रहण करके घटात्यन्ताभावादि में घटदेशकालभिन्न देशकालत्व ग्राह्य है; घटका भी घटदेशकाल से भिन्न देशकाल से सम्बन्ध होने पर घटदेशकालभिन्नदेशकालत्व का ही व्याघात होगा। द्वितीय में तो इष्टापत्ति, क्योंकि कहीं घटज्ञान सहकारितलाभस्थल में घटज्ञान का घटेच्छाजनकत्व के समान घट के प्रति भी जनकत्व है; और ब्रह्म का वेदान्त साध्यत्व होने पर तो नित्यत्व विरोध है। तृतीय में प्रागभाव के समान घट का स्वजनकत्व होने पर प्रतियोगी और प्रागभाव में समानकालीनत्व की आपत्ति होगी और स्वावधिक पूर्वत्व अर्थात् घटकालनियतपूर्वत्व से घटित जनकत्व अपने में (घट में) व्याहत है। चतुर्थ और पञ्चम में (दर्शन और अदर्शन, तथा करण और अकरण रूप) प्रतियोगी और उस के अभाव में सहवृत्ति न होने से भ्रम और प्रत्यवाय के अनुत्पत्तिरूप बाध का प्रसङ्ग है। षष्ठ में कामना के समान कामनाविषय स्वर्ग का यागजनकत्व

प्राक्सत्तया तत्कामनैव व्याहन्येत, सिद्धे इच्छाविरहात्। सप्तमे अतीतस्य जनकत्वे कार्याव्यवहितपूर्वकाले स्वस्वव्यापारान्यतरसत्त्वापत्तिः। अष्टमे असतो जनकत्वे निःस्वरूपत्वव्याघातः। नवमे चिकीर्षितघटज्ञानवत् स्वस्य जनकत्वे पूर्ववद् व्याघातः। दशमे उदासीनस्य ब्रह्मणो न निवर्तकत्वम्, स्वरूपत उपहितस्यैव वृत्तिविषयत्वेन तस्याविषयत्वात्, उपहितस्य च निवर्तकत्वमस्त्येव। एकादशे ब्रह्माज्ञानस्य परिणामिकारणत्वेऽपि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, कार्ये जडत्वोपलम्भात्। एवंविधबाधकबलेन तत्रोपलक्षणत्वस्वीकारात्। न च प्रकृते बाधकमस्ति, अव्यवहितदेशकालादिवृत्तित्वस्य प्रातिभासिकसाधारणत्वात्। इदानीमत्र सर्प इत्यादिप्रतीत्यविशेषात्। न हि क्वचिद् बाधकबलेन मुख्यपरित्यागः कृत इति सर्वत्र तथैव भविष्यति, उत्कर्षाद्यनुविधानाच्च। तथा हि—स्वप्ने जागरे चोत्कृष्टकलधौतदर्शनात् उत्कृष्टं सुखम् उत्कृष्टसर्पादिदर्शनाच्चोत्कृष्टं भयादि दृश्यते, विषयस्याकारणत्वे तदुत्कर्षानुविधानं कार्ये न स्यात्, न ह्यकारणोत्कर्षः कार्यमनुविधत्ते इति न्यायात्। न च ज्ञानप्रकर्षादेव तत्प्रकर्षः, ज्ञानेऽपि विषयगतप्रकर्षं विहायान्यस्य प्रकर्षस्याभावात्। अथ ज्ञानगता जातिरेव प्रकर्षः, न, चाक्षुषत्वादिना

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने पर याग से पहले स्वर्ग की सत्ता होने से स्वर्ग कामना ही व्याहत हो जायेगी; क्योंकि सिद्ध (प्राप्त) अर्थ में प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती। सप्तम में — अतीत पदार्थ का दुःखादिजनकत्व होने पर कार्य से अव्यवहित पूर्वकाल में स्व (अतीत पदार्थ) और स्वव्यापार में अन्यतर की सत्तापत्ति है। अष्टम में— असत् का जनकत्व होने पर निःस्वरूपत्व का व्याघात है। नवम में—चिकीर्षितघटज्ञान के समान घट का स्वजनकत्व होने पर स्वोत्पत्तिनियतपूर्ववृत्तित्वप्रसङ्गरूप व्याघात है। दशम में— उदासीन ब्रह्म का अज्ञाननिवर्तकत्व नहीं, क्योंकि स्वरूप से उपहित ब्रह्म ही वृत्तिविषय होने से शुद्ध उदासीन ब्रह्म का वृत्तिविषयत्व नहीं, और उपहित का तो अज्ञाननिवर्तकत्व है ही। एकादश में— ब्रह्मज्ञान का परिणामिकारणत्व होने पर भी ब्रह्म का जगत्परिणामिकारणत्व नहीं, क्योंकि कार्य में जड़त्व उपलब्ध है। इस प्रकार एवंविध बाधकों के बल से उदाहृत एकादशस्थलों में उपलक्षणत्व का स्वीकार है; और प्रकृत में अर्थात् मिथ्याज्ञानविषय रजतादि के विशेषणत्व का स्वीकार है; और प्रकृत में अर्थात् मिथ्याज्ञानविषय रजतादि के विशेषणत्व में तो कोई बाधक नहीं, तब तो उसमें जनकत्व भी है, कारण कि " इस समय यहां सर्प है" इत्यादि प्रतीति के अविशेष होने से अव्यवहित देशकालादि में वृत्तित्व प्रातिभासिक पदार्थों का व्यावहारिक पदार्थ के साथ साधारण है। अतीत धूमादिलिङ्ग स्थल में बाधकबल से कारणत्व ग्रह में ज्ञानविषयरूपविशेषण (मुख्य अर्थात् धूमादि) का परित्याग किया जाता है; इसलिये सब स्थलों में प्रतिबिम्बादि से बिम्बानुमानादिस्थ मुख्यत्वरूप विशेषण में प्रतिबिम्बादि का परित्याग अवश्य ही होना चाहिये—ऐसा नहीं होता। और कार्य में उत्कर्षादि का अनुविधान होने से भी मिथ्यावस्तु में कारणत्व है; तथाहि—स्वप्न और जागृत दोनों अवस्था में उत्कृष्ट रजत के दर्शन से उत्कृष्ट सुख और उत्कृष्ट सर्पादि के दर्शन से उत्कृष्ट भयादि देखा जाता है, विषय का अकारणत्व होने पर विषयोत्कर्षानुविधान कार्य में होना नहीं चाहिये। क्योंकि "अकारण के उत्कर्ष का कार्य में अनुविधान नहीं होता" यह नियम है। और ज्ञान के प्रकर्ष से ही कार्य का प्रकर्ष भी नहीं, कारण कि ज्ञान में भी विषयगत प्रकर्ष को छोड़कर अन्य के उत्कर्ष का अभाव है। तथा ज्ञानगत जाति ही उत्कृष्टत्व नहीं; क्योंकि चाक्षुषत्वादि के साथ संकर का प्रसङ्ग है (परस्परात्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरण में निष्ठ

सङ्करप्रसङ्गाद्, विषयप्रकर्षेणैवोपपत्तौ चाक्षुषत्वादिव्याप्यनानाजात्यङ्गीकारे गौरवान्माना- भावाच्च। किञ्च ज्ञानस्य भयादिजनकत्वे सर्पाद्यवच्छिन्नत्वमेव कारणतावच्छेकमास्थेयम्। ज्ञानत्वेन जनकत्वे अतिप्रसङ्गात्। तथा च मिथ्यार्थावच्छिन्नत्वाकारेण ज्ञानस्य मिथ्यात्वाद् भ्रमस्थले ज्ञानमात्रस्य जनकत्वेऽपि मिथ्याभूतस्य जनकत्वमागतमेव जनकतावच्छेदकरूपेण च मिथ्यात्वे रूपान्तरेण सत्त्वमप्यसत्त्वात् नातिरिच्यते; अनुपयोगात्। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—'अन्यदा सत्त्वं तु पाटच्चरलुण्ठितवेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुसरती'ति। स्वरूपेणापि तु भ्रमज्ञानस्य मिथ्यात्वमस्त्येव, स्वरूपतो बाधाभावे विषयतोऽप्यबाधप्रसङ्गात्। न च गुणजन्यत्वमुपाधिः, तस्याप्यापाद्यत्वेन वह्न्यनुमाने वह्निसामग्र्या इव साधनव्यापक- त्वेनानुपाधित्वाद्, विषय इव मिथ्यात्वप्रयोजकदोषादिसमवहितसामग्र्या ज्ञानेऽपि अविशेषाच्च। तुच्छज्ञानतद्वैषम्यादौ च तुच्छत्वादर्शनमबाधकम्, अवच्छेद्यावच्छेदकयोः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

धर्मद्वय के एकाधिकरण में समावेश का नाम सङ्कर है, जैसे प्रकृत में—श्रावणपक्ष में चाक्षुषत्वात्यन्ताभाव के साथ श्रावणत्वरूप उत्कृष्टत्व है, और "इदं रजतम्" इस ज्ञान में उत्कृष्टत्वात्यन्ताभाव के साथ चाक्षुषत्व है, और उत्कृष्टत्व और चाक्षुषत्व दोनों का "इयं शुक्तिः" इस ज्ञान में समावेश है। अतः दोनों में साङ्कर दोष है); और विषयप्रकर्ष से कार्यप्रकर्ष का सम्भव होने पर चाक्षुषत्वादि की व्याप्य उत्कृष्टत्वादि अन्यजाति के अङ्गीकार में गौरव और मानाभाव है। इसके अतिरिक्त—ज्ञान के भयादिजनकत्व में सर्पादिविषयकत्व ही कारणतावच्छेदक मानना चाहिये; क्योंकि ज्ञानत्वेन जनकत्व होने पर घटादिज्ञान से भयाद्युद्भवरूप अतिप्रसङ्ग है। तब तो मिथ्यार्थावच्छिन्नत्वरूप से (मिथ्यार्थ विषयकत्वरूप से) ज्ञान का मिथ्यात्व होने से भ्रमस्थल में ज्ञानमात्र का जनकत्व मानने पर भी मिथ्याभूत (ज्ञानरूप अर्थ) का जनकत्व आ ही जाता है। और जनकतावच्छेदकरूप से मिथ्यात्व स्वीकृत होने पर रूपान्तर से अर्थात् ज्ञातत्वरूप से सत्त्व भी असत्त्व से अतिरिक्त नहीं, कारण कि उसका उपयोग नहीं होता। इसलिये खण्डनकार ने इस बात को कहा है—"अतीतानागतकालीन सत्त्व तो चोरों से लूटे गये गृह में चौकीदार के जागरण—वृतान्त का अनुसरण करता है अर्थात् व्यर्थ ही है" इति। और स्वरूप से भी तो भ्रमज्ञान का मिथ्यात्व है ही (इसी से यह अनुमान हुआ भ्रमज्ञानं स्वरूपतो मिथ्या, बाध्यविषयत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा घटज्ञानम्), क्योंकि भ्रमज्ञान का स्वरूपतः बाधाभाव होने पर विषयतः भी अबाधप्रसङ्ग है— (अर्थात्— भ्रमज्ञानं अबाधितविषयकम्, स्वरूपतो बाधाभावात्, घटज्ञानवत्— ऐसा प्रसङ्ग होगा)। इस द्वितीय अनुमान में गुणजन्यत्व (इन्द्रिय—सन्निकर्षादिजन्यत्व) उपाधि नहीं हो सकती; (यहां पूर्वपक्षी का कहना है कि दृष्टान्त घटज्ञान में अबाधितविषयकत्व साध्य के साथ गुणजन्यत्व होने से उपाधि का साध्यव्यापकत्व है, और भ्रमज्ञानरूप पक्ष में हेतु है; किन्तु गुणजन्यत्व उपाधि न होने से साधनाव्यापकत्व है; अतः गुणजन्यत्व उपाधि है। इस उपाधि का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती आगे कहते हैं), क्योंकि भ्रमज्ञानरूप पक्ष में स्वरूपतः बाधाभाव की अन्यथानुपपत्ति से गुणजन्यत्व भी अवश्य आपाद्य है, अतः "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस वह्नि के अनुमान में जिस प्रकार इन्धनादि वह्निसामग्री का साधनव्यापकत्व होने से उपाधित्व नहीं, उसी प्रकार गुणजन्यत्व पक्ष में आपाद्य होने के कारण साधनव्यापक होने से उपाधि नहीं हो सकता। और जैसे विषय में मिथ्यात्व की प्रयोजक दोषादि सहित अविद्यारूप सामग्री है, वैसे ही उस सामग्री का भ्रमज्ञान में भी अविशेष है (अतः भ्रमज्ञान भी स्वरूपतः मिथ्या ही है)। तुच्छज्ञान और तुच्छ वैषम्यादि में

सर्वत्र सारूप्यनियमानभ्युपगमात्, प्रकृते चावच्छेदक इवावच्छेद्येऽपि मिथ्यात्वप्रयोजक—रूपतुल्यत्वेन सारूप्योपपत्तेः। सर्वसाधारणं चैकं कारणत्वमभ्युपगम्यैतदवोचाम। वस्तुतस्तु—दण्डतन्त्वादिसाधारणमेकं कारणत्वं नास्त्येव, यत्र तव सत्त्वमवच्छेदकं, तत्र (न) मम तुच्छविलक्षणत्वादिकम्, किन्तु कार्यतावच्छेदकं घटत्वपटत्वादि, कारणतावच्छेदकं च दण्डत्वतन्तुत्वादि, तद्भेदाच्च कारणत्वं भिन्नम्। यथा गोगवयसादृश्यमन्यद् भ्रातृभगिन्यादिसादृश्यमन्यत्, तत्र नैकमवच्छेदकम्, किन्तु गवयत्वभगिनीत्वादिकमेव, तद्वदत्रापि दण्डत्वादिकमेव सत्त्वासत्त्वोदासीनमवच्छेदकं वाच्यम्। तथा च जनकत्वाजनकत्वानुसारेण न सत्त्वासत्त्वसिद्धिः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

'पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुसत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा।।' इति
अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः।।' इति च।

न चैवम्,

अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः।। 'इति

तवापि समानमिति—वाच्यम्, ममाधिष्ठाने स्वरूपत एव सत्ताङ्गीकारः, तव तु

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

तुच्छत्व का अदर्शन प्रकृत में बाधक नहीं, क्योंकि व्यावर्त्य और व्यावर्तक में सर्वत्र सारूप्यनियम नहीं माना जाता, और प्रकृत मिथ्याज्ञान में तो, अवच्छेदक रजतादिवत् अवच्छेद्य रजतादिज्ञान में भी मिथ्यात्व का प्रयोजक दोषादिसहकृतसामग्रीजन्यत्व तुल्य होने से, दोनों में सारूप्य हो सकता है। सर्वसाधारण एक कारणत्व को मानकर यह बात कही गई है। वस्तुतः तो दण्ड, तन्त्वादि में साधारण एक कारणत्व है ही नहीं; जहां आपके मत में सत्त्व कारणतावच्छेदक है, वहां हमारे मत में तुच्छविलक्षणत्वादिक है, किन्तु कार्यतावच्छेदक घटत्व—पटत्वादि हैं, और कारणतावच्छेदक दण्डत्व—तन्तुत्वादि हैं। और दण्डत्वतन्त्वादि के भेद से कारणत्व भी भिन्न है। जैसे— गवय में गौ का सादृश्य अन्य है और भगिन्यादि में भ्राता का सादृश्य अन्य है, उस सादृश्य में अवच्छेदक एक नहीं किन्तु गवयत्व, भगिनीत्वादिक ही है, उसी प्रकार यहां भी सत्त्वासत्त्व से उदासीन दण्डत्वादिक को ही अवच्छेदक कहना चाहिये। तब तो जनकत्व और अजनकत्व के अनुसार सत्त्व और असत्त्व की सिद्धि नहीं। इस बात को खण्डनकार ने कहा है— "अनन्यथासिद्धत्व होने पर कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व— नियमरूप हेतुत्व हम दोनों के पक्ष में तुल्य होने पर हेतुसत्त्व के बहिर्भूत सत्त्व और असत्त्व की कथा व्यर्थ है" इति। इसी प्रकार " यदि सत्ता को कारण कोटि में अन्तर्भाव करके सत्ताविशिष्ट कारण हो तो सत्ता को कारण मानने से, कारण असत् ही सिद्ध होगा (क्योंकि "यत् कारणं, तत् सत्" इस मान्यतानुसार सत्ता में भी सत्ता लानी होगी, तब तो अनवस्था होगी, अतः असत् सत्ता को कारण मानना होगा) और यदि सत्ता को कारण कोटि में अन्तर्भाव न करके सत्तोपलक्षित कारण है, तब तो सत्ताबहिर्भूत को कारण मानने से, कारण असत् ही सिद्ध होगा" इति।

शंका — वैसे ही—" यदि सत्ता को अधिष्ठान कोटि में अन्तर्भाव करके सत्ताविशिष्ट अधिष्ठान है, तो सत्ता को अधिष्ठान मानने से अधिष्ठान असत् ही सिद्ध होगा। और यदि सत्ता

कारणे स्वरूपातिरिक्तसत्ताङ्गीकार इति विशेषात्। यत्तु अर्थो न ज्ञानस्य जनकतायामवच्छेदकोऽपि, मानाभावात्। न चातिप्रसङ्गः, विषयावच्छेदकमनपेक्ष्यैव सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्व्यावृत्तिसिद्धेः। तथा हि—सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्व्यावृत्तिर्व्यावर्तकाधीना। न च विषयस्तत्सम्बन्धो वा व्यावर्तकः, स्वरूपातिरिक्तद्विष्ठसम्बन्धाभावात्, असंबद्धस्य चाव्यावर्तकत्वात्। अथ संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टव्यवहारजननयोग्यं ज्ञानस्वरूपमेव वा ज्ञानमात्रनिष्ठः कश्चिद्धर्मो वा सम्बन्धः, तर्हि विषयमनन्तर्भाव्यैव ज्ञानात्तद्गतधर्माद्वा विशेषसिद्धिरित्यायातम्।

किञ्च सर्पज्ञानमसर्पज्ञानाद्धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्षणम्, तज्जनकविलक्षणजन्यत्वात्, यवाङ्कुरात् कलमाङ्कुरवत्, तज्जन्यविलक्षणजनकत्वाद्वा, यवबीजात्कलमबीजवत्। न च विलक्षणविषयसम्बन्धेनैव हेत्वोरुपपत्तावप्रयोजकत्वम्, तथात्वे हि यवबीजतदङ्कुरविलक्षणजन्यजनके कलमाङ्कुरतद्बीजेऽपि यवाङ्कुरतद्बीजाभ्यां कलमाङ्कुरतद्बीजत्वरूपस्वाभाविकवैलक्षण्यं विना कदाचिदुपलक्षणीभूतचैत्रादिसम्बन्धित्वमात्रेण

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

को अधिष्ठान कोटि में अन्तर्भाव न करके सत्ता से उपलक्षित अधिष्ठान है, तो सत्ताबहिर्भूत को अधिष्ठान मानने से अधिष्ठान असत् ही सिद्ध होगा।'' इस रीति से तुम्हारे मत में भी यह बात समान है।

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि हमारे मतानुसार अधिष्ठान में स्वरूप से ही सत्ता का अङ्गीकार है अर्थात् अधिष्ठान सद्रूप ही है; और तुम्हारे मतानुसार तो कारण में स्वरूप के अतिरिक्त सत्ताजाति का अङ्गीकार है— यही विशेष है। और तो अर्थ अर्थात् विषय ज्ञान की जनकता में अवच्छेदक भी नहीं, क्योंकि उसमें प्रमाण नहीं। और उसमें अति प्रसङ्ग भी नहीं, क्योंकि विषयरूप अवच्छेदक की अपेक्षा किये बिना ही सर्पज्ञान की असर्पज्ञान से व्यावृत्तिसिद्धि हो सकती है। तथाहि—सर्पज्ञान की असर्पज्ञान से व्यावृत्ति व्यावर्तक के अधीन है, और ज्ञान का विषय अथवा विषयसम्बन्ध व्यावर्तक नहीं, क्योंकि ज्ञानस्वरूप से अतिरिक्त द्विष्ठ अर्थात् एकानुयोगिकापरप्रतियोगिक सम्बन्ध का अभाव है, और असंबद्ध विषय का अव्यावर्तकत्व है। यदि कहो कि— सम्बन्धान्तर के बिना ''सर्पज्ञानम्'' इस प्रकार विशिष्टव्यवहारजननयोग्य ज्ञानस्वरूप ही अथवा ज्ञानमात्रनिष्ठ कोई एक (विषयताविशेषरूप) धर्म ही सम्बन्ध है; तो विषय को अन्तर्भाव किये बिना ही ज्ञान से अथवा ज्ञानगतविषयताविशेषरूप धर्म से विशेष अर्थात् व्यावृत्ति की सिद्धि है— यह आया।

किञ्च—सर्पज्ञान असर्पज्ञान से धर्म्यन्तरसम्बन्ध की अपेक्षा के बिना विलक्षण है। (स्वविषयसंबन्ध की अपेक्षा के बिना विलक्षण है— यहां स्वपद से सर्पज्ञान ग्राह्य), तज्जनकविलक्षण से अर्थात् असर्पज्ञान जनकभिन्न से जन्यत्व होने से, जैसे यवांकुर से कलमाकुंर विलक्षण है (कलम एक धान्यविशेष है; कलमांकुर—दृष्टान्त में हेतु का समन्वय इस प्रकार करना चाहिये— तज्जनक विलक्षण= यवाकुंरजनकयवबीजभिन्नकलमबीज से, जन्यत्व कलमांकुर में है) अथवा तज्जन्य विलक्षणजनकत्व होने से, जैसे यवबीज से कलमबीज विलक्षण है (पक्ष में हेतु का समन्वय—असर्पज्ञानजन्यभयरहितत्वादि से विलक्षण भययुक्तत्वादि का जनकत्व, और दृष्टान्त में—यवबीजजन्य यवांकुर से विलक्षण कलमांकुर का जनकत्व लेना चाहिये)।

शंका— विलक्षण विषय सम्बन्धरूप हेतु से ही साध्यसिद्धि सम्भव होने पर उपरिकथित

विलक्षणे स्याताम्। साक्षात्कारोऽपि परोक्षज्ञानादन्यसम्बन्धितामात्रेण विलक्षणः स्यात्। एवं च यथा प्रतियोगिनमनन्तर्भाव्यैव घटस्याभावोऽभावान्तरात्, यथा च विषयमनन्तर्भाव्यैव शिलोद्धरणकृतिर्माषोद्धरणकृतितः, यथा चातीतादिज्ञानमसद्विषयकपरोक्षज्ञानव्यवहारौ च ज्ञानान्तरादितः, अन्यथा तत्तत्कार्यसङ्करः स्यात्, एवं सर्पज्ञानमपि रज्जौ सर्पज्ञानस्य भ्रमत्वेनाधिकजन्यत्वेऽपि सर्पज्ञानत्वेन तद्धेतुजन्यत्वात् स्वत एव वा असर्पज्ञानाद्विलक्षणमिति न कोऽपि दोषः। न चाभावादावपि प्रतियोग्यादेरवच्छेकत्वं, ध्वंसादेः कृतेरतीतादिज्ञानस्य च सत्तासमये प्रतियोगिविषययोरसत्त्वादिति। तन्न, सर्पज्ञानत्वावच्छिन्नस्यासर्पज्ञानाद् व्यावृत्तौ प्रयोजकं न तत्तत्स्वरूपमेव, सर्पज्ञानसाधारण्याभावात्, किन्त्वनुगतो धर्मः कश्चित्। सोऽपि सर्पज्ञानमात्रे न जातिरूपः, प्रत्यक्षत्वानुमानत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्, किन्तूपाधिरूपः। स च स्वरूपसम्बन्धेनाध्यासिकसम्बन्धेन वा सम्बन्धिभूतविषयादन्यो न भवति, मानाभावात्। अत एव धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्षणमित्युक्तानुमानं बाधितं द्रष्टव्यं व्यभिचारि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

दोनों हेतुओं का अप्रयोजकत्व (असाधकत्व) है, तो यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि विलक्षणविषयसम्बन्ध का हेतुत्व होने पर यवबीज और यवांकुर से विलक्षण जन्य कलमांकुर और विलक्षणजनक कलमबीज ये दोनों भी यवांकुर और यवबीज दोनों से कलमांकुरत्व और कलमबीजत्व रूप स्वाभाविक विलक्षणत्व के बिना कदाचित् उपलक्षणीभूत चैत्रादि के साथ संबन्धित्व (सम्बन्ध) मात्र से विलक्षण होने का प्रसङ्ग आयेगा। और साक्षात्काररूप ज्ञान भी परोक्षज्ञान से चैत्रादिसंबन्धितामात्र से विलक्षण होगा। इसी प्रकार—जैसे प्रतियोगी को अन्तर्भाव किये बिना ही घट का अभाव अभावान्तर से, और जैसे—विषय को अन्तर्भाव न करके ही शिलोद्धरण का प्रयत्न भाषोद्धरण के प्रयत्न से, और जैसे—अतीतादिज्ञान, असद्विषयक परोक्षज्ञान और असद्विषयक व्यवहार वर्तमान ज्ञानान्तरादि से विलक्षण है; उन सबमें विलक्षणत्व नहीं है तो उनके कार्यों में सङ्करापत्ति होगी; इसी प्रकार सर्पज्ञान भी स्वविषय को अन्तर्भाव किये बिना असर्पज्ञान से विलक्षण है; कारण कि रज्जु में सर्पज्ञान भ्रम होने से अधिक हेतुजन्य अर्थात् दोषसहकृताज्ञानसामग्रीजन्य होने पर भी सर्पज्ञानत्वरूप से सर्पज्ञानहेतुजन्य होने से असर्पज्ञान से विलक्षण है, अथवा स्वतः ही असर्पज्ञान से विलक्षण है; इसकारण कोई दोष नहीं। और अभावादि में भी प्रतियोग्यादि का अवच्छेदकत्व नहीं, क्योंकि ध्वंसादि, कृति और अतीतादिज्ञान के विद्यमान समय में प्रतियोगी और विषय अवर्तमान है।

समाधान— यह उचित नहीं, क्योंकि सर्पज्ञानत्वावच्छिन्न यावत्सर्पज्ञान की असर्पज्ञान से व्यावृत्ति में तत्तत् सर्पज्ञानस्वरूप ही प्रयोजक नहीं हो सकता, कारण कि सर्वसर्पज्ञान में वह स्वरूप साधारण नहीं, किन्तु अनुगत कोई एक धर्म अर्थात् सर्पविषयता ही प्रयोजक है; वह धर्म भी सर्पज्ञान मात्र में जातिरूप नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षत्व, अनुमानत्वादि से सङ्कर का प्रसङ्ग है, (संकर इस प्रकार है—प्रत्यक्षत्वात्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरण होकर सर्पविषयतारूपधर्म सर्पानुमिति में है; और सर्पविषयतारूपधर्मात्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरण होकर प्रत्यक्षत्व घटप्रत्यक्षज्ञान में है; और सर्पविषयतारूप धर्म तथा प्रत्यक्षत्व दोनों का "अयं सर्पः" इस ज्ञान में समावेश है। इसी प्रकार सर्पानुमितिज्ञान में अनुमितित्व और सर्पविषयतारूपधर्म दोनों का समावेश है। अतः प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्वादि में सर्पविषयता का संकर है); किन्तु वह धर्म उपाधिरूप है; और वह उपाधिरूप सर्पविषयता धर्म स्वरूपसम्बन्ध से अथवा आध्यासिक सम्बन्ध से संबन्धिभूत विषय से

च। तथा हि— घटसंयोगः, पटसंयोगान्न जात्या भिद्यते, तदवृत्तिजात्यनधिकरणत्वात्, किन्तु घटरूपोपाधिनैवेति धर्म्यन्तरसम्बन्धमपेक्ष्यैव विलक्षणे घटसंयोगत्वावच्छिन्ने साध्याभाववति उक्तहेतुसत्त्वाद् व्यभिचारः, अप्रयोजकश्च। न च—उपलक्षणीभूतचैत्रसम्बन्धे— नापि कलमाङ्कुरादेर्व्यावृत्ततापत्तिः, विपक्षबाधा इष्टापत्तेः। न हि जातेर्व्यावर्तकत्वे उपाधिरव्यावर्तको भवति। एवं शिलोद्धरणमाषोद्धरणकृत्योः परस्परं जात्या व्यावृत्तावपि विषयरूपोपाधिनापि व्यावृत्तिरविरुद्धा। शिलोद्धरणे च जातिविशेषविशिष्टयाः कृतेर्जनकत्वेन तद्रहिताया माषोद्धरणकृतेस्तदनिष्पत्तिरविरुद्धा। व्यावृत्तेरन्यतोऽपि सिद्धिसम्भवे कार्यकारणभावादिनिर्वाहाय जातिविशेषस्यापि कल्पनात्, अतीतासद्विषयकज्ञानव्यवहारादौ चातीतासतोरेव व्यावर्तकत्वम्। न हि व्यावृत्तिधीजनकत्वं तत्, येन सत्त्वाभावे प्राक्सत्त्वशरीरतया न स्यात्, किन्तु व्यावृत्तिधीजनकधीविषयत्वमित्युक्तम्। तच्चातीतादौ सुलभमेव। अत एवाभावादिनिदर्शनमपि निरस्तम्, उक्तरूपव्यावर्तकत्वस्यात्यन्तासत्यपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अन्य नहीं, क्योंकि अन्य होने में प्रमाण नहीं। इस प्रकार सर्पज्ञानव्यावर्तकधर्म सर्परूपविषयमात्र होने से '' सर्पज्ञान असर्पज्ञान से धर्म्यन्तरसंबन्ध की अपेक्षा किये बिना विलक्षण है'' यह अनुमान बाधित समझना चाहिये, और यह व्यभिचारी भी है। तथाहि— घटसंयोग पटसंयोग से संयोगत्वजाति से भिन्न नहीं, क्योंकि उसमें (घटसंयोग में) पटसंयोग में अवृत्तिजाति का अनधिकरणत्व है, किन्तु घटरूप उपाधि से ही वह भिन्न मालूम होता है— इस प्रकार घटरूप धर्म्यन्तरसंबन्ध की अपेक्षा करके ही विलक्षण और साध्याभाववान् (धर्म्यन्तरसंबन्धमनपेक्ष्य विलक्षणत्वसाध्य का अभाववान्) घटसंयोगत्वावच्छिन्न घटसंयोग में उक्त हेतु (तज्जनकविलक्षणजन्यत्व अथवा तज्जन्यविलक्षणजनकत्व) का सत्त्व होने से (क्योंकि घट संयोग में पटसंयोगजनक से विलक्षण अर्थात् भिन्न द्वारा जन्यत्व है अथवा पटसंयोगजन्य कार्य से विलक्षण कार्य का जनकत्व है) व्यभिचार है; और हेतु अप्रयोजक भी है अर्थात् विपक्षबाधकतर्क रहित है।

शंका — तब तो, विलक्षणविषय सम्बन्ध को हेतु मानोगे तो उपलक्षणीभूत चैत्र के सम्बन्ध से भी कलमांकुरादि की व्यावृत्ततापत्ति है।

समाधान — नहीं, क्योंकि विपक्षवृत्तित्व शंकानिवृत्ति के लिये हो, तो इष्टापत्ति है (उपलक्षणीभूत चैत्रादिरूप विलक्षण विषय को विपक्ष मानकर उक्तचैत्रादि विलक्षण विषय सम्बन्धित हेतुका कलमांकुर में सत्त्व होने पर भी उस हेतु से कलमांकुर में यवांकुर विलक्षणत्व की असिद्धि से विपक्षवृत्तित्व शंका होने पर, उस शंका की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् चैत्रादिसंबधित्व से यवांकुर से व्यावृत्ति हो सकती है) और जाति का व्यावर्तकत्व होने पर उपाधि अव्यावर्तक नहीं होती। इसी प्रकार शिलोद्धरणकृति और भाषोद्धरणकृति की परस्पर उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वरूप जाति से व्यावृत्ति होने पर विषयरूप (शिला और भाष रूप) उपाधि से भी व्यावृत्ति अविरुद्ध है। और शिलोद्धरण में उत्कृष्टत्वरूपजातिविशेषविशिष्ट कृति का जनकत्व होने से उस उत्कृष्टत्व जाति विशेष रहित भाषोद्धरणकृति से शिलोद्धरण की अनिष्पत्ति अविरुद्ध है। व्यावृत्ति की अन्य से अर्थात् तत्तद्विषयरूपावच्छेदक से सिद्धि सम्भव होने पर कार्यकारणभावादि के निर्वाहार्थ जाति विशेष की भी कल्पना है, और अतीतविषयक और असद्विषयक ज्ञान के व्यवहारादि में अतीत और असत् दोनों का ही व्यावर्तकत्व है, क्योंकि व्यावृत्तिधीजनकत्व व्यावर्तकत्व नहीं, जिससे उनके सत्ताभाव होने पर जनकत्व का प्राक्सत्त्वघटित स्वरूपत्वेन अतीत

सम्भवेन कदाचित् सति सम्भवस्य कैमुतिकन्यायसिद्धत्वात्। ननु—विषयस्य व्यावर्तकत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणत्वासम्भवादुपलक्षणत्वमेव वाच्यम्, उपलक्षणेन चोपलक्ष्यगतस्वसम्बन्ध—व्यतिरिक्तः कश्चिद्धर्म एवोपस्थाप्यते, काकेनेव गृहसम्बन्धिना तद्गतसंस्थानविशेषः, तथा च स एव व्यावर्तक इति विषयसम्बन्धमनपेक्ष्य स्वगतेनैव धर्मेण ज्ञानस्य व्यावृत्तिरिति—चेन्न, विषयस्य विशेषणत्ववदुपलक्षणत्वस्याप्यनभ्युपगमात्। येन हि स्वोपरागाद्विशेष्ये व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते, तद्विशेषणं व्यावृत्तिबुद्धिकाले विशेष्योपरञ्जकमित्यर्थः, यथा गोत्वादि। येन न स्वोपरागमुदासीनं कुर्वता विशेष्यगतव्यावर्तकधर्मोपस्थापनेन व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते तदुपलक्षणम्, यथा काकादि। यत्तु—विशेष्ये नोपरञ्जकम्, न वा धर्मान्तरोपस्थापकम्, अथ च व्यावर्तकं तदुपाधिः, यथा पङ्कजशब्दप्रयोगे पद्मत्वम्, यथा वोद्भिदादिशब्दप्रयोगे यागत्वावान्तरजातिविशेषः। अत्र हि पद्मत्वयागत्वावान्तरधर्मो पङ्कजनिकर्तरि फलोद्भेदनकर्तरि च न धर्मान्तरमुपस्थापयतः, अप्रतीतेः, न वा स्वोपरक्तां बुद्धिं जनयतः, समुदाये शक्त्यन्तरानभ्युपगमात्, अथ च कुमुदज्योतिष्टोमादिभ्यो व्यावर्तकावित्युपाधी एव। इदं च प्राभाकराणां भाट्टानां च संमतमुदाहरणयुगलम्। तार्किकाणां त्वाकाशशब्दप्रयोगे शब्दाश्रयत्वमुदाहरणम्। अत एवाविद्यादिक

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

और असत् का व्यावर्तकत्व न हो जाय, किन्तु व्यावृत्तिधी जनकधीविषयत्व ही व्यावर्तकत्व है और वह तो अतीतादि पदार्थ में सुलभ है। इस प्रकार व्यावृत्तिधीजनकधीविषयत्व ही व्यावर्तकत्व होने से अभावादि का उदाहरण भी निरस्त हुआ, क्योंकि व्यावृत्तिधीजनकधीविषयत्वरूप व्यावर्तकत्व का असत् में भी सम्भव होने से कदाचित प्रतियोगिरूप सत् में सम्भव कैमुक्तिकन्याय से सिद्ध है।

शंका — विषय का व्यावर्तकत्व होने पर भी सर्वस्थलों में विशेषणत्व असम्भव होने से उपलक्षणत्व ही कहना चाहिये। और उपलक्षण से उपलक्ष्यगत और उपलक्षण सम्बन्ध व्यतिरिक्त कोई एक धर्म उपस्थापित किया जाता है, जैसे गृहसम्बन्धी काक से गृहगत उत्तृणत्वादि रूप संस्थान विशेष उपस्थापित होता है, तब तो वह संस्थानविशेष ही व्यावर्तक होने से विषयसम्बन्ध की अपेक्षा न करके ज्ञानगत धर्म से ही ज्ञान की व्यावृत्ति है।

समाधान— नहीं, क्योंकि विषय का विशेणत्व जिस प्रकार सर्वत्र नहीं माना जाता, उसी प्रकार उपलक्षणत्व भी नहीं माना जाता, क्योंकि जिससे स्वोपराग (स्वसम्बन्ध) को लेकर विशेष्य में व्यावृत्तिबुद्धि उत्पन्न की जाती है, वह विशेषण है अर्थात् व्यावृत्तिधी काल में विशेष्य में उपरञ्जक है (व्यावृत्तिधी विशेष्य में भासमान होता हुआ व्यावृत्तिधीकाल में विद्यमान है), जैसे गोत्वादि। और जिससे अपने उपराग को उदासीन करता हुआ विशेष्यगत व्यावर्तक धर्म के उपस्थापन से व्यावृत्तिबुद्धि उत्पन्न की जाती है, वह उपलक्षण है, जैसे काकादि। और जो विशेष्य में न उपरञ्जक है, या न धर्मान्तरोपस्थापक है, तो भी व्यावर्तक है, वह उपाधि है, जैसे पङ्कज शब्द जन्य अनुभव में पद्मत्व अथवा जैसे उद्भिदादिशब्दजन्य अनुभव में यागत्व का अवान्तर जातिविशेष (यह ''उद्भिदा यजेत'' इस विधि से सिद्ध है)। क्योंकि यहां पर पद्मत्व और यागत्वावान्तर धर्म दोनों ही पङ्क से उत्पत्ति के कर्त्ता में और फलोत्पादन के कर्त्ता में धर्मान्तर को उपस्थापित नहीं करते, क्योंकि उपस्थापना की प्रतीति नहीं; अथवा ये दोनों धर्म स्वोपरक्त (अपने से सम्बद्ध) बुद्धि को भी उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि समुदाय में शब्दनिष्ठशक्त्यन्तर का अनङ्गीकार

साक्षित्वादावुपाधिरिति सिद्धान्तो वेदान्तिनाम्। अतो यत्र विषयस्य विशेषणत्वं न सम्भवति, तत्कालासत्त्वात्, तत्रोपाधित्वाभ्युमगमान्नोपलक्षणत्वनिबन्धनदोषावकाशः, सन्देहे तु विशेषणत्वमेवाभ्यर्हितत्वादुपेयते। तस्माद्विषय एव सर्वत्र ज्ञाने व्यावर्तकः। एकविषयक–स्मृत्यनुभवयोः परोक्षापरोक्षयोश्च विषयमनपेक्ष्य जात्या परस्परव्यावृत्तिदर्शनात्। सर्वत्र विषयनिरपेक्षा जातिरेव व्यावर्तिकेति तु न युक्तम्, भिन्नविषयके समानजातीये तदसंभवात्। न च–तत्रापि जातिरस्ति क्षीरादिमाधुर्यवदिति–वाच्यम्, चाक्षुषत्वादिना सङ्करस्योक्तत्वात्। न च–तव मते तत्तद्वृत्तेस्तत्तदाकारत्वेन चैतन्यस्य तत्प्रतिबिम्बितत्वेन (तदभिव्यक्तत्वेन) वा मम तु तत्तज्ज्ञानस्य तत्तदीयस्वभावत्वेन तत्तद्व्यवहारजननशक्तत्वेन वा स्वत एव वैलक्षण्यमिति–वाच्यम्, विषयस्यैवाकारसमर्पकत्वेन स्वभावव्यवहारयोः परिचायकत्वेन च तन्नैरपेक्ष्येण व्यावर्तकताया वक्तुमशक्यत्वात्। विशेषणत्वोपाधित्वयोः सम्भवे च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है, अर्थात् यौगिकशब्द में अवयववृत्तिशक्ति से भिन्न शक्त्यन्तर का अस्वीकार है; तो भी ये दोनों धर्म कुमुद, ज्यातिष्टोमादियों से व्यावर्तक होने से उपाधि ही हैं। यह उदाहरणद्वय प्राभाकर और भाट्ट मीमांसकों को सम्मत हैं। तार्किकों के मत में तो आकाशशब्दजन्यबोध में शब्दाश्रयत्व उपाधित्वेन उदाहरण है। इस प्रकार उपाधिस्वरूप सिद्ध होने से अविद्यादिक साक्षित्वादि में उपाधि है– ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त है। इस कारण जहां (जिस ज्ञान में) विषय का व्यावर्त्यस्थितिकाल में असत्त्व होने से विशेषणत्व सम्भव नहीं, वहां (उस ज्ञान में) उपाधित्व स्वीकृत होने से उपलक्षणत्वनिमित्तक दोष का अवकाश नहीं; विशेषणत्व और उपाधित्व में सन्देह होने पर तो अभ्यर्हितत्व (अधिक महत्त्व) होने से विशेषणत्व का ही स्वीकार है। इसलिये विषय ही सर्वत्र ज्ञान में व्यावर्तक है।

शंका – एकविषयक परोक्ष और अपरोक्षरूपस्मृति तथा अनुभव के विषय की अपेक्षा के बिना जाति से (स्मृतित्व और अनुभवत्व जाति से) परस्पर व्यावृत्ति देखने के कारण विषयनिरपेक्ष जाति ही व्यावर्तक है।

समाधान – ऐसा कथन तो ठीक नहीं, क्योंकि भिन्नविषयक समानजातीय ज्ञान में जाति से परस्पर व्यावृत्ति असम्भव है।

शंका – जिस प्रकार क्षीरादि माधुर्य में विलक्षणधर्मवत्ता है, उसी प्रकार भिन्नविषयक ज्ञान में उत्कर्षादिविलक्षणधर्मवत्ता जाति है।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि उत्कृष्टत्वादि का चाक्षुषत्वादि के साथ संकर पहले कह चुके हैं।

शंका – तुम्हारे मत में घटपटादितत्तद्वृत्ति के घटपदादितत्तदाकारत्व होने के कारण (वृत्ति के चिदुपरागार्थत्व पक्ष में) तत्तद्वृत्तिप्रतिबिम्बतत्व रूप से, अथवा (वृत्ति के आवरणभङ्गार्थत्वपक्ष में) तत्तद्वृत्त्यभिव्यक्तत्वरूप से चैतन्य का स्वतः ही वैलक्षण्य है तथा वेदान्त मत में तो घटपटादितत्तज्ज्ञान का घटपटादितत्तत्पदार्थीय स्वभावत्वरूप से अथवा घटपटादि तत्तद्व्यवहार जननशक्तत्वरूप से स्वतः ही वैलक्षण्य है।

समाधान–यह कथन अनुचित है,क्योंकि विषय का ही तत्तद्वृत्त्याकार समर्पकत्व होने से और तत्तत्पदार्थीय स्वभाव तथा तत्तद्वयवहार का परिचायकत्व अर्थात् इतरव्यावर्तकत्व होने से विषय की अपेक्षा के बिना व्यावर्तकत्व कहा नहीं जा सकता और विशेषणत्व तथा उपाधित्व

नोपलक्षणत्वमित्युक्तम्। न च 'कथमसतः सज्जायेत'इति श्रुत्या 'नासतोऽदृष्टत्वात्'' इति सूत्रेण 'शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्'इत्यादिभाष्येण च विरोधः, तेषां तुच्छे जनकत्वनिषेधपरत्वात् अस्माभिश्च तुच्छे जनकत्वस्यानुक्तत्वात्। तस्मात् सद्विविक्तं साधकमिति सिद्धम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वाभावे बाधकम्।।

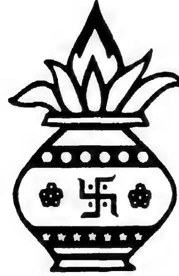
योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सम्भव होने पर उपलक्षणत्व नहीं होता– यह पूर्व ही कह चुके हैं।

शंका – ''असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा'' इस श्रुति से, '' अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं, क्योंकि लोक में अदृष्ट है'' इस सूत्र से, '' शशविषाणादि से सत् की उत्पत्ति देखने में नहीं आती'' इत्यादि भाष्य से विरोध है।

समाधान– नहीं, क्योंकि उन वाक्यों का तुच्छ में जनकत्वनिषेधपरत्व है, और हमने भी तुच्छ में जनकत्व नहीं कहा है। इसलिये सद्विविक्त (असत्) साधक है– यह सिद्ध है।

इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वाभावे बाधकत्वस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



३०: अथ दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्गः

ननु—मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकम्, सत्यत्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्तेरिति चेन्न, दृग्दृश्य-सम्बन्धानुपपत्तेः। नहि ज्ञानं ज्ञेयासम्बद्धमेव प्रकाशकम्, अतिप्रसङ्गात्। नापि सम्बद्धम्, आत्मस्वरूपस्य तद्गुणस्य वा ज्ञानस्य ज्ञेयेन संयोगसमवाययोरभावात्, अन्यस्य चाना-ध्यासिकस्य सम्बन्धस्याभावात्। न च विषयविषयिभावः सः, तस्य विषयत्वविषयित्व-रूपस्य एकैकमात्रनिष्ठत्वेन द्विष्ठसम्बन्धात्मकत्वासम्भवात्, दुर्निरूपत्वाच्च। तथा हि—(१) विषयत्वं किं ज्ञानजन्यफलाधारत्वम्? किं वा (२) ज्ञानजन्यहानादिबुद्धिगोचरत्वम्? उत (३) ज्ञानकर्मत्वम्? (४) ज्ञानाकारार्पकत्वं वा? (५) दृश्यमानत्वे सति तत्त्वं वा? (६) ज्ञानजन्यव्यवहारयोग्यत्वं वा? (७) यत्सन्नि- कृष्टकरणेन यज्ज्ञानमुत्पाद्यते तत्त्वं वा? (८) यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषयः, तथा च संविदि भासमानत्वमिति वा? (९) सम्बन्धान्तरमन्तरा ज्ञानावच्छेदकत्वं वा?। आद्ये फलं न तावत् ज्ञातता, अनङ्गीकारात्, अतीतादावभावाच्च। नापि हानादिः गगनादौ तदभावात्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— जगत् में दृश्यत्व हेतु द्वारा मिथ्यात्व का अनुमान असाधक है, क्योंकि जगत् में सत्यत्व होने पर भी दृश्यत्व हो सकता है।

समाधान — नहीं, क्योंकि दृग्दृश्य अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय विषय के सम्बन्ध की अनुपपत्ति है (यदि जगत् सत्य है तो ज्ञान और ज्ञेय जगत् का सम्बन्ध भी सत्यसिद्ध होगा, किन्तु दोनों का आध्यासिक सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई अन्य सत्यसम्बन्ध नहीं हो सकता)। और ज्ञान ज्ञेय से असंबद्ध ही विषय का प्रकाशक नहीं होता; क्योंकि ऐसा होने पर सब स्थलों में अति प्रसङ्ग है। और ज्ञेयसंबद्ध होकर ज्ञान प्रकाशक भी नहीं, क्योंकि आत्मा के स्वरूपभूत अथवा आत्मा के गुणभूतज्ञान का ज्ञेय के साथ संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं, और आध्यासिकसम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध का अभाव है।

शंका — ज्ञान और ज्ञेय का विषयविषयिभाव सम्बन्ध है।

समाधान — नहीं, क्योंकि विषयित्व और विषयत्वरूप विषयविषयिभाव का एक—एक में ही वृत्तित्व होने से (विषयित्व विषयी में और विषयत्व विषय में ही होने से) द्विष्ठसम्बन्धरूपत्व नहीं हो सकता; और दुर्निरूपत्व भी है। तथाहि— (१) क्या विषयत्व ज्ञानजन्य ज्ञाततादिरूपफल का आधारत्व है? (२) अथवा, ज्ञानजन्य हानोपादानादि की बुद्धि का गोचरत्वरूप विषयत्व है? (३) या ज्ञान का कर्मकारकत्वरूप विषयत्व है? (४) अथवा, ज्ञानाकार का अर्पकत्वरूप विषयत्व है? (५) अथवा, दृश्यमानत्व (दर्शन विषयत्व) होने पर ज्ञानाकारार्पकत्वरूप विषयत्व है? (चतुर्थलक्षण की इन्द्रियादि में अतिव्याप्ति होने पर पञ्चमलक्षण है)। (६) या, ज्ञानजन्य—व्यवहार का योग्यत्वरूप विषयत्व है? (७) अथवा, जिसके सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान के प्रति वह विषय है क्या? (८) अथवा, जिस ज्ञान में जो अर्थ भासमान होता है, वह अर्थ उस ज्ञान का विषय है क्या? इससे तो यह सिद्ध हुआ कि — ज्ञान में भासमानत्वरूप विषयत्व है। (९) अथवा, सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञानावच्छेदकत्वरूप विषयत्व है क्या? आद्यविकल्प में फल ज्ञातता नहीं, क्योंकि विषय में ज्ञानजन्य ज्ञातता होती है— इस बात को हम नहीं मानते (कारण कि सर्व प्रसिद्ध अज्ञान की निवृत्ति ही ज्ञान का फल है); और अतीतादि विषय में ज्ञातता का अभाव है और हानादि भी फल नहीं, क्योंकि गगनादि विषय में हानादि का अभाव है, और

कलधौतमलादेरपि तज्ज्ञानविषयत्वप्रसङ्गाच्च। नाप्यभिज्ञाभिलपने, तयोर्ज्ञेयावृत्तित्वात्। न च—विषयविषयिभावेन ते तत्र स्त इति—वाच्यम्, तस्यैव विचार्यमाणत्वात्। अत एव न द्वितीयोऽपि। न तृतीयः, ईश्वरज्ञानस्यातीतादिज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेन निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। न चतुर्थः, ज्ञानतदाकारयोरभेदेन सर्वेषां ज्ञानहेतूनां विषयत्वापातात्, अनुमित्यादिविषये तदभावापाताच्च। न पञ्चमः, दृश्यमानत्वस्य विषयत्वघटितत्वेनात्माश्रयात्। न षष्ठः, योग्यतायां योग्यतान्तराभावात्। न च—योग्यता योग्यतां विनैव योग्या, यथा दृश्यत्वं दृश्यत्वान्तरं विनैव दृश्यमिति—वाच्यम्, अवच्छेदकरूपापरिचये योग्यताया एव ग्रहीतुमशक्यत्वात्। न च ज्ञानविषयत्वं तदवच्छेदकम्, आत्माश्रयात्। न सप्तमः, नित्येश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। नाष्टमः, संविदीति न तावदधिकरण-सप्तमी, ज्ञानस्य ज्ञेयानधिकरणत्वात्। नापि विषयसप्तमी, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, संविदो विषयत्वं संवेद्यस्य च विषयित्वमिति वैपरीत्यापाताच्च। नापि सति सप्तमी, भासमानत्वस्य विषयताघटितत्वेनात्माश्रयात्। नापि नवमः, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

रजतगतमलादि का भी रजतज्ञानविषयत्व प्रसङ्ग है (क्योंकि रजतमात्रविषयक ज्ञान से रजतोचित कार्य करने में रजतगतमलादि हानजनकत्व रजतज्ञान में है); और प्रत्यभिज्ञा और शब्दव्यवहाररूप अभिलपन भी ज्ञानजन्य फल नहीं, क्योंकि इन दोनों का ज्ञेय में वृत्तित्व नहीं, (किन्तु ज्ञाता में वृत्तित्व है)। और विषयविषयिभाव से वे दोनों ज्ञेय में हैं— ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यहां विषयविषयिभाव का ही विचार्यमाणत्व है। और विषयविषयिभाव का ही विचार्यमाणत्व होने से विषयत्व रूप गोचरत्व घटित द्वितीय पक्ष भी नहीं। और कर्मकारकत्वरूप तृतीय पक्ष भी नहीं, क्योंकि ईश्वरज्ञान और अतीतादिविषयक ज्ञान कर्मकारक से अजन्य होने के कारण उनके निर्विषयत्व का प्रसङ्ग है। और ज्ञानाकारार्पकत्वरूप चतुर्थ भी नहीं, क्योंकि ज्ञान और ज्ञानात्माकारपदार्थ में अभेद होने से ज्ञान के सब हेतुओं का आकारार्पकत्वेन विषयत्व होने लगेगा और अनुमित्यादि के विषय में ज्ञानाकारार्पकत्वरूप विषयत्व का अभाव आपात होगा (क्योंकि अनुमित्यादि के विषय अग्न्यादि में ज्ञानाकारार्पकत्व नहीं)। पञ्चम भी नहीं, क्योंकि दृश्यमानत्व (दर्शनविषयत्व) विषयत्वघटित होने से आत्माश्रय है। षष्ठ पक्ष भी नहीं; क्योंकि योग्यतारूप विषय में योग्यतान्तर के अभाव से अव्याप्ति है।

शंका — योग्यता योग्यता के बिना ही योग्य है, जैसे दृश्यत्व दृश्यत्वान्तर के बिना ही दृश्य है।

समाधान — ऐसा न कहिये, क्योंकि योग्यतावच्छेदक धर्म का परिचय न होने पर योग्यता का ग्रहण ही नहीं किया जा सकता। और आत्माश्रय दोष होने से ज्ञानविषयत्व योग्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। सप्तम विकल्प भी नहीं, क्योंकि ईश्वर के नित्यज्ञान का निर्विषयत्व प्रसङ्ग है। अष्टम भी नहीं, क्योंकि लक्षणघटित "संविदि" इस पद में अधिकरणसप्तमी नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान ज्ञेय का अनधिकरण होता है, विषयसप्तमी भी नहीं, क्योंकि विषय का ही यहां निरूप्यमाणत्व है, और विषयसप्तमी मानी जाय तो "संविद्विषयकः संवेद्यः" इस प्रकार संविद् का विषयत्व और संवेद्य विषय का विषयित्व होने से विपरीतता की आपत्ति है। सतिसप्तमी भी नहीं, क्योंकि भासमानत्व में विषयताघटितत्व होने से आत्माश्रय है। नवम पक्ष भी नही, क्योंकि " मुझमें समवायसंबन्ध से रूपज्ञान है"—इसमें रूपज्ञानसमवाय संबन्धान्तर के बिना ही

रूपज्ञानसमवायस्य सम्बन्धान्तरं विनैव रूपज्ञानावच्छेदकस्य 'इदं रूपम्' इति ज्ञानेऽपि विषयत्वापातात्। ननु–ज्ञानविषय इत्यभियुक्तप्रयोग एव ज्ञानविषययोः सम्बन्धः, यथा अभियुक्तस्य मन्त्र इति प्रयोगविषयत्वमेव मन्त्रलक्षणम्। न चान्योन्याश्रयः, पूर्वपूर्वप्रयोगमपेक्ष्योत्तरोत्तरप्रयोगादिति–चेन्न, एतावता हि ज्ञेयत्वमात्रं सामान्यतः स्यात्, न त्वेतज्ज्ञानविषयत्वम्। न चास्मिन् सादौ पूर्वप्रयोगमपेक्ष्य उत्तरोत्तरप्रयोगो वक्तुं शक्यते, तस्यानादिमात्रविश्रान्तत्वात्। किञ्च प्रयोगोऽपि स्वविषये सम्ब(द्ध)न्ध इत्यात्माश्रयोऽपि। ननु–यज्ज्ञानं यदभिलपनरूपव्यवहारकारणं स तस्य विषयः, करणपाटवाद्यभावेन व्यवहारानुदयेऽपि सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वरूपं कारणत्वमस्त्येव। न च निर्विकल्पकविषये अव्याप्तिः, तस्यानङ्गीकारात्। न च यत्तद्भ्यामननुगमो दोषः, कस्य को विषय इति अननुगतस्यैव प्रश्नविषयत्वेन तस्यादोषत्वात्। न च घटज्ञानानन्तरं प्रमादाद्यत्र पट इति व्यवहारस्तत्र घटज्ञानस्य पटाभिलपनरूपव्यवहारजनकत्वेन पटविषयत्वापत्तिः, समानविषयाभिलापं प्रत्येव ज्ञानस्य जनकतया (घटज्ञानस्य) भिन्नविषयतया तत्राजनकत्वादिति–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

रूपज्ञानावच्छेदक है, तब तो रूपज्ञानसमवाय –''यह रूप है''– इस ज्ञान में भी विषय होने की आपत्ति होगी।

शंका – ''ज्ञान का विषय'' इस प्रकार अभियुक्तों का प्रयोग ही ज्ञान और विषय का सम्बन्ध है, जैसे ''मन्त्र'' इस प्रकार अभियुक्त का प्रयोगविषयत्व ही मन्त्र का लक्षण है; और '' प्रयोग होने पर ज्ञानविषयत्व की सिद्धि और ज्ञानविषयत्व की सिद्धि होने पर प्रयोग'', ऐसा अन्योन्याश्रय भी नहीं, क्योंकि ''ज्ञानविषय'' इस प्रकार पूर्व पूर्व प्रयोग की अपेक्षा करके उत्तरोत्तर प्रयोग होता है।

समाधान – नहीं, क्योंकि ''ज्ञानविषय'' इतना मात्र प्रयोग से सामान्यतः ज्ञेयत्व मात्र (विषयत्व मात्र) सिद्ध है, किन्तु एतज्ज्ञानविषयत्व अर्थात् घटपटादितत्तज्ज्ञानविषयत्व सिद्ध नहीं; और (तत्तद्विषय में पूर्वपूर्व प्रयोग ही उत्तरोत्तरज्ञान का विषयत्व भी नहीं हो सकता) क्योंकि सादि विषय में पूर्व प्रयोग की अपेक्षा करके उत्तरोत्तर प्रयोग का कथन नहीं हो सकता, कारण कि पूर्व प्रयोग अनादिमात्र में विश्रान्त होता है, सादि में नहीं (इसलिये सादिपदार्थ में पूर्व प्रयोगाभाव से सर्वप्रथम ''यह ज्ञानविषय है'' यह प्रयोग नहीं होगा)। किञ्च–प्रयोग भी अपने विषय में सम्बद्ध होने से आत्माश्रय भी है।

शंका – जो ज्ञान जिस पदार्थ के अभिलपनरूप (कथनोपकथनरूप) व्यवहार का कारण है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है, और श्रावणादिकरणपाटवादि के अभाव से अभिलपनरूप व्यवहार का अनुदय होने पर भी सहकारिविरह से प्रयुक्त कार्याभाववत्त्वरूप कारणत्व तो उस ज्ञान का है ही, और इस लक्षण की निर्विकल्पकज्ञान के विषय में अव्याप्ति नहीं, क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान का अनङ्गीकार है। और, इस लक्षण में ''यत्'' और ''तत्'' घटित होने से अननुगम दोष है ऐसा नहीं, क्योंकि ''कौन किस ज्ञान का विषय है'' इस प्रकार अननुगत पदार्थ के ही प्रश्नविषयत्व होने से अननुगम का अदोषत्व है; और घटज्ञान के अनन्तर प्रमाद से जहां ''पट'' ऐसा अभिलपनव्यवहार होता है, वहां घटज्ञान पटाभिलपनरूप व्यवहार का जनकत्व होने से पटविषयत्व की आपत्ति है, ऐसा भी नहीं, क्योंकि स्वसमानविषयक अभिलाप के प्रति ही ज्ञान का जनकत्व होने से घटज्ञान का भिन्नविषयकत्व होने के कारण पटाभिलपनरूप व्यवहार में अजनकत्व है।

चेन्न, अभिलपनरूपव्यवहारजननयोग्यत्वं न प्रातिस्विकरूपेण निर्णेयम्, अवच्छेदकस्य फलनिर्णेयत्वात्, प्रतिस्वं च फलादर्शनात्, अजनितफले प्रातिस्विकयोग्यतायां मानाभावात्, किन्तु तत्र तत्रानुगततत्तद्वृत्तिविषयत्वेन, तथा च आत्माश्रयः। अत एव—ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्, कर्मत्वञ्च न कारकविशेषः, येनातीदौ तदभावो भवेत्, किन्तु क्रियाधीनव्यव—हारयोग्यत्वरूपातिशयवत्त्वम्, अन्यथा घटं करोतीत्यादावसिद्धं घटादि न जनकम्, सिद्धञ्च न कृतिकर्मेति द्वितीयाविभक्तिरनर्थिका स्यादिति—निरस्तम्, व्यावहारयोग्यत्वं न व्यवहाररूपफलोपहितत्वम्, कुत्रचित् प्रतिरुद्धे व्यवहारे अव्याप्तेः। नापि तत्स्वरूपयोग्यत्वम् विषयत्वादन्यस्य तस्यासम्भवादिति पूर्वोक्तदोषात्। न च—अवच्छेदकाद् भिन्नं सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं तदिति—वाच्यम्, अनुगतावच्छेदकधर्मं विना तस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्। घटं करोतीत्यत्र सिद्धस्यैव कपालादेः कृतिकर्मता, व्यापार्यतया सिद्धस्यैव कृतिकर्मताङ्गीकारात्। अत एव निष्पादनावाचिधातुसमभिव्याहृतकर्मपदे शक्यावयवे निरूढलक्षणामाहुरसत्कार्यवादिनः। सत्कार्यवादिनां तु पूर्वं सतोऽप्यभि—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान — नहीं, क्योंकि अभिलपनरूपव्यवहार के जननयोग्यत्व का निर्णय, तत्तद्ज्ञान में व्यक्तिगतरूप से नहीं करना चाहिए, कारण कि योग्यतावच्छेदक, फल से अर्थात् अभिलपनरूप व्यवहार से निर्णेय है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान में व्यक्ति में फल देखने में नहीं आता, अजनितफल वाले ज्ञान में व्यक्तिगत योग्यता होने में प्रमाण नहीं, किन्तु घटादिविषयक तत्तद्व्यवहार में अनुगत घटनिष्ठ जो तत्तद्वृत्तिविषयत्व है, उसी से घटित घटादिज्ञानत्वरूप से ज्ञान का अभिलपनव्यवहार कारणत्व है, तब तो आत्माश्रय है। इस प्रकार आत्माश्रय होने से ही—ज्ञानकर्मत्व विषयत्व है, और कर्मत्व कारक विशेष (कर्मकारकत्व) नहीं, जिससे अतीतादिविषय में कर्मत्व का अभाव हो, किन्तु क्रियाधीनव्यवहार योग्यत्वरूप अतिशयवत्व कर्मत्व है; अन्यथा, अर्थात् क्रियाजनकत्व रूप कर्मत्व मानने पर तो "घटं करोति" इत्यादि में असिद्ध घटादि क्रियाजनक नहीं, और सिद्धघटादि तो कुम्भकारादिनिष्ठकृति का कर्म न होने से द्वितीयाविभक्ति निरर्थिका होगी— ऐसा कथन निरस्त हुआ। क्योंकि व्यवहारयोग्यत्व व्यवहाररूपफलोपहितत्वात्मक कारणतावच्छेदक नहीं, कारण कि किसी प्रतिरुद्धव्यवहार में उसकी अव्याप्ति है। और व्यवहारस्वरूप योग्यत्व भी नहीं, क्योंकि विषयत्व से भिन्न व्यवहारस्वरूपयोग्यत्व का असम्भव होने से पूर्वोक्त दोष अर्थात् आत्माश्रय है (अर्थात् कारणतावच्छेदकरूपस्वरूपयोग्यत्व विषयत्वघटित होने से आत्माश्रय है)।

शंका — कारणतावच्छेदक से भिन्न सहकारिकारणविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्च ही व्यवहारस्वरूपयोग्यत्व है।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि अनुगत अवच्छेदकधर्म के बिना सहकारिविरहप्रयुक्त कार्याभाववत्वरूपव्यवहारस्वरूपयोग्यत्व का भी ग्रहण अशक्य है। और "घटं करोति" इसमें तो सिद्ध कपालादि की ही कृतिकर्मता है, कारण कि व्यापार विषयतारूप से सिद्ध की ही कृतिकर्मता का अङ्गीकार है। इस प्रकार सिद्ध का ही व्यापारविषयत्वेन कृतिकर्मत्व होने से असत्कार्यवादी तार्किक लोग निष्पादनावाचि (उत्पादनावाचक) धातु के साथ सहोच्चारित कर्मपद में घटादिशक्यपदार्थ के अवयव कपालादि में निरूढ़लक्षणा मानते हैं (जैसे "घटं करोति" इस वाक्य में निष्पादनावाचि डुकृञ के साथ सहोच्चारित "घटं" इस कर्मपद के शक्यार्थ कम्बुग्रीवादिमत्पदार्थ के अवयव कपाल में निरूढ़लक्षणा है। ऐसे स्थलों में उद्देश्यत्व ही द्वितीयार्थ है— यह अभिप्राय है)। और

व्यञ्जनीयतया न कारकत्वकृतिकर्मत्वयोरनुपपत्तिः। एतेन—'यस्यां संविदि'इत्यादिपूर्वोक्तेऽपि न दोषः, संविदीति सति सप्तमी, भासमानत्वञ्च व्यवहारयोग्यत्वम्, तच्च सति कारणान्तरे व्यवहारावश्यम्भाव इत्येतदपि—निरस्तम्।

ननु—यः सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य यज्ज्ञानावच्छेदको यज्ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावश्च स तस्य विषयः, यद्यप्यात्मा स्वविषयज्ञानसमवायवान्, तथापि न तस्य ज्ञानावच्छेदे समवायापेक्षा, ज्ञानासमवायिनोऽपि घटादेस्तदवच्छेदकत्वदर्शनात्। यद्यपि च रूपज्ञानं मत्समवेतं ध्वस्तमिष्टमित्यादौ रूपज्ञानाविषया अप्यात्मसमवायेच्छाध्वंसादयः सम्बन्धा-न्तरमनपेक्ष्य ज्ञानावच्छेदकाः, तथापि समवेतेष्यमाणप्रतियोग्यात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावा एव, सम्बन्धेच्छादीनां सम्बन्धीष्यमाणाद्यवच्छिन्नस्वभावत्वादिति नातिव्याप्तिः। ज्ञानविषयस्तु न ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः, ज्ञानस्य घटाद्यव च्छिन्नस्वभावत्ववद् घटादेर्ज्ञानावच्छिन्नस्व-भावत्वादर्शनात्। यद्यपि स्वग्राहकज्ञानविषयीभूतं ज्ञानविषयकानुमित्यनुव्यवसायादिकं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सत्कार्यवादी वेदान्ती आदि के मत में तो पूर्वसत् होता हुआ भी कार्य अभिव्यञ्जनीय (अभिव्यक्त करने योग्य) होने से कर्मपदवाच्य घटादि के कारकत्व और कृतिकर्मत्व होने में अनुपपत्ति नहीं। इस प्रकार योग्यता के अनिर्वचन से— ''यस्यां संविदि'' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण में भी दोष नहीं; क्योंकि ''संविदि'' इसमें ''सति सप्तमी'' है, और भासमानत्व का अर्थ व्यवहारयोग्यत्व है, और वह व्यवहारयोग्यत्व कारणान्तरवर्तमान होने पर व्यवहार का अवश्यम्भावरूप है— यह कथन भी निरस्त हुआ।

शंका — जो पदार्थ संबन्धान्तर की अपेक्षा के बिना जिस ज्ञान का अवच्छेदक है, और जिस ज्ञान से अनवच्छिन्नस्वभाव है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है; (आत्मविषयकज्ञान आत्मसमवेत होने से संबन्धान्तरानपेक्षत्व घटित इस लक्षण की आत्मा में अव्याप्ति की आशंका का निवारण करते हुए आगे कहते हैं)— यद्यपि आत्मा स्वविषयकज्ञान का समवायवान् है, तथापि आत्मा की ज्ञानावच्छेदक होने में समवाया पेक्षा नहीं; क्योंकि ज्ञान के असमवायी घटादि का ज्ञानावच्छेदकत्व देखने में आता है; (अब आगे लक्षणघटित यज्ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावपद की उपयोगिता कहते हैं)— यद्यपि मत्समवेतरूपज्ञान ध्वस्त हो गया, इष्ट है— इत्यादि में रूपज्ञान के अविषय होते हुए भी आत्मसमवाय, इच्छा, ध्वंसादि संबन्धान्तर की अपेक्षा के बिना रूपज्ञान का अवच्छेदक है, तथापि आत्मसमवाय का स्वभाव समवेतात्मकरूपज्ञान से अवच्छिन्न है, इच्छा का स्वभाव इष्यमाणात्मक रूपज्ञान से अवच्छिन्न है और ध्वंस का स्वभाव प्रतियोगितात्मक रूपज्ञान से अवच्छिन्न है (इनमें कोई भी रूपज्ञानानवच्छिन्नस्वभाव नहीं), क्योंकि सम्बन्ध, इच्छादिकों का संबन्धी इष्यमाणादिकों से अवच्छिन्न स्वभावत्व होता है, इस कारण उनमें अतिव्याप्ति नहीं। और ज्ञान का विषय तो ज्ञान से अवच्छिन्नस्वभाव नहीं, क्योंकि ज्ञान का घटाद्यवच्छिन्नस्वभावत्व के समान घटादि का ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्व देखने में नहीं आता। (पुनः लक्षणघटित ''यज्ज्ञानानवच्छिन्न'' इसमें यत्पद की उपयोगिता आगे कहते हैं)— यद्यपि स्वग्राहक ज्ञान का विषयीभूत और ज्ञानविषयक जो अनुमित्यनुव्यवसायादिक ज्ञान है, वह ज्ञानावच्छिन्नस्वभाव विशिष्ट है (अभिप्राय यह है कि व्यवसायात्मक वह्निज्ञान, अनुव्यवसायात्मक—वह्निज्ञानविषयकज्ञान और अनुव्यवसायज्ञान विषयक अनुमितवह्निज्ञानज्ञा ज्ञातवह्निज्ञानज्ञान इत्यादि तृतीयज्ञान होते हैं। इसका ''अनुमितं वह्निज्ञानज्ञानं येन'', ज्ञातं वाह्निज्ञानज्ञानं येन''—ऐसा विग्रह है, इसी से तृतीयज्ञान सिद्ध होता है।

(ज्ञान) ज्ञानावच्छिन्नस्वभावम्, तथापि स्वयं यज्ज्ञानं प्रति विषयस्तदवच्छिन्नस्वभावं नेति नाव्याप्तिरिति—चेन्न, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्याकारकज्ञानस्यात्मसमवाय—विषयकत्वाभावप्रसङ्गात्, आत्मसमवायस्य सम्बन्धत्वेन सम्बन्धिभूतस्वज्ञानावच्छिन्नत्वात्, घटस्य ज्ञानमिति प्रतीत्या घटावच्छिन्नस्वभावत्वं यथा ज्ञानस्य, तथा ज्ञातो घट इति प्रतीत्या घटस्यापि ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वेनासम्भवाच्च। अथ—यज्ज्ञानं यदीयस्वभावम्, स तस्य विषयः, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र तु समवाय एव रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावो, न तु रूपज्ञानं तदवच्छिन्नस्वभावम्। इदं च ज्ञानस्यैव विषयत्वमुक्तम्, न त्विच्छादि—साधारणमिति नाव्याप्तिरिति चेन्न, यदीयस्वभावमिति तद्धितस्य यद्विषयकत्वार्थकत्वे आत्माश्रयात्, अर्थान्तरस्य (च) निरूपयितुमशक्यत्वात्, रूपज्ञानाभावाभावस्य रूपज्ञानरूपत्वेन रूपज्ञानस्याप्यभावीयतया तद्विषयत्वापत्तेः। ननु—ज्ञानजनककरण—सन्निकर्षाश्रयत्वं तद्विषयत्वम्। न च रूपज्ञानकरणमनस्सन्निकर्षाश्रयस्यात्मनस्तद्विषय—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रकृत में स्वपद से अनुव्यवसायात्मक वह्निज्ञानज्ञान लेना चाहिये और ग्राहक—ज्ञानपद से तृतीयज्ञान लेना चाहिये, इस तृतीयज्ञान का विषयीभूत और व्यवसायवह्निज्ञानविषयकानुमित्यनुव्यवसायाद्यात्मक वह्निज्ञानज्ञान व्यवसायात्मकवह्निज्ञानावच्छिन्न स्वभाव है), तथापि स्वयं अनुव्यवसायात्मक वह्निज्ञानज्ञान जिस तृतीयज्ञान का विषय हो रहा है, उस तृतीयज्ञान से अवच्छिन्नस्वभाव तो नहीं, इसलिये अव्याप्ति नहीं।

समाधान — नहीं, क्योंकि ''मत्समवेत रूपज्ञान है'' इत्याकारकज्ञान अर्थात् मत्समवेतरूप—ज्ञानविषयकज्ञान के आत्मसमवायविषयत्व के अभाव का प्रसङ्ग है, कारण कि आत्मसमवायसंबन्ध होने से संबन्धिभूत आत्मसमवायविषयकज्ञान से अवच्छिन्न है (लक्षणानुसार '' यज्ज्ञानानवच्छिन्न'' ही विषय होना चाहिये, किन्तु समवाय एक ही होने से रूपज्ञानसमवाय रूपज्ञान ज्ञानीय भी है, अत: रूपज्ञान मत्समवेतधी का विषय होने से स्वविषयकज्ञानावच्छिन्नत्व समवाय में है, अनवच्छिन्नत्व नहीं; इसलिये आत्मसमवाय में लक्षण की अव्याप्ति है); और ''घट का ज्ञान'' इस प्रतीति से घटावच्छिन्नस्वभावत्व जैसे ज्ञान का है, वैसे ''ज्ञात घट'' इस प्रतीति से घट का भी ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्व होने से विषयलक्षण में असम्भव दोष है।

शंका — जो ज्ञान यदीयस्वभाव अर्थात् यत्पदार्थीयस्वभाव वाला है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है; और ''मत्समवेत रूपज्ञान है'' इसमें तो समवाय ही रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभाव है (क्योंकि सम्बन्ध का सम्बन्धी से अवच्छिन्नत्वनियम है); रूपज्ञान तो समवायावच्छिन्नस्वभाव नहीं। इस लक्षण से ज्ञान का ही विषयत्व कहा गया है, यह लक्षण इच्छादिसाधारण नहीं, अत: इच्छादिविषय में अव्याप्ति नहीं।

समाधान — नहीं, क्योंकि ''यदीयस्वभाव'' इस तद्धित का ''यद्विषयकत्व'' अर्थ होने पर आत्माश्रय है, और इससे व्यतिरिक्त अर्थान्तर का निरूपण अशक्य है। और रूपज्ञानाभाव का अभाव रूपज्ञानरूप होने से रूपज्ञान के भी अभावीयत्व होने के कारण रूपज्ञानाभावविषयकत्व की आपत्ति होगी (रूपज्ञानाभावविषयक ज्ञान रूपज्ञानाभावीयस्वभाव है; अत: उस ज्ञान का जैसे रूपज्ञानाभाव विषय होता है, वैसे ही रूपज्ञानाभावाभावरूप रूपज्ञान का रूपज्ञानाभावीयस्वभावत्व है, तब तो रूपज्ञान के रूपज्ञानाभावविषय होने का प्रसङ्ग है)।

शंका — ज्ञानजनक चक्षुरादिकरणों के सन्निकर्ष का आश्रयत्व ज्ञानविषयत्व है। रूपज्ञानकरण

त्वापत्तिः, करणपदेनासाधारणज्ञानकरणस्यैव विवक्षितत्वात्। न चासाधारणज्ञानकरण-चक्षुस्सन्निकर्षाश्रयस्य मनसोऽपि रूपज्ञानविषयत्वापत्तिः, सन्निकर्षपदेनाप्यसाधारण-ज्ञानजनकसन्निकर्षस्यैवोक्तत्वादिति–चेन्न, चक्षुर्मनस्संयोगस्यापि चाक्षुषज्ञानासाधारण-कारणत्वेन मनसोऽपि चाक्षुषज्ञानविषयत्वापत्तेः, परोक्षविषये अव्याप्तेश्च। न च–तत्र लिङ्गज्ञानं करणम्, तत्र च लिङ्गिनः तद्व्याप्तत्वं सम्बन्धोऽस्तीति–वाच्यम्, लिङ्गस्यापि स्वज्ञानसम्बन्धित्वेनानुमितिविषयत्वापत्तेः। न चानुमितौ तद्व्याप्ततारूपसम्बन्ध एव विषयतानियामकः, व्यापकतावच्छेदकव्यापकसम्बन्धादीनामविषयत्वापत्तेः। न च–ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरणो ज्ञानावच्छेदकत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मो विषयत्वम्, इदं च नित्यपरोक्षसाधारणमिति–वाच्यम्, वस्तुत्वादिकमेव विषयत्वमित्यापत्तेः, ज्ञानावच्छेदक-त्वस्य रूपज्ञानाविषये समवायेऽपि सत्त्वेनातिव्याप्तेश्च। न च–ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपसम्बन्ध एव विषयत्वमिति–वाच्यम्, असिद्धेः। तथा हि–स्वरूपसम्बन्ध इत्यस्य स्वरूपं सम्बन्ध

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

मन के सन्निकर्ष का आश्रय आत्मा है, तब तो आत्मा के रूपज्ञानविषयत्व होने की आपत्ति है–ऐसा कथन ठीक नहीं, क्योंकि करणपद से चक्षुरादिअसाधारण ज्ञानकरण ही विवक्षित हैं (मन तो सब के प्रति साधारण करण है); और इसी प्रकार असाधारण ज्ञानकरण नेत्र के सन्निकर्ष के आश्रय मन की भी रूपज्ञानविषयत्वापत्ति नहीं होगी,क्योंकि सन्निकर्षपद से भी असाधारण ज्ञानजनक सन्निकर्ष ही उक्त है (मन का सन्निकर्ष तो साधारण है)।

समाधान – नहीं, क्योंकि चक्षु के साथ मन का संयोग भी चाक्षुषज्ञान के प्रति असाधारण कारण होने से, मन के भी चाक्षुषज्ञानविषयत्व होने की आपत्ति है; और परोक्ष विषय में इस लक्षण की अव्याप्ति है (क्योंकि परोक्षविषय में सन्निकर्ष का अभाव है)।

शंका – परोक्ष विषय में लिङ्गादिज्ञान करण है, और लिङ्गादिज्ञान में लिङ्गी साध्य का स्वविषयलिङ्गव्यापकत्वरूप सम्बन्ध है ही।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि लिङ्ग का भी लिङ्गज्ञान संबन्धाश्रयत्व होने से अनुमिति विषयत्व की आपत्ति है। और अनुमिति में स्वविषयलिङ्गव्यापकत्वरूप सम्बन्ध ही विषयता का नियामक नहीं, क्योंकि व्यापकतावच्छेदक और व्यापक के सम्बन्ध तथा आदिपद से पक्ष और साध्य के सम्बन्ध का अनुमित्यविषयत्व प्रसङ्ग है।

शंका – ज्ञानकरण चक्षुरादि सन्निकर्ष के साथ समानाधिकरणवृत्ति होने पर ज्ञानावच्छेदकत्व (घटादि का ज्ञानावच्छेदकत्व होता है; अतः घटादिनिष्ठज्ञानावच्छेकत्व) का साक्षात्व्याप्यधर्म विषयत्व है, यह लक्षण नित्यपरोक्ष में साधारण है।

समाधान – वह धर्म तो वस्तुत्वादिक ही हुआ, तब तो '' वस्तुत्वादिकं विषयत्वम्'' ऐसी आपत्ति है। और ''समवेतं रूपज्ञानम्'' इस ज्ञान में रूपज्ञान के अविषय समवाय में भी ज्ञानावच्छेदकत्व होने से लक्षण की अतिव्याप्ति है।

शंका – ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप–सम्बन्ध ही विषयत्व है।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि असिद्धि है (''ज्ञानज्ञेययोः'' इसमें ज्ञेयशब्द विषयवाची होने से आत्माश्रय है; तो भी स्वरूपसम्बन्ध का निर्वचन असम्भव होने से इस लक्षण में असम्भव दोष है)। तथाहि– ''स्वरूपसंबन्धः'' इसका स्वरूप ही सम्बन्ध है–ऐसा अर्थ होने पर (अर्थात् प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में से, अन्यतरात्मकरूप स्वरूप ही सम्बन्ध है–ऐसा अर्थ होने पर)

इत्यर्थत्वे संयोगादावतिव्याप्तिः। न च तदुभयान्यत्वं विशेषणम्, हिमवद्विन्ध्ययोरपि स्वरूपसम्बन्धापत्तेः, सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं स्वरूपसम्बन्ध इति चेन्न, आत्मानं जानामीत्यत्राव्याप्तेः, तत्र सम्बन्धान्तरस्य समवायस्यैव सत्त्वात्, अतीन्द्रियाभावादावव्याप्तेश्च, न हि तस्य विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वे मानमस्ति, अन्यथा तेन विशिष्टप्रत्ययजननापत्तेः। किञ्च विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं धर्मो वा सम्बन्धः, तादृशस्वरूपद्वयमेव वा? आद्ये स्वरूपस्य सम्बन्धत्वव्याघातः, प्रतीतिघटितस्यास्य चाक्षुषादिज्ञानागोचरत्वप्रसङ्गश्च। न द्वितीयः, अननुगमात्। किञ्चैवमभावभ्रमानुपपत्तिः, तत्रापि विशिष्टप्रतीतिसम्भवे स्वरूपसम्बन्धस्य सत्त्वात्। न च प्रमात्वघटितं तल्लक्षणम्, वास्तवसम्बन्धसत्वे प्रमात्वस्याप्यापाद्यत्वात्। अन्यथा तत्र तस्याप्रमात्वे सम्बन्धाभावः, तस्मिंश्च तस्याप्रमात्वमित्यन्योन्याश्रयात्।

ननु—सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्वरूपस्य सम्बन्धत्वं संयोगत्वावच्छिन्नस्य दण्डीत्यादौ सम्बन्धत्ववत्, विशिष्टबुद्धिश्चावच्छेदका—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

संयोग और समवाय में अतिव्याप्ति है (क्योंकि दोनों का स्वरूप ही संबन्धरूप है)। और दोनों के निवारणार्थ ''संयोगसमवायान्यत्व'' विशेषण देने पर भी अदोष नहीं, क्योंकि संयोगसमवायभिन्नत्व होने पर स्वरूपसत्त्व होने से हिमवान् और विन्ध्य के भी स्वरूपसंबन्ध की आपत्ति है।

शंका — संबन्धान्तर के बिना विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्व स्वरूपसम्बन्ध है।

समाधान— नहीं, क्योंकि ''आत्मा को जानता हूँ'' इसमें अव्याप्ति है, कारण कि आत्मज्ञान में समवायरूपसंबन्धान्तर ही वर्तमान है (क्योंकि ज्ञान आत्मसमवेत है); और पिशाचाभावादि अतीन्द्रियाभाव में अव्याप्ति है; क्योंकि अतीन्द्रियाभावादि के विशिष्ट प्रतीतिजननयोग्यत्व में प्रमाण नहीं। यदि अतीन्द्रियाभाव का विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्व प्रमाण से सिद्ध है, तो अतीन्द्रियपिशाचाभाव से विशिष्टप्रतीतिजनन की आपत्ति है।

किञ्च— विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वरूप धर्म ही सम्बन्ध है क्या? अथवा विशिष्ट प्रतीतिजननयोग्यत्वरूप स्वरूपद्वय ही सम्बन्ध है क्या? आद्य पक्ष में संबन्धिस्वरूपके संबन्धत्व का व्याघात है, और प्रतीतिघटित इस स्वरूप के चाक्षुषादिज्ञान का अविषयत्वप्रसङ्ग है। द्वितीय पक्ष भी नहीं,क्योंकि स्वरूपभेद होने से अननुगम है। और, इसी प्रकार अभावभ्रम की अनुपपत्ति है (जिस अभाव का अधिकरण में स्वरूप संबन्ध है, उस अभाव की भ्रमानुपपत्ति है— यह अभिप्राय है); क्योंकि उस अभावभ्रम में भी विशिष्टप्रतीतिसंभव होने पर स्वरूपसंबन्ध का सत्त्व है (तब तो संबन्ध सत्य होने से अभावज्ञान भी सत्य ही होना चाहिये; अत: अभावभ्रम नहीं होगा।) और उक्त लक्षण प्रमात्व घटित है— ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि वास्तवसम्बन्ध का सत्त्व सिद्ध होने पर उस सम्बन्ध से प्रमात्व भी आपाद्य है (तब तो संबन्धस्वरूप में संबन्ध द्वारा आपाद्यप्रमात्वघटितत्व नहीं हो सकता)। वास्तवसंबन्ध से प्रमात्व आपाद्य न होने पर प्रमात्व के अनिश्चय से, भ्रमस्थल में—अभावज्ञान का अप्रमात्व होने पर, संबन्धाभाव की सिद्धि और संबन्धाभाव सिद्ध होने पर, अभावज्ञान के अप्रमात्व की सिद्धि—इस प्रकार अन्योन्याश्रय है।

शंका — संबन्धान्तर के बिना विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता के अवच्छेदक स्वरूपत्व से अवच्छिन्नस्वरूप का संबन्धत्व है, जैसे संयोगत्वावच्छिन्न संयोग का ''दण्डी'' इत्यादि में सम्बन्धत्व है। और अवच्छेदक—स्वरूपत्व को विषय न करने वाली विशिष्ट बुद्धि ही अवच्छेद्य

विषयिण्येवावच्छेद्यविषया, अतो न स्वरूपसम्बन्धगोचरविशिष्टबुद्धेश्चाक्षुषत्वविरोधः। न च–तर्ह्यभावप्रमाभ्रमयोः स्वरूपद्वयमात्रविषयत्वाविशेषात् प्रमाभ्रमव्यवस्था–नुपपत्तिरिति– वाच्यम्, घटाभाववति घटाभावज्ञानत्वेन तद्भिन्नज्ञानत्वेन च व्यवस्थोपपत्तेः। ननु–अतिरिक्ताविषयत्वे तस्यैवानुपपत्तिः, न हि भवद्रीत्या तस्योभयात्मकत्वेन तदुभयसत्त्वेन व्यधिकरणप्रकारकत्वरूपभ्रमत्वस्यैवाभावे भ्रमतदन्यत्वाभ्यां व्यवस्था सम्भवतीति–चेन्न, घटाभावाभावस्य घटत्वेन तद्वति घटाभावज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वसम्भवात्। किञ्च भ्रमस्य वस्तुगत्या यद् घटवत्, स विषयः, न तु प्रमाया इत्यतिरिक्तविषयत्वमस्त्येव। न चातीन्द्रियाभावे अव्याप्तिः, अत्यन्ताभावे प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वम्, प्रागभावादौ प्रतियोगिदेशत्वे सति प्रतियोगिकालान्यकालत्वम्; अन्योन्याभावे प्रतियोगितावच्छेदकदेशा–न्यदेशत्वम्, विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतावच्छेदकम्। तदवच्छिन्नत्वञ्च विशिष्टप्रतीत्य–जनकेऽप्यतीन्द्रियाभावे सुलभम्, न ह्यरण्यस्थो दण्डो न घटजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्न इति–चेत्। मैवम्, नित्यस्यातीन्द्रियस्याकाशात्यन्ताभावादेर्विशिष्टप्रतीतिजनन–योग्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वे अवश्यं विशिष्टप्रत्ययजनकत्वप्रसङ्गात्, नित्यस्य स्वरूपयोग्यस्य सहकारिसमवधाननियमात्। किञ्च विशिष्टस्य प्रत्यय इत्यत्र स्वरूप–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

स्वरूप को विषय करने वाली है; अतः स्वरूप संबन्धविषयकविशिष्ट बुद्धि के चाक्षुषत्व में विरोध नहीं। इसमें आप कहो कि–तब तो अभावविषयक प्रमा और भ्रम के संबन्धि स्वरूपद्वयमात्रविषयत्व में अविशेष होने से प्रमा और भ्रम की व्यवस्था की अनुपपत्ति है; तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि घटाभाववद्भूतलादि में घटाभावज्ञानत्वेन प्रमा और उस ज्ञान से भिन्नज्ञानत्वेन अर्थात् घटवत् में घटाभावज्ञानत्वेन भ्रम की व्यवस्था हो सकती है। इसमें तुम्हारी शंका हो कि– घटाभावप्रमा और घटाभावभ्रम का अतिरिक्तविषयत्व न होने पर अर्थात् समानविषयत्व होने पर दोनों में उक्त भेद की अनुपपत्ति है; क्योंकि आपकी रीति से घटाभाववद् अधिकरण संबन्धिद्वयात्मक स्वरूपसंबन्ध घटित होने से, अभावाधिकरण में उभयात्मक स्वरूप संबन्ध वर्तमान होने के कारण, व्यधिकरण प्रकारत्वरूप भ्रमत्व का अभाव होने पर, भ्रमत्व और भ्रमान्यत्व द्वारा व्यवस्था नहीं हो सकती, यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि घटाभाव के अभाव का घटत्व होने से घटवत् में घटाभावज्ञान का व्यधिकरणप्रकारत्व हो सकता है। और वस्तुगति से जो घटवत् है, वही घटाभावभ्रम का विषय है, घटाभावप्रमा का विषय नहीं; इस कारण अतिरिक्तविषयत्व है ही। और उक्तलक्षण की अतीन्द्रियाभाव में अव्याप्ति नहीं; क्योंकि अत्यन्ताभाव में प्रतियोगिदेश से अन्यदेशत्व, प्रागभाव तथा ध्वंस में प्रतियोगिदेशत्व होने पर प्रतियोगिकाल से अन्यकालत्व और अन्योन्याभाव में प्रतियोगितावच्छेदक देश से अन्यदेशत्व ही विशिष्टप्रत्ययजनन योग्यता का अवच्छेदक है। और उक्तयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व विशिष्टप्रतीति के अजनक अतीन्द्रियाभाव में भी सुलभ है, क्योंकि अरण्यस्थ दण्ड घटजननयोग्यतावच्छेदकानवच्छिन्न नहीं होता अर्थात् उक्तावच्छेदकावच्छिन्न होता ही है।

समाधान – वैसा नहीं हो सकता; क्योंकि अतीन्द्रिय नित्य आकाशात्यन्ताभावादि का विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदक से अवच्छिन्नत्व होने पर अवश्य ही विशिष्टप्रत्ययजनकत्व का प्रसङ्ग होगा, कारण कि नित्य स्वरूपयोग्य पदार्थ का सहकारिसमवधान होना नियम है। किञ्च– ''विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वं स्वरूपसंबन्धः'' इस लक्षण में ''विशिष्टस्य प्रत्ययः'' यहां

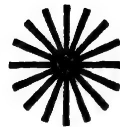
सम्बन्धस्य षष्ठ्यर्थत्वे आत्माश्रयः, सम्बन्धमात्रस्य तदर्थत्वे आत्मत्वादिविशिष्टात्मसम्बन्धिसमूहालम्बनविषये घटपटादावतिव्याप्तिः, तयोरपि विशिष्टसम्बन्ध्यविशिष्टविषयज्ञानजननकत्वात्। ज्ञानस्याभावः ज्ञातोऽभाव इति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं न स्यात्, ज्ञानाभावयोरुभयोरेवोभयत्र स्वरूपसम्बन्धत्वे विषयकृतविशेषाभावात्। अत एव–विशिष्टप्रतीतिजनयोग्यत्वं ज्ञानज्ञेयादिस्थले अतिरक्तमेव सम्बन्ध इति–निरस्तम्, अतीन्द्रिये नित्याभावेऽव्याप्तेः। न हि तत्र विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता, फलोपधानापत्तेः, प्रतीतिघटितस्य चाक्षुषादिप्रतीतावविषयत्वप्रसङ्गाच्च। तस्मात्सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेराध्यासिक एव दृग्दृश्ययोः सम्बन्ध इति।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चसत्यत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्गः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पर यदि स्वरूपसंबन्ध षष्ठ्यर्थ है तो आत्माश्रय है; और संबन्धमात्र षष्ठ्यर्थ होने पर आत्मत्वादिविशिष्ट आत्मा के संबन्धी समूहालम्बनज्ञान के विषय घटपटादि में अतिव्याप्ति है अर्थात् घटपट में परस्पर स्वरूपसंबन्ध का प्रसङ्ग है, क्योंकि घटपट में भी विशिष्टात्मसंबन्धी अर्थात् अहमत्व–विशिष्टात्मसमवेत अविशिष्ट (घटपट) विषयक समूहालम्बनज्ञान का जनकत्व है, और ''ज्ञानस्य अभावः'' ''ज्ञातोऽभावः'' इन दोनों प्रतीतियों में विलक्षणत्व भी नहीं होगा, क्योंकि दोनों प्रयोगों में ज्ञान और अभाव दोनों का स्वरूपसंबन्धत्व अभावरूपविषयकृत विशेष का अभाव है। अतएव– ज्ञानज्ञेयादिस्थल में विशिष्टप्रतीति जननयोग्यत्वरूप अतिरिक्त धर्मविशेष (ज्ञानज्ञेयादिस्वरूप भिन्न धर्मविशेष) ही संबन्ध है– यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि अतीन्द्रिय नित्य अभाव में अव्याप्ति है। कारण कि अतीन्द्रिय नित्य अभाव में विशिष्ट प्रतीतिजननयोग्यता नहीं; यदि उसमें उक्त योग्यता है तो विशिष्टप्रतीतिजनकता की आपत्ति है; और प्रतीतिघटित स्वरूप के चाक्षुषादि प्रतीति में अविषयत्व का प्रसङ्ग भी है। इसलिये दृश्यप्रपञ्च का सत्यत्व होने पर, ज्ञान के साथ संबन्ध की अनुपपत्ति से, दृग् और दृश्य का संबन्ध आध्यासिक ही है। इति।।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चसत्यत्वे दृग्दृश्यसंबन्धभङ्गस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



३१: अथानुकूलतर्कनिरुपणम्

स्यादेतत्—सर्वस्यापि दृश्यस्य ब्रह्मात्मकदृग्ध्यस्तत्वेऽपि कस्यचित् कदाचित् कञ्चित् प्रति प्रकाशाय त्वयाऽपि तत्तत्सन्निकृष्टेन्द्रियजन्यतत्तदाकारवृत्तिद्वारक एवानावृतदृक्सम्बन्धः स्वीकृतः, तथा च सत्यत्वेऽपि तद्द्वारक एव सम्बन्धोऽस्तु किमाध्यासिकसम्बन्धदुर्व्यसनेन? न हि भवतां विज्ञान वादि नामिव तत्तज्ज्ञाने तत्तदर्थाध्यासस्वीकारः, शुद्धदृशःस्वतोभेदाभावादुपाधिविशिष्टाया भेदेऽपि घटादिवत्तस्या अपि मिथ्यात्वेनाधिष्ठानत्वायोगादितिचेत्। न, प्रकाशस्य साक्षात् स्वसंसृष्टप्रकाशकत्वनियमेन चैतन्यस्य परम्परासम्बन्धेन विषयप्रकाशकत्वायोगात्। न हि प्रदीपः परम्परासम्बद्धं प्रकाशयति, अतो विषयाधिष्ठानचैतन्यमनावृतमेव प्रकाशकम्, आवरणभङ्गश्च वृत्त्या, अतो वृत्तेः पूर्वमाध्यासिकसम्बन्धे विद्यमानेऽपि दृश्याऽप्रतीतिरुपपन्ना। अत एव—वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य घटप्रकाशकत्वे आध्यासिकसम्बन्धस्यातन्त्रतापातः, घटाभिव्यक्तचैतन्यस्य घटप्रकाशकत्वे आवश्यकेन वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येनैव घटप्रकाशोपपत्तौ तदधिष्ठानचिदभिव्यक्तिकल्पनाऽयोग इति—निरस्तम्, परोक्षविलक्षणस्फुटतरव्यवहारार्थं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्पनाया युक्तत्वात्। न च—शुद्धचैतन्यस्य चरमसाक्षात्कारात्पूर्वं नाभिव्यक्तिः, अभिव्यक्तस्य च घटाद्यवच्छिन्न—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— यह हो— सब ही दृश्य प्रपञ्च का ब्रह्मात्मक चित् में अध्यस्तत्व होने पर भी किसी घटादिपदार्थ के कदाचित् किसी पुरुष के प्रति प्रकाशार्थ आपने भी घटपटादि से सन्निकृष्ट इन्द्रियों से जन्य घटपटाद्याकारवृत्तिसापेक्ष ही अनावृत्त दृक् संबन्ध स्वीकृत किया है; तब तो दृश्यप्रपञ्च का सत्यत्व होने पर भी पटाद्यवच्छिन्नवृत्तिविषयत्व ही संबन्ध हो, आध्यासिकतादात्म्यसंबन्ध के दुर्व्यसन से क्या लाभ? क्योंकि आप के मत में क्षणिक विज्ञानवादी के समान घटपटादिज्ञान में घटपटादिपदार्थ के अध्यास का अङ्गीकार तो नहीं, और शुद्धचित् का स्वतः भेदाभाव होने से उपाधिविशिष्ट चित् का भेद होने पर भी घटादि के समान उपाधिविशिष्ट चित् का भी मिथ्यात्व होने से अधिष्ठानत्व नहीं हो सकता।

समाधान — नहीं, क्योंकि ज्ञानरूप या आलोकरूप प्रकाश का साक्षात् अपने से संबद्ध वस्तु के प्रकाशकत्व का नियम होने से चैतन्य का परम्परा संबन्ध से विषय प्रकाशकत्व अयुक्त है। प्रदीप परम्परासंबद्ध वस्तु को प्रकाशित नहीं करता; अतः अनावृत विषयाधिष्ठानचैतन्य ही प्रकाशक है; और आवरणभङ्ग वृत्ति से होता है। इस प्रकार अनावृत अधिष्ठान चैतन्य का ही प्रकाशकत्व होने से वृत्ति से पूर्व आध्यासिक संबन्ध विद्यमान होने पर भी दृश्य की अप्रतीति उपपन्न है। और अनावृत्ताधिष्ठानचित् का ही विषयप्रकाशकत्व होने से वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य का घटप्रकाशकत्व होने पर अधिष्ठान के साथ विषय का अध्यासिक संबन्ध अप्रयोजक होगा, क्योंकि प्रतिबिम्बरूप चैतन्य अधिष्ठान नहीं; अतः घटावच्छेदेन अभिव्यक्त चैतन्य का घटप्रकाशकत्व होने पर आवश्यक वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य से ही घटप्रकाश संभव होने पर घटाधिष्ठानचित् की अभिव्यक्ति कल्पना अयुक्त है—यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि परोक्ष से विलक्षण भानादिस्फुटतरव्यवहारार्थ विषयाधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति कल्पना युक्त ही है (अन्यथा वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य परोक्ष स्थल में भी वर्तमान होने से वहां भी स्फुटतर व्यवहार की आपत्ति होगी)।

शंका — घटाद्यनुपहितशुद्धचैतन्य की चरम साक्षात्कार से पूर्व अभिव्यक्ति नहीं, और

चैतन्यस्य न तदधिष्ठानत्वम्, आत्माश्रयादिति—वाच्यम्, चरमसाक्षात्कारात् पूर्वमपि शुद्ध-चैतन्यस्याविद्यावशादधिष्ठानभूतस्य मूलाज्ञाननिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्यभावेऽपि तदवस्थाविशेषादिनिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्या विषयप्रकाशकत्वोपपत्तेः। न च—घटप्रकाशिकायाः दृशो मिथ्यात्वे नाधिष्ठानत्वं सत्यत्वे दोषाजन्यत्वेन प्रमात्वात्, सत्यं स्वविषयं प्रति नाधिष्ठानत्वमित्युभयतःपाशारज्जुरिति—वाच्यम्, यतो दोषाजन्यत्वं न प्रमात्वप्रयोजकम्, चैतन्यस्य सर्वत्र दोषाजन्यत्वात्, किन्तु दोषाजन्यवृत्त्यवच्छिन्नत्वम्, प्रकृते च तदभावात् न विषयस्य सत्यत्वम्, अतो मिथ्याभूतविषयं प्रत्यधिष्ठानत्वं सत्याया दृशो युक्तम्। ननु—तात्त्विकसम्बन्धासम्भवे आध्यासिकसम्बन्धकल्पनम्? स एव तु कुतः? क्लृप्तसंयोगबाधे गुणगुणिनोः समवायवत्तदुभयबाधे तृतीयस्य सम्भवात्। न च तत्र मानाभावः, समवायवदनुमाध्यक्षयोः सत्त्वात्। तथा हि—परस्परासंयुक्तासमवेतविशेषणविशेष्यकविशिष्ट-धीर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टधीत्वात्, दण्डीति विशिष्टधीवत्; उक्ता जन्यप्रमा, विशेषणविशेष्यसम्बन्धनिमित्तिका, अबाधितजन्यविशिष्टधीत्वात्, सम्मतवत्; विमता धीः,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अभिव्यक्त घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य का घटाद्यधिष्ठानत्व नहीं, क्योंकि घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को घटाद्यधिष्ठान मानेंगे तो अधिष्ठानकोटि में घटादि भी आने से आत्माश्रय दोष है।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि चरम साक्षात्कार से पूर्व भी अविद्यावशतः अधिष्ठानभूत घटाद्यनुपहित शुद्ध चैतन्य की मूलाज्ञाननिवृत्तिरूप अभिव्यक्ति का अभाव होने पर भी मूलाविद्या की अवस्था विशेषरूप पल्लवाविद्या (तूलाविद्या) की निवृत्ति रूप अभिव्यक्ति होती है; उस अभिव्यक्ति से शुद्ध चैतन्य का विषयप्रकाशकत्व हो सकता है।

शंका — घटप्रकाशक ज्ञान का मिथ्यात्व होने पर अधिष्ठानत्व न होगा, और सत्यत्व होने पर दोषाजन्यत्व होने से प्रमात्व होने के कारण सत्य स्वविषय के प्रति अधिष्ठानत्व न होने से उभयतः पाशा रज्जु है (क्योंकि मिथ्या वस्तु के प्रति ही अधिष्ठानत्व होता है)

समाधान — ऐसा भी न कहो, क्योंकि दोषाजन्यत्व प्रमात्व का प्रयोजक नहीं, कारण कि सर्वस्थल में चैतन्य का दोषाजन्यत्व है; इसलिये दोषाजन्यवृत्ति से अवच्छिन्नत्व ही प्रमात्व प्रयोजक है; और प्रकृत घटादिभासक चित् में दोषाजन्यवृत्त्यवच्छिन्नत्व के अभाव से विषय का सत्यत्व नहीं। अतः मिथ्याभूत विषय के प्रति सत्यचित् का अधिष्ठानत्व युक्त है।

शंका — तात्त्विकसंबन्ध असम्भव होने पर आध्यासिक संबन्ध की कल्पना होती है। किन्तु तात्त्विकसंबन्ध असम्भव कैसे हो सकता है? क्योंकि क्लृप्त संयोग का बाध होने पर गुण और गुणी का जिस प्रकार तात्त्विकसमवायसम्बन्ध है, उसी प्रकार क्लृप्तसंयोग और समवाय का बाध होने पर तृतीय तात्त्विक संबन्ध हो सकता है। और उस तृतीयसम्बन्ध में प्रमाण का अभाव भी नहीं, क्योंकि समवाय के समान उसके लिये भी अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। तथाहि— परस्पर असंयुक्त और असमवेत जो विशेषण और विशेष्य हैं, उस विशेषण—विशेष्य को विषय करने वाली "ज्ञातो घटः" इत्यादि विशिष्टधी विशेषण—विशेष्य संबन्ध विषयिका है, विशिष्टधीत्व अर्थात् सप्रकारकधीत्व होने से, जैसे "दण्डी" इत्यात्मिका विशिष्ट धी; परस्पर असंयुक्त असमवेत विशेषणविशेष्य को विषय करने वाली जन्य प्रमा विशेषणविशेष्य संबन्ध निमित्तिका है; अबाधितजन्यसप्रकारकधीत्व होने से, संमतवत् अर्थात् "दण्डी" इति विशिष्टधीवत्; विमता विशेषणविशेष्यकविशिष्टधी अबाधितविशेषणविशेष्यसंबन्ध विषयिका है, अबाधितजन्य—

अबाधितविशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, अबाधितविशिष्टधीत्वाद्दण्डीति विशिष्टधीवत्। गोमांश्चैत्र इत्यादे(इत्यादिबुद्धे)रपि पक्षकुक्षिनिक्षेप एवेति न तत्र व्यभिचारशङ्का। तथा च संयोगसमवायातिरिक्तसम्बन्धसिद्धिरिति—चेन्न, प्रथमे—द्वितीये चार्थान्तरम्, आध्यासिक—सम्बन्धस्यैव विषयत्वेन निमित्तत्वेन चोपपत्तेः। द्वितीये परोक्षधीषु व्यभिचारश्च। तृतीये ब्रह्मज्ञानपर्यन्ताबाधितत्वेन सिद्धसाधनमेव। सर्वथा अबाधितविषयत्वे साध्ये साध्यवैकल्यम्। न च—तात्त्विकसम्बन्धबाधे आध्यासिकसम्बन्धसिद्धिः, तथा च संयोगसमवायातिरिक्त—तात्त्विकसम्बन्धबाधपर्यन्तं नाध्यासिकसम्बन्धसम्भावना, तथा च कथमर्थान्तरसिद्धसाधन—साध्यवैकल्यानीति—वाच्यम्, तात्त्विकसम्बन्धस्य व्यापकानुपलब्ध्या बाधात्। तथा हि—तात्त्विकसम्बन्धस्य व्यापको देशकालविप्रकर्षाभावः। स चातीतादिविषयकज्ञानादीनां नास्त्येवेति कथं तात्त्विकस्तेषां सम्बन्ध? न च—समवायवत् सम्बन्ध्यभावविप्रकर्षाद्य—विरुद्धत्वेनैव तत्सिद्धिरिति— वाच्यम्, समवायस्यापि देशकालविप्रकृष्टयोः सम्बन्ध—व्यवहाराप्रयोजकत्वात्। न हि सम्बन्ध्यभावेऽपि सन् समवायोऽद्य नष्टं घटं श्वस्तनेन रूपेण विशिनष्टि। न चाध्यासिकत्वे सम्बन्धस्य साध्ये धर्मिग्राहकमानबाधः, विशिष्टबुद्धित्वेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विशिष्टधीत्व होने से, ''दण्डी'' इति विशिष्टधीवत्। और ''गोमान् चैत्रः'' इत्यादि का भी पक्षकुक्षि में समावेश होने से उसमें हेतु की व्यभिचार—शंका नहीं हो सकती। तब तो संयोग और समवाय के अतिरिक्त तात्त्विक संबन्ध की सिद्धि है?

समाधान — नहीं, क्योंकि प्रथम और द्वितीय प्रयोग में अर्थान्तर अर्थात् प्रकृतानुपयुक्तत्व है, क्योंकि आध्यासिकसंबन्ध का ही विषयत्व और निमित्तत्व हो सकता है। और द्वितीय—प्रयोग में तो परोक्षधी में व्यभिचार भी है। तृतीय प्रयोग में— ब्रह्मज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक अबाधितत्व होने से सिद्ध साधन है; और सर्वथा—अबाधितविषयत्व साध्य होने पर तो दृष्टान्त का साध्यवैकल्य है।

शंका — तात्त्विक संबन्ध का बाध होने पर आध्यासिक संबन्ध की सिद्धि है, तब तो संयोग और समवाय के अतिरिक्त तात्त्विक संबन्ध का जब तक बाध नहीं होगा, तब तक आध्यासिक संबन्ध की संभावना नहीं; इसलिये अर्थान्तर, सिद्धसाधन और साध्यवैकल्य किस प्रकार हो सकते हैं?

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि तात्त्विकसंबन्ध का व्यापक की अनुपलब्धि से बाध होता है (क्योंकि व्यापक के अभाव से व्याप्य का अभाव स्वतः सिद्ध है)। तथाहि— तात्त्विक संबन्ध का व्यापक है संबन्धी का देशकालविप्रकर्षाभाव अर्थात् देशकालसन्निकर्ष। और वह देशकालविप्रकर्षाभाव अतीतादिविषयक ज्ञानादियों का न होने से ही उन ज्ञानों का अपने अतीतादिविषयों के साथ कैसे तात्त्विक संबन्ध होगा?

शंका — संबन्धी के अभाव होने पर भी जैसे समवाय की सिद्धि है, वैसे ही तात्त्विक संबन्ध की भी संबन्ध्यभाव, विप्रकर्षादि से अविरुद्धत्वरूप से ही सिद्धि होगी।

समाधान — ऐसा भी न कहो, क्योंकि समवाय भी देशकाल विप्रकृष्ट दो संबन्धियों के संबन्धव्यवहार का अप्रयोजक है। क्योंकि संबन्धी की अभावदशा में भी वर्तमान समवाय आज नष्ट घट को श्वस्तन (आगामी दिन में होने वाले) रूप से विशिष्ट व्यवहारभाग् नहीं करता।

शंका — संबन्ध को पक्ष कर के आध्यासिकत्व साध्य में पक्षीभूत संबन्धग्राहक प्रमाण से

प्रथमं तात्त्विकातात्त्विकसाधारणसम्बन्धस्यैव सिद्धेः। किञ्च सम्बन्धग्राहक एव तात्त्विक-सम्बन्धव्यापकानुपलब्धिरूपबाधसहकृत आध्यासिकसम्बन्धे पर्यवस्यति। अतो न धर्मिग्राहकबाधशङ्कापि। न चैवं—युतसिद्धयोरेव संयोगरूपसम्बन्धदर्शनादयुतसिद्धिरपि समवायस्य बाधिका स्यादिति—वाच्यम्, युतसिद्धयोरपि क्वचित्सम्बन्धादर्शनेन युतसिद्धत्वस्य सम्बन्धाप्रयोजकत्वात्, यस्मिन सत्यवश्यं सम्बन्धः, स एव सम्बन्धस्य प्रयोजक इति समव्याप्तत्वाभावेन युतसिद्ध्यनुपलब्धेरबाधकत्वात्, यत्र सम्बन्धस्तत्रावश्यं युतसिद्धिरिति विषमव्याप्तिकल्पनेऽपि मानाभावात्, अनुकूलतर्कादर्शनात्, देशकालविप्रकर्षाभाववतां तु सर्वेषां सम्बन्धदर्शनेन विप्रकर्षे तददर्शनेन च समव्याप्ततया प्रयोजकस्य देशकालविप्रकर्षाभावस्यानुपलब्धेः सम्बन्धबाधकत्वस्यावश्यमङ्गीकरणीयत्वात्। न हि प्रयोजकाभावे प्रयोज्यसम्भवः।

नन्वेवं—ध्वंसादेरतीतादिना, मिथ्यात्वलक्षणान्तर्गतस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिना, शक्तेः शक्येन, अज्ञानस्याज्ञेयेन, इच्छाया इष्यमाणेन, व्यवहारस्य व्यवहर्तव्येन, वाक्यस्यार्थेन, वृत्तिरूपज्ञानस्य ज्ञेयेन, सम्बन्धो नेति त्वद्वाक्योक्तसम्बन्धाभावस्य ज्ञानेनासम्बन्धात् स्वन्यायस्वक्रियास्ववचनविरोधाः स्युः, नहि ज्ञाने ज्ञेयमिव प्रतियोग्यादिकमभावादाव-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

बाध होगा।

समाधान – नहीं, क्योंकि विशिष्टबुद्धित्व हेतु से प्रथम तात्त्विक और अतात्त्विक साधारण संबन्ध की ही सिद्धि है (विशिष्ट बुद्धिः संबन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वात्, सम्मतवत्)। किञ्च—संबन्धग्राहक प्रमाण ही तात्त्विकसंबन्ध के व्यापकानुपलब्धिरूपबाध से सहकृत आध्यासिक संबन्ध में ही पर्यवसित होगा। अतः धर्मिग्राहक प्रमाण से बाध की शंका भी नहीं।

शंका – इसी प्रकार से तो युतसिद्ध दो पदार्थों के ही संयोगरूप संबन्ध देखने में आने से अयुतसिद्धि भी समवाय की बाधिका होगी। (क्योंकि युतसिद्धि संबन्ध का प्रयोजक है)।

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि युतसिद्धि दो पदार्थों के भी कहीं (मेरूबिन्ध्यादि में) संबन्ध के अदर्शन से युतसिद्धत्व का संबन्धप्रयोजकत्व नहीं; जिस के होने पर अवश्य संबन्ध है, वहीं संबन्ध के प्रयोजक होने से, संबन्ध और युतसिद्धत्व में समव्याप्ति के अभाव से, युतसिद्धि की अनुपलब्धि संबन्ध की बाधिका नहीं, और "जहां संबन्ध हैं, वहां युतसिद्धि है" ऐसी विषम व्याप्ति की कल्पना में भी प्रमाण का अभाव है, क्योंकि उसमें अनुकूल तर्क देखने में नहीं आता, और देशकाल विप्रकर्ष के अभाव वाले सबके संबन्ध का दर्शन होने से और विप्रकर्ष होने पर संबन्ध के अदर्शन से समव्याप्ति होने के कारण, प्रयोजकीभूत देशकालविप्रकर्षाभाव की अनुपलब्धि का संबन्धाबाधकत्व अवश्य अङ्गीकरणीय है। क्योंकि प्रयोजक का अभाव होने पर प्रयोज्य संभव नहीं।

शंका – इसी प्रकार से ध्वंसादि का अतीतादि के साथ, मिथ्यात्वलक्षणान्तर्गत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी के साथ, शब्दनिष्ठ शक्ति का शक्यार्थ के साथ, अज्ञान का अज्ञेय के साथ, इच्छा का इष्यमाण पदार्थ के साथ, व्यवहार का व्यवहर्तव्य के साथ, वाक्य का अर्थ के साथ, और वृत्तिरूपज्ञान का ज्ञेय के साथ संबन्ध नहीं—ऐसे आपके वाक्यों से, उक्त संबन्धाभाव का संबन्धाभावविषयक ज्ञान के साथ संबन्ध न होने से स्वन्याय, स्वक्रिया और स्ववचन से विरोध है, क्योंकि ज्ञान में ज्ञेय जैसे अध्यस्त हैं, वैसे प्रतियोग्यादिक अभावादिक में अध्यस्त नहीं (ज्ञान ज्ञेय में जैसे आध्यासिक तादात्म्यसंबन्ध हैं, वैसे प्रतियोग्यभावादि में नहीं, और कोई एक संबन्ध हुए

ध्वस्तमिति—चेन्न, यद्यप्युक्तन्यायसाम्येन ध्वंसादीनां स्वप्रतियोग्यादिभिस्तात्त्विकः सम्बन्धो नास्त्येव, अध्यासोऽपि न ज्ञानज्ञेयन्यायेन, उभयोरपि मिथ्यात्वात्। तथापि प्रतीयमानं प्रतियोग्यनुयोगिभावादिकं सर्वथा न निराकुर्मः, किन्तु तात्त्विकाध्यासाभ्यां भिन्नमेव ज्ञेयकुक्षिनिक्षिप्तत्वान्मिथ्याभूतमङ्गीकुर्मः। स च संयोगादिवदतिरिक्तो वा स्वरूपं वा पराङ्गीकृतपदार्थान्तर्गतो वा तदतिरिक्तो वेत्यस्यां काकदन्तपरीक्षायां न नो निर्बन्धः। न च मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्याश्रयः, दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्त्या ज्ञेयमात्रस्याध्यासिकत्वे सिद्धे तन्मध्यपतितस्य प्रतियोग्यभावादिसम्बन्धस्यापि मिथ्यात्वम्, न तु प्रतियोग्यभावादिसम्बन्धमिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरं दृश्यमिथ्यात्वसिद्धिरिति व्यवहारोपयुक्तसम्बन्धसामान्यस्याप्रतिक्षेपान्न स्ववचनादिविरोधः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं? दृढे तदपि बाध्यताम्।
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्'।। इति।।

न चादृढत्वं बाधस्य (न्यायस्य), व्यापकानुपलब्धिरूपतर्कस्योक्तत्वात्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

बिना उपर्युक्त उदाहरणों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ध्वंसादि का अतीतादि के साथ संबन्धाभाव, तद्विषयकज्ञान से असंबद्ध—की उक्ति का तो ''यावज्जीवमहं मौनी'' के समान, स्वन्यायादि से विरोध है। इसलिये इनमें कोई एक तात्त्विक संबन्ध मानना ही होगा)।

समाधान — नहीं, क्योंकि यद्यपि ज्ञानज्ञेय संबन्धासम्भव में कथित न्याय से साम्य होने के कारण ध्वंसादिक का स्वप्रतियोग्यादिक के साथ तात्त्विक संबन्ध है ही नहीं, और ज्ञानज्ञेय न्याय से अध्यास अर्थात् अधिष्ठान और आरोप्य में तादात्म्य भी नहीं, क्योंकि ध्वंसादि और प्रतियोग्यादि दोनों ही मिथ्या हैं (मिथ्या पदार्थ अधिष्ठान नहीं होता); तथापि प्रतीयमान प्रतियोग्यनुयोगिभावादिक का सर्वथा निराकरण हम नहीं करते, किन्तु ज्ञेयकुक्षि में निक्षिप्त होने से तात्त्विक और आध्यासिक से भिन्न मिथ्यारूप संबन्ध ही मानते हैं। और वह संबन्ध संयोगादिवत् स्वसंबन्धियों से भिन्न हो, अथवा स्वरूप हो, अथवा अन्य पक्ष द्वारा अङ्गीकृत पदार्थों के अंतर्गत हो, अथवा उन पदार्थों से भिन्न हो— इस विषय में काकदन्तपरीक्षा के समान होने से हमारा कोई आग्रह नहीं।

शंका — प्रपञ्च मिथ्यात्वसिद्धि के पहले संबन्ध मिथ्यात्व की असिद्धि होने से अन्योन्याश्रय है (प्रपञ्च मिथ्यात्वसिद्धौ संबन्धमिथ्यात्वसिद्धिः, संबन्धमिथ्यात्व सिद्धौ प्रपञ्च मिथ्यात्व सिद्धिः)।

समाधान— नहीं, क्योंकि दृग्दृश्यसंबन्ध के असम्भव होने से ज्ञेयमात्र का आध्यासिकत्व सिद्ध होने पर ज्ञेयमात्र के मध्यपतित प्रतियोग्यभावादिसंबन्ध का भी मिथ्यात्व है; प्रतियोग्यभावादि संबन्ध की मिथ्यात्वसिद्धि होने के अनन्तरता दृश्यमिथ्यात्व की सिद्धि नहीं; इस कारण व्यवहारोपयुक्त संबन्ध सामान्य का प्रतिषेध न होने से स्ववचनादि से कोई विरोध नहीं। खण्डनकार ने भी ऐसा कहा है—(बाधे) = देशकालविप्रकर्षहेतुक संबन्धाभावविषयकानुमिति की सामग्री, (अदृढ़े) = अनुकूल तर्क के अनवतार से अनुत्पन्न होने पर, (अन्यसाम्यात्किम्) = ''ज्ञानज्ञेय दोनों तात्त्विक संबन्धयुक्त हैं विशिष्ट प्रमाविषयत्व होने से, प्रतियोग्यभावादिवत्'' इस सत्प्रतिपक्षरूप अन्य साम्यघटित प्रयोग से क्या लाभ? (कुछ भी फल नहीं), (दृढ़े) = अनुमिति की सामग्री अनुकूल तर्क से सुसम्पन्न होने पर (तदपिबाध्यताम्)=उस सत्प्रतिपक्षानुमान को भी वह बाधित करे। अनिर्वचनीयवादी मुमुक्षुओं का ममत्व कहां है? इति। और उक्त देशकालविप्रकर्षहैतुक अनुमिति की सामग्री में अदृढ़त्व नहीं; क्योंकि व्यापकानुपलब्धिरूप तर्क कह चुके हैं, और

स्वक्रियादिविरोधरूपप्रतिकूलतर्कस्य परिहृतत्वाच्च। अत एव न जातिवादिसाम्यम्, तेन हि नियमसापेक्षानित्यत्वसाधककृतकत्वादौ नियमानपेक्षदर्शनमात्रेण रूपवत्त्वादिक-मापाद्यते, न त्वस्माभिस्तथानियम- निरपेक्षेण साहचर्यमात्रेण किञ्चिदापाद्यते। न चैवं-ज्ञानज्ञेययोरपि प्रतियोग्यभावादिसमकक्ष्य एव सम्बन्धोऽस्त्विति-वाच्यम्, परस्पराध्या-सात्मकसम्बन्धासम्भवेनैव सम्बन्धान्तरकल्पनात्, तत्सम्भवे तस्यैव सम्बन्धत्वात्। न च-अज्ञानविषयस्य ब्रह्मणो विषयिण्यज्ञानेऽनध्यासेन विषयस्य विषयिण्यध्यासनियमो न सिद्ध इति-वाच्यम्, एवं नियमानभ्युपगमात्, किन्तु ज्ञानाज्ञानयोरध्यास एव विषयेण सम्बन्धः। स च ज्ञाने ज्ञेयस्याज्ञेये चाज्ञानस्याध्यासादुपपद्यते। अत एवाध्यासिकसम्बन्ध-व्यतिरेकप्रदर्शनेऽज्ञानस्याज्ञेयेनेत्यनुदाहरणम्। ननु-श्रवणादीनां चरमसाक्षात्कारान्तानां स्वविषयेण ब्रह्मणा सम्बन्धानुपपत्तिः, न हि श्रवणादौ साक्षात्कारे वा ब्रह्माऽध्यस्तमिति-चेन्न, साक्षात्कारो हि वृत्तिर्वा? तदभिव्यक्तचैतन्यं वा? आद्ये तस्या ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेनाज्ञाना-ज्ञेययोरिव सम्बन्धोपपत्तेः। अत एव श्रवणादिनापि मानसक्रियारूपेण न सम्बन्धानुपपत्तिः, द्वितीये त्वभेदेन सम्बन्धानुपयोगात्तत्सम्बन्धानुपपत्तिर्न दोषाय। अत एव-चरमसाक्षात्कारस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

स्वक्रियादि से विरोधरूपप्रतिकूलतर्क का परिहार हो चुका है। और बाध्य दृढ़ होने से ही-जातिवादी से साम्य नहीं, क्योंकि जातिवादी तो व्याप्तिसापेक्ष अनित्यत्वसाधक कृतकत्वादि में व्याप्तिनिरपेक्ष सहचार दर्शनमात्र से रूपादिसाधकत्व का आपादन करते हैं; और हम तो उसी प्रकार व्याप्तिनिरपेक्ष साहचार्य मात्र से कुछ भी आपादित नहीं करते।

शंका- ऐसा होने पर तो ज्ञान और ज्ञेय का भी प्रतियोग्यभावादिसमकक्ष्य अर्थात् अधिष्ठानारोप्यसंबन्ध से अन्य ही संबन्ध हो।

समाधान - ऐसा न कहो, क्योंकि परस्पर दोनों संबन्धियों के अध्यासात्मक संबन्ध के असम्भव होने से ही संबन्धान्तर की कल्पना है, आध्यासिक संबन्ध का सम्भव होने पर तो उस आध्यासिक का ही संबन्धत्व है।

शंका - अज्ञान के विषय ब्रह्म का विषयी अज्ञान में अध्यास न होने से विषय का विषयी में अध्यास नियम असिद्ध है।

समाधान - ऐसा न कहो, क्योंकि ऐसे नियम का अङ्गीकार नहीं; किन्तु ज्ञान और अज्ञान का विषय के साथ संबन्ध ही अध्यास है। और संबन्ध तो ज्ञान में ज्ञेय का और अज्ञेय में अज्ञान का अध्यास से होता है। इस प्रकार अज्ञान और अज्ञेय में आध्यासिक संबन्ध स्वीकृत होने से आध्यासिक संबन्धाभाव के प्रदर्शन में अज्ञान का अज्ञेय के साथ संबन्धाभावरूप उदाहरण ठीक नहीं।

शंका - चरम साक्षात्कारान्त तक कर्तव्य श्रवणादिकों की अपने विषय ब्रह्म के साथ संबन्धानुपपत्ति है, क्योंकि श्रवणादि में अथवा साक्षात्कार में ब्रह्म अध्यस्त नहीं।

समाधान- नहीं, क्या साक्षात्कार वृत्तिरूप है? अथवा वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्यरूप है? आद्य पक्ष में वृत्ति के ब्रह्म में अध्यस्तत्व होने से अज्ञान और अज्ञेय के समान संबन्ध की उपपत्ति है; और अध्यस्तत्व होने से ही मानस क्रियारूप श्रवणादि के साथ भी संबन्ध की अनुपपत्ति नहीं। द्वितीय पक्ष में तो अभेद होने से संबन्ध का उपयोग न होने के कारण साक्षात्कार के संबन्ध की अनुपपत्ति दोष के लिए नहीं होती। इस प्रकार दोषाभाव होने से ही ब्रह्म में अध्यस्तत्व होने से

ब्रह्मण्यध्यस्तत्वाद् यदि तद्विषयत्वम्, तदा घटसाक्षात्कारस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात्तद्वि–षयत्वापत्तिरिति–निरस्तम्, घटसाक्षात्कारस्य घटाभिव्यक्तचैतन्यरूपत्वे ब्रह्मण्यनध्यासात्, वृत्तिरूपत्वे तस्या ब्रह्मण्यध्यासेऽपि नाधिष्ठानभूतब्रह्मणो विषयत्वम्, ब्रह्मविषयताप्रयोजक–स्याध्यासविशेषस्य तत्राभावात्, तस्य च फलबलकल्प्यत्वात्, न हि चरमवृत्तौ ब्रह्माकार–तावदत्राऽपि साऽनुभूयते, इच्छेष्यमाणयोस्तु ज्ञानद्वारक एव सम्बन्ध इति न पृथक्सम्बन्धा–पेक्षा। न च ज्ञाने सन्निकर्षाधीनस्येव स्मृतावनुभवाधीनस्येवेच्छायां ज्ञानाधीनस्य विषय–सम्बन्धस्यानुभवात् सन्निकर्षादिभ्यो भिन्न इव ज्ञानाद् भिन्न एव सम्बन्धो वक्तव्य इति वाच्यम्। सम्बन्धानुभवस्य ज्ञानद्वारकसम्बन्धेनाप्युपपत्तेरति– रिक्तसम्बन्धकल्पने मानाभावात्, ज्ञानाधीनसम्बन्धान्तरस्याननुभवात्। ज्ञाने त्विन्द्रियसन्निकर्षादिना न सम्बन्धानुभवोपपत्तिः, इन्द्रियसन्निकर्षादीनामतीन्द्रियत्वेन तेषामनुमित्यादिनोपस्थितिं विनैव घटज्ञानमित्यादि सम्ब–न्धानुभवात्। स्मृतौ त्वनुभवाधीनसम्बन्धस्य शङ्कैव नास्ति, अनुभवस्य तदानीमसत्त्वात्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

यदि चरम साक्षात्कार का ब्रह्म विषयत्व है, तो ब्रह्म में अध्यस्तत्व होने से ही घट साक्षात्कार का भी ब्रह्म विषयत्व होना चाहिये– यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि घटसाक्षात्कार का घटावच्छेदेन अभिव्यक्त चैतन्यरूपत्व होने पर ब्रह्म में अध्यास नहीं; और वृत्तिरूपत्व होने पर घटसाक्षात्कार रूपवृत्ति का ब्रह्म में अध्यास होने पर भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म विषयकत्व नहीं, क्योंकि ब्रह्मविषयता के प्रयोजक अध्यास विशेष (''अहं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्य घटित सामग्री से जन्य वृत्ति में निष्ठ ब्रह्मतादात्म्य) का अभाव घट साक्षात्कार में है; और वह अध्यास विशेष फलबलकल्प्य (जिस सामग्रीजन्य ज्ञान में ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिफलकत्व है, उस ज्ञान का ही ब्रह्माकारत्व है– ऐसा ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिफलबलकल्प्य) है; जैसा चरमवृत्ति में ब्रह्माकारता का अनुभव होता है, वैसा घटसाक्षात्काररूप वृत्ति में ब्रह्माकारता का अनुभव नहीं होता। इच्छा और इष्यमाण पदार्थ के तो ज्ञानद्वारक ही इच्छोपधायकज्ञानविषयत्वरूप संबन्ध होने से पृथक् संबन्ध की अपेक्षा नहीं (इच्छाजनकज्ञानज्ञानसंबंधी ही इच्छासंबन्ध होने से, इच्छा संबन्ध दृष्टान्त नहीं हो सकता–यह भाव है)।

शंका – जैसे ज्ञान में सन्निकर्षद्वारक विषयसंबन्ध का अनुभव है, और जैसे स्मृति में अनुभवद्वारक विषयसंबन्ध का अनुभव है, वैसे इच्छा में ज्ञानद्वारक विषयसंबन्ध का अनुभव होने से जिस प्रकार ज्ञान और स्मृति का सनिकर्ष और अनुभव से भिन्न संबन्ध है, उसी प्रकार इच्छा का भी ज्ञान से भिन्न ही संबन्धवक्तव्य है।

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि इच्छास्थल में संबन्धानुभव की ज्ञानद्वारक संबन्ध से भी उपपत्ति होने से, अतिरिक्त संबन्ध की कल्पना में प्रमाण नहीं, और ज्ञानाधीन संबन्धान्तर का अनुभव भी नहीं होता। ज्ञान में तो इन्द्रियसन्निकर्षादि से संबन्धानुभव की उपपत्ति नहीं; क्योंकि इन्द्रियसन्निकर्षादियों के अतीन्द्रियत्व होने से उन सन्निकर्षादियों की अनुमित्यादि द्वारा विषयत्वेन उपस्थिति के बिना ही ''घटज्ञान'' इत्यादि घट और ज्ञान के संबन्ध का अनुभव होता है। और स्मृति में तो अनुभवाधीन संबन्ध की शंका ही नहीं, क्योंकि स्मृतिकाल में अनुभव अवर्तमान है, और स्मृति तथा अनुभव दोनों का ज्ञानत्वेन समानरूप से विषय के साथ संबन्ध हो सकता है। (जैसे अनुभव का ज्ञानत्व होने से स्वविषय के साथ अन्यानधीन संबन्ध होता है, वैसे स्मृति का ज्ञानत्व होने से स्वविषय के साथ अनुभवानधीन संबन्ध संभव है)।

उभयोरपि ज्ञानत्वेन तुल्यवदेव सम्बन्धसम्भवाच्च। न च– समूहालम्बनजन्यैकविषये–च्छायामुभयविषयत्वापत्तिः, जनकज्ञानस्योभयविषयत्वादिति वाच्यम्, अतिरिक्तसम्बन्धप–क्षेऽपि तुल्यत्वात्। अथैकविषयावच्छेदेनैव ज्ञानस्य जनकत्वान्नोभयविषयत्वं, समं ममाऽपि, जनकज्ञाने जनकतावच्छेदकविषयत्वस्यैव सम्बन्धत्वात्। न च नित्येश्वरेच्छाया विषयसम्बन्धानुपपत्तिः, तस्या अस्माभिरनङ्गीकारात्, तार्किकाणामपि तत्साधकमानबलेन विलक्षणसम्बन्धकल्पनेऽपि जन्यज्ञानजन्येच्छयोरुक्तप्रकारणैव विषयताभ्युपगमात्। न च–पुत्रादिधीजन्यसुखादेः पुत्रादिविषयत्वापत्तिः, इच्छान्यायादिति–वाच्यम्, वैषम्यात्। ज्ञानस्य समानत्वेऽपि इच्छादावेव सविषयत्वप्रतीतिः, न तु सुखादौ। वस्तुस्वाभाव्यात् त्वयाप्यस्यैवार्थस्य वक्तव्यत्वात्। अन्यथा स्फटिके जपाकुसुमसन्निधानाल्लौहित्य–वल्लोष्टेऽप्यापद्येत। अथ धर्मे तात्पर्यस्यानध्यासात्तात्पर्यसम्बन्धो न स्यात्, न, तात्पर्य हि तत्प्रतीत्युद्देश्यकत्वम्, प्रतीतेश्च ज्ञेयान्तरेणेव धर्मेणाऽपि सम्बन्धोऽध्यास एव, प्रतीतिद्वारा च धर्मतात्पर्ययोः सम्बन्ध इत्यनुपपत्त्यभावात्। न च ज्ञानस्य प्रकाशत्वेन प्रदीपसाम्येऽपि आन्तरत्वेन तद्वैलक्षण्यमङ्गीकर्तव्यम्, अत इच्छादिवद्विप्रकृष्टेनापि सम्बन्धः स्यात्, अन्यथा

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – ''घटपटौ इष्टसाधनमेयौ'' इस समूहालम्बनज्ञानजन्य घटविषयक इच्छा में घटपट दोनों के विषयत्व की आपत्ति है, क्योंकि इच्छाजनक ज्ञान का उभयविषयकत्व है।

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि ज्ञानसंबन्ध से इच्छासंबन्ध को अतिरिक्त मानने के पक्ष में भी यह दोष तुल्य है। यदि कहो कि इष्टसाधनत्वविशिष्ट घटरूप एक ही विषय के अवच्छेद से ज्ञान का जनकत्व होनेसे घटपटोभयविषयत्व नहीं है, तो मेरे पक्ष यह तुल्य है, क्योंकि इच्छाजनकज्ञान में जनकतावच्छेदक अर्थात् इच्छा प्रयोजक विषयत्व का ही संबन्धत्व है (और ईश्वर की नित्येच्छा के विषयसंबन्ध की अनुपपत्ति भी नहीं, क्योंकि नित्येश्वरेच्छा को हम नहीं मानते; और तार्किकों के मत में भी नित्येश्वरेच्छा साधक प्रमाण के बल से (''आद्य कार्यं सकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत्'' इस नित्यज्ञानेच्छाकृतिमज्जन्यत्वसाधक अनुमान के बल से) विलक्षणसंबन्ध की कल्पना होने पर भी (जन्येच्छा में इच्छाजनक ज्ञानीयविषयत्वसंबन्ध है, और नित्येच्छा में तो नित्येच्छा–समानाधिकरणज्ञानीय सर्वविषयत्वसंबन्ध है– इस प्रकार की कल्पना होने पर भी) जन्यज्ञान और जन्येच्छा में तो उक्त प्रकार से अर्थात् जनकज्ञानीयविषयता ही जन्येच्छा संबन्ध है–ऐसा अङ्गीकार होता है। और इस इच्छान्याय से पुत्रादिबुद्धिजन्य सुखादि के पुत्रादिविषयत्व की आपत्ति है– ऐसा भी न कहना चाहिये, क्योंकि उसमें वैषम्य है। ज्ञानजन्यत्व समान होने पर भी इच्छादि में सविषयत्व की प्रतीति होती है, सुखादि में तो नहीं। क्योंकि वस्तु का स्वभाव ऐसा ही होने से आप को भी यह बात कहनी ही होगी। अन्यथा स्फटिक में जपाकुसुमसन्निधान से जैसे लौहित्य है, वैसे लोष्ट में भी लौहित्य की आपत्ति होगी।

शंका – धर्म में तात्पर्य का अध्यास न होने से तात्पर्यसंबन्ध नहीं होगा।

समाधान – नहीं, क्योंकि तात्पर्य का अर्थ है, तत्प्रतीत्युद्देश्यकत्व और प्रतीति का जैसे ज्ञेयान्तर से संबन्ध अध्यास है, वैसे धर्म से भी संबन्ध अध्यास ही है, और प्रतीति द्वारा धर्म और तात्पर्य का संबन्ध होने में कुछ भी अनुपपत्ति नहीं।

शंका – ज्ञान का प्रकाशत्वरूप से प्रदीपसाम्य होने पर भी आन्तरत्वरूप से प्रदीप से विलक्षणत्व अङ्गीकर्तव्य है; इसलिये इच्छादि के समान ज्ञान का विप्रकृष्टविषय के साथ संबन्ध

प्रदीपवदेवाध्यासिकसम्बन्धोऽपि न स्यात्, परोक्षवृत्तौ विप्रकृष्टसम्बन्धदर्शनाच्चेति—वाच्यम्, देशकालविप्रकर्षाभावस्य सम्बन्धसामान्यप्रयोजकत्वे सम्भवत्यान्तरप्रतियोगिकसम्बन्ध—भिन्नसम्बन्ध एवास्य प्रयोजकत्वमिति कल्पनाबीजाभावात्। इच्छायास्तु नेष्यमाणेन साक्षात्सम्बन्धः, किन्तु ज्ञानद्वारकः परम्परासम्बन्ध एवेत्युक्तम्। परोक्षस्थले तु यद्यप्य—धिष्ठानचैतन्येन साक्षादेव सम्बन्धः, तथापि विषयाकारवृत्त्या साक्षात्सम्बन्धाभावाद् वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन विषयस्य परम्परासम्बन्ध एव। ननु—तवापि मते ज्ञेयस्य न स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वनियमः, अनध्यस्तस्य तुच्छस्य पञ्चमप्रकारत्वपक्षेऽविद्यानिवृत्तेर्भावा—द्वैतपक्षेऽभावस्य चाऽद्यूपत्वेऽपि स्वज्ञानेऽनध्यासात्, अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्य व्यावहारिकस्यातीतादेर्नित्यातीन्द्रियस्य च परोक्षानुभवरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्, स्मर्यमाणस्य च स्मृतिरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्, प्रातिभासिकस्य च प्रातिभाकसिके स्वज्ञानेऽनध्यासात्, त्वन्मते भ्रमरूपज्ञानस्यापि कल्पितत्वादिति—चेत्, मैवम्, तुच्छस्याज्ञेयत्वेन ज्ञानेऽध्या—साभावात्, ज्ञेयस्य हि ज्ञानेऽध्यासः, तुच्छस्य तु न ज्ञेयतेत्यग्रे वक्ष्यते। पञ्चमप्रकारा—विद्यानिवृत्तेरपि प्रतियोग्यधिकरणे ध्वंसस्यापि तत्र वृत्तेरवश्यम्भावादध्यास एव सम्बन्धः। वस्तुतस्त्वविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वञ्च भावाद्वैतञ्चानभ्युपगमपराहतम्। यथा चाविद्यानिवृत्ते—र्ब्रह्मरूपत्वं सर्वाद्वैतञ्च तथोपरिष्टाद्वक्ष्यते। अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्यातीतादेरनुमित्या—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होना चाहिये; अन्यथा प्रदीप के समान ही ज्ञान का भी विषय के साथ आध्यासिक संबन्ध भी नहीं होना चाहिये, और परोक्षवृत्ति में विप्रकृष्ट विषय का संबन्ध देखने में आता है।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि देशकाल विप्रकर्षाभाव का संबन्धसामान्य प्रयोजकत्व सम्भव होने पर, आन्तरप्रतियोगिक संबन्ध से भिन्न संबन्ध में ही, देशकालकृत विप्रकर्ष के अभाव का प्रयोजकत्व है— ऐसी कल्पना में कोई बीज नहीं। इच्छा का तो इष्यमाण के साथ साक्षात् संबन्ध नहीं; किन्तु इच्छाजनकज्ञानद्वारक परम्परा संबन्ध ही है— ऐसा कह चुके हैं। परोक्षस्थल में तो यद्यपि अधिष्ठान चैतन्य से विषय का साक्षात् ही संबन्ध है, तथापि विषयाकारवृत्ति से साक्षात्संबन्ध के अभाव से वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य से विषय का परम्परा संबन्ध ही है।

शंका — आपके मत में भी ज्ञेय का स्वज्ञान में अध्यस्तत्व नियम नहीं; क्योंकि अनध्यस्त तुच्छ का, पञ्चमप्रकारत्वपक्ष में अविद्यानिवृत्ति का, भावाद्वैतपक्ष में प्रपञ्चाभाव का ज्ञानरूपत्व न होने पर भी अपने—अपने ज्ञान में अध्यास नहीं, और अपरोक्षैकरस ब्रह्म में अध्यस्त व्यावहारिक अतीतादि का, तथा नित्यातीन्द्रिय विषय का परोक्षानुभवरूप स्व—स्वज्ञान में अध्यास नहीं, और स्मर्यमाण विषय का स्मृतिरूप स्वज्ञान में अध्यास नही और प्रातिभासिक पदार्थ का प्रातिभासिक स्वज्ञान में अध्यास नहीं, कारण कि तुम्हारे मत में भ्रमरूपज्ञान भी कल्पित ही है।

समाधान— वैसा नहीं, क्योंकि तुच्छ का अज्ञेयत्व होने से ज्ञान में अध्यासाभाव है, कारण कि ज्ञेय का ही ज्ञान में अध्यास होता है, तुच्छ की तो ज्ञेयता का अभाव आगे कहा जायेगा। पञ्चम प्रकार अविद्यानिवृत्ति का भी प्रपञ्चरूप प्रतियोगी के अधिकरणसत् में, ध्वंस का भी प्रतियोगी के अधिकरणसत् में वृत्तित्व अवश्यम्भावी होने से अध्यास ही संबन्ध है। वस्तुतः तो अविद्यानिवृत्ति का पञ्चमप्रकारत्व और भावाद्वैत (अभाव को अधिकरणात्मक न मानकर भावमात्र का अद्वैत) के अनङ्गीकार से ही पराहत है। जिस प्रकार से अविद्यानिवृत्ति का ब्रह्मरूपत्व और सर्वाद्वैत होते हैं, वह प्रकार आगे अविद्यानिवृत्ति निरूपण में कहा जायेगा। और अपरोक्षैकरस ब्रह्म

दिरूपज्ञानेऽनध्यासेऽपि यस्मिंश्चैतन्ये तदध्यस्तं तदेव चैतन्यमनुमित्यादिरूपवृत्त्यवच्छिन्नमिति नाध्यासानुपपत्तिः। अतिप्रसङ्गपरिहारार्थं चैतन्यस्य विषयसम्बन्धे वृत्त्युपरागापेक्षायामपि नाधिष्ठानत्वे तदपेक्षा। एवमेव नित्यपरोक्षस्थले स्मृतिस्थलेऽपि प्रातिभासिकस्य प्रातिभासिक्यां वृत्तावनध्यासेऽप्यधिष्ठानविषयकवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य एवाध्यास इति न काप्यनुपपत्तिः। न च—रूप्यादिकमिदमंशावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्तम्, भासते चाविद्यावृत्ति-प्रतिबिम्बितचैतन्येनेति विषयिणि ज्ञाने विषयस्याध्यासः कथमिति—वाच्यम्; एकावच्छिन्न एवापरावच्छेदेन निरपेक्षोपाधेरिवात्र भेदकत्वाभावात्। अत एव अभियुक्तैः फलैक्यादैक्यं ज्ञानस्योच्यते। न च—रूप्यादेः स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वे रूप्यज्ञानस्याज्ञाने भ्रमोत्पत्तिस्तज्ज्ञानेन तन्निवृत्तिरिति च स्यात्, अधिष्ठानाज्ञानज्ञानाभ्यामध्यासस्य जन्मनिवृत्त्योर्नियतत्वात्, ज्ञानं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति वाच्यम्; रजताकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य रजतभ्रमाधिष्ठान-त्वानभ्युपगमात्, इदमंशावच्छिन्नचैतन्यमेव तु रजतभ्रमाधिष्ठानम्। तच्च दैवाद्रजताकार-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

में अध्यस्त अतीतादि विषय का अनुमित्यादि ज्ञान में अध्यास न होने पर भी जिस चैतन्य में अतीतादि अध्यस्त है, वही चैतन्य अनुमित्यादिरूपवृत्ति से अवच्छिन्न होने से अध्यास की अनुपपत्ति नहीं (क्योंकि ब्रह्म में घटादिविषय और घटाद्याकारवृत्ति का अध्यास होने से घटाद्यधिष्ठान ब्रह्मचैतन्यवृत्यवच्छिन्न है)। और अतिप्रसङ्ग निवारणार्थ चैतन्य के विषयसंबन्ध में अर्थात् "घटं जानामि" इत्यादि संबन्ध व्यवहार में वृत्त्युपराग की अपेक्षा होने पर भी अधिष्ठानत्व में वृत्युपराग की अपेक्षा नहीं। ऐसे ही नित्यपरोक्षस्थल और स्मृतिस्थल में भी अध्यास की अनुपपत्ति नहीं। और प्रातिभासिक विषय का प्रातिभासिक की वृत्ति में अध्यास न होने पर भी अधिष्ठानविषयकवृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य में ही अध्यास होने से कुछ भी अनुपपत्ति नहीं।

शंका — रजतादिक इदमंशावच्छिन्नचैतन्य में अध्यस्त है और अविद्यावृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य से भासित होनेसे विषयी ज्ञान में विषय का अध्यास कैसे होगा?

समाधान — ऐसा न कहिये; क्योंकि एकावच्छिन्न अर्थात् शुक्त्युपहित चैतन्य में ही अपरावच्छेद से अर्थात् अविद्यावृत्त्युपहितत्व होने से एकदेशस्थ शुक्ति और रजताकाराविद्यावृत्तिरूप उपाधिद्रय में निरपेक्षोपाधि अर्थात् विभिन्नदेशस्थोपाधि के समान भेदकत्व का अभाव है (भिन्न भिन्न देश में स्थित उपाधियां ही उपहित की भेदक हैं, एकदेशस्थ उपाधियां उपहित की भेदक नहीं)। इस प्रकार उपाधिद्रय के एकदेशस्थत्व का ही अभेदप्रयोजकत्व होने से पञ्चपादिकाविवरण— कारादि अभियुक्तों ने फलैक्य अर्थात् अभिव्यक्तत्वरूप फलत्व के आश्रय चैतन्य का एकतापन्नशुक्तिरजतादि से अवच्छिन्न होने से शुक्त्यवच्छिन्न और अविद्यावृत्त्यवच्छिन्न ज्ञान का ऐक्य कहा है।

शंका — रजतादि का स्वविषयकज्ञान में अध्यस्तत्व होने पर तो अधिष्ठानभूत रजतज्ञान का अज्ञान होने पर ही भ्रम की उत्पत्ति होगी, और रजतज्ञानविषयकज्ञान से रजतभ्रम की निवृत्ति भी होनी चाहिये; क्योंकि अधिष्ठान के अज्ञान और ज्ञान के अध्यास की उत्पत्ति और निवृत्ति का नियतत्व है; और "ज्ञानं रजतम्" ऐसी प्रतीति का प्रसङ्ग भी होगा (क्योंकि भ्रम में अधिष्ठान सामान्यांश का अनुगतत्व नियत है)।

समाधान— ऐसा भी न कहो, क्योंकि रजताकारवृत्यवच्छिन्नचैतन्य के रजतभ्रमाधिष्ठानत्व का अनङ्गीकार है; किन्तु इदमंशावच्छिन्नचैतन्य ही रजतभ्रम का अधिष्ठान है, और वह इदमंशावच्छिन्नचैतन्य दैव से अर्थात् अनिवार्यगति से रजताकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य भी है, इतने

वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमपि, नैतावता भ्रमाधिष्ठानत्वे तदपेक्षा। तस्य च भ्रमविरोधिशुक्तित्वाद्याकारेणाज्ञानं भ्रमकारणम्। तेनाकारेण ज्ञानं भ्रमनिवर्तकम्। अत एव न ज्ञानं रजतमिति भ्रमाकारापत्तिः, वृत्त्यवच्छिन्नस्यैव ज्ञानत्वात्तस्य चाधिष्ठानत्वाभावात्। अधिष्ठानतादात्म्येन चारोप्यप्रतीतिरिति इदं रजतमित्येव भ्रमाकारः।

ननु—घटादेः स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात् पूर्वं सत्त्वेन तत्राध्यासो न युक्तः। न च— या घटेन्द्रियसन्निकर्षजा वृत्तिस्तया घटो न प्रकाश्यः, येन च प्रकाश्यो घटाधिष्ठानचैतन्येन न तत्सन्निकर्षजमिति—वाच्यम्, वृत्त्यतिरिक्तज्ञाने मानाभावात्। अज्ञाननिवृत्तेरपि तत एव भावादिति—चेन्न, वृत्त्युदयात् प्रागज्ञातार्थसिद्ध्यर्थं वृत्त्यतिरिक्तज्ञानस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्। अन्यथा तस्य साधकाभावेन शशशृङ्गतुल्यतया सन्निकर्षतज्जन्यज्ञानहेतुत्वेन प्राक् सत्त्वकल्पना निष्प्रामाणिकी स्यात्। तस्माद्याद्दशस्य घटादेरिन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वेन ज्ञानकारणत्वम्, तादृशस्य साधकं किञ्चिन्मानमवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथाऽन्वयव्यतिरेकयोरग्रहेण कार्यकारणभावाग्रहात् सर्वमानमेयादिव्यवस्थोच्छिद्येत। तच्च मानं न वृत्तिरूपम्; तदानीं वृत्तिकारणाप्रवृत्तेरिति तद्विलक्षणं नित्यं स्वप्रकाशमेकमेव लाघवात्, वृत्तिगतोत्पत्तिविनाशजडत्वादिभिस्तदसंस्पर्शात्। तदेव च नानाविधोपाधिसम्बन्धान्नानाविध—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

मात्र से भ्रमाधिष्ठानत्व में रजताकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य की अपेक्षा नहीं, और भ्रम विरोधिशुक्तित्वाद्याकाररूप से उस इदमंशावच्छिन्नचैतन्य का अज्ञान भ्रमकारण है, और भ्रम विरोधिशुक्तित्वाद्याकाररूप से उसका ज्ञान भ्रमनिवर्तक है। और इदमंशावच्छिन्नचैतन्य के ही अधिष्ठानत्व होने से ''ज्ञानं रजतम्'' ऐसे भ्रमाकार की आपत्ति भी नहीं; क्योंकि वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का ही ज्ञानत्व है और उसके तो अधिष्ठानत्व का अभाव है। और अधिष्ठान के साथ तादात्म्यरूप से आरोप्य की प्रतीति होने से '' इदं रजतम्'' ऐसा ही भ्रमाकार है।

शंका — घटादि का अपने से सन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वविषयकज्ञान से पूर्व वर्तमानत्व होने से स्वज्ञान में अध्यास अयुक्त है। इसमें ऐसा कहो कि—घटेन्द्रियसन्निकर्ष से उत्पन्न जो घटाकारवृत्ति है, उसी से घट प्रकाश्य नहीं; और जिस घटाधिष्ठान चैतन्य से घटप्रकाश्य है, वह सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं है तो यह कथन अनुचित है; क्योंकि वृत्ति के अतिरिक्त ज्ञान में प्रमाण का अभाव है,और अज्ञान की निवृत्ति भी वृत्ति से ही होती है।

समाधान — नहीं, क्योंकि वृत्त्युदय से पहले अज्ञानार्थ की सिद्धि के लिये वृत्ति के अतिरिक्त ज्ञान अवश्य अङ्गीकर्तव्य है। यदि अतिरिक्त ज्ञान का अङ्गीकार नहीं है तो अज्ञातार्थ के साधकाभाव होने से शशशृङ्गतुल्यत्व होने के कारण सन्निकर्ष और सन्निकर्षजन्य ज्ञान के हेतुत्वरूप से प्राक्सत्त्व की कल्पना निष्प्रामाणिकी होगी। इसलिये जिस अज्ञातत्वविशिष्ट घटादि का इन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्व रूप से ज्ञानकारणत्व है, उस अज्ञातत्वविशिष्ट घटादि का साधक कोई प्रमाण अवश्य अभ्युपेय है। यदि ऐसा अङ्गीकार नहीं करेंगे तो कार्यकारणभावनिश्चायक अन्वय व्यतिरेक के अग्रहण से कार्यकारण भाव का अग्रह होने के कारण सर्व मानमेंयादि की व्यवस्था उच्छिन्न हो जायेगी। और वह अज्ञातघटादि का साधकमान वृत्तिरूप नहीं; क्योंकि अज्ञातकाल में वृत्ति के कारण सन्निकर्षादि की प्रवृत्ति नहीं; अतः वृत्ति से विलक्षण नित्य स्वप्रकाशरूप एक ही साक्षिज्ञान अज्ञातसाधक है, क्योंकि उसमें लाघव है, और वृत्तिगत उत्पात्ति, विनाश, जड़त्वादि से वह नित्य स्वप्रकाशरूप ज्ञान असंस्पृष्ट है। और वह साक्षिज्ञान ही नानाविध उपाधियों के सम्बन्ध से नानाविध व्यवहार का भागी

व्यवहारभाक् भवति, नभ इव घटमणिकमल्लिकाद्युपाधि भेदेन; तच्चाज्ञानसाधक-त्वात्स्वरूपतो नाज्ञाननिवर्तकम्, वृत्त्युपरक्तं त्वज्ञाननिवर्तकमिति न वृत्तेरनुपयोगः। तथा च सर्वाज्ञानसाधके साक्षिचैतन्ये तस्मिन् घटादेरध्यास इति काऽनुपपत्ति?

तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

सर्वतीर्थदृशां सिद्धिः स्वाभिप्रेतस्य वस्तुनः।
यदभ्युपगमादेव तत्सिद्धिर्वार्यते कुतः।। इति।। १।।
सर्वतीर्थदृशां तावत्सामान्यं मानलक्षणम्।
अज्ञातार्थावगमनं त्वदुक्ते तन्न युज्यते।।२।।
स्वतः सिद्धोऽथवासिद्धो देहादिस्ते भवन् भवेत्।
प्रमाणानां प्रमाणत्वं नोभयत्रापि लभ्यते।।३।।
प्रमाणान्यन्तरेणापि देहादिश्चेत् प्रसिध्यति।
वद प्रमाणैः कोऽन्वर्थो न हि सिद्धस्य साधनम्।। ४।।
स्वतोऽसिद्धे प्रमेये तु नासतो व्यञ्जिका प्रमा।।
नाभिव्यनक्ति सविता शशशृङ्गं स्फुरन्नपि।। इति।। ५।।
न च—'घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत्।।'।।

इति वदता वृत्तिप्रतिबिम्बितस्य घटानधिष्ठानचैतन्यस्य घटानुभवत्वोक्तिविरोध इति—वाच्यम्। वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य घटाधिष्ठानचैतन्येन सह भेदाभावात्,

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है, जैसे आकाश घट—मणिक—मल्लिकादि नानाविध उपाधि के भेद से अनेक व्यवहारभाग् होता है। और वह साक्षिज्ञान अज्ञान का साधक होने से स्वरूपतः अज्ञान का निवर्तक नहीं; और वृत्ति से उपरक्त ज्ञान तो अज्ञान का निवर्तक है; अतः वृत्ति का अनुपयोग नहीं। तब तो सब अज्ञान के साधक उस साक्षिचैतन्य में घटादि के अध्यास होने में क्या अनुपपत्ति है? इस बात को सुरेश्वराचार्य ने कहा है—''सर्व दार्शनिकों की स्वाभिप्रेत वस्तु की सिद्धि जिस चैतन्य के अभ्युपगम से ही होती है, उस की सिद्धि किस हेतु से निवारित की जाती है?'' इति। '' सर्व दार्शनिकों का सामान्य प्रमाण लक्षण है— अज्ञातार्थज्ञापन ; किन्तु आपके द्वारा कहे हुए अर्थ में वह लक्षण घटता नहीं। क्योंकि तुम्हारे मत में स्वतः सिद्ध अथवा असिद्ध होता हुआ देहादि होगा; परन्तु दोनों पक्ष में भी प्रमाणों का प्रमाणत्व उपलब्ध नहीं होता। यदि प्रमाणों के बिना भी देहादि स्वतः प्रसिद्ध हैं तो कहिये—प्रमाणों से क्या प्रयोजन हुआ? क्योंकि प्रमाणों से सिद्ध का साधन नहीं होता और स्वतः असिद्ध देहादि प्रमेय होने पर तो प्रमा असत् की व्यञ्जिका नहीं होगी, क्योंकि स्वयं स्फुरण होता हुआ भी सविता शशशृङ्ग को अभिव्यक्त नहीं करता''।

शंका — ''आभासरूप वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य के प्रसाद से'' यह घट''ऐसी उक्ति है, और ब्रह्माभिन्न साक्षिरूप चैतन्य से ''विज्ञात घट'' ऐसी उक्ति होगी, इस प्रकार कहने वाले आपके आचार्य द्वारा घट के अनधिष्ठान वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को घटानुभवात्मक साक्षी से अभिन्न कहना विरुद्ध है।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य के घटाधिष्ठानचैतन्य के साथ भेद का अभाव है,क्योंकि चैतन्य एक ही है। जिस प्रकार से एक ही चैतन्य का सर्वभासकत्व है, उसी

चैतन्यस्यैकत्वात्। यथा चैकस्यैव चैतन्यस्य सर्वभासकत्वं तथा विस्तरेणोपपादितं 'नाभाव उपलब्धेः' इत्यस्मिन्नधिकरणे भाष्यकृद्भिः।

ननु—दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वमित्यर्थापत्तिर्विवक्षिता? किं वा सत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यादित्यनुकूलतर्कमात्रम्? नाद्यः, तत्सामग्र्यभावात्। तथा हि—आक्षेप्यस्योपपादकत्वम्, प्रमाणाविरुद्धत्वम्, आक्षेपकस्यानुपपद्यमानत्वम्, प्रमितत्वञ्चेत्यर्थापत्तिसामग्री। प्रकृते चाक्षेप्यंसम्बन्धिनो मिथ्यात्वं नाक्षेपकस्य सम्बन्धस्योपपादकम्, प्रत्युत प्रतिकूलमेव। न चाध्यस्तत्वरूपसम्बन्धस्य न तत्प्रतिकूलत्वम्, तस्याद्याप्यसिद्धेरनाक्षेपकत्वात्। प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेदमाक्षेप्यम्। नाप्येकस्य दृश्यत्वस्योपपत्तये प्रमितानेकस्य त्यागो युक्तः। आक्षेपकञ्च न दृगध्यस्तत्वम्, तस्यैव फलत आक्षेप्यत्वात्। नापि दृग्विषयत्वरूपो दृसम्बन्धः, तवासिद्धेः। न दृगधीनसिद्धिकत्वम्, दृग्विषयत्वातिरिक्तस्य तस्यासिद्धेः। नान्त्यः, सत्त्वेऽप्युक्तरीत्या सम्बन्धान्तरेणैव दृश्यत्वस्योपपन्नतयाऽनुपपत्तेरेवाभावादिति—चेत्। न, अनुकूलतर्कस्यैव प्रक्रान्तत्वेनार्थापत्तिर्वेत्यादिविकल्पानवकाशात्, उभयथाप्यदोषाच्च।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रकार ही भाष्यकार ने "नाभाव उपलब्धेः" (वे.द. २/२/२८) इस अधिकरण में विस्तार से उपपादित किया है।

शंका — प्रपञ्चनिष्ठ दृश्यत्व की अन्यथानुपपत्ति से प्रपञ्च में मिथ्यात्व है— ऐसी अर्थापत्ति विवक्षित है क्या? अथवा प्रपञ्च में सत्यत्व होने पर दृश्यत्व नहीं होना चाहिये—ऐसा अनुकूल तर्कमात्र है क्या? आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि यहां पर अर्थापत्ति की सामग्री का अभाव है। तथाहि— आक्षेप्य रात्रिभोजनादि का उपपादकत्व, प्रमाणाविरूद्धत्व, आक्षेपक पीनत्वादिका अनुपपद्यमानत्व और प्रमितत्व—ये चार अर्थापपत्ति की सामग्री हैं। प्रकृत में तो संबन्धी प्रपञ्च का मिथ्यात्वरूप आक्षेप्य—आक्षेपक दृग्दृश्यसंबन्धरूप दृश्यत्व का उपपादक नहीं (जैसे "देवदत्तः पीनो दिवा न भुंक्ते" इसमें रात्रिभोजनरूप आक्षेप्य पीनत्वरूप आक्षेपक का उपपादक है,वैसा आक्षेप्य मिथ्यात्व आक्षेपक दृश्यत्व का उपपादक नहीं); इसके विपरीत वह प्रतिकूल ही है (संबन्धी का मिथ्यात्व होने पर संबन्ध का मिथ्यात्व होना नियम है, और मिथ्यात्व तो तुच्छरूप है; इसलिये कालादि से संबन्धित संबन्धस्वरूप का संबन्धिमिथ्यात्व प्रतिकूल ही है— यह द्वैती का अभिप्राय है)। और अध्यस्तत्वरूप संबन्ध मिथ्यात्वरूप आक्षेप्य के प्रतिकूल नही है, ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि अध्यस्तत्व संबन्ध की अभी तक भी असिद्धि होने से वह आक्षेपक नहीं हो सकता। और मिथ्यात्वरूप आक्षेप्य प्रत्यक्षादि से भी विरुद्ध है और एक दृश्यत्व की उपपत्ति के लिये प्रमित अनेक का त्याग भी अयुक्त है। और आक्षेपक दृगध्यस्तत्व नहीं हो सकता; क्योंकि दृगध्यस्तत्व का ही फलतः मिथ्यात्वरूप आक्षेप्यत्व है। और दृग्विषयत्वरूप दृग्संबन्ध भी आक्षेपक नहीं, क्योंकि आपके मत में दृग्विषयत्व की असिद्धि है (कारण कि तुमने विषयत्व का निराकरण किया है)। और दृगधीनसिद्धिकत्व भी आक्षेपक नहीं,क्योंकि दृगधीनसिद्धिकत्व दृग्विषयत्व के अतिरिक्त सिद्ध नहीं हो सकता। अन्त्य पक्ष भी नहीं; क्योंकि प्रपञ्च के सत्यत्व होने पर भी इच्छादि में जैसे होता है, वैसे ज्ञान में भी विषय का सत्य संबन्ध है, इत्यादि उक्त रीति से आध्यासिक संबन्ध से अन्य संबन्ध द्वारा ही दृश्यत्व उपपन्न होने से अनुपपत्ति का अभाव ही है।

समाधान — नहीं, क्योंकि अनुकूलतर्क का ही प्रकरण होने से, "अथवा अर्थापत्ति है

तथा हि—सत्यत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिः। मिथ्यात्वञ्च तदुपपादकम्। न च तत्सम्बन्ध—प्रतिकूलम्, मिथ्यात्वेऽपि शुक्तिरूप्यस्येदमंशेऽध्यस्तत्वरूपसम्बन्धदर्शनेन सम्बन्धसामान्ये प्रतिकूलत्वाभावात्। आक्षेपकोऽपि दृग्विषयत्वरूपो दृक्सम्बन्ध एव अध्यासरूपस्य दृग्विषयत्वस्य ममाऽपि संप्रतिपत्तेः, तात्त्विकस्यैव तस्य निषेधात्। न चाध्यस्तत्वस्या—द्याप्यसिद्धिः, दृक्सम्बन्धसामान्यस्याक्षेपकस्य प्रसक्तविशेषनिषेधेऽप्यध्यस्तत्व—रूपविशेषपर्यवसानेनासिद्ध्यभावात्। न ह्यध्यस्तसम्बन्धत्वेनाक्षेपकता, किन्तु सम्बन्धत्वेन। स चाध्यस्तत्वसम्बन्धसम्भावनयाप्यबाधित एवेति। न च—घटस्य ज्ञानमिति धीसिद्ध—सम्बन्धसामान्यस्याध्यस्तत्वं न विशेषः, न हि रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीतिरस्तीति—वाच्यम्, रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीत्यभावेऽपि रूप्यस्य शुक्तिरधिष्ठानमिति प्रतीत्याऽध्यस्तत्वस्य सम्बन्धविशेषत्वसिद्धेः, चैत्रस्य मैत्र इति प्रतीत्यभावेऽपि "चैत्रस्य पिता मैत्रः" इति प्रतीतिवत्। आक्षेप्यमप्यत्र प्रमाणाविरुद्धमेव; अध्यक्षादि विरोधस्य प्रागेव परिहृतत्वात्। आक्षेपके च प्रमितत्वमनपेक्षितमेव, अप्रमितेनापि प्रतिबिम्बेन बिम्बाक्षेपदर्शनात्। तर्कपरतायामपि नाप्रयोजकता, सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेर्भवदुक्तन्यायखण्डनेन प्रथमत

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

क्या'' इत्यादि विकल्प का अनवकाश है; तो भी उक्त उभयपक्षों में कोई दोष नहीं। तथाहि—दृश्य का सत्यत्व होने पर दृग्दृश्यसंबन्ध की अनुपपत्ति है, और दृश्यत्वरूप उस दृग्दृश्यसंबन्ध का उपपादक मिथ्यात्व है; और मिथ्यात्व उस संबन्ध के प्रतिकूल भी नहीं; क्योंकि मिथ्यात्व होने पर भी शुक्तिरूप्य के इदमंश में अध्यस्तत्वरूपसंबन्ध दिखने के कारण संबन्धसामान्य में प्रतिकूलत्व का अभाव है। और आक्षेपक भी दृग्विषयत्वरूप दृग्संबन्ध ही है, क्योंकि अध्यासरूप दृग्विषयत्व की हमारे मत में भी संप्रतिपत्ति है,किन्तु तात्त्विक दृग्विषयत्व का ही निषेध है। और अध्यस्तत्व की अभी तक भी असिद्धि नहीं; क्योंकि प्रसक्तसत्यसंबन्धरूप विशेष का निषेध होने पर भी अध्यस्तत्वरूप विशेष संबन्ध में और पर्यवसान होने के कारण दृग्संबन्धसामान्य की असिद्धि का अभाव है। और अध्यस्तसंबन्धत्वरूप से दृग्संबन्ध की आक्षेपकता नहीं, किन्तु संबन्धत्वरूप से आक्षेपकता है और वह अध्यस्तत्वरूप विशेषसंबन्ध अध्यस्तत्वसंबन्ध की सम्भावना से भी अबाधित ही है।

शंका – ''घट का ज्ञान है'' इस धी से सिद्ध (घट और ज्ञान के) संबन्धसामान्य का अध्यस्तत्वरूप विशेष नहीं हो सकता (अधिष्ठान और आरोप्य का अध्यस्तसंबन्धत्व नहीं हो मकता) क्योंकि ''रूप्य की शुक्ति है'' ऐसी प्रतीति नहीं होती।

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि '' रूप्य की शुक्ति है'' ऐसी प्रतीति न होने पर भी ''रूप्य का शुक्ति अधिष्ठान है'' ऐसी प्रतीति होने से अध्यस्तत्व के संबन्धविशेषत्व की सिद्धि होती है, जैसे ''चैत्र का मैत्र'' इस प्रतीति के अभावकाल में भी ''चैत्र का पिता मैत्र है'' ऐसी प्रतीति होती है। और आक्षेप्य मिथ्यात्व भी इस अर्थापत्ति में प्रमाणों से अविरूद्ध ही है, क्योंकि प्रत्यक्षादि से विरोध का पहले ही परिहार कर चुके हैं और आक्षेपक दृग्दृश्यसंबन्ध में प्रमितत्व अनपेक्षित ही है, क्योंकि अप्रमित प्रतिबिम्ब से भी बिम्ब का आक्षेप देखने में आता है और (द्वितीय विकल्प के अनुसार) अनुकूलतर्कपरता में भी इसकी अप्रयोकता नहीं; कारण कि दृग्दृश्य संबन्ध का सत्यत्व होने पर संबन्धानुपपत्ति का प्रतिपादन आपकी युक्तियों को खण्डित करके पहले ही हो चुका है। इस तर्क में दृश्यत्वाभाव का आपादकसत्त्व अनिर्वाच्यत्वाभाव अथवा

एवोपपादितत्वात्। दृश्यत्वाभावस्यापादकमत्र सत्त्वमनिर्वाच्यत्वाभावो वा, त्रिकालाबाध्यत्वं वा? उभयथाऽपि न दोषः। न चानिर्वाच्यत्वाभावस्य तुच्छे परोक्षधीवेद्यतया दृश्येऽपि सत्त्वेन व्यभिचारः, कारणसामर्थ्येन तत्र तदाकारवृत्तिसमुल्लासेऽपि दृक्सम्बन्धरूपस्य दृश्यत्वस्य तुच्छत्वविरोधिनस्तत्राभावात्। तुच्छाकारताया वृत्तिगतत्वेऽपि वृत्तिसम्बन्धस्य तुच्छगतत्वाभावोपपत्तेः नापि—यथा सतो ब्रह्मणः स्वव्यवहृत्या सम्बन्धः, तथा घटादेरपि सत एव स्वज्ञानेन सम्बन्धोऽस्त्विति—वाच्यम्, दृष्टान्ते ब्रह्मण्यध्यासस्यैव व्यवहृतिसम्बन्ध—त्वात्। तथा च उभयसम्बन्धिसत्त्वे विषयविषयिभावानुपपत्तिः नाप्रयोजकत्वादिना परिभूयते। एतेन—आध्यासिकः सम्बन्धो नाम अध्यस्तसम्बन्धो वा? अध्यस्तत्वमेव वा? आद्ये सम्बन्धस्य मिथ्यात्वेऽपि सम्बन्धिनो दृश्यस्य दृश इव मिथ्यात्वानुपपत्तिः, द्वितीये ज्ञानस्याप्यध्यस्तत्वेन तत्राध्यासानुपपत्तिः स्वस्वज्ञानपरंपरायामध्यासस्वीकारेऽनवस्था चेति—निरस्तम्, ज्ञानं हि वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यम्, तत्रावच्छेदिकाया वृत्तेर्जड़ाया अध्यस्त—त्वेऽप्यवच्छेद्यस्य चैतन्यस्य प्रकाशरूपस्यानध्यस्तत्वेन तत्र दृश्यस्याध्यासाद् दृश्यमिथ्या—त्वेऽप्यनवस्थाविरहस्योपपत्तेः। अत एव शाब्दवृत्तिविषयो ब्रह्म न वृत्तौ कल्पितमविद्याविषयो ब्रह्माविद्यायां न कल्पितं यथा, तथा दृश्यं न दृशि कल्पितम्, तथा च (सः)

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

त्रिकालाबाध्यत्व हमसे अङ्गीकृत है; इन दोनों में कुछ भी दोष नहीं।

शंका — अनिर्वाच्यत्वाभावरूप सत्त्व का परोक्षधीवेद्यत्व होने से दृश्यभूततुच्छ में भी वर्तमानत्व होने से व्यभिचार है।

समाधान— नहीं, क्योंकि ''वन्ध्यापुत्र'' इत्यादि शब्दरूपकारण के सामर्थ्य से तुच्छ में तुच्छाकारवृत्ति का समुल्लास होने पर भी तुच्छत्वविरोधी दृश्संबन्धरूप दृश्यत्व का तुच्छ में अभाव है, कारण कि तुच्छाकारता के वृत्तिगतत्व होने पर भी वृत्तिसंबन्ध के तुच्छगतत्व का अभाव हो सकता है।

शंका — जैसे सत् ब्रह्म का स्व (ब्रह्म) व्यवहार के साथ संबन्ध है, वैसे सत् ही घटादि का स्व (घटादि) ज्ञान के साथ संबन्ध हो।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि दृष्टान्त में ब्रह्म में अध्यास का ही व्यवहार के साथ संबन्धत्व है। इसलिये संबन्धिद्वय के सत्त्व में विषयविषयिभाव की अनुपपत्ति अप्रयोजकत्वादि से तिरस्कृत नहीं होती है। और वक्ष्यमाण हेतु से— अध्यासिक संबन्ध क्या अध्यास्तसंबन्ध है, अथवा अध्यस्तत्व है? आद्य में संबन्ध का मिथ्यात्व होने पर भी संबन्धी दृश्य के दृक् के समान मिथ्यात्व की अनुपपत्ति है। और द्वितीय में ज्ञान के भी अध्यस्तत्व होने से ज्ञान में अध्यास की अनुपपत्ति है; और स्वस्वज्ञान परम्परा में अध्यास मानने पर अनवस्था होगी—ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का नाम ज्ञान है, उस ज्ञान में अवच्छेदिका जड़वृत्ति का अध्यस्तत्व होने पर भी उससे अवच्छेद्य प्रकाशरूपचैतन्य अध्यस्त न होने से उसमें दृश्य के अध्यास होने के कारण दृश्य का मिथ्यात्व होने पर भी अनवस्था के विरह की उपपत्ति है।

इस प्रकार चैतन्य के अध्यस्तत्व के अभाव से— जिस प्रकार शब्दजन्यवृत्तिकविषय ब्रह्म वृत्ति में कल्पित नहीं; और अविद्या का विषय ब्रह्म अविद्या में कल्पित नहीं, उसी प्रकार दृश्य दृगूरूपचित् में कल्पित नहीं, इसलिये दृग् और दृश्यादि का संबन्ध तात्त्विक ही है; और सत्य संबन्धसामान्य से मिथ्यासंबन्ध प्राप्तिरूप अतिप्रसङ्ग निरस्त हो जाने पर विशेष की जिज्ञासा और

दृग्दृश्यादेस्तात्त्विक एव सम्बन्धः, सामान्यसम्बन्धेनैवातिप्रसङ्गे निरस्ते विशेषजिज्ञासा विशेषोक्तिश्च विशेषजिज्ञासादिवदनर्थिकैवेति– निरस्तम्, वृत्त्यविद्ययोः ब्रह्मणोऽनध्यासेऽपि तयोरेव ब्रह्मण्यध्यासात् सम्बन्धोपपत्तेः, अतस्तत्र तात्त्विकसम्बन्धाभावात्, कथं तद्दृष्टान्तेन दृग्दृश्ययोरपि तात्त्विकसम्बन्ध इत्युच्यते? तथा च प्रसिद्धविशेषे बाधिते सामान्यस्यैव बाधशङ्कयाऽतिप्रसङ्गे प्राप्ते विशेषजिज्ञासाया विशेषोक्तेश्च साफल्यात्, न ते निरर्थिके। एतेन–सम्बन्धस्य प्रामाणिकत्वे यथाकथञ्चन लक्षणं भविष्यति। तथा हि– संयोगसमवायान्तर्भावे तल्लक्षणमेव लक्षणं भविष्यति, तदनन्तर्भावे तु तदुभयभिन्न–सम्बन्धत्वमेव लक्षणमस्त्विति–निरस्तम्, उक्तयुक्त्या प्रामाणिकसम्बन्धस्य संयोगसमवा–यान्तर्भावस्य च दूषितत्वात्। तदुभयबहिर्भूतसम्बन्धत्वं तु वयमपि न निराकुर्मः, किन्तु तस्य प्रामाणिकत्वम्। किञ्च दृग्दृश्ययोः न तात्त्विकसम्बन्ध, सम्बन्धिभिन्नत्वेऽनवस्थानात्। न च दृश्यत्वान्तरहीनस्य दृश्यत्वादेरिव सम्बन्धस्यापि स्वनिर्वाहकत्वं क्वचिद् भविष्य–तीति–वाच्यम्, दृश्यत्वमपि दृक्सम्बन्ध एव। तस्य च स्वनिर्वाहकत्वं न मायिकत्वं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विशेष की उक्ति तो विशेष में विशेष की जिज्ञासा जैसे निरर्थिका ही है (क्योंकि विशेष में विशेषान्तर का अस्वीकार है) ऐसा कथन खण्डित हुआ; क्योंकि वृत्ति और अविद्या में ब्रह्म का अध्यास न होने पर भी उन दोनों के ब्रह्म में अध्यास होने से संबन्ध हो सकता है। इसलिये वृत्ति और अविद्या में तात्त्विक संबन्ध का अभाव होने के कारण उन दोनों के दृष्टान्त से दृग् और दृश्य का भी तात्त्विक संबन्ध है– ऐसा क्यों कहते हो? तब तो प्रसिद्ध विशेष अर्थात् सत्यसंबन्ध बाधित होने पर संबन्धसामान्य की ही बाध शंका होने से अति प्रसंग प्राप्त होने पर विशेष जिज्ञासा और विशेषोक्ति के साफल्य होने के कारण दोनों (विशेषजिज्ञासा और विशेषोक्ति) निरर्थक नहीं (अभिप्राय यह है–यदि सत्यसंबन्ध ही विशेष है, तो विप्रकृष्ट दो संबन्धियों के सत्यसंबन्ध के असम्भव होने से संबन्ध सामान्य नहीं होगा। यदि विप्रकृष्ट संबन्धियों के विशिष्ट संबन्ध में बाध शंका का अभाव मानें तो सन्निकृष्ट दो संबन्धियों को भी संबन्ध सामान्य बाध शंका होने से अतिप्रसङ्ग होगा। अतः मिथ्यासंबन्धरूप विशेषान्तर कहना होगा; और वह विशेषान्तर कैसे होगा–ऐसी जिज्ञासा होगी तथा उस विशेषान्तर की उपपादनरूपविशेषोक्ति भी होगी। तब तो विशेषजिज्ञासा और विशेषोक्ति का निरर्थकत्व नहीं)। इस आध्यासिक संबन्ध के समर्थन से–संबन्ध का प्रामाणिकत्व होने पर संबन्ध का लक्षण भी जैसे–तैसे होगा। तथाहि– उस संबन्ध का संयोग और समवाय में अंतर्भाव होने पर संयोग और समवाय का लक्षण ही दृग्दृश्यसंबन्ध का लक्षण होगा; और दोनों में अन्तर्भाव न होने पर तो संयोगसमवायोभयभिन्न संबन्धत्व ही लक्षण होगा–ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से प्रामाणिकसंबन्ध और संयोगसमवायान्तर्भाव दूषित है। और संयोगसमवाय से बहिर्भूत संबन्धत्व का तो हम भी निराकरण नहीं करते, किन्तु उसके प्रामाणिकत्व का निराकरण करते हैं। किञ्च–दृग् और दृश्य का तात्त्विक संबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दृग् और दृश्य के संबन्धमात्र का स्व संबन्धियों से भिन्नत्व होने पर अनवस्था होती है (कारण कि उस संबन्ध का दृक् के साथ संबन्धान्तर की कल्पना करनी होगी, और उसमें भी संबन्धान्तर–इस प्रकार अनवस्था होगी)।

शंका– जैसे दृश्यत्वान्तर से रहित दृश्यत्वादि का स्वनिर्वाहकत्व है, वैसे संबन्धान्तर से रहित संबन्ध का भी कहीं स्वनिर्वाहकत्व अर्थात् अपने प्रति संबन्धत्व हो सकता है।

विनेति नास्माकं प्रतिकूलमभ्यधायि देवानां प्रियेण, अभिन्नत्वे सम्बन्धत्वायोगात्। न चैवमाध्यासिकसम्बन्धत्वेऽप्येतद्दोषप्रसङ्गः, तस्य मायिकत्वेन मायायाश्चाघटितघटनापटीयस्त्वेन सर्वानुपपत्तेर्भूषणत्वात्। न च–अतिप्रसङ्गनिराकरणार्थं दृग्दृश्ययोः सम्बन्धनिर्वचनं प्रकृतम्, न तु विषयत्वनिर्वचनम्, अतो विषयत्वखण्डनमनुक्तोपालम्भनमिति–वाच्यम्; विषयत्व–खण्डनेन निरुच्यमानप्रकृतसम्बन्धस्यैव खण्डनात्। न च–विषयित्वानिरुक्तावपि विषयिणः सत्यत्ववद् विषयत्वानिरुक्तावपि विषयः सत्यः स्यादिति वाच्यम्, विषयित्वानिरुक्तावपि विषयाध्यासेनैव तदुपपत्त्या विषयिणः सत्यत्वं युक्तम्, विषयत्वानिरुक्तौ तु विषयस्य सत्यत्वं न युक्तम्, विषयिणोऽनध्यस्तत्वे विषयाध्यासमन्तरेणान्यस्योपपादकस्याभावात्। यत्र तु विषयिण एवाध्यासः, तत्र विषयः सत्य एव,यथाज्ञानविषयो ब्रह्म। न चोभयाध्यासः, शून्यवादप्रसङ्गात्। अन्यतराध्यासे च विनिगमकमनुवृत्तत्वव्यावृत्तत्वप्रकाशत्वजड़–त्वादिकमेव। तस्माद्विषयिणो नित्यदृशोऽनध्यासाद् विषयस्यैवात्राध्यासः। न च–'प्रमाण(जात) ज्ञानं स्वविषयावरण' इत्याद्युक्त्या दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वस्य हेतूकरणेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान– ऐसा न कहिये, क्योंकि दृश्यत्व भी दृक्संबन्ध ही है। उसका स्वनिर्वाहकत्व मायिकत्व के बिना नहीं होता; अतः देवताओं के प्रिय (मूर्ख) ने हमारे प्रतिकूल खूब कहा; और अभिन्नत्व में संबन्धत्व भी अयुक्त है।

शंका – वैसे ही आध्यासिक संबन्धत्व में भी यह दोष (संबन्धत्वायोग) का प्रसङ्ग है।

समाधान– नहीं; क्योंकि आध्यासिक संबन्धत्व के मायिकत्व होने से और माया के तो अघटितघटनापटीयस्त्व होने से सर्वानुपपत्ति ही भूषण है।

शंका – अतिप्रसङ्ग के निराकरणार्थ दृग् और दृश्य का संबन्धनिर्वचन प्रकृत है, विषयत्व का निर्वचन तो प्रकृत नहीं; अतः विषयत्व का खण्डन तो अनुक्तोपालम्भन है।

समाधान – ऐसा न कहो; क्योंकि विषयत्व के खण्डन से निरुच्यमान प्रकृतसंबन्ध का खण्डन होता है।

शंका– जैसे विषयित्व की अनिरूक्ति होने पर विषयीकरण सत्यत्व है, वैसे विषयत्व की अनिरुक्ति होने पर भी विषय सत्य हो।

समाधान – ऐसा भी न कहो, क्योंकि विषयित्व की अनिरुक्ति होने पर भी विषय के अध्यास से ही विषयित्व की उपपत्ति से अर्थात् अधिष्ठानभिन्न के ही मिथ्यात्व होने से विषयी का सत्यत्व युक्त है। और विषयत्व की अनिरुक्ति होने पर तो विषय का सत्यत्व युक्त नहीं; क्योंकि विषयी का अध्यस्तत्वाभाव होने पर विषय के अध्यास के बिना विषय और विषयसंबन्ध का उपपादक अन्य नहीं (दोनों का उपपादक मिथ्यात्व ही है)। और जहां ब्रह्मविषयकज्ञानाज्ञान स्थल में विषयी का ही अध्यास है, वहां विषय सत्य ही है, जैसे वृत्तिज्ञान का विषय ब्रह्म। उसमें दोनों का अध्यास नहीं; क्योंकि शून्यवाद का प्रसङ्ग होता है। और विषय और विषयी में अन्यतर के अध्यास आवश्यक होने पर–अधिष्ठान का अनुवृत्तत्व और आरोपित का व्यावृत्तत्व, एवं अधिष्ठान का प्रकाशत्व और आरोपित का जड़त्वादिक ही विनिगमक है। इसलिये नित्यदृग्रूप विषयी के अध्यास न होने से विषय का ही इस नित्यदृग् में अध्यास सिद्ध है।

शंका–" प्रमाज्ञान स्वविषयावरण का नाशक है" इत्यादि उक्ति से और प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान में दृग्विषयत्वरूप दृश्यत्व को हेतु करने से तुम्हें भी विषयत्व का निर्वचन अवश्य करना चाहिये।

च त्वयाऽपि विषयत्वं निर्वाच्यमेवेति—वाच्यम्, तत्त्वतोऽनिर्वाच्यत्वेऽप्यध्यस्तत्वेन घटादिसमकक्षनिर्वाच्यत्वस्य सम्भवात्। ननु—कथं प्रमाणज्ञानविषयोऽध्यस्त इति—चेन्न, प्रपञ्चविषयकज्ञाने तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभावादिति गृहाण। अत एव—यादृशं विषयत्वं ते वृत्तिं प्रति चिदात्मनः। तादृशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दृशं प्रतीति—निरस्तम्, चिदात्मनोऽनध्यासेऽपि वृत्तेस्तत्राध्यस्तत्वेन तद्दृष्टान्तेन प्रकृतेऽप्यनध्यासस्य वक्तुमशक्यत्वात्। स्यादेतत्—मिथ्यात्वं निर्वचता (निर्वचयता) तत्साधनं दृश्यत्वादिकं निर्वक्तव्यमेव, न हि घटपटाद्यसङ्कीर्णाकारज्ञानं विना तद्विलक्षणव्यवहारः, अथानिरुक्तासङ्कीर्णाकारज्ञानमात्रेण तदुपपत्तिः तर्हि तुल्यं ममाऽपि। इयांस्तु विशेषः यत्तव स आकारः सद्विलक्षणः, मम तु त्वन्मतसिद्धप्रातिभासिकवैलक्षण्यसाधकमानसिद्धसत्ताकः, न हि लक्षणोक्त्यनुक्तिभ्यां सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वचनीयत्वहानिलाभौ, ब्रह्मण्यपि श्रौतस्यापि जगत्कारणत्वादिलक्षणस्य कारणत्वखण्डनरीत्याऽसम्भवात्, त्वयैव—'कीदृग् तत्प्रत्यगिति चेत्तादृगीदृगिति द्वयम्। यत्र न प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधारय' इति ब्रह्मणोऽपि दुर्निरूपत्वोक्तेश्च, प्रपञ्चेऽपि त्वदुक्ता—निर्वाच्यत्वसमकक्षलक्षणसम्भवाच्च, 'यत्कठिनं सा पृथिवी' इत्यादिश्रुत्या पृथिव्यादीनामपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि वस्तुतः अनिर्वाच्यत्व होने पर भी अध्यस्तत्व होने से घटादिसमकक्ष निर्वाच्यत्व सम्भव है।

शंका — प्रमाज्ञान का विषय किस प्रकार अध्यस्त हो सकता है?

समाधान — ऐसी शंका न करो, क्योंकि प्रपञ्चविषयक ज्ञान में त्रिकालाबाध्यविषयकत्व रूपप्रामाण्य के अभाव से उसके विषय में अध्यस्तत्व जानो। और तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य के अभाव से ही—''तुम्हारे मत में वृत्ति के प्रति चिदात्मा का जैसा विषयत्व है; हमारे मत में भी दृक् के प्रति दृश्य का वैसा विषयत्व है'' ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि चिदात्मा का अध्यास न होने पर भी वृत्ति के चिदात्मा में अध्यस्तत्व होने से चिदात्मा के दृष्टान्त से प्रकृत दृश्य में भी अध्यासाभाव का कथन अशक्य है।

शंका — जो हो— मिथ्यात्व का निर्वचन करने वाले आपके द्वारा मिथ्यात्व के साधन दृश्यत्वादि का भी निर्वचन अवश्य करना चाहिये,क्योंकि घटपटादि के असंकीर्णाकार ज्ञान के बिना घटपटादि का विलक्षण व्यवहार नहीं होता। यदि कहो कि अनिरुक्त और असंकीर्णाकार के ज्ञानमात्र से घटपट के विलक्षण व्यवहार की उपपत्ति है, तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह हमारे मत में ही तुल्य है। किन्तु उसमें इतना विशेष है कि तुम्हारे मत में वह सद्विलक्षण आकार है, और हमारे मत में तो व्यावहारिकनिष्ठ प्रातिभासिक विलक्षणत्व का जो त्वन्मत सिद्ध साधकमान है; उस मान से सिद्ध त्रिकालाबाध्यसत्त्व से विशिष्ट आकार है; और लक्षण की उक्ति और अनुक्ति से सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व की हानि और लाभ नहीं (लक्षण की उक्ति से अनिर्वचनीयत्व की असिद्धि और अनुक्ति से सिद्धि नहीं); क्योंकि ब्रह्म में भी श्रुतिप्रतिपादित जगत्कारणत्व के लक्षण का कारणत्व की खण्डनरीति से असम्भव है; और तुम ही ''यदि प्रत्यगात्मा कैसी है—ऐसा पूछते हो तो जिसमें वैसा और ऐसा इन दोनों का प्रसर नहीं अर्थात् जिसके विषय में परोक्ष और अपरोक्ष रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता, उसको ही प्रत्यगात्मा समझिये'' ऐसा ब्रह्म का दुर्निरूपत्व (अनिर्वचनीयत्व) कहा है। और प्रपञ्च में भी त्वदुक्त अनिर्वाच्यत्व के समकक्ष लक्षण सम्भव है; और ''जो कठिन है, वही पृथिवी है'' इत्यादि श्रुति

लक्षणोक्तेश्च। तस्मादनिर्वाच्यत्वं न सत्त्वविरोधि। सत्त्वेऽप्यद्भुतत्वादेवानिर्वाच्यत्वोपपत्तेः। न च निर्वाच्यत्वमपि सत्त्वप्रयोजकम्, न हि शुक्तिरूप्यस्यापीतरभेदसाधकं रूप्यत्वं प्रातीतिकजातिरूपतया सुवचमपि सत्यम्। किञ्च ब्रह्मण आनन्दत्वज्ञानत्व-सत्यत्वस्वप्रकाशत्वादि खण्डनोक्तरीत्या दुर्वचमिति ब्रह्म तत्वतोऽनानन्दाद्यात्मकं स्यात्। तस्मादिक्षुक्षीरादिमाधुर्यवदनिर्वाच्यमपि विषयत्वं सदेवेति। अत्रोच्यतेदृश्यत्वादेरनिर्वचनीयत्वं किं सत्त्वेन, उत स्वरूपेण। नाद्यः, सत्त्वेनानिर्वचनीयत्वेऽपि तत्तदाभासलक्षणानालि-ङ्गितत्वमात्रेण हेतुत्वोपपत्तेः तन्निर्वचनानपेक्षणात्। न द्वितीयः, तात्त्विकातात्त्विकसाधारणेन दृक्सम्बन्धित्वादिना रूपेण दृग्विषयत्वस्य निर्वक्तुं शक्यत्वात्। लक्षणोक्त्यनुक्त्योर्न सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वाच्यत्वहानिलाभकरत्वमति यदवोचः, तदपि न, पूर्वोक्तव्यापकानुप-लब्धिसहिताया लक्षणानिरुक्तेः उक्तरूपानिर्वनीयत्वप्रयोजकत्वात्। यत्त्वानन्दत्वादिना धर्मेण कीदृगित्यादिना स्वरूपेण च दुर्निरूपत्वाद् ब्रह्मणोऽप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, आनन्दत्वादिधर्मवत्तया दुर्निरूपत्वेऽपि दुःखप्रत्यनीकत्वाद्युपलक्षितस्वरूपस्य सत्त्वेन निर्वक्तुं शक्यत्वात्। न चैवं प्रपञ्चे सत्त्वं शक्यनिर्वचनम्, बाधकसद्भावात्। अत एव-कठिनस्पर्शवत्त्वादिना पृथिवीत्वादीनां निर्वचनमस्त्येव, सत्त्वेऽप्यद्भुतत्वादिनाऽनिर्वाच्य-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से पृथिव्यादि के लक्षण की उक्ति है। इसलिये अनिर्वाच्यत्व सत्त्व का विरोधी नहीं; क्योंकि सत्त्व होने पर भी अद्भुतत्व होने से ही अनिर्वाच्यत्व हो सकता है। और निर्वाच्यत्व भी सत्त्व का प्रयोजक नहीं; क्योंकि शुक्तिरूप्य का भी इतरभेदसाधक जो रूप्यत्व है,वह प्रातीतिक जातिरूपत्वेन सुवच होता हुआ भी सत्य नहीं। किञ्च—ब्रह्म के आनन्दत्व, ज्ञानत्व, सत्यत्व, स्वप्रकाशत्वादि भी खण्डनोक्त रीतिं से दुर्निरूपणीय होने से ब्रह्म वस्तुतः अनान्दादिरूप होगा। इसलिये इक्षुक्षीरादि माधुर्य जैसे अनिर्वाच्य होता हुआ भी विषयत्व सत् ही है।

समाधान — इसमें यह उत्तर है— क्या दृश्यत्वादि का अनिर्वचनीयत्व सद्रूप से है अथवा स्वरूप से? आद्य नहीं हो सकता; क्योंकि सद्रूप से अनिर्वचनीयत्व होने पर भी तत्तद्धेत्वाभासलक्षणों से रहितत्वमात्र से दृश्यत्वादि के हेतुत्व की उपपत्ति होने से सद्रूप से निर्वचन की अपेक्षा नहीं रहती। द्वितीय भी नहीं; क्योंकि तात्त्विक और अतात्त्विक दोनों में साधारण दृक्संबन्धित्वादिरूप से दृग्विषयत्व का निर्वचन शक्य है। और लक्षण की उक्ति तथा अनुक्ति से सदसद्वैलक्षण्य रूप अनिर्वाच्यत्व की हानि तथा लाभकरत्व नहीं— ऐसा जो कहा था, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त व्यापकानुपलब्धि अर्थात् सत्यत्व की व्यापिका अविप्रकर्षाद्युपलब्धि के विरोधी विप्रकर्षादि साधकमान (मिथ्यात्वसाधकमान) के सहित लक्षणानिरूक्ति ही उक्तसदसद्विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व की प्रयोजिका है। और जो अनानन्दत्वादि धर्म से तथा समसत्ताकलक्षणात्मक ''कीदृक्'' इत्यादि स्वरूप से दुर्निरूपत्व होने के कारण ब्रह्म का भी अनिर्वचनीयत्व प्रसङ्ग कहा था, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि आनन्दत्वादिधर्म विशिष्टत्वेन दुर्निरूपत्व होने पर भी दुःखविरोधित्वादि से उपलक्षित स्वरूप के सत्त्व होने से आनन्दादि शब्द द्वारा निर्वचन शक्य है।

शंका — ऐसा तो प्रपञ्च के भी सत्त्व का निर्वचन शक्य है।

समाधान — नहीं, क्योंकि उसमें बाधक का सद्भाव है। और इस प्रकार बाधक के सद्भाव होने से ही—कठिन स्पर्शवत्त्वादि से पृथिव्यादिकों का निर्वचन है ही, और सत्त्व होने पर भी अद्भुतत्वादि से अनिर्वाच्यत्व की उपपत्ति है— ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि निरूक्तिविरह मात्र

त्वोपपत्तिरिति—निरस्तम्, न हि निरुक्तिविरहमात्रेणानिर्वाच्यत्वं ब्रूमः, किन्तु सत्त्वादिना निरुक्तिविरहेण। स च प्रपञ्चे बाधकादस्त्येव। न च—ज्ञाने विषयस्याध्यस्तत्वे तदज्ञानजन्यं तज्ज्ञाननिवर्त्यं चाध्यासं प्रति विषयत्वं तदनुविद्धतया प्रतीत्यभावश्च न सम्भवतीति—वाच्यम्, चैतन्यमात्राज्ञानजन्यत्वात्, तज्ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च घटादिप्रपञ्चस्येत्युक्तत्वात्। सदिति प्रतीयमानाधिष्ठानचैतन्यानुविद्धतया प्रतीयमानत्वमप्यस्त्येव। तस्मात्सत्यत्वे दृग्दृश्य-सम्बन्धानुपपत्तिर्दृढैव।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चमिथ्यात्वानुकूलतर्कनिरूपणम्।।

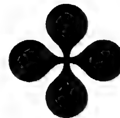
योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से अनिर्वाच्यत्व को हम नहीं कहते; किन्तु सत्त्वादि से निरुक्तिविरह के कारण अनिर्वाच्यत्व कहते हैं। और सत्त्वादिरूप से निरुक्तिविरह तो प्रपञ्च में बाधक प्रमाण से है ही।

शंका – ज्ञान में विषय का अध्यस्तत्व होने पर अधिष्ठानरूप ज्ञान के अज्ञान से जन्य और अधिष्ठानरूपज्ञान के ज्ञान से निवर्त्य अध्यासरूप भ्रमज्ञान के प्रति विषयत्व और उस अधिष्ठानरूपज्ञान से अनुगत होकर विषय की प्रतीति का अभाव— इन तीनों का असम्भव है, (सामान्य रूप से अध्यासस्थल में अधिष्ठान का विशेषाज्ञान, उस अज्ञान से जन्य और अधिष्ठान के विशेषज्ञान से निवर्त्य भ्रमज्ञान का विषय और अधिष्ठान के सामान्यांश की अध्यस्त में अनुगतत्वेन प्रतीति—इन तीनों का होना अनिवार्य है। किन्तु ज्ञान को अधिष्ठान मानें तो ज्ञान का विशेषाज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान के अज्ञान का अनुभव किसी को भी नहीं होता, ज्ञानाभाव का तो अनुभव होता है; जब ज्ञान का अज्ञान ही नहीं है तब तो उसी से उत्पन्न भ्रमज्ञान और भ्रम विषय भी नहीं हो सकते, कदाचित् ज्ञान को अधिष्ठान मान भी लिया जाय तो भी अधिष्ठान के सामान्यांश की अध्यस्त में अनुगत होकर प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं। इसलिये प्रतीति के अभाव का असम्भव है। इन तीनों कारणों से ज्ञान को अध्यास का अधिष्ठान मानना अनुचित है— यह शंका का अभिप्राय है)।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि सामान्य घटादिप्रपञ्च ब्रह्मरूपचैतन्यमात्र से जन्य हैं, और उस सामान्य चैतन्यमात्र के ज्ञान से निवर्त्य हैं— ऐसा हम पहले कह चुके हैं (विशेष ज्ञान को तो अधिष्ठान नहीं मानते); और "सत्" इस प्रकार प्रतीयमान अधिष्ठान चैतन्य से अनुविद्ध होकर अध्यस्त का प्रतीयमानत्व भी है ही (इसलिये प्रतीति का असम्भव नहीं)। अतः प्रपञ्च के सत्यत्व होने पर दृग्दृश्य संबन्ध की अनुपपत्ति दृढ़ ही है।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चमिथ्यात्वानुकूलतर्कनिरूपणस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।



३२: अथ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः

ननु—विश्वस्याध्यासिकत्वे प्रातिभासिकस्थल इव विषयेन्द्रियसन्निकर्षाधीनायाः प्रतिकर्मव्यवस्थायाः अनुपपत्तिरिति—चेन्न, वृत्तेः पूर्वमेव घटादीनां चैतन्येऽध्यासेन प्रातिभासिकस्थलापेक्षया वैलक्षण्यात्। तथा हि—अन्तःकरणं चक्षुर्वत्तेजोवयवि, तच्चेन्द्रियद्वारेण तत्संयुक्तं विषयं व्याप्य तदाकारं भवति। यथा नद्याद्युदकं प्रणाड्या निःसृत्य केदाराद्याकारं भवति, सैव वृत्तिरित्युच्यते। तत्र जीवचैतन्यमविद्योपाधिकं सत् सर्वगतमन्तःकरणोपाधिकं सत् परिच्छिन्नमिति मतद्वयम्। तत्राद्ये विषयप्रकाशकं जीवचैतन्यं द्वितीये ब्रह्मचैतन्यम्। आद्ये पक्षेऽपि जीवचैतन्यमविद्यानावृतमावृतञ्च। तत्राद्ये वृत्तिर्जीवचैतन्यस्य विषयोपरागार्था। द्वितीये त्वावरणाभिभवार्था। परिच्छिन्नत्वपक्षे तु जीवचैतन्यस्य विषयप्रकाशकतदधिष्ठानचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्था। अनावृतत्वपक्षे ह्यनावृतं सर्वगतमपि जीवचैतन्यं तत्तदाकारवृत्त्यैवोपरज्यते, न तु विषयैः, असङ्गत्वात्, यथा गोत्वं सर्वगतमपि सास्नादिमद्व्यक्त्याऽभिव्यज्यते, न तु केसरादिमद्व्यक्त्या, यथा वा प्रदीपप्रभा आकाशगन्धर—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — विश्वप्रपञ्च का आध्यासिकत्व होने पर प्रातिभासिक स्थल के समान विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के आधीन होने वाली प्रतिकर्मव्यवस्था की अनुपपत्ति है (किसी पुरुष का कदाचित् ही कोई ही विषय ज्ञानकर्म होता है, सब पुरुषों का सर्वदा सब विषय ज्ञानकर्म नहीं होते— इसका नाम है—प्रतिनियतकर्म व्यवस्था; यह व्यवस्था पूर्वसिद्ध विषय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर ही हो सकती है; अध्यास स्थल में तो ज्ञानसमानकालीन विषय होने के कारण ज्ञानोत्पत्ति के पहले विषयेन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हो सकता अर्थात् प्रातिभासिक के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता)।

समाधान — नहीं, क्योंकि वृत्ति से पूर्व ही घटादियों के चैतन्य में अध्यास होने के कारण प्रातिभासिक स्थल की अपेक्षा से विलक्षणत्व है। तथाहि— अन्तःकरण चक्षु जैसे तेजस और सावयव पदार्थ है; और वह अन्तःकरण इन्द्रिय द्वारा इन्द्रियसन्निकृष्ट विषय को व्याप्त कर विषयाकार होता है; जैसे नद्यादि का जल नाली द्वारा निकलकर केदारादि (क्यारीआदि) का आकार होता है। अन्तःकरण के उस विषयाकार को ही वृत्ति कहते हैं। इस प्रक्रिया में मतद्वय है— एक में जीव चैतन्य अविद्योपाधिक होता हुआ सर्वगत है; और दूसरे में अन्तःकरणोपाधिक होता हुआ परिच्छिन्न है। उनमें आद्यमतानुसार विषयप्रकाशक जीवचैतन्य है और द्वितीयमतानुसार ब्रह्मचैतन्य है। आद्य पक्ष में भी जीवचैतन्य अविद्या से अनावृत और आवृत भेद से दो मत हैं। उनमें आद्यमतानुसार वृत्ति जीवचैतन्य के विषय के साथ उपरागार्थ है अर्थात् जीव चैतन्य के प्रतिबिम्ब की आश्रयभूतवृत्ति के साथ संश्लेषार्थ है (और संश्लेष तो संयोगादि और तत्तदाकाराख्यविषयता— इस प्रकार उभयरूप है)। द्वितीय में तो आवरणाभिभवार्थ वृत्ति है। और परिच्छिन्नत्व पक्ष में तो विषय प्रकाशक और विषयाधिष्ठानभूत चैतन्य के साथ जीव चैतन्य के अभेदाभिव्यक्त्यर्थ वृत्ति है। कारण कि अनावृतत्व पक्ष में सर्वगत होता हुआ भी अनावृत जीव चैतन्य तत्तद्विषयाकारवृत्ति से ही उपरक्त होता है, विषयों से तो नहीं; क्योंकि वह असङ्ग है अर्थात् विषय में उपरागवत्व होने में कोई प्रमाण नहीं, जैसे—सर्वगत होता हुआ भी गोत्व सास्नादिमद्गोव्यक्ति से अभिव्यक्त होता है, केसरादिमद्व्यक्ति से तो नहीं होता; अथवा जैसे— आकाश, गन्ध, रसादि में व्यापिनी होती हुई भी प्रदीपप्रभा उन सबको प्रकाशित करती हुई रूपसंबन्धितया रूप को ही

सादिव्यापिन्यपि तान्न प्रकाशयन्ती रूपसंसर्गितया रूपमेव प्रकाशयति तद्वत्, केवलाग्न्यदाह्यस्यापि अयःपिण्डादिसमारूढाग्निदाह्यत्ववच्च केवलचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेस्तत्तदाकारवृत्त्युपारूढचैतन्यप्रकाश्यत्वं युक्तम्। एवञ्चानावृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्तिद्वारा चैतन्यस्य तत्तदुपरागे तत्तदर्थप्रकाशः। आवृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्यावरणाभिभवेन तत्तदर्थप्रकाशः। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वे जीवस्यावच्छेदकान्तःकरणतत्तद्विषयाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तौ तत्तत्प्रकाशः। यद्यपि प्रकाशकमधिष्ठानचैतन्यं सर्वगतं जीवचैतन्यं चान्तःकरणावच्छिन्नम्, तथापि चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तत्वाद् व्यवस्थोपपत्तिः।

ननु—इयं प्रतिकर्मव्यवस्था नोपपद्यते, तथा हि—स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्य— स्वज्ञानात् पूर्वं घटादेः सत्त्वे प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याप्तकाल्पनिकत्वायोगः। न च काल्पनिकत्वविशेषः प्रातिभासिकत्वादिरेव तद्व्याप्तः, गौरवात्। न च प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वादिनैव कल्पितत्वं भविष्यति, प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावस्याप्यापाद्यत्वात्, प्रतीतेर्विश्वसत्यत्वेन वा मिथ्यात्वेऽपि स्वप्नादिवदिन्द्रियसन्निकर्षनिरपेक्षतया वोपपत्तेः, व्यावहारिकत्वस्यापि भ्रान्तिदैर्घ्यमात्रेणोपपत्तेश्चेति चेत्, मैवम्,

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रकाशित करती है, वैसे यहां भी है; और जैसे केवल अग्नि से अदाह्यतृणादि का भी अयःपिण्डादि में समारूढ़ अग्नि से दाह्यत्व है, वैसे केवल चैतन्य से अप्रकाश्य घटादि का भी घटादितत्तदाकारवृत्ति में उपारूढ़ चैतन्य से प्रकाश्यत्व युक्त है। इसी प्रकार से अनावृतत्व पक्ष में तत्तद्विषयाकारवृत्ति द्वारा चैतन्य का तत्तद्विषय के साथ उपराग होने पर तत्तद्विषय का प्रकाश है। और आवृतत्वपक्ष में तत्तद्विषयाकारवृत्ति से तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्य के आवरणाभिभव से तत्तद्विषय का प्रकाश है और जीव का अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्व होने पर अवच्छेदकीभूत अन्तःकरण की तत्तद्विषयाकारवृत्ति से तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर तत्तद्विषय का प्रकाश है। यद्यपि विषयप्रकाशक अधिष्ठान में चैतन्य सर्वगत है और जीवचैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्न है (अतः केवल प्रमाता का प्रकाशत्व नहीं), तथापि अधिष्ठान चैतन्य के साथ प्रमातृचैतन्य की अभेद से अभिव्यक्ति होने से प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति है।

शंका — यह प्रतिकर्मव्यवस्था हो नहीं सकती। तथाहि— घटादिसन्निकृष्ट इन्द्रियों से जन्य घटादिज्ञान से पूर्व, घटादि का सत्त्व होने पर प्रतीतिमात्रशरीरत्व से व्याप्त काल्पनिकत्व अयुक्त है ("यत्र काल्पनिकत्वं तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्" इस व्याप्ति के अनुसार घटादि में प्रतीतिमात्रशरीरत्व (प्रतीतिकालमात्रस्थायित्व) व्यापक के अभाव होने पर व्याप्य काल्पनिकत्व का अभाव सिद्ध होगा)। और प्रातिभासिकत्वादिरूप काल्पनिकत्वविशेष ही प्रतीतिमात्रशरीरत्व से व्याप्त है—ऐसा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि काल्पनिकत्व—विशेष के अङ्गीकार में गौरव है। और घटादि में प्रतीतिमात्रशरीरत्व का अभाव होने पर भी ज्ञाननिवर्त्यत्वादि से ही कल्पितत्व होगा—ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि प्रतीतिमात्रशरीरत्व के अभाव से ज्ञाननिवर्त्यत्व का अभाव भी आपाद्य है; और प्रतीति तो विश्वसत्यत्व से हो सकती है, अथवा मिथ्यात्व होने पर भी स्वप्नादि के समान इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा के बिना घटादि की प्रतीति हो सकती है और व्यावहारिकत्व भी भ्रान्तिदीर्घत्वमात्र से हो सकता है (अतः ज्ञानार्थ प्रतिनियतकर्मव्यवस्था की अनुपपत्ति है)।

समाधान— ऐसा हो नहीं सकता; क्योंकि प्रतीतिमात्र—शरीरत्व का कल्पितत्व व्याप्य नहीं,

प्रतीतिमात्रशरीरत्वस्य कल्पितत्वं न व्याप्यम्, दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्त्यादिसहकृतोक्तानुमानात् प्रपञ्चे कल्पितत्वे सिद्धे, प्रत्यभिज्ञाबलाच्च स्थायित्वे तत्रैव व्यभिचारात्। न च– शुक्तिरूप्यादिप्रत्यभिज्ञासाम्यं प्रकृतप्रत्यभिज्ञाया इति–वाच्यम्, प्रतीत्यविशेषेऽपि वणिग्वीथी–स्थशुक्तिरूप्ययोःपरीक्षितत्वापरीक्षितत्वाभ्यां स्थायित्वास्थायित्वरूपविशेषसम्भवात्। तथापि (वा) परोक्षवृत्तेरिवापरोक्षवृत्तेरपि प्रकाश(क)त्वमस्तु, किं तदुपरक्तचैतन्येनेति चेन्न, परोक्षस्थलेऽपि परोक्षवृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वात्। अथ तत्राप्यपरोक्षैकरसचैतन्योपरागे विषयापरोक्ष्यप्रसङ्गः, न, विषयचैतन्याभिव्यक्तावेव विषयस्यापरोक्षम्। न च परोक्षस्थले तदस्ति, विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनात्, अन्तरेव तत्र धीसमुल्लासात्। अपरोक्षस्थले तु प्रमातृचैतन्याभेदाभिव्यक्ताधिष्ठानचैतन्योपरागो विषयेऽस्ति, तत्र विषयस्य कर्मकारकत्वात्। न च वृत्तिगतविशेषादापरोक्ष्यम्, तत्र हि विशेषो विषयकृतश्चेदोमिति ब्रूमः। जातिकृतस्तु विशेषो न सम्भवति, सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः सङ्करप्रसङ्गात्, अव्याप्यवृतित्वात्, प्रमात्वादिना सङ्करप्रसङ्गाच्च। किञ्च वृत्तेर्जड़त्वादेव न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कारण कि दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्यादि अनुकूल तर्क से सहकृत उक्त प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान से प्रपञ्च में कल्पितत्व सिद्ध और प्रत्यभिज्ञाबल से स्थायित्व होने से प्रपञ्च में ही उक्त व्याप्ति का व्यभिचार है।

शंका – प्रपञ्चविषयक प्रत्यभिज्ञा का शुक्तिरूप्यादिविषयक प्रत्यभिज्ञा से साम्य है।

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि प्रतीति में अविशेष होने पर भी वणिग्वीथी में स्थित रूप्य और शुक्तिरूप्य में मानान्तरसंवादाविसंवादरूप परीक्षितत्व और अपरीक्षितत्व दोनों से स्थायित्व और अस्थायित्वरूप विशेष हो सकता है।

शंका – तो भी परोक्षवृति के समान अपरोक्षवृत्ति का प्रकाशकत्व हो, इसमें वृत्त्युपरक्त चैतन्य से क्या लाभ?

समाधान– नहीं, क्योंकि परोक्षस्थल में भी परोक्षवृत्ति से उपरक्त चैतन्य का ही प्रकाशकत्व है।

शंका – परोक्षस्थल में भी अपरोक्षैकरस चैतन्य का उपराग होने पर विषय का अपरोक्षत्व होगा।

समाधान – नहीं, कारण कि विषय चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर ही विषय का अपरोक्षत्व है और परोक्षस्थल में तो विषय का अपरोक्षत्व नहीं, क्योंकि विषयेन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव से विषयपर्यन्त वृत्ति नहीं जाती और परोक्षस्थल में भीतर ही धी का समुल्लास होता है और अपरोक्षस्थल में तो प्रमातृचैतन्य के साथ अभिन्नरूप से अभिव्यक्त अधिष्ठानचैतन्य का उपराग विषय में है, क्योंकि अपरोक्षस्थल में विषय कर्मकारक है। और उसमें वृत्तिगत विशेष से विषय का आपरोक्ष्य नहीं; क्योंकि वृत्ति में विशेष यदि विषयकृत अर्थात् अनावृतचित्तादात्म्य विशिष्ट विषयकत्व है तो उसका अङ्गीकार हम करते हैं। और वृति में अपरोक्षत्वादि जातिकृत विशेष तो नहीं हो सकता; क्योंकि "सोऽयम्" इस प्रत्यभिज्ञा में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व के संकर का प्रसङ्ग है; और अपरोक्षत्व के अव्याप्यवृत्तिवत्व होने से प्रमात्वादि के साथ संकर का प्रसङ्ग है (प्रमात्वाऽत्यन्ताभाव के अधिकरण भ्रम में अपरोक्षत्व है; इस प्रकार अपरोक्षत्वात्यन्ताभाव के अधिकरण परोक्ष में प्रमात्व है; और अपरोक्षत्व तथा प्रमात्व दोनों का "घटोऽयम्" इस ज्ञान में समावेश है; अतः संकरप्रसङ्ग है)। किञ्च जडत्व होने से ही वृत्तिका प्रकाशकत्व नहीं।

प्रकाशकत्वम्। न च—वृत्तावन्तःकरणावृत्त्यपि स्वप्रकाशत्वं ज्ञानत्ववदिति—वाच्यम्, स्वप्रकाशात्मसम्बन्धेनैव तस्याः प्रकाशत्वोपपत्तौ तत्स्वप्रकाशत्वे मानाभावात्। किञ्च घटं जानामीत्यनुभूयमानसकर्मकवृत्त्यन्या संविद् घटप्रकाशरूपा घटः प्रकाशत इत्याकारकानुभवसिद्धैव। न च करोति यतते चलति गच्छतीत्यादावेकार्थत्वेऽपि सकर्मकाकर्मकस्वभावत्वदर्शनादत्राप्येकार्थत्वेऽपि तथा स्यादिति वाच्यम्, तत्राप्येकार्थत्वाभावात्। अनुकूलयत्नो हि कृञ्धात्वर्थः, यत्यर्थस्तु यत्नमात्रम्। एवं गम्यर्थ उत्तरसंयोगफलकः स्पन्दः, चलत्यर्थस्तु स्पन्दमात्रम्, तथा चैकार्थकत्वे कुत्रापि न सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्था। न च—त्वन्मते परिणतेरकर्मकत्वात्, परिणतिविशेषभूताया वृत्तेः कथं सकर्मकत्वमिति— वाच्यम्, एकस्य हि सकर्मकत्वाकर्मत्वे एकरूपेण विरुद्धे न तु रूपान्तरेणापि, मानाभावात्, यथा स्थितेरकर्मिकाया अपि अगमनत्वेन रूपेण सकर्मकत्वम्, तथा परिणतित्वेन रूपेणाकर्मिकाया अपि वृत्तेः ज्ञानत्वेन सकर्मकत्वं भविष्यतीत्यदोषः। ननु तर्ह्यतीतः प्रकाशते इति धीर्न स्यात्, न, इष्टापत्तेः, तत्रापि वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यसत्त्वेन प्रकाशत इत्यादि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— अन्तःकरण में अवृत्ति होता हुआ भी स्वप्रकाशत्व वृत्ति में ज्ञातत्व के समान हो।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि स्वप्रकाशरूप आत्मा के सम्बन्ध से ही वृत्ति के प्रकाशत्व की उपपत्ति होन से उसके स्वप्रकाशत्व में प्रमाण का अभाव है।

किञ्च—''घटं जानामि'' इस अनुभूयमान सकर्मक वृत्तिज्ञान से भिन्न घटप्रकाशरूप ज्ञान ''घटः प्रकाशते'' इत्याकारक अनुभव से सिद्ध ही है।

शंका — ''करोति'' ''यतते'' तथा ''गच्छति'', ''चलति'' इत्यादि में एकार्थत्व होने पर भी ''करोति'' और ''गच्छति'' में सकर्मक स्वभावत्व और ''यतते'' और ''चलति'' में अकर्मक स्वभावत्व देखने में आने से ''घटं जानामि'' और ''घटः प्रकाशते'' इसमें भी एकार्थत्व होने पर भी सकर्मकस्वभावत्व और अकर्मकस्वभावत्व हों।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि ''करोति—यतते'' और ''गच्छति—चलति'' इसमें भी एकार्थत्व का अभाव है। कारण कि अनुकूलयत्न अर्थात् फलसंबन्धप्रयोजक यत्न ''कृञ्'' धातु का अर्थ है, और ''यति'' धातु का अर्थ तो यत्नमात्र है; इसी प्रकार ''गमि'' धातु का अर्थ उत्तरदेशसंयोगफलकस्पन्द है; और ''चलति'' धातु का अर्थ तो स्पन्दमात्र है; अतः एकार्थकत्व होने पर तो कहीं भी सकर्मकत्व और अकर्मकत्व की व्यवस्था ही नहीं होगी।

शंका— तुम्हारे मत में ''परिणति'' का अकर्मकत्व है, अतः परिणतिविशेषभूत वृत्तिज्ञान का किस प्रकार से सकर्मकत्व है?

समाधान — ऐसा न कहिये, क्योंकि एक का, एक ही रूप से सकर्मकत्व और अकर्मकत्व होना विरुद्ध है, रूपान्तर से तो विरुद्ध नहीं, क्योंकि उसमें प्रमाण नहीं; जैसे अकर्मिका होती हुई भी स्थिति अर्थात् गतिनिवृत्ति का अगमनत्वरूप से (''ग्रामं न गच्छति'' इत्यादि रूप से) सकर्मकत्व है; वैसे परिणतित्वरूप से अकर्मिका होती हुई भी वृत्ति का ज्ञानत्वरूप से सकर्मकत्व ही होगा; अतः अदोष है।

शंका — तब तो, अर्थात् ''घटः प्रकाशते'' इसमें वृत्तिज्ञान से व्यतिरिक्त विषयाभिव्यक्त चैतन्य का भान स्वीकार होने पर तो ''अतीतः प्रकाशते'' ऐसी बुद्धि नहीं होगी; (क्योंकि चैतन्य का अभिव्यञ्जक विषय वर्तमान नहीं है)।

प्रयोगसम्भवाच्च। ननु यथाऽज्ञानविरोधिवृत्तावनुभवत्वं नास्ति, किन्तु अन्यत्र, तथा द्वेषविरोधिवृत्तेरन्यत्रेच्छात्वमित्यपि स्यादिति चेन्न, बाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात्, अत्रेव तत्र सकर्मकाकर्मकविलक्षणक्रियाननुभवाच्च। यथा च वृत्त्यतिरिक्तभानसिद्धिस्तथा स्वयंज्योतिष्ट्वप्रस्तावे विस्तरेण वक्ष्यामः।

ननु—अस्तु चैतन्यस्य विषयप्रकाशकत्वम्, तथाप्यन्तःकरणस्य देहान्निर्गतिः न कल्प्या, परोक्षवैलक्षण्याय विषयस्याभिव्यक्तापरोक्षचिदुपराग एव वक्तव्यः, चिदुपरागादौ चापरोक्षवृत्तेस्तदाकारत्वमेव तन्त्रम्, तस्य च तत्संश्लेषं विनापि परोक्षवृत्तेरिव तत्सन्निकृष्ट-करणजन्यत्वेनैवोपपत्तिः, न तु प्रभाया इव वृत्तेस्तदावरणनिवर्तकत्वादौ तत्संश्लेषस्तन्त्रम्, नेत्रान्निर्गच्छद्ध्रुवाद्याकारवृत्त्यैव स्वसंश्लिष्टनेत्रस्थकज्जलादेर्ध्रुवनेत्रमध्यवर्तिनः परमाण्वादेश्चा-परोक्षत्वापातादिति— चेन्न, विषयेष्वभिव्यक्तचिदुपरागे न तदाकारत्वमात्रं तन्त्रम्, परोक्षस्थ-लेऽपि प्रसङ्गात्, किन्तु तत्संश्लेषः, प्रभाया विषयसन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्व-दर्शनात्, तैजसस्य मनसोऽप्यज्ञानरूपावरणाभिभवाय तत्संश्लेष आवश्यकः, ध्रुवादिदेहमध्य-

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान — नहीं, क्योंकि उसमें इष्टापत्ति है (कारण कि अनावृत्तचित्तादात्म्य ही ''प्रकाशते'' इस बुद्धि का विषय है और अतीतस्थल में तो अनावृतचित्तादात्म्य का अभाव है) और ''अतीतः प्रकाशते'' इत्यादि अतीतस्थल में विषय के अवर्तमानत्व होने पर भी तत्तद्विषयाकारवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य के वर्तमानत्व होने से ''प्रकाशते'' इत्यादि प्रयोग सम्भव है।

शंका — जैसे अज्ञानविरोधी वृत्तिरूपज्ञान में अनुभवत्व नहीं, किन्तु अन्यत्र है, अर्थात् ''घटः प्रकाशते'' इत्यादि स्थल में स्वप्रकाशत्वेन भासमान चित् में ही अनुभवत्व है, वैसे द्वेषविरोधीवृत्ति से अन्यत्र इच्छात्व भी होना चाहिये।

समाधान —नहीं, क्योंकि अन्यत्र इच्छात्व होने में बाधकसत्त्व से अनुभवत्व अन्यत्र होने में बाधकासत्त्व में विशेष है; और जैसे ज्ञानस्थल में है, वैसे इच्छास्थल में सकर्मक और अकर्मक विलक्षणक्रिया का अनुभव नहीं होता। और जिस रीति से वृत्तिज्ञानव्यतिरिक्त भान की सिद्धि है, वह रीति स्वयंज्योतिष्ट्व के प्रस्ताव में आगे विस्तार से कही जायेगी।

शंका —चैतन्य का विषय प्रकाशकत्व भले हो; तथापि अन्तःकरण की देह से निर्गति की कल्पना करनी नहीं चाहिये; परोक्ष ज्ञान से विलक्षणत्व के लिए विषय का अभिव्यक्त अपरोक्ष चित् के साथ उपराग मात्र ही कहना चाहिये; और चिदुपरागादि में अपरोक्षवृत्ति का विषयाकारत्व ही प्रयोजक है; और विषयाकारत्व की परोक्षवृत्ति के समान विषयसंश्लेष के विना भी विषयसन्निकृष्टकरणजन्यत्वरूप से ही उपपत्ति है; प्रभा के समान वृत्ति के विषयगतावरण के निवर्तकत्वादि में विषयसंश्लेषमात्र प्रयोजक नहीं; क्योंकि नेत्र से निकली हुई ध्रुवाद्याकार वृत्ति से ही वृत्तिसंश्लिष्ट नेत्र में स्थित कज्जलादिके तथा ध्रुव और नेत्र के मध्यवर्ती परमाण्वादि के अपरोक्षत्वकी आपत्ति है।

समाधान— नहीं, विषयों में अभिव्यक्तचिदुपराग होने में विषयाकारत्वमात्र प्रयोजक नहीं,क्योंकि ऐसा होने पर परोक्षस्थल में भी प्रसङ्ग है; किन्तु विषयसंश्लेष प्रयोजक है, कारण कि प्रभा का विषय के साथ संबद्ध तेजस्त्वरूपसे आवरणतिरस्कारकत्व देखने में आता है,तैजस मन का भी अज्ञानरूप आवरण के तिरस्कार के लिये विषयसंश्लेष आवश्यक है; और ध्रुवादि और देह के मध्यवर्ती परमाण्वादि में अतिप्रसङ्ग का तो परमाण्वाद्याकारत्व की प्रयोजक सामग्री के

वर्तिपरमाण्वादावतिप्रसङ्गस्तु तदाकारत्वप्रयोजकसामग्रीविरहादेव परिहरणीयः, अन्यथेन्द्रियसन्निकर्षादेर्विद्यमानत्वात् परमाण्वाद्याकारताया दुर्निवारत्वापत्तेः। तस्मात् प्रभाऽ—विशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् क्लृप्तं सन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वम्, तस्य तदाकारत्वरूपविशेषापेक्षायामपि न त्यागः। न हि पृथिवीत्वगन्धत्वादिना कार्यकारणभावे आवश्यके अनित्यगुणत्वद्रव्यत्वादिना तत्त्यागः। अत एव—तदितरहेतुसाकल्ये सति घटचक्षुःसन्निकर्षस्यैव घटानुभवजनकत्वम्, न तु घटमनःसन्निकर्षस्य, तद्विलम्बेन तद्विलम्बाभावादिति निरस्तम्, आवरणभङ्गे सन्निकृष्टतेजसः कारणत्वावधारणेन तस्याप्यावश्यकत्वात्। न च—स्पार्शनप्रत्यक्षे चक्षुरादिवन्नियतगोलकद्वाराभावेनान्तःकरण—निर्गत्ययोगादावरणाभिभवानुपपत्तिरिति— वाच्यम्, सर्वत्र तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानस्यैव द्वारत्व—सम्भवात्। न च— अन्तःकरणवृत्तित्वाविशेषादिच्छाद्वेषादिरूपवृत्तयोऽपि देहान्निर्गत्य विषयसंसृष्टा भवन्तीति कथं न स्वीक्रियत इति—वाच्यम्, आवरणाभिभावकतेजस्त्वस्य तत्प्रमापकस्य ज्ञानवत् तत्राभावात्।

ननु—घटप्रकाशकं चैतन्यमुपदेशसाहस्र्यनुसारेण घटाकारधीस्था चिद्वा? परागर्थप्रमेयेष्वित्यादिवार्त्तिकोक्तरीत्या धीप्रतिबिम्बितचैतन्याभेदाभिव्यक्तविषयाधिष्ठानचैतन्यं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अभाव से ही परिहार करना चाहिये; यदि उसकी प्रयोजक सामग्री का विरह नहीं मानोगे तो इन्द्रिय सन्निकर्षादि विद्यमान होने से परमाण्वाद्याकारता अनिवार्य होगी। अतः प्रभा अविशेष अर्थात् प्रभा सामान्य के अन्वय और व्यतिरेक से निर्णीत जो सन्निकृष्टतेजस्त्व रूप से आवरणाभिभावकत्व है, उस अभिभावकत्व का विषयाकारत्वरूपविशेष की अपेक्षा में भी त्याग नहीं। कारण कि पृथिवीत्व, गन्धत्वादि से कार्यकारणभाव आवश्यक होने पर अनित्यगुणत्व, द्रव्यत्वादि से उस कार्यकारण भाव का त्याग नहीं होता। इस प्रकार संश्लेष आवश्यक होने से— इन्द्रियसन्निकर्ष से इतर हेतुओं की पूर्णता होने पर घट के साथ चक्षुःसन्निकर्ष का ही घटानुभवजनकत्व है; घट के साथ मनःसन्निकर्ष का नहीं; क्योंकि मनः सन्निकर्ष के विलम्ब से घटानुभव के विलम्ब का अभाव है— यह कथन निरस्त हुआ, कारणकि आवरणभङ्ग में सन्निकृष्ट तेज के कारणत्व के अवधारण से तैजस मन के सन्निकर्ष का भी आवश्यकत्व है।

शंका — त्वगिन्द्रिय से स्पार्शनप्रत्यक्ष में चक्षुरादि के समान नियत गोलकद्वार के अभाव से अन्तःकरण की निर्गति अयुक्त होने से आवरणाभिभव की अनुपपत्ति है।

समाधान — ऐसा न कहो; क्योंकि सब स्थलों में तत्तदिन्द्रिय के आश्रय का ही द्वारत्व सम्भव है।

शंका— अन्तःकरणवृत्तित्व में अविशेष होने से इच्छाद्वेषादिरूप वृत्तियां भी देह से निकलकर विषय से संसृष्ट होती हैं—ऐसा क्यों स्वीकार नहीं करते?

समाधान—ऐसा भी न कहो; क्योंकि आवरणाभिभावक और विषयसंसृष्टत्वप्रमापक तेजस्त्व अर्थात् विषयसंयुक्तेन्द्रियसंयुक्तमनस्त्वज्ञान में अर्थात् चाक्षुषादि मनोवृत्ति में जैसे हैं, वैसे इच्छाद्वेषादिरूपवृत्तियों में नहीं।

शंका — घटप्रकाशक चैतन्य, उपदेशसाहस्री के अनुसार, घटाकारधीस्थ अर्थात् घटाकारवृत्ति प्रतिबिम्बतचित् है क्या? अथवा " परागर्थप्रमेयेषु" इत्यादि वार्त्तिकोक्त रीति से, वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के साथ अभेदरूप से अभिव्यक्त विषयाधिष्ठानचैतन्य है क्या? ("परागर्थप्रमेयेषु या

वा? नाद्यः, आध्यासिकसम्बन्धस्यातन्त्रतापातात्। न द्वितीयः, आवश्यकेन विषयसंश्लिष्ट-वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येनैव तदज्ञाननिवृत्तिवत् तत्प्रकाशस्याप्युपपत्तौ किं विषया-धिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्पनेनेति-चेन्न, प्रकाशकं तावदधिष्ठानचैतन्यम्। तच्चाध्यासेन विषयैः सह साक्षात्सम्बद्धम्, प्रकाशस्य च स्वयं भासमानस्य स्वसम्बद्धसर्वभासकत्वमपि क्लृप्तमेव, एतदनभ्युपगमे कल्पनान्तरगौरवापत्तेः। तच्चानभिव्यक्तं निर्विकल्पकरूपमाच्छा-दितदीपवन्न प्रकाशकमिति तदभिव्यक्तिरपेक्षिता। तच्च परोक्षस्थले वृत्त्यवच्छेदेनैवाभिव्यज्यते, अपरोक्षस्थले तु वृत्तिसम्पर्कादावरणाज्ञानाभिभवे विषयेऽभिव्यज्यते, वृत्तेर्विषयपर्यन्तत्वात्। न च परोक्षस्थलेऽप्येवं प्रसङ्गः, द्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्यभावात्।

ननु- वृत्तेस्तदाकारत्वं न तावत्तद्विषयकत्वम्, त्वयैव निरासात्। नापि तस्मिन् चैतन्योपरागयोग्यतापादकत्वम्, तदज्ञानाभिभावकत्वं वा, उभयोरपि तदाकारत्वप्रयोज्यत्वेन तत्त्वायोगात्। नापि घटादिवत् पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वम्, साकारवादापातात्, संस्थानहीनजातिगु-

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

फलत्वेन संमता। संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः।।'' यह वार्तिक है)। इनमें आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि आध्यासिक संबन्ध की अप्रयोजकता का आपात है (घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बित चित् के अनधिष्ठानत्व होने से आध्यासिकसंबन्ध असम्भव होने के कारण विषयावच्छिन्नचित् का विषयाधिष्ठानत्व है- यह अभिप्राय है)। द्वितीय पक्ष भी नहीं; क्योंकि घटादिविषयप्रकाश के प्रति आवश्यक विषयसंबद्धवृतिप्रतिबिम्बितचैतन्य से ही जैसे विषयाज्ञान की निवृत्ति होती है, वैसे ही विषयप्रकाश की भी उपपत्ति होने पर विषयाधिष्ठानचैतन्य की अभिव्यक्ति की कल्पना से क्या लाभ है?

समाधान- नहीं, क्योंकि घटादिविषयप्रकाशक तो अधिष्ठानभूत साक्षिचैतन्य ही है और वह चैतन्य अध्यास के द्वारा विषयों के साथ साक्षात् संबद्ध है; और स्वयं भासमान प्रकाश का अपने से संबद्ध सबका भासकत्व भी निर्णीत ही है; इस बात का अनङ्गीकार होने पर कल्पनान्तर की गौरवापत्ति होगी (''भाति'' इस व्यवहार में विषयसंश्लिष्टवृत्तिप्रतिबिम्बितचित् को ही प्रयोजक मानेंगे तो सुखादि के भान में उसका असम्भव होने से, अनावृत्तचित्तादात्म्य की भी सुखादि संश्लिष्ट वृतिप्रतिबिम्बितचित् की कल्पना करनी होगी, तथा उसमें भी वृत्ति की कल्पना होगी; अतः गौरव है; और वृत्ति में भी वृत्त्यन्तर की कल्पना होने पर अनवस्था भी होगी) और वह अधिष्ठानचैतन्य अनभिव्यक्त और तार्किकादिसंमतनिर्विकल्पकतुल्य होकर वस्त्रादि आच्छादित दीपक के समान अप्रकाशक होने से अधिष्ठानचैतन्य की अभिव्यक्ति अपेक्षित है। और वह चैतन्य परोक्षस्थल में वृत्त्यवच्छेद से ही अभिव्यक्त होता है और अपरोक्षस्थल में तो वृत्ति के संपर्क से आवरण रूप अज्ञान के अभिभव होने पर, विषय में अभिव्यक्त होता है; क्योंकि वृत्ति विषय तक जाती है; और परोक्षस्थल में भी वैसा प्रसङ्ग नहीं होगा; कारण कि द्वार के अभाव से अन्तःकरण की निर्गति का अभाव है।

शंका – वृत्ति का विषयाकारत्व तो विषयविषयकत्व नहीं, कारण कि इसका तो तुमने ही निराकरण किया है; और वह विषयाकारत्व इन्द्रियसन्निकृष्ट विषय में चैतन्योपराग की योग्यता का आपादकत्व अर्थात् संपादकत्व भी नहीं, अथवा विषयाज्ञान का अभिभावकत्व अर्थात् अभिभवप्रयोजकतावच्छेदक धर्मवत्व भी नहीं, क्योंकि दोनों में भी विषयाकारत्व से घटितत्व होने से विषयाकारत्वस्वरूप नहीं हो सकता। और घटादि के समान पृथुबुध्नोदराद्याकारत्व

णादिवृत्तेर्निराकारत्वप्रसङ्गाच्च, घटपटावितिसमूहालम्बने विरुद्धनानाकारत्वापत्तेश्चेति— चेन्न, अस्तीत्यादितद्विषयकव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य, तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वस्य वा तदाकारत्वरूपत्वात्। तदुभयञ्च स्वकारणाधीनस्वभावविशेषात्। न चात्माश्रयः, निवृत्तिजन— नस्वरूपयोग्यतया फलोपधानस्य साध्यत्वेन स्वानपेक्षणात्।

ननु—दृशि विषयाध्यासस्वीकर्तुर्जीवचैतन्यं वा विषयदृक्, ब्रह्मचैतन्यं वा? नाद्यः, जीवेऽवच्छिन्नचित्स्वरूपे कल्पितेऽध्यासायोगात्। नच विषयदृक् जीवचैतन्यमेव, अध्यासस्तु ब्रह्मचैतन्य इति—वाच्यम्, दृश्ययोरेवाध्यासिकसम्बन्धापत्तेः, अध्यस्ताधिष्ठानयोरुभयोरपि दृग्भिन्नत्वात्। अतएव न द्वितीयोऽपि, (सविशेष) ब्रह्मणोऽपि कल्पितत्वेन तत्राध्यासायोगाच्च। न च—शुद्धचैतन्यमेकमेव, तदेवाधिष्ठानम्, तत्रावच्छेदकमविद्यादिकं नाधिष्ठानकोटौ प्रविशति, तदेव च जीवशब्देन ब्रह्मशब्देन च व्यपदिश्यते, उपाधिविशेषात्। तथा च जीव चैतन्यस्य दृक्त्वेऽपि दृश्याध्यासो नानुपपन्न इति—वाच्यम्, शुद्धचैतन्यस्याऽऽसंसारमावृतत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गादिति— चेन्न, मूलाविद्यानिवृत्त्यभावेन सर्वत आवरणाभिभवाभावेऽपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भी विषयाकारत्व नहीं, क्योंकि साकारवाद की आपत्ति है और संस्थान से रहित जाति, गुणादि की वृत्तिका निराकरत्व—प्रसङ्ग है और ''घटपटौ'' इस समूहालम्बनज्ञान में विरुद्ध नाना आकारत्व की आपत्ति भी है।

समाधान— नहीं; क्योंकि ''अस्ति'' इत्यादिरूप से विषयविषयक व्यवहार के प्रतिबन्धक अज्ञान का निवर्तनयोग्यत्व अथवा विषयसन्निकृष्ट चक्षुरादिकरणजन्यत्व ही वृत्ति का विषयाकारत्व रूप है और उक्तोभयात्मक आकाराख्य संबन्ध वृत्तिज्ञान के कारणाधीन स्वभावविशेष से होता है अर्थात् अनुगतरूप से ही कारण नियम्य है और अनुगतरूप से ही कार्य नियामक है। और वृत्तिज्ञानजनकतावच्छेदकत्वरूप से उक्ताज्ञाननिवृत्तिजनकत्व होने से आत्माश्रय है— ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति के जननस्वरूपयोग्यत्व रूप से फलोपस्थापन के ही साध्यत्व होने से स्व (जनकता) की अपेक्षा नहीं (जनकता में जनकताघटित का अवच्छेदकत्व होने से आत्माश्रय नहीं हो सकता, कारण कि तत्तद्विषयाकारकत्वेन ही अवच्छेदक में निवेश है किन्तु निवृत्तिजनकतावच्छेदकत्व रूप से निवेश नहीं— यह अभिप्राय है)।

शंका — दृक् में ही विषय के अध्यास को मानने वाले आपके मत में क्या जीव चैतन्य ही विषयदृष्टा है अथवा ब्रह्मचैतन्य विषयदृष्टा है? आद्य नहीं हो सकता, क्योंकि अवच्छिन्नचित्स्वरूप कल्पित जीव में अध्यास नहीं हो सकता। और विषयद्रष्टा तो जीव चैतन्य ही है और अध्यास तो ब्रह्मचैतन्य में है—ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि अध्यस्त और अधिष्ठान दोनों का भी द्रष्टा से भिन्नत्व होने के कारण दो दृश्यों के ही अध्यासिक संबन्ध की अनुपपत्ति है और इस अनुपपत्ति से ही द्वितीय पक्ष भी नहीं, क्योंकि दृश्यत्व होने से ही ब्रह्म के भी कल्पितत्व होने से उसमें अध्यास होना अयुक्त है। और इसी प्रकार शुद्ध चैतन्य एक ही है, वही अधिष्ठान है, उसमें अवच्छेदक अविद्यादि का अधिष्ठान कोटि में प्रवेश नहीं होता, वही शुद्ध चैतन्य ही उपाधिविशेष से जीव शब्द और ब्रह्मशब्द से व्यपदिष्ट होता है; तब तो जीवचैतन्य का दृक्त्व होने पर भी दृश्य का अध्यास अनुपपन्न नहीं— ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि शुद्धचैतन्य जब तक संसार है,तब तक आवृत होने के कारण जगत् का आन्ध्य प्रसंग होगा।

समाधान — नहीं; क्योंकि मूलाविद्या की निवृत्ति के अभाव से सर्वस्थलों में आवरण के

घटाद्यवच्छेदेनावरणाभिभवादान्ध्यविरहोपपत्तेः। ननु—तर्हीदानीमपि ब्रह्मस्फुरणे चरमवृत्ति—वैयर्थ्यम्, अधिकभानेऽपि तस्य स्फुरणात्, न ह्यखण्डार्थवेदान्तजन्यायां वृत्तौ भावो अभावो वा विशेषणमुपलक्षणं वा प्रकारः प्रकाशत इति—चेन्न, उपाध्यविषयकब्रह्मस्फुरणस्य चरमवृत्तिप्रयुक्तत्वेन तस्याः साफल्यात्, प्रकारास्फुरणं तु तस्याः भूषणमेव, इदानीन्तनस्फुरणस्य सप्रकारकत्वेनोपाधिविषयत्वात्, 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ. ४/४/२०) इत्यादिश्रुतिबलात् स्वसमानविषयज्ञानादेव चाज्ञाननिवृत्तेरखण्डचिन्मात्रज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वावधारणात्। न च—अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवत्वे सुषुप्तिदशायां तदभावेन कृतहान्याद्यापत्तिरिति—वाच्यम्, तदाप्यस्य कारणात्मनाऽवस्थानात्, स्थूलसूक्ष्मसाधारणस्यान्तःकरणस्योपाधित्वात्। 'तदपीतेः संसारव्यपदेशात्' (बे.सू. ४/२/८) इत्यस्मिन् सूत्रे चायमर्थः स्पष्टतरः। न च—वृत्त्युपरक्तत्वं चैतन्यस्य न तत्प्रतिबिम्बितत्वम्, दर्पणे मुखस्येवानुद्भूतरूपेऽन्तःकरणे शब्दान्यप्रतिबिम्बितोपाधिताया अचाक्षुषचैतन्यस्य प्रतिबिम्बि(त)तायाश्चायोगादिति—वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्त्वं न प्रतिबिम्बितोपाधिताप्रयोजकम्, अस्वच्छेऽपि लोष्ठादौ प्रतिबिम्बापत्तेः,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अभिभव का अभाव होने पर घटाद्यवच्छेद से आवरणाभिभव होने से जगत् के आन्ध्यविरह की उपपत्ति है।

शंका – तब तो इस व्यवहारकाल में भी ब्रह्मस्फुरण होने पर चरमवृत्ति व्यर्थ होगी, क्योंकि अधिक भाग में ब्रह्म का स्फुरण होता है और अखण्डार्थक वेदान्तवाक्य से जन्य वृत्ति में भावरूप या अभावरूपप्रकार और विशेषण या उपलक्षणरूपप्रकार प्रकाशित नहीं होता।

समाधान – नहीं, क्योंकि उपाधि को विषय न करने वाला ब्रह्मस्फुरण ही चरम वृत्ति से प्रयुक्त होने के कारण, उसका (चरमवृत्ति का) साफल्य है; और प्रकार का अस्फुरण तो चरमवृत्ति का भूषण ही है (यहां चरमत्व ''घटः सन्'' इत्यादि की अपेक्षा से है; अतः जीवन्मुक्ति की उपपत्ति है) और इस व्यवहारकालीन स्फुरण का तो सप्रकारत्व होने से उपाधिविषयकत्व है और ''एक ही रूप से आत्मा का दर्शन करना चाहिये'' इत्यादि श्रुति के बल से अज्ञान के समान विषयक ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति से अखण्डचिन्मात्र के ज्ञान से ही मोक्षहेतुत्व का निर्धारण होता है।

शंका– अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य के जीवत्व होने पर, सुषुक्तिदशा में अन्तःकरण का अभाव होने से कृतहान्यादि की आपत्ति होगी।

समाधान– ऐसा न कहिये, क्योंकि सुषुक्तिकाल में भी अन्तःकरण का कारणात्मना सूक्ष्मरूप से अवस्थान है, और स्थूल सूक्ष्मसाधारणानुगत अन्तःकरण का ही उपाधित्व है और ''संसार के व्यपदेश होने से तेजोरूप अन्तःकरणादि मोक्ष पर्यन्त स्थायी है'' इस वेदान्त सूत्र में यह अर्थ स्पष्टतर है।

शंका – चैतन्य का वृत्ति में उपरक्तत्व तो वृत्ति में प्रतिबिम्बितत्व नहीं, क्योंकि दर्पण में मुख के समान उद्भूतरूपरहित अन्तःकरण में शब्दभिन्न प्रतिबिम्बित पदार्थ की उपाधिता अयुक्त है और अचाक्षुष अर्थात् रूपरहित चैतन्य की प्रतिबिम्बितता भी अयुक्त है (नीरूप आकाश में नीरूप शब्द का प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब माना जाता है; इस कारण ''शब्दान्य'' यह विशेषण दिया गया है।)

समाधान – ऐसा भी कहना अनुचित है, क्योंकि उद्भूतरूपवत्त्व प्रतिबिम्बित पदार्थ की उपाधिता में प्रयोजक नहीं; कारण कि ऐसा मानने पर अस्वच्छ लोष्टादि में प्रतिबिम्ब होने की

किन्तु स्वच्छत्वम्, तच्च प्रकाशस्वभावत्वेन मनसस्तत्परिणामभूताया वृत्तेश्चास्त्येव, त्रिगुणात्मकस्याप्यज्ञानस्य स्वच्छसत्त्वात्मकताया अपि सत्त्वेन तत्रापि प्रतिबिम्बितोपाधिताया: सत्त्वात्। नापि चाक्षुषत्वं प्रतिबिम्बितत्वप्रयोजकम्, अचाक्षुषस्याप्याकाशादे: प्रतिबिम्बितत्वदर्शनात्।

ननु– चाक्षुषवृत्त्युपारूढचित: कथं रूपमात्रप्रकाशकत्वम्? न च प्रभावन्नियम:, वैषम्यात्, तथा हि–प्रभायां तमोविरोधित्वं रूपं प्रतीव गन्धादीन् प्रत्यपि समम्, न हि सा गन्धदेशस्थं तमो न निवर्तयति। न च–अज्ञानविरोधित्वलक्षणं प्रकाशकत्वं रूपं प्रत्येव, न तु रसादीन् प्रतीति–वाच्यम्, अज्ञाननिवर्तकत्वस्य वृत्तिभिन्नेऽनङ्गीकारात्, प्रभाया रूपग्राहकचक्षु:सहकारित्ववत् गन्धादिग्राहिघ्राणादिसहकारित्वाभावेऽपि चितो ग्राहकान्तरासहकारित्वेन तत्तत्सहकारि (तत्तत्सहकार्य)विलम्बेन विलम्बस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथा च चित: सर्वगतत्वेन सर्वसम्बन्धाद्रूपादिवद् गुरुत्वादेरप्याश्रयद्वारा साक्षाद्वा सम्बन्धित्वात् प्रकाशापत्ति:, वृत्त्युपरक्तचित्सम्बन्धस्यैव प्रकाशकत्वात्। 'असङ्गो ह्ययं पुरुष:' (बृ. ४/२/१५) इति श्रुतिस्तु (ईश्वरस्य) तत्कृतलेपाभावपरा, न तु सम्बन्धनिषेधिका, 'स यत्तत्र यत्किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति' (बृ. ४/३/१५))इति पूर्ववाक्यात्, 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायु: सर्वत्रगो महान्' (गी.९/६) इत्यादिस्मृतेश्चेति चेन्न,प्रभाया

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

आपत्ति होगी, किन्तु स्वच्छता ही उपाधिता का प्रयोजक है। और वह स्वच्छता प्रकाशस्वभाव वाले मन और उसकी परिणामभूतवृत्ति की है ही, क्योंकि त्रिगुणात्मक अज्ञान का भी स्वच्छ सत्वगुणात्मकत्व होने से उस अज्ञान में भी प्रतिबिम्बित की उपाधिता है और चाक्षुषत्व भी प्रतिबिम्बितत्व का प्रयोजक नहीं; क्योंकि अचाक्षुष आकाशादि का भी प्रतिबिम्बितत्व देखने में आता है।

शंका – चाक्षुषवृत्ति में उपारूढ़ उपरञ्जित चैतन्य रूपमात्र का प्रकाशक क्यों है? (रसादि का भी प्रकाशक क्यों नहीं?) और उसमें प्रभा के समान नियम नहीं हो सकता, क्योंकि वृत्त्युपारूढ़ चित् और प्रभा में वैषम्य है। तथाहि–प्रभा में तमोविरोधित्व जिस प्रकार रूप के प्रति है, वैसे ही गन्धादि के प्रति भी समान है, वह प्रभा गन्धदेशस्थ अन्धकार का निवारण नहीं करती, सो नहीं। और अज्ञान विरोधित्वरूप–प्रकाशकत्व रूप के प्रति ही है, रसादि के प्रति नहीं (अर्थात् चाक्षुषवृत्त्युपारूढ़ चैतन्य से रूपावच्छिन्न अज्ञान की ही निवृत्ति होती है रसाद्यवच्छिन्न अज्ञान की नहीं)–ऐसा भी न कहिये, क्योंकि तुमने वृत्तिभिन्न में अज्ञाननिवर्तकत्व का अङ्गीकार नहीं किया है, जैसे प्रभा के रूपग्राहक चक्षु का सहकारित्व है, वैसे गन्धादिग्राहिघ्राणादि का सहकारित्वाभाव होने पर भी, चैतन्य के तो ग्राहकान्तर के असहकारित्व होने से, तत्तत्सहकारी के विलम्ब से (अभाव से) बिलम्ब का (गन्धाद्यभासकत्व का) कथन अशक्य है। तब तो चित् के सर्वगतत्व होने के कारण सब के साथ संबन्ध होने से रूपादि के समान गुरुत्वादि का भी आश्रय द्वारा अथवा साक्षात् ही संबन्धित्व होने से प्रकाश (अवभास) होने की आपत्ति है, कारण कि वृत्ति से उपरक्तचित् का संबन्ध ही प्रकाशक है," यह पुरूष असङ्ग है" यह श्रुति तो संबन्धकृतलेपाभावपरक है, संबन्धनिषेधपरक नहीं; क्योंकि " वह स्वप्न में जो कुछ भी देखता है, उस से अन्वागत नहीं होता" इस पूर्ववाक्य से अलेप जाना जाता है और "जैसे सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा आकाश में स्थित है" इत्यादि स्मृति से भी यह बात सिद्ध है।

रूपरसादिदेशगततमोनाशकत्वं तत्सम्बन्धाद्युज्यते, चैतन्यस्य तु स्वभावतोऽसम्बद्धत्वात् तदाकारवृत्त्या तदेकसम्बन्ध(स्योपादानात्)स्यापादनात् कथमन्यावभासकत्वप्रसङ्गः? स्वभावतो ह्यसङ्गत्वे 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः प्रमाणम्। न चैषा लेपाभावपरा, अकर्तृत्वप्रतिपादनाय सम्बन्धाभावपरत्वात्। यथा चैतत्तथा व्यक्तमाकरे। एवं स्मृतिरप्येतच्छ्रुत्यनुरोधेन नेया। अतः सर्वैः सह सम्बन्धाभावान्न सर्वावभासः, किन्तु यदाकारावृत्तिस्तस्यैव। अत एव 'इदं रजतम्' इति भ्रमे इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन रजतभानानुपपत्तेः रजताकाराप्यविद्या—वृत्तिरभ्युपेयते, स्वतश्चिद्बिम्बाग्राहके चैतन्यस्य (वृत्तिमन्तरेण) तदाकारत्वायोगात्, स्वतश्चिद्बिम्बग्राहके त्वन्तःकरणवृत्त्यादौ न वृत्त्यपेक्षेति नानवस्था। न च—आश्रयसम्बन्धा—विशेषेऽपि रूपाकारावृत्तिर्न गन्धाद्याकारेति कुत इति—वाच्यम्, यथा तव चाक्षुषज्ञाने आश्रयसम्बन्धाविशेषेऽपि न गन्धो विषयः, तथाऽस्माकमपि चक्षुर्द्वारकवृत्तौ न गन्धाद्याकारत्वम्, इन्द्रियविषयसम्बन्धानां स्वभावस्य नियामकस्य समानत्वात्। ननु— आध्यासिकसम्बन्धो वृत्तेः पूर्वमप्यस्त्येव, अन्यस्तूपरागो न दृश्यत्वे तन्त्रमिति किं तदर्थया वृत्त्येति—चेन्न, जीवचैतन्यस्याधिष्ठानचैतन्यस्य चाऽभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वाद् वृत्तेः। अन्यथा मयेदं विदितिमिति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान — नहीं, क्योंकि प्रभा का रूपरसादिदेशगत अन्धकार का नाशकत्व, रूपरसादि से सम्बन्ध होने से युक्ति संगत है, और चैतन्य के तो स्वभावतः असंबद्धत्व होने से, तद्विषयाकारवृत्ति का एक ही तद्विषय के साथ संबन्ध का आपादन होने से किस प्रकार अन्यावभासकत्व का प्रसङ्ग होगा? और चैतन्य के स्वभावतः असङ्गत्व में "यह पुरुष असंग है" यह श्रुति प्रमाण है। और यह श्रुति लेपाभाव की प्रतिपादिका नहीं, क्योंकि अकर्तृत्व का प्रतिपादन करने के लिये संबन्धाभाव प्रतिपादनपरकत्व है। और यह जैसा है, वैसा ही बृहदारण्यक भाष्यादि आकरग्रन्थ में स्पष्ट है। इसी प्रकार स्मृति का भी इस श्रुति के अनुरोध से ब्रह्म के असङ्गत्व को प्रतिपादकत्वेन लेना चाहिये। अतः सब के साथ संबन्ध के अभाव से सबका अवभास नहीं होता, किन्तु जिस विषय के आकार वाली वृत्ति है, उस विषय का ही अवभास है। इस प्रकार यद्विषयाकार वृत्ति है, तद्विषय का ही भान होने से " यह रजत है" इस भ्रम में इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से रजतभान की अनुपपत्ति होने के कारण रजताकार अविद्यावृत्ति का भी अङ्गीकार किया जाता है। स्वरूप से चित्प्रतिबिम्बयोग्य घटादिविषय में वृत्तिसंश्लेष के बिना चैतन्य के घटाद्याकारत्वेन प्रतिबिम्बतत्व का अयोग है और स्वरूप से चित्प्रतिबिम्बयोग्य अन्तःकरणवृत्त्यादि में तो वृत्त्यन्तर की अपेक्षा न रहने से अनवस्था नहीं।

शंका — घटादि आश्रय के साथ संबन्ध में अविशेष होने पर भी रूपाकारवृत्ति ही क्यों होती है; गन्धाद्याकारवृत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान— जैसे आपके मत में आश्रय के साथ संबन्ध में अविशेष होने पर भी चाक्षुषज्ञान में गन्ध विषय नहीं होता, वैसे ही हमारे मत में भी नेत्रद्वारक वृत्ति में गन्धाद्याकारत्व नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय, विषय और संबन्धों में स्वभावरूप नियामक की समानता है।

शंका — आध्यासिकसंबन्ध वृत्ति से प्रथम भी है ही और वृत्ति संश्लेषादिरूप अन्य उपराग तो घटादि के भास्यत्व में प्रयोजक नहीं, तब क्यों उपराग के लिये वृत्ति है?

समाधान— नहीं, क्योंकि जीवचैतन्य अथवा अधिष्ठानचैतन्य की विषय के साथ अभेदाभिव्यक्ति अर्थात् अभेदाभिव्यञ्जकोपराग के लिये वृत्ति है। यदि अभेदाभिव्यक्त्यर्थ वृत्ति नहीं

सम्बन्धावभासो न स्यात्। ननु—जीवचैतन्यस्यासङ्गत्वे ब्रह्मचैतन्यं सुतरामसङ्गम्; तथा च मायोपाधिकविषयोपरागत्वात् स्वतः सार्वज्ञ्यं न स्यात्। न च—ब्रह्म सर्वोपादानत्वादुपाधिं विनैव स्वस्वरूपवत्स्वाभिन्नं जगदवभासयतीति—वाच्यम्, उपादानत्वं न तावद्विशिष्टनिष्ठं परिणामित्वम्, आध्यासिकसम्बन्धस्यातन्त्रतापत्तेः, अनाद्यविद्यादिकं प्रति तदभावाच्च, नापि शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वम्, शुद्धस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादेरभावादिति—चेन्न, ब्रह्मणोऽसङ्गत्वेऽपि सर्वेषां तत्राध्यासेन मायोपाधिं विनैव तस्य सर्वप्रकाशकतया सार्वज्ञ्योपपत्तेः। न च शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वं नोपादानत्वम्, सार्वज्ञ्याभावादित्युक्तमिति—वाच्यम्, अविद्याकल्पितानां सर्वज्ञत्वादीनां शुद्धे सत्त्वात्। अन्यथा तेषां तटस्थलक्षणत्वमपि न स्यात्। ननु—आवरणाभिभवार्थत्वपक्षो न युक्तः, विवर्ताधिष्ठानस्य चिन्मात्रस्याज्ञानादिसाक्षित्वेन सदा प्रकाशनात्, अन्यस्याज्ञानकल्पितस्यावरणस्याभावादिति—चेन्न, अज्ञानादिसाक्षित्वेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

मानेंगे तो ''मैंने यह जाना'' इस प्रकार साक्षी और विषय का संबन्धावभास नहीं होगा।

शंका – जीवचैतन्य का असङ्गत्व होने पर ब्रह्मचैतन्य सुतरां असङ्ग है; तब तो मायावृत्तिरूप उपाधि से घटित विषयोपरागत्व होने से स्वतः अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्म का सार्वज्ञ नहीं होगा। और ब्रह्म सबका उपादान होने से उपाधि के बिना ही अपने स्वरूप के समान अपने से अभिन्न जगत् का अवभास करेगा– ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे मत में उपादानत्व मायाविशिष्टनिष्ठपरिणामित्व नहीं; कारण कि ब्रह्म की अवभासकता में आध्यासिकसंबन्ध की अप्रयोजकता की आपत्ति है (इस आध्यासिक संबन्ध का साफल्य तो विर्वतवाद में ही होता है); और अनादि अविद्यादिक के प्रति ब्रह्म के उपादानत्व का अभाव भी है; और शुद्धब्रह्मनिष्ठ अधिष्ठानत्व (अकल्पित में कल्पित का तादात्म्य) भी उपादानत्व नहीं, क्योंकि शुद्ध के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्वादि का अभाव है।

समाधान – ऐसा नहीं; कारण कि ब्रह्म का असङ्गत्व होने पर भी सबके उसमें अध्यास होने से मायारूप उपाधि के बिना ही उसकी सर्वप्रकाशकता होने से सर्वज्ञत्व की उपपत्ति है।

शंका – सर्वज्ञत्व का अभाव होने से शुद्धनिष्ठ अधिष्ठानत्व सर्वभासकता-प्रयोजकरूप उपादानत्व नहीं हो सकता– ऐसा हम पहले कह चुके हैं।

समाधान– वह कथन अनुचित है; क्योंकि अविद्या से कल्पित सर्वज्ञत्वादिकों का शुद्ध में सत्त्व है (अर्थात् शुद्ध जैसे अविद्या से अध्यासिक संबद्ध है वैसे सर्वज्ञत्वादि दृश्यान्तर से भी संबद्ध है)। यदि आविद्यक सर्वज्ञत्वादि को शुद्ध में नहीं मानेंगे तो सर्वज्ञत्वादिकों का ब्रह्म के प्रति तटस्थलक्षणत्व भी नहीं होगा।

शंका – वृत्ति का आवरणाभिभवार्थत्वपक्ष अयुक्त है; क्योंकि विवर्त के अधिष्ठानभूत चिन्मात्र अज्ञानादि के साक्षिरूप से सदा प्रकाशमान् है तथा अज्ञानकल्पित अन्य में आवरण का अभाव है (अभिप्राय यह है कि साक्षिरूप से सदा प्रकाशमान् चित् को प्रकाशित करने के लिये आवरणाभिभव की कोई आवश्यकता नहीं; और कल्पित जड़पदार्थ कल्पितत्व होने से ही सदा अनावृत रहते हैं,उनमें अज्ञानकल्पित अन्य आवरण नहीं रहता, तब किस आवरण का अभिभव करने के लिये वृत्ति है?)।

समाधान – यह कथन अयुक्त है, क्योंकि अधिष्ठानभूत शुद्धचित् अज्ञानादि के साक्षिरूप से स्वप्रकाश होने पर भी अशनायाद्यतीत रूप से अप्रकाशमान् होने से आवरण की आवश्यकता

स्वप्रकाशेऽप्यशनायाद्यतीतत्वादिना प्रकाशाभावादावरणस्यावश्यकत्वात्। ननु—अज्ञानस्य नयनपटलवत् पुंगतत्वे चैत्रस्याज्ञाननाशेऽपि मैत्रस्य तदनाशादप्रकाशो युक्तः, विषयगत्वे तु चैत्रार्जितया वृत्त्या अज्ञाने दीपेन तमसीव नाशिते मैत्रस्यापि प्रकाशः स्यादिति—चेन्न, चैत्रावरणशक्तेरेवाज्ञानगतायाश्चैत्रार्जितवृत्त्या नाशितत्वेन स पश्यति, न मैत्रः, तत्प्रतियोगिकावरणशक्तेरनाशात्, आवरणशक्तीनां द्रष्टृविषयभेदाभ्यां भिन्नत्वात्, तमस्तु न तथेत्येकानीतप्रदीपेनाप्यन्यान्प्रति प्रकाशो युज्यते। एतेन—एकाज्ञानपक्षे शुक्तिज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तौ सद्य एव मोक्षापातः, अनिवृत्तौ रूप्यादेः सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपबाधायोग इति—निरस्तम्, आवरणशक्तिनाशेऽपि मूलाज्ञाननाशाभावेन सद्यो मोक्षाभावस्य रूप्यादौ सविलासशक्तिमदविद्यानिवृत्तिरूपबाधस्य चोपपत्तेः। ननु—एकाज्ञानपक्षे रूप्यादेः शुक्तिज्ञानेन स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते, मुद्गरप्रहारेणेव घटस्य, न त्वज्ञानं निवर्त्यत इति ते मतं न युक्तम्, यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति व्याप्तिबलाद् ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्ति द्वारैवान्यविरोधित्वेनाज्ञानमनिवर्त्यरूप्यादिनिवर्तकत्वायोगात्, शुक्तिज्ञानेनाज्ञानानिवृत्तावभिव्यक्तचैतन्यसम्बन्धाभावेन भ्रान्ताविव बाधेऽपि शुक्तेरप्रकाशापत्तेश्चेति— चेन्न, यतो ज्ञानमज्ञाननिवर्तकमिति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है (तब तो उस आवरण के अभिभव के लिए वृत्ति की आवश्यकता है)।

शंका — नयनपटल के समान अज्ञान के पुरूषगतत्व होने पर चैत्र के अज्ञान का नाश होने पर भी मैत्र का अज्ञाननाश न होने से अप्रकाश युक्त है, किन्तु अज्ञान के विषयगतत्व होने पर तो दीप से अन्धकार के समान चैत्रार्जित वृत्ति से विषयगत अज्ञाननाशित होने पर मैत्र का भी विषयप्रकाश होना चाहिये।

समाधान — नहीं, क्योंकि चैत्र की अज्ञानगत आवरणशक्ति का चैत्रसम्पादितवृत्ति से नाशितत्व होने से वह देखता है, मैत्र नहीं देखता, कारण कि मैत्रप्रतियोगिक आवरणशक्ति का नाश हुआ नहीं, क्योंकि दृष्टा और विषय के भेद से आवरणशक्तियों का भिन्नत्व है; और अन्धकार तो वैसा न होने मे एक के द्वारा आनीतप्रदीप से भी अन्यों के प्रति प्रकाश होना युक्त है। इस प्रकार आवरणशक्तियों के द्रष्टा और विषय के भेद से भिन्नत्व होने से— एकाज्ञानपक्ष में शुक्तिज्ञान से शुक्त्यज्ञान की निवृत्ति होने पर सद्योमुक्ति का प्रसङ्ग है, और शुक्तिज्ञान से शुक्त्यज्ञान की अनिवृत्ति होने पर, रूप्यादि के कार्य—सहित अविद्या के निवृत्तिरूप—बाध का अयोग है— ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि आवरणशक्ति का नाश होने पर भी मूलाज्ञाननाश के अभाव से सद्योमोक्षाभाव, और रूप्यादि में कार्य—सहित शक्तिमदविद्या के निवृत्तिरूप बाध की उपपत्ति है (शक्तिनाश से शक्तिविशिष्टरूप से अविद्या का नाश होता है— यह भाव है)।

शंका — एकाज्ञानपक्ष में रूप्यादि का शुक्तिज्ञान से स्वकारण में प्रविलयमात्र होता है, जैसे मुद्गरप्रहार से घट का स्वकारण में प्रविलय होता है; किन्तु अज्ञान की निवृत्ति तो नहीं होती— यह तुम्हारा मत ठीक नहीं; क्योंकि ''ज्ञान अज्ञान का ही निर्वतक है'' इस व्याप्ति के बल से, ज्ञान के अज्ञाननिवृत्ति द्वारा ही, रूप्यादि अन्य के विरोधित्व होने से, अज्ञान की निवृत्ति किये बिना रूप्यादिनिवर्तकत्व का अयोग है, और शुक्तिज्ञान से अज्ञान की अनिवृत्ति होने पर अभिव्यक्त चैतन्य के संबन्ध के अभाव से जिस प्रकार भ्रान्ति में है, वैसे ही बाध में भी शुक्ति के अप्रकाश की आपत्ति है।

समाधान — नहीं, क्योंकि ''ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है'' यह व्याप्ति उच्छेदविषयिका है;

व्याप्तेरुच्छेदविषयत्वात्, स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थाने तदनङ्गीकारात्, शुक्तिज्ञानस्य चानवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपमूलाज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञाननिवर्तकत्वेनाभिव्यक्तचैतन्यसम्बन्धाद् बाधदशायां रूप्यनिवृत्तिशुक्तिप्रकाशयोरप्युपपत्तेः। न च उपादेयभूतया वृत्त्योपादानभूताविद्याभिभवो न घटते, उपादेयेनोपादानाभिभवादर्शनादिति—वाच्यम्, वृश्चिकादिना गोमयादेरुपादानस्याप्यभिभवदर्शनात्। आरम्भवादानभ्युपगमाच्च न गोमयावयवानामुपादानत्वशङ्का। ननु— चक्षुरादिजन्यशुक्त्यादिवृत्तेः सप्रकारिकायाः निष्प्रकारकशुद्धचैतन्याविषयतया तदावरणरूपमूलाज्ञानाभिभवाभावेऽप्यवच्छिन्नविषयया तया अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञानाभिभवो युज्यत इति ते मतमयुक्तम्, अवच्छिन्ने अविद्याकल्पिते अप्रसक्तप्रकाशे मूलाविद्याया इव तदावरणशक्तेरयोगात्, त्वयानभ्युपगतत्वाच्च, जडविशिष्टात्मानं प्रति तदभ्युपगमे च विशेषणानावरकविशिष्टावरकशक्त्यभिभवस्य विशेष्यावरकशक्त्यभिभवं विनाऽयोगेन शुक्त्याकारवृत्त्यैव शुद्धात्मप्रकाशापातादिति चेन्न, अनवबोधात्। न ह्यविद्याकल्पितेऽवच्छिन्ने अस्माभिरविद्या वा तच्छक्तिर्वाभ्युपेयते, किन्तु चैतन्यमात्र एव, तस्मिंस्तु सर्वं जडमध्यस्तमस्तीत्येकाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धात्, जड़ावच्छिन्नचैतन्यमावृतमिति व्यपदेशः, घटाद्याकारवृत्त्या तु

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

और स्वकारण में सूक्ष्मरूप से अवस्थान में तो उच्छेद का अनङ्गीकार है; और शुक्तिज्ञान के अनवच्छिन्नचैतन्य के आवरणरूप—मूलाज्ञान का अनिवर्तकत्व होने पर भी अवच्छिन्नचैतन्य के आवरणरूप—तूलाज्ञान के निवर्तकत्व होने से, अभिव्यक्त चैतन्य के सम्बन्ध होने के कारण, बाधदशा में रूप्य की निवृत्ति और शुक्ति का प्रकाश दोनों की उपपत्ति है।

शंका — उपादेय भूत वृत्ति से उपादानभूत अविद्या का अभिभव तो अयुक्त है, क्योंकि उपादेय से उपादान का अभिभव देखने में नहीं आता।

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि उपादेय वृश्चिकादि से उपादान गोमयादि (गोबर) का भी अभिभव देखने में आता है। और आरम्भवाद का अनङ्गीकार होने से गोमयावयवों के उपादानत्व की शंका भी नहीं की जा सकती (''यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यम् तद्द्रव्यं तद्द्रव्योपादेयम्'' इस प्रकार आरम्भवादानुसार उपादानत्वशंका नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसे स्थलों में परिणामवाद का अङ्गीकार किया जाता है)।

शंका — चक्षुरादि से जन्या सप्रकारिका शुक्त्यादिवृत्ति से निष्प्रकारक शुद्धचैतन्य को विषय न करने के कारण शुद्धचैतन्य के आवरणरूप मूलाज्ञान का अभिभव न होने परभी अवच्छिन्नचैतन्य को विषय करने वाली उस वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के आवरणरूप तूलाज्ञान का अभिभव युक्त है— यह तुम्हारा मत अयुक्त है; क्योंकि अविद्या से कल्पित अवच्छिन्न और अप्रसक्तप्रकाशचैतन्य में मूलाविद्या के समान उस अविद्या की आवरणशक्ति का अयोग है और तुमने इसका अङ्गीकार नहीं किया है और जड़विशिष्टआत्मा के प्रति आवरणशक्ति का अङ्गीकार होने पर जड़भूतविशेषणानावारक और विशिष्टावरकशक्ति का अभिभव विशेष्यावरक शक्ति के अभिभव के बिना अयुक्त होने से शुक्त्याकार वृत्ति द्वारा ही शुद्धात्मा के प्रकाश का प्रसङ्ग होगा।

समाधान — नहीं, क्योंकि आपने हमारे अभिप्राय को नहीं समझा। अविद्या से कल्पित और अवच्छिन्न चैतन्य में हमने अविद्या अथवा अविद्याशक्ति का अङ्गीकार नहीं किया है, किन्तु चैतन्यमात्र में अङ्गीकार किया है और उस चैतन्यमात्र में तो सब जड अध्यस्त होने से सब जड

तदधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तौ तदवच्छेदेनैव तन्निष्ठावरणाभिभवो जायत इति न शुद्धात्म-प्रकाशापत्तिः। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।।'
बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं श्रृणुत संग्रहमद्वयशासने।
सकलवाङ्मनसातिगता चितिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्।।'

इति च। तस्मादविद्यायां सत्यामपि शक्त्यभिभवाद्वा, तूलाज्ञाननाशाद्वा, अवस्थाविशेषप्रच्यवाद्वा, एकदेशनाशाद्वा, भीरुभटवदपसरणाद्वा, कटवत्संवेष्टनाद्वा, आवरणभङ्गानिर्मोक्षबाधानामुपपत्तिः।

ननु—अवस्थाविशेषाणामज्ञानाभिन्नत्वे एकाज्ञानपक्षक्षतिः, अज्ञानभिन्नत्वे च साक्षाद् ज्ञानेन निवृत्तिः, भ्रमाद्युपादानत्वञ्च न स्यात्, तेषामिव रूप्यस्यैवोपादाननाशं विना नाशप्रसङ्गश्च, शुक्त्यज्ञानं नष्टमित्यनुभवविरोधश्चेति—चेन्न, यतोऽवस्था तावदवस्था-वतोऽभिन्नैव, अज्ञानैक्यं तु सर्वावस्थानुस्यूतैकाकारमादाय। एवं चाज्ञानावस्थाया अज्ञानत्वेन न ज्ञानसाक्षान्निवर्त्यत्वाद्यनुपपत्तिः। यत्त्ववस्थाविशेषाणामिव रूप्यस्यैवोपादाननिवृत्तिं विना

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

और अविद्या में चिन्मात्राश्रयाश्रितत्व संबन्ध से जडावच्छिन्न चैतन्य आवृत्त है—ऐसा व्यपदेश अर्थात् शब्द व्यवहार होता है; और घटाद्यवच्छेदक से ही घटाद्यधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर घटाद्यवच्छेद से ही घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ आवरणमात्र का अभिभव होने से शुद्धात्मा की प्रकाशापत्ति नहीं। संक्षेपशारीरक में इस बात को कहा है— "जीव—ईश्वरादि के विभाग से रहित शुद्ध चैतन्य मात्र ही, मूलाज्ञान का आश्रय और विषय होता है; क्योंकि पूर्वसिद्ध मूलाज्ञान का पश्चाद्भावी प्रपञ्च न आश्रय और न विषय बन सकता है"। " इस अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा के शासन अर्थात् प्रतिपादन में अधिक कहने से क्या लाभ? मैं संग्रह अर्थात् संक्षिप्तरूप से इसको कहता हूं, सुनो— यह निरुपाधिक शुद्धात्मचैतन्य सकल वाक् और मन से अतिगत है अर्थात् वाणी और मन का अविषय है और सोपाधिक चैतन्य सकल वाक् और मन के व्यवहार का भाजन है।" इसलिये अविद्या वर्तमान रहने पर भी आवरणशक्ति के अभिभव से, अथवा तूलाज्ञान अर्थात् आवरणविक्षेपशक्तियुक्त ब्रह्मज्ञानभिन्नज्ञाननाश्य और मूलाज्ञानतादात्म्यानापन्न अज्ञान के नाश से, अथवा मूलाज्ञान के अवस्था विशेष अर्थात् मूलाज्ञानतादात्म्यापन्न आवरणविक्षेपशक्तिसंपन्न और ब्रह्मज्ञानान्यज्ञाननाश्य अज्ञान के प्रच्यव से, अथवा अज्ञान के एकदेश के नाश से अर्थात् वृत्तिकाल में अज्ञान के स्वकार्याक्षमत्व होने से या भीरूयोद्धा के समान वृत्त्युत्पन्निक्षण में ही अविद्या के अपसरण से, अथवा कट (चटाई) के समान वृत्त्युत्पत्तिक्षणोत्तर द्वितीयक्षण में अविद्या के संवेष्टन से आवरणभङ्ग, शुक्त्यादि ज्ञान से अनिर्मोक्ष और रजतादिबाध की उपपत्ति है।

शंका — अवस्था विशेषों का अज्ञान से अभिन्नत्व होने पर एकाज्ञानपक्ष की क्षति है और अज्ञान से भिन्नत्व होने पर उन अवस्था विशेषों की साक्षात् ज्ञान से निवृत्ति नहीं होगी और उनका भ्रमाद्युपादानत्व भी न होगा; और अवस्था विशेषों के नाश के जैसे उपादाननाश के बिना रजत का ही नाश प्रसङ्ग होगा, और "शुक्त्यज्ञान नष्ट हो गया" इस अनुभव से भी विरोध है।

समाधान — नहीं, क्योंकि अवस्था अवस्थावान् से अभिन्न ही है और अज्ञानैकत्व तो सब अवस्थाओं में अनुगत एकाकार (एकाज्ञानस्वरूप) को लेकर है और इस प्रकार अज्ञानावस्था के

निवृत्त्यापादनम्, तदयुक्तम्, अज्ञान एव ज्ञानस्य साक्षाद्विरोधावधारणेनाज्ञानावस्थायास्त–दभिन्नायाः ज्ञानसाक्षान्निवर्त्यत्वार्हत्वात्, न तु रूप्यादीनाम्, अनीदृक्त्वात्। अनेकाज्ञानपक्षे तु शङ्कापि नोदेति।

ननु–अस्मिन्पक्षे एकया वृत्त्या सर्वतदज्ञानस्य निवृत्तिः? उत एकतदज्ञानस्य? आद्ये पुनः शुक्तेः कदाप्यप्रकाशो न स्यात्, अन्त्ये वृत्तिकालेऽपि प्रकाशो न स्यात्, एकस्यावरणस्य निवृत्तावप्यावरणान्तरानिवृत्तेरिति–चेन्न, एकया वृत्त्या एकाज्ञाननाशेऽपि तयैवावरणान्तराणां प्रतिरुद्धत्वात्, यावत् सा तिष्ठति तावत्प्रकाशः, तस्यामपगतायां पुनरप्रकाशश्चोपपद्यते, अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वात्। यथा तव एकं ज्ञानमेकमेव प्रागभावं नाशयति, तन्नाशरूपेणोदयात् प्रागभावान्तरनिबन्धनमज्ञातत्वादिव्यवहारञ्च प्रतिबध्नाति, तथा ममाप्येकं ज्ञानमेकमेवाज्ञानं निवर्तयति, अज्ञानान्तरनिबन्धनञ्च प्रयोजनं प्रतिबध्नातीति किमनुपपन्नम्? अत्र च प्रतिबन्धकपदेन कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकत्वं कारणा–भावप्रतिबन्धकसाधारणमभिहितम्। एवमवस्थाविशेषपक्षेऽपि प्रकाशाप्रकाशावुपपादनीयौ। एवममूर्तस्याज्ञानस्य यद्यपि दण्डादिना गवादीनामिवापसरणं करादिना कटादीनामिव संवेष्टनं च न सम्भवति, तथापि कार्याक्षमत्वसाम्येनापसरणसंवेष्टनपक्षौ योजनीयौ।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अज्ञानत्व होने से ज्ञान से साक्षात् निवर्त्यत्वादि की अनुपपत्ति भी नहीं। और जो–अवस्थाविशेषों के समान उपादान की निवृत्ति के बिना, रूप्यकी निवृत्ति का उपपादन है, वह अयुक्त है, क्योंकि अज्ञान में ही ज्ञान के साक्षात् विरोध के अवधारण से, अज्ञानाभिन्न अज्ञानावस्था के ज्ञान से साक्षात् निवर्त्यत्व युक्त है, रूप्यादिकों का नहीं, क्योंकि उनमें अज्ञानत्व नहीं। और अनेकाज्ञानपक्ष में तो इस विषय में शंका का उदय भी नहीं।

शंका – इस अनेकाज्ञान पक्ष में –क्या एक ही वृत्ति से सब शुक्त्यज्ञान की निवृत्ति है? अथवा एक ही शुक्त्यज्ञान की? आद्यपक्ष में, शुक्ति का कदापि अप्रकाश नहीं होगा, और अन्त्यपक्ष में तो वृत्तिकाल में भी शुक्ति का प्रकाश नहीं होगा, कारण कि एक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर भी अन्य आवरणों की निवृत्ति नहीं हुई है।

समाधान – नहीं, क्योंकि एक वृत्ति से एकाज्ञान का नाश होने पर भी उस एक ही वृत्ति से अन्य आवरणों के प्रतिरुद्धत्व होने से जब तक वह वृत्ति रहती है, तब तक शुक्ति का प्रकाश है, और उस वृत्ति की निवृत्ति होने पर पुनः अप्रकाश हो सकता है, क्योंकि अज्ञान ज्ञानप्रागभावस्थानीय है। जैसे कि तुम्हारे मत में एक ज्ञान एक ही ज्ञानप्रागभाव का नाश करता है, क्योंकि एक प्रागभाव के नाशरूप से उस ज्ञान का उदय होता है और अन्य प्रागभाव–निमित्तक अज्ञातत्वादि व्यवहार का प्रतिबन्ध करता है, वैसे ही हमारे मत में भी एक ज्ञान एक ही अज्ञान का निर्वतन करता है और अज्ञानान्तर निमित्तक प्रयोजन का प्रतिबन्ध करता है; तब कौन सा अनुपपन्न हुआ? यहां प्रतिबन्धक पद अर्थात् ''प्रतिबन्धाति'' इस पद से कारणाभाव और प्रतिबन्धक इन दोनों में साधारण कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकत्व का कथन है। इसी प्रकार अवस्थाविशेष पक्ष में भी विषयावच्छिन्न चैतन्य के प्रकाश और अप्रकाश का उपपादन करना चाहिये। इसी प्रकार यद्यपि अमूर्त–अज्ञान का दण्डादि से गवादि के समान अपसरण और हस्तादि से कटादि के समान संवेष्टन नहीं हो सकता, तथापि कार्यक्षमत्वाभाव के साम्य से अपसरण और संवेष्टन पक्ष की योजना करनी चाहिये। जैसे कि उत्तेजक (प्रतिबन्धक का सत्त्व होने पर कार्यजनक सूर्यकान्तमण्यादि) के अभाव

यथा हि उत्तेजकाभावसहकृतस्य मणेः प्रतिबन्धकतायामुत्तेजकसत्त्वे प्रतिबन्धकार्याक्षमत्वम्, तथा वृत्त्यभावसहकृतस्याज्ञानस्य प्रतिबन्धकतायां वृत्तौ सत्यां तत्कार्यानुदय इति द्रष्टव्यम्।

ननु चैतन्यस्य निरवयवत्वात् तस्यैकदेशेन प्रकाशो न युज्यते, अथाकाश इव तत्तदर्थावच्छिन्नत्वमेकदेशशब्दार्थः तर्हि नागन्तुकपदार्थावच्छिन्नचैतन्यमनाद्यज्ञानस्य विषयः, निर्विषयस्यावरणस्यायोगात्। प्रागनवच्छिन्नावरणमेवेदानीमवच्छिन्नावरणं जातमित्यपि न, अवच्छिन्नचैतन्यज्ञानेनैवानवच्छिन्नावरणनाशापत्तेः। एतेन व्यक्तितः पूर्वं जातिरिव विषयात्पूर्वमज्ञानमस्तीति निरस्तमिति—चेन्न अनाद्यज्ञानविषये अनादिचैतन्ये तत्तदागन्तुकपदार्थावच्छेदाभ्युपगमात्, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' इत्युक्तत्वात्। यदवच्छिन्नगोचरा च वृत्तिस्तदवच्छेदेनैवावरणापसारणान्नानवच्छिन्न-चैतन्यावरणभङ्गप्रसङ्गः। अत एव वृत्तिविषयावच्छिन्नचैतन्यात् प्रागज्ञानमस्तीत्यभिप्रायेण विषयात्प्रागज्ञानमस्तीति साधूक्तम्। तस्मादधिष्ठानचैतन्यं स्वाध्यस्तं भासयतीति सिद्धम्। तदयमत्र निष्कर्षः—यद्यपि विषयप्रकाशकं विषयाधिष्ठानभूतं प्रमेयचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं तु तस्य प्रमातृ, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं तु प्रमाणम्, तथापि यदीयान्तःकरणवृत्त्या विषयपर्यन्तं चक्षुरादिद्वारा निस्सृतया यत्प्रकाशकं चैतन्यं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से सहकृत चन्द्रकान्तमणि की दाहरूपकार्य के प्रति प्रतिबन्धकता होने पर भी उत्तेजक का वर्तमानत्व होने पर प्रतिबन्धरूप कार्यक्षमता होती है, वैसे ही वृत्त्यभाव से सहकृत अज्ञान की प्रतिबन्धकता होने पर भी वृत्ति की वर्तमानता में अज्ञानकार्य का अनुदय समझना चाहिये।

शंका – चैतन्य के निरवयवत्व होने से उसका एकदेश से प्रकाश अयुक्त है, यदि कहो कि आकाश के समान तत्तद्विषयावच्छिन्नत्व ही एकदेशशब्दार्थ है, तो ठीक नही, क्योंकि आगन्तुक पदार्थावच्छिन्न चैतन्य अनाद्यज्ञान का विषय नहीं होगा, कारण कि (अवच्छिन्नचैतन्य के प्रकाशमानत्व होने से) निर्विषय आवरण अयुक्त है और पूर्वकाल के अनवच्छिन्नचैतन्य का आवरण ही इस समय अवच्छिन्नचैतन्य का आवरण हो गया– ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि अवच्छिन्न चैतन्य के ज्ञान से ही अनवच्छिन्नचैतन्य के आवरणनाश की आपत्ति है। और इन युक्तियों से—व्यक्ति से पूर्व जाति के समान विषय से पूर्व अज्ञान है, यह कथन निरस्त हुआ।

समाधान – नहीं, क्योंकि अनाद्यज्ञान के विषय अनादि चैतन्य में तत्तदागन्तुक पदार्थ ही अवच्छेदक अङ्गीकृत हैं, क्योंकि ''जीवेशादिविभाग से रहित चैतन्यमात्र ही अज्ञान का आश्रय और विषय है'' ऐसा पूर्व ही कहा जा चुका है। और जिस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य को विषय करने वाली वृत्ति होती है,उस वृत्ति से तद्विषयावच्छेद से ही आवरण के अपसरण होने से अनवच्छिन्न चैतन्य आवरणभङ्ग का प्रसङ्ग नहीं होगा। इस प्रकार प्रसङ्ग के अभाव से वृत्तिविषयावच्छिन्न चैतन्य से पूर्व अज्ञान है– इस अभिप्राय से विषय से पूर्व अज्ञान है– ऐसा कथन भी साधु ही है। इसलिये अधिष्ठान चैतन्य अपने में अध्यस्त को भासित करता है– यह बात सिद्ध हुई। इसमें यह निष्कर्ष है। यद्यपि अधिष्ठानभूत प्रमेयचैतन्य विषयप्रकाशक है, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तो प्रमेय का प्रमाता है और अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण है, तथापि चक्षुरादि द्वारा विषयपर्यन्त निस्सृत यत्पुरुषीयान्तःकरण वृत्ति से जिस विषय का प्रकाशक चैतन्य जिस प्रमातृचैतन्य के साथ अभिन्नरूप से अभिव्यक्त होता है, उस विषय को वह साक्षात्काररूप से जानता है, अन्य विषय को नहीं जानता। अथवा, अन्य पुरुष भी उस विषय को नहीं जानता।

यत्रप्रमातृचैतन्याभेदेनाभिव्यज्यते तमेव स एव जानाति नान्यं नान्यो वा। अत एवैकैवृत्त्युपारूढत्वलक्षणैकलोलीभावापन्नं प्रमातृप्रमाणप्रमेयचैतन्यं भवति। ततस्तदवच्छेदेनाज्ञाननिवृत्त्या भासमानं प्रमेयचैतन्यमपरोक्षं फलमित्युच्यते। तत् स्वयं भासमानं सत् स्वाध्यस्तं घटाद्यपि भासयतीति तत् फलव्याप्यमित्युपेयते। यन्निष्ठा च यदाकारा वृत्तिर्भवति तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं (सा) नाशयतीति नियमात् प्रमातृप्रमेयोभयव्यापिन्यपरोक्षवृतिः स्वावच्छेदेनावरणमपसारयति, प्रकाशस्य स्वावच्छेदेनावरणापसारकत्वदर्शनात्। अतः प्रमात्रवच्छिन्नस्यासत्त्वावरणस्य प्रमेयावच्छिन्नस्याभानावरणस्य चापसरणाद् घटोऽयं मे स्फुरतीत्याद्यपरोक्षव्यवहारः। परोक्षस्थले तु इन्द्रियसन्निकर्षलक्षणद्वाराभावादन्तःकरणनिस्सरणाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनाद्विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्येन सह प्रमातृचैतन्यस्यैकवृत्त्युपारूढत्वाभावेनापरोक्षतयाऽभिव्यक्त्यभावेऽपि प्रमातृप्रमाणचैतन्ययोरेकलोलीभावापत्त्या प्रमात्रवच्छिन्नमसत्त्वावरणमात्रं निवर्तते, तावन्मात्रस्य वृत्त्यवच्छिन्नत्वात्। इदमेव सुषुप्तिव्यावृत्तिशब्देन विवरणाचार्यैर्व्याख्यातम्। विषयावच्छिन्नाभानावरणतत्कार्यसद्भावेऽपि, प्रमात्रवच्छिन्नासत्त्वावरणनिवृत्त्या अनुमानादौ व्यवहारोपपत्तिः। अत एव जानाम्यहं पर्वते वह्निरस्तीति, स तु कीदृश इति मे न भातीत्यादिव्यवहारः।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अतएव एकवृत्ति में उपारूढ़त्वरूप एकलोलीभाव अर्थात् एकस्वरूपभाव को प्राप्त प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य होते हैं। इस प्रकार तीनों के एक लोलीभाव से उस विषय के अवच्छेद से अज्ञाननिवृत्ति होने के कारण वृत्ति से अभिन्नरूप से भासमान प्रमेयचैतन्य ही (प्रमाज्ञान रूप से) अपरोक्ष फल कहा जाता है और वह प्रमेय चैतन्य स्वयं भासमान होता हुआ अपने में अध्यस्त घटादि को भी प्रकाशित करता है; इस कारण घटादि विषय फलव्याप्य अर्थात् प्रमेयचैतन्यरूप फलभास्य माना जाता है। जिस विषय से संश्लिष्ट होकर जिस विषय की आकार वाली वृत्ति होती है, उस विषय से अवच्छिन्नचैतन्य में आश्रित और उस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य को विषय करने वाले अज्ञान को वह वृत्ति नष्ट करती है– यह नियम होने के कारण प्रमाता और प्रमेय दोनों में व्यापिनी अपरोक्षवृत्ति अपने (अपरोक्षवृत्ति) अवच्छेद से आवरण को अपसारित करती है, क्योंकि प्रकाश के अपने (प्रकाश) अवच्छेद से आवरण का अपसारकत्व देखने में आता है। इस कारण प्रमातृचैतन्यनिष्ठ असत्त्वावरण और प्रमेयचैतन्यनिष्ठ अभानावरण दोनों के अपसरण से ''घटोऽयं मे स्फुरति'' इत्यादि अपरोक्ष व्यवहार होता है। और परोक्षस्थल में इन्द्रियसन्निकर्षरूप द्वार के अभाव से अन्तःकरण के बर्हिनिस्सरण न होने से विषय पर्यन्त वृत्ति का गमन न होने के कारण विषयावच्छिन्न प्रमेयचैतन्य के साथ प्रमातृचैतन्य के एकवृत्ति में उपारूढ़त्व के अभाव से अपरोक्षरूपसे अभिव्यक्ति न होने पर भी प्रमातृचैतन्य और प्रमाणचैतन्य दोनों की एकलोलीभावापत्ति से प्रमातृचैतन्यनिष्ठ असत्त्वावरण मात्र निवृत्त होता है, क्योंकि प्रमातृचैतन्यनिष्ठ असत्त्वावरण मात्र ही वृत्ति से अवच्छिन्न है और इस असत्त्वापादक अज्ञान का ही विवरणाचार्य ने सुषुप्तिव्यावृत्ति शब्द से व्याख्यान किया है। विषयावच्छिन्नंचैतन्यनिष्ठ अभानापादक आवरण और उसके कार्य अभान का वर्तमानत्व होने पर भी प्रमातृचैतन्यनिष्ठ असत्त्वापादक आवरण की निवृत्ति से अनुमानादि में अनुमेयादि के अस्तित्वादिव्यवहार की उपपत्ति है। इस प्रकार विषयचैतन्यनिष्ठ अभानावरण रहने पर भी प्रमातृचैतन्यनिष्ठ असत्त्वावरण के न होने से 'मैं जानता हूँ कि पर्वत में अग्नि है, किन्तु मुझे भान नहीं है कि वह कैसी अग्नि

त्रयाणामेकलोलीभावे अपरोक्षत्वम्, द्वयोरेकलोलीभावे तु परोक्षत्वमिति न सङ्करः। वृत्तेश्च विषयेण समं साक्षादेवापरोक्षस्थले सम्बन्धः, परोक्षस्थले त्वनुमितेरनुमेयेन तद्व्याप्यज्ञानजन्यत्वम्, शाब्द्याः संसर्गेण सह तदाश्रयवाचकपदज्ञानजन्यत्वम्, स्मृतेः स्मर्तव्येन सह तद्विषयानुभवजन्यत्वम्। एवमन्यत्रापि परम्परासम्बन्ध एवेति परोक्षापरोक्ष–विभागः। विस्तरेण च व्युत्पादितास्माभिरियं प्रक्रिया सिद्धान्तबिन्दौ। तस्माद्विषयस्य मिथ्यात्वेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्थोपपन्नेति दिक्।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः।।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है'' इत्यादि व्यवहार होता है। प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य तीनों के एकलोलीभाव होने पर अपरोक्षत्व और प्रमातृचैतन्य और प्रमाणचैतन्य दोनों के एकलोलीभाव होने पर परोक्षत्व होने से अपरोक्षत्व और परोक्षत्व में संकर नहीं। अपरोक्षस्थल में वृत्ति का विषय के साथ साक्षात् ही सम्बन्ध है; और परोक्षस्थल में तो अनुमितिरूपवृत्तिका वह्न्यादि अनुमेय के साथ अनुमेयव्याप्य धूमादिज्ञानजन्यत्व संबन्ध है; और शाब्दीवृत्ति के संसर्ग अर्थात् वाक्यार्थरूपपदार्थान्वय के साथ, संसर्ग के आश्रयभूत पदार्थों के वाचक पदों के ज्ञान से जन्यत्वरूप संबन्ध है; और स्मृतिरूपवृत्तिका स्मर्तव्य पदार्थ के साथ स्मर्तव्यविषयकानुभवजन्यत्व संबन्ध है। इसी प्रकार से अन्य परोक्षस्थल में भी परम्परा—संबन्ध ही होने से परोक्ष और अपरोक्ष का विभाग है। और हमारे द्वारा इस प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक सिद्धान्तबिन्दु में प्रतिपादन किया गया है। इसलिये विषय का मिथ्यात्व होने पर भी प्रतिकर्मव्यवस्था उत्पन्न होतीं है। इति दिक्।।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेः राष्ट्रभाषानुवादः।।



३३: अथ प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्

ननु—मिथ्यात्वानुमानं प्रतिकूलतर्कपराहतम्। तथा हि—विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, सत्याधिष्ठानं स्यात्, न चैवम्, सामान्यतो ज्ञातत्वे सत्यज्ञातविशेषवत्त्वस्याधिष्ठान-त्वप्रयोजकस्य निर्विशेषे निस्सामान्ये च ब्रह्मण्यसम्भवादिति चेन्न, स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विशेषेणाज्ञातत्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकत्वेनाज्ञातविशेषवत्त्वस्याप्रयोजकत्वात्। 'पुरुषो न वा?'इति संशयधर्मिणः स्थाणोरप्यन्यत्र ज्ञातस्थाणुत्वरूपविशेषवत्त्वात् तत्राज्ञातविशेष-वत्त्वमपि न प्रयोजकम्, विशेषवत्त्वेनाज्ञातत्वस्यैव लघुत्वेन प्रयोजकत्वात्, तथा च निस्सामान्ये निर्विशेषे च ब्रह्मणि स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानात् परिपूर्णत्वानन्दत्वादिना चाज्ञानाद-धिष्ठानत्वमुपपन्नम्। वस्तुतस्तुकल्पितसामान्यविशेषवत्त्वं ब्रह्मण्यपि सुलभमेव, अकल्पित-सामान्यविशेषत्त्वं चाप्रसिद्धम्। न च तत्कल्पनेऽन्योन्याश्रयः, कल्पितसामान्यविशेषाणां प्रवाहानादित्वात्, सत्यत्त्वानन्दत्वादीनामेव कल्पितव्यक्तिभेदेन सामान्यत्वात्, परिपूर्णा-नन्दत्वादीनां च विशेषत्वात्। अत एव सामान्याकारज्ञानं विना संस्कारानुद्बोधात् कथमध्यास इति न वाच्यम्, सदात्मना स्वरूपज्ञानस्यैव सामान्यज्ञानत्वात्। न ह्यध्यसनीयं सदात्मना

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — प्रपञ्चमिथ्यात्व का अनुमान प्रतिकूलतर्क से पराहत है। तथाहि—यदि विश्व कल्पित है तो वह सत्य अधिष्ठान से युक्त होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि सामान्यतः ज्ञातत्व होने पर अज्ञातविशेषवत्त्व ही अधिष्ठानत्व का प्रयोजक है; और यह प्रयोजक अधिष्ठानत्वेन अभिमत निर्विशेष और निस्सामान्य ब्रह्म में सम्भव नहीं।

समाधान — नहीं, क्योंकि स्वरूप से ज्ञातव्य होने पर विशेष रूप से अज्ञातत्व ही अधिष्ठानत्व का प्रयोजक होने से, अज्ञातविशेषवत्व प्रयोजक नहीं हो सकता। कारण कि ''पुरुष है या नहीं'' इस संशयस्थल में संशयधर्मी स्थाणु भी अन्यस्थल में (असंशयस्थल में) ज्ञातस्थाणुत्वरूपविशेष से युक्त है, अतः संशयस्थल में भी अज्ञात विशेषवत्त्व प्रयोजक नहीं, इसलिये विशेषवत्त्वेन अज्ञातत्व ही लघु होने से प्रयोजक है। तब तो निस्सामान्य और निर्विशेष ब्रह्म में स्वप्रकाशत्व रूप से सामान्य का ज्ञान और परिपूर्णत्व आनन्दत्वादिरूप से विशेष का अज्ञान होने से अधिष्ठानत्व युक्तियुक्त है।

वस्तुतः तो—कल्पित सामान्य—विशेषवत्व ब्रह्म में भी सुलभ ही है। और अकल्पितसामान्य विशेषवत्व तो अप्रसिद्ध है।

शंका — सामान्य विशेष की कल्पना में अन्योन्याश्रय है (अर्थात् सामान्यावच्छिन्न में विशेष के और विशेषावच्छिन्न में सामान्य के अध्यास का अङ्गीकार होने पर अन्योन्याश्रय है)।

समाधान— नहीं, क्योंकि कल्पित सामान्य विषयों का प्रवाहरूप से अनादित्व है (अर्थात् कपालादि सामान्य में घटादिविशेष का अध्यास होता है; घटादि सामान्य में कपालादिविशेष का अध्यास नहीं होता, किन्तु कपालावयवसामान्य कपालादि का अध्यास होता है, इसी प्रकार कपालावयव का भी स्वावयवसामान्य में ही अध्यास होता है, इस रीति से सामान्यविशेषों के प्रवाहरूप से अनादित्व होने से अन्योन्याश्रय नहीं); और ब्रह्म में सत्यत्व आनन्दत्वादि का कल्पित व्यक्तिभेद से सामान्यत्व है, और परिपूर्णानन्दत्वादिका विशेषत्व है। इस प्रकार कल्पितव्यक्तिभेद से सत्यत्वादि के सामान्यत्व होने से— सामान्याकार ज्ञान के बिना संस्कार का उद्बोध न होने के कारण कैसे अध्यास होगा— ऐसा कथन अयुक्त हुआ; क्योंकि सद्रूप से स्वरूपज्ञान का ही

न भाति। एतावानेव विशेषः—यदधिष्ठानं स्वत एव सदात्मना भाति, अध्यसनीयं तु तत्सम्बन्धात्। ननु—अधिष्ठानतिरोधानं विना भ्रमासम्भवः, प्रकाशरूपतिरोधाने तु तदध्यस्ताविद्यादेः प्रकाशानुपपत्तिरिति—चेन्न, एकस्यैवानन्दाद्यात्मना तिरोहितस्य सदात्मना प्रकाशसम्भवात्। तदुक्तं वार्तिककारपादैः—

यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्।
तमप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्।।' इति।

न च बाधकालेऽपि सद्विशेषाज्ञानमस्तीति—वाच्यम्, परिपूर्णानन्दत्वादेः सत एव विशेषत्वेन तदा तदज्ञानाभावात्, धर्मत्वमात्रस्यैव कल्पितत्वात्। यद्वा भ्रमविरोधिज्ञानाभाव एव तन्त्रम्, न तु विशेषाज्ञानम्, विश्वोपादानगोचराज्ञानस्य श्रवणादिजन्यमात्ममात्रविषयकं वृत्तिरूपं ज्ञानं विरोधि, न तु चिद्रूपं स्वतः सिद्धं ज्ञानम्, भ्रमविरोधिनश्च वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्येदानीमभावोऽस्त्येव। ननु—आत्मानात्मनोर्द्रष्टृदृश्यत्वात्मानात्मत्वादिना भेदज्ञानात् कथमध्यस्ताधिष्ठानभाव—इति चेन्न, इदमनिदं न भवतीति पुरोवर्त्त्यपुरोवर्तिनोर्भेदग्रहेऽपीदं रजतमित्यध्यासवत् सन् घट इत्याद्यध्यासो भविष्यति। न हि रूपान्तरेण भेदग्रहो रूपान्तरेणाध्यासविरोधी, सन् घट इत्यादिप्रत्यये च सद्रूपस्यात्मनो घटाद्यनुविद्धतया

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सामान्यज्ञानत्व है। कारण कि अध्यसनीय पदार्थ सद्रूप से अभात नहीं अर्थात् भात ही है। उसमें इतना ही विशेष है कि जो अधिष्ठान है, वह स्वतः ही सद्रूप से भात (प्रतीत) होता है, किन्तु अध्यसनीय तो उसके संबन्ध से सद्रूप से प्रतीत होता है।

शंका – अधिष्ठान के तिरोधान के बिना भ्रम होना असम्भव है, और प्रकाशरूप अधिष्ठानब्रह्म का तिरोधान होने पर तो उसमें अध्यस्त अविद्यादि के प्रकाश की अनुपपत्ति है।

समाधान– नहीं, क्योंकि आनन्दादिरूप से तिरोहित एक ब्रह्म का सद्रूप से प्रकाश होना सम्भव है। इस विषय में वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने कहा है–"जिस प्रकाशरूप आत्मा के प्रसाद से अविद्यादि दिन–रात के समान सिद्ध प्रतीत होता है; उस आत्मा को भी अविद्या तिरोहित करती है, क्योंकि अविद्या के लिये कुछ भी दुष्कर नहीं।"

शंका – बाध काल में भी अधिष्ठानरूपसन्निष्ठविशेष का अज्ञान रहता है।

समाधान – ऐसा न कहिये, क्योंकि अधिष्ठानरूप सत् के परिपूर्णानन्दत्वादि ही विशेष होने से बाध काल में विशेष के अज्ञान का अभाव है और धर्मत्वमात्र का ही कल्पितत्व है (स्वरूप से तो परिपूर्णानन्द है, वह कल्पित नहीं) अथवा अध्यास में भ्रमविरोधी ज्ञान का अभावमात्र प्रयोजक है, विशेष का अज्ञान तो प्रयोजक नहीं; और प्रपञ्चोपादान चैतन्यविषयक अज्ञान का विरोधी तो श्रवणादिजन्य आत्ममात्रविषयक वृत्तिरूप ज्ञान है, चिद्रूप स्वतःसिद्धज्ञान तो विरोधी नहीं; और भ्रमविरोधीवृत्तिरूप ज्ञान का अध्यासकाल में अभाव है ही।

शंका – आत्मा और अनात्मा के द्रष्टृत्व–दृश्यत्व, आत्मत्व–अनात्मत्वादिरूप से भेदज्ञान होने से किस प्रकार अधिष्ठानत्व और अध्यस्तत्व होंगे?

समाधान– ऐसा न कहो, क्योंकि "इदमनिदं न भवति" अर्थात् "यह वह नहीं", इस प्रकार पुरोवर्ती और अपुरोवर्ती में भेदज्ञान होने पर भी जैसे "यह रजत है" ऐसा अध्यास होता है, वैसे ही "सन् घटः" इत्यादि अध्यास हो जायेगा; क्योंकि रूपान्तर से भेदज्ञान रूपान्तर से अध्यास का विरोधी नहीं, और "सन् घटः" इत्यादि ज्ञान में सद्रूप आत्मा के घटादि में

भानान्न तस्य घटाद्यध्यासाधिष्ठानतानुपपत्तिः, सद्रूपेण च सर्वज्ञानविषयतोपपत्तेर्न रूपादि–हीनस्याप्यात्मनः कालस्येव चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः।

ननु–विश्वं यदि कल्पितं स्यात्तदा सप्रधानं स्यात्, न चैवम्, तस्मात् न कल्पितमिति–चेन्न, अत्रापि प्रधानस्य सजातीयस्य सत्त्वात्, पूर्वप्रपञ्चसजातीयस्यैवोत्तर–प्रपञ्चस्याध्यसनात्। अध्यासो हि स्वकारणतया संस्कारमपेक्षते, न तु संस्कारविषयस्य सत्यताम्, अनुपयोगात्। न च–प्रमाजन्य एव संस्कारो भ्रमहेतुः, अतो विषयसत्यत्व–मावश्यकमिति–वाच्यम्, मानाभावात्, विपरीते लाघवाच्च। अत एव–अध्यस्तसजातीयं पूर्वमध्यस्तापेक्षयाऽधिकसत्ताकमपेक्षणीयमित्यपि–निरस्तम्, सत्यतावदधिकसत्ताया अप्यनुपयोगात्। पूर्वं तु तज्ज्ञानमात्रमपेक्ष्यते, तच्चास्त्येव। ननु–एवमधिष्ठानस्यापि ज्ञानमात्रमेव हेतुः, न तु तदिति न सदधिष्ठानापेक्षा स्यादिति शून्यवादापत्तिरिति–चेन्न, अधिष्ठानस्य ज्ञानद्वारा भ्रमाहेतुत्वेऽप्यज्ञानद्वारा भ्रमहेतुत्वेन सत्त्वनियमात्। भ्रमोपादानाज्ञान–विषयो ह्यधिष्ठानमित्युच्यते, तच्च सत्यमेव, असत्यस्य सर्वस्याप्यज्ञानकल्पितत्वेना–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अनुगतत्वरूप से भान होने से सदात्मा की घटाद्यध्यासाधिष्ठानता की अनुपपत्ति नहीं; और सद्रूप से सर्वज्ञानविषयता की उपपत्ति से रूपादिहीन होती हुई भी आत्मा के काल के समान चाक्षुषत्वादि की अनुपपत्ति नहीं।

शंका – यदि विश्व कल्पित है तो सप्रधान होना चाहिये (यहां पर–अध्यस्त के सजातीय होने पर अध्यस्त से अधिक सत्ताक प्रधान है); किन्तु ऐसा नहीं, अतः विश्व कल्पित नहीं।

समाधान – ऐसा नहीं; क्योंकि (प्रधान पद से यदि कालान्तर और देशान्तर में विद्यमान अध्यस्त सजातीय का ग्रहण करें तो) यहां भी सजातीय प्रधान का सत्त्व है, कारण कि पूर्वप्रपञ्च के सजातीय उत्तरप्रपञ्च का अध्यास होता है। (और यदि प्रधान में अध्यस्त की अपेक्षा अधिकसत्त्व मानें तो ठीक नहीं) क्योंकि अध्यास अपने कारणरूप से संस्कार की अपेक्षा करता है, और संस्कार विषय की सत्यता की अपेक्षा तो नहीं करता, कारण कि अध्यास में संस्कार विषय सत्यता की उपयोगिता नहीं।

शंका – प्रमाजन्य संस्कार ही भ्रम हेतु है, अतः विषयसत्यत्व आवश्यक है।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि प्रमाजन्य संस्कार ही भ्रम प्रयोजक होने में प्रमाण नहीं, और विपरीत में अर्थात् भ्रमप्रमासाधारण संस्कारत्वेन संस्कार को ही भ्रम प्रयोजक मानने में लाघव है। इस प्रकार प्रमाजन्य संस्कार के भ्रमप्रयोजकत्व के अभाव से ही– अध्यास से पूर्व अध्यस्त की अपेक्षा से अधिक सत्ताक अध्यस्त सजातीय अपेक्षणीय है– ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि सत्यता के समान अधिक सत्ता का भी उपयोग नहीं। अध्यास से पूर्व तो उसमें सजातीय ज्ञान मात्र की अपेक्षा है, और वह ज्ञान तो है ही।

शंका – वैसे ही अधिष्ठान का भी ज्ञानमात्र ही प्रयोजक होगा, प्रमाज्ञान तो नहीं, तब तो सद्रूप अधिष्ठान की अपेक्षा न होने से शून्यवाद की आपत्ति है।

समाधान – नहीं; क्योंकि अधिष्ठान के स्वविषयकज्ञान द्वारा भ्रम का अप्रयोकत्व होने पर भी स्वविषयक अज्ञानद्वारा भ्रम का हेतुत्व (उपादानत्व) होने से सत्त्व का नियम है। भ्रम के उपादानभूत अज्ञान का विषय ही अधिष्ठान कहा जाता है; और वह सत्य ही है, क्योंकि सभी असत्य पदार्थ अज्ञानकल्पित होने से अज्ञान का विषय नहीं होते, और अधिष्ठान का असत्यत्व

ज्ञानाविषयत्वात्, तदसत्यत्वे तज्ज्ञानस्य भ्रमाबाधकत्वप्रसङ्गात्, जगति भ्रमबालघु–चन्द्रिकाव्यवस्था च न स्यात्। बाधेन हि किञ्चिद्विरुद्धं तत्त्वमुपदर्शयता आरोपितमतत्त्वं बाधनीयम्, उभयाध्यासे तु किं केन बाध्येत? अत एव भगवता भाष्यकारेण–''सत्यानृते मिथुनीकृत्य'' इत्युक्तम्।

ननु एतत्प्रपञ्चासाध्यार्थक्रियाकारिणः प्रपञ्चान्तरस्याभावेन स्वोचितार्थक्रिया–कारिणोऽस्य न मिथ्यात्वमिति चेन्न, स्वाप्नमायादौ व्यभिचारात्, स्वोचितार्थक्रियाकारित्व–ऽस्य पारमार्थिकसत्त्वाप्रयोजकत्वात्। नापि श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्त्यादिमत्त्वं सत्त्वे तन्त्रम्, स्वप्नप्रपञ्चे व्यभिचारात्, तस्यापि ''न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथस्सृजते''(बृ. उ. ४/३/१०) इत्यादिश्रुत्योत्पत्त्यादिप्रतिपादनात्। न च कल्पाद्यभ्रमायोगः, कल्पान्तरीयसंस्कारस्य तत्र हेतुत्वात्। न च जन्मान्तरीयसंस्कारस्य कार्यजनकत्वेऽतिप्रसङ्गः, अदृष्टादिवशेन क्वचिदुद्बोधेऽप्यन्यत्रानुद्बोधोपपत्तेः, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात्, अन्यथा जातस्य स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। ननु–चैत्रेण मैत्रे संस्काराध्यासेऽपि मैत्रस्य भ्रमादर्शनात्, जगद्भ्रमहेतुसंस्कारस्य सत्त्वं, दुर्वारम्, न च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने पर अधिष्ठानविषयक साक्षात्काररूप ज्ञान के भ्रमाबाधकत्व का प्रसंग होगा, और जगत् में भ्रमबाध की व्यवस्था ही नहीं होगी। कारण कि कुछ विरुद्ध अर्थात् व्यावृत्तरूप तत्त्व (बाध्यापेक्षा से अधिकसत्ताक वस्तु) को विषय करने वाला बाध से आरोपित अतत्त्व बाधनीय ही है, दोनों का अध्यास होने पर तो किसका किससे बाध होगा? इस कारण भाष्यकार ने ''सत्य और अनृत मिलकर'' ऐसा कहा है।

शंका – इस प्रपञ्च से साध्य, अर्थक्रियाकारी अन्य प्रपञ्च के अभाव से, स्वोचित् अर्थक्रियाकारी इस प्रपञ्च का मिथ्यात्व नहीं हो सकता।

समाधान – नहीं, क्योंकि ''जो अर्थ क्रियाकारी है, वह अमिथ्या है'' इस व्याप्ति का स्वप्नमायादि में व्यभिचार है, और स्वोचित अर्थक्रियाकारेत्व पारमार्थिकसत्त्व का अप्रयोजक है। और श्रुत्यादिसिद्ध उत्पत्यादिमत्त्व भी सत्त्व में प्रयोजक नहीं, क्योंकि उसका भी स्वप्नप्रपञ्च में व्यभिचार है, क्योंकि स्वप्नप्रपञ्च के भी ''उस स्वप्नावस्था में न रथ है, न अश्व, न मार्ग है, तो भी रथ, अश्व और मार्गों का सृजन करता है'' इत्यादि श्रुति से उत्पत्त्यादि का प्रतिपादन होता है।

शंका – कल्प का आद्यभ्रम अयुक्त है, क्योंकि उस कल्प का संस्कार नहीं।

समाधान – नहीं, क्योंकि कल्पान्तरीय संस्कार उस कल्पाद्यभ्रम में हेतु है और जन्मान्तरीय संस्कार के कार्यजनकत्व में अतिप्रसंग भी नहीं, क्योंकि अदृष्टादि के वश से कहीं संस्कार का उद्बोध होने पर भी अन्यत्र अनुद्बोध हो सकता है; कारण कि कार्यों से उन्नयनयोग्य धर्मों का उन्नयन यथाकार्य होता है (जैसा कार्य देखने में आता है, वैसा ही उस कार्य के अनुकूल धर्मों का भी उत्थापन होता है); सर्वथा जन्मान्तरीय संस्कारों का अनुद्बोध होने पर तो सद्योजात बालक की स्तन्यपानादि में प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि उसमें इष्टसाधनत्व की स्मृति असम्भव है।

शंका – चैत्र द्वारा मैत्र में संस्काराध्यास किये जाने पर भी मैत्र के भ्रम के अदर्शन से मैत्र में जगद्भ्रमहेतुसंस्कार का सत्त्व दुर्वार है; और स्वयं मैत्र द्वारा अध्यस्त संस्कार से भ्रम नहीं हो सकता; क्योंकि भ्रम से पूर्व स्वयं मैत्र में कार्यानुमेय संस्कार का अध्यास होना ही चाहिये–ऐसे नियम का अभाव है (क्योंकि कार्यैकलिङ्ग से गम्य संस्कार है; अतः कार्य से पूर्व संस्कार की

स्वेनाध्यस्तात्संस्काराद्भ्रमः, भ्रमात् पूर्वं स्वस्य कार्यानुमेयसंस्काराध्यासनियमाभावादिति चेन्न,शुक्तिरूप्यस्य कुण्डलाजनकत्ववच्चैत्राध्यस्तसंस्कारस्य मैत्रभ्रमाजनकत्वेऽपि वणिग्वीथीस्थरूप्यस्य कुण्डलजनकत्ववत्स्वेनाध्यस्तस्य संस्कारस्य वियदाद्यध्यासजनकत्वोपपत्तेः। तत्प्रतीत्यभावेऽपि तदध्यासस्य पूर्वं सत्त्वात् कृत्स्नस्यापि व्यावहारिकपदार्थस्याज्ञातसत्त्वाभ्युपगमात्।

ननु–प्रातिभासिकरूप्ये त्रैकालिकनिषेधस्य त्वन्मते व्यावहारिकरूप्यविषयत्ववद् व्यावहारिकप्रपञ्चेऽपि 'नेह नाना' (बृ.उ.४/४/१९) इति त्रैकालिकनिषेधस्य पारमार्थिकप्रपञ्चान्तरविषयताऽवश्यं वाच्येति–चेन्न, भ्रमबाधवैयधिकरण्यापातेनास्य पक्षस्यानङ्गीकारपराहतत्वात्। अङ्गीकारेऽपि व्यावहारिकनिषेधे पारमार्थिकविषयत्वं न सम्भवति, अप्रतीतस्य निषेधायोगात्। प्रतीत्या सहाध्यासातिरिक्तसम्बन्धाभावेन पारमार्थिके प्रतीतत्वाभावात्। ननु–प्रधानाधिष्ठानयोः सादृश्याभावात्कथमध्यासः? अथ निर्गुणयोरपि गुणयोः सादृश्यवदत्रापि किञ्चित्सादृश्यं भविष्यतीति, तन्न, निर्धर्मके ब्रह्मणि तस्याप्यध्यासाधीनत्वेनान्योन्याश्रयात्। यद्यपि सादृश्यं सोपाधिकाध्यासे न कारणम्, व्यभिचारात्, तथापि निरुपाधिकाध्यासेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात् सोपाधिकेऽपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रतीति न होने से उसके सत्त्व में प्रमाणाभाव है।)

समाधान – नहीं, क्योंकि शुक्तिरूप्य का जिस प्रकार कुण्डलाजनकत्व है, उसी प्रकार चैत्र द्वारा अध्यस्त संस्कार का मैत्रभ्रमाजनकत्व होने पर भी, जैसे वणिग्वीथीस्थ रजत का कुण्डल जनकत्व है, वैसे ही स्वयं मैत्र द्वारा अध्यस्त संस्कार के वियदाद्यध्यासजनकत्व की उपपत्ति है; कारण कि कार्य से पूर्व संस्कार की प्रतीति का अभाव होने पर भी संस्काराध्यास का पूर्वसत्त्व है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यावहारिक पदार्थों के अज्ञातसत्त्व का अङ्गीकार किया जाता है।

शंका – प्रातिभासिक रजत में त्रिकालिक निषेध का आपके मत में जिस प्रकार व्यावहारिक रजत विषय माना जाता है, उसी प्रकार व्यावहारिक प्रपञ्च में भी "नेह नाना" इत्यादि श्रुति से त्रैकालिक निषेध का विषय पारमार्थिक प्रपञ्चान्तर अवश्य कहना चाहिये।

समाधान – नहीं, क्योंकि भ्रम और बाध के व्यधिकरणत्व की आपत्ति से इस पक्ष के अनङ्गीकार होने से यह शंका खण्डित है और अङ्गीकार होने पर भी व्यावहारिक निषेध में पारमार्थिक विषय नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रतीत विषय का निषेध नहीं हो सकता; और प्रतीति के साथ अध्यास के अतिरिक्त संबन्ध के अभाव से पारमार्थिक में प्रतीतत्व का अभाव है।

शंका – अध्यस्तसजातीय प्रधान और अधिष्ठान दोनों में सादृश्य के अभाव से कैसे अध्यास होगा? यदि कहो कि–निर्गुण दो गुणों का "केतकी गन्धसदृशः सर्पगन्धः" इत्यादिरूप में जैसे सादृश्य होता है, वैसे यहां भी "सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं कालसंबन्धित्वञ्च" इत्यादि कुछ सादृश्य होगा, तो यह कथन अनुचित है; क्योंकि निर्धर्मक ब्रह्म में उस सादृश्य के भी अध्यासाधीनत्व होने से अन्योन्याश्रयदोष है (अध्यास की सिद्धि होने पर सादृश्य की सिद्धि और सादृश्य की सिद्धि होने पर अध्यास की सिद्धि)। यद्यपि व्यभिचार होने से सोपाधिकाध्यास में सादृश्य कारण नहीं (यहां पर–स्वसमीपस्थ पदार्थ में स्वधर्मासञ्जकरूप उपाधि है); तथापि निरुपाधिक अध्यास में अन्वयव्यतिरेक द्वारा सादृश्य अवश्य अपेक्षणीय है, और सोपाधिक अध्यास में भी "रक्तः स्फटिकः" इत्यादि में द्रव्यत्वादि से सादृश्य है ही।

'रक्तः स्फटिकः' इत्यादौ द्रव्यत्वादिना साद्दश्यस्य सत्त्वाच्चेति—चेन्न, अविद्याध्यास—स्यानादित्वेन कारणानपेक्षस्य साद्दश्यानपेक्षत्वात्, अन्तःकरणाध्यासेत्वविद्यासम्बन्धि—त्वस्यैव साद्दश्यस्य विद्यमानत्वात्। वस्तुतस्तु—न भ्रमे साद्दश्यापेक्षानियमः, निरुपाधिकेऽपि 'पीतः शङ्खः' इत्यादौ व्यभिचारात्। 'रक्तः स्फटिकः' इत्यादावपि द्रव्यत्वादिना साद्दश्यमस्तीत्यपि न, प्रधानमात्रवृत्तितया प्रागवगतमध्यासमये चाधिष्ठानवृत्तितया गृहीतं यत् तदेव हि साद्दश्यं विपर्ययप्रयोजकमिति त्वयापि वाच्यम्, न तु प्रागेव प्रधानाधिष्ठा—नोभयवृत्तितया गृहीतम्, तस्य संशायकत्वात्। द्रव्यत्वादि च लोहितालोहितवृत्तितया प्राग्गृहीतमिति न विपर्ययप्रयोजकम्।

किञ्च साद्दश्यं न स्वतो भ्रमकारणम्, मानाभावात्, किन्तु संस्कारोद्बोधेन सामग्रीसम्पादकतया, संस्कारोद्बोधश्च न साद्दश्यैकनियतः, अद्दष्टादिनापि तत्सम्भवात्। तदुक्तम्—'साद्दश्याद्दष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति। चिन्तादिकं च प्रणिधानसूत्रे व्याख्यातम्। तथा चान्यतः संस्कारोद्बोधे सति साद्दश्यमनुपयोगि। तदुक्तं विवरणे—'निरुपाधिकभ्रमकार्यदर्शनमेव गुणावयवसामान्याभावेऽपि केतकीगन्धसद्दशः सर्पगन्ध इतिवत्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— नहीं, क्योंकि अविद्याध्यास के अनादित्व होने से, कारण की अपेक्षा न होने से, सादृश्य की अपेक्षा नहीं होती; और अन्तःकरण के अध्यास में तो अविद्यासंबन्धित्व रूप सादृश्य विद्यमान है ही। और वस्तुतः तो—भ्रम में सादृश्यापेक्षा का नियम नहीं; क्योंकि निरूपाधिक भ्रम में भी "पीतः शंखः" इत्यादि में व्यभिचार है। और "रक्तः स्फटिकः" इत्यादि में द्रव्यत्वादि से सादृश्य है— ऐसा भी नहीं; क्योंकि प्रधानमात्र से संबन्धित होकर, अध्यास से पूर्व अवगत और अध्यास के समय में, अर्थात् अध्यासोत्पत्त्यव्यवहित पूर्वक्षण में, अधिष्ठान से संबन्धित होकर गृहीत जो सादृश्य है, वही सादृश्य ही भ्रम का प्रयोजक है— यह बात आप को भी कहनी होगी; प्रथम अध्यासोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षण में ही प्रधान और अधिष्ठान दोनों से संबन्धितत्वरूप से सादृश्य का ग्रहण तो नहीं; क्योंकि सादृश्य का संशायकत्व है और द्रव्यत्वादि तो लोहित और अलोहित दोनों से संबन्धित होकर, अध्यास से पूर्व गृहीत होने के कारण, भ्रम के प्रयोजक नहीं। (प्रधान के लौहित्यादिमत्त्व रूप से और स्फटिकादि अधिष्ठान के लौहित्याद्यभाववत्त्व रूप से ज्ञान होने से, तदुभयवृत्तित्वेन द्रव्यत्वादि का ज्ञान साधारणधर्मविशिष्ट धर्मिज्ञानरूप से संशय हेतु होता है। अतः संशयसामग्री होने पर निश्चयरूप भ्रम नहीं होता—यह भाव है)।

किञ्च — प्रमाण के अभाव से सादृश्यादिबुद्धि स्वतः भ्रम का कारण नहीं; किन्तु संस्कार के उद्बोध से अर्थात् शक्त्युत्पादन से भ्रमसामग्री संपादकत्वरूप से सहकारी मात्र है, और संस्कार के उद्बोध में एकमात्र सादृश्य नियत नहीं; क्योंकि अदृष्टादि से भी उद्बोधका सम्भव है। कहा भी है— "सादृश्य, अदृष्ट, चिन्तादि स्मृतिबीज—संस्कार के बोधक हैं" इति।

चिन्तादिक तो प्रणिधानसूत्र में व्याख्यात् हैं (प्रणिधान—निबन्धाऽभ्यास—लिङ्गलक्षण—सादृश्य को.... (न्याय.सू. ३/२/४१) इत्यादि सूत्र में स्मृति का उद्बोधक कहा गया है। मनोऽवधारण का नाम प्रणिधान है)। तब तो अदृष्टादि अन्य से संस्कार का उद्बोध होने पर उसके लिये सादृश्य अनुपयोगी है। विवरण में कहा है—"निरुपाधिक भ्रम के कार्य का दर्शन ही, गुणद्वारा या अवयव द्वारा, सादृश्य का अभाव होने पर भी, केतकी गन्धसदृशसर्पगन्ध के समान सादृश्यान्तर की कल्पना कराता है, अथवा शंखपीतिमादि में जैसे होता है, वैसे सादृश्यनिरपेक्षदोषादि कारणान्तर

साध्यन्तरं वा, शङ्खपीतिमादाविव कारणान्तरं वा कल्पयति' इति।

ननु—दोषं विना भ्रमस्वीकारे तदप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वापत्तिः, दोषजन्यत्वस्वीकारे तु दोषस्याप्यध्यसनीयत्वेनानवस्थापत्तिरिति— चेन्न, अनाद्यविद्याध्यासस्य दोषानपेक्षत्वात्। साद्यध्यासस्य चाविद्यादोषजन्यत्वात्, नाप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्, नाप्यनवस्था। अन्यथा तार्किकाणामप्यनादिप्रमा गुणं विनापीति प्रामाण्यपरतस्त्वं भज्येत। जन्यप्रमामात्रस्य गुणजन्यत्वं तु जन्याध्यासमात्रस्य दोषजन्यत्वेन समम्।

ननु—लाघवेन प्रथमोपस्थितत्वेन च प्रवृत्तिमात्रं प्रति ससर्गधिय इव धूममात्रं प्रति वह्नेरिव चाध्यासमात्रं प्रति दोषादीनां जनकत्वादविद्याध्यासोऽपि कथं क्लृप्तकारणेन विना भवतु? अन्यथा संसर्गधीरपि प्रवृत्तिविशेषे वह्निरपि धूमविशेषे हेतुरिति स्यात्, तथा चाख्यातिवादश्चानुमानमात्रोच्छेदश्चापद्येयाताम्। किञ्च अविद्यारूपविषयस्यानादित्वेऽपि तत्प्रतीतेर्दोषाजन्यत्वे प्रामाण्यापातः, अप्रामाण्यप्रयोजकस्य दोषजन्यत्वस्याभावात्। अथ भेदवदविद्याख्यदोषस्य स्वपरनिर्वाहकत्वम्, एवमपि भेदो भिन्न इतिवद् 'अज्ञानमज्ञातम्' इति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

की कल्पना कराता है '' इति।

शंका — दोष के बिना भ्रम को स्वीकार करने पर भ्रम के अप्रामाण्य की स्वतस्त्वापत्ति होगी और भ्रम का दोषजन्यत्वाङ्गीकार करने पर तो दोष के भी अध्यसनीयत्व (अध्यास होने योग्यत्व) होने से अनवस्था की आपत्ति है।

समाधान — नहीं; क्योंकि अनादि अविद्या के अध्यास में दोष की अपेक्षा नहीं। और सादि अध्यास के अविद्यारूपदोषजन्य होने से अप्रामाण्य का स्वतस्त्व नहीं और अनवस्था भी नहीं। अन्यथा अर्थात् अनाद्यविद्याध्यास के दोषानपेक्षत्वमात्र से स्वतः अप्रामाण्याङ्गीकार माना जाय तो तार्किकों के मत में भी अनादि ईश्वरप्रमा के सन्निकर्षादिगुण के बिना होने से प्रामाण्य के परतस्त्व का भङ्ग होगा। और जन्यप्रमामात्र का सन्निकर्षादिगुणजन्यत्व तो जन्याध्यासमात्र के दोषजन्यत्व के साथ समान है।

शंका — लाघव और प्रथमोपस्थितत्व होने से प्रवृत्तिमात्र के प्रति संसर्गधी अर्थात् विशिष्ट विषयकबुद्धि के समान और धूममात्र के प्रति वह्नि के समान अध्यासमात्र के प्रति दोषादि के जनकत्व होने से अविद्याध्यास भी किस प्रकार क्लृप्तकारण के बिना होगा? यदि दोषादि के अध्यासविशेष के प्रति ही कारणत्व का स्वीकार किया जाय तो संसर्गधी भी प्रवृत्तिविशेष में और वह्नि भी धूमविशेष में ही हेतु हो; तब तो अख्यातिवाद का प्रसङ्ग और अनुमानमात्र का उच्छेद होगा। (प्रवृत्तित्वावच्छेद से प्रवृत्तिमात्र के प्रति संसर्गज्ञान का अहेतुत्व होने पर असंसर्गाग्रह से भी प्रवृत्तिप्रसङ्ग; और धूमविशेष के प्रति वह्नि का हेतुत्व होने पर महानसीयवह्निव्याप्य महानसीयधूम होगा; तब तो पर्वतीयधूमादि में वह्निनिरूपित व्याप्तिग्रह असम्भव होने से अनुमानमात्रोच्छेद का प्रसङ्ग होगा—यह भाव है)। किञ्च— अविद्यारूप विषय का अनादित्व होने पर भी, अविद्याप्रतीति के दोष से अजन्यत्व होने पर प्रामाण्य प्रसङ्ग है; क्योंकि उसमें अप्रामाण्य के प्रयोजक दोषजन्यत्व का अभाव है। यदि कहो कि भेद के समान अविद्यारूपदोष का स्व—पर—निर्वाहकत्व है (भेद में अन्य भेद के अनङ्गीकार से स्व—पर अर्थात् अनुयोगिप्रतियोगिव्यवहार का जैसे निर्वाहकत्व है, वैसे अविद्यारूप दोष में भी स्व—पर अर्थात् अविद्या और अध्यास का निर्वाहकत्व है); तो ''भेदो भिन्नः'' इस व्यवहार के समान

व्यवहारो भवतु, प्रतीतिमात्रशरीरस्य स्वविषयधीहेतुत्वं कुतः? स्वस्य स्वस्मात् पूर्ववृत्तित्वासम्भवादिति चेन्न, अध्यासत्वस्य लघुत्वेऽपि प्रथमोपस्थितत्वेऽपि न दोषजन्यतायां तन्त्रत्वम्, दोषस्यापि दृश्यत्वेनाध्यसनीयतयाऽनवस्थापत्तेः। यथा नित्यज्ञानवादिनां ज्ञानत्वस्य न शरीरजन्यतादावच्छेदकत्वम्, न वा गुणजन्यत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वम्, बाधकबलात्, तद्वत् जन्याध्यासं प्रत्येव दोषादीनां कारणत्वम्, गुणाजन्यत्वेऽप्यबाधित–विषयतया नित्यज्ञानप्रामाण्यवत् दोषाजन्यत्वेऽपि बाधितविषयतयाऽनाद्यध्या–सस्याप्यप्रामाण्योपपत्तिः। बाधितविषयत्वेऽपि न दोषजन्यत्वमवच्छेदकम्, दोषजन्यत्वेऽप्य–वच्छेदकान्तरान्वेषणेऽनवस्थापातात्। बाधितविषयत्वस्य दोषाजन्यवृत्तित्वेऽपि दोषजन्यत्वस्य तद्व्याप्यत्वोपपत्तेः। अत एव शबरस्वामिना 'यस्य दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनो नान्यः' इति वदता दुष्टकरणजन्यत्वमन्तरेणापि अर्थान्यथात्वम–प्रामाण्यप्रयोजकमुक्तम्, अविद्याध्यासरूपस्य च साक्षिचैतन्यस्याविद्याजन्यत्वानभ्युपगमाद् न प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याघातः 'अहमज्ञः' इत्याद्यभिलापकारणीभूतवृत्तिरूपाध्यासं प्रति त्वविद्यायाः कारणत्वमस्त्येव, घटादीनामिव स्वप्रत्यक्षं प्रति। वह्निविशिष्टधियोस्तु बाधका–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

''अज्ञानमज्ञातम्'' यह व्यवहार भी हो; (किन्तु होता नहीं); और प्रतीतिमात्रशरीर, प्रातिभासिक पदार्थ का स्वविषयकधीहेतुत्व भी कैसे होगा? क्योंकि स्व का स्व से पूर्ववृत्तित्व असम्भव है (प्रातिभासिक पदार्थ स्वविषयक ज्ञान के साथ ही उत्पन्न होता है, ज्ञान से पूर्व में नहीं; अतः स्वविषयकज्ञान के प्रति हेतु होने के लिये उसका पूर्ववृत्तित्व असम्भव है)।

समाधान– वैसा नहीं; क्योंकि अध्यासत्व का लघुत्व होने पर भी और प्रथमोपस्थितत्व होने पर भी, दोषजन्यता में तन्त्रत्व नहीं अर्थात् दोषनिष्ठ जनकता से निरूपित जन्यता में अवच्छेदकत्व नहीं; क्योंकि दोष के भी दृश्यत्व होने के कारण अध्यसनीयत्व होने से अनवस्था की आपत्ति है। जैसा कि नित्येश्वरज्ञानवादी के मत में, ज्ञानत्व का शरीरजन्यतादि में अवच्छेदकत्व नहीं; अथवा गुणजन्यत्व अर्थात् सन्निकर्षादिगुणनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यता प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं; क्योंकि ऐसा न होने का कारण है–बाधकबल अर्थात् ज्ञाननित्यत्वादिसाधक प्रमाणबल; उसी प्रकार, जन्याध्यास के प्रति ही दोषादिका कारणत्व है, और गुणाजन्यत्व होने पर भी अबाधितविषयकत्व होने से नित्येश्वरज्ञान का जैसे प्रामाण्य है, वैसे दोषाजन्यत्व होने पर भी बाधितविषयकत्व होने से अनादि अध्यास के अप्रामाण्य की उपपत्ति है और बाधितविषयत्व होने पर भी, दोषजन्यत्व उसका अवच्छेदक नहीं; क्योंकि दोषजन्यत्व में भी अध्यस्तत्व होने से अवच्छेदकान्तर का अन्वेषण करने पर अनवस्था का आपात है और बाधितविषयत्व का दोषाजन्यवृत्तित्व होने पर भी दोषजन्यत्व बाधितविषयत्व का व्याप्य हो सकता है (अर्थात् ''यत्र दोषजन्यत्वं तत्र बाधित विषयकत्वम्'' यह विषमव्याप्ति हो सकती है)। इस प्रकार बाधितविषयत्व में दोषजन्यत्व के अव्यापकत्व होने से ही–''जिस ज्ञान का जनक दुष्टकरण हो, और जिस ज्ञान में मिथ्यात्व का बोध हो, वही ज्ञान असमीचीन है, अन्य ज्ञान नहीं'', ऐसा कथन करने वाले शबर स्वामी ने दुष्टकरणजन्यत्व के बिना भी अर्थान्यथात्व अर्थात् विषयमिथ्यात्व को अप्रामाण्य का प्रयोजक कहा है। और, अविद्याविषयकाध्यासरूप साक्षिचैतन्य के अविद्याजन्यत्व के अनङ्गीकार से अविद्या के प्रतीतिमात्र शरीरत्व में व्याघात नहीं; और ''अहमज्ञः'' इत्याद्यभिलाप के कारणीभूत वृत्तिरूप अध्यास के प्रति तो अविद्या का कारणत्व है ही, जैसे कि, घटादिकों का

भावात् सामान्येनैव धूमप्रवृत्ती प्रति हेतुतेति न पूर्वोक्तदोषापातः।

ननु—अविद्याध्यासस्यानादित्वेन दोषाद्यनपेक्षावदधिष्ठानानपेक्षापि स्यादिति—चेन्न, जनकत्वेनाधिष्ठानानपेक्षायामप्याश्रयत्वेन तदपेक्षानियमात्। परममहत्त्वादेराश्रयापेक्षावदध्यासस्य साधिष्ठानकत्वनियमेनात्रापि परतन्त्रत्वस्य समत्वात्, भास्यस्याविद्याध्यासस्य भासकतयाप्यधिष्ठानापेक्षणाच्च। अविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्याविद्यादिसकलद्वैतद्रष्टृत्वात् तस्यैव चान्तःकरणावच्छेदेन प्रमातृत्वात्, भ्रमप्रमयोः सामानाधिकरण्योपपत्तेर्भ्रमस्य समानाधिकरण—प्रमानिवर्त्यत्वमुपपद्यते।

ननु देहेन्द्रियादिकं विना कथमन्तःकरणाध्यासः? काऽत्रानुपपत्ति? अधिष्ठानापरोक्षत्वं हि अपरोक्षभ्रमे कारणम्, तद् यत्राधिष्ठानं स्वतो नापरोक्षम्, यथा शुक्त्याद्यवच्छिन्न—चैतन्यम्, तत्र तदपरोक्षतार्थं देहेन्द्रियाद्यपेक्षा, प्रकृते चाविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमधिष्ठानम्, तत्र चैतन्यस्य स्वप्रकाशत्वेनाविद्यायाश्च तदध्यस्तत्वेन तेनैव साक्षिणा अपरोक्षत्वात् कुत्र देहेन्द्रियाद्यपेक्षा? अथैवं प्रलये देहेन्द्रियाद्यभावेऽप्यज्ञानसद्भावेनान्तःकरणाध्यासप्रसङ्गः, न, तदा देहेन्द्रियादिसर्जनविलम्बहेतुनैव तद्विलम्बसम्भवात्, अन्यथा तदा देहेन्द्रियादिकमपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

स्वप्रत्यक्ष के प्रति कारणत्व होता है; तथा वह्नि और विशिष्टबुद्धि (संसर्गधी) की तो, बाधक के अभाव से सामान्य रूप से ही धूम और प्रवृत्ति के प्रति हेतुता होने के कारण, पूर्वोक्त दोष अर्थात् अख्यातिवादप्रसङ्ग और अनुमानमात्रोच्छेद का आपात नहीं।

शंका — अविद्याध्यास अनादि होने से जैसे दोषादि की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही अधिष्ठान की अपेक्षा भी न करे।

समाधान — नहीं, क्योंकि अध्यासजनकत्वरूप से अधिष्ठान की अनपेक्षा होने पर भी आश्रयत्वरूपसे अधिष्ठान की अपेक्षा का नियम है, कारण कि जैसे परममहत्त्वादि की आश्रयापेक्षा है, वैसे ही अध्यास के भी साधिष्ठानकत्व के नियम से अविद्याध्यास में भी पराधीनत्व सम है; और भास्य अविद्याध्यास को भासकरूप से भी अधिष्ठान की अपेक्षा है और अविद्यावच्छिन्न चैतन्य अविद्यादि सकल द्वैत के दृष्टा होने से उस अविद्यावच्छिन्न चैतन्य का ही अन्तःकरणावच्छेद मे प्रमातृत्व है, तथा भ्रम और प्रमा के समानाधिकरणत्व की उपपत्ति से भ्रम का स्वसमानाधिकरणक प्रमा से निवर्त्यत्व हो सकता है।

शंका — देहेन्द्रियादिक के बिना अन्तःकरण का अध्यास कैसे होगा?

समाधान — इसमें क्या अनुपपत्ति है? क्योंकि अधिष्ठान का अपरोक्षत्व अपरोक्षभ्रम में कारण है, जिरा रजताद्यध्यास में वह अधिष्ठान स्वतः अपरोक्ष नहीं है, जैसे शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्य, उस अध्यास में अधिष्ठान के अपरोक्षार्थ देहेन्द्रियादि की अपेक्षा रहती है, और प्रकृत अन्तःकरणाध्यास में तो अविद्यावच्छिन्नचैतन्य अधिष्ठान है; और उस अन्तःकरणाध्यास में अधिष्ठानभूत चैतन्य के स्वप्रकाशत्व होने से और अविद्या के उस चैतन्य में अध्यस्तत्व होने से उस साक्षिचैतन्य से ही अपरोक्षत्व होने के कारण कहां देहेन्द्रियादि की अपेक्षा होगी?

शंका — यदि ऐसा ही है तो प्रलय में देहेन्द्रियादि के अभाव होने पर भी अज्ञान के सद्भाव होने से अन्तःकरणाध्यास का प्रसङ्ग है।

समाधान— नहीं; कारण कि उस प्रलयकाल में देहेन्द्रियादि की रचना में जो विलम्ब का हेतु है, उस हेतु से ही अन्तःकरणाध्यास का विलम्ब संभव है; यदि उस हेतु से अन्तःकरणाध्यास

कुतो नोत्पद्येत? न च—दोषादीनामध्यस्तत्वेन तदभावस्य तात्त्विकत्वादतात्त्विकेन तात्त्विक-कार्यप्रतिबन्धस्यायुक्तत्वात्। बौद्धेन दुष्टतया कल्पितस्य वेदजन्यज्ञानस्येव कल्पितदोष-जन्यस्य द्वैतविज्ञानस्य प्रामाण्यापात इति वाच्यम्, बौद्धकल्पितस्य प्रातिभासिकदोषस्य व्यावहारिकवेदापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वेन तदप्रामाण्याप्रयोजकत्वेऽप्यविद्याख्यदोषद्वैतप्रपञ्चयोः समसत्ताकत्वेन कार्यकारणभावनियमेन च कारणीभूताविद्याख्यदोषाभावे कार्यभूतद्वैतप्र-पञ्चतद्विज्ञानयोरभावनियमेन नाविद्यामिथ्यात्वेन द्वैतज्ञानसत्यतापातः, कारणमिथ्यात्वे कार्यमिथ्यात्वस्यावश्यकत्वात्, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूपव्यावहारिकत्वस्य बाध्याबाध्य-साधारणस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यनपेक्षत्वाद् न सत्त्वविभागासिद्धिः।

ननु दोषादीनां रूप्यादिभ्रमहेतूनां पारमार्थिकसत्त्वमौत्सर्गिकप्रामाण्येन सिद्धमिति परमार्थसतामेव तेषां हेतुत्वमिति—चेन्न, व्यावहारिकप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि त्रिकालाबाध्यत्वरूपतात्त्विकप्रामाण्यं न केनापि गृह्यत इति प्रत्यक्षबाधोद्धारे प्रागेवाभिहित-त्वात्। न च—रूप्याद्यध्यासे दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ताकत्वं दृष्टमिति इहापि तथेति—वाच्यम्, साधर्म्यसमजात्युत्तरत्वात्। वस्तुतस्तु सर्वत्र चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के विलम्ब का अनङ्गीकार करोगे तो उस प्रलयकाल में देहेन्द्रियादि भी क्यों उत्पन्न नहीं हुए?

शंका— दोषादि के अध्यस्तत्व होने से उन दोषादि का अभाव तात्त्विक होने से और अतात्त्विक दोषादि से तात्त्विक प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का प्रतिबन्ध अयुक्त होने से—बौद्ध द्वारा दुष्टत्वरूप से कल्पित वेदजन्यज्ञान के समान— कल्पितदोषजन्य द्वैतविज्ञान का प्रामाण्यापात है।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि बौद्धकल्पित प्रातिभासिक दोष व्यावहारिक वेद की अपेक्षा से न्यूनसत्ताक होने से वेद के अप्रामाण्य में अप्रयोजक होने पर भी अविद्याख्य—दोष और द्वैतप्रपञ्च समसत्ताक होने से, और दोनों में कार्यकारणभाव के नियम से कारणीभूत अविद्याख्य दोष का अभाव होने पर, कार्यभूत द्वैतप्रपञ्च और द्वैतप्रपञ्चविज्ञान के अभावनियम से, अविद्या के मिथ्यात्व होने के कारण द्वैतज्ञान की सत्यता का आपात नहीं, क्योंकि कारण के मिथ्यात्व होने पर कार्य का मिथ्यात्व आवश्यक है, और भ्रमत्वनिश्चय से पहले बाध्य और अबाध्य में साधारण ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व को द्वैतमिथ्यात्व सिद्धि की अपेक्षा न होने से प्रातिभासिकत्व और व्यावहारिकत्व रूप से सत्त्वविभाग की असिद्धि नहीं।

शंका — रूप्यादिभ्रम के हेतु दोषादि का पारमार्थिकसत्त्व ''यो हेतुः, स पारमार्थिकः सत्'' इस प्रकार औत्सर्गिक—प्रामाण्य से सिद्ध है, अतः परमार्थसत् दोषादिकों का ही भ्रमहेतुत्व है।

समाधान — नहीं, क्योंकि दोषादिविषयकज्ञाननिष्ठ व्यावहारिकप्रामाण्य का साक्षी से ग्रहण होने पर भी, त्रिकालाबाध्यत्वरूप तात्त्विकप्रामाण्य किसी से भी गृहीत न होने की बात प्रत्यक्षबाधोद्धार में पहले ही कह चुके हैं।

शंका— रूप्यादि के अध्यास में दोषादि हेतुओं का शुक्त्यादि अधिष्ठान के साथ समसत्ताकत्व देखने में आने से यहां भी वैसा ही होना चाहिये—अर्थात् जगदध्यासहेतुभूत अविद्यारूप दोष का अधिष्ठानचैतन्य से समसत्ताकत्व होना चाहिये।

समाधान —ऐसा न कहो, क्योंकि आपका यह कथन साधर्म्यसम—जात्युत्तर है (तर्कयुक्त अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट हेतु के सत्प्रतिपक्षत्वेन तर्कविहीन हेतु का साधर्म्यमात्र से जहां प्रयोग होता है, वहां साधर्म्यसम—जात्युत्तर कहा जाता है। जैसे ''शब्दोऽनित्यः, प्रयत्नजन्यवात्, धटवत्'' इस

कुत्रापि दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ताकत्वाभावात्। न च—बाधकज्ञानं सत्यमेव वक्तव्यम्, अन्यथा बाधपरम्पराया अनवस्थापत्तेरिति—वाच्यम्, वेदान्तवाक्यजन्यचरमचित्तवृत्तेः कतकरजोन्यायेन स्वपरबाधकतयाऽनवस्थाया अभावात्। दृश्यत्वमात्रेण युगपत्कृत्स्नबाध—सम्भवात्। न हि गुहायां न शब्द इति शब्दः स्वं न निषेधति, अन्यथा स्वस्य स्वेना—निषेधे तत्राप्यनवस्थापत्तिः, शब्दमात्रनिषेधानुभवविरोधश्च। यद्यपि बाधकज्ञानं वृत्त्युपरक्त—चैतन्यरूपं स्वतः सत्यमेव, तथापि तदवच्छेदिकाया वृत्तेर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वाद् बाधोपपत्तिः।

ननु—बन्धस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वे तदभावार्थं यत्नो न स्यात्, अत्यन्ताभावस्यासाध्यत्वात्, अत एव न तत्प्रतीत्यभावार्थमपि यत्नः, तस्या अपि मिथ्यात्वात्; अन्यथा मोक्षेऽपि बन्धप्रतीत्या तद्दशायामपि प्रातिभासिकबन्धापातात्। अथ पारमार्थिकत्वाकारेण मिथ्यात्वम्, स्वरूपेण तु निवृत्तिरेव, न, तस्याः स्वरूपाबाधेनाप्युप—पत्तेरिति— चेन्न, सत्यस्य ब्रह्मणो निवृत्त्यदर्शनेन स्वरूपतो मिथ्यात्वाभावे निवृत्त्ययोगाद् मिथ्यात्वं निवृत्त्यनुकूलमेव। न च तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अनुमान के सत्प्रतिपक्षत्वेन ''शब्दो नित्यः, स्पर्शशून्यत्वादात्मवत्'' यह अनुमान साधर्म्यसम—जात्युत्तर है। वैसे ही प्रकृत में भी तर्काभाव होने पर भी, दोषत्वादिसाधर्म्यमात्र से काचकामलादि के समान अविद्यादोषके अधिष्ठानचैतन्यसमसत्ताकत्व का प्रतिपादन है)। वस्तुतः तो सर्वभ्रमस्थलों में चैतन्य के ही अधिष्ठानत्व होने से कहीं भी दोषादिकों का अधिष्ठान समसत्ताकत्व नहीं होता।

शंका — बाधकज्ञान को सत्य ही कहना चाहिये, अन्यथा बाध परम्परा की अनवस्थापत्ति है।

समाधान— ऐसा भी न कहो, क्योंकि वेदान्तवाक्यजन्य चरमचित्तवृत्ति के कतक—रजोन्याय से स्व—परबाधकत्व होने से अनवस्था का अभाव है (जल में निक्षिप्त कतकरज अर्थात् फिटकरी चूर्ण जलगतमल और स्व का नाशक है, इस न्याय से चरमवृत्तिज्ञान स्व—पर का नाशक है)। और दृश्यत्व हेतुमात्र से युगपत् सब का बाध संभव है। ''गुहा में शब्द नहीं'' इत्यात्मक शब्द गुहा में अपने आप का निषेध नहीं करता—सो नहीं अर्थात् अपना भी निषेध करता है; अन्यथा स्व का स्व से निषेध न होने पर उसमें भी अनवस्था की आपत्ति है, और शब्दमात्रनिषेध के अनुभव का विरोध है। यद्यपि वृत्त्युपरक्तचैतन्यरूप बाधकज्ञान स्वतः सत्य ही है, तथापि उस चैतन्य की अवच्छेदिका वृत्ति दृश्यत्वेन मिथ्या होने से बाधकज्ञान के बाध की उपपत्ति है।

शंका — बन्ध का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व होने पर बन्धात्यन्ताभावार्थ यत्न करना नहीं चाहिये, क्योंकि अत्यन्ताभाव असाध्य है (बन्ध की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शशविषाणवत् बन्ध का मिथ्यात्व होने से तुच्छत्व है—यह भाव है); अत्यन्ताभाव के असाध्यत्व होने से ही बन्धप्रतीति के अभावार्थ भी यत्न होना नहीं चाहिये, क्योंकि बन्धप्रतीति का भी मिथ्यात्व है; और बन्धप्रतीति का अमिथ्यात्व होने पर मोक्ष में भी बन्धप्रतीति होने से मोक्षदशा में भी प्रातिभासिकबन्ध का प्रसङ्ग है। यदि कहो कि बन्ध का पारमार्थिकत्वाकार से मिथ्यात्व है और स्वरूप से तो निवृत्ति ही है, मिथ्यात्व नहीं; तो भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वरूप के अबाध से भी निवृत्ति की उपपत्ति है।

समाधान — नहीं, क्योंकि सत्य ब्रह्म की निवृत्ति के अदर्शन से, बन्ध के स्वरूपतः मिथ्यात्व का अभाव होने पर, निवृत्ति होना असम्भव होने से बन्ध का मिथ्यात्व निवृत्यनुकूल ही है; और मिथ्याबन्धनिवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की अनुपपत्ति भी नहीं, कारणकि अधिष्ठानसाक्षात्कार

तथैव, ततः पूर्वं तु कण्ठगतविस्मृतचामीकरप्राप्तय इव भ्रमबाधकज्ञानोत्पत्तये प्रवृत्त्युपपत्तेः। अत्यन्ताभावाधिकरणे च प्रतियोगिवत्तन्निवृत्तिरप्युपपादितैव। न च–त्रैकालिकनिषेध–प्रतियोगिनि तुच्छे निवृत्तिर्न दृष्टेति कथं तादृशि प्रपञ्चे सा स्यादिति–वाच्यम्, यथाकथञ्चित् सजातीयेऽ दर्शनस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा अनुत्पन्ने निवृत्तिर्न दृष्टेति प्रागभावोऽपि न निवर्तेत। तस्मात् स्वभावविशेष एव तुच्छनित्यविलक्षणो निवृत्तिप्रयोजक इतिं वाच्यम्। सा च निवृत्तिरधिकरणस्वरूपेति पक्षे घटनाशार्थं मुद्गरपातादाविव मननादौ प्रवृत्तिरूहनीया। अतिरिक्तेति पक्षे त्वनिर्वचनीया, पञ्चमप्रकारा चरमवृत्तिरूपा वा सा, सर्वथा जन्यैवेति न काप्यनुपपत्तिः। ननु–बन्धस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वे तन्निदिध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वं श्रवणादिनियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वं च न स्यात्। न हि देवतानिदिध्यासनसाध्य–तत्साक्षात्कारनिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तम्, न वा दूरागमनादिनियमादृष्टसापेक्षसेतुदर्शननिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तमिति–चेन्न, आत्माध्यस्तगौरत्वादेः शुक्त्याद्यध्यस्तरूप्यादेश्च तत्तत्सा–क्षात्कारनिवर्त्यत्वदर्शनेन प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्ततया तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्व–स्यावश्यकत्वात्। न हि शुक्त्याद्यध्यस्तं रूप्यादि शुक्त्यादिज्ञानं विना निवर्तते। देवता–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के अनन्तर ही प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है। अधिष्ठान साक्षात्कार से पूर्व में तो कण्ठगत और विस्मृत सुवर्णालङ्कार की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति के समान भ्रमबाधक ज्ञान की उत्पत्ति के लिये प्रवृत्ति हो सकती है। और स्वात्यन्ताभावाधिकरण में जैसे प्रतियोगी स्थित है, वैसे ही प्रतियोगी की निवृत्ति भी स्थित है– इसका प्रतिपादन मिथ्यात्वलक्षण में कर चुके हैं।

शंका – त्रैकालिकनिषेध के प्रतियोगी तुच्छ में निवृत्ति अदृष्ट होने से तुच्छसदृश प्रपञ्च में वह निवृत्ति कैसे होगी?

समाधान– ऐसा न कहिये, क्योंकि यथाकथञ्चित् सजातीय में अदर्शन प्रयोजक नहीं होता। और, इस प्रकार के अदर्शन को प्रयोजक मानोगे तो अनुत्पन्न पदार्थ में निवृत्ति के अदर्शन से प्रागभाव की निवृत्ति भी होनी नहीं चाहिये। इसलिये तुच्छ और नित्य से विलक्षण स्वभावविशेष ही निवृत्ति का प्रयोजक है– ऐसा कहना चाहिये। और वह निवृत्ति अधिकरणस्वरूप ही है– इस पक्ष में– घटनाशार्थ मुद्गरपातादि में प्रवृत्ति के समान निवृत्ति के लिये मननादि में प्रवृत्ति समझनी चाहिये और अधिकरण से निवृत्ति अतिरिक्त है– इस पक्ष में तो वह अनिर्वचनीया, पञ्चमप्रकारा अथवा चरमवृत्तिरूपा है, इसलिये इन पक्षों में निवृत्ति सर्वथा जन्या ही होने से कुछ भी अनुपपत्ति नहीं।

शंका – बन्ध का ब्रह्म में अध्यस्तत्व होने पर ब्रह्म के निदिध्यासन से साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा निवर्त्यत्व नहीं होगा, और श्रवणादिनियमविधि से उत्पन्न अदृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञान द्वारा भी निवर्त्यत्व नहीं होगा, क्योंकि देवता के निदिध्यासन और देवता के साक्षात्कार से निवर्त्य पाप देवता में अध्यस्त नहीं होता, अथवा दूरागमनादिनियम विधिजन्य अदृष्टसापेक्ष सेतुबन्धदर्शन से निवर्त्य ब्रह्महत्यादि पाप सेतु में अध्यस्त नहीं होता।

समाधान– नहीं, क्योंकि आत्मा में अध्यस्त गौरत्वादि और शुक्त्यादि में अध्यस्त रजतादि का आत्मा और शुक्त्यादि के साक्षात्कार से निवर्त्यत्व दर्शन से, प्रपञ्च का भी ब्रह्म में अध्यस्तत्व होने से, ब्रह्म के साक्षात्कार से निवर्त्यत्व आवश्यक है। कारण कि शुक्त्यादि में अध्यस्त रजतादि शुक्त्यादिज्ञान के बिना निवृत्त नहीं होता। और प्रायश्चितसमकक्ष्य देवतादर्शनादि से तो पाप का

दर्शनादिना तु प्रायश्चित्तसमकक्ष्येण दुरितस्य कारणात्मनावस्थानमात्रं क्रियते, न तु शुक्तिज्ञानेन रूप्यस्येव निवृत्तिः, अधिष्ठानाज्ञानरूपोपादानकस्यारोपितस्य तन्निवृत्तिं विना निवृत्त्ययोगात्, अज्ञाननिवृत्तिश्चाधिष्ठानज्ञानादेवेत्युक्तं प्राक्। श्रवणादिनियमादृष्टं च न मुक्तिं प्रति कारणम्, किन्तु ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति।

ननु—अवघातसाध्यवैतुष्यान्यापूर्वस्येव श्रवणादिसाध्यापरोक्ष्यान्यमुक्तेरेव तत्साध्यत्वम्, अन्यथा श्रवणनियमादृष्टसाध्ये साक्षात्कारे श्रवणनिरपेक्षस्योपायान्तर-स्याप्रसक्त्या तत्प्रसक्त्यधीननियमविध्ययोगात्, न च—परोक्षज्ञानं श्रवणात्, अपरोक्षं तु नियमादृष्टादिति—युक्तम्, श्रवणादिविधौ परोक्षज्ञानप्रवाहरूपनिदिध्यासनसाध्यापरोक्षस्यैव दृशिनोद्देशात्, त्वन्मते परोक्षज्ञाने कामनाया अयोगेन तस्योद्देश्यत्वायोगाच्चेति—चेन्न।, तत्रक्रत्वर्थनियमापूर्वस्य परमापूर्वसाधकत्वेऽपि पुरुषार्थहिरण्यधारणादिनियमादृष्टस्य तदभाववत् श्रवणादिसाध्यसाक्षात्कारान्यफलाभावेऽपि तेनैव फलवत्त्वोपपत्तेः, 'सर्वापेक्षा

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कारणरूप से अवस्थानमात्र किया जाता है, शुक्तिज्ञान से रजत की निवृत्ति के समान तो निवृत्ति नहीं की जाती; क्योंकि अधिष्ठानविषयकाज्ञानरूपोपादानक आरोपित पदार्थ की निवृत्ति उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति के बिना नहीं हो सकती, और अज्ञान की निवृत्ति तो अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है—ऐसा पहले ही कह चुके हैं और श्रवणादिनियमविधिजन्य अदृष्ट तो मुक्ति के प्रति कारण नहीं, किन्तु ब्रह्मापरोक्षत्व के प्रति कारण है।

शंका — "व्रीहीनवहन्ति" इस नियम विधि से अवघातसाध्य व्रीहिवैतुष्य के अतिरिक्त अपूर्व जिस प्रकार अवघातसाध्य है, उसी प्रकार "श्रोतव्यः" इत्यादिनियमविधि से श्रवणादिसाध्य अपरोक्षत्व के अतिरिक्त मुक्ति श्रवणादिसाध्य होना चाहिये, यदि मुक्ति को श्रवणादिसाध्य नहीं मानेंगे तो श्रवणनियमजन्य अदृष्ट से साध्य साक्षात्कार में श्रवणनिरपेक्ष उपायान्तर की अप्रसक्ति होने से उपायान्तर प्रसक्तिनिमित्तक नियमविधि अयुक्त है तथा परोक्षज्ञान श्रवण से होता है, और अपरोक्षज्ञान नियमादृष्ट से होता है— ऐसा कथन भी अयुक्त है, क्योंकि श्रवणादि विधि में परोक्षज्ञानप्रवाहरूप निदिध्यासन से साध्य आपरोक्ष्य का ही "द्रष्टव्य" इसमें दृश्‌धातु का उद्देश्य है; और तुम्हारे मत में परोक्षज्ञान में मुमुक्षु की कामना के अयोग से परोक्षज्ञान का उद्देश्यत्व अयुक्त है।

समाधान — नहीं; क्योंकि दृष्टान्त में क्रतु को उद्देश्य बनाकर विहित अवघात के नियमादृष्ट का परमापूर्वसाधकत्व होने पर भी, पुरुषार्थभूत हिरण्यधारणादि का नियम से जन्य अदृष्ट का जिस प्रकार परमापूर्वसाधकत्व का अभाव है ("तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं धार्यम्। सुवर्ण एव भवति। दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति" (तै.ब्रा. २/२/४/५) अर्थात् प्रजापति का प्रिय शरीर ही सुवर्ण था, इस कारण शोभनवर्ण विशिष्ट हिरण्य (स्वर्ण) को धारण करना चाहिये, उसी से वह रमणीय होता है और शत्रु दुर्वर्ण होता है। इस अनारभ्य अधीतविधि में यह शोभनवर्णहिरण्यधारण क्या क्रत्वङ्ग है, अथवा पुरुषार्थ है— ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी का कहना है कि पुरुषार्थत्व होने पर फलकल्पना में गौरव है, अतः अग्निहोत्रादिकर्मों का अङ्ग है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि अनारभ्य पठित अर्थात् किसी कर्म के प्रकरण में अपठित होकर स्वतन्त्ररूप से पठित होने से यह विधि क्रत्वर्थ नहीं, किन्तु पुरुषार्थभूत कर्म है, अतः परमापूर्व का असाधक है— ऐसा पू.मी. ३/४/२०—२४ सू. में विचार किया गया है), उसी प्रकार श्रवणादिनियमापूर्वके श्रवणादिसाध्य साक्षात्कारप्रतिबन्धक की निवृत्ति से भिन्न—फल का अभाव होने पर भी उक्तप्रतिबन्धकनिवृत्ति से

च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र.सू. ३/४/२६) इति न्यायात् 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (गी. ४/३३) इति स्मृतेश्च। अत्र सर्वाखिलपदाभ्यां कर्मशब्दवाच्यापूर्वमात्रस्य ज्ञाने समाप्तिर्दर्शिता, मोक्षस्याविद्यानिवृत्तिरूपस्य ज्ञानातिरिक्तासाध्यत्वनियमाच्च। ज्ञाने त्वसम्भावनादिनिवृत्त्या प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्या च दृष्टादृष्टांशोपयोगः। सामान्यपुरस्कारेण च प्रसक्तस्य साधनान्तरस्य निवृत्तिः सर्वत्र नियमविधेः फलम्, विशेषरूपेण त्वपूर्वविधित्वमेव। यथा हि 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादावपूर्वसाधनीभूतव्रीहिवैतुष्ये अवघातातिरिक्त-साधनान्तराप्रसक्तावपि व्रीहिवैतुष्यमात्रे प्रसक्तस्य नखविदलनादेर्निवृत्तिः, विशिष्यकार्य-कारणभावबोधनात्, तथा निर्विशेषब्रह्मात्माभेदसाक्षात्कारप्रतिबन्धनिवृत्तौ श्रवणाद्यतिरिक्त-साधनान्तराप्रसक्तावप्यात्मज्ञानमात्रप्रतिबन्धनिवृत्तौ साङ्ख्यादिशास्त्रस्यापि प्रसक्तेः, तन्निवृत्ति-र्विशिष्य वेदान्तवाक्यविचारविधानादितिपरमगम्भीरोऽयं ग्रन्थार्थः।

ननु—यदि विश्वं कल्पितं स्यात्, तदा 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र.सू. १/१/२) इति सूत्रे 'यतो वा इमानि' (तै. ३/२) इत्यादिश्रुतौ च जन्माद्युक्तिः, 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र.सू. १/१/५) इति सूत्रे 'तदैक्षत (छा.उ.३/२/३)'इत्यादिश्रुतौ च ईश्वरस्येक्षापूर्वककर्तृत्वोक्तिः, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र.सू. २/१/३३) इति सूत्रे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ही फलवत्त्व की उपपत्ति है; तथा "सर्व कर्मों की तत्त्वसाक्षात्कार में अपेक्षा है, क्योंकि—विविदिषन्ति यज्ञेन" (बृ.४/४/२२) इत्यादि श्रुति से यह बातसिद्ध है; जैसे अश्व रथचालनादि में अपेक्षित है, लाङ्गलकर्षणादि में नहीं, उसी प्रकार ज्ञानैकसाध्य मोक्ष में कर्म अपेक्षित नहीं" इस न्याय से, और 'हे पार्थ! अखिल सर्व कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं" इस स्मृति से कर्मों का ज्ञानजनकत्व है। यहां पर सर्व और अखिल दो पदों से कर्मशब्दवाच्य अपूर्वमात्र की ज्ञान में परिसमाप्ति दर्शित है, क्योंकि अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष का ज्ञानातिरिक्त से असाध्यत्व का नियम है। और ज्ञान में तो असम्भावनादि की निवृत्ति से और प्रतिबन्धक दुरित की निवृत्ति से श्रवणादि के दृष्ट और अदृष्ट फलांशों का क्रमशः उपयोग है। और सामान्य प्राप्तिपूर्वक प्रसक्त साधनान्तर की निवृत्ति ही सर्वत्र नियमविधि का फल है। विशेष रूप से तो उसका अपूर्वविधित्व ही है। जैसे—" व्रीहीनवहन्ति" इत्यादि में अपूर्व के साधनीभूत व्रीहियों के वितुषीकरण में अवघात के अतिरिक्त साधनान्तर की अप्रसक्ति होने पर भी व्रीहिवितुषीकरण मात्र में प्रसक्त नखविदलनादि की निवृत्ति है, क्योंकि विशेषरूप से कार्यकारणभाव अर्थात् अवघात से ही प्रकृतापूर्वप्रयोजक को वैतुष्यविशिष्ट करना चाहिये— इस प्रकार के कार्यकारणभाव का बोधन होता है, वैसे ही निर्विशेष ब्रह्म और आत्मा के अभेद साक्षात्कार में प्रतिबन्धक दुरितादि की निवृत्ति में श्रवणादि के अतिरिक्त साधनान्तर की अप्रसक्ति होने पर भी आत्मज्ञानमात्र की प्रतिबन्धनिवृत्ति में सांख्यादिशास्त्र की भी प्रसक्ति होने से सांख्यादिशास्त्र की निवृत्ति विशेषरूप से वेदान्तवाक्य विचार के विधान से होती है, अतः यह ग्रन्थार्थ अर्थात् यह शास्त्र का अभिप्राय परम गंभीर है।

शंका— यदि विश्व कल्पित है तो 'इस जगत् के जन्म स्थिति प्रलय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है" इस सूत्र में, और "जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं" इत्यादि श्रुति में जगज्जन्मादि की उक्ति; " ईक्षण होने से, अशब्द प्रधान जगत् का कारण नहीं" इस सूत्र में, और 'उसने ईक्षण किया" इत्यादि श्रुति में ईश्वर के ईक्षणपूर्वक जगत्कर्तृत्व की उक्ति; " जैसे लोक में राजादि की प्रयोजन के बिना लीलारूपा प्रवृत्ति होती है, वैसे ही ईश्वर की प्रयोजन के बिना सृष्टि के लिये

'आप्तकामस्य का स्पृहा (गरुडोप. १/९)' इत्यादिश्रुतौ च प्रयोजनाभावेऽपि लीलया सृष्ट्याद्युक्तिः, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र.सू. २/१/३४) इति सूत्रे 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति' (प्रश्न.३/७) इत्यादिश्रुतौ च कर्मसापेक्षत्वेनावैषम्योक्तिः, 'तेजोऽतस्तथा ह्याह' (ब्र.सू. २/३/१०)इति सूत्रे 'वायोरग्निः'(तै.३/१/१) इत्यादिश्रुतौ च तेज आदेर्वाय्वादिजन्यत्वोक्तिः, 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' (ब्र.सू. २/३/१४)इति सूत्रे 'पृथिव्यप्सु प्रलीयते' (महाभा. शा. ३३९/२९) इत्यादिस्मृतौ च पृथिव्यादीनामबादौ लयोक्तिरित्याद्ययुक्तं स्यात्, न हि कल्पिते तत्तद्विरोधशङ्का तन्निराकरणं च युक्तमिति–चेत्, न,प्रपञ्चस्य कल्पितस्यापि व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमेन तद्दशायां विरोधशङ्कातत्परिहा–रयोरुचितत्वात्, इन्द्रजालादावध्यस्तेऽप्यैन्द्रजालिकादेरीक्षापूर्वकस्रष्टृत्वादेर्दर्शनाच्च। यथा च कल्पितस्यापि जन्माद्युपपत्तिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे वक्ष्यते। स्वप्नेऽपि सृष्ट्यादेः श्रुत्या प्रतिपादनाच्च। अध्यस्तस्यापि सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्ववत् वाय्वादीनां तेजआदि–जनकत्वमप्युपपन्नम्, 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः' इति सूत्रे च तत्तद्भावापन्नस्य ब्रह्मण एव कारणत्वाभिधानात्। अबादौ पृथिव्यादिलयोक्तिरपि तत्तद्भावापन्नचैतन्ये

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रवृत्ति केवल लीलामात्र है'' इस सूत्र में, और ''आप्तकाम की क्या स्पृहा है?'' इत्यादि श्रुति में प्रयोजन का अभाव होने पर भी लीला से जगत्सृष्टयादि की उक्ति; ''वैषम्य और निर्दयत्व का प्रसङ्ग होने से ईश्वर जगज्जन्मादि का हेतु नहीं–ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि उसमें जीवकृत कर्म सापेक्षत्व है, (कारण कि पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन (बृ. ३/२/१३) इत्यादि श्रुति ही वैसा कहती है) '' इस सूत्र में, और ''पुण्य से पुण्यलोक प्राप्त होता है'' इत्यादि श्रुति में कर्मसापेक्षत्व से वैषम्यादि के अभाव की उक्ति; '' तेज की उत्पत्ति वायु से ही होती है, क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है'' इस सूत्र में और ''वायु से अग्नि उत्पन्न हुई'' इत्यादि श्रुति में तेज आदि के वाय्वादि से जन्म की उक्ति; ''उत्पत्तिक्रम से विपरीतक्रम प्रलय का है, क्योंकि वह युक्तियुक्त है'' इस सूत्र में, और ''पृथिवी जल में विलीन होती है'' इत्यादि स्मृति में पृथिव्यादि के जलादि में लय की उक्ति इत्यादि सब अयुक्त हो जायेंगे, क्योंकि कल्पित में तत्तद्विरोध की शंका और उन का निराकरण युक्त नहीं।

समाधान– नहीं, क्योंकि कल्पित होते हुए भी प्रपञ्च के व्यावहारिकसत्त्व का अङ्गीकार होने से व्यवहारदशा में विरोध की शंका और उन शंकाओं का परिहार उचित ही है, और अध्यस्त होता हुआ भी इन्द्रजालादि में ऐन्द्रजालिकादि का ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्वादि देखने में आता है। और जिस प्रकार से कल्पित होते हुए भी प्रपञ्च के जन्मादि की उपपत्ति है, उसी प्रकार से आगे अनिर्वचनीयवाद में प्रतिपादन किया जायेगा। और स्वप्न में भी सृष्टयादि का श्रुति द्वारा प्रतिपादन होने से कल्पित जगत् का श्रुतिद्वारा प्रतिपादन हो सकता है। और अध्यस्त होते हुए भी सर्प का जैसे भयकम्पादिजनकत्व है, वैसे ही वाय्वादि का तेज आदिजनकत्व भी उपपन्न है, और वह ईश्वर ही आकाशादिभावापन्न होकर वाय्वादि को उत्पन्न करता है, क्योंकि ''एकोऽहं बहुस्याम्'' इस प्रकार सर्वकार्यभाव का अभिध्यान है,तथा ''तत्तेज ऐक्षत'' ऐसे तेजआदिभावापन्न ईश्वर के ईक्षितृत्व को कहकर ''तदपोऽसृजत'' इत्यादि सृष्टृत्व का प्रतिपादक लिङ्ग है'' इस सूत्र में तत्तद्भावापन्न ब्रह्म के ही कारणत्व का अभिधान है। और जलादि में पृथिव्यादि की लयोक्ति का भी तत्तद्भावापन्न चैतन्य में ही लय है–ऐसा व्याख्यान करना चाहिये; अधिष्ठान से अतिरिक्त में

व्याख्येयेति नाधिष्ठानातिरिक्ते लयोक्तिः। वैषम्यनैर्घृण्यप्रयोजनादिशङ्कापरिहारादिकं तूपासनावस्थायाम्। 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्' इति आपाततः परिणामवादाभ्युपगमेन, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति तु विवर्तवादे परमसिद्धान्तदशायां न शङ्का न चोत्तरम्, मायाविन इवेश्वरस्य स्वप्रतिबिम्बभूतजीवभ्रमयितृत्वेन सर्वविरोधनिरासोपपत्तेः

ननु—ईश्वरस्यापि सपरिकरस्य जीवेनाध्यस्तत्वात् कथं भ्रमयितृत्वम्। न अविद्योपहितचित एवानादेरीश्वरत्वेनान्तःकरणोपहितजीवकल्पितत्वायोगात्, जीवकल्पितत्वपक्षेऽपि ताद्दग्धर्मविशिष्टतयैव कल्पनेन तस्य भ्रमयितृत्वाद्युपपत्तेः, 'परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेदुरगो यथा, न तु नभो मलिनम्' (सं.शा. २/२२७) इति न्यायात्। ननु—न जीवानां वाय्वादिभ्योऽग्न्याद्युत्पत्तिरिति भ्रमोऽस्ति, यः स्वाप्नभ्रम इव श्रुतेरालम्बनं स्यात्, न च भ्रान्तिं विना कल्पितमस्ति, न चैतद्वाक्यजभ्रान्तिकल्पितमेव एतद्वाक्यालम्बनम्, वेदस्य भ्रमजनकत्वप्रसङ्गात्, (अनुवादे तु न दोषः।) न चेश्वर एव तत्कल्पकः, तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। तदभ्युपगमेऽपि न निस्तारः, भ्रान्तेर्देहेन्द्रियादिकार्यत्वात् तेषां च पृथिव्यादि—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

लयोक्ति नहीं। और वैषम्य, नैर्घृण्य, प्रयोजनादि की शंका और उनका परिहारादि तो उपासनावस्था और कर्मानुष्ठानकाल में ही है। " भोग्यों के भोक्तृभिन्नब्रह्म से अभेद होने के कारण भोक्तृतादात्म्य की आपत्ति है, तथा भोक्ता के भी भोग्यतादात्म्य की आपत्ति है, तब तो भोक्तृभोग्य के अविभाग का प्रसङ्ग है—ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि यह विभाग लौकिक समुद्र—फेन—तरङ्गादि के न्याय से हो सकता है" यह सूत्र तो आपाततः परिणामवाद को मान कर है; और "कार्य जगत् का कारण ब्रह्म से अभिन्नत्व है; क्योंकि—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्",— "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादि आरम्भणशब्दादियों से यह सिद्ध है" यह सूत्र तो विवर्तवाद में परमसिद्धान्त दशा में है; अतः इसमें न शंका है, और न उत्तर है; क्योंकि मायावी के समान ईश्वर का स्वप्रतिबिम्बभूत—जीवों के भ्रमयितृत्व होने से सर्वविरोधों का निराकरण हो सकता है।

शंका — सपरिकर अर्थात् सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर का भी जीव द्वारा अध्यस्तत्व अर्थात् कल्पितत्व होने से वह कल्पक—जीवों का भ्रमयिता कैसे हो सकता है?

समाधान — नहीं, क्योंकि अविद्योपहित अनादि चैतन्य के ही ईश्वरत्व होने से अन्तःकरणोपहित जीवों से कल्पितत्व का अयोग है। ईश्वर के जीवकल्पितत्वपक्ष में भी भ्रमयितृत्वादि धर्मविशिष्ट रूप से ईश्वर की कल्पना होने से ईश्वर का भ्रमयितृत्वादि धर्म हो सकता है; क्योंकि "परिकल्पित होता हुआ भी सर्प महाभयोत्पादन द्वारा मरण का हेतु हो जाता है, तो भी कल्पितपदार्थ से आकाश मलिन नहीं होता" इस न्याय से यह सिद्ध है।

शंका — जीवों का "वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति होती है" ऐसा भ्रम नहीं, जो (वह भ्रम) स्वाप्नभ्रम के समान "वायोरग्नि" इत्यादि श्रुति का आलम्बन हो जाय, और भ्रान्ति के बिना कल्पित पदार्थ नहीं; और "वायोरग्निः" इस वाक्य से उत्पन्नभ्रम से कल्पित अग्न्यादि ही "वायोरग्नि" इस वाक्य का आलम्बन नहीं; क्योंकि वेद के भ्रमजनकत्व का प्रसङ्ग है; और ईश्वर ही वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति का कल्पक भी नहीं; क्योंकि ईश्वर के भ्रान्तत्व का प्रसङ्ग है; और ईश्वर में भ्रान्तत्व का अङ्गीकार करने पर भी निस्तार नहीं हो सकता; क्योंकि भ्रान्ति देहेन्द्रियादि का कार्य होने से और देहेन्द्रियादि पृथिव्यादि का कार्य होने से पृथिव्यादि की उत्पत्ति

कार्यत्वात्, पृथिव्याद्युत्पत्तेः प्राक् भ्रान्त्ययोगादिति—चेन्न, भ्रान्तिमात्रे देहेन्द्रियाद्यपेक्षायाः प्रागेव निरासात्, ईश्वराध्यस्तवाय्वादिहेतुकाग्न्याद्युत्पत्त्यालम्बनत्वेन वेदस्य भ्रमाजनकत्वात्, अध्यस्तस्य चाध्यस्तत्वेन स्फुरणान्न मायाविन इव ईश्वरस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः। न चाध्यस्तत्वे उत्पत्त्याद्यनुपपत्तिः, अनध्यस्तस्य क्वाप्युत्पत्त्याद्यदर्शनेनाध्यस्तत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्, सत्कार्यवादासत्कार्यवादनिषेधेनानिर्वचनीयकार्यवादमात्रे कार्यकारणभावपर्यवसानात्। तदेवं कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्याद्वये ब्रह्मणि कल्पनोपपत्तेर्न प्रतिकूलतर्कपराहतिः।

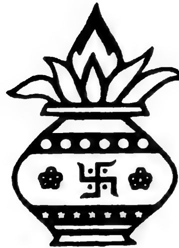
इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणि प्रपञ्चकल्पनोपपादनेन प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से पूर्व भ्रान्ति होना असम्भव है।

समाधान — नहीं, क्योंकि भ्रान्तिमात्र में देहेन्द्रियादि की अपेक्षा का प्रथम ही निरास है; और ईश्वर द्वारा अध्यस्त वाय्वादिक—हेतुक अग्न्यादि की उत्पत्ति ही, आलम्बन होने से वेद का भ्रमजनकत्व नहीं; और अध्यस्त पदार्थ के अध्यस्तत्वरूप से ही ईश्वर के प्रति स्फुरण होने से—मायावी के समान—ईश्वर के भ्रान्तत्व का प्रसङ्ग नहीं। और अध्यस्तत्व होने पर उत्पत्त्यादि की अनुपपत्ति भी नहीं; क्योंकि अनध्यस्त पदार्थ की कहीं भी उत्पत्ति आदि देखने में नहीं आती, अतः अध्यस्तत्व ही उत्पत्त्यादि का उपपादक है, और सांख्याभिमत सत्कार्यवाद और नैयायिकाभिमत असत्कार्यवाद के निषेध से अनिर्वचनीय कार्यवादमात्र में कार्यकारणभाव का पर्यवसान भाष्यादि में उक्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च की अद्वयब्रह्म में कल्पना की उपपत्ति से प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान की प्रतिकूलतर्क से पराहति नहीं।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणि प्रपञ्चकल्पनोपपादेन प्रतिकूलतर्कनिराकरणस्य राष्ट्रभाषाऽनुवादः।।



३४: अथ मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः

एतदनुमानम्, 'एकमेवाद्वितीयम्'(छा.६/२/१)—इत्यादिश्रुतिरप्यनुगृह्णाति। ननु—श्रुत्या स्वस्वरूप—स्वप्रामाण्य—स्वयोग्यतादेर्मिथ्यात्वाबोधनेन प्रत्यक्षादिसिद्धतत्स—त्त्वोपजीवनेन च ब्रह्मेतरसकलमिथ्यात्वासिद्धिः, 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'इति न्यायेन प्रत्यक्षादिसिद्धघटादिमिथ्यात्वासिद्धिश्च, योग्यतादिमिथ्यात्वबोधने च श्रुत्यर्थस्याताात्त्विकत्वापत्तिः, शब्दबोध्यस्य शब्दतत्प्रामाण्ययोग्यतादिना समसत्ताकत्व—नियमात्। न च सदर्थस्वाप्नदेवतावाक्ये व्यभिचारः, आप्तत्वापौरुषेयत्वायोगेन तस्य शब्दत्वेन प्रामाण्यायोगात्, किन्तूपश्रुतिवत्ताद्दशशब्दज्ञानं लिङ्गत्वेन प्रमाणमिति चेत्, न, निर्दोषशब्दत्वेन तस्य शब्दविधयैव प्रामाण्यसम्भवात्, आप्तत्वापौरुषेयत्वयोर्दोषाभाव एवोपक्षयाद् व्याप्त्याद्युपस्थितिकल्पने गौरवात्, वक्तुः कल्पितत्वेऽपि तद्गतदोषस्यार्थवादेन

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

''प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'' इस अनुमान का ''एक ही अद्वितीय ब्रह्म है'' इत्यादि श्रुति भी समर्थन करती है।

शंका — श्रुति से अपने स्वरूप, अपने प्रामाण्य, अपने योग्यतादि के मिथ्यात्व का बोधन (ज्ञापन) न करने से और प्रत्यक्षादि से सिद्ध अपने स्वरूपादि के सत्त्व का आश्रय लेने से ब्रह्मभिन्न सकल के मिथ्यात्व की असिद्धि है; और ''संबन्धनिमित्तकविधि स्वनिमित्तीभूत संबन्ध के विघात का कारण नहीं'' इस न्याय से प्रत्यक्षादिसिद्ध घटादि के मिथ्यात्व की असिद्धि है (अर्थात्—मिथ्यात्वधर्मी घटादि के ग्राहक प्रत्यक्ष के प्रामाण्यरूप सन्निपात यानि संबन्ध को निमित्त बनाकर प्रवर्तमान विश्वमिथ्यात्व प्रतिपादक श्रुति उक्तप्रत्यक्षनिष्ठ प्रामाण्य रूप सन्निपात के विघात का निमित्त नहीं); और श्रुति से स्वयोग्यत्वादि के मिथ्यात्व का बोधन होने पर श्रुत्यर्थ के अतात्त्विकत्व की आपत्ति होगी और शब्द से बोध्यपदार्थ के शब्द, शब्दनिष्ठ प्रामाण्य, शब्दनिष्ठयोग्यतादि के साथ ममसत्ताकत्व का नियम है; और इस नियम का सदर्थक स्वाप्नदेवतावाक्य में व्यभिचार नहीं, क्योंकि आप्तोक्तत्व अर्थात् वाक्यार्थप्रमावत्पुरुषोक्तत्व और अपौरुषेयत्व का अयोग होने से स्वाप्नदेवतावाक्य के शब्दस्वरूप से प्रामाण्य का अभाव है (अत: ''यत्—यत् प्रमाणशब्दबोध्यम्, तत्तत् स्वबोधकप्रमाणशब्दसमसत्ताकम्'' इति व्याप्ति में बाध नहीं— यह भाव है); किन्तु उपश्रुति के समान स्वाप्नदेवतादिवाक्यजन्य ज्ञान अनुमापकत्वरूप से प्रमाण है (किसी कार्य के प्रति'' यह करना चाहिये अथवा नहीं'' ऐसा सन्देह करने वाले से श्रूयमाण ''एतदवश्यं कर्त्तव्यम्'' यह वाक्य, जो अन्यद्वारा अन्य के प्रति कर्तव्यतापरत्वेन कहा हुआ है, उपश्रुति है; इस वाक्य का कर्तव्यत्वेन सन्दिग्धकार्य के प्रति शब्दत्वेन प्रामाण्य तो नहीं है, क्योंकि उस वाक्य में सन्दिग्धकार्यपरत्व का अभाव है और आप्तोक्तत्त्व का अभाव है, तो भी वह सन्दिग्धकार्य के कर्तव्यत्व का अनुमापकत्वरूप से प्रमाण है, वैसे ही स्वाप्नदेवतावाक्य भी अनुमापकतया प्रमाण है, शब्दत्वेन नहीं)।

समाधान — नहीं; क्योंकि निर्दोषशब्दत्वरूप से स्वाप्नदेवतावाक्य का शब्दविधा से प्रामाण्य सम्भव है, और आप्तोक्तत्त्व तथा अपौरुषेयत्व के दोषाभाव में ही उपक्षय होने के कारण व्याप्त्यादि की उपस्थिति की कल्पना में गौरव है; और स्वाप्नवाक्य के वक्ता का कल्पितत्व होने पर भी तद्वाक्यबोध्य अर्थ के संवाद होने से वक्तृगतदोष की कल्पना करना अशक्य है। तब तो शब्दबोध्य अर्थ के स्वबोधक शब्द समसत्ताकत्व के व्यभिचार से और स्वबोधकशब्दनिष्ठ

कल्पयितुमशक्यत्वाच्च। तथा च शब्दसमसत्ताकत्वस्य व्यभिचाराद्, योग्यतादिसम-सत्ताकत्वनियमसिद्धेरप्रयोजकत्वाच्च, परोक्षत्वानित्यत्वाद्युपाधिसम्भवाच्च, श्रुत्या योग्यता-दिसकलमिथ्यात्वबोधनेऽपि तदर्थस्य न मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वप्रयोजकरूपाभावात्। महाभाष्योक्तन्यायोदाहरणमपि न युक्तम्, विषयवैषम्यात्। तथाहि—'शतानि सहस्राणि'इत्यत्र सर्वनामस्थानसंज्ञकशिसन्निपातेन विहितो नुम् 'ष्णान्ता षट्'इति षट्संज्ञाद्वारा 'षड्भ्यो लुक्'इति शिस्वरूपसर्वनामस्थानस्य पञ्चेत्यादाविव लुङ्निमित्तं न भवति, तत्सन्निपातेनैव विहितत्वात्, तत्सद्भावनियमेनैव विहितत्वादित्यर्थः। अलुप्तस्यैव सर्वनामस्थानस्य नुम्निमित्तत्वात्, 'न लुमताङ्गस्य'इति लुमता लुप्तेऽङ्गकार्यनिषेधात्। तथा चालुप्तप्रत्ययत्वेन यत्र निमित्तता, तत्र सन्निपातलक्षणन्यायावतारः, यत्र तु 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'इति न्यायेन लुप्तेऽपि प्रत्यये कार्यं भवति, तत्रालुप्तत्वविशेषणनैरपेक्ष्येण प्रत्ययत्वमात्रेणैव निमित्तत्वान्न सन्निपातलक्षणन्यायावतारः, प्रत्ययसद्भावस्य तत्रानुपजीव्यत्वात्। एवं स्थिते यद्यमिथ्याभूतत्वेन प्रत्यक्षादेर्निमित्तता स्यात्, तदा प्रत्ययस्यालुप्तत्वेन निमित्ततायामिव

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

योग्यतादि के समसत्ताकत्व के व्याप्तिज्ञान का अप्रयोजकत्व होने से तथा परोक्षत्व अनित्यत्वादि उपाधि संभव होने से ''वेदान्तवाक्यबोध्यार्थः शब्दसमसत्ताकः प्रमाणशब्दबोध्यत्वात् ''घटमानय'' इत्यादि वाक्यबोध्यवत्'' इत्यादि में उक्त उपाधि सम्भव है— यह भाव है)। श्रुति द्वारा स्वयोग्यतादि सकलप्रपञ्च के मिथ्यात्व का बोधन होने पर भी, श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थ का मिथ्यात्व नहीं; क्योंकि श्रुति प्रतिपाद्य अद्वितीयपदार्थ में मिथ्यात्व के प्रयोजक दृश्यत्वादि का अभाव है। और महाभाष्योक्त न्याय का उदाहरण भी अयुक्त है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषयवैषम्य है। तथाहि—''शतानि सहस्राणि'' इस प्रकार की शब्दरूपसिद्धि में ''जश्शसोः शिः'' (पा. ७/१/२०) इस सूत्र से नपुंसकलिङ्ग शब्द से पर में स्थित जस् और शस् के स्थान में शि होने पर ''शि सर्वनामस्थानम्'' (पा. १/१/४२) इस सूत्र से विहित सर्वनामस्थानसंज्ञक शि के सन्निपात (संबन्ध) से ''नपुंसकस्य झलचः'' (पा.७/१/७२) इस सूत्र द्वारा विहित नुम् ''ष्णान्ताः षट्'' इस सूत्र से षान्त और नान्त की षट्संज्ञा द्वारा ''षड्भ्यो लुक्'' इस सूत्र से जश्शस्स्थानीय शिस्वरूप सर्वनामस्थान के लुक् (लोप) का निमित्त नहीं होता, जैसे ''पञ्च'' इत्यादि में जस् और शस् का लुक् होता है, कारण कि शि के सन्निपात से ही यहां नुम् का विधान है, अर्थात् शि के सद्भावनियम से ही नुम् के विधान होने से ही नुम् शि लुक् के प्रति निमित्त नहीं— यह अर्थ है। और अलुप्त सर्वनामस्थान ही नुम् का निमित्त होने से तथा ''न लुमताङ्गस्य'' इस सूत्र से लुक् श्लु और लुप् इन शब्दों से प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययनिमित्त अङ्गकार्य के निषेध से नुम् शि के लोप में अनिमित्त सिद्ध होता है। इसलिये जहां अलुप्तप्रत्ययत्वरूप से निमित्तता है, वहां सन्निपातलक्षण न्याय का अवतार है; और जहां '' प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'' इस सूत्र से प्रत्यय लुप्त होने पर भी प्रत्ययाश्रित कार्य होता है, वहां अलुप्तत्व विशेषण की अपेक्षा के बिना प्रत्ययमात्र से ही निमित्तत्व होने से सन्निपातलक्षण न्याय का अवतार नहीं, क्योंकि वहां प्रत्ययसद्भाव उपजीव्य नहीं। ऐसा स्थित होने पर अर्थात् जिस रूप से जो जिसका उपजीव्य है, उस रूप से उसका उस उपजीवक से विघात नहीं— यह सन्निपातलक्षण—न्याय का स्वरूप स्थित होने पर—यदि अमिथ्याभूतत्वेन अर्थात् सत्यविषयकत्व रूप से प्रत्यक्षादि की निमित्तता होती, तब तो जिस प्रकार प्रत्यय की अलुप्तत्वरूप से निमित्तता में सन्निपातलक्षणन्याय का अवतार होता

भवेदेतन्न्यायावतारः। प्रत्यक्षादेस्तु स्वरूपेणैव निमित्तता स्वप्नाद्यर्थस्याप्यर्थक्रियाकारित्वदर्शनेन प्रागेवोपपादिता। अतो यद् बाध्यते तात्त्विकत्वं तन्नोपजीव्यम्, यच्चोपजीव्यमर्थक्रिया–सामार्थ्यलक्षणव्यावहारिकप्रामाण्यं तच्च न बाध्यत इति किं केन सङ्गतम्? तदुक्तं टीकाकृद्भिः 'उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्' इति। अत एव– ज्योतिष्टोमादिविधेरु–पजीव्याग्निविद्यावद्विषयत्वेनेव द्वैतनिषेधस्यापि स्वोपजीव्ययोग्यतादीतरविषयत्वेन सङ्कोचस्य वा, सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वस्य वोपपत्तौ न तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वपरत्वकल्पनं युक्तमिति अपास्तम्, दृष्टान्ते अग्निविद्यादेरिव दार्ष्टान्तिके योग्यतादेस्तात्त्विकस्यानु–पजीव्यत्वात्। न हि योग्यता तात्त्विकयोग्यतात्वेन निमित्तम्, किन्तु योग्यतात्वेनैव। सकलद्वैताभावस्याधिकरणस्वरूपत्वेन तदधिकरणस्य च ब्रह्मणः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', (तै. २/१/१) 'तत्सत्यं स आत्मा' (छा.६/८/७) इत्यादिश्रुत्या सत्यत्वप्रतिपादनात्, न सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वोपपत्तिः। तस्माद्योग्यतादेर्मिथ्यात्वेऽपि वेदान्तबोध्यं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है, उसी प्रकार यहां भी उस न्याय का अवतार होता, किन्तु स्वप्नादिपदार्थ के अर्थक्रियाकारित्व दर्शन से प्रत्यक्षादि की स्वरूप से ही निमित्तता (सत्यविषयकत्वरूप से नहीं) प्रथमतः ही उपपादित हो चुकी है। अतः जो प्रत्यक्षादिनिष्ठतात्त्विकत्व बाधित किया जाता है, वह उपजीव्य नहीं; और जो उपजीव्य अर्थक्रियासामर्थ्यरूप (प्रवृत्त्यादि कार्यसामर्थ्यरूप) व्यावहारिकप्रामाण्य है, वह तो बाधित किया नहीं जाता, तब तो कौन किसके साथ सङ्गत हुआ? इस बात को भामती टीकाकार ने कहा है–" उपजीव्य का प्रत्यक्ष से अविरोधित्व होने से" इति। इस प्रकार तात्त्विकत्व रूप से उपजीव्यत्व के अभाव से–जिस प्रकार ज्योतिष्टोमादिविधि के उपजीव्य अग्नि और अनुष्ठेयार्थज्ञान दोनों से विशिष्ट पुरुष का विषयत्वरूप से संकोच होता है, उसी प्रकार श्रुति से द्वैतनिषेध के भी श्रुति के उपजीव्य योग्यतादि से भिन्नविषयत्वरूप से ही संकोच की उपपत्ति होने पर, अथवा जैसे तुम्हारे मत में सृष्ट्यादि श्रुति का कल्पित विषयत्व है, वैसे ही अद्वैतश्रुति के भी कल्पितविषयत्व की उपपत्ति होने पर, तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वपरत्व की कल्पना अयुक्त है– ऐसा कथन अपास्त हुआ। अर्थात्, मीमांसा दर्शन अ. ६/१/२५ –३८ अपशूद्राधिकरण में विचार आया है कि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधियों में चतुर्वर्णों का अधिकार है अथवा अपशूद्र त्रैवर्णिकों का अधिकार है– ऐसी आशंका होने पर, विशेष के अश्रवण से चतुर्वर्णों का अधिकार प्राप्त होने पर, सिद्धान्ती कहते हैं कि आधान द्वारा विधिपूर्वक संस्कृत आहवनीयादि अग्नि और अनुष्ठेयार्थज्ञान के अभाव से शूद्र का अधिकार नहीं; क्योंकि "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः" इस श्रुति वाक्य में त्रैवर्णिकों का आधान विहित है, और "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" यह अध्ययन विधि भी त्रैवर्णिकों के लिये ही है। यद्यपि "यजेत" इत्यादि काम्यविधानों में सामान्यरूप से बोध होने पर भी, पूर्वोक्त हेतुओं से संकोच करके त्रैवर्णिकों का ही अधिकार सिद्धान्तित किया गया है। उसको यहां दृष्टान्तरूप से दिया गया है। क्योंकि दृष्टान्त में जैसे आहवनीयादि अग्नि और अनुष्ठेय पदार्थ विद्यादि का उपजीव्यत्व है, वैसे दार्ष्टान्तिक में तात्त्विकयोग्यतादि का उपजीव्यत्व नहीं है, कारण कि योग्यता तात्त्विकयोग्यतात्वरूप से निमित्त नहीं, किन्तु योग्यतात्वरूप से ही निमित्त है और सकलद्वैताभाव अधिकरणस्वरूप होने से और सकलद्वैत के अधिकरण ब्रह्म के "सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है" " वह सत्य है, वह आत्मा है" इत्यादिश्रुति से सत्यत्व का प्रतिपादन होने से सृष्ट्यादि श्रुति के समान अद्वैतश्रुति का कल्पितविषयत्व नहीं हो सकता।

सत्यमेवेति स्थितम्। यथा चाविद्यातत्कार्यस्य स्वरूपतो निषेधेऽपि तुच्छवैलक्षण्यं, पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे वा पारमार्थिकत्वधर्मशून्यस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपेण सत्त्वं तथोपपादितमधस्तात्।

ननु—तत्त्वमस्यादिवाक्येन प्रत्यक्षाद्यविरोधाय तत्त्वंपदलक्षितयोरैक्यमिव मिथ्यात्व-श्रुत्यापि तदविरोधाय प्रत्यक्षादिसिद्धादन्यस्यैव मिथ्यात्वं बोध्यम्, अन्यथा प्रत्यक्षाद्यनुग्रहाय व्यावहारिकमपि सत्त्वं न कल्प्येत, 'नेह नाना'इत्यादिनिषेधेनात्यन्तासत्त्वबोधनादिति चेन्न, विशिष्टयोरैक्ये विशेषणयोरप्यैक्यापातेन सर्वत्र विशिष्टाभेदपरवाक्यस्य लक्षितवि-शेष्यैक्यपरत्वनियमेन 'तत्त्वमसि'इत्यत्रापि तथाभ्युपगमात्। तदुक्तम्—

अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः।
घटते न यदैकता तदा न तरां तद्विपरीतरूपयोः।। इति।

मिथ्यात्वबोधकश्रुतौ तु नास्ति प्रत्यक्षादिविरोधः, तात्त्विकत्वांशस्यानुपजीव्यत्वात्, व्यावहारिकसत्त्वस्य चोपजीव्यत्वान्नात्यन्तासत्त्वकल्पनमित्यस्याप्युक्तप्रायत्वात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसलिये श्रुतिनिष्ठयोग्यतादि का मिथ्यात्व होने पर भी वेदान्तबोध्य अद्वैतब्रह्म तो सत्य ही है— यह स्थित है। और जिस प्रकार से अविद्या और उसके कार्य का आविद्यकत्वादिरूप से निषेध होने पर भी तुच्छविलक्षणत्व, अथवा उनका पारमार्थिकत्वाकार से निषेध होने पर पारमार्थिकत्वधर्म से शून्य होते हुए भी ब्रह्म का शुद्धरूप से सत्त्व है, उस प्रकार से प्रथममिथ्यात्वविचार के प्रसङ्ग में प्रतिपादन हो चुका है।

शंका – "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य में प्रत्यक्षादि का विरोध न हो, इस निमित्त तत् और त्वंपदों से लक्षित मायोपहित और अन्तःकरणोपहित दो चेतनों का जिस प्रकार ऐक्य है,उसी प्रकार मिथ्यात्व श्रुति के साथ भी प्रत्यक्षादि के अविरोध के लिये प्रत्यक्षादि से सिद्धप्रपञ्च से भिन्न का ही मिथ्यात्व समझना चाहिये, प्रत्यक्षादि का अनादर करके प्रत्याक्षादिसिद्ध का मिथ्यात्व स्वीकृत करने पर तो प्रत्यक्षादि के अनुग्रह के लिए व्यावहारिक सत्त्व की भी कल्पना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि "नेह नाना" इत्यादि निषेध से प्रपञ्च के अत्यन्त असत्त्व का बोधन होता है।

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि दो विशिष्टों का ऐक्य होने पर, दोनों विशेषणों के भी ऐक्य की आपत्ति में, दोनों विशेषणों के अभेदबाध स्थल में, विशिष्टों के अभेदपरत्व योग्य वाक्य में लक्षितशुद्धविशेष्यव्यक्ति मात्र का ऐक्यपरत्वनियम होने से "तत्त्वमसि" इस वाक्य में भी लक्षणा का अभ्युपगम है। इस विषय में कहा भी है—" अविरुद्ध विशेषणद्वयविशिष्टत्व होने में भी विशिष्टद्वय का जब अत्यन्ताभेद घटता नहीं, तब एकताविरुद्ध विशेषणद्वयविशिष्टद्वय के अत्यन्ताभेद की अघटना के सम्बन्ध में तो क्या ही कहना है? ("दण्डी कुण्डली देवदत्तः" इस अविरुद्धविशेषणद्वयविशिष्ट में भी दण्डी और कुण्डली दोनों में, परस्पर स्वसमानसत्ताक भेद के बल से दण्ड और कुण्डल के आश्रय के अभेद की सिद्धि लक्षणा से ही होती है; तो एकता के अत्यन्तविरुद्ध जीवत्व और ईशत्व विशेषणद्वय में विशिष्टों का लक्षणा के बिना अत्यन्ताभेद न घटने में तो क्या कहना है? यह भाव है)। और मिथ्यात्वबोधक श्रुति में तो प्रत्यक्षादि का विरोध नहीं, क्योंकि श्रुति का उपजीव्य प्रत्यक्षादिनिष्ट तात्त्विकत्वांश नहीं, प्रत्यक्षादिनिष्ठ व्यावहारिकसत्त्व ही उपजीव्य है; अतः प्रपञ्च के अत्यन्तासत्त्व की कल्पना नहीं हो सकती— इस संबन्ध में भी प्रायः कहा जा चुका है।

ननु—श्रुतेस्तात्पर्यं चैतन्यमात्रे वा? द्वितीयाभावविशिष्टे वा? तदुपलक्षिते वा? नाद्यः, विश्वमिथ्यात्वासिद्धेरिष्टापत्तेः, तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेन श्रुतिवैयर्थ्याच्च। न द्वितीयः, अखण्डार्थत्वहानात्। अत एव न तृतीयः, काकवदितिवद् द्वितीयाभावव—दित्यनेनापि सप्रकारकज्ञानजननेनाखण्डार्थत्वायोगात्,चिन्मात्रस्य नित्यसिद्धत्वेन तदन्यस्य च मुमुक्ष्वज्ञेयत्वेन काकेन संस्थानविशेषस्येव द्वितीयाभावेनोपलक्ष्यस्यान्यस्याभावात् तस्योपलक्षणत्वायोगाच्चेति—चेन्न, काकस्य संस्थानविशेष इव द्वितीयाभावस्य स्वरूपमेवोपलक्ष्यमित्युपलक्ष्याभावनिबन्धनोपलक्षणत्वानुपपत्तेरभावात्। उपलक्षणत्वे हि उपलक्ष्यसत्त्वमात्रं तन्त्रम्, न तु तस्य स्वरूपातिरिक्तत्वमपि, गौरवात्, उपलक्ष्यता—वच्छेदकरूपाभावेऽपि स्वतोव्यावृत्तजातिवदुपलक्ष्यत्वसम्भवात्। अत एव न सप्रकारकत्वा—पत्तिः, काकवदित्यत्राप्युपलक्षणस्याप्रकारत्वात्, किन्तु स्वरूपातिरिक्तधर्मस्य तत्रोपलक्ष्यत्वेन सप्रकारत्वम्,इह तु तन्नेति वैषम्यम्। न चोपलक्षणवैयर्थ्यम्, अनर्थनिवृत्तिहेतुत्वेन द्वितीया—भावद्वारकस्वरूपज्ञानस्योद्देश्यत्वात्, तस्य प्रागसिद्धत्वात्। न च मिथ्यात्वासिद्धेरिष्टापत्तिः, अवान्तरतात्पर्यस्य तत्रापि सत्त्वात्, तद्द्वारैव स्वरूपचैतन्ये महातात्पर्यात्। अत

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — क्या श्रुति का तात्पर्य चैतन्यमात्र में है? अथवा द्वितीयाभावविशिष्ट चैतन्य में? अथवा द्वितीयाभावोपलक्षित चैतन्य में? आद्य नहीं, क्योंकि विश्वमिथ्यात्व की असिद्धि होने से चैतन्य मात्र में श्रुतितात्पर्य की इष्टापत्ति है, और चैतन्य के स्वप्रकाशत्वरूप से नित्यसिद्धत्व होने के कारण श्रुति का निरर्थकत्व है। द्वितीय भी नहीं, श्रुति का द्वितीयाभावविशिष्ट चैतन्य में तात्पर्य होने पर अखण्डार्थत्व की हानि है और अखण्डार्थत्व की हानि से ही तृतीय भी नहीं, क्योंकि उपलक्षण में भी, जैसे'' काकवद् गृह'', यह सप्रकारक ज्ञान को उत्पन्न करता है, वैसे ''द्वैताभाववत् चैतन्य'' इससे भी सप्रकारक ज्ञान के जनन से अखण्डार्थत्व का अयोग है। और, चिन्मात्र नित्यसिद्ध होने से तथा चिन्मात्र से अन्य मुमुक्षुद्वारा अज्ञेय होने से—जिस प्रकार काकसे उपलक्ष्य उत्तृणत्वादि अन्य संस्थान विशेष होता है, उसी प्रकार द्वितीयाभाव से उपलक्ष्य अन्य संस्थान विशेष का अभाव होने के कारण द्वितीयाभाव का उपलक्षणत्व अयुक्त है।

समाधान — ऐसा नहीं; क्योंकि जैसे काक का उत्तृणत्वादि संस्थान विशेष उपलक्ष्य है, वैसे द्वितीयाभाव का भी स्वरूप ही उपलक्ष्य होने से उपलक्ष्याभाव निमित्तक उपलक्षणत्वानुपत्ति का अभाव है। कारण कि उपलक्षणत्व में उपलक्ष्य का सत्त्वमात्र निमित्त है; उपलक्ष्य का स्वरूपातिरिक्तत्व तो निमित्त नहीं; क्योंकि उसमें गौरव है; और उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म का अभाव होने पर भी स्वत: व्यावृत्त जाति के समान अर्थात् ''घट'' इस ज्ञान में अन्याविशेषित रूप से भासमान घटत्वादि के समान स्वरूप का उपलक्ष्यत्व (उपस्थाप्यत्व) सम्भव है। इस प्रकार स्वरूप के उपलक्ष्यत्व संभव होने से सप्रकारकत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि ''काकवत्'' इसमें भी काकरूप उपलक्षण का अप्रकारत्व है; किन्तु स्वरूपातिरिक्त उत्तृणत्वादि धर्म का ''काकवत्'' इसमें उपलक्ष्यत्वरूप से सप्रकारत्व है और यहां द्वितीयाभाव में तो स्वरूपातिरिक्त धर्म न होने से ''काकवत्'' से वैषम्य है और स्वरूपानतिरिक्तत्व होने पर उपलक्षण का निरर्थकत्व भी नहीं, क्योंकि सद्वितीयत्वज्ञानरूप निरर्थक की निवृत्ति के हेतुरूप से द्वितीयाभावद्वारक स्वरूपज्ञान यहां उद्देश्य है, कारण कि द्वितीयाभावद्वारक स्वरूपज्ञान पहले सिद्ध नहीं। और अद्वैतश्रुति से विश्वमिथ्यात्व की असिद्धि से इष्टापत्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि अद्वैतश्रुति का अवान्तरतात्पर्य

एव—श्रुतिबोध्यस्य विशेषणस्योपलक्षणस्य वा द्वितीयाभावस्य सत्त्वे अद्वैतहानिः, असत्त्वे चादण्डे दण्डीति वाक्यवत् काकहीने काकवदिति वाक्यवच्चाद्वैतवाक्यस्यातत्त्वावेदकत्वापत्तिरिति—निरस्तम्, आद्ये द्वितीयाभावसत्त्वेन द्वितीयाभावासिद्ध्यापादनस्यानुचितत्वात्, अभावस्याधिकरणातिरेकानभ्युपगमाच्च। द्वितीये तु सृष्ट्यादिवाक्यवदुपलक्ष्यस्वरूपसत्यत्वमादायतत्त्वावेदकत्वात्, मुख्यतात्पर्यविषयस्यासत्यतायामेवातत्त्वावेदकत्वाभ्युपगमात्। अत एव महातात्पर्याभिप्रायेण चैतन्यमात्रे तात्पर्यमित्याद्यपक्षेऽपि न दोषः, अवान्तरतात्पर्येण मिथ्यात्वसिद्धेरपि स्वीकारेणेष्टापत्तेरसम्भवात्।

ननु—द्वितीयाभावे महातात्पर्याभावः किं प्रमाणान्तरप्राप्त्या, यथा वायुक्षेपिष्ठत्वादौ? उत तद्विरोधित्वेन, यथात्मवपोत्खननादौ? उतोद्देश्यविशेषणत्वादिना यथा ग्रहैकत्वादौ? नाद्यः, त्वयैव द्वितीयाभावस्य प्रमाणान्तरप्राप्त्यनभ्युपगमात्। द्वितीयेऽपि विरोधिमानं न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विश्वमिथ्यात्व भी है; क्योंकि विश्वमिथ्यात्व द्वारा ही अद्वैतश्रुति का स्वरूप चैतन्य में महातात्पर्य है। और वक्ष्यमाण हेतु से—श्रुतिबोध्य विशेषण अथवा उपलक्षण द्वितीयाभाव का सत्त्व होने पर अद्वैत की हानि और असत्त्व होने पर दण्डरहित में ''दण्डी'' इस वाक्य के जैसे, और काकहीन में ''काकवत्'' इस वाक्य के समान अद्वैतवाक्य में भी अतत्त्वावेदकत्व की आपत्ति है—यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि आद्य—विशेषण पक्ष में द्वितीयाभाव का सत्त्व होने के कारण द्वितीयाभावरूपद्वितीय की असिद्धि से अद्वैतहानि का आपादन अनुचित है; कारण कि अभाव के अधिकरणातिरिक्तत्व का अनग्युपगम होता है। द्वितीय—उपलक्षण पक्ष में तो सृष्ट्यादिवाक्य के समान अद्वैत श्रुति का भी उपलक्ष्यस्वरूप सत्यत्व को लेकर तत्त्वावेदकत्व है; क्योंकि मुख्यतात्पर्य के विषय का असत्यता में ही अतत्त्वावेदकत्व अङ्गीकृत है। इस प्रकार तत्त्वावेदकत्व की सिद्धि होने से महातात्पर्य के अभिप्राय से चैतन्यमात्र में तात्पर्य है— इस आद्यपक्ष में भी दोष नहीं; क्योंकि अवान्तर तात्पर्य से विश्वमिथ्यात्वसिद्धि का भी स्वीकार होने से विश्वमिथ्यात्व की असिद्धि द्वारा इष्टापत्ति करना असम्भव है।

शंका — द्वितीयाऽभाव में महातात्पर्य का अभाव क्या प्रमाणान्तर से प्राप्ति होने के कारण है? जैसे, ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' इस वाक्य का वायु के अतिक्षिप्रत्वादि में महातात्पर्य नहीं है, अथवा प्रमाणान्तर के विरोधित्व होने से महातात्पर्य का अभाव है? जैसे ''स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्'' इस वाक्य का प्रमाणान्तर विरोधित्व होने से आत्मवपोत्खननादि में महातात्पर्य नहीं है; अथवा (शुद्धब्रह्मरूप) उद्देश्य के विशेषणत्वादि होने से महातात्पर्य का अभाव है? जैसे ''दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि'' इस वाक्य का उद्देश्यविशेषणत्व होने से ग्रहैकत्वादि में महातात्पर्य नहीं है (मीमांसा दर्शन अ. ३/१/१३—१५—ग्रहैकत्वाधिकरण का यह विषय है। ज्योतिष्टोम प्रकरण में ''दशापवित्रेण ग्रहं संम्मार्ष्टि'' अर्थात् वस्त्रखण्ड द्वारा ग्रह अर्थात् यज्ञीयपात्र विशेष का सम्मार्जन करना चाहिये—ऐसा ग्रह का उद्देश्य करके सम्मार्जन विधान आया है। इसमें ''ग्रहम्'' इस एकवचन के अनुसार एक ही ग्रह का सम्मार्जन करना चाहिये? अथवा तत्रस्थ ऐन्द्रवायवादि दश ग्रहों का सम्मार्जन करना चाहिये? ऐसा सन्देह होने पर ''पशुना यजेत'' इत्यादि के समान यहां भी एक ही का सम्मार्जन होना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यहां पर प्रधानभूतग्रहत्वमात्र का उद्देश्य के प्रति विशेषणतया सम्मार्जन का विधान है; अतः ''प्रतिप्रधानं च गुण आवर्तनीयः'' इस न्याय से जितने ग्रह हैं, उनका सम्मार्जन होना चाहिये, ग्रहैकत्व में

तावत्प्रत्यक्षादि द्वैतग्राहि, त्वन्मते तस्यैव श्रुतिबाध्यत्वात्, नाद्वैतवाक्यान्तरम्, तस्यात्ममात्र—परत्वे द्वितीयाभावाविरोधित्वात्, न हि विशेष्यविषयं 'अग्निहोत्रं जुहोति'इति वाक्यं विशिष्टविषयेण 'दध्ना जुहोति'इति वाक्येन विरुध्यते, द्वैताभावपरत्वे त्वेकविषयत्वेन सुतरामविरोधात्। नापि तृतीयः, 'ग्रहं संमार्ष्टि'इत्यत्र सम्मार्जनस्यैवाखण्डार्थपरे वाक्ये विधेयान्तरस्याभावेन विशेष्यस्य शास्त्रगम्यस्य चिन्मात्रस्याप्राप्तत्वेनोद्देश्यत्वायोगाच्च, द्वितीयाभावस्योद्देश्यविशेषणत्वानुपपत्तेः, अविवक्षाहेतोरनुवाद्यत्वस्याप्यभावाच्चेति—चेत्। न,स्वयमेव स्वबोधितमपि द्वितीयाभावं द्वितीयत्वादेव निषेधतीति स्वविरोधादेव श्रुतेस्तत्रा—तात्पर्यात्। मानविरोधीत्वमात्रस्य तात्पर्याभावे प्रयोजकत्वात् स्वविरोधेऽपि न क्षतिः।

ननु—एकेनैव प्रमाणेनैकस्य प्राप्तिनिषेधावनुपपन्नौ, न, रूपभेदेनाविरोधात्। द्वितीयाभावस्वरूपं हि शास्त्रेण प्राप्यते। तस्य च प्राप्यतावच्छेदकरूपं द्वितीयाभावत्वम्, तच्च न निषेध्यतावच्छेदकम्, किन्तु द्वितीयत्वमेव निषेध्यमात्रानुगतम्। तत्र तदनभ्युपगमे तु न तस्य निषेध्यत्वम्, न वा तेनात्मनः सद्वितीयत्वापत्तिरिति न कोऽपि दोषः। यत्र तु प्राप्यतावच्छेदकमेव निषेध्यतावच्छेदकम्, तत्र प्राप्तिनिषेधशास्त्रयोरतुल्यविषयत्वे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

उसका तात्पर्य नहीं। इस अधिकरण को यहां दृष्टान्तरूप से दिया है)। इनमें आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि तुमने ही द्वितीयाभाव की प्रमाणान्तर से प्राप्ति का अङ्गीकार नहीं किया है। द्वितीय में भी द्वितीयाभाव का विरोधिप्रमाण द्वैतग्राही—प्रत्यक्षादि नहीं; क्योंकि तुम्हारे मत में प्रत्यक्षादि का श्रुति से बाध्यत्व है; अद्वैतवाक्यान्तर भी विरोधिमान नहीं; क्योंकि उस वाक्यान्तर के आत्ममात्रपरत्व होने पर द्वितीयाभाव का अविरोधित्व है, क्योंकि अग्निहोत्ररूप—होमविशेष्यविषयक "अग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य का दधिविशिष्टहोमविषयक "दध्ना जुहोति" इस वाक्य से विरोध नहीं होता; अतः अद्वैतवाक्यान्तर का द्वैताभावपरत्व होने पर तो एकविषयत्व होने से सुतरां अविरोध है। तृतीय भी नहीं; क्योंकि "ग्रहं सम्मार्ष्टि" इसमें जिस प्रकार सम्मार्जन का एकत्वातिरिक्त विधेयान्तर है, उसी प्रकार अखण्डार्थपरवाक्य में द्वितीयाभाव की अपेक्षा से विधेयान्तर के अभाव से और शास्त्रगम्य विशेष्यभूत चिन्मात्र के प्रमाणान्तर से अप्राप्तत्व होने के कारण उद्देश्यत्व के अयोग से द्वितीयाभाव के उद्देश्यविशेषणत्व की अनुपपत्ति है और अविवक्षा के हेतुभूत अनुवाद्यत्व का अभाव भी है।

समाधान — ऐसा नहीं; क्योंकि श्रुति स्वयं ही अपने से बोध्यमान द्वितीयाभाव का भी द्वितीयत्व होने से ही निषेध करती है, अतः स्वविरोध होने से ही श्रुति का द्वितीयाभाव में मुख्य तात्पर्य नहीं। और मानविरोधित्वमात्र तात्पर्याभाव का प्रयोजक होने से श्रुतिविरोध में भी मानविरोध की क्षति नहीं।

शंका — एक ही श्रुतिप्रमाण से द्वितीयाभाव की प्राप्ति और उसी द्वितीयाभाव का निषेध तो अनुपपन्न है।

समाधान — नहीं; रूपभेद से उसमें विरोध नहीं, क्योंकि द्वितीयाभावस्वरूप शास्त्र से प्राप्य है और उस द्वितीयाभावस्वरूप का प्राप्यतावच्छेदक धर्म द्वितीयाभावत्व है, और वह द्वितीयाभावत्व निषेध्यतावच्छेदक नहीं, किन्तु निषेध्यमात्र में अनुगत द्वितीयत्व ही निषेध्यतावच्छेदक है। और, द्वितीयाभाव में द्वितीयत्व का अनङ्गीकार होने पर तो द्वितीयाभाव का निषेध्यत्व नहीं, अथवा उस द्वितीयाभाव से आत्मा के सद्वितीयत्व की आपत्ति भी नहीं, इस कारण कोई भी दोष नहीं। और

विशेषशास्त्रविषयपरित्यागेन सामान्यशास्त्रप्रवृत्तिः, तुल्यविषयत्वे त्वगत्या विकल्प इति न निषेधस्यासङ्कोचेन प्रवृत्तिः, यथा 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि'इति निषेधशास्त्रस्य 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत 'इत्यादिप्राप्तिशास्त्रविषयेतरविषयत्वम्, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादिप्राप्तिनिषेधशास्त्रयोस्तु विकल्पेनैकविषयत्वम्, एकस्यैव हिंसात्वस्य षोडशिग्रहत्वस्य च प्राप्तिनिषेधयोरवच्छेदकत्वात्, तत्र निषेधशास्त्रस्यासंकुचद्वृत्तित्वे प्राप्तिशास्त्रस्य सर्वात्मना वैयर्थ्यापत्तिः, प्रकृते च द्वितीयत्वेन रूपेण निषेधस्यैव शास्त्रार्थत्वान्न कस्यापि वैयर्थ्यशङ्का। अत एव—द्वितीयाभावनिषेधे पुनर्द्वितीयोन्मज्जनापत्तिरिति—निरस्तम्। उपपादितमेतन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वसाधने। यथा प्रतियोग्यभावयोर्निषेध्यतावच्छेदकैक्ये नैकनिषेधेऽपरसत्त्वापत्तिरिति।

न च—स्वेनैव निषिद्धस्य द्वितीयाभावस्य द्वितीयस्येव विशेषणत्वेनोपलक्षणत्वेन वा पुनरुपादानं न युक्तमिति—वाच्यम्, अभावबुद्धौ निषिद्धस्यापि प्रतियोगिनः 'सा शुक्तिः' इत्यत्र प्रतिषिद्धस्यापि (प्रसिद्धस्यापि) पूर्व प्रतीतरजतस्योपलक्षणतयोपादानदर्शनात्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

जहां प्राप्यतावच्छेदक ही निषेध्यतावच्छेदक है, वहां तो प्रापक और निषेधक दोनों शास्त्रों का अतुल्यविषयत्व अर्थात् सामान्यविशेषभावाद्यनापन्नविषयकत्व होने पर विशेषशास्त्र के विषय को त्याग कर सामान्य शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, और तुल्यविषयकत्व अर्थात् सामान्यविशेषभावाद्यनापन्नविषयकत्व होने पर तो कोई गति न होने से पाक्षिकानुष्ठानरूप विकल्प होने के कारण निषेध की असंकोच से अपाक्षिकत्वरूप से प्रवृत्ति नहीं होती, जैसे—"सर्वभूतों की हिंसा नहीं करनी चाहिये" इस निषेधशास्त्र का "अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन करें" इत्यादि प्राप्तिशास्त्र के विषय से भिन्न विषयकत्व है; और "अतिरात्रयाग में षोडषी ग्रह (पात्र) का स्थापन करना चाहिये" " अतिरात्र में षोडशी का स्थापन नहीं करना चाहिये" इत्यादि दोनों प्राप्तिनिषेधशास्त्रों का तो विकल्प से (पाक्षिकानुष्ठान से) एक विषयकत्व है, क्योंकि एक ही हिंसात्व और एक ही षोडशिग्रहत्व, प्राप्ति और निषेध दोनों का अवच्छेदक है; वहां पर निषेधशास्त्र का असंकुचिद्वृत्तित्व अर्थात् अपाक्षिकवृत्तित्व होने पर प्राप्तिशास्त्र की सर्वथा वैयर्थ्यापत्ति होती है; और प्रकृत अद्वैतश्रुति में तो द्वितीयत्वावच्छेदकावच्छेदेन निषेध ही अद्वितीयपदघटितशास्त्र का अवान्तरतात्पर्य है। अतः किसी के भी वैयर्थ्य की शंका नहीं। और "एकमेवाद्वितीयम्" इस वाक्य के सर्वद्वैतनिषेधमात्र तात्पर्यकत्व होने से—द्वितीयाभाव का निषेध होने पर पुनः द्वितीय की प्राप्ति का प्रसङ्ग है— ऐसा कथन निरस्त हुआ; यह तो मिथ्यात्व के मिथ्यात्वसाधन में प्रतिपादित हो चुका है—जैसे —प्रतियोगी और अभाव दोनों का निषेध्यतावच्छेदक (दृश्यत्वादि) एक होने पर एक के निषेध में अपर की सत्त्वापत्ति नहीं— इति।

शंका — अपने ही द्वारा निषिद्ध द्वितीयाभाव का द्वितीय के समान विशेषणत्वरूप से अथवा उपलक्षणत्वरूप से पुनः ग्रहण अयुक्त है।

समाधान — ऐसा न कहो; क्योंकि 'नेदं रजतम्" इस अभावबुद्धि में निषिद्ध प्रतियोगी जो भ्रमसिद्ध और पूर्वप्रतीतरजत है, उसका "सा शुक्तिः" अर्थात् वही रजत शुक्ति है, इसमें उपलक्षणतया उपादान देखने में आता है और व्यावृत्ताकारकज्ञान का प्रयोजकत्व प्रकृत द्वितीयाभाव में भी तुल्य है (अर्थात्—"वही रजत शुक्ति है" इसमें जैसे उपलक्षण तथा पूर्व प्रतीत भ्रमसिद्ध रजत शुक्तिविषयकव्यावृत्ताकारज्ञान का प्रयोजक है, वैसे ही द्वितीयाभाव भी उपलक्षणतया

असङ्कीर्णज्ञानप्रयोजकत्वस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात्। तस्मात् 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुति–विश्वमिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्येन मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शुद्धब्रह्मविषयक व्यावृत्ताकारज्ञान का प्रयोजक है)। इसलिये ''एकमेवाऽद्वितीयम्'' इत्यादिश्रुति विश्वमिथ्यात्व में प्रमाणसिद्ध है।।

इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्येन मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्ते राष्ट्रभाषाऽनुवादः।।



३५ : अथाद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः

ननु—आपातप्रतिपन्न एव न तावच्छ्रुत्यर्थः, 'कश्छन्दसां योगमावेद धीरः' इति श्रुत्या 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः'इति स्मृत्या च वेदार्थस्यातिगहनतोक्तेः, मीमांसावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च, किन्तु मानान्तरेण पूर्वोत्तरेण चाविरुद्ध एवार्थः, अविरोधग्रहणार्थं च मीमांसासाफल्यम्, अत एव 'आज्यैः स्तुवते' (ता.ब्रा.)'आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा.१/९/१) इत्यादावापातप्रतीतघृतगगनादिपरित्यागेनाज्याकाशादिपदानां सामपरमात्माद्यर्थत्वं स्थापितं पूर्वोत्तरमीमांसयोश्चित्राकाशाद्यधिकरणेषु, अन्यथा तत्तत्पूर्वपक्षाभ्युपगमापत्तेः, तथाचोक्तं वार्तिककारैः "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्"इत्यत्र—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्।
ताद्रूप्येण परिच्छेदस्तद्विपर्ययतोऽपि च।।
विषयाविषयौ ज्ञात्वा तेनोत्सर्गापवादयोः।
बाधाबाधौ विवेक्तव्यौ न तु सामान्यदर्शनात्।।
अन्य एवैकदेशेन शास्त्रस्यार्थः प्रतीयते।
अन्यस्तु परिपूर्णेन समस्ताङ्गोपसंहृतौ।।' इति। (पू.मी.१/१/५ श्लोक ५५—५६)

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — पूर्वापरविचार से रहित शब्दश्रवणमात्र से उपस्थित अर्थ श्रुति का नहीं हो सकता, क्योंकि —"कौन बुद्धिमान पुरुष वेदों के तात्पर्य को जान सकता है" इस श्रुति से, और "अल्पविद्यावान् पुरुष से वेद डरता है" इस स्मृति से वेदार्थ के अतिगहनता की उक्ति है; और मीमांसाशास्त्र के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग है; किन्तु मानान्तर से और पूर्व तथा उत्तरमीमांसाशास्त्र से अविरुद्ध ही वेदार्थ है; और अविरोधग्रहण का निमित्त होने से मीमांसा का साफल्य है। इस कारण "पञ्चदशान्याज्यानि" (ता.ब्रा. १९/११/२) इसके द्वारा विहित "आज्यनामक सामवेदीय स्तोत्रों से स्तुति करनी चाहिये" ये सर्वभूत आकाशशब्दवाच्य परमात्मा से उत्पन्न होते हैं" इत्यादि में आपातप्रतीत अर्थात् स्थूलदृष्टि से प्रतीत घृतगगनादि को त्याग करके आज्य, आकाशादि पदों का सामवेदीय स्तोत्र, परमात्मादिरूप अर्थ पूर्व और उत्तरमीमांसा के चित्राधिकरण (पू.मी. १/४/३), और आकाशाधिकरण (उ.मी.१/१/२२) में निर्णीत किया गया है; यदि आपातप्रतिपन्नार्थ को ही स्वीकार करेंगे तो तत्तत्पूर्वपक्ष के अभ्युपगम की आपत्ति होगी। जैसे कि इस संबन्ध में वार्तिककार कुमारिल ने "शब्द के श्रावण प्रत्यक्ष के अनन्तर असन्निकृष्ट अर्थ में जो विज्ञान होता है, वही शास्त्र है" इस शबरमुन्युक्त शब्दप्रमाणलक्षण में कहा है—"इस शब्द प्रमाण के लक्षण में असन्निकृष्ट— इस शब्द से दो बातों का त्याग विवक्षित है; एक तो यह है कि जिस रूप से वाक्यबोध्यता है, उस रूप से परिच्छेद अर्थात् पूर्व प्रमितत्व और दूसरा यह है कि जिस रूप से वाक्याबोधता है, उससे विपरीत रूप से प्रमितत्व— ये दोनों त्याज्य हैं—अर्थात् प्रमाणान्तरानधिगता—बाधितार्थविषयकज्ञानजनक शब्द ही शब्दप्रमाण है। सामान्यदर्शनमात्र से व्यवस्था करना अशक्य होने से उत्सर्ग और अपवाद के विषय और विषय को समझकर बाध और अबाध का विवेचन करना चाहिये, किन्तु सामान्यदर्शन से नहीं। एकदेशमात्र के पर्यालोचन से शास्त्र का अर्थ अन्य ही प्रतीत होता है, और परिपूर्णरूप से समालोचन के द्वारा समस्त शास्त्राङ्गों का उपसंहार होने पर दूसरा ही अर्थ प्रतीत होता है।।" इसी प्रकार अन्यत्र स्मृतिपादीय वार्तिक में कहा है—" जहां जो आगम परस्पर विरुद्ध जैसे प्रतीत होते हैं, वहां दृष्टानुसार उन आगमों का अर्थ विवक्षित है।"

अन्यत्राप्युक्तम्—

विरुद्धवत्प्रतीयन्त आगमा यत्र ये मिथः।
तत्र छ्प्टानुसारेण तेषामर्थां विवक्षिताः।।'इति।

तथा च प्रत्यक्षादिविरोधात् पूर्वोत्तरविरोधाच्च नाद्वैतपरत्वं "एकमेव" इत्यात्यादिवाक्यानामिति—चेन्न, द्वैतप्रत्यक्षस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवत् सम्भाविताप्रामाण्यतया अद्वैतश्रुतिविरोधित्वाभावात्। यथा च श्रुत्या प्रत्यक्षं बाध्यते, तथा प्रपञ्चितमधस्तात्। किञ्च प्रत्यक्षं नियतविषयम्, श्रुतिः सर्वविषया, तथा च यत्र प्रत्यक्षेण भेदो न गृहीतः, तत्रैवाभेदश्रुतेरवकाशः। ननु—ययोरैक्यं श्रुत्या बोध्यते तयोर्भेदः प्रसक्तो न वा? नान्त्यः, अप्रसक्तप्रतिषेधापातात्, नाद्यः, प्रसञ्जकप्रमाणविरोधेनैक्यस्य बोधयितुमशक्यत्वादिति—चेन्न, अन्त्यपक्षाभ्युपगमे दोषाभावात्। अप्रसक्तप्रतिषेध इति च किमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम्? किं वा निष्प्रयोजनत्वमिति विवेचनीयम्। नाद्यः, अन्यत्र प्रसिद्धस्यैव भेदस्य भेदत्वेनोपस्थितस्य परस्परप्रतियोग्यनुयोगिभावेनान्यत्र निषेधसम्भवात्। न च तत्रैव प्रसिद्धिस्तन्त्रम्, निषेधप्रमामात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अनर्थनिवृत्तेरेव प्रयोजनत्वात्, 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः' इत्यादौ स्तुतिमात्रप्रयोजनेनाप्यप्रयोजनेनाप्यप्रसक्तनिषेधदर्शनाच्च। अथ श्रुत्या ययोरभेदो बोध्यते तयोरुपस्थितिरस्ति न वा? नान्त्यः, अनुपस्थितयोरभेदबोधनायोगात्। आद्ये सा किं श्रुतिजन्या, प्रत्यक्षादिजन्या वा। नाद्यः, श्रुतेर्भानान्तरा—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

तब तो प्रत्यक्षादि से विरोध होने से और पूर्वोत्तरमीमांसा शास्त्रों से विरोध होने से "एकमेव" इत्यादि वाक्यों का अद्वैतपरत्व नहीं हो सकता।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि द्वैतप्रत्यक्ष की चन्द्रप्रादेशिकत्व प्रत्यक्ष के समान सम्भाविताप्रामाण्यता होने से उसके अद्वैतश्रुतिविरोधित्व का अभाव है। और जिस रीति से श्रुतिद्वारा प्रत्यक्ष बाधित किया जाता है, उस रीति से प्रत्यक्षबाधोद्धारादि में पहले ही विस्तार से कथन हो चुका है। किञ्च— प्रत्यक्ष तो नियतविषयक है, और श्रुति सर्वविषयिका है, तब तो जहा प्रत्यक्ष से भेदगृहीत नही होता, वहां ही अभेदश्रुति का अवकाश है।

शंका — जिन दोनों का अभेद, श्रुति से बोधित किया जाता है, उन दोनों का भेद प्रसक्त है अथवा नहीं? अन्त्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि अप्रसक्त के प्रतिषेध का प्रसङ्ग है। आद्य पक्ष भी नहीं; क्योंकि भेदप्रसञ्जक प्रमाण से विरोध होने के कारण अभेद का बोधन किया नहीं जा सकता।

समाधान— नहीं, क्योंकि भेदाप्रसक्तिरूप अन्त्य पक्ष का अङ्गीकार होने पर दोष का अभाव है। और "अप्रसक्तप्रतिषेध" इसका अभिप्राय क्या है? क्या वह अप्रसिद्धप्रतियोगित्व है, अथवा निष्प्रयोजनत्व है? इस संबन्ध में विवेचन करना चाहिये। आद्य नहीं; क्योंकि घटपटादि अन्य स्थल में प्रसिद्ध और भेदत्वरूप से उपस्थित भेद के ही परस्पर प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व रूप से अन्यत्र निषेध सम्भव हैं; और निषेधाधिकरण में ही प्रतियोगी की प्रसिद्धि निमित्त नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर निषेधप्रमामात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग है। निष्प्रयोजनत्वरूप द्वितीय पक्ष भी नहीं, क्योंकि अनर्थनिवृत्ति ही प्रयोजन है, और "अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिये" इत्यादि में स्तुतिमात्र प्रयोजन से भी अप्रसक्तप्रतिषेध देखने में आता है।

शंका — श्रुति से जिन दोनों का अभेद बोधित किया जाता है; क्या उन दोनों की उपस्थिति है, अथवा नहीं? अन्त्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनुपस्थित दोनों के अभेद का बोधन अयुक्त

गोचराभेदमात्रपरत्वेन घटाद्युपस्थितेस्तज्जन्यत्वाभावेन सर्वाद्वैतासिद्धेः, श्रुतिस्थकिंचनेत्यादि-पदानामनुवादकत्वाभ्युपगमात्। द्वितीये तु तयोर्भेदोऽपि प्रत्यक्षादिसिद्ध इति क्वाद्वैतश्रुत्य-वकाशः? मैवम्, यत् प्रत्यक्षादिना गृह्यते, तद्भेदोऽपि तेन गृह्यत एवेति नियमाभावात्। तथा हि—न तावत्पदार्थस्वरूपज्ञानमेव भेदज्ञानम्, अभेदभ्रमोच्छेदप्रसङ्गात्। स्वरूपभेद-वादिनामपि स्वरूपज्ञानाद् घटत्वादिप्रकारकाद् भेदत्वप्रकारकं भेदज्ञानं विलक्षणमेव, अन्यथा भेदाग्रहनिबन्धनव्यवहारानुदयप्रसङ्गात्। अत एव स्वरूपज्ञानोत्तरकालमवश्यं भेदज्ञानमित्यपि न, अनवस्थाप्रसङ्गाच्च। तथा हि—'घटपटौ भिन्नौ जानामि' इति घटपट-भेदधीः स्वप्रकाशा वा, अनुव्यवसायसिद्धा वा, साक्षिरूप वा, न स्वप्रतियोगिकभेदविषया, भेदधियः प्रतियोगिधीजन्यत्वनियमेन प्रतियोगिधीव्यक्तिभिन्नव्यक्तित्वावश्यकत्वात्, स्वस्या एव स्वजन्यत्वानुपपत्तेः। ज्ञानान्तरेण च तद्भेदग्रहे क्वचिद् भेदधीधाराविश्रान्तिरवश्यं वाच्या, अन्यथा सुषुप्तिविषयान्तरसञ्चारादिकं न स्यात्। अतः तत्रापि चरमभेदधीरे-वोदाहरणम्। तथा च बाधकत्वाभिमता या घटपटभेदधीः स्वभेदाविषया भासते, तया सह बाध्यत्वाभिमताया ऐक्यधिय ऐक्यं बोधयित्वा निर्बाधा सती श्रुतिः सर्वाभेदे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है। आद्य पक्ष में तो, क्या दोनों की उपस्थिति श्रुतिजन्या है, अथवा प्रत्यक्षादिजन्या है? आद्य नहीं; क्योंकि श्रुति के मानान्तर के अविषय अभेदमात्र में तात्पर्य होने के कारण, घटादि की उपस्थिति के श्रुतिजन्यत्व के अभाव से सर्वाद्वैत की असिद्धि है, कारण कि "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुति में स्थित किञ्चनादि पदों का अनुवादकत्व अङ्गीकृत है; और प्रत्यक्षादिजन्य उपस्थितिरूप द्वितीय पक्ष में तो उन दोनों का भेद भी प्रत्यक्षादिसिद्ध होने से अद्वैतश्रुति का कहां अवकाश है?

समाधान — ऐसा नहीं, क्योंकि जो प्रत्यक्षादि से गृहीत होता है, उसका भेद भी प्रत्यक्षादि से ही गृहीत होता है— इसमें नियम का अभाव है। तथाहि— पदार्थ स्वरूपज्ञान ही भेदज्ञान नहीं; कारण कि ऐसा होने पर "इदं रजतम्" इत्यादि अभेदभ्रम के उच्छेद का प्रसङ्ग है। और स्वरूप ही भेद है— ऐसा मानने वालों के मत में भी घटत्वादिप्रकारक स्वरूपज्ञान से भेदत्वप्रकारक भेदज्ञान विलक्षण ही है; क्योंकि अविलक्षणत्व होने पर भेदाग्रहनिमित्तक "इदं रजतम्" इत्यादि व्यवहार के अनुदय का प्रसङ्ग है। इस व्यवहारानुदय प्रसङ्ग से ही स्वरूपज्ञान के उत्तरकाल में अवश्य भेदज्ञान होता है। यही नहीं; उसमें अनवस्था का प्रसङ्ग भी है। जैसे कि—" घट पट को भिन्न जानता हूं" यह घटपटभेदबुद्धि चाहे स्वप्रकाश हो, या अनुव्यवसाय से सिद्ध हो, या साक्षिरूप ही हो, तो भी यह बुद्धि स्वप्रतियोगिक भेदविषयिका नहीं (अर्थात्— स्वविषय घटपट और उनके भेद में और ज्ञानान्तरों में स्वभेद को विषय करने वाली नहीं); क्योंकि भेदधी के प्रतियोगिधीजन्यत्व के नियम से, प्रतियोगिधी व्यक्ति से भिन्न व्यक्तित्व के आवश्यकत्व होने से, स्व से ही स्वजन्यत्व की अनुपपत्ति है। और ज्ञानान्तर से स्वभेद (घटपटभेद धीभेद) का ग्रहण होने पर कहीं न कहीं भेदधी धारा की विश्रान्ति अवश्य कहनी होगी; क्योंकि अविश्रान्ति होने पर सुषुप्ति और विषयान्तर सञ्चारादिक नहीं होंगे। अतः ज्ञानान्तर से भेदधी भेदग्रहस्थल में भी चरमभेद धी ही स्वभेदाग्रह का उदाहरण है। इस प्रकार चरमधी से स्वभेद कहीं भी गृहीत न होने से, स्वभेद को विषय न करने वाली जो बाधकत्वेन अभिमता घटपटभेदधी भासती है, उसके साथ बाध्यत्वेन अभिमता ऐक्यधी के अभेद का बोधन करती हुई श्रुति निर्बाधा होकर सर्वाभेद में पर्यवसित हो जाती है (जो चरमधी जिन दोनों के भेद को ग्रहण करती है, उन दोनों के साथ

पर्यवस्यति। न ह्यभेदेऽपि बाध्यबाधकभावः स्वस्यापि स्वबाधकतापत्तेः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

'सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते।।' इति।

न च—सिद्धान्ते घटतद्धीभेदग्राहिणा स्वप्रकाशेन साक्षिणा स्वस्मिन्नितरभेदस्यापि ग्रहणान्नानवस्था, अन्यथा स्वस्य घटादिभ्योऽभेदसंशयः स्यादिति—वाच्यम्, साक्षिणः स्वप्रकाशत्वेऽपि स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिकभेदग्रहे इतरप्रतियोग्युपस्थितिसापेक्षत्वात्। अन्यथा स्वस्यान्तःकरणाद्यभेदभ्रमो न स्यात्। स्वप्रकाशेन भेदाग्रहेऽपि मानान्तरेण भेदग्रहान्न घटाद्यभेदसंशय इति न किञ्चिदेतत्। स्यादेतत् 'घटपटौ भिन्नौ'इति प्रत्यक्षं स्वस्याद्वैतज्ञा–नादिना भेदं विनानुपपत्तेस्तमप्याक्षिपतीति सर्वत्र भेदस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि नाद्वैतश्रुतेरवकाशः। अत्रोच्यते—आक्षेपो हि अनुमानमर्थापत्तिर्वा? तत्र विवादाध्यासिता बुद्धिः सर्वतो भिन्नेति नानुमानं सम्भवति, स्वतोऽपि भेदसाधने बाधाद्, छ्टान्तस्य च साध्यविकलत्वात्। यतः कुतश्चिद् भेदसाधने त्वनुमानाविषये लब्धावकाशा श्रुतिरभेदं बोधयिष्यति। न च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

तथा उन दोनों के भेद के साथ, उस चरमधी के अभेद को अद्वैतश्रुति से बोधित करने के कारण वह चरमधी स्वविषयादि से स्वभेद का ज्ञापन करने में असमर्थ होती हुई, अद्वैतश्रुतिबाधकत्वेन उपस्थित नहीं होती। इसी प्रकार पूर्वपूर्वधी भी होने से अद्वैतश्रुति सर्वाद्वैत में पर्यवसित होती है—यह भाव है)। अभेद में भी बाध्यबाधकभाव नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने पर स्वके भी स्वबाधकत्व की आपत्ति है। इस बात को खण्डनकार ने कहा है—"चरमभेद धी से भिन्न विषयरूप सर्वप्रदेशों में भेदग्रहणरूप धावन करती हुई भी, सुषुप्तिलोपाद्यापत्तिरूप श्रान्ति से चरमभेदधीरूपप्रदेश में भेदग्रहणरूप धावन करने में असमर्थ होती हुई बाधबुद्धि की परम्परा अद्वयश्रुनिबाधकत्व की अयोग्यत्वप्राप्ति होने पर विरुद्धविषयकत्वरूपबाधकतावच्छेदक से युक्त अद्वयश्रुतियां से बाधित हो जाती है"; इति।

शंका — सिद्धान्त में घट और घटधी के भेदग्राही स्वप्रकाश साक्षी से अपने में इतरभेद भी गृहीत होने से अनवस्था नहीं; साक्षी से अपने में इतरभेद का ग्रहण न होने पर तो अपने आप घटादिकों से अभेद का संशय होना चाहिये।

समाधान— ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि साक्षी के स्वप्रकाशत्व होने पर भी स्वनिष्ठ इतरप्रतियोगिकभेद के ग्रह में इतर प्रतियोगी की उपस्थिति अपेक्षित है। अनपेक्षितत्व होने पर तो साक्षी का अन्तःकरणादि के साथ अभेदभ्रम होना नहीं चाहिये। और स्वप्रकाश साक्षी से भेद का अग्रह होने पर भी मानान्तर से भेदग्रह होने से साक्षी को घटादि के साथ अभेद का संशय नहीं होता; अतः यह शंका निस्सार है।

शंका — ऐसा ही हो—"घटपटौ भिन्नौ" यह प्रत्यक्ष अपने अद्वैतज्ञानादि से भेद के बिना अनुपपन्न होकर भेद को भी आक्षिप्त करेगा; अतः सर्वत्र भेद का अप्रत्यक्षत्व होने पर भी अद्वैतश्रुति को अवकाश नहीं।

समाधान — इसमें यह उत्तर है— क्या आक्षेप का स्वरूप अनुमान है, अथवा अर्थापत्ति? उनमें "विवादाध्यासिता बुद्धिः सर्वतोभिन्ना, बुद्धित्वात्, बुद्ध्यन्तरवत्" यह अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि स्व से भी भेदसाधन में बाध है और दृष्टान्त का साध्यविकलत्व है और जिस

स्वव्यतिरिक्तात् सर्वतो भिन्नेति साध्यम्, अद्वैतवादिनं प्रत्यप्रसिद्धविशेषणत्वात्। एतेन—सर्वं सर्वस्माद्भिन्नमिति वाक्यमपि निरस्तम्, तदुक्तम्—

'हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः।।' इति।

नाप्यर्थापत्तिः सर्वभेदविषया, स्वाविषयत्वात्। ययोर्हि भेदं विना यत्रानुपपत्तिर्गृहीता, तयोस्तत्र भेदग्रहेऽप्यनुपपत्तावनुपपत्त्यन्तराग्रहणात्। सर्वत्र तद्ग्रहणे तु धाराविश्रान्तौ चरमधीरुदाहरणम्। तदुक्तम्—

'आद्यधीवेद्यभेदीयाप्यन्यथानुपपन्नता।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम्।।' इति।

ननु यावदुपपादकं तत्सर्वमर्थापत्तेर्विषयः, न तु यत्किञ्चिदुपपादकम्, तथा चार्थाप—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

किसी से भेदसाधन में तो अनुमान के अविषय अर्थात् अनुमेयभेद के अप्रतियोगी में अवकाश पाकर श्रुति अभेद का बोधन करेगी।

शंका – "अपने अतिरिक्त सबसे भिन्नत्व" अनुमान का साध्य है।

समाधान— नहीं; क्योंकि अद्वैतवादी के प्रति इस अनुमान का अप्रसिद्धसाध्यत्व है अर्थात् सर्वतोभिन्नत्व साध्य अप्रसिद्ध है। और इस प्रकार साध्य की अप्रसिद्धि से और स्व से स्व के अभेदोपपादन से—" सर्वं सर्वस्माद्भिन्नम्" यह वाक्य भी निरस्त हुआ (यहां पर "अपि" शब्द से अनुमान का संग्रह है; तब तो सर्व को पक्ष करने पर हेतु का अभाव होगा, पक्षगत हेतु में हेतु के अभाव से स्वरूपासिद्धि होगी, अद्वैतमत में साध्य और हेतु में अभेद होने से साध्याविशेष होगा; दृष्टान्त भी पक्षकोटि में आने से असिद्ध होगा)। इस विषय में खण्डनकार ने कहा है—"अद्वैतवादी से हेत्वाद्यभाव और सर्वज्ञत्व आपादित करने पर सर्व को पक्ष करने के लिये पहले प्रवर्तमान तुमसे हेत्वादि करने के लिये पक्ष से बाहर कुछ न कुछ करना होगा, तब तो पक्ष से बहिष्कृत उस स्थल में तुमने अद्वयश्रुति का मार्ग दे ही दिया।" इति। और सर्वभेदविषयिका अर्थापत्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि वह अपने को विषय नहीं करती। (आगे "ययोः" इत्यादि से "स्वाविषयत्व" को स्पष्ट करते हैं)— कारण कि जिन दोनों के भेद के बिना जहां अनुपपत्ति गृहीत होती है, वहां उन दोनों का भेदग्रह होने पर भी अनुपपत्ति में अनुपपत्त्यन्तर का ग्रह नहीं होता (अर्थात्—अद्वैतज्ञान और घटपटभेद प्रत्यक्ष दोनों के भेद के बिना जहां उक्तप्रत्यक्ष के घटपटभेद विषयत्व की अनुपपत्ति गृहीत होती है, वहां इस घटपटभेदविषयत्व की अन्यथाऽनुपपत्ति से अद्वैतज्ञान और उक्तप्रत्यक्ष में भेदग्रह होने पर भी अनुपपत्तिरूप 'अद्वैतज्ञानात् घटपटभेदविषयक प्रत्यक्षस्य भेदं कल्पयामि" इस अर्थापत्तिप्रमा में "अद्वैतज्ञान से भेद के बिना यह अर्थापत्ति प्रमा अनुपपन्न है, ऐसे अनुपपत्त्यन्तर का ग्रह नहीं होता। तब तो उक्त अर्थापत्तिप्रमा में अद्वैतज्ञान से भेदाग्रह होने से अर्थापत्ति सर्वभेदविषयिका नहीं हो सकती)। और उक्तार्थापत्त्यादि सब में भेदग्रह होने पर तो सुषुप्तिलोपादि की आपत्ति से, कहीं अर्थापत्ति धारा की विश्रान्ति होने पर, चरमार्थापत्तिप्रमा ही अद्वैतज्ञानाभेद में उदाहरण है। खण्डनकार ने कहा है—"घटो न पटः" इत्यात्मिका आद्यधी से वेद्य, भेद की संबन्धिनी जो अन्यथानुपपन्नता है अर्थात् अद्वैतज्ञान से भेद के बिना, उक्त आद्यधी के घटपटभेदविषयकत्व की जो अनुपपत्ति है; वह भी अपने में अद्वैतज्ञान से भेद की अपेक्षा होने से, धारा के अन्त में अद्वैतश्रुति को बाध नहीं सकती।"

शंका – जितने उपपादक हैं, (जिनके बिना उपपाद्य का अनुपपन्नत्व अन्यत्र जाना जाता

त्तेरितरस्माद् भेदाभावे तत्रैवाभेदश्रुतेर्लब्धावकाशत्वाद् घटपटभेदासिद्ध्यापत्तेरर्थापत्तिभेदस्यापि घटपटभेदोपपादकत्वेनार्थापत्तिविषयत्वं वाच्यम्, अन्यथा दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिर्ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिश्च स्वमिथ्यात्वविषया न स्यात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इति श्रुतिः 'नेह नाना'इति ब्रह्मणि भेदमात्रनिषेधानुपपत्तिश्च स्वाभेदविषया न स्यात्, तथा च तत्रापि श्रुत्यन्तरमर्थापत्यन्तरं वा वाच्यमिति तवाप्यनवस्थापत्तिरिति। मैवं वोचः, वस्तुत उपपादकत्वं नार्थापत्तिविषयत्वे तन्त्रम्, किन्तूपपादकत्वेन ज्ञातत्वम्, अन्यथा अर्थापत्तिभ्रमानुपपत्तेः, तथा च येन रूपेणोपपादकत्वं गृहीतं, तद्रूपावच्छिन्नमुपपादकमर्थापत्तेर्विषयः। तत्र यद्यर्थापत्तिगतभेदसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकं भवेत्, तथा सोऽपि भायादेव। न चैवमस्ति, तदनिरूपणात्। तथा हि—घटपटभिन्नत्वमुपपाद्यम्, तदुपपादकं च न सर्वभिन्नत्वम्, स्वतोऽपि भेदापत्त्या तदसम्भवात्। नापि स्वातिरिक्तसर्वभिन्नत्वम्; अद्वैतवादिनं प्रति स्वातिरेकविशेषणासिद्धेः, स्वत्वाननुगमाच्च। तथा च तेन तेन रूपेण तत्तद्भिन्नत्वमेव उपपादकमुपेयम्। अत उपपादकतावच्छेदकनानात्वान्न सर्वमुपपादकमर्थापत्तेर्विषय इति पृथक्पृथगनुपपत्तिज्ञानापेक्षायां सर्वत्रानुपपत्तिज्ञाने अनवस्थानात् क्वचिद्धा—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है; वे उपपादक कहे जाते हैं), वे सब अर्थापत्तिप्रमा के विषय हैं, यत्किञ्चित् उपपादक तो विषय नहीं; तब तो अर्थापत्ति प्रमा के अद्वैतज्ञानादि से भेदाभाव होने पर, उस अर्थापत्ति प्रमा में ही अभेदश्रुति के लब्धावकाशत्व होने से, घटपट भेद की असिद्धि की आपत्ति से, अर्थापत्ति प्रमानिष्ठ अद्वैतज्ञानादि भेद भी घटपटभेद के उपपादक होने से अर्थापत्तिप्रमा का विषय कहना होगा; अर्थापत्तिप्रमा के यावदुपपादकविषयत्व का अनङ्गीकार होने पर तो दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्ति और ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्ति दोनों ही स्वस्वमिथ्यात्व विषयिका नहीं होंगी; तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह श्रुति और "नेह नाना" इस वाक्यरूप ब्रह्म में भेदमात्रनिषेध की अन्यथानुपपत्ति दोनों ही स्वस्वमिथ्यात्वविषयिका नहीं होंगी; तब तो उक्त श्रुति और अनुपपत्ति के स्थल में श्रुत्यन्तर अथवा, अर्थापत्त्यन्तर वाच्य होने से तुम्हारे मत में भी अनवस्था की आपत्ति है।

समाधान — ऐसा न कहिये, क्योंकि वस्तुरूप से उपपादकत्व अर्थापत्तिविषयत्व में व्याप्य नहीं ("यत्र वस्तुत्वेनोपपादकत्वम्, तत्रार्थापत्तिविषयत्वम्" ऐसी व्याप्ति नहीं— यह भाव है); किन्तु उपपादकत्वेन ज्ञातत्व व्याप्य है; वस्तुत्वेन उपपादकत्व व्याप्य होने पर तो अर्थापत्तिरूप भ्रम की अनुपपत्ति होगी। तब तो जिस रूप से (जिस धर्म से विशिष्टत्वेन) उपपादकत्व गृहीत होता है, उस रूप से अवच्छिन्न उपपादक अर्थापत्तिज्ञान का विषय है। और उस उपपादक में यदि अर्थापत्तिज्ञानगतभेद में साधारण उपपादकतावेच्छदक धर्म एक हो जाय तो अर्थापनिगतभेद भी भासित ही हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं; कारण कि एक उपपादकतावच्छेदकधर्म का निरूपण किया नहीं जा सकता। तथाहि—घटपटभिन्नत्व अर्थात् घटपटभेदविषयकत्व उपपाद्य है, और उस उपपाद्य का उपपादक सर्वभिन्नत्व (सबसे भिन्नत्व) है; और सर्व में घटपटभिन्नत्व भी आने से उसके स्व से भी भेद की आपत्ति होने से सर्वभिन्नत्व का उपपादक होना असम्भव है; और स्वातिरिक्त सर्वभिन्नत्व भी उपपादक नहीं, क्योंकि अद्वैतवादी के प्रति स्वातिरेक—विशेषण असिद्ध है (कारण कि उनके मत में स्वातिरिक्त कुछ भी नहीं), और स्वत्व का अननुगम है। तब तो उस उस रूप से (तत्तद्धर्मावच्छिन्नत्वेन) तत्तद्भिन्नत्व ही उपपादक मानना होगा। अतः उपपादकतावच्छेदक धर्म के नानात्व होने से सब उपपादक अर्थापत्तिज्ञान के विषय न होने के कारण पृथक्—पृथक्

राविश्रान्तौ तत्रैव लब्धावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति किमनुपपन्नम्? दृष्टान्ते च सर्वत्र स्वसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकमेवेति तदवच्छिन्नतया स्वस्यापि भानमिति वैषम्यम्। तथाहि —दृश्यत्वावच्छिन्नमिथ्यात्वं विना दृक्सम्बन्धानुपपत्तिग्रहात्तदवच्छिन्न-मिथ्यात्वमर्थापत्तेर्विषय इति स्वमिथ्यात्वमपि स्वविषयः, एवमेव ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेरपि स्वविषयत्वम्, तत्रापि दृश्यत्वादेरेकस्यैवावच्छेदकत्वात्। एवं च ब्रह्मणि सर्वाभेदबोधिकायाः श्रुतेर्भेदमात्रनिषेधान्यथानुपपत्तेश्च स्वाभेदविषयत्वमविरुद्धम्। न हि सर्वभेदे स्वभेदापत्तिरिव सर्वाभेदे स्वाभेदो दोषाय। तस्मादद्वैतश्रुतिर्बाध्यबाधकयोरैक्यबोधनेन निराबाधा सर्वाद्वैतं प्रतिपादयति। ननु—शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्, कथमादावल्पविषया बुद्धिः पश्चाद् बहुविषयाऽपि भवतीत्युच्यत इति—चेन्न, श्रुतितो द्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतबुद्धेः प्रामाण्यं व्यस्थापयन्तीनामस्मद्बुद्धीनामेव क्रमेण जायमानत्वात्। अयोग्यताज्ञानं च न शाब्दबोधे प्रतिबन्धकम्, न वा योग्यताज्ञानं हेतुः, येन प्रथमं सर्वाद्वैतबुद्धिर्न स्यात्। तदुक्तम्—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्।।' इति।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अन्यथानुपत्तिज्ञान की अपेक्षा होने पर, सब अनुपपत्तिज्ञानों में अनवस्था होने से कहीं न कहीं अनुपपत्तिज्ञान की धारा—विश्रान्ति होने पर, वहां भी अवकाश प्राप्त करके श्रुति सर्वाद्वैत में पर्यवसित हो जायेगी—इस कथन में कौन सी अनुपपत्ति है? और दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्यादि दृष्टान्त में तो सब अनुपपत्तिज्ञानों में स्व (दृग्दृश्य संबन्धानुपपत्त्यादि) साधारण उपपादकतावच्छेदक धर्म दृश्यत्वादि एक ही होने से, उस अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्नत्व होने के कारण, स्व (दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्यादि) का भी भान है; इसी कारण तुम्हारे मत से वैषम्य है। तथाहि—दृश्यत्वावच्छिन्न दृश्य के मिथ्यात्व के बिना दृक्संबन्धानुपपत्ति के ग्रह से दृश्यत्वावच्छिन्नमिथ्यात्व अर्थापत्तिज्ञान का विषय है; अतः अर्थापत्तिमिथ्यात्व भी अर्थापत्ति का विषय है। इसी प्रकार ही ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्ति का भी स्व (अनुपपत्ति) विषयत्व है; क्योंकि ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्ति में भी दृश्यत्वादि एक ही अवच्छेदक धर्म है। इस रीति से ब्रह्म में सर्वाभेदबोधिका श्रुति और भेदमात्र निषेधान्यथानुपपत्ति दोनों का स्वाभेदविषयकत्व अविरुद्ध है। क्योंकि जैसे सर्वभेदविषयकार्थापत्ति में स्वभेदापत्ति दोष के लिये होती है, वैसे सर्वाभेदविषयकार्थापत्त्यादि में स्वाभेदापत्ति दोष के लिये नहीं होती। इस कारण अद्वैतश्रुति बाध्यबाधकरूप द्वैतज्ञानाद्वैतज्ञान के ऐक्यबोधन में बाधरहित होती हुई सर्वाद्वैत को प्रतिपादित करती है।

शंका— शब्द, बुद्धि और कर्म के रुककर व्यापार न होने से, आदि में अल्पविषयिका बुद्धि ही पश्चात् सर्वाद्वैतरूपबहुविषयिका भी होती है, ऐसा क्यों कहते हो?

समाधान — नहीं, क्योंकि श्रुति से झटिति एक ही बार उत्पन्न सर्वविषयिका अद्वैतबुद्धि के प्रामाण्य को व्यवस्थापित करने वाली, हम लोगों की बुद्धियां ही क्रम से जायमान होती हैं, (अतः श्रुतिजन्याद्वैतबुद्धि बीच में रुककर पुनः चरमावस्था में सर्वाद्वैतविषयिका नहीं होती, प्रथम ही सर्वाद्वैतविषयिका होकर उत्पन्न होती है)। और अयोग्यता का ज्ञान शाब्दबोध में प्रतिबन्धक नहीं होता, अथवा योग्यता का ज्ञान शाब्दबोध में हेतु नहीं होता, ताकि प्रथमसर्वाद्वैतबुद्धि न हो। इस विषय में खण्डनकार ने कहा है—" कलहादिस्थल में अत्यन्तविपरीतत्वेन निश्चित अर्थ में भी शब्द, ज्ञान को उत्पन्न कर ही देता है। ऐसे स्थलों में अनाप्तवाक्यजन्यत्वादि से वाक्यार्थज्ञान का

वेदान्तकल्पलतिकायामस्यार्थस्य प्रपञ्चो द्रष्टव्यः। एतेन—चरमज्ञानमिथ्यात्वेऽपि न तद्विषयस्य मिथ्यात्वम्, ज्ञानमिथ्यात्वस्य विषयमिथ्यात्वासाधकत्वात्, अद्वैतज्ञाने व्यभिचारादिति—निरस्तम्, श्रुत्यैव द्वैतमात्रनिषेध्यत्व(मिथ्यात्व)बोधनात्। अद्वैतज्ञानविषये च मिथ्यात्वबोधकाभावादेव सत्यत्वम्, न तु ज्ञानमिथ्यात्वादिति न किञ्चिदेतत्॥ ननु—द्वैतज्ञानाद्वैतज्ञानयोरभेदे कथं बाध्यबाधकभावः? न च व्यावहारिकभेदमात्रेण सः, द्वैतज्ञानस्यापि बाधकत्वापत्तेः— इति चेन्न, व्यावहारिकभेदमात्रस्य बाधकत्वाप्रयोजकत्वात्। यद्धि परीक्षितप्रमाणभावत्वेन बलवत्, तद् बाधकम्, यत्तु सन्दिग्धप्रमाणभावत्वेन दुर्बलं तद् बाध्यमिति व्यवस्थायां द्वैतज्ञानस्य दुर्बलत्वेनाबाधकत्वस्याद्वैतज्ञानस्य च बलवत्त्वेन बाधकत्वस्य शब्दप्रत्यक्षबलाबलविचारे दर्शितत्वात्। यत्तु—'आपो वा इदं सर्वं भूतम्' (महा.नारा.उ.१४/१) इत्यादिश्रुतिः 'विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वात् जलवत्' इत्यनुमानं वा स्वबाधकस्य जलाभेदं गृहीत्वा निर्बाधं सत् त्वदुक्तन्यायेन सर्वस्य जलाभेदं बोधयेद्—इति, तन्न, जलाभेदबोधनेऽपि बाध्यबाधकयोरैक्याबोधनाद् बाधकस्य बाधकत्वोपपत्तेः, ऐक्यज्ञानभेदज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावस्य जलाभेदज्ञानेनानपायात्। बाधका—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अप्रामाण्य होने पर भी, यहां श्रुत्यर्थ में तो बाधरहित होने के कारण शब्द में स्वतःसिद्धप्रमात्व होने से अप्रामाण्यज्ञान से अनास्कन्दित प्रमा को ही उत्पन्न करता है।'' वेदान्त कल्पलतिका में इस विषय के विस्तृत विचार का अवलोकन करना चाहिये। इस रीति से श्रुति द्वारा अद्वैतबोधन होने से, भेदविषयक चरमज्ञान का मिथ्यात्व होने पर भी, उसके विषयभेद का मिथ्यात्व नहीं; क्योंकि ज्ञानमिथ्यात्व विषयमिथ्यात्व का साधक नहीं होता, कारण कि अद्वैतज्ञान में व्यभिचार है (अद्वैतज्ञान वृत्तिज्ञान होने से मिथ्या है, किन्तु उसका विषय अद्वितीय ब्रह्म मिथ्या नहीं, अतः मिथ्याज्ञान के स्वविषय मिथ्यात्व के साधकत्व में व्यभिचार है) ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि श्रुति से ही द्वैतमात्रनिषेधत्व का बोधन होता है, और अद्वैतज्ञान के विषय मे तो मिथ्यात्वबोधक प्रमाण के अभाव से सत्यत्व है, ज्ञानमिथ्यात्व से तो विषयमिथ्यात्व नहीं; अतः तुम्हारा कथन तो कुछ भी नहीं हुआ।

शंका — द्वैतज्ञान और अद्वैतज्ञान में अभेद होने पर दोनों में बाध्यबाधकभाव कैसे होगा? और वह बाध्यबाधकभाव व्यावहारिक भेदमात्र से नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होने पर द्वैतज्ञान के भी बाधकत्व की आपत्ति है।

समाधान — नहीं, क्योंकि व्यावहारिकभेदमात्र बाधकत्व का प्रयोजक नहीं। कारण कि परीक्षितप्रामाण्यरूप से जो बलवान् है, वही बाधक है, और जो सन्दिग्धप्रामाण्यरूप से दुर्बल. है, वही बाध्य है,— इस प्रकार की व्यवस्था होने पर द्वैतज्ञान के दुर्बलत्व होने से अबाधकत्व और अद्वैतज्ञान के बलवत्त्व होने से बाधकत्व, शब्द और प्रत्यक्ष के बलाबल के विचार में तथा प्रकृतविचार में दर्शित हो चुका है। और—'' यह सर्वभूत जल ही है'' इत्यादिश्रुति, अथवा ''विमत जगत् जलाभिन्न है, प्रतीतत्व होने से, जलवत्'' यह अनुमान स्व (उक्त श्रुति अथवा अनुमान) बाधक के जल के साथ अभेद को ग्रहण करके निर्बाध होता हुआ त्वदुक्तन्याय से सब के जलाभेद को बोधित करें—ऐसा जो कथन है, वह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त श्रुति और अनुमान से जलाभेद का बोधन होने पर भी ''सर्वभूत जल ही है'' इत्यात्मकबाध्यज्ञान और 'ज्ञानपृथिव्यादि जल नहीं'' इत्यात्मकबाधकज्ञान दोनों के ही अभेद के अबोधन से उक्तश्रुत्यनुमान के बाधक का

भेदो हि बाधकत्वाभावे प्रयोजकः, बाधकस्य स्वबाधकत्वादर्शनात्। अतो न बाध्यबाधकैक्यज्ञानस्य जलाभेदज्ञानसाम्यम्। एतेन—सर्वं सर्वस्माद्भिन्नमिति मद्वाक्यमद्वैतवाक्य-तज्ज्ञानतद्विषयाणां तेभ्यो भेदमादौ गृहीत्वा निर्बाधं सत्सर्वभेदे पर्यवस्यतीति—निरस्तम्, बाध्यबाधकयोरभेदे बाधकत्वाभाववत् भेदेऽपि बाधकत्वं न स्यादित्यत्र हेत्वभावात् पूर्वोक्तदोषाच्चेति दिक्। सर्वासत्त्वं सर्वमिथ्यात्वान्नातिरिच्यते, अतः 'सर्वमसत्'इति प्रत्यवस्थानमनवकाशम्। ननु श्रुत्या सर्वस्य मिथ्यात्वं वा बोध्यते, ब्रह्माभिन्नत्वं वा। आद्ये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इति सामानाधिकरण्यं न स्यात्, सत्यानृतयोरैक्यायोगात्। द्वितीये 'इदं रजतम्' 'गौरोऽहम्'इत्यादिभ्रमाणां प्रमात्वं स्यात्, आत्मनि देहादिभेदस्यानृताद्व्यावृत्तेश्च बोधकानां वेदान्तानां 'नेदं रजतम्'इत्यादिबाधकस्य चाप्रामाण्यं स्यात्, घटज्ञानेनैव तदभिन्नब्रह्मतदभेदादेः सर्वस्यापि वस्तुतो ज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्यम्, वेदान्तानां वैयर्थ्यम्, सद्यो मोक्षश्च स्यात्, सुखदुःखबन्धमोक्षभेदाऽभेददूषणभूषणजयपराजयभ्रान्तिप्रमादेरपि वस्तुतो भेदा-भावेन सर्वसङ्करापत्त्या स्वक्रिया—स्वन्याय—स्ववचनविरोधाश्च स्युरिति—चेन्न, आद्ये 'मृद् घटः', 'इदं रजतम्'इत्यादाविव उपादानोपादेयभावेनापि सामानाधिकरण्योपपत्तेः। द्वितीये

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

बाधकत्व हो सकता है, कारण कि उक्त अभेदज्ञान और भेदज्ञान के बाध्यबाधकभाव का निवारण जलाभेदज्ञान से नहीं होता। और बाधक से बाध्याभेद ही बाधकत्व के अभाव में प्रयोजक है; क्योंकि बाधक का स्व (बाधक) बाधकत्व देखने में नहीं आता। अतः बाध्यबाधका भेदज्ञान अर्थात् सर्वाद्वैतज्ञान का जलाभेदज्ञान के साथ साम्य नहीं। और वक्ष्यमाण हेतु से—"सबसे सब भिन्न है" यह मेरा वाक्य अद्वैतवाक्य, अद्वैतवाक्यभान, भानविषय, तीनों के भेद को उनसे पहले ही (तीनों से पहले ही) ग्रहण करके निर्बाध होता हुआ सर्वभेद में पर्यवसित होता है—यह कथन निरस्त है; क्योंकि बाध्यबाधक का अभेद होने पर, बाधकत्वाभाव के समान बाध्यबाधक के भेद में भी बाधकत्वाभाव होने में हेतु का अभाव है, और पूर्वोक्तदोष भी है (सर्व से सर्वभेदज्ञान के स्व से भी भेदसिद्ध्यापत्ति से बाधकत्वाभाव की आपत्ति और उस भेदज्ञान का स्वातिरिक्त सर्वभेद विषयकत्व होने पर बाध्य में अद्वैतवादी के प्रति असिद्धि—इत्यादि पूर्वोक्त दोष हैं— यह भाव है) इति दिक्। और प्रत्यक्षादि से गृह्यमाण प्रपञ्च का अलीकत्वरूप असत्त्व असिद्ध होने से सर्वासत्त्व सर्वमिथ्यात्व के अतिरिक्त नहीं; अतः "सर्वमसत्" इस प्रकार प्रत्यवस्थान का भी अवकाश नहीं।

शंका — क्या "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुति से सब का मिथ्यात्व बोधित है, अथवा ब्रह्मभिन्नत्व बोधित है? आद्य में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस प्रकार दृश्यप्रपञ्च और ब्रह्म का एकविभक्ति से प्रतिपादनरुप सामानाधिकरण्य नहीं होगा; क्योंकि सत्य और अनृत का ऐक्य नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष में—"इदं रजतम्" "गौरोऽहम्" इत्यादि भ्रमों का प्रमात्व होगा (क्योंकि ब्रह्मभिन्नत्वेन सब एक हैं); इसी प्रकार आत्मा में देहादि से भेद और अनृतादि से व्यावृत्तिबोधक वेदान्तवाक्य और "नेदं रजतम्" इत्यादि बाधक — इन सबका अप्रामाण्य होगा (क्योंकि सब का सर्वाभिन्नब्रह्माभेद होने से सर्वाभिन्नत्व); और घटज्ञान से ही घटाभिन्नब्रह्म, ब्रह्माभेदादि सबके भी वस्तुतः ज्ञातत्व होने से सर्वज्ञत्व, वेदान्तों का वैयर्थ्य और सद्यो मोक्ष भी होंगे, और सुख—दुःख, बन्ध—मोक्ष, भेदाभेद, दूषण—भूषण, जय—पराजय, भ्रान्ति—प्रमादि सब में भी वस्तुतः भेदाभाव होने से सर्वसंकारापत्ति होने के कारण स्वक्रिया, स्वन्याय और स्ववचन—इन सबसे विरोध होगा।

समाधान — नहीं, क्योंकि आद्य पक्ष में—"मृद् घटः" इत्यादि के समान उपादानोपादेयभाव

वस्तुतो भेदाभावेऽपि आविद्यकभेदमादाय सर्वव्यवस्थोपपत्तेः। न च—भेदस्याप्यना— विद्यकब्रह्माभिन्नत्वेनाविद्यकत्वायोग इति—वाच्यम्, आविद्यकत्वस्याप्याविद्यकत्त्वमे(स्यै)— वाङ्गीकारात्, अथाविद्यकत्वस्यापि ब्रह्माभिन्नत्वात् कथमाविद्यकत्वमिति चेत्, तस्मिन्नपि तस्य कल्पितत्वादिति गृहाण। ननु—मुक्तावाविद्यकस्यापि भेदस्याभावेनानन्दस्य दुःखाभिन्नत्वेनापुरुषार्थत्वापातः, तत्तदसाधारणस्वभावस्य तत्र तत्राभावेऽपि तत्तदभेदे पारिभाषिकोऽयमभेदो भेदे पर्यवस्येत्, असाधारणरूपेण भेदमभ्युपेत्य सद्रूपेण भेदनिषेधेऽपि इष्टापत्तिरप्रसक्तनिषेधश्चेति—चेन्न, एकस्यामेव ब्रह्मव्यक्तौ तत्तदसाधारणस्वभावानां कल्पितत्वेनासत्त्वात् सर्वकल्पनानिषेधकाले कल्पितधर्मावच्छिन्नभेदाभेदादिप्रसक्तेरयोगात्। अत एव नाप्रसक्तप्रतिषेध इष्टापत्तिर्वा, 'सद् द्रव्यम्' 'सन् गुणः' इत्यादिप्रतीत्या प्रसक्तानां तत्तद्धर्माणां ब्रह्मणि प्रतिषेधात्। अतः सर्वधर्मशून्याया एकस्या एव सद्व्यक्तेश्चिदानन्दरूपायाः प्रतिपादनान्न पारिभाषिकोऽयमभेद इति सिद्धम्। तदेवम् 'सर्वं ब्रह्माभिन्नम्' इति मते मिथ्याभूतस्य ब्रह्मभेदेऽपि सन्मात्रमेव ब्रह्माभिन्नमिति मते वा न प्रत्यक्षादिविरोधः, नापि पूर्वोत्तरविरोधः।

इत्यद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से सामानाधिकरण्य तथा "इदं रजतम्" इत्यादि के समान सत्य और अनृत में भी सामानाधिकरण्य की उपपत्ति है। द्वितीय पक्ष में भी वस्तुतः भेदाभाव होने पर भी आविद्यक भेद को लेकर सर्वव्यवस्था की उपपत्ति है।

शंका— भेद का भी अनाविद्यक ब्रह्म से अभिन्नत्व होने से आविद्यकत्व अयुक्त है।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि आविद्यकत्व को भी आविद्यक ही माना जाता है।

शंका— आविद्यकत्व का भी ब्रह्माभिन्नत्व होने से कैसे आविद्यकत्व है?

समाधान — उस ब्रह्म में आविद्यकत्व का भी कल्पितत्व होने से आविद्यकत्व समझो।

शंका— मुक्त्यवस्था में आविद्यक भेद का भी अभाव होने से आनन्द का दुःख से अभिन्नत्व होने से अपुरुषार्थत्व का आपात होगा; और दुःखादितत्तद्व्यक्तिमात्रवृत्ति असाधारणस्वभाव का मोक्षानन्दादि तत्तद्व्यक्ति में अभाव होने पर भी दुःखादि तत्तद्व्यक्ति के साथ अभेद में, यह अभेद पारिभाषिक होता हुआ भेद में ही पर्यवसित हो जायेगा और असाधारण रूप से भेद को मानकर सदभिन्नत्वेन भेदनिषेध में भी इष्टापत्ति है और अप्रसक्तप्रतिषेध भी है।

समाधान— नहीं; क्योंकि एक ही ब्रह्मव्यक्ति में दुःखत्वाऽपुरुषार्थत्वादि तत्तदसाधारणस्वभावों का कल्पितत्व होने के कारण असत्त्व अर्थात् निषेधयोग्यत्व होने से, सर्वकल्पना के निषेधकाल से उपलक्षित मुक्तात्मादि में, कल्पितधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद और अभेदादि की प्रसक्ति का अयोग है। इस प्रकार द्वितीयमात्र के सद्रूप ब्रह्म में कल्पितत्व होने से ही अप्रसक्तप्रतिषेध अथवा इष्टापत्ति नहीं, क्योंकि "सद् द्रव्यम्", "सन् गुणः" इत्यादि प्रतीति से प्रसक्त, तत्तद्धर्म अर्थात् भेद और द्रव्यगुणादिरूप भेदों का ब्रह्म में प्रतिषेध है। अतः सर्वधर्मशून्य एक ही चिदानन्दरूप सद्व्यक्ति का प्रतिपादन होने से यह अभेद पारिभाषिक नहीं— यह सिद्ध हुआ। इसलिये " सर्वं ब्रह्माभिन्नम्" इस मत में, अथवा " मिथ्याभूत प्रपञ्च का ब्रह्म से भेद होने पर भी सन्मात्र ही ब्रह्माभिन्न है" इस मत में प्रत्यक्षादि से विरोध नहीं, और पूर्वोत्तरमीमांसा से भी विरोध नहीं।

इत्यद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।

३६: अथ एकमेवेत्यादिश्रुत्यर्थविचारः

ननु—यद्यपि 'सलिल एको द्रष्टा अद्वैतः' (बृ.४/३/३२) इत्यत्र सलिलशब्दस्य तत्सादृश्यस्वच्छत्वमात्रपरत्वात् तस्य च सर्वमलासंसर्गित्वस्वरूपस्याद्वैतेऽप्युपपत्तेः, ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' इत्यत्र चाग्रपदस्य ''तदैक्षत नामरूपे व्याकरोत्'' इत्यादेश्च कालेक्षणनामरूपात्मकप्रपञ्चप्रापकस्याविद्यकद्वैतविषयकत्वेन वास्तवाद्वैतविरोधित्वाभावः। तथापि ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' इत्यनेन इदं शब्दोदितस्य विश्वस्य सदभेदेन सत्त्वमुक्त्वा पुनरद्वितीयपदेन तन्निषेधे व्याघातः, न हि 'सदासीत्' इत्यस्य सदासीदित्यर्थ इतिचेत्, न,सद्व्यतिरेकेण नासीदित्यर्थस्यैव निषेधार्थत्वात्। विवृतं चैतत् भाष्यकारादिभिरारम्भणाधिकरणे। न च—सद्व्यतिरेकेणासत्त्वोक्तौ सदात्मना सत्यत्वमा—गच्छतीति—वाच्यम्, आगच्छतु नाम, को हि ब्रह्माभिन्नस्यासत्त्वसाधनाय प्रवृत्तो यो बिभीयात्। अद्वैतवाक्यस्य च षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया बलवत्त्वेनाविद्यकद्वैतप्रतिपादकत्वं सृष्ट्यादिवाक्यानामिति श्रवणस्वरूपनिरूपणे वेदान्तकल्पलतिकायामभिहितमस्माभिः। इहाप्यभिधास्यते षड्विधतात्पर्यलिङ्गानि प्रदर्शयद्भिः। अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञयोपक्रमात् ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'' इत्युप—संहाराच्च अद्वैतस्यैव महाप्राकरणिकतया तदनुसारेण तद्वाक्यस्थपदानां व्याख्येयत्वाव—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — (पूर्वोत्तरमीमांसा से विरोध नहीं— इस सिद्धान्ती के कथन को सुनकर शंका करते हैं)— यद्यपि ''सलिल (जल) के समान स्वच्छ एक अद्वैत द्रष्टा है'' इस श्रुति में सलिलवाचकशब्द के सलिल सादृश्यस्वच्छत्वमात्रपरत्व होने से और सर्वमलसंसर्गाभावस्वरूप स्वच्छत्व की अद्वैत में भी उपपत्ति होने से अद्वैतविरोधित्व का अभाव है, और वैसे ही 'हे प्रियदर्शन! सृष्टि से अग्र यह दृश्यमान प्रपञ्च सदभिन्न ही था'', इसमें अग्रपद, '' उसने ईक्षण किया'', ''नाम और रूप को अभिव्यक्त किया'' इत्यादिश्रुतिवाक्य जो काल, ईक्षण, नामरूपात्मक प्रपञ्च के प्रापक हैं, उन सबका आविद्यक द्वैतविषयकत्व होने से वास्तव में अद्वैत से विरोधित्व का अभाव है; तथापि ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' इस वाक्य से इदं शब्द द्वारा कथित विश्व के सदभेद से सत्त्व को कहकर पुनः अद्वितीयपद से प्रपञ्च में प्रतीत उस सत्त्व का निषेध होने से व्याघात है; क्योंकि ''सदासीत्'' इस वाक्य का अर्थ ''असदासीत्'' तो नहीं होता।

समाधान -- ऐसा नहीं, क्योंकि सत् से व्यतिरिक्त होकर नहीं था—अद्वितीय पद से निषेध का यही अर्थ है। और यह बात भाष्यकारादियों ने आरम्भणाधिकरण (वे.द.२/१/सू.१४—२०) में कही है।

शंका — सत् से व्यतिरिक्त होकर असत्त्व कहने पर तो सत्रूप से सत्यत्व सिद्ध होगा।

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि सत्रूप से सत्यत्व सिद्ध हो जाय, कौन ब्रह्माभिन्न के असत्त्वसाधन के लिये प्रवृत्त है, जो आप से भय करे? और अद्वैतवाक्य के षड्विध तात्पर्य लिङ्गवत्त्व होने से बलवत्त्व होने के कारण सृष्ट्यादि वाक्यों का आविद्यकद्वैत प्रतिपादकत्व है— यह बात हमने वेदान्तकल्पलतिका में श्रवणस्वरूपनिरूपण में कही है। यहां भी ''भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः'' प्रकरण में षड्विधतात्पर्यलिङ्ग को प्रदर्शन करते हुए कहेंगे। अतः एकविज्ञान से सर्वविज्ञान, की प्रतिज्ञा से उपक्रम होने और ''यह सब यही सद्रूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है'' इस प्रकार उपसंहार से, अद्वैत के ही महाप्राकरणिकत्व होने से अद्वैत

धारणात्, नानार्थपदानामर्थान्तरोपस्थापकत्वसम्भवेऽपि प्रकृतवाक्यार्थानन्वयितया तत्परित्यागेन प्रकृतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितिपरत्वमेवास्थेयम्। तत्र न द्वितीयमद्वितीयमिति तत्पुरुषा-भ्युपगमे न द्वितीयम्, किन्तु प्रथमं तृतीयं चेत्यर्थः स्यात्, स च न सम्भवति, तयोरपि किञ्चिदपेक्ष्य द्वितीयत्वात्। अतो न विद्यते द्वितीयं यत्रेति बहुव्रीहिरेवादरणीयः।

न च—एकेनैवाद्वितीयपदेन भेदत्रयनिषेधसम्भवे एकावधारणपदयोर्वैयर्थ्यमिति वाच्यम्, विजातीयं किञ्चिदपेक्ष्य द्वितीयत्वावच्छिन्ननिषेधस्याद्वितीयशब्दार्थत्वात्। अयं चात्र सङ्कोचो बलीवर्दपदसन्निधानाद् गोपद इव सजातीयस्वगतभेदनिषेधकैका-वधारणपदसन्निधिप्रयुक्त एव। तदुक्तम्—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः।।
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
एकावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्।। इति।

स्वगतभेदः नानात्वरूपजीवेश्वरभेदः। सजातीयभेदोऽत्र द्रव्यत्वादिना सजातीय-पृथिव्यादिभेदः। विजातीयभेदो गुणादिभेदः। अथवा जडभेदो विजातीयभेदः। चैतन्यभेदः सजातीयभेदः। ज्ञानानन्दादिधर्मभेदः स्वगतभेदः। यदि च "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते नाश्वो न गर्दभः" इति महाभाष्यानुसारात् समानजातीयद्वितीयपरत्वं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के अनुसार महाप्राकरणिक वाक्यस्थ अद्वितीयादि पदों के व्याख्येयत्व के अवधारण से, नानार्थक पदों के अर्थान्तरोपस्थापकत्व सम्भव होने पर भी, "एकमेवाद्वितीयम्" इस प्रकृतवाक्यार्थ के अनुकूल पदार्थोपस्थितिपरत्व ही स्वीकार्य है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर "न द्वितीयमद्वितीयम्" इस प्रकार तत्पुरुषसमास का अभ्युपगम होने पर—द्वितीय नहीं; किन्तु प्रथम और तृतीय है— ऐसा अर्थ होगा, और वह अर्थ सम्भव नहीं; क्योंकि प्रथम और तृतीय का भी किसी की अपेक्षा से द्वितीयत्व है; अतः "न विद्यते द्वितीयं यत्र" ऐसा बहुव्रीहि समास ही आदरणीय है।

शंका — एक ही अद्वितीयपद से भेदत्रय का निषेध सम्भव होने पर एक और एव (अवधारण) दोनों पदों का वैयर्थ्य है।

समाधान — ऐसा न कहो; क्योंकि किसी विजातीय की अपेक्षा को लेकर द्वितीयत्वावच्छिन्न का निषेध अद्वितीयशब्दार्थ है अर्थात् विजातीय द्वितीयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकनिषेधार्थक अद्वितीय शब्द है। यहां पर यह संकोच अर्थात् द्वितीयपद का विजातीयद्वितीयपरत्व— जिस प्रकार बलीवर्द पद के सन्निधान से अनेकार्थक गोपद का संकुचित अर्थ होता है,उसी प्रकार सजातीय और स्वगत भेद के निषेधक एक पद और एवकार के सन्निधान से प्रयुक्त ही है। इस विषय में कहा है—" पत्र पुष्प फलादि से वृक्ष का स्वगत भेद है, वृक्षान्तर से भेद सजातीय है और शिलादि से भेद विजातीय है। उसी प्रकार एकपद, एवकार और अद्वितीयपद से क्रम से सद्वस्तु में प्राप्त सजातीय भेद, स्वगतभेद और विजातीय भेद इन भेदत्रय का निवारण किया जाता है।" इति। स्वगतभेद नानात्वरूप जीवेश्वर भेद है, और यहां सजातीय भेद द्रव्यत्वादि से सजातीयपृथिव्यादि भेद है। और विजातीय भेद तो गुणादिभेद है। अथवा जडभेद विजातीय भेद है, चैतन्य भेद सजातीय भेद है और ज्ञानानन्दादिधर्म भेद स्वगत भेद है। और यदि "इस गौ का द्वितीय अन्वेष्टव्य है—ऐसा उक्त होने पर द्वितीय—गौ का ही अन्वेषण किया जाता है, न अश्व का न तो गर्दभ का" इस महाभाष्य के अनुसार से द्वितीयशब्द

द्वितीयशब्दस्य, तदा अद्वितीयशब्दस्य सजातीयभेदनिषेधपरत्वम्, विजातीयस्वगतभेदनिषेध–परत्वं तु एकावधारणपदयोर्यथेष्टं व्याख्येयम्। अथवा अद्वितीयपदेनैव भेदत्रयनिषेधः, एकावधारणपदे तु सङ्कोचशङ्कापरिहाराय। यत्तु केनचित् प्रलपितं–द्वितीयशब्दः सहायवाची, 'असिर्द्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्'इति प्रयोगात्। 'असिद्वितीयः – असिसहायः' इति महाभाष्योक्तेश्च। तथा चाद्वितीयमसहायमित्यर्थोऽस्तु। एवमेकशब्दस्यापि नानार्थत्वेनाविरुद्धार्थ–मादायोपपत्तौ न मिथ्यात्वपर्यवसायिताऽऽस्थेया। तथा च 'एके मुख्यान्यकेवला' इत्यमरः, 'एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसङ्ख्याप्रथमसमानवाची'इति 'एको गोत्रे' इति सूत्रे कैयटः। "ष्णान्ता षट्" इति सूत्रे महाभाष्यकारोऽपि एकशब्दोऽयं बह्वर्थः, अस्ति सङ्ख्यार्थः, अस्त्य–सहायवाची, अस्त्यन्यार्थ इत्यादि व्याख्यातवान्, तथा च जीवादिभ्योऽन्यत्वं प्राधान्यं वा एकशब्दार्थोऽस्तु। एवमन्यान्यपि श्रुतिपदानि व्याख्येयानि–इति, तत् पूर्वोक्तयुक्तिभिरपास्तम्। विस्तरेण च वक्ष्यते तात्पर्यनिरूपणे। तदेवं सद्रूपे ब्रह्मणि पदत्रयेण भेदत्रयनिषेधात् तद्भिन्नमिथ्यात्वे पर्यवसितम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति वाक्यम्। एवमन्या अपि श्रुतयः स्मृतयश्च ग्रन्थविस्तर–भयान्नोदाहृताः। स्वयेमेव सूरिभिराकरे द्रष्टव्याः।

इत्यद्वैतसिद्धौ सर्वाद्वैतश्रुतेः अद्वैततात्पर्यकत्वनिर्णयः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का समानजातीयद्वितीयपरत्व है, तो अद्वितीय शब्द का समानजातीय भेदनिषेधपरत्व है, और एकपद और एवकार के तो विजातीय–स्वगत–भेदनिषेधपरत्व का तो इच्छानुसार व्याख्यान करना चाहिये। अथवा, अद्वितीय पद से ही भेदत्रयनिषेध है, और एक पद तथा एवकार तो संकोचशंकापरिहार के लिये है, अर्थात्, ब्रह्म के स्वगतभेद का ही निषेध हो– ऐसे संकोच की शंका के परिहारार्थ है। जो किसी ने प्रलाप किया है–''द्वितीय शब्द सहायकवाची है; क्योंकि ''असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्'' अर्थात् तलवारमात्र सहायक होकर पाण्डवों का अनुसरण किया'' ऐसा प्रयोग होता है, और ''असिद्वितीयः= असिसहायः'' ऐसी महाभाष्योक्ति है; तब तो श्रुति के अद्वितीय शब्द का अर्थ असहाय हो, इसी प्रकार एक शब्द का भी अनेकार्थकत्व होने से अविरुद्ध अर्थ को लेकर सम्भव होने पर मिथ्यात्व में पर्यवसान नहीं मानना चाहिये। जैसे कि ''एक शब्द का अर्थ–मुख्य, अन्य और केवल है'' यह अमरकोश है, '' यह एक शब्द–अन्य, प्रधान, असहाय, संख्या, प्रथम और समान वाची है'' इस प्रकार ''एको गोत्रे'' इस सूत्र की टीका में कैयट का कथन है; और ''ष्णान्ता षट्'' इस सूत्र के महाभाष्य में भी महाभाष्यकार ने ''यह एक शब्द बह्वर्थक है, यह पंख्यार्थक है, असहायवाची है, अन्यार्थक है,'' इत्यादि व्याख्यान किया है। तब तो एक शब्द का अर्थ जीवों से अन्यत्व अथवा प्रधानत्व हो। इसी प्रकार अन्य श्रुति पदों का भी व्याख्यान करना चाहिये– यह प्रलाप भी ''अद्वैतब्रह्मणः प्राकरणितया'' इत्यादि पूर्वोक्तयुक्तियों से खण्डित हुआ। और विम्तार से यह तात्पर्य निरूपण (भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्ग) में कहा जायेगा। इस प्रकार सद्रूप ब्रह्म में पदत्रय द्वारा भेदत्रय के निषेध से ब्रह्मभिन्न यावत्प्रपञ्च के मिथ्यात्व में ''एकमेवाऽद्वितीयम्'' यह श्रुति वाक्य पर्यवसित हुआ और वैसे ही अन्य श्रुति और स्मृतियों का उदाहरण तो ग्रन्थविस्तरभय से नहीं दिया गया है। स्वयं ही बुद्धिमानों को भाष्यादि–आकर में देखना चाहिये।

इत्यद्वैतसिद्धौ सर्वाद्वैतश्रुतेरद्वैततात्पर्यकत्वनिर्णयस्य राष्ट्रभाषानुवादः।।

३७: अथ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः

"तराति शोकमात्मवित्" (छा.७/१/२) तथा "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः"(मु. ३/२/८) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।" (मु. २/२/८) इत्यादिश्रुतिबोधितज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिरपि बन्धमिथ्यात्वे प्रमाणम्, सत्यत्वे ब्रह्मवदनिवर्त्यत्वापत्तेः। तथा हि—शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादौ ज्ञाननिवर्त्ये न तावत्तत्तद्रूपवत्त्वं ज्ञाननिवर्त्यतावच्छेदकम्, अननुगमात्, किन्तु सर्वानुगतं मिथ्यात्वमेवा—ज्ञानकल्पितत्वापरपर्यायमवच्छेदकम्। एवं ज्ञानस्यापि तन्निवर्तकत्वे न शुक्त्यादिविषय—त्वमवच्छेदकम्, अननुगमात्, किन्तु सर्वानुगतमधिष्ठानप्रमात्वमेव। तथा च यत्र ज्ञानस्या—धिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता, तत्र मिथ्यात्वेनैव निवर्त्यतेति नियमः सिध्यति। एतादृशनिय—मानभ्युपगमे चानन्तनियमकल्पनागौरवरूपो बाधकस्तर्कः। तथा हि—यन्निष्ठा यदाकारा प्रमारूपान्तःकरणवृत्तिरुदेति, तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमस्य सिद्धत्वात्, उपादाननाशस्य चोपादेयनिवर्तकत्वात्, शुक्त्यादिज्ञानेन तत्तदाकाराज्ञाननाशे तदुपादेयानां रजतादीनां निवृत्तिरौचित्यावर्जितैवेति नियमान्तराकल्पनेन लाघवमनुकूलस्तर्कोऽस्मत्पक्षे। अज्ञानोपादेयत्वं च शुक्तिरजतादीनामन्वयव्यतिरेकसिद्धमग्रे स्थास्यति। एवं स्थिते कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्यात्मप्रमानिवर्त्यत्वे तदज्ञानकल्पितत्वमेव तत्रावच्छेदकं कल्प्यते, न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

"आत्मज्ञानी शोकोपलक्षित दुःखहेतु संसार से पार हो जाता है", तथा "आत्मवित् विद्वान् नाम और रूपात्मक प्रपञ्च से विमुक्त है", उस परावररूप परमब्रह्म के साक्षात्कार होने पर अहंकार रूप हृदयग्रन्थि का नाश होता है, सर्वसंशय उच्छिन्न होते हैं और उसके सर्वकर्म क्षय को प्राप्त होते हैं", इत्यादि श्रुतियों से बोधित, ज्ञाननिवर्त्यत्व की अन्यथानुपपत्ति भी बन्धरूप दृश्यमात्र के मिथ्यात्व में प्रमाण है; क्योंकि दृश्य प्रपञ्च के सत्यत्व होने पर ब्रह्मवत् अनिवर्त्यत्व की आपत्ति है। तथाहि — ज्ञाननिवर्त्य शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्पादि में शुक्तिरूप्यत्वादि तत्तद्रूपवत्त्व ज्ञाननिवर्त्यता का अवच्छेदक नहीं, क्योंकि यावत् ज्ञाननिवर्त्य में उसका अननुगम होता है; किन्तु अज्ञानकल्पितत्व है अपरपर्याय जिसका, ऐसा मिथ्यात्व ही ज्ञाननिवर्त्यतावच्छेदक है। इसी प्रकार ज्ञान के भी शुक्तिरूप्यादि के निवर्तकत्व में शुक्त्यादिविषयकत्व अवच्छेदक नहीं, क्योंकि उसमें भी अननुगम है किन्तु सर्वानुगत अधिष्ठानप्रमात्व ही अवच्छेदक है। तब तो जिस स्थल में ज्ञान की अधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता है, उस स्थल में मिथ्यात्वेन ही निवर्त्यता है— यह नियम सिद्ध होता है और इस प्रकार के नियम का अङ्गीकार न होने पर अनन्तनियम— कल्पना का गौरवरूप बाधक तर्क है। तथाहि— संयोगादि संबन्ध से यद्विषयनिष्ठ यद्विषयाकार प्रमारूप अन्तःकरणवृत्ति उदित होती है, वह तद्विषयनिष्ठ तद्विषयाकार अज्ञान को नष्ट करती है, यह नियम सिद्ध होने से, और उपादाननाश उपादेय के निवर्तक होने से शुक्त्यादि ज्ञान द्वारा शुक्त्याद्याकार अज्ञान के नाश होने पर शुक्त्याद्यज्ञान से उपादेय रजतादियों की निवृत्ति औचित्य से अवर्जित ही है अर्थात् उचित ही है। इस कारण नियमान्तर की अकल्पना से हमारे पक्ष में लाघवरूप अनुकूल तर्क है। और शुक्तिरजतादिकों का अज्ञान से उपादेयत्व तो अन्वय—व्यतिरेक द्वारा सिद्ध है— यह बात आगे कही जायेगी। इस प्रकार स्थित होने पर, सम्पूर्ण प्रपञ्च का आत्मप्रमाजन्य आत्मविषयकाज्ञान के नाश से निवर्त्यत्व होने पर, आत्मविषय का ज्ञानकल्पितत्व ही उक्तनिवर्त्यत्व का अवच्छेदक

त्वननुगतमाकाशत्वादि, न वा ब्रह्मभिन्नत्वं सद्भिन्नत्वं वा सर्वानुगतमपि, तुच्छेऽतिप्रसक्तेः, तद्वारकविशेषणप्रक्षेपे तु सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वमेव निवर्त्यताप्रयोजकं पर्यवसितम्। अन्यथा नियमान्तरकल्पनागौरवापत्तेः तथा च शुक्त्यादिज्ञानस्य येन रूपेण निवर्तकत्वं, तेन रूपेणात्मज्ञानस्य निवर्तकत्वम्। रूप्यादौ येन रूपेण निवर्त्यत्वम्, प्रपञ्चे तद्रूपं विनानुपपद्यमानं स्वोपपादकतया तत्र तत् कल्पयतीति सिद्धं मिथ्यात्वम्।

ननु—भवेदेतदेवम्, यद्यात्मज्ञानस्य प्रपञ्चे निवर्त्ये शुक्त्यादिज्ञानसाधारणमधिष्ठान प्रमात्वमेवावच्छेदकमित्यत्र किञ्चिन्मानं भवेद्, रूपान्तरेणापि निवर्तकत्वसम्भवात्। श्रुतिस्तु द्वैतप्रपञ्चस्याद्वितीयात्मज्ञानं निवर्तकमित्येतावन्मात्रे प्रमाणम्, न त्ववच्छेदकविशेषेऽपि। न च ज्ञाननिवर्त्यतामात्रान्मिथ्यात्वसिद्धिः। सेतुदर्शनादिनिवर्त्यदुरितादिषु व्यभिचारात्। तत्र विहितक्रियात्वादिना निवर्तकत्वान्न व्यभिचार इति चेत्, प्रकृतेऽपि रूपान्तरं नावच्छेदकमिति कुतो निरणायि? ज्ञानस्य हि स्वप्रागभावं प्रति प्रतियोगित्वेन निवर्तकता, पूर्वज्ञानादिकं प्रति तु उत्तरविरोधिगुणत्वेन, संस्कारं प्रति फलत्वेन, रागादिकं प्रति विषयदोषदर्शनत्वेन, विषं प्रति गरुडध्यानत्वेन, सेत्वादिदर्शनस्य दुरितं प्रति विहित—क्रियात्वेन, एवञ्च मिथ्यात्वं विनापि ज्ञाननिवर्त्यत्वदर्शनात् न तन्मिथ्यात्वस्य साधकम्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

निश्चित है, अननुगत आकाशत्वादि तो अवच्छेदक नहीं; और सर्वानुगत होने पर भी ब्रह्मभिन्नत्व अथवा सद्भिन्नत्व भी अवच्छेदक नहीं, क्योंकि तुच्छ में अतिव्याप्ति है और तुच्छवारक विशेषण का प्रक्षेप होने पर तो सदसद्विलक्षणत्वरूप मिथ्यात्व ही निवर्त्यता का अवच्छेदक पर्यवसित है। अन्यथा— अर्थात्, इस पर्यवसितत्व को नहीं मानेंगे तो नियमान्तरकल्पना की गौरवापत्ति है। तब तो यह सिद्ध हुआ कि शुक्त्यादिज्ञान का जिस रूप से (अधिष्ठान प्रमात्वरूप से) निवर्तकत्व है; उस रूप से आत्मज्ञान का निवर्तकत्व है। और रूप्यादि में जिस रूप से (मिथ्यात्व रूप से) निवर्त्यत्व है, प्रपञ्च में निवर्त्यत्व उस रूप के बिना अनुपपद्यमान होता हुआ स्वोपपादकत्वेन (निवर्त्यत्वोपापकत्वेन) प्रपञ्च में उस (मिथ्यात्व) रूप को कल्पित करता है, इस कारण प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध है।

शंका — यह वैसा सिद्ध तो हो जाय, यदि प्रपञ्च के निवर्त्यत्व में आत्मज्ञान का शुक्त्यादि ज्ञानसाधारण अधिष्ठानप्रमात्व ही अवच्छेदक है— इसमें कोई प्रमाण हो, क्योंकि रूपान्तर से भी (विहितक्रियात्वरूप से भी) निवर्तकत्व सम्भव है; श्रुति तो द्वैतप्रपञ्च का अद्वितीयात्मज्ञान निवर्तक है— इतने मात्र में प्रमाण हैं, अवच्छेदक विशेष तो प्रमाण नहीं। और ज्ञाननिवर्त्यता मात्र से प्रपञ्चमिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि ''यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वम्, तत्र मिथ्यात्वम्'' इस व्याप्ति का सेतुबन्धदर्शन से निवर्त्य दुरितादि में (पापादि में) व्यभिचार है (क्योंकि सेतुदर्शनरूपज्ञाननिवर्त्यत्व दुरितादि में है; किन्तु मिथ्यात्व नहीं) और दुरितादि निवर्तकज्ञान में विहितक्रियात्वादिरूप से निवर्तकत्व होने से व्यभिचार नहीं है तो प्रकृत निवर्तक शुक्तिज्ञानादि में अधिष्ठानज्ञानत्व से भिन्न रूपान्तर अवच्छेदक नहीं —ऐसा तुमने कैसे निर्णय किया? क्योंकि ज्ञान की स्वप्रागभाव के प्रति प्रतियोगित्वरूप से निवर्तकता है, और पूर्वज्ञानादि के प्रति तो उत्तरविरोधिगुणत्वेन ज्ञान की निवर्तकता है; संस्कार के प्रति स्मृतिज्ञान की फलत्वेन निवर्तकता है; रागादि के प्रति विषयदोषदर्शनत्वेन ज्ञान की निवर्तकता है; विष के प्रति गरुडध्यानत्वेन ज्ञान की निवर्तकता है और सेत्वादिदर्शन की दुरित के प्रति विहितक्रियात्वेन निवर्तकता है; इसी प्रकार से मिथ्यात्व के बिना भी ज्ञाननिवर्त्यत्व

उदाहृतेष्वपि सत्यत्वासंप्रतिपत्त्या मिथ्यात्वमेवास्तीति चेत्, अस्तु वा मास्तु, ज्ञान-निवर्त्यत्वमात्रं तु न तस्य साधकमिति ब्रूमः, हेत्वन्तरेण सिद्धौ चैतदुपन्यासो व्यर्थः। शुक्तिरूप्यादौ कथमिति चेच्छृणु, अधिष्ठानज्ञानत्वेन तत्र ज्ञानस्य निवर्तकत्वात्। अधि-ष्ठानज्ञानत्वं हि अज्ञाननाशकज्ञानत्वं वा, अज्ञानसमानविषयकप्रमात्वं वेति? तेन रूपेण निवर्तकत्वे तन्निवर्त्यस्य तज्ज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वं सिद्ध्यतीति युक्तं शुक्त्यादिज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वेन रजतादेर्मिथ्यात्वम्। सेत्वादिदर्शनादि निवर्त्यदुरितादेस्तु न निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वमिति न मिथ्यात्वम्। एवं चात्मज्ञानस्यापि विहितक्रियात्वेन निवर्तकत्वसम्भवादधिष्ठानज्ञानत्वेन च निवर्तकत्वे मानाभावान्नात्माज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वसिद्धिःप्रपञ्चस्येति—प्राप्तम्। अत्रोच्यते; आत्म-ज्ञानस्याप्यधिष्ठानज्ञानत्वेनैव प्रपञ्चं प्रति निवर्तकत्वम्, प्रकारान्तरासम्भवात्। तथाहि— प्रतियोगित्वं तावन्नावच्छेदकम्,प्रपञ्चस्य भावरूपत्वात्, ज्ञानस्य प्रागभावनिवृत्तिरूपत्वेन प्रतियोगित्वेन प्रागभावनिवर्तकत्वासिद्धेश्च। नाप्युत्तरगुणत्वम्, आकाशादेरात्म-विशेषगुणत्वाभावात्, इच्छादेरपि प्रपञ्चनिवर्तकत्वापाताच्च। नापि फलत्वम्, संस्कारस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

दर्शन से ज्ञाननिवर्त्यत्व मिथ्यात्व का साधक नहीं। यदि कहो कि उदाहृत स्थलों में भी सत्यत्व की असंप्रतिपत्ति से मिथ्यात्व ही है तो मिथ्यात्व हो अथवा न हो, ज्ञाननिवर्त्यत्वमात्र तो मिथ्यात्व का साधक नहीं— ऐसा हम कहते हैं, और दृश्यत्वादि हेत्वन्तर से मिथ्यात्व की सिद्धि होने पर तो उसके लिये ज्ञाननिवर्त्यत्व का उपन्यास व्यर्थ है। यदि कहो कि शुक्तिरूप्यादि में मिथ्यात्व कैसे हुआ—तो सुनो, शुक्तिरूप्यादि में अधिष्ठानज्ञानत्वेन ज्ञान का निवर्तकत्व होने से मिथ्यात्व है। क्योंकि अधिष्ठानज्ञानत्व ही तत्तदुपादानाज्ञाननाशकज्ञानत्व अथवा अज्ञानसमानविषयकप्रमात्व होने से इन दोनों में से किसी एक धर्म से विशिष्टत्वेन ज्ञान का निवर्तकत्व होने पर उस ज्ञान से निवर्त्य का, उस ज्ञान का समानविषयक जो अज्ञान है, तदज्ञानोपादानकत्वरूप मिथ्यात्व सिद्ध है; अतः रजतादि का शुक्त्यादि ज्ञानसमानविषयका—ज्ञानोपादानकत्व होने से मिथ्यात्व युक्त ही है। और सेत्वादि के दर्शनादि से निवर्त्य दुरितादि का तो निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्व न होने से मिथ्यात्व नहीं। इस रीति से आत्मज्ञान के भी विहितक्रियात्वरूप से निवर्तकत्व सम्भव होने से और अधिष्ठान ज्ञानत्वरूप से निवर्तकत्व में प्रमाण के अभाव से, प्रपञ्च के आत्माऽज्ञानोपादानकत्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं—ऐसा प्राप्त है।

समाधान — इसमे यह उत्तर है— आत्मज्ञान का भी अधिष्ठानज्ञानत्वरूप से ही प्रपञ्च के प्रति निवर्तकत्व है, क्योंकि प्रकारान्तर का असम्भव है। तथाहि— प्रतियोगित्व ज्ञाननिष्ठनिवर्तकतावच्छेदक नहीं; क्योंकि प्रपञ्च भावरूप है, अर्थात् प्रागभावरूप नहीं (प्रपञ्चज्ञान प्रागभावरूप होने पर ही प्रागभावप्रतियोगीज्ञान द्वारा प्रपञ्चनिवर्त्य हो सकता है, अन्यथा नहीं); और ज्ञान तो स्वप्रागभावनिवृत्तिरूप होने से प्रतियोगित्वरूप से उसके स्वप्रागभावनिवर्तकत्व की असिद्धि है (क्योंकि निवर्तक निवर्त्य से पूर्व होना चाहिये); और उत्तरगुणत्व भी ज्ञाननिष्ठनिवर्तकतावच्छेदक नहीं; क्योंकि निवर्त्य आकाशादि में आत्मविशेषगुणत्व का अभाव है (नैयायिक के मत में ज्ञानेच्छादि आत्मविशेष गुण है और आत्मनिष्ठोत्तर विशेषगुण से आत्मनिष्ठपूर्वविशेषगुण निवर्त्य हैं); और इच्छादि के भी प्रपञ्चनिवर्तकत्व का प्रसङ्ग है; फलत्व भी ज्ञाननिष्ठनिवर्तकतावच्छेदक नहीं; क्योंकि संस्कार के स्मृतिज्ञानजनकत्व होने से, जिस प्रकार स्मृतिज्ञान फलत्वेन संस्कार का

स्मरणजनकत्ववदाकाशादेरात्मज्ञानजनकत्वाभावात्। संस्कारस्य स्मृत्यनाश्यत्वेनोदाहरणासिद्धेश्च। विषयदोषदर्शनस्य तु रागादिनिवर्तकत्वं (रागादिकारणीभूत) बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वभ्रमरूपतत्कारणनिवर्तकत्वेनेति न प्रकृतोदाहरणादतिरिच्यते, शुक्तिरूप्यतुल्यत्वात्। गरुडध्यानं तु न प्रत्युदाहरणम्, ध्यानस्य रागादेरिव ज्ञानत्वानभ्युपगमात्। ज्ञानस्येच्छानधीनत्वेन तदधीनध्यान(ज्ञान)पेक्षया वैलक्षण्यात्। स्पष्टं चैतदाकरे। ज्ञानत्वेऽपि तस्य सेतुदर्शनपक्षान्नातिरेक:। शास्त्रविहितत्वाविशेषात्। केवलं सेत्वादिदर्शनवद्विहितक्रियात्वमवशिष्यते। तच्च न सम्भवति, ज्ञानस्य कर्तुमकर्तु(मन्यथाकर्तु) मशक्यत्वेन विधेयत्वायोगात्। विस्तरेण च ज्ञाने विधिराकरेषु निराकृत:। निराकरिष्यते चेहापि। सेतुदर्शने कथमिति चेत्? विशिष्टाकारेण विधेयत्वोपपत्ति:। न हि सेतुदर्शनमात्रस्य दुरितनाशकत्वम्, तत्रत्यम्लेच्छानामपि दुरितनाशप्रसङ्गात्, किन्तु परराष्ट्रादुपस्थानादिपूर्वकव्रतकलापविशिष्टस्य, तथा च छत्रपादुकादिवर्जनदोषोद्घोषणदूरदेशगामित्वभिक्षाभोजित्वादिनियमानां कृतिसाध्यत्वात् तद्विशिष्टं सेतुदर्शनमपि कृतिसाध्यमिति विशिष्टरूपेण विधानोपपत्ति:। आत्मज्ञाने तु नास्ति किञ्चिद्विशेषणमपि कृतिसाध्यम्, येन तद्विशिष्टत्वेनापि विधेयत्वं स्यात्। कर्मसमुच्चयस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। बन्धस्याज्ञान—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

निवर्तक है, उसी प्रकार आकाशादिके आत्मज्ञानजनकत्व का अभाव है, और संस्कार के स्मृति ज्ञानानाश्यत्व होने से उदाहरण की असिद्धि है। और, विषयदोषदर्शन का रागादिनिवर्तकत्व तो विषयों में रागादि के कारणीभूत और बलवदनिष्ट के असंबन्धी इष्टसाधनत्व का जो भ्रम है, उस भ्रमरूप रागादि कारण का निवर्तकत्व होने से है, अत: शुक्तिरूप्य के साथ तुल्यत्व होने से प्रकृत उदाहरण के अतिरिक्त नहीं। और, गरूड़ध्यान तो प्रत्युदाहरण नहीं हो सकता; कारण कि रागादि के समान ध्यान के भी ज्ञानत्व का अनङ्गीकार है, और ज्ञान का, इच्छानधीनत्व होने से इच्छाधीन ध्यान की अपेक्षा से विलक्षणत्व है (इच्छा के बिना भी प्रमाण और प्रमेय का संबन्ध होने पर ज्ञान का भवन ही ध्यान से विलक्षणत्व है)। यह बात शारीरक भाष्यादि आकर में स्पष्ट है। और, ध्यान का ज्ञानत्व मानने पर भी सेतुदर्शनपक्ष से भेद नहीं, क्योंकि दोनों में शास्त्रविहितत्व अविशेष है। अत: सेत्वादिदर्शन के समान आत्मज्ञान का केवल विहितक्रियात्वपक्ष रह जाता है और वह विहित क्रियात्व आत्मज्ञान में नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान को करना, न करना और अन्यथा करना अशक्य होने से उसके विधेयत्व का अयोग है। और ज्ञान में विधि का निराकरण समन्वय—सूत्र भाष्यादि आकरों में विस्तारपूर्वक किया गया है, और यहां भी निराकरण किया जायेगा।

शंका — तब तो सेतुदर्शन में विहितक्रियात्वेन विधेयत्व कैसे हुआ?

समाधान — उसमें विशिष्टाकार से विधेयत्व की उपपत्ति है। कारण कि सेतुदर्शनमात्र दुरितनाशक नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर सेतु में रहने वाले म्लेच्छों के भी दुरितनाश का प्रसङ्ग है; किन्तु परराष्ट्र से उपस्थानादिपूर्वक व्रतकलापविशिष्ट सेतुदर्शन ही पापनाशक है; तब तो छत्र—पादुकादि का त्याग, दोष का उद्घोषण, दूरदेशगामित्व, भिक्षाभोजित्वादि नियमों के कृतिसाध्यत्व होने से उक्तनियमविशिष्ट सेतुदर्शन भी कृतिसाध्य होने के कारण विशिष्टरूप से सेतुदर्शन का विधान हो सकता है। आत्मज्ञान में तो कुछ भी कृतिसाध्य विशेषण नहीं; जिससे उस विशेषण से विशिष्टत्व रूप से भी विधेयत्व हो जाय, क्योंकि

मात्रहेतुकत्वेन ज्ञानातिरिक्तनिवर्तकानपेक्षणाच्च। बन्धस्याज्ञानहेतुकत्वं च 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धम्। वक्ष्यते चाग्रे। अज्ञाननिवर्तकज्ञानस्य चोत्पत्तिमन्तरेणान्यापेक्षा नास्तीति शुक्त्यादिज्ञाने दृष्टम्। तथा चोक्तं वार्तिककृद्भिः—'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति॥' इति 'प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत्। सा चात्मोत्पत्तितो नान्यद्ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते॥' इति च। अत एव 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं दपश्येत्'इत्यादिश्रुतिः। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।' इत्यादि—स्मृतिश्चाविद्यावस्थायां संसारोपलम्भं विद्यावस्थायां च तदनुपलम्भं दर्शयति। तस्माद—धिष्ठानप्रमात्वेनात्मज्ञाननिवर्त्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिष्विव बन्धेऽपि मिथ्यात्वं सिद्धम्। यत्त्वीश्वरज्ञानेन सत्यं घटादि निवर्तत इति प्रत्युदाहरणम्। तन्न, ईश्वरज्ञानस्य तार्किकमतेऽपि उपादानगोचरापरोक्षज्ञानत्वेनैव कारणत्वात्, अभावस्य च निरुपादानत्वात्, अभावं प्रति कारणत्वे मानाभावात्। सोपादानत्वे तु समवेतत्वेन तस्यापि भावत्वापत्तेः, अत्यन्ताभा—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ज्ञान में कर्म समुच्चय निराकरिष्यमाण है और बन्ध अज्ञानमात्रहेतुक होने से उसको ज्ञान के अतिरिक्त निवर्तक की अपेक्षा नहीं। और बन्ध का अज्ञानहेतुकत्व "माया को प्रकृति जानो" "अज्ञान से ज्ञान आवृत है, उसी से सबप्राणी मोहित रहते हैं" इत्यादि श्रुति, स्मृति और न्याय से सिद्ध है। इस विषय में आगे भी कहा जायेगा। और अज्ञाननिवर्तक ज्ञान को स्वोत्पत्ति के बिना अन्य की अपेक्षा नहीं— यह वस्तुस्थिति शुक्त्यादिज्ञान में दृष्ट है। जैसा कि वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने कहा है— "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से होने वाली शुद्धात्मविषयकसम्यग्धी के जन्ममात्र से, कार्य सहित अविद्या पहले भी नहीं थी, वर्तमान में भी नहीं, और भविष्य में भी नहीं होगी— ऐसा ज्ञात होता है" इति। और "साक्षिभूतप्रत्यगात्मविषयिका याथात्म्यधी ही प्रत्यगात्मतत्त्वविषयक अज्ञान का नाश करने वाली है। वह धी स्वोत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य की अविद्यारूप अन्धकार का नाश करने में अपेक्षा नहीं करती" इति। अतएव " जिस अज्ञानावस्था में द्वैत जैसा होता है; उस अवस्था में अन्य अन्य को देखता है। और जिस ज्ञानावस्था में तो इस ज्ञानी का सब कुछ ही आत्मस्वरूप होता है, उस अवस्था में किससे किसको देखें" इत्यादि श्रुति और "सब प्राणियों की दृष्टि में जो निशा जैसी निशा अज्ञानावस्था है, उस अज्ञानरूप निशा में संयमी—ज्ञानी जागा हुआ रहता है; और जिस अज्ञानावस्था में सब प्राणी जागते हैं, वही अज्ञानावस्था ही मननशील ज्ञानी की निशा है" इत्यादि स्मृति अविद्यावस्था में संसार के उपलम्भ और विद्यावस्था में संसार के अनुपलम्भ को दिखाती है। इसलिये अधिष्ठान प्रमात्वरूप से आत्मज्ञान द्वारा निवर्त्यत्व होने से शुक्तिरूप्यादियों में जैसे मिथ्यात्व है—वैसे बन्धरूप संसार में भी मिथ्यात्व सिद्ध है। और जो ईश्वरज्ञान से सत्यघटादि की निवृत्ति होती है, ऐसा प्रत्युदाहरण है, वह ठीक नहीं; क्योंकि ईश्वरज्ञान तार्किकमत में भी उपादानगोचरापरोक्षाज्ञानत्वरूप से ही कारण है, और अभावरूप घटादिध्वंस का उपादानरहितत्व है, कारण कि अभाव के प्रति उपादानकारणत्व में प्रमाण नहीं, अभाव का भी सोपादानत्व होने पर तो समवेतत्व होने से अभाव के भी भावत्व की आपत्ति है और अत्यन्ताभावादि

वादिवच्च तदजन्यत्वेऽपि ध्वंसस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः। न च तादृगीश्वरज्ञाने संप्रतिपत्तिरप्यन्येषामिति न काप्यनुपपत्तिः। यथा च शुक्त्यादिज्ञानस्य रूप्यादिनिवर्तकत्वमप्रामाण्यज्ञानविरहमपेक्ष्यैव, एवमात्मज्ञानस्यापि श्रवणादिनिर्वृत्तासम्भावनादिनिवृत्तिरूपाप्रामाण्यज्ञानविरहापेक्षत्वमिति न किञ्चिदप्यधिकं कल्पितम्। आत्मज्ञानस्य सर्वसुकृतसाध्यत्वं शुक्त्यादिज्ञानापेक्षया विलक्षणमिति तु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यमात्रोद्भावनाद् वैधर्म्यसमा जातिः। अज्ञानस्य च समानाधिकरणसमानाकारज्ञाननिवर्त्यत्वम्, जीवन्मुक्तौ च प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धेन बन्धनाशविलम्ब इत्यादि सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते। सत्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे त्वाश्रयविषयोभयसम्बन्धित्वादिना अतिप्रसङ्गो विवरणकारैर्वर्णितः। तस्मादधिष्ठानज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के समान ध्वंस का ईश्वरज्ञान से अजन्यत्व होने पर भी ईश्वरज्ञानविषयत्व हो सकता है। और ध्वंस के कारण ईश्वरज्ञान में औपनिषदादि अन्य की संप्रतिपत्ति न होने से विश्वमिथ्यात्व में कुछ भी अनुपपत्ति नहीं। और, जैसे शुक्त्यादि ज्ञान का रूप्यादिनिवर्तकत्व अप्रामाण्यज्ञानविरह की अपेक्षा से होता है, वैसे ही आत्मज्ञान के भी श्रवणादि से निवृत्त असंभावनादि की निवृत्ति से प्रयोज्य अप्रामाण्यज्ञानविरह का अपेक्षत्व है, अत: कुछ भी अधिक कल्पित नहीं। और आत्मज्ञान का सर्वसुकृतसाध्यत्व शुक्त्यादिज्ञान की अपेक्षा से विलक्षण है; ऐसी उक्ति की तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैधर्म्यमात्र का उद्भावन होने से वैधर्म्यसमा जाति है (वैधर्म्य से उपसंहार करने पर साध्यधर्म की विपर्ययोपपत्ति हो जाय तो वैधर्म्यसमप्रतिषेध कहा जाता है। इस प्रतिषेध के अभिप्राय से आत्मज्ञान का सर्वसुकृतसाध्यत्व शुक्त्यादि ज्ञान की अपेक्षा से विलक्षण पूर्वपक्षी ने कहा है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—अधिष्ठान प्रमात्वेन निवर्तकत्व शुक्त्यादिज्ञान और आत्मज्ञान में तुल्य है। और शुक्त्यादिज्ञान में काचादिदोष तथा आत्मज्ञान में पापादि प्रतिबन्धक है। दोनों में वैधर्म्यमात्र प्रयोजक नहीं। यदि प्रयोजक होता तो काचादिकों का भी परस्पर वैधर्म्य दूषण ही होता, किन्तु ऐसा नहीं। अत: ''यत्र अधिष्ठानप्रमात्वम्, तत्र निवर्तकत्वम्'' इस व्याप्ति में कोई दोष न होने से उक्त कथन वैधर्म्यसमाजाति अर्थात् वैधर्म्यसम नामक असदुत्तर है)। और, अज्ञान समानाधिकरण और समानाकार ज्ञान से निवर्त्य है। और जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध—कर्म से प्रतिबन्ध होने का कारण बन्धनाश में विलम्ब है, इत्यादि सब का तो आगे प्रतिपादन किया जायेगा। सत्य का ज्ञाननिवर्त्यत्व होने पर तो आश्रय, विषय और उभय से संबन्धित्वादि से अतिप्रसङ्ग विवरणकार आचार्य ने वर्णित किया है (उसका भाव यह है— ज्ञान से सत्य की निवृत्ति है तो किस प्रकार के सत्य का ज्ञाननाश्यत्व नियम है? क्या वह सत्य ज्ञान के आश्रय से संबद्ध है, अथवा ज्ञान के विषय से संबद्ध है, अथवा ज्ञान के आश्रय और विषय दोनों से सम्बद्ध है? आद्य नहीं, क्योंकि '' अहम्'' इत्यात्मक आत्मज्ञान से स्वाश्रयात्मसंबद्धधर्मादि का नाश नहीं होता। द्वितीय भी नहीं, क्योंकि नीलपीत अवयवी के नीलत्वेन ज्ञान से पीतिमा की निवृत्ति नहीं होती। और तृतीय भी नहीं; क्योंकि देहज्ञान से देहात्मतादात्म्य की निवृत्ति नहीं। और मिथ्यावस्तु के ही ज्ञाननिवर्त्यत्व पक्ष में तो ज्ञान से स्वसमानाश्रयविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। अत: अज्ञानप्रयुक्त मिथ्यावस्तु की भी निवृत्ति है)। इस कारण अधिष्ठान प्रमात्वेन ज्ञाननिर्त्यत्व मिथ्यात्व में प्रमाण है— यह सिद्ध है।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तेः राष्ट्रभाषानुवादः।।

३८: अथ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः

शुक्तिरूप्यस्वप्नादिवद् दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्यापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः। अथ केयं दृष्टिसृष्टिः?(१) दृष्टिरेव सृष्टिरिति वा?(२) दृष्टिव्यतिरिक्तसृष्ट्यभावो वा?(३) दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभावो वा?(४) दृष्टिसामग्रीजन्यत्वं वा?(५) दृष्टिसमानकालीनसृष्टिर्वा?(६) दृष्टिसमानसत्ताकसृष्टिर्वा?(७) सदसद्विलक्षणत्वं वा?(८) त्रिविधसत्त्वबहिर्भूतत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं वा?(९) अज्ञातसत्त्वाभावो वा?(१०) ज्ञातैकसत्त्वं वा? आद्ये वृत्तिरूपा? चैतन्यरूपा वा? दृष्टिरभिमता। प्रथमे चरमवृत्तिविषयब्रह्मणोऽपि दृष्टिसृष्ट्यापत्तिः। द्वितीये सर्वदापि सृष्ट्यापत्तिः। न द्वितीयः, चैत्रेण सृष्टो मया दृष्ट इति वैलक्षण्येन व्यवहारानुपपत्तेः। न तृतीयः,'ज्ञातो घटो न ज्ञानम्'इति अनुभवविरोधात्। न चतुर्थः, एकसामग्रीप्रसूतत्वेन घटादेर्दृष्ट्यभिन्नत्वेनानन्तरोक्तदोषात्। न पञ्चमः, शाब्दादिज्ञानसमकालोत्पन्नघटादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरतापत्तेश्च। न षष्ठः, उभयसत्त्वेऽप्युपपत्तेः। सिद्धसाधनात्। न सप्तमः, अस्यैव मिथ्यात्वरूपत्वेन तत्साधनायैव तदुपन्यासानुपपत्तेः। नाष्टमः, त्रिविधसत्त्वमध्ये

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शुक्तिरूप्य, स्वप्नादि का दृष्टिसृष्टि की अन्यथानुपपत्ति से जैसे मिथ्यात्व सिद्ध है, वैसे जगत् के भी, दृष्टिसृष्टि की अन्यथानुपपत्ति से, मिथ्यात्व की सिद्धि है।

शंका — यह दृष्टिसृष्टि क्या है? (१) क्या वह दृष्टि ही सृष्टि है, (२) अथवा दृष्टि से व्यतिरिक्त सृष्टि का अभाव है, (३) अथवा दृष्टि से भिन्नत्वेन सृज्य पदार्थों का अभाव है, (४) या दृष्टिसामग्री से (दृष्टि के कारणसमुदाय से) जन्यत्व है, (५) या दृष्टिसमानकालीन सृष्टि है, (६) या दृष्टिसमानसत्ताक सृष्टि है, (७) या सत् और असत् से विलक्षणत्व है, (८) अथवा त्रिविधसत्त्व (पारमार्थिक–व्यावहारिक–प्रातिभासिक सत्त्व) का बहिर्भूतत्व होने पर असद्विलक्षणत्व है, (९) अथवा अज्ञातसत्त्व का अभाव है, (१०) या ज्ञातैकसत्व है? आद्य में भी, वृत्तिरूपा दृष्टि अभिमत है, अथवा चैतन्यरूपा दृष्टि? प्रथम में, चरमवृत्तिरूप दृष्टि के विषय ब्रह्म की भी दृष्टिसृष्टि की आपत्ति है। और द्वितीय चैतन्यरूपदृष्टि पक्ष में भी सर्वदा सृष्टि की आपत्ति है (क्योंकि चैतन्यरूप दृष्टि नित्य है)। और दृष्टिव्यतिरिक्त सृष्ट्यभावरूप द्वितीय भी नहीं; क्योंकि ''चैत्रेण सृष्टो मया दृष्टः'' इस प्रकार विलक्षणत्वरूप से व्यवहार की अनुपपत्ति है (अर्थात् चैत्रदृष्टि से व्यतिरिक्त सृष्ट पदार्थ का अभाव होने के कारण चैत्रसृष्ट पदार्थ को लेकर ''मया दृष्टः'' यह व्यवहार नहीं हो सकता)। दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभावरूप तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि ''ज्ञातो घटः न ज्ञानम्'' इस अनुभव से विरोध है (क्योंकि ज्ञानरूपदृष्टि से घट अभिन्न होने से घट ज्ञात होने पर ज्ञान भी ज्ञात होना चाहिये)। दृष्टि सामग्रीजन्यत्वरूप चतुर्थ पक्ष भी नहीं; क्योंकि एकसामग्री से उत्पन्न होने के कारण घटादि के दृष्टि से अभिन्नत्व होने से अनुभवविरोधरूप अनन्तरोक्त दोष है। पञ्चम दृष्टिसमानकालीनसृष्टिपक्ष भी नहीं; क्योंकि शब्दादि जन्यज्ञान के साथ समकालोत्पन्न घटादि में सिद्धसाधन है; और वैसा ही अन्य स्थायिघटादि में अर्थान्तर (प्रकृतानुपयोग) की आपत्ति है। दृष्टिसमानसत्ताकसृष्टिरूप षष्ठपक्ष भी नहीं; क्योंकि दृष्टि और सृष्टि दोनों का सत्त्व होने पर भी समान सत्ताकत्व की उपपत्ति से सिद्धसाधन है। सप्तम सदसद्विलक्षणत्वपक्ष भी नहीं; क्योंकि सदसद्विलक्षणत्व ही मिथ्यात्वरूप होने से, मिथ्यात्वसाधन के लिये मिथ्यात्व के ही उपन्यास की अनुपपत्ति है और त्रिविधसत्त्वबहिर्भूतत्व होने पर असद्विलक्षणत्वरूप अष्टम भी नहीं, क्योंकि त्रिविधसत्त्व के मध्य में प्रातिभासिकसत्त्व के भी अन्तर्भाव होने से दृष्टिसृष्टिपक्ष में

प्रातिभासिकसत्त्वस्याप्यन्तर्भावेन दृष्टिसृष्टिपक्षे तद्वति जगति तद्बहिर्भावानुपपत्तेः। न नवमः, तुच्छसाधारण्यात्। न दशमः, सुखादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तराच्चेति—चेत्। न,दोष—प्रयुक्तत्वनिबन्धनस्य ज्ञातैकसत्त्वस्याज्ञातसत्त्वाभावस्य वा, प्रतिपन्नोपाधिदृष्टि—जन्यज्ञातैकसत्त्वस्य वा, द्रष्ट्रन्तरावेद्यत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वस्य वा विवक्षितत्वात्। तथा च न सुखाद्यंशे सिद्धसाधनम्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरं वा।

ननु— जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।।

इति प्राचां वचनेन बौद्धं प्रति प्रत्यभिज्ञानादिना विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादकेन च सूत्रभाष्य— (वार्तिक)विवरणादिग्रन्थेन विरोध इति—चेन्न, अनाद्यतिरिक्ते सृष्टिविषय एव दृष्टिसृष्टिस्वीकारात्, कारणात्मना स्थायित्वस्वीकराच्च। तावतैव बौद्धाभिमतक्षणिक—त्वनिराकरणोपपत्तेर्नाकरविरोधः, प्रत्युताकरेषु बहुशो दृष्टिसृष्टिरुपपादितैव। नन्वेवं—प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियतकारणाजन्यत्वे श्रुतिषु स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमादिविधेः ब्रह्म—साक्षात्कारार्थं श्रवणादिविधेराकाशादेर्वाय्वादिहेतुत्वस्य चोक्तिरयुक्तेतिचेन्न, स्वाप्नकार्यकारण—भावबोधकवाक्यवदुपपत्तेः। न चैवं वेदान्तवाक्यस्य तन्मीमांसायाश्च स्वप्नवाक्यतन्मीमांसा—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रातिभासिकसत्त्वविशिष्ट जगत् में प्रातिभासिकसत्त्वशून्यत्व की अनुपपत्ति है। नवम अज्ञातसत्त्वाभावपक्ष भी नहीं; क्योंकि यह पक्ष तुच्छसाधारण है। और ज्ञातैकसत्त्वरूप दशम भी नहीं हो सकता; क्योंकि सुखादि में ज्ञातैकसत्त्व का सिद्धसाधन है (कारण कि सुखादि का सत्त्व स्वविषयकज्ञानकाल में ही होता है; अतः ज्ञान से भिन्न होता हुआ भी सुखादि का ज्ञातैकसत्त्व है)। और वैसा ही अन्य स्थायी जीवेशादि में अर्थान्तर है।

समाधान — नहीं, क्योंकि दोषप्रयुक्तत्वनिमित्तक अर्थात् दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वविशिष्ट ज्ञातैकसत्त्व या दोषप्रयुक्तत्वनिबन्धन अज्ञातसत्त्वाभाव, अथवा प्रतिपन्नोपाधिरूपदृष्टि अर्थात् अधिष्ठानचैतन्यरूप दृष्टिजन्यनिष्ठ ज्ञातैकसत्त्व, अथवा अन्य द्रष्टा से अवेद्यत्व होने पर ज्ञातैकसत्व ही दृष्टिसृष्टि से विवक्षित है। तब तो सुखाद्यंश में सिद्धसाधन नहीं हुआ, और उसी प्रकार अन्यत्र अर्थान्तर भी नहीं रहा।

शंका — "जीव, ईश्वर, विशुद्धचित्, तथा जीव और ईश्वर में भेद, अविद्या तथा अविद्या और चित् का संबन्ध— ये छः हमारे मत में अनादि हैं" इस प्राचीनाचार्यों के वचन से, और बौद्ध के प्रति प्रत्यभिज्ञानादि से विश्व के स्थायित्वप्रतिपादक सूत्र, भाष्य, विवरणादि ग्रन्थ से विरोध है।

समाधान — नहीं, क्योंकि अनादि पदार्थों के अतिरिक्त सृष्टिविषय में ही दृष्टिसृष्टि का अङ्गीकार है, और कारणरूप से स्थायित्व का स्वीकार है। और कारणात्मना स्थायित्व के अङ्गीकारमात्र से बौद्धाभिमत क्षणिकत्व के निराकरण की उपपत्ति होने से आकरग्रन्थों से विरोध नहीं; इसके विपरीत आकरग्रन्थों में तो अनेक स्थलों में दृष्टिसृष्टि का उपपादन किया ही गया है।

शंका — इस रीति से तो—प्रतीतिमात्र शरीरत्व होने के कारण नियतकारण से अजन्यत्व होने पर श्रुतियों में स्वर्गादिप्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोमादि विधि, ब्रह्मसाक्षात्कारार्थ श्रवणादिविधि और आकाशादि के वाय्वादिहेतुत्व के कथन अयुक्त होंगे।

समाधान— नहीं; क्योंकि स्वाप्नकार्यकारणभावबोधक वाक्यों के समान उन सबकी उपपत्ति है।

शंका — तब तो वेदान्तवाक्य और वेदान्तवाक्यमीमांसा की स्वप्नवाक्य और स्वप्नवाक्य

तुल्यतापत्तिः, विषयबाधाबाधाभ्यां विशषोपपत्तेः। अत एव तृप्त्यर्थ भोजने परप्रत्यायनार्थं शब्दादौ च प्रवृत्तेरयोगेन स्वक्रियाव्याघात इति—निरस्तम्, स्वाप्नव्यवहारवदुपपत्तेः। अथैवं—घटादेः स्वज्ञानात्पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः, अधिष्ठानस्यापि शुक्तीदमंशस्य रूप्यादिवद् 'इदं रजतम्' इति ज्ञानात्प्रागसत्त्वेन संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्व—रूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य, सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभास इत्यस्य स्वरूप—लक्षणस्य चायोग इति—चेन्न, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपा—ध्यासतटस्थलक्षणस्य च मन्दाधिकारिविषयत्वात्। सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभास इति स्वरूपलक्षणं तु दृष्टिसृष्टिपक्षेऽप्यविरुद्धम्, न हीदमंशावच्छिन्नं चैतन्यं न वस्तु, न वा मिथ्यारूप्यस्य तेन सह न सम्भेदावभासः। न च—'इदं रूप्यम्' इति ज्ञानकाले शुक्तित्वादेरभावेनाध्यासस्य तदज्ञानकार्यत्वादिप्रक्रियाविरोध इति—वाच्यम्, 'इदं रूप्यम्'इति ज्ञानकाले शुक्तित्वस्याभावेऽपि तदज्ञानस्थित्यविरोधात्। न हि सत्ताकाल इव सत्ताविरह—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

मीमांसा के साथ तुल्यता की आपत्ति होगी।

समाधान — नहीं; क्योंकि विषय के बाध और अबाध द्वारा दोनों में विशेष की उपपत्ति है। इस प्रकार विषयबाधाबाध से विलक्षणत्व होने से—तृप्ति के लिये भोजन में, और अन्य को बोधन करने के लिये शब्दादि में प्रवृत्ति का अयोग होने से स्वक्रिया का व्याघात है— ऐसा कथन निरस्त हुआ, क्योंकि स्वप्नव्यवहार के समान प्रवृत्त्यादि हो सकती है।

शंका — इस प्रकार से दृष्टिसृष्टि माना जाय तो—घटादि के स्वविषयक ज्ञान से पूर्व असत्त्व होने से इन्द्रियसन्निकर्षादि से होने वाली प्रतिकर्मव्यवस्था की अनुपपत्ति है; और अधिष्ठानभूत शुक्तीदमंश के भी रजतादि के समान "इदं रजतम्" इत्यात्मक ज्ञान से पूर्व असत्त्व होने से सप्रयोगादि हेतुत्रय (अधिष्ठान सामान्यांश के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष, अध्यसनीय पदार्थ का संस्कार और दोष) से जन्यत्वरूप अध्यासतटस्थलक्षण, और सत्यवस्तु का मिथ्यावस्तु के साथ तादात्म्येन अवभासरूप अध्यासस्वरूपलक्षण, ये दोनों लक्षण असम्भव होंगे।

समाधान — ऐसा नहीं; क्योंकि प्रतिकर्मव्यवस्था और संप्रयोगादि हेतुत्रयजन्यत्वरूप अध्यासतटस्थलक्षण— ये दोनों मन्दाधिकारियों के विषय हैं (अर्थात् अधिकारिभेद से कल्पित प्रक्रियाविशेषों का ही शास्त्र और आचार्यों ने अनुवाद करके प्रतिपादन किया है— यह भाव है)। और सत्य वस्तु (इदमंशावच्छिन्नचित्) का मिथ्यावस्तुतादात्म्येन अवभासरूप अध्यासस्वरूपलक्षण तो दृष्टिसृष्टिपक्ष में भी अविरुद्ध है; क्योंकि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य असत्यवस्तु नहीं; अथवा मिथ्यारजत का उस अधिष्ठान चैतन्य के साथ तादात्म्येन अनवभास भी नहीं।

शंका — "इदं रूप्यम्" इत्यात्मकज्ञानकाल में शुक्तित्वादि का अभाव होने से अध्यास की शुक्तित्वाद्यज्ञानकार्यत्वादि की प्रक्रिया से विरोध है।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि "इदं रूप्यम्" इस ज्ञानकाल में शुक्तित्व का अभाव होने पर भी शुक्तित्वाज्ञान की स्थिति से विरोध नहीं (अर्थात् जिस प्रकार सृष्टि दृष्टि पक्ष में भी भावि वस्तु में ज्ञानविषयत्व के समान अज्ञानविषयत्व का अङ्गीकार किया जाना है, उसी प्रकार दृष्टिसृष्टि पक्ष में भी शुक्तित्वाभाव काल में शुक्तित्वाज्ञान की स्थिति हो सकती है— यह भाव है); कारण कि सृष्टिदृष्टि पक्ष में भी वस्तुसत्ताकाल में जैसे तदज्ञान है, वैसे वस्तुसत्ताविरहकाल में भी तदज्ञान होने में विरोध नहीं।

कालेऽपि अज्ञानं विरुध्यते। न च–'इदं रूप्यं नेदं रूप्यम्'इति ज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वेन बाध्यबाधकभावानुपपत्तिरिति– वाच्यम्, भिन्नविषयत्वेऽपि विषययो: सारूपयात् स्वप्नबाध्यबाधकयोरिव बाध्यबाधकभावोपपत्ते:। न च–रूप्यादिबाधस्यापि दृष्टिसृष्टित्वे तेन रूप्यादेर्मिथ्यात्वासिद्धिरिति–वाच्यम्, बाध्यायूनसत्ताकत्वमेव बाधकत्वे प्रयोजकम्, न त्वधिकसत्ताकत्वमित्यस्योपपादितत्वेन व्यावहारिकेण व्यावहारिकबाधवत् प्रातिभासिकेन प्रातिभासिकबाधाविरोधात्। न च–सुषुप्तिप्रलयादौ जीवब्रह्मविभागस्याप्रतीतत्वेनाविद्यमानतया प्रतिसुषुप्ति प्रतिप्रलयं च मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तिरिति–वाच्यम्, जीवब्रह्मविभागादेरनादित्वेन दृष्टिसृष्टित्वानभ्युपगमस्योक्तत्वात्। न च सुषुप्तं प्रति संस्कारादेरप्यभावेन तस्य पुन: प्रबोधायोग:, कारणात्मना संस्कारादे: सत्त्वात्। न च मोक्षस्य दृगन्यत्वेन स्वाप्नमोक्षवद् दृष्टिसृष्ट्यापत्ति:, मोक्षस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन दृग्भिन्नत्वासिद्धे:। न च–चैतन्यमात्ररूपा दृष्टिर्न सष्टि:, किन्तु वृत्तिविशिष्टचैतन्यरूपा वा, वृत्तिरूपा वा, दृष्टि: सृष्टिरिति वाच्यम्, तथा च तस्या अपि दृष्ट्यन्तरं सृष्टिरित्यनवस्थेति वाच्यम्, चैतन्यमात्रस्य दृष्टित्वे यद्यपि तत्समानसत्ताकतया घटादे: सदातनत्वापत्ति:, तथापि वृत्त्युपहितचैतन्यमेव दृष्टिशब्दार्थ:।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – "इदं रूप्यम्" और "नेदं रूप्यम्" इन दोनों ज्ञानों का भिन्नविषयत्व होने से बाध्यबाधकभाव की अनुपपत्ति है।

समाधान– ऐसा भी न कहो, क्योंकि दोनों ज्ञानों का भिन्नविषयत्व होने पर भी दोनों विषयों में रूप्यत्वेन सारूप्य होने से स्वप्नबाध्यबाधक के समान बाध्यबाधकभाव हो सकता है।

शंका – रूप्यादिबाध का भी दृष्टिसृष्टित्व अर्थात् प्रातिभासिकत्व होने पर उस बाध से रूप्यादि के मिथ्यात्व की असिद्धि है।

समाधान– ऐसा न कहिये; क्योंकि बाध्य से अन्यूनसत्ताकत्व ही बाधकत्व में प्रयोजक है, अधिकसत्ताकत्व प्रयोजक नहीं– यह पहले प्रतिपादित हो चुका है, अत: व्यावहारिक बाधक से व्यावहारिक बाध के समान प्रातिभासिक बाधक से प्रातिभासिक बाध में अविरोध है।

शंका– सुषुप्ति प्रलयादि में जीव और ब्रह्म के विभाग प्रतीत न होने के कारण, अविद्यमान होने से प्रत्येक सुषुप्ति और प्रत्येक प्रलय के अनन्तर मुक्त की पुनरावृत्ति की आपत्ति है।

समाधान – ऐसा न कहो, क्योंकि जीवब्रह्मविभागादि का अनादित्व होने से दृष्टिसृष्टित्व का अनङ्गीकार कह चुके हैं।

शंका – सुषुप्त पुरुष के प्रति संस्कारादि का भी अभाव होने से उसका पुन: जागना अयुक्त है।

समाधान– नहीं; क्योंकि कारणगतसूक्ष्मावस्थारूप से संस्कारादि का सत्त्व है।

शंका– मोक्ष की दृग्भिन्नता होने से स्वप्नमोक्ष के समान दृष्टिसृष्टि की आपत्ति है।

समाधान – नहीं, कारण कि मोक्ष के ब्रह्मस्वरूपत्व होने से दृग्भिन्नत्व की असिद्धि है।

शंका – चैतन्यमात्ररूप दृष्टि सृष्टि नहीं, किन्तु वृत्तिविशिष्टचैतन्यरूप दृष्टि अथवा वृत्तिरूप दृष्टि ही सृष्टि है– ऐसा कहना चाहिये; तब तो उस दृष्टि की भी दृष्ट्यन्तररूप सृष्टि और उसकी भी वृत्यन्तररूप सृष्टि– इस प्रकार अनवस्था होगी।

समाधान– ऐसा कथन अनुचित है; क्योंकि चैतन्यमात्र का दृष्टित्व होने पर, यद्यपि उस चैतन्य के साथ समानसत्ताकत्व होने से घटादि के सदातनत्व अर्थात् अनाद्यनन्तत्व की आपत्ति है, तथापि वृत्त्युपहितचैतन्य ही दृष्टिशब्दार्थ है, और वृत्ति में भी स्वस्वरूपभूत वृत्ति ही चैतन्य की

वृत्तावपि वृत्तिरेव स्वस्वरूपा चैतन्योपाधिरिति नानवस्था। अत एव— दोषाज्ञानादृष्टदेहेन्द्रिया—दीनामभावे न भ्रम इति तेषामपि दृष्टिसृष्टित्वे अनवस्थेति—निरस्तम्, स्वाप्नभ्रमवद् देहेद्रियादिनैरपेक्ष्येणाप्युपपत्तेः। अन्वयव्यतिरेकानुविधानं च तद्वदेव। न च—दृष्टिसृष्टेरपि दृष्टिसृष्टित्वेन घटादेरदृष्टिसृष्टित्वापत्तिरिति—वाच्यम्, ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेऽपि विषयस्याज्ञेयत्वा—भाववद् दृष्टिसृष्टेर्दृष्टिसृष्टित्वेऽपि घटादेर्दृष्टिसृष्टित्वोपपत्तेः।

ननु—ऐक्यप्रत्यभिज्ञाविरोधः, पूर्व— कालप्रतीतस्येदानीमभावात्,न चैषा भ्रान्तिः, दीपादौ परिणामभेदस्येवेह बाधकस्याभावात्, तदभावेऽपि भ्रान्तित्वे घटादेरप्येकस्मिन् क्षणे भेदस्यात्मनोऽपि प्रतिक्षणं भेदस्य च प्रसङ्ग इति—चेन्न, 'नेह नाना'इत्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽवधृते रज्जुसर्पादिवत् प्रतिभासमात्रशरीरत्वमेव प्रतिभासकालातिरिक्त—कालसत्त्वे बाधकम्, अतो भिन्नकालानामात्मभिन्नानां प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिः। आत्मन्येकप्रतीति—रेककालावच्छेदेन घटादौ चैक्यप्रत्यभिज्ञा न भ्रान्तिः। एककालावच्छिन्नघटादावात्मनि चाभेदे बाधकाभावात्। पुरुषान्तरप्रतीतेन सहैककालावच्छेदेनापि घटादौ प्रत्यभिज्ञानं भ्रम एव,प्रतिभासस्य भेदात्। यथा एकस्यामेव रज्ज्वां मन्दान्धकारवर्तिन्यां दशानां

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

उपाधि होने से अनवस्था नहीं। और वक्ष्यमाण हेतु से—दोष, अज्ञान, अदृष्ट, देह, इन्द्रियादि का अभाव होने पर, भ्रम न होने के कारण, उन दोषादिकों का भी दृष्टिसृष्टित्व होने पर अनवस्था है— ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि स्वाप्नभ्रम समान देहेन्द्रियादि की अपेक्षा के बिना भी भ्रम हो सकता है और उक्त दोषादिकों का अन्वयव्यतिरेकानुविधान तो स्वाप्नभ्रम जैसा ही है।

शंका— दृष्टि—सृष्टि का भी दृष्टिसृष्टित्व होने से घटादि के अदृष्टिसृष्टित्व की आपत्ति है अर्थात् दृष्टिसृष्टि का मिथ्यात्व होने पर घटादि के मिथ्यात्व की असिद्धि है।

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि जैसे परमत में ज्ञान का ज्ञेयत्व होने पर भी उस ज्ञान के विषय का अज्ञेयत्व नहीं, वैसे ही दृष्टिसृष्टि का दृष्टिसृष्टित्व होने पर भी घटादि का दृष्टिसृष्टित्व हो सकता है अर्थात् दृष्टिसृष्टि की स्वसमसत्ताकदृष्टि की सिद्धि होने पर भी उसके विषय घटादि की भी स्वसमसत्ताकदृष्टि अव्याहत ही है।

शंका — ऐक्यप्रत्यभिज्ञा से विरोध है; क्योंकि दृष्टिसृष्टि में पूर्वकाल में प्रतीत का इस समय में अभाव है, और यह ऐक्यप्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति नहीं, कारण कि दीपादि में परिणामभेद के समान यहां बाधक का अभाव है (दीपज्वाला में ''सेयं ज्वाला'' यह प्रत्यभिज्ञा सादृश्यनिबन्धनभ्रान्ति है, क्योंकि उसमें प्रतिक्षण परिणामभेद बाधक है; किन्तु यहां ''सोऽयं घटः'' इत्यादि में प्रत्यभिज्ञा बाधक न होने से भ्रान्ति नहीं)। यदि बाधक का अभाव होने पर भी उसका भ्रान्तित्व मानेंगे तो घटादि का भी एक क्षण में भेद और आत्मा का भी प्रतिक्षण भेद होने का प्रसङ्ग है।

समाधान— नहीं, क्योंकि ''नेह नाना'' इत्यादि श्रुतियों से प्रपञ्च का मिथ्यात्व निश्चित होने पर रज्जुसर्पादि के समान प्रतिभासकाल के अतिरिक्तकाल में सत्त्व होने में प्रतिभासमात्रशरीरत्व ही बाधक है; अतः भिन्नकाल में स्थित आत्मभिन्न घटादि पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति है। आत्मा में एक प्रतीति एक कालावच्छेद से और घटादि में ऐक्य प्रत्यभिज्ञा तो भ्रान्ति नहीं; कारण कि एककालावच्छिन्न घटादि में अभेद का और आत्मा में अभेद में बाधक नहीं। और पुरुषान्तर को प्रतीत घटादि के साथ एक कालावच्छेद से भी घटादि में प्रत्यभिज्ञा तो भ्रम ही है; क्योंकि पुरुषभेद से प्रतिभास का भेद है। जैसे मन्दान्धकार में स्थित एक ही रज्जु में एककालावच्छेदेन सर्पभ्रम से

युगपत् सर्पभ्रमेण पलायमानानां परस्परसंवादेनैक एव सर्पः सर्वैरनुभूयत इति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः, अन्यभ्रमसिद्धस्यान्येन ज्ञातुमशक्यत्वात्। ननु—अत्र कथमभेदभ्रमः? तत्कारणस्य सादृश्यादेः कस्याप्यभावादिति—चेन्न, स्वप्नाभेदभ्रमवद् दृष्टिसृष्टिसिद्धसादृश्यादिसंभवात्। न चैवं—अभेद एवोत्पद्यतामिति—वाच्यम्, इष्टापत्तेः, रज्जुसर्पादिवदुत्पन्नस्यैव ग्रहणनियमात्। न च क्वचिदुत्पद्यते क्वचिन्नेत्यत्र नियामकाभावः, मायाया विचित्रशक्तिकत्वाभ्युपगमात्। न च—"सोऽयं देवदत्तः" इति दृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्ये जहदजहल्लक्षणयैक्य-परत्वोक्त्ययोग इति वाच्यम्, यद्यपि धर्मवद्धर्म्यभेदोऽपि बाधित एवेति जहदजहल्लक्षणापि न युज्यते, तथापि यदा धर्माभेदो बाधान्न गृहीतः, किन्तु धर्म्यभेद एव, तदा 'सोऽयम्' इत्यादौ जहदजहल्लक्षणासम्भवेन दृष्टान्तत्वोपपत्तिः। न चाभेदस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन तज्ज्ञानस्य बाधकत्वायोगः, आत्माभेदस्यात्मरूपत्वेन दृष्टिसृष्टित्वाभावात्, अन्यूनसत्ताकत्व-मात्रेण बाधकत्वोपपत्तेश्च। न च—साक्षात्कारस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन प्रमाणजन्यत्वाभावात्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पलायमान दस पुरुषों के परस्पर संवाद अर्थात् परस्पर मतैक्य से "सब ने एक ही सर्प देखा" इत्यात्मक प्रत्यभिज्ञान भ्रम है, क्योंकि अन्य के भ्रम से सिद्ध पदार्थ अन्य द्वारा जाना नहीं जा सकता।

शंका— इस दृष्टिसृष्टि में कैसे अभेद भ्रम होगा? क्योंकि अभेदभ्रम का कारणभूत सादृश्यादि कोई भी नहीं है।

समाधान — नहीं, क्योंकि स्वप्न मे अभेदभ्रम के समान यहां भी दृष्टिसृष्टि से सिद्ध सादृश्यादि सम्भव है।

शंका— ऐसा है तो—प्रत्यभिज्ञा के विषय में अभेद ही उत्पन्न हो।

समाधान— ऐसी आशंका न करें; क्योंकि उसमें इष्टापत्ति है, कारण कि रज्जुसर्पादि के समान उत्पन्न अभेद का ही ग्रहण होने का नियम है।

शंका — कहीं घटपटादि में अभेद उत्पन्न होता है और कहीं अर्थात् आत्मा में अभेद उत्पन्न नहीं होता है—इसमें नियामक का अभाव है।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि माया के विचित्रकार्योत्पादक शक्तिकत्व का अङ्गीकार किया जाता है।

शंका— "सोऽयं देवदत्तः" इस दृष्टान्त से "तत्त्वमसि" आदि वाक्य में जहदजहल्लक्षणा द्वारा ऐक्यपरत्व ही अयुक्त है (क्योंकि दृष्टिसृष्टि में दृष्टान्त में अभेद का अभाव है)।

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि यद्यपि धर्माभेदवत् धर्म्यभेद भी बाधित ही होने से जहदजहल्लक्षणा भी युक्तियुक्त नहीं; तथापि जब बाध से धर्माभेद गृहीत नहीं, किन्तु धर्म्यभेद ही गृहीत होना है, तब "सोऽयम्" इत्यादि में जहदजहल्लक्षणा सम्भव होने से दृष्टान्तत्व की उपपत्ति है।

शंका — अभेद के भी दृष्टिसृष्टित्व होने से अभेदज्ञान का प्रपञ्च के प्रति बाधकत्व अयुक्त है।

समाधान— नहीं, क्योंकि आत्माभेद के आत्मरूपत्व होने से दृष्टिसृष्टित्व का अभाव है, और अन्यूनसत्ताकत्वमात्र से बाधकत्व की उपपत्ति है।

शंका — साक्षात्कार के भी दृष्टिसृष्टित्व होने से प्रमाणजन्यत्व का अभाव होने के कारण तत्त्वज्ञानत्व के अभाव में साक्षात्कार से मुक्ति नहीं होगी।

तत्त्वज्ञानत्वाभावेन ततो मुक्तिर्न स्यादिति—वाच्यम्,अबाधितविषयत्वेनैव तत्त्वज्ञानत्वोपपत्तेः, तस्य च दृष्टिसृष्टित्वेऽप्यक्षतेः। न च 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवं विश्वमिदं जगत्'इत्यादिश्रुतिविरोधः, अनित्यतावादिभिरपि ध्रुवेत्यस्यान्यथानयने आवश्यके दृष्टिसृष्टिप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेन आकल्पं संतानाविच्छेदपरत्वस्यैव युक्तत्वात्, अन्यथा 'ध्रुवो राजा' इत्यादावगतेः। दृष्टिसृष्टौ च 'एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (बृ.२/१/२०) इति श्रुतिः सुप्तोत्थितजीवात् प्राणादिसृष्टिं प्रतिपादयन्ती प्रमाणम्। न च—सुषुप्तौ प्राणादिप्रपञ्चस्य सत्त्वात्किमर्थं पुनः सृष्टिरिति—वाच्यम्,'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ.४/३/२३) इत्यादिना सुषुप्तौ सकलकार्यप्रपञ्चलयश्रवणात्। न च सुषुप्तौ"हिता नाम नाड्यः" इति नाडीसत्त्वप्रतिपादकवाक्यविरोधः, केन क्रमेण सुषुप्तौ भवतीत्यपेक्षायां "हिता नाम नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" (बृ. ४/३/२३) इत्यादिना सुषुप्त्यव्यवहितकाले क्रमोक्तये नाडीसत्त्वं प्रतिपाद्यते, न तु सुषुप्तिकालेऽपि, वाक्यान्तरविरोधात्, प्राक् सत्त्वमात्रेण च क्रमाभिधानपर्याप्तेः। ननु—'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्' (बृ.२/१/१७) इति यच्छब्देन सुप्ताधारत्वेनोक्तस्य ब्रह्मण एवास्मादात्मान

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— यह कथन अनुचित है, क्योंकि अबाधितविषयत्व होने से ही तत्त्वज्ञानत्व की उपपत्ति है, और साक्षात्कार के दृष्टिसृष्टित्व होने पर भी कोई हानि नहीं।

शंका — "द्युलोक ध्रुव है, पृथिवी ध्रुव है, ये सब पर्वत ध्रुव हैं, यह सम्पूर्ण जगत् ध्रुव है" इत्यादि श्रुति से विरोध है।

समाधान— नहीं, क्योंकि विश्वानित्यतावादियों से भी "ध्रुव" पद का अन्यथानयन (अन्यार्थग्रहण) आवश्यक होने पर दृष्टिसृष्टि की प्रतिपादक श्रुति के अनुरोध से कल्प की समाप्ति तक संतानाविच्छेदपरत्व ही युक्त है, ध्रुव पद का नित्यार्थकत्व ही मानेगे तो "ध्रुवो राजा" अर्थात "स्थिर राजा है" इत्यादि मे गति नहीं। और दृष्टिसृष्टि में " इसी प्रकार ही इस आत्मा से सब इन्द्रियां, सब लोक, सब वेद, सब भूत और ये सब आत्मा निकलते है" इस रीति से, सुप्तोत्थित जीव से प्राणादिसृष्टि का प्रतिपादन करने वाली यह श्रुति प्रमाण है।

शंका— सुषुप्ति में प्राणादि प्रपञ्च का वर्तमानत्व होने से किस कारण उसकी पुनः सृष्टि है?

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि "वह द्वितीय तो नहीं है, जो उससे भिन्न विभक्त देखें" इत्यादि श्रुति से सुषुप्ति में सकलकार्यप्रपञ्च के लय का श्रवण है।

शंका — सुषुप्ति में 'हिता नामक नाड़ियां" इत्यादि नाड़ी सत्त्वप्रतिपादक श्रुतिवाक्य से विरोध है।

समाधान — नहीं; क्योंकि किस क्रम से सुषुप्ति में जीव होता है— ऐसी अपेक्षा होने पर "हिता नामक नाडियां हृदय से पुरीतत् नाड़ी तक चली जाती हैं; उन नाडियों से निकलकर जीव पुरीतत् में सोता है" इत्यादि से क्रमोक्ति के लिये सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में नाडीसत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, सुषुप्तिकाल में भी नाड़ीसत्व का प्रतिपादन नहीं; क्योंकि सुषुप्ति में सर्वप्रपञ्चलयप्रतिपादक वाक्यान्तर से विरोध है, और सुषुप्ति से पूर्व नाड़ीसत्त्वमात्र से क्रमाभिधान की पर्याप्ति है अर्थात् समञ्जसता है।

शंका— "जहां यह जीव इस प्रकार सुप्त था" इस श्रुति में "यत्" शब्द से सुप्तपुरुष के आधारत्वेन उक्त ब्रह्म का ही "अस्मादात्मनः" इस श्रुतिवाक्य से परामर्श होने के कारण ब्रह्मकर्तृक

(बृ.२/१/२०) इत्यनेन परामर्शात्तत्कर्तृकैव प्राणादिसृष्टिर्न तु सुप्तोत्थितजीवकर्तृका, अन्यथाग्न्यूर्णनाभ्यादेस्तन्तुविस्फुलिङ्गादिजननोक्तिरत्रापि वाक्ये सर्वलोकसृष्ट्युक्तिश्चालीकार्था स्यात्, न हि दृष्टिसृष्टिपक्षे अग्न्यूर्णनाभ्यादेस्तन्त्वादिजनकत्वं सर्वलोकसृष्टिर्वास्तीति—चेत्, न, यत्रेत्यस्य कालपरत्वेन यच्छब्देन ब्रह्मणो निर्देशाभावात्। न च यत्रेत्यस्य ब्रह्म—रूपाधिकरणपरत्वं कालपरत्वं वेत्यत्र विनिगमनाविरहः,अनन्तरवाक्ये "क्वैष तदाभूत्" इत्यत्र क्व तदेति पदद्वयोपादानस्यैव विनिगमकत्वात्, यत्रेत्यनेन देशनिर्देशे क्वेति देशप्रश्नानुपपत्तेः, कालानिर्देशे च तदेति प्रतिनिर्देशानुपपत्तेः, भाष्यकारादिभिश्च स्थूलाधिका—रिणं प्रति तथा व्याख्यानात्, ऊर्णनाभ्यादेस्तन्त्वादिजन्मोक्तिस्तु लौकिकभ्रमसिद्ध—कार्यकारणभावप्रसिद्धिमनुरुध्य। सर्वलोकादिसृष्टिश्च तत्तद्दृष्टिव्यक्तिमभिप्रेत्य, यदा यत् पश्यति, तत्समकालं तत् सृजतीत्यत्र तात्पर्यात्। न चाविद्यासहकृतजीवकारणकत्वे जगद्वैचित्र्यानुपपत्तिः, जगदुपादानस्याज्ञानस्य विचित्रशक्तिकत्वात्। उपपत्त्यन्तरं चात्र सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकादावस्माभिरभिहितम्। वासिष्ठवार्तिकामृतादावाकरे च स्पष्टमेवोक्तम्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ही प्राणादिसृष्टि है, सुप्तोत्थित जीवकर्तृक तो नहीं; यदि ब्रह्मकर्तृक न मानकर जीवकर्तृक प्राणादिसृष्टि मानोगे तो अग्नि, ऊर्णनाभि आदि से विस्फुलिङ्ग, तन्त्वादि की जननोक्ति और "अस्मादात्मनः" इस वाक्य में भी सर्वलोकादि की सृष्ट्युक्ति अलीकार्थिका हो जायेगी; कारण कि दृष्टिसृष्टिपक्ष में अग्नि ऊर्णनाभ्यादि में विस्फुलिङ्ग तन्त्वादि का जनकत्व नहीं, अथवा सर्वलोक की सृष्टि नहीं।

समाधान — नहीं; क्योंकि "यत्र" इस पद के कालपरत्व होने से "यत्" शब्द से ब्रह्म के निर्देश का अभाव है।

शंका — "यत्र" इस पद का ब्रह्मरूपाधिकरणपरत्व है, अथवा कालपरत्व है— इसमें विनिगमना (एकतरपक्षपातिनी युक्ति) का अभाव है।

समाधान — ऐसा भी नहीं; क्योंकि "यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्" इस वाक्य के अनन्तरवाक्य "क्वैष तदाभूत् कुत एतदागात्" इस "क्व तदा" इस प्रकार पदद्वय का उपादान ही यहां विनिगमक है। "यत्र" इस पद से अधिकरणत्वेन देश का निर्देश होने पर तो "क्व" इसप्रकार देशविषयक प्रश्न की अनुपपत्ति है और काल का अनिर्देश होने पर "तदा" इस प्रकार प्रतिनिर्देश की अनुपपत्ति है; और भाष्यकारादियों ने स्थूल (मन्द) अधिकारियों के प्रति वैसा व्याख्यान किया है (अर्थात् मन्दाधिकारियों को समझाने के लिये दृष्टिसृष्टिपक्ष को न लेकर "यत्र" पद से ब्रह्म का ग्रहण करके व्यावहारिक सृष्टिविषयत्वेन व्याख्यान किया है) और ऊर्णनाभ्यादि से तन्त्वादिजन्मोक्ति तो लौकिक भ्रमसिद्ध कार्यकारणभाव की प्रसिद्धि के अनुरोध से है; और सर्वलोकादि की सृष्टि भी तत्तदृष्टिव्यक्ति के अभिप्राय से है, क्योंकि " जिस समय जिसको देखता है, तत्समकाल उसको रचता है"— इसमें ही उसका तात्पर्य है।

शंका — अविद्यासहकृत जीव को कारण मानने पर तो जगत् के वैचित्र्य की अनुपपत्ति है।

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि जगदुपादानभूत अज्ञान का विचित्रशक्तिकत्व है। और इस विषय में युक्त्यन्तर का हमने सिद्धान्त बिन्दु, कल्पलतिकादि में कथन किया है और योग वासिष्ठ वार्तिकामृतादि आकर—ग्रन्थ में दृष्टिसृष्टि के विषय में स्पष्ट ही कहा है। यथा—"ये सब दृश्यमान

यथा–

'अविद्यायोनयो भावाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव।
क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम्॥'

इत्यादि। तस्मात् ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नं द्वैतजातं ज्ञानज्ञेयरूपमाविद्यकमेवेति प्रातीतिकसत्त्वं सर्वस्येति सिद्धम्। रज्जुसर्पादिवद्विश्वं नाज्ञातं सदिति स्थितम्। प्रबुद्धदृष्टिसृष्टित्वात्सुषुप्तौ च लयश्रुतेः।

इत्यद्वैतसिद्धौ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भाव पदार्थ अविद्योपादानक ही हैं, बुद्बुदे के समान क्षण भर के लिये अभिव्यक्त होकर ज्ञानमात्ररूप समुद्र में विलय को प्राप्त होते हैं" इत्यादि। इस कारण ब्रह्म के अतिरिक्त उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण ज्ञानज्ञेयरूप द्वैतप्रपञ्च आविद्यक ही है; अत: सबका प्रातीतिकसत्त्व सिद्ध है। और रज्जुसर्पादि के समान विश्व अज्ञात सत् नहीं–यह स्थित है; क्योंकि प्रबुद्ध हो जाने पर इन सबका दृष्टिसृष्टित्व है और सुषुप्ति में इनके लय की श्रुति भी है॥

इत्यद्वैतसिद्धौ दृष्टसृष्ट्युपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः॥



३९ : अथ एकजीववादः

स च द्रष्टैक एव; तन्नानात्वे मानाभावात्। ननु— कथमेक एव जीवः, प्रतिशरीरं 'अहं सुखी अहं दुःखी अहं संसारी अहमस्वाप्स' मित्याद्यनुभवविरोधादिति चेन्न; अविद्यावशाद् ब्रह्मैवैकं संसरति। स एव जीवः। तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादिबुद्धिः स्वाप्नशरीरं 'अयं सुखी अयं दुःखी'त्येव यत्र बुद्धिर्न त्वहं सुखीत्यादि, तत्तुनिर्जीवम्। यत्र त्वहमित्यादि तत्सजीवम्। जाग्रच्छरीरान्तरे अहमिति प्रतीत्यवच्छेदके सजीवतोक्तिर्न द्वितीयेन जीवेन सजीवत्वमित्यभिप्रेत्य, तत्र मानाभावात्। बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तिस्तत्र मानमिति चेन्न, बन्धमोक्षगुरुशिष्यादिव्यवस्थायाः स्वप्नवद्यावदविद्यमुपपत्तेः। न चैवं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव जीवे सुप्ते समस्तजगदप्रतीत्यापातः, समष्ट्यभिमानिनो मुख्यजीवस्यासुप्तवात्। तस्मिन् लयकाले प्रसुप्ते जगदप्रतीतेः। अन्तःकरणावच्छिन्ने जीवाभासे तु, सुप्ते तमेव प्रति जगदप्रतीतिः, न त्वन्यानपि प्रति, तदुपाधीनामप्रलीनत्वात्। संस्कारस्य कारणात्मना स्थितेर्न सुप्तस्य पुनरुत्थानानुपपत्तिरित्युक्तम। एतेन— मम कल्पकत्वे तव मोक्षार्थ प्रवृत्त्ययोगः, तव कल्पकत्वे त्वत्कल्पितास्मदादिबोधार्थं तव शब्दप्रयोगाद्यनुपपत्तिः, न च स्वप्नवत्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वह जीवरूप द्रष्टा एक ही है, कारण कि उसके नानात्व में प्रमाण का अभाव है।

शंका – कैसे एक ही जीव हो सकता है? क्योंकि प्रति शरीर में "मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं संसारी, मैं सोया था" इत्यादि अनुभव से विरोध है।

समाधान— नहीं; क्योंकि अविद्यावश से एक ही ब्रह्म संसारी हो रहा है और वही जीव है। उसकी ही प्रतिशरीर में "मैं" इत्यादि बुद्धि है। स्वाप्नशरीर में "यह सुखी, यह दुःखी" इस प्रकार से ही जिस शरीर में बुद्धि होती है, "मैं सुखी" इत्यादि बुद्धि नहीं होती; वह शरीर निर्जीव है (अर्थात् जीवावच्छेदक मन सुखादि का अवच्छेदक नहीं)। और जिस शरीर में " मैं" इत्यादि बुद्धि है, वह सजीव है। और "मैं" इस प्रकार की प्रतीति का अवच्छेदक जाग्रच्छरीरान्तर में जो सजीवता की उक्ति है,वह द्वितीय जीव से सजीवत्व के अभिप्राय से नहीं; कारण कि शरीरान्तर के सजीवत्व में प्रमाण का अभाव है।

शंका— बन्धमोक्षादि की व्यवस्था की अनुपपत्ति ही उसमें प्रमाण है।

समाधान— नहीं; क्योंकि बन्धमोक्ष, गुरुशिष्यादि की व्यवस्था स्वप्नव्यवस्था के समान जब तक अविद्या है, तब तक हो सकती है।

शंका— तब तो उसी एक जीव के सुप्त हो जाने पर समस्त जगत् की अप्रतीति का प्रसङ्ग है।

समाधान— नहीं; समष्ट्यभिमानी (हिरण्यगर्भात्मक) मुख्य जीव असुप्त है; प्रलयकाल में उसके प्रसुप्तत्व होने पर जगत् की अप्रतीति है। और अन्तःकरणाऽवच्छिन्नजीवाभास सुप्त होने पर तो उसके ही प्रति जगत् की अप्रतीति है, अन्य जीवाभासों के प्रति तो अप्रतीति नहीं, क्योंकि उनके उपाधिभूत अन्तःकरणों का अप्रलीनत्व है। और संस्कारों की कारणरूप से स्थिति होने से सुप्त के पुनरुत्थान की अनुपपत्ति नहीं— यह बात पूर्व ही कह चुके हैं। और इस वक्ष्यमाण हेतु से— मेरा जगत्कल्पकत्व होने पर तेरी मोक्षार्थ प्रवृत्ति का अयोग है, और तेरा कल्पकत्व होने पर तुम से कल्पित अस्मादादि के बोधार्थ तेरे शब्द प्रयोगादि की अनुपपत्ति है, और स्वप्न में जैसे पर्यनुयोग (इस प्रकार के प्रश्न करना) अयुक्त है, वैसे यहां भी यह पर्यनुयोग अयुक्त है—ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि इस प्रकार से अपर्यनुयोज्यत्व (प्रश्न करने का अयोग्यत्व) होने पर तो

पर्यनुयोगायोगः, एवमपर्यनुयोज्यत्वे निर्मर्यादतया कथानधिकारप्रसङ्गादिति— निरस्तम्, चैत्रमैत्रादि— सर्वाभिमानिनो जीवस्य कल्पकत्वेन तव ममेत्यादिविकल्पानुपपत्तेः। नापि स्वक्रियादिविरोधः, स्वक्रियायाः कल्पितत्वादिनिश्चयविरहकालीनत्वेन पर्यनुयोगायोगात्। अथ ब्रह्मण एव जीवत्वेन तस्यैव बन्धमोक्षाविति तस्य नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिविरोधः, न, मुक्तेः स्वस्वरूपत्वेन बन्धस्य चाविद्यकत्वेन तदविरोधः। न हि मृगतृष्णिकाकल्पितोदकेन स्वभावशुष्का मरुभूमिरार्द्रा भवति। एतेन— कल्पितस्य जीवस्य कल्पकं प्रति प्रत्यक्त्वायोगः, तेन कल्पकेन प्रत्यक्त्वेनाज्ञानात्, अन्यस्यानुभवितुरभावात्, तथानुभवापलापे एकजीवाद्वैतश्रुत्यादेरप्यसिद्धिरिति—निरस्तम्, अनेकशरीरे एकजीववादस्याङ्गीकारात्। न च— तर्हि तमेव प्रति प्रत्यक्त्वपराक्त्वयोरयोगः, मैत्रं प्रति त्वमितिधीविषयस्य चैत्रस्य तमेव प्रति अहमिति धीविषयत्वायोगश्चेतिवाच्यम्, भिन्नभिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादाय प्रत्यक्त्वपराक्त्वाहमित्यादिबुद्धिविषयत्वव्यवस्थोपपत्तेः। न च चैत्रसुखदुःखादीनां मैत्रेणानुसन्धनापपत्तिः, अन्तःकरणावच्छिन्नेनाविद्यावच्छिन्नेन वा? नाद्यः,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

मर्यादा से रहितत्व होने के कारण जल्पादिकथा में अनधिकार का प्रसङ्ग है— यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि चैत्रमैत्रादि सब में अभिमानी मुख्य जीव के ही कल्पकत्व होने से तेरा—मेरा, इत्यादि विकल्प की अनुपपत्ति है। और इसमें स्वक्रिया का विरोध भी नहीं; कारण कि स्वक्रिया कल्पितत्वादिनिश्चय के अभावकाल में होने से (और समयबन्ध विशेषमूलक होने से) पर्यनुपयोग का अयोग है।

शंका — ब्रह्म का ही जीवत्व होने से उसका ही (ब्रह्म का ही) बन्ध और मोक्ष होने के कारण उसके नित्यमुक्तत्वादि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से विरोध है।

समाधान — नहीं; क्योंकि मुक्ति स्वस्वरूप है और बन्ध आविद्यक है; अतः दोनों में विरोध नहीं। कारण कि मृगतृष्णिका से कल्पित जल से स्वभावतः शुष्क मरूभूमि गीली नहीं होती। और एक ही मुख्य जीव के कल्पकत्व होने से—कल्पित जीव के कल्पक जीव के प्रति प्रत्यक्त्व का अयोग है; क्योंकि उस कल्पक जीव से कल्पित जीव प्रत्यक्त्वेन अज्ञात है, और अन्य अनुभविता का अभाव है और तथानुभव अर्थात् नानाशरीरों में जीव के प्रत्यक्त्वेन अनुभव का अपलाप होने पर एक जीव, अद्वैत श्रुत्यादि की भी असिद्धि होगी (क्योंकि वहां भी अद्वैतानुभवादि का अपलाप सम्भव है)— ऐसा कथन भी निरस्त हुआ; क्योंकि अनेक शरीर में एकजीववाद का अङ्गीकार है।

शंका — तब तो उस एक जीव के ही प्रति प्रत्यक्त्व और पराक्त्व का अयोग है; और मैत्र के प्रति ''त्वम्'' इत्याकार धी के विषय चैत्र में उस मैत्र के ही प्रति ''अहम्'' इत्याकारधी के विषयत्व का अयोग है (अर्थात् अनेक शरीर में एक जीव मान लिया जाय तो जिस चैत्र को मैत्र ''तू'' शब्द से कहता है, उस चैत्र को ''मैं'' शब्द से भी मैत्र द्वारा कहना चाहिये; किन्तु कहा नहीं जाता; अतः एकजीववाद अनुचित है)।

समाधान— ऐसा न कहें, क्योंकि भिन्न—भिन्न अन्तःकरणों के साथ तादात्म्यध्यास होने के कारण तत्तदन्तःकरण को लेकर प्रत्यक्त्व, पराक्त्व और ''अहम्'' इत्यादि धी विषयत्व की व्यवस्था हो सकती है।

शंका— ऐसा होने पर चैत्र के सुख दुःखादियों के मैत्र द्वारा अनुसन्धान की आपत्ति है।

समाधान— नहीं; क्या वह अनुसन्धानापत्ति अन्तःकरणावच्छिन्न मैत्रीय जीव से है अथवा

तत्र परस्परं भेदात्। न द्वितीयः, इष्टापत्तेः। अत एव–चैत्रस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण रजतभ्रमनिवृत्तावन्येषामपि तन्निवृत्तिः स्यादिति–निरस्तम्, अन्तःकरणभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः। ननु– एवं मुक्तावपि चैत्राद्यन्यतमान्तः– करणावच्छेदेन साक्षात्कारे उत्पन्ने तदवच्छेदेनैव संसारनिवृत्तिः स्यात्, न तु तदितरान्तःकरणावच्छेदेनेति– चैन्न, तत्साक्षात्कारस्य सविलासमूलाज्ञाननिवृत्तिरूपतया तत्कालेऽन्तःकरणस्याभावेन वैषम्यात्।

ननु' श्रुतिषु 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानां' इत्यादावविद्या, 'रमणीयचरणा' इत्यादौ कर्मबन्धः, 'सति सम्पद्य न विदु'रित्यादौ सति सुषुप्तिः, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इत्यादौ तत्त्वज्ञानं, 'परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे'इत्यादौ मुक्तिश्च चेतनधर्मः कथमनेकेषूच्यत इति– चेन्न, 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते'इत्यादिश्रुतिष्वेकवचनप्राप्तैक–त्वविरोधेनोदाहृतश्रुतीनामनेकत्वपरत्वाभावात्। सर्वजनीनभ्रमसिद्धतदनुवादेनाविरोधात्। न च–उदाहृतश्रुतिविरोधेन 'इति सृष्टौ विनिश्चिता' इति पूर्वेण 'स पूज्यः सर्वभूताना'मित्युत्तरेण

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अविद्यावच्छिन्न मैत्रीय जीव से? आद्य नहीं; क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्नों में परस्पर भेद है। द्वितीय भी नहीं; क्योंकि उस में इष्टापत्ति है– (क्योंकि अविद्यावच्छिन्न जीव समष्ट्यभिमानी होता है)। इस कारण– चैत्र के शुक्तिसाक्षात्कार से रजतभ्रम की निवृत्ति होने पर अन्यों की भी रजतभ्रमनिवृत्ति होगी– ऐसा कथन निरस्त हुआ, क्योंकि अन्तःकरणों के भेद से व्यवस्था की उपपत्ति है।

शंका– इसी प्रकार से मुक्ति में भी, चैत्रादिकों में से अन्यतम के अन्तःकरणावच्छेद से साक्षात्कार उत्पन्न होने पर उस अन्तःकरण के अवच्छेद से ही संसार की निवृत्ति होनी चाहिये, उस अन्तःकरण से भिन्न अन्तःकरण के अवच्छेद से तो होनी नहीं चाहिये।

समाधान– नहीं; क्योंकि मुक्तिदायक साक्षात्कार कार्यसहितमूलाज्ञाननिवृत्तिरूप होने से मुक्तिकाल में अन्तःकरण का अभाव होने के कारण वैषम्य है। (पल्लवरूप अज्ञान का तत्तदन्तःकरणा–वच्छिन्नत्व होने से तत्तदन्तःकरण परिणामरूप साक्षात्कार ज्ञान से उसकी निवृत्ति है, और मूलाज्ञान का तो अन्तःकरणानवच्छिन्नत्व होने से, किसी एक अन्तःकरण के परिणामरूप ज्ञान से उसकी निवृत्ति मानने पर तो सर्वदृश्य की निवृत्ति होने से अन्तःकरणान्तर ही दुर्लभ है– यह भाव है)।

शंका– श्रुतियों में –''अविद्यावस्था में वर्तमान'' इत्यादि में अविद्या, ''रमणीय चरित्रवाले'' इत्यादि में कर्मबन्ध, ''सत् में सम्पन्न होकर नहीं जानते'' इत्यादि सत् में सुषुप्ति, ''वेदान्तविज्ञान से सुनिश्चितार्थ वाले'' इत्यादि में तत्त्वज्ञान, और ''परामृत से सब मुक्त होते हैं'' में चेतनधर्म मुक्ति इत्यादि में, अनेक जीवों में क्यों कहते हैं?

समाधान– ऐसा नहीं; क्योंकि ''अनादिमाया से सुप्त जीव जब प्रबुद्ध होता है'' इत्यादि श्रुतियों में एकवचन से प्राप्त एकत्व से विरोध होने के कारण उदाहृतश्रुतियों के अनेक जीवपरत्व का अभाव है, और सार्वजनीन भ्रम से सिद्ध जीवानेकत्व का अनुवाद होने से विरोध भी नहीं। (यहां पर उदाहृत गौडपादीयकारिका श्रुति न होने से ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' '' स एष इह प्रविष्टः'' इत्यादि श्रुतियों का अभिप्राय है– ऐसा समझना चाहिये)।

शंका – जीवानेकत्वप्रतिपादक उदाहृत श्रुतियों से विरोध होने से, और ''इस प्रकार सृष्टि के विषय विनिश्चित हैं'' इस पूर्ववचन से और ''सर्वभूतों में वह पूज्य है'' इस उत्तर वचन से भी विरोध होने से ''यदा जीवः प्रबुध्यते'' यह एकवचन ''जब नीति पर राजा होता है'' ''स्वर्गकाम याग करे''

च विरोधेनेदमेकवचनं 'यदा नीतिपरो राजा' ' स्वर्गकामो यजेत'' इत्यादिवन्नैकत्वपरमित्येव किं न स्यादिति—वाच्यम्, प्रत्यक्त्वपराक्त्वत्वमहमित्यादिव्यवहारप्रयोजकान्तःकरणाभेदाध्यासबलाद् बहुत्वस्य प्राप्तत्वेन पूर्वोत्तरवाक्योदाहृतश्रुत्यादीनामतत्परत्वात्। न च—मुक्तबहुत्वं नान्यतः प्राप्तमिति—वाच्यम्, जीवबहुत्वस्य प्राप्तत्वेन मुक्त्यंश एवाप्राप्तत्वपर्यवसानात्। न चैकस्यैव जीवस्य सर्वकल्पकत्वे जीवस्य कारणत्वं निषिध्य ईश्वरकारणत्वविधायकैः श्रुत्यादिभिर्विरोधः, अविद्याचिन्मात्राश्रयत्वोपपादने निरसिष्यमाणत्वात्। न च— एवं सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिबोधकश्रुतीनां निर्विषयत्वम्, शुद्धचैतन्ये सत्त्वस्यैवाभावात्, ईश्वरस्य च जीवभिन्नस्याभावाद्, जीवे सार्वज्ञस्यानुभवबाधितत्वादिति—वाच्यम्, समष्टयभिमानिनो जीवस्य सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिस्वीकारात्। न चानुभवविरोधः, अन्तःकरणाभेदाध्यासबलात्तदननुभवतद्विपरीतानुभवयोरुपपत्तेः। सर्वाभिमानिनस्तु सार्वज्ञानुभवोऽस्त्येव। अत एव 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप'इत्याद्युपपद्यते। न च—'आचार्यवान्पुरुषो वेदे'ति श्रुतेरुपदेशं विना जीवस्य तत्त्वज्ञानमनुपपन्नम्, उपदेष्टव्यादन्यस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इत्यादि वाक्य के समान एकत्वपरक नहीं (किन्तु जाति में एकवचन है)— ऐसा क्यों न हो?

समाधान— ऐसा न कहिये; क्योंकि प्रत्यक्त्व, पराक्त्व, तू, मैं, इत्यादि व्यवहार के प्रयोजक अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास के बल से बहुत्व प्राप्त होने से पूर्वोत्तरवाक्य और उदाहृतश्रुतियों का अनेकत्वपरत्व नहीं।

शंका — मुक्तों का बहुत्व तो अन्य किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं।

समाधान— ऐसा भी न कहो, क्योंकि जीव बहुत्व प्राप्त होने से मुक्त्यंश में ही बहुत्व के अप्राप्तत्व का पर्यवसान है (अर्थात् मुक्तिविशिष्ट जीवों में प्रमाणान्तर से बहुत्व प्राप्त है, किन्तु विशेषणीभूत मुक्ति में बहुत्व प्राप्त नहीं, वह एक ही है)।

शंका — एक ही जीव का सर्वकल्पकत्व होने पर तो जीव के कारणत्व का निषेध करके ईश्वरकारणत्व की विधायक श्रुत्यादिकों से विरोध है।

समाधान— नहीं; क्योंकि अविद्या के चिन्मात्राश्रयत्व के उपपादन के अवसर पर इस कथन का निराकरण किया जाने वाला है।

शंका— इसी प्रकार से तो सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वादि की बोधिका श्रुतियों का निर्विषयत्व होगा, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में सत्त्वगुण का ही अभाव है, और जीवभिन्न ईश्वर का अभाव है तथा जीव में सर्वज्ञत्व अनुभव से बाधित है।

समाधान— ऐसा न कहिये; क्योंकि समष्ट्यभिमानी हिरण्यगर्भात्मक जीव के सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वादि का हमें अङ्गीकार है, और अनुभव से विरोध भी नहीं; क्योंकि अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास के बल से सर्वज्ञत्वादि का अननुभव और उसके विपरीत असर्वज्ञत्वादि का अनुभव हो सकता है और सर्वाभिमानी हिरण्यगर्भरूप जीव का तो सर्वज्ञत्वानुभव है ही। सर्वाभिमानी के सर्वज्ञत्व होने से ही—'हे परन्तप! उन जन्मों को मैं जानता हूं, उनको तुम नहीं जानते हो'' यह गीतावचन उपपन्न है।

शंका — ''आचार्यवान् पुरुष उस तत्त्व को जानता है'' इस श्रुति से उपदेश के बिना जीव का तत्त्वज्ञान अनुपपन्न है, और उपदेष्टव्य जीव से भिन्न चैतन्य के अभाव से उपदेश होना असम्भव है।

चैतन्यस्याभावाच्च नोपदेशो युज्यत इति– वाच्यम्, स्वप्न इवोपदेष्टुः कल्पितस्य संभवात्।
ननु– उपदेष्टृत्वं न कल्पितमात्रस्य, किंतु तत्त्ववित्त्वेन कल्पितस्य, तथा चोपदेशत्प्राक्तत्त्वज्ञाने तदैव मोक्षापत्तिः, उपदेशवैयर्थ्यं च, न चैवं स्वप्नेऽपि तुल्यम्, तदा हि शब्दविशेषवक्तृत्वेनैव गुरुकल्पना, न तूपदेशसाध्यज्ञानविषयविशेषवित्त्वेनेति विशेषादिति–चेन्न, अत्रापि तद्वदेव वाक्यविशेषवक्तृत्वेनैव तत्कल्पनसंभवात्। ननु– तर्हि "यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूही'त्यादिश्रुतिः 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन' इत्यादिस्मृतिश्चायुक्ता स्यादिति– चेन्न, सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविषयवित्त्वेनाज्ञाततत्त्ववित्त्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वेन वा कल्पितस्य उपदेष्टृत्वसंभवेन उदाहृतवाक्याविरोधात्। अन्यथा तवापि मते तत्त्ववित्त्वेन प्रमित एवाचार्यत्वेनानुसरणीय इति प्रथमत एव तत्त्वज्ञाने तत्कालमोक्षापत्त्युपदेशवैयर्थ्यादिकं व स्यात्। एतेन– 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्य मित्यादिविधिरपि भावितत्त्वज्ञानिकल्पकचेतनं प्रत्येव, न च तस्य शिष्यः स्वाज्ञानकल्पित इति ज्ञानतस्तन्मोक्षार्थं प्रवचने प्रवृत्तिर्युक्ता, न च स्वप्नवत् कल्पितत्वाज्ञानात्प्रवृत्तिः, तत्त्वविदस्तदज्ञानानुपपत्तेरिति–निरस्तम्, स्वप्नगुरुवत् कल्पितत्वेन गुरोरपर्यनुयोज्यत्वात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि स्वप्न के समान कल्पित उपदेष्टा सम्भव है।

शंका – कल्पितमात्र का उपदेष्टृत्व नहीं हो सकता, किन्तु तत्त्ववित्त्वरूप से कल्पित का उपदेष्टृत्व होना चाहिये; तब तो उपदेश से पूर्व तत्त्वज्ञान होने पर उसी समय में ही उसकी मोक्षापत्ति है, और उपदेश के बिना उसको ज्ञान हो जाय तो उपदेश व्यर्थ है, और यह स्वप्न में भी तुल्य नहीं; क्योंकि स्वप्नकाल में शब्दविशेष के वक्तृत्वरूप से ही गुरु की कल्पना है, उपदेश से साध्य ज्ञान के विषयविशेष में ज्ञातृत्वरूप से तो गुरु की कल्पना न होने से विशेष है।

समाधान– ऐसा नहीं; क्योंकि जाग्रद्व्यवहार में भी स्वप्नवत् ही वाक्यविशेषवक्तृत्व रूप से ही गुरु की कल्पना सम्भव है।

शंका– तब तो– " जो आप जानते हैं, उसको ही मुझे कहिए" इत्यादि श्रुति, " तेरे लिए तत्त्वदर्शी ज्ञानी जन उपदेश करेंगे" इत्यादि स्मृति अयुक्त होगी।

समाधान– नहीं, क्योंकि सामान्यरूप से मोक्षोपयोगिज्ञानवित्त्वरूप से अथवा अज्ञाततत्त्ववित्त्वरूप से अथवा "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य वक्तृत्वरूप से कल्पित के उपदेष्टृत्वसंभव होने से उदाहृत श्रुतिस्मृतिवाक्यों से विरोध का अभाव है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो तुम्हारे मत में भी तत्त्ववित्त्वरूप से प्रमित ही आचार्यरूप से अनुसरणीय होने से अनुसरण करने के पूर्व ही उसका तत्त्वज्ञान होने पर उसी समय में उसकी मोक्षापत्ति और उपदेशवैयर्थ्यादि होंगे। इस प्रकार स्वप्नवत् व्यवस्था के उपपादन से–" स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद करना नहीं चाहिये" इत्यादि विधि भी भावी तत्त्वज्ञानी के कल्पक चेतन के प्रति ही है, उस कल्पक का शिष्य अपने (कल्पक के) अज्ञान से कल्पित नहीं; अतः ज्ञान से शिष्य के मोक्ष के लिए प्रवचन अर्थात् वेदाध्यापन में प्रवृत्ति युक्त ही है और स्वप्न में जिस प्रकार गुरु को शिष्य में, स्वाज्ञानकल्पितत्व के अज्ञान से प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार उक्तकल्पक की शिष्य में स्वाज्ञानकल्पितत्व के अज्ञान से प्रवृत्ति नहीं; क्योंकि तत्त्ववित् के स्वाज्ञानकल्पितत्वाज्ञान की अनुपपत्ति है–ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि स्वप्नगुरु जिस प्रकार कल्पित होने से पर्यनुयोज्य नहीं अर्थात् स्वप्न में कल्पितगुरु अनुभव सिद्ध होने से शंक्य नहीं, उसी प्रकार कल्पितत्वेन जाग्रद्गुरु अनुभवसिद्ध

न च—तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन वेदस्य मीमांस्यत्ववद् गुरोरपि पर्यनुयोज्यत्वमिति वाच्यम्, तर्केण वेद इव तत्तद्रूपकल्पनया गुरावपि तत्परिहारात्। न च—कथास्वपि सदुत्तरापरिस्फूर्तावहं त्वत्कल्पितो न पर्यनुयोज्य इत्युत्तरं स्यादिति—वाच्यम्, कथायाः कल्पितत्वानिश्चयकालीनत्वेन समयबन्धविशेषनिबन्धनत्वेन च तादृगुत्तरानवकाशात्। तस्माच्छिष्यवत् गुरोरपि कल्पितत्वात् स्वप्नवत्सर्वव्यवस्थोपपत्तिः।

अथ—कल्पको न निश्चिताद्वैतः, शास्त्रप्रणयनवैयर्थ्यात्, नाप्यनिश्चिताद्वैतः शास्त्रस्य प्रमामूलकत्वाभावप्रसङ्गादिति—चेन्न, प्रमामूलकत्वाभावेऽप्यबाधितविषयत्वेन शास्त्रप्रामाण्योपपत्तेरन्त्यपक्षाभ्युपगमात्। न चामुकः स इत्यनिश्चये बह्वायाससाध्यमोक्षार्थ प्रवृत्त्ययोगः, प्रतिशरीरमहमहमिकया 'बद्धोऽह'मिति निश्चयस्य स्वानुभवसाक्षिकत्वेन प्रवृत्तिसंभवात्, एकनैव जीवेन चैत्रमैत्रादिशरीराणां सजीवत्वसंभवस्य प्रागेवोक्तत्वात्। किं च चैत्रमैत्रादिषु 'कोऽसा' विति प्रश्नस्य किं केनचित् क्रोडीकृतं चैतन्यं विषयः, किं वा निरस्तसमस्तभेदम्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने से शंका योग्य नहीं।

शंका — तत्त्वज्ञानहेतु होने के कारण जिस प्रकार दोषादि निवारणार्थ वेद मीमांस्य (विचार्य) होता है; उसी प्रकार गुरु भी तत्त्वज्ञानहेतु होने से दोषादिनिवारणार्थ शंकायोग्य है।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि वेद में तर्क से दोषों का परिहार जैसा होता है, वैसा ही गुरु में भी मोक्षोपयोगिज्ञानविषयवित्त्वादि तत्तद्रूप की कल्पना से दोषों का परिहार हो सकता है।

शंका— जल्पादि कथाओं में भी निर्दुष्ट उत्तर की परिस्फूर्ति न होने पर " मैं तो आपसे कल्पित हूं, अतः दोष देने योग्य नहीं हूं" ऐसा उत्तर भी होने लगेगा।

समाधान— ऐसा भी न कहो, क्योंकि कथा कल्पितत्व के अनिश्चयकाल में ही होने से और नियम सम्बन्ध विशेष के अधीन होने से उस प्रकार से उत्तर देने का अवकाश ही नहीं रहता। इस कारण शिष्य के समान गुरु के भी कल्पितत्व होने से स्वप्न की व्यवस्था के समान जाग्रत में भी सर्वव्यवस्था की उपपत्ति है।

शंका— शिष्यादि का कल्पक—गुरु निश्चिताद्वैत (अद्वैतसाक्षात्कारी) नहीं; क्योंकि उस परिस्थिति में शास्त्रप्रणयन व्यर्थ होने का प्रसङ्ग है (अर्थात् अद्वैत का निश्चय शास्त्र कल्पना से पूर्व होने के कारण उसके लिये शास्त्रकल्पना व्यर्थ है); और वह कल्पक अनिश्चिताद्वैत (अद्वैत को निश्चय न करने वाला) भी नहीं; क्योंकि उससे कल्पितशास्त्र में निश्चयमूलकत्व के अभाव का प्रसङ्ग है।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि निश्चयमूलकत्व का अभाव होने पर भी, अबाधितविषयत्व होने से, शास्त्रप्रामाण्य की उपपत्ति होने से अन्त्यपक्ष का अङ्गीकार है।

शंका— वह कल्पक अमुक जीव है— ऐसा निश्चय न होने पर बहुपरिश्रमसाध्य मोक्ष के लिये प्रवृत्ति अयुक्त है।

समाधान— नहीं; क्योंकि प्रति शरीर में "अहं अहं" इस प्रकार की बुद्धि से 'मैं बद्ध हूँ" इस निश्चय के स्वानुभवसाक्षिकत्व होने के कारण मोक्ष के लिये प्रवृत्ति सम्भव है; और एक ही जीव से चैत्र मैत्रादि के शरीरों का सजीवत्व सम्भव पहले ही कह चुके हैं। इसके अतिरिक्त चैत्र मैत्रादियों में "वह कल्पक कौन है" इस प्रश्न का क्या किसी के द्वारा मन आदि—द्वार क्रोडीकृत (विशिष्ट) चैतन्य विषय है? अथवा निरस्तसमस्तभेद चैतन्य है? आद्य नहीं; क्योंकि वह कल्पित

नाद्यः, तस्य कल्पितत्वेनाकल्पकत्वात्। न द्वितीयः, तस्यैकत्वेन तदनिश्चयासिद्धेः। शुद्धचित् एकत्वेन वस्तुतोऽसंसारित्वेऽपि आवरणविक्षेपशक्तिद्वयशालिस्वाश्रिताविद्यावशात् संसारित्वकल्पकत्वमोक्षार्थयतमानत्वाद्युपपत्तिः।

ननु— अनादौ संसारे कस्यचित्तत्वज्ञानं मुक्तिश्चाभून्न वा? आद्ये इदानीं संसारोपलब्धिर्न स्यात्, जीवस्यैकत्वाद्, अन्त्ये संप्रदायासंभवेन तत्त्वज्ञानासंभव इति—चेन्न, न ह्यसांप्रदायिकत्वमुत्पत्तिविरोधि, अपूर्वजातीयानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, किंतु कारणासत्त्वम्, तन्नेदानी—मुपदेष्ट्रत्वादिकारणस्य कल्पनासुदृढस्य सत्त्वात्। जीवैक्यस्य प्रमाणसिद्धत्वेन संसारोपलम्भ एवातः पूर्वं तत्त्वज्ञानानुत्पत्तौ प्रमाणम्। न च—तत्त्ववित्त्वेन श्रुत्यादिसिद्धानां शुकवामदेवादीनां मुक्तिर्मा भूत्, मम तु भविष्यतीति कथं श्रद्दध्यादिति—वाच्यम्, शास्त्रप्रामाण्यदार्ढ्यादिति गृहाण। अन्यथा तेषां महानुभावानां मुक्तत्वेऽपि मम भविष्यति न वेति शङ्कापिशाचया प्रवृत्तिप्रतिबन्धापत्तेः।

ननु—तर्हि श्रुतिप्रामाण्यबलादेव तत्सिद्धो जीवभेदः, पूर्वमपि केषांचिन्मोक्षश्चाभ्युपेयताम्, श्रूयते हि—'तद्यो यो देवानां प्रत्युबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां, 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः', 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाम्'

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने से कल्पक नहीं हो सकता। न द्वितीय है, क्योंकि वह एक ही होने से उसके अनिश्चय की असिद्धि है। और शुद्धचित् का एकत्व होने से वस्तुतः असंसारित्व होने पर भी आवरण और विक्षेपरूप शक्तिद्वय से विशिष्ट और उस चैतन्य में आश्रित अविद्या के वश से संसारित्व, कल्पकत्व और मोक्षार्थ यतमानत्व इत्यादि सब हो सकता है।

शंका— अनादि संसार में किसी को तत्त्वज्ञान और मोक्ष हो गया था अथवा नहीं? आद्य में तो इस समय संसार की उपलब्धि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जीव एक ही है। अन्त्य पक्ष में सम्प्रदाय अर्थात् अनादितत्त्वज्ञानप्रवाह असम्भव होने से तत्त्वज्ञान असम्भव है।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि अनादितत्त्वज्ञानप्रवाहरहितत्व ज्ञान की उत्पत्ति का विरोधी नहीं; क्योंकि विरोधी होने पर अपूर्वजातीय (पूर्वानुपलब्ध चैत्रत्वादि जातीय) की ज्ञान की अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग है; किन्तु कारण का असत्त्व ही ज्ञान की उत्पत्ति का विरोधी है, और वह कारणासत्त्व इस समय तो नहीं है, क्योंकि कल्पना से सुदृढ़ उपदेष्टृत्वादि कारण का सत्त्व है। जीव का ऐक्य प्रमाणसिद्ध होने पर संसार की उपलब्धि ही आज से पहले तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति में प्रमाण है।

शंका— तब तो तत्त्ववित्त्वरूप से श्रुत्यादि से सिद्ध शुक, वामदेवादिकों की मुक्ति भले ही न हुई हो, किन्तु मेरी मुक्ति तो ही हो जायेगी, यह श्रद्धा कैसे होगी?

समाधान— ऐसा न कहिये; क्योंकि शास्त्रप्रामाण्य की दृढ़ता से श्रद्धा है— ऐसा समझो। यदि शास्त्र प्रामाण्य की दृढ़ता से श्रद्धा न मानी जाय तो शुकादि उन महानुभावों का मुक्तत्व होने पर भी मेरी मुक्ति होगी या नहीं— इत्यात्मिका शंकारूप पिशाची से प्रवृत्ति में प्रतिबन्ध की आपत्ति है।

शंका— तब तो श्रुतिप्रामाण्यबल से ही जीवभेद सिद्ध है और पूर्व भी कुछ लोगों का मोक्ष हो गया है— ऐसा अङ्गीकार करिए (क्योंकि श्रुतियों में प्रतिपादन हुआ है—" जैसे कि देवताओं में जिस—जिस को ज्ञान हुआ है; वही ब्रह्मरूप हो गया, वैसा ही ऋषियों में और मनुष्यों में जिसको ज्ञान हुआ, वह मुक्त हो गया" "एक अज (जन्मरहित अनादि जीव) तो अनादि सिद्ध अविद्या का सेवन करता हुआ हृदय से संबन्धित होकर रहता है और ईश्वररूप अज तो भुक्तभोगा

इत्यादि। स्मर्यते च—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमाश्रिताः।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।।

इत्यादीति—चेन्न, उक्तवाक्यानां सार्वलौकिकभ्रमसिद्धभेदानुवादकत्वेन तत्परत्वाभावात्, जीवैक्यबोधकवाक्यानां च मानान्तराप्राप्तस्वार्थपरत्वात्, स्वप्नन्यायेनभेदस्य कल्पिततत्वोपपत्तेश्च। ज्ञानस्तुतिपराणि वाक्यानि नात्मभेदं प्रमातुं शक्नुवन्ति, तात्पर्यवद्वाक्यविरोधेनातात्पर्यवद्वाक्यानां गुणवादत्वोपपत्तेः।

अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः।
ततोऽप्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक्।।

इत्यादिस्मृतिरपि जीवोपाधिभेदानुवादकतया व्याख्येया। तस्मादविद्योपाधिको जीव एक एवेति सिद्धम्।।

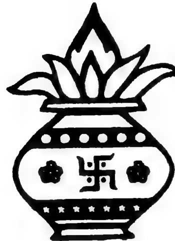
इत्यद्वैतसिद्धौ एकजीवाऽज्ञानकल्पिततत्वोपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस अविद्या को त्यागता है" "वह नित्यों का नित्य है, चेतनों का चेतन है" इत्यादि। और इसमें स्मृति भी है—"ज्ञानरूप तप से पवित्र और मद्भाव का आश्रय लेने वाले अनेक हैं"। "इस ज्ञान के उपाश्रय से मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए" इत्यादि।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि उक्त वाक्यों के सार्वलौकिक भ्रमसिद्ध भेद का अनुवादकत्व होने से बहुत्वपरत्व का अभाव है, और जीवैक्यबोधक वाक्यों का मानान्तर से अप्राप्तस्वार्थपरत्व है, और स्वप्नन्याय से भेद के कल्पितत्व की उपपत्ति है। और ज्ञानस्तुतिपरकवाक्य आत्मभेद का ज्ञापन नहीं कर सकते; क्योंकि तात्पर्यविशिष्ट वाक्यों से विरोध होने से अतात्पर्यवद्वाक्यों के गुणवादत्व की उपपत्ति है। और "अतीत और अनागत जितने क्षण हैं, उनके सहित जो वर्तमान क्षण हैं, उससे भी अनन्तगुणित जीवों की पृथक् राशियाँ हैं"।। इत्यादि स्मृति भी जीवोपाधिभूत अन्तःकरणों के भेद के अनुवादकत्व रूप से व्याख्येय है। इस कारण अविद्योपाधिक एक ही जीव है— यह सिद्ध है।

इत्यद्वैतसिद्धौ एकजीवाज्ञानकल्पिततत्वोपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।



४० : अथाऽज्ञानवादेऽज्ञानलक्षणनिरुक्तिः॥

अथ– केयमविद्या? न तावद् अनादिभावरुपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्या सेति, सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यावारकाज्ञानेऽव्याप्तेः, तस्यानादित्वाभावात्। अभावोपादानाज्ञाने च भावत्वाभावात्तत्राव्याप्तिः, अभावस्य भावोपादानकत्वे असत्यस्यापि सत्योपादानकत्वं स्याद्, अज्ञानानुपादानकत्वे तस्य ज्ञानान्निवृत्तिर्न स्याद्–इति। अत्र ब्रूमः– रूप्योपादानाज्ञान–मप्यनादिचैतन्याश्रितत्वादनाद्येव, उदीच्यं शुक्त्यादिकं तु तदवच्छेदकमिति न तत्राव्याप्तिः। भावत्वं चात्राभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्, अत आरोपिताभावोपादा–नाज्ञानेऽप्यभावविलक्षणत्वस्वीकारान्नाव्याप्तिः। न च–सजातीयोपादानकत्वनियमः, अन्यथा असत्यस्यापि सत्यमुपादानं स्यादिति–वाच्यम्, सर्वथा साजात्ये सर्वथा वैजात्ये वोपादानो–पादेयभावादर्शनेन तथा साजात्यस्य वैजात्यस्य वा आपादयितुमशक्यत्वात्। न हि कार्याकारकारणाकारतोऽप्यभेदे कार्यकारणभावः, सत्यस्य त्वसत्योपादानत्वे सत्यस्य निवृत्त्यसंभवेन तदुपादेयस्यासत्यस्यापि निवृत्तिर्न स्याद्, उपादाननिवृत्तिमन्तरेणोपादेयानिवृत्तेः,

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका– यह अविद्या क्या है? अनादिभावरूपत्व होने पर ज्ञाननिवर्त्यरूपा अविद्या तो हो नहीं सकती, क्योंकि सादिगुह्यादि से अवच्छिन्नचैतन्य के आवरक अज्ञान में इस लक्षण की अव्याप्ति है; कारण कि इस अज्ञान मे अनादित्व का अभाव है (परिच्छिन्न चैतन्य के सादित्व होने से उसके आवरक अज्ञान का भी सादित्व है– यह भाव है) और (आरोपित) अभाव के उपादान अज्ञान में भावत्व का अभाव होने से उस अभावोपादान अज्ञान में अव्याप्ति है; और अभाव का भावोपादानत्व होने पर तो असत्य का भी सत्योपादानकत्व होगा; तब तो अज्ञानाऽनुपादानकत्व होने पर अभाव की ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होगी।

समाधान– इसमें हम कहते हैं, शुक्तिरूप्य का उपादानभूत अज्ञान भी अनादि चैतन्य में आश्रित होने से अनादि ही है; पश्चाद्भावी (सादि) शुक्त्यादिक तो अज्ञानाश्रयीभूत चैतन्य के अवच्छेदक होने से शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में आश्रित अज्ञान में लक्षण की अव्याप्ति नहीं; (जैसे तार्किकादि के मत में अनादि अत्यन्ताभाव का अवच्छेदक तत्तत्काल होता है, वैसे यहां अनादि चैतन्य का अवच्छेदक शुक्त्यादि है; एतावता चैतन्य में सादित्व नहीं आ सकता)। और अज्ञान में भावत्व अभावविलक्षणत्व मात्र विवक्षित है। अतः आरोपित अभाव के उपादान अज्ञान में भी अभावविलक्षणत्व का स्वीकार होने से उसमें अव्याप्ति नहीं।

शंका–कार्य के प्रति सजातीयोपादानकत्व का नियम है, अन्यथा असत्य का भी सत्य उपादान होने का प्रसङ्ग है।

समाधान– ऐसा न कहिये, क्योंकि कार्य के प्रति उपादान का सर्वथा साजात्य होने पर, अथवा सर्वथा वैजात्य होने पर, उपादानोपादेयभाव के अदर्शन से उपादान के साजात्य अथवा वैजात्य का आपादन ही नहीं किया जा सकता। और कार्यरूप से अथवा कारणरूप से भी दोनों का अभेद होने पर कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। और सत्य को असत्य का उपादान मानने पर सत्य की निवृत्ति असम्भव होने से, उस सत्य उपादान से उपादेय असत्य की भी निवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि उपादान की निवृत्ति के बिना उपादेय की निवृत्ति नहीं होती; अतः सत्य असत्य का उपादान नहीं (निमित्तकारण के नाश से असत्य कार्य का नाश होता है– यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि दृश्यमात्र में ज्ञाननाश्यत्व श्रुति और अनुभव से सिद्ध होने के कारण उपादान अज्ञान

अतो न सत्यमसत्यस्योपादानम्, सत्यस्यापरिणामामित्वाच्च। विवर्ताधिष्ठानत्वं त्वभ्युपेयत एव। न च– ब्रह्माज्ञाने ब्रह्मणो वृत्त्यव्याप्यत्वपक्षेऽव्याप्ति:, तस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वादिति– वाच्यम्, स्वरूपसदुपाधिमत्तद्विषयकज्ञाननिवर्त्यत्वस्य तन्मतेऽपि भावात्। उपपादितं चैतद् दृश्यत्वहेतूपपादने।

अथ– औपाधिकभ्रमोपादानाज्ञाने ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरविद्यमानजीवन्मुक्ताज्ञाने च ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावादव्याप्ति:, तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वे उपाधिकालजीवन्मुक्तिकालयोरेव ज्ञानप्रागभाववत्तन्निवृत्त्यापत्तिरिति– चेन्न, उपाधिप्रारब्धकर्मणो: प्रतिबन्धकयोरभावविलम्बेन निवृत्तिविलम्बेऽपि तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वानपायात्। न हि क्वचिदविलम्बेन जनकस्य क्वचित् प्रतिबन्धेन विलम्बे जनकताऽपैति। न च तर्हि ज्ञातेऽपि तत्राज्ञात इति व्यवहारापत्ति:, तादृग्व्यवहारे आवरणशक्तिमदज्ञानस्य कारणत्वेन तदावरणशक्त्यभावादेव ईदृग्व्यव–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का नाश होना आवश्यक है); और सत्य का अपरिणामित्व है, तथा विवर्त का अधिष्ठानत्व तो अङ्गीकृत ही है।

शंका—ब्रह्म के वृत्त्यव्याप्यत्व (वृत्त्यविषयत्व) पक्ष में ब्रह्म के अज्ञान मे इस लक्षण की अव्याप्ति है, क्योंकि इस पक्ष में ब्रह्म का अज्ञान ज्ञान से निर्वत्य नहीं।

समाधान— ऐसा भी न कहें, क्योंकि अज्ञायमान होता हुआ भी, स्वरूप से वर्तमान की उपाधि को विषय न करने वाला, किन्तु उपहित ब्रह्म को विषय करने वाले ज्ञान से ब्रह्माज्ञान निवर्त्य है— यह तो उस मत में (वाचस्पति के मत में) भी माना जाता है। यह बात दृश्यत्व हेतु के उपपादन में प्रतिपादित हो चुकी है।

शंका— औपाधिक भ्रम के उपादानभूत अज्ञान में और ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर विद्यमान जीवन्मुक्त के अज्ञान में ज्ञाननिवर्त्यत्व के अभाव से अव्याप्ति है; (स्वसमीपस्थ वस्तु में स्वधर्मासञ्जक वस्तु को उपाधि कहते हैं; जैसे स्फटिकमणि में लौहित्य का आसञ्जक जपाकुसुम उपाधि है; इस उपाधि से होने वाला "रक्त: स्फटिक:" यह भ्रम औपाधिक है। इस औपाधिक भ्रम में अधिष्ठानभूत स्वच्छ स्फटिक का ज्ञान होने पर भी आरोपित लौहित्य की निवृत्ति नहीं होती। अत: उपादान अज्ञान की ज्ञान से निवृत्ति नहीं हुई); औपाधिक भ्रम के उपादान अज्ञान और जीवन्मुक्त के अज्ञान का ज्ञाननिर्त्यत्व होने पर तो जैसे ज्ञान से निवर्त्य ज्ञानप्रागभाव है, वैसे ही उपाधि और जीवन्मुक्त के काल में ही दोनों अज्ञानों की निवृत्ति की आपत्ति है।

समाधान— नहीं; क्योंकि प्रतिबन्धकीभूत उपाधि और प्रारब्धकर्म का अभाव होने में विलम्ब होने से, दोनों की निवृत्ति में विलम्ब होने पर भी ज्ञाननिवर्त्यता में व्याघात नहीं (अर्थात् प्रतिबन्धक की निवृत्ति के साथ ही दोनों की निवृत्ति भी ज्ञान से होती है) कारण कि कहीं अविलम्ब से जो जनक है, उस जनक की जनकता प्रतिबन्ध से विलम्ब होने मात्र से हट नहीं जाती।

शंका— तब तो अर्थात् ज्ञान होने पर भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं है तो ज्ञात होने पर भी उसमें अज्ञातरूप से व्यवहार होने की आपत्ति होगी।

समाधान— नहीं; कारण कि किसी एक वस्तु के अज्ञातरूप से व्यवहार में आवरणशक्तिविशिष्ट अज्ञान ही कारण है; और ज्ञानकाल में विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञान रहने पर भी आवरणशक्ति के अभाव से ही अज्ञातरूप से व्यवहार की आपत्ति नहीं होगी। जिस प्रकार यह सिद्ध होता है,उसी प्रकार आगे प्रतिपादन किया जायेगा।

हारानापत्तेः। यथा चैतत्तथोपपादयिष्यते। न चाविद्याचैतन्यसंबन्धेऽतिव्याप्तिः, साक्षाज्ज्ञान– निवर्त्यत्वस्य विवक्षितत्वात् तस्याप्यविद्यात्मकत्वाद्वा। न च विशेषणान्तरवैयर्थ्यम्, अनादि– पदस्योत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने भावपदस्य ज्ञानप्रागभावे ज्ञानजन्यकार्यप्रागभावे चातिव्याप्ति– वारकत्वेन सार्थकत्वात्। ज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं तु भवति लक्षणान्तरम्।

ननु— असंभवः, कल्पितत्वेन दोषजन्यधीमात्रशरीरस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यस्याभाव– विलक्षणस्य च रूप्यवदनादित्वायोगादिति—चेन्न, कल्पितत्वमात्रं हि न दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम, किंतु प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्वं, सादिकल्पकवत्त्वम्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— अविद्या और चैतन्य के सम्बन्ध में इस लक्षण की अतिव्याप्ति है (क्योंकि वेदान्त्यभिमत जीव, ईश्वरादि अनादि षड्भावों में अविद्या और चैतन्य का संबन्ध भी एक है और वह ज्ञान निवर्त्य भी है; अतः अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप अज्ञानलक्षण उसमें समन्वित होता है।)

समाधान— नहीं, क्योंकि लक्षण में ज्ञाननिवर्त्यत्वपद से साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्व विवक्षित है (ज्ञान से साक्षात् निवर्त्य अज्ञान होता है; अज्ञान और चित् का संबन्ध तो अज्ञाननिवृत्तिप्रयुक्त निवर्त्य होता है, साक्षात् नहीं; अतः अतिव्याप्ति नहीं); अथवा अज्ञान और चित् का सम्बन्ध स्वरूपसम्बन्ध होने से अविद्यात्मक ही है; अतः इष्टापत्ति है।

शंका — तब तो अनादित्व और भावत्व ये दोनों विशेषण व्यर्थ हैं (क्योंकि शुक्तिरजतादि साक्षाज्ज्ञान निवर्त्य नहीं, और ज्ञान भी स्वप्रागभाव का निवृत्तिरूप है, निवर्तक नहीं)।

समाधान— दोनों विशेषण व्यर्थ नहीं, क्योंकि अनादि पद उत्तरज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्तिनिवारण के लिये है; और भावपद (जिस पक्ष में प्रतियोगी को प्रागभाव का निवर्तक मानते हैं, उस पक्ष में) ज्ञानप्रागभाव में अतिव्याप्तिनिवारणार्थ है; (और जिस पक्ष में प्रतियोगी को प्रागभावनिवृत्तिरूप मानते हैं तथा प्रतियोगिजनक सामग्री को प्रागभाव का निवर्तक मानते हैं, उस पक्ष में) ज्ञानजन्य इच्छादि कार्य के प्रागभाव में अतिव्याप्तिनिवारण के लिये है (क्योंकि ज्ञान इच्छादिजनक सामग्री होने से इच्छादिप्रागभाव का निवर्तक है)। और ज्ञानत्वरूप से अर्थात् ज्ञाननिष्ठनिवर्तकतावच्छेदकज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्व तो अविद्या का दूसरा लक्षण हो सकता है (क्योंकि पूर्वज्ञान के प्रति उत्तरज्ञान की निवर्तकता विभुविशेषगुणत्वेन है; ज्ञानत्वेन नहीं; इसी प्रकार स्वप्रागभाव के प्रति ज्ञान की निवर्तकता प्रतियोगित्वेन है; ज्ञानत्वेन नहीं। और, इच्छादि प्रागभाव के प्रति ज्ञान की निवर्तकता जनकसामग्रीत्वेन है, ज्ञानत्वेन नहीं)।

शंका— यह लक्षण असम्भवदोषग्रस्त है; क्योंकि कल्पितत्व होने से अज्ञानदोषजन्यधीमात्र शरीर अर्थात् प्रतिभासकाल मात्रस्थायी ज्ञाननिवर्त्य और अभावविलक्षण है; अतः शुक्तिरूप्य के समान उसके अनादित्व का अयोग है (सादित्व ही होना चाहिये)।

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि कल्पितत्वमात्र प्रतिभासकालमात्रस्थायित्व और सादित्व का प्रयोजक अर्थात् व्याप्य नहीं (क्योंकि—यत्र कल्पितत्वं तत्र प्रतिभासकालमात्रस्थायित्वम्— इस व्याप्ति का घट—पटादि में व्यभिचार है, तथा— यत्र कल्पितत्वं तत्र सादित्वम्— इस व्याप्ति में भी जीवेशादि में व्यभिचार है); किन्तु प्रतिभासकल्पक समानकालीन कल्पकवत्त्व (अविद्यावृत्तिरूप प्रतिभास अर्थात् शुक्तिरूप्यादिविषयक ज्ञान का कल्पक जो द्रष्टा साक्षी है, वही साक्षी प्रतिभास समानकाल में शुक्तिरूप्यादि का भी कल्पक है; अतः शुक्तिरूप्यादि में प्रतिभास कल्पकसमान

विद्याऽनिवृत्त्यप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वम्, प्रागभावप्रतियोगित्वं वा तन्त्रम्। न च तत् प्रकृतेऽस्ति। ज्ञाननिवर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेनाविद्यायाः सादित्वसाधने 'अजामेकाम्' अनादिमाययेे' त्यादिशास्त्रविरोधः, अनादित्वसाधकेन ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणत्वेन सत्प्रतिपक्षश्च, भावत्वस्योपाधित्वं च।

न च अभावविलक्षणाविद्यादौ भावविलक्षणत्वमसंभवि, परस्परविरोधादिति—वाच्यम्, भावत्वाभावत्वयोर्बाधकसत्त्वेन तृतीयप्रकारत्वसिद्धौ परस्परविरहव्यापकत्वरूपविरोधासिद्धेः,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कालीन कल्पकवत्व है और प्रतिभासकालमात्रस्थायित्व तथा सादित्व दोनों है; अतः व्यभिचार नहीं। और यह प्रयोजक अनादित्वेन अभिमत अविद्यादि में नहीं; क्योंकि प्रलयादि में अविद्याविषयक अविद्यावृत्तिरूप प्रतिभास का अङ्गीकार नहीं होता। अतः लघुचन्द्रिकाकारने "प्रतिभासकल्पक... " इत्यादि का स्वविषयकजन्यधीकालत्वव्याप्यस्वद्रष्टृकत्व अर्थ किया है; यहां स्वपद से प्रतिभासिक शुक्तिरूप्यादि का ग्रहण करना चाहिये)। अथवा, सादिकल्पकत्त्व प्रयोजक है (अविद्योपहित अनादि चित् अविद्या का कल्पक है; अतः अविद्या अनादि है; और शुक्तिरूप्यादि का कल्पकचित् शुक्तरूप्याद्याकाराविद्यावृत्त्युपहित और अधिष्ठान ज्ञानवान् है; इस प्रकार उपाधिप्रयुक्त सादि कल्पक होने से शुक्तिरूप्यादि भी सादि है)। अथवा, चरमज्ञानरूप विद्या की अनिवृत्ति से अर्थात् संबन्ध से अप्रयुक्त जो निवृत्ति है (शुक्तिज्ञानादि से शुक्तिरूप्यादि की निवृत्ति); उस निवृत्ति का प्रतियोगित्व ही सादित्व का प्रयोजक है (अविद्या की निवृत्ति तो विद्यासंबन्ध से प्रयुक्त है,अप्रयुक्त नहीं; अतः अविद्या अनादि है; और शुक्तिरूप्यादि सादि है)। अथवा, प्रागभाव प्रतियोगित्व ही सादित्व का प्रयोजक है; वह तो प्रकृत अविद्या में नहीं है। और "अविद्या सादिः, ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति अभावविलक्षणत्वात् शुक्तिरूप्यवत्" इस प्रकार ज्ञाननिवर्त्यत्व का समानाधिकरणक अभावविलक्षणत्व हेतु द्वारा अविद्या के सादित्व का साधन करने पर जो "अजामेकाम्" (श्वेत. ४/५), "अनादिमायया" (गौ.का.१/१६) इत्यादि शास्त्रों से विरोध है। और "अविद्या अनादिः ज्ञाननिवर्त्यत्वेसति भावविलक्षणत्वात् ज्ञानप्रागभावत्" इस प्रकार अनादित्व का साधक 'ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणत्व" हेतु से सत्प्रतिपक्ष है, और भावत्व उपाधि भी है (क्योंकि "यत्र सादित्वं तत्र भावत्वम्" इस प्रकार साध्य की व्यापक उपाधि है; और इस भावत्व उपाधि का अभाव पक्षीभूत अविद्या में है, क्योंकि अविद्या भावविलक्षण है।)

शंका— अभावविलक्षण अविद्यादि में भावविलक्षणत्व असम्भव है, क्योंकि अभावविलक्षण भाव और भावविलक्षण अभाव होने से परस्पर में विरोध है।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि ज्ञान के भावत्व और अभावत्व होने में बाधक होने से भावाभाव विलक्षण तृतीय प्रकारत्व की सिद्धि होने पर परस्परविरहव्यापकत्वरूप विरोध की असिद्धि है (विनाशिभाव का सादित्व नियम है, किन्तु अज्ञान विनाशी तो है, सादि नहीं है; अतः यह नियम अज्ञान के भावत्व में बाधक है; और अभाव किसी का उपादान नहीं होता, किन्तु अज्ञान उपादान है; अतः अज्ञान के अभावत्व में उपादानत्वमत्त्व बाधक है। इस प्रकार अज्ञान का भावाभावविलक्षण तृतीय प्रकार सिद्ध होने पर भावात्वाभाव का व्यापक अभावत्व और, अभावत्वाभाव का व्यापक भावत्व— इस प्रकार परस्पर विरहव्यापकत्वरूप विरोध नहीं— यह भाव है); और परस्पर विरह व्याप्यत्वरूप विरोध तो एक के विरह से दूसरे का आक्षेप नहीं करता (भावत्वाभावव्याप्य अभावत्व, और अभावत्वाभावव्याप्य भावत्व—अर्थात् "यत्र अभावत्वं तत्र

परस्परविरहव्याप्यत्वरूपस्तु विरोधो नैकविरहेणापरमाक्षिपति। न हि गोत्वविरहोऽश्वत्व-माक्षिपतीत्युक्तम्। न चात्मवदनादेरभावविलक्षणस्यानिवर्त्यत्वम्, आत्मत्वस्यैवोपाधित्वात्। न चात्यन्ताभावान्योन्याभावयोः साध्याव्याप्तिः, अधिकरणातिरिक्तस्यानिवर्त्यस्या-त्यन्ताभावादेरनभ्युपगमात्। न च तुच्छे साध्याव्याप्तिः, अभावविलक्षणत्वरूपसाधना-वच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वोपपत्तेः। किं च सादित्वमनादित्वं वा न निवर्त्यत्वानिवर्त्यत्वयोः प्रयोजकम्, ध्वंसप्रागभावयोस्तदभावात्। नापि भावत्वविशेषितं तत् तथा, अभावे तदसत्त्वेन भिन्नभिन्नप्रयोजककल्पनापत्तेः, भावनिवृत्यनिवृत्योरेव तयोः प्रयोजकत्वे च भावविलक्षणाविद्यादौ ताभ्यां तयोरनापादनात्। तस्मान्नाशसामग्रीसन्निपातासन्निपातावेव निवर्त्यत्वानिवर्त्यत्वयोः प्रयोजकाविति मन्तव्यम्। तौ च फलबलकल्प्याविति न कोऽपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भावत्वाभावः'', तथा ''यत्र भावत्वं तत्र अभात्वाभावः यह व्याप्ति एक के अभाव से अन्य का आक्षेप नहीं कर सकती; क्योंकि भावत्व और अभावत्व अर्थात् सत्त्व और असत्त्व का अभाव एक ही अधिकरण शुक्तिरूप्यादि में हो सकता है)। क्योंकि ''यत्र गोत्वं तत्र अश्वत्वाभावः'' तथा ''यत्र अश्वत्वं तत्र गोत्वाभावः'' इस प्रकार परस्परविरह व्याप्यत्व होने पर भी गोत्वाभाव अश्वत्व का आक्षेप नहीं करता, कारण कि गोत्वाभाव और अश्वत्वाभाव दोनों ही महिषादि में रह सकते हैं– यह बात प्रथममिथ्यात्व प्रकरण में कही जा चुकी है।

शंका– ''अज्ञानं न निवर्त्यं अनादित्वे सति अभावविलक्षणत्वात् आत्मवत्'' इस प्रकार से आत्मा के समान अनादि और अभावविलक्षण अज्ञान का अनिवर्त्यत्व है।

समाधान– ऐसा भी नहीं; क्योंकि इस अनुमान में आत्मत्व उपाधि है।

शंका– अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में इस उपाधि के साध्यव्यापकत्व की असिद्धि है (क्योंकि इन दोनों अभावों में अनिवर्त्यत्व साध्य है और आत्मत्व उपाधि नहीं)।

सामधान– नहीं; क्योंकि अधिकरण से अतिरिक्त अनिवर्त्य अत्यन्ताभावादि का अङ्गीकार नहीं किया जाता।

शंका– तुच्छ में अनिवर्त्यत्व होने से आत्मत्व उपाधि साध्य का अव्यापक है।

समाधान– ऐसा नहीं; क्योंकि अभावविलक्षणत्वरूप साधन से अवच्छिन्न अनिवर्त्यत्वरूप साध्य का व्यापकत्व आत्मत्वोपाधि में है। और इसके अतिरिक्त सादित्व अथवा अनादित्व क्रम से निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का प्रयोजक (व्याप्य) नहीं; क्योंकि सादि अनन्तध्वंस और अनादि सान्तप्रागभाव में निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का अभाव है।

शंका– भावत्व से विशेषित अर्थात् भावत्वेन सादित्व और अनादित्व क्रम से निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का प्रयोजक है।

समाधान– ऐसा भी नहीं; क्योंकि अभाव में भावत्व न होने से उसके विनाशित्व और अविनाशित्व के लिये भिन्न–भिन्न प्रयोजक की कल्पना की आपत्ति है। और भाव की निवृत्ति और अनिवृत्ति में भी भावत्वविशेषित सादित्व और अनादित्व प्रयोजक होने पर तो भावविलक्षण अविद्यादि में उन दोनों प्रयोजकों से निवृत्ति और अनिवृत्ति की आपत्ति नहीं की जा सकती। इसलिये नाशसामग्री का सन्निपात और असन्निपात (संबन्ध और असंबन्ध) ही निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का प्रयोजक है, ऐसा अङ्गीकार्य है। और नाशसामग्री का सन्निपात और असन्निपात फलबलकल्प्य होने से कोई भी दोष नहीं।

दोषः। अपि च यद्यविद्यादेरभावविलक्षणत्वसमानाधिकरणानादित्वेनात्मवदनिवर्त्यत्वं साध्यते, तर्हि भावविलक्षणत्वेन प्रागभाववन्निवर्त्यत्वमेव किं न साध्यते? न च ध्वंसात्यन्तान्योन्याभावेषु व्यभिचारः, अधिकरणातिरेके तेषामपि निवर्त्यत्वाभ्युपगमात्। न च—अज्ञानस्य यावत्स्वविषयधीरूपसाक्षिसत्त्वमनुवृत्तिनियमेन निवृत्त्ययोग इति—वाच्यम्, दुःखशुक्तिरूप्यादेः स्वभासके साक्षिणि सत्येव निवृत्त्यभ्युपगमेन साक्षिभास्यानां यावत्साक्षिसत्त्वमवस्थाननियमानभ्युपगमात्। किं च केवलचिन्मात्रं न साक्षि, किंत्वविद्यावृत्त्युपहितम्, तथा चास्थिराविद्यावृत्त्युपहितस्य साक्षिणोऽप्यस्थिरत्वेन तत्सत्वपर्यन्तमवस्थानेऽप्यविद्यादेर्निवृत्तिरुपपद्यते। न च वृत्त्यनुपधानदशायामविद्यादेः शुक्तिरूप्यवदसत्त्वापत्तिः, सादिपदार्थ एवैतादृङ्नियमात्, धारावाहिकाविद्यावृत्तिपरम्पराया अतिसूक्ष्माया अभ्युपगमाच्चेति शिवम्।

यद्वा भ्रमोपादानत्वाज्ञानलक्षणम्। इदं च लक्षणं विश्वभ्रमोपादानमायाधिष्ठानं ब्रह्मेति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसके अतिरिक्त — यदि अभावविलक्षणत्वसमानाधिकरण अनादित्व हेतु से अविद्यादि का आत्मा के समान अनिवर्त्यत्व साधन किया जाता है तो "अनादित्वेनाभिमतमविद्यादि निवर्त्यम्, भावविलक्षणत्वात्, प्रागभाववत्" इस प्रकार भावविलक्षणत्व हेतु से अविद्यादि के प्रागभाव के समान निवर्त्यत्व का साधन क्यों न किया जाय?

शंका— ध्वंस, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में व्यभिचार है (क्योंकि उनमें भावविलक्षणत्व हेतु है, किन्तु निवर्त्यत्व साध्य नहीं)।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि (उन अभावों का अधिकरणात्मकत्व है) उनके भी अधिकरणातिरेक होने पर तो निवर्त्यतव का अङ्गीकार है।

शंका— जब तक अज्ञानविपयकधीरूप साक्षी का सत्त्व है, तब तक अज्ञान की अनुवृत्ति का नियम होने से उसकी निवृत्ति अयुक्त है (साक्षिभास्य प्रातिभासिक पदार्थों में यह नियम है कि जब तक साक्षिज्ञान है, तब तक ही उनका अस्तित्व रहता है; अतः प्रतीतिकालमात्रस्थायी प्रातिभासिक कहा जाता है। और साक्षिरूप ज्ञान तो अनिवर्त्य है,अतः उसका विषय अज्ञान भी अनिवर्त्य होना चाहिये—यह भाव है)।

समाधान— ऐसा न कहिये; क्योंकि साक्षिभास्य दुःख, शुक्तिरूप्यादि की निवृत्ति के स्वभासक अविद्योपहित साक्षी की वर्तमानता में ही अङ्गीकार होने से जब तक साक्षी का सत्त्व है, तब तक अवस्थाननियम का अभ्युपगम नहीं होता। इसके अतिरिक्त— केवल चिन्मात्र साक्षी नहीं; किन्तु अविद्यावृत्ति से उपहितचित् साक्षी है, अतः अस्थिराविद्यावृत्ति से उपहित साक्षी के भी अस्थिरत्व होने से साक्षी के सत्त्वपर्यन्त अविद्यादि के अवस्थान में भी उसकी निवृत्ति हो सकती है।

शंका — साक्षी की अविद्यावृत्ति से अनुपहितत्वदशा में शुक्तिरूप्यादि के समान अविद्यादि के भी असत्त्व की आपत्ति है।

समाधान— नहीं; क्योंकि शुक्तिरूप्यादि सादिपदार्थों में ही एतादृश नियम है अर्थात् उपाधिभूत अविद्यावृत्ति की असत्त्वदशा में असत्त्व का नियम है, अनादि पदार्थों में तो यह नियम नहीं; और यह नियम स्वीकृत होने पर भी अतिसूक्ष्म धारावाहिक अविद्यावृत्तिपरम्परा का अङ्गीकार होने से कोई दोष नहीं—इति शिवम्।

अथवा— भ्रमोपादानत्व अविद्या (अज्ञान) का लक्षण है। और यह लक्षण—विश्वभ्रमोपादान माया का अधिष्ठान ब्रह्म है— इस पक्ष में है; और ब्रह्ममात्रोपादानत्व पक्ष में अथवा ब्रह्मसहित

पक्षे, न तु ब्रह्ममात्रोपादानत्वपक्षे, ब्रह्मसहिताविद्योपादानत्वपक्षे वा, अतो ब्रह्मणि नातिव्याप्तिः, इतरत्र तु पक्षे परिणामित्वेनाचेतनत्वेन वा भ्रमोपादानं विशेषणीयमिति न दोषः। न वाऽभावारोपनिवर्तकप्रमानिवर्त्येऽव्याप्तिः, तस्यापि भ्रमोपादानत्वात्।

ननु—भ्रमे भावविलक्षणाज्ञानोपादानकत्वं न घटते, भ्रमस्य भावविलक्षणत्वे उपादेयत्वायोगाद्, भावत्वे च भावोपादानकत्वनियमादिति— चेन्न, अज्ञानस्य भ्रमस्य च भावविलक्षणत्वेऽप्युपादानोपादेयभावोपपत्तेः। न हि भावत्वमुपादानत्वे उपादेयत्वे वा प्रयोजकम्, आत्मनि तददर्शनात्, किंत्वन्वयिकारणत्वमुपादानत्वे तन्त्रम्, सादित्वमुपादेयत्वे, तदुभयं च न भावत्वनियतम्। अत उपादानोपादेयभावोऽपि न भावत्वनियतः। न चैवं ध्वंसस्याप्युपादेयत्वापत्तिः, इष्टापत्तेः। न चैवं—ज्ञानप्रागभावस्यैव भ्रमोपादानत्वमस्तु, किमभावविलक्षणाज्ञानोपादानकल्पनेनेति—वाच्यम्, प्रागभावस्य प्रतियोगिमात्रजनकत्वनियमेन भ्रमं प्रति जनकत्वस्याप्यसिद्धेः, तद्विशेषरूपोपादानत्वस्यैव दूरनिरस्तत्वात्। अतः सद्विलक्षणयोरज्ञानभ्रमयोर्युक्त उपादानोपादेयभावः। भ्रमस्य व सद्विलक्षणत्वमुक्तम्, वक्ष्यते

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अविद्योपादानत्व पक्ष में तो यह लक्षण नहीं; अतः ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं; उक्त अन्य पक्षद्वय में तो परिणामित्वेन अथवा अचेतनत्वेन भ्रमोपादानत्व अज्ञान का लक्षण है— ऐसा विशेषण देने पर "परिणामित्वेऽ चेतनत्वे वा सति भ्रमोपादानत्वम्" ऐसा लक्षण होने से कोई दोष नहीं। अथवा अभावारोप (अभावभ्रम) के निवर्तक प्रमाज्ञान से निवर्त्य अज्ञान की अव्याप्ति भी नहीं; क्योंकि अभावविलक्षण अज्ञान का अभावोपादानत्व सम्भव होने से उसका भ्रमोपादानत्व है।

शंका— भ्रम में भावविलक्षण अज्ञान का उपादानत्व घटता नहीं; क्योंकि भ्रम के भावविलक्षणत्व होने पर उपादेयत्व का अयोग है (कारण कि घट—पटादि सब उपादेय भाव ही होते हैं); और भ्रम के भावत्व होने पर भावोपादानकत्व का नियम है (भावविलक्षणोपादानकत्व नहीं होगा)।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि अज्ञान और भ्रम के भावविलक्षणत्व होने पर भी उपादानोपादेयभाव की उपपत्ति है; और भावत्व उपादानत्व में अथवा उपादेयत्व में प्रयोजक अर्थात् व्याप्य नहीं; कारण कि शुद्ध आत्मा में भावत्व होने पर भी उपादानत्व अथवा उपादेयत्व का अदर्शन है, किन्तु कार्यान्वयिकारणत्व ही उपादानत्व में व्याप्य है और सादित्व उपादेयत्व में व्याप्य है; किन्तु अन्वयिकारणत्व और सादित्व ये दोनों भावत्व के व्याप्य नहीं; अतः उपादानोपादेयभाव भी भावत्व का व्याप्य नहीं।

शंका — ऐसा होने पर तो अर्थात् " यत् सादि तदुपादेयम्" यह व्याप्ति मानी जाय तो ध्वंस के भी उपादेयत्व (उपादानजन्यत्व) की आपत्ति है,क्योंकि नैयायिक लोग ध्वंस का उपादान कारण जन्यत्व नहीं मानते, केवल निमित्तकारणजन्यत्व मानते हैं।

समाधान— नहीं; क्योंकि ध्वंस के उपादेयत्व होने में इष्टापत्ति है (कारण कि अभावमात्र अधिकरणात्मक ही होता है)।

शंका — तब तो भावविलक्षणज्ञानप्रागभाव ही भ्रम का उपादान हो, उसके लिये अभावविलक्षण अज्ञानरूप उपादान की कल्पना से क्या लाभ है?

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि प्रागभाव का प्रतियोगिमात्रजनकत्व नियम होने से ज्ञानप्रागभाव का स्वप्रतियोगिज्ञानजनकत्व तो है, किन्तु भ्रम के प्रति तो उस के जनकत्व की भी असिद्धि होने से उस जनकत्व का विरोधरूप उपादानत्व तो दूर से ही निरस्त होता है। इस कारण सत् से विलक्षण अज्ञान और भ्रम का परस्पर उपादानोपादेय भाव युक्त ही है। और भ्रम का

च। न च—एवमज्ञानानुविद्धतया भ्रमस्य प्रतीत्यापत्तिः मृदनुविद्धतया घटस्येवेति— वाच्यम्; यद् यदुपादानकं तत् तदनुविद्धतयैव प्रतीयत इति व्याप्त्यसिद्धेः। न हि घटोपादानकं रूपं घट इति प्रतीयते, प्रकृतिद्व्यणुकाद्यनुविद्धतया प्रतीतेःपरैरप्यनभ्युपगमात्, केनचिद्धर्मेण तदनुवेधस्तु प्रकृतेऽपीष्ट एव। न च यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति पक्षे भ्रमापूर्वकप्रमा-निवर्त्येऽज्ञाने अव्याप्तिः, भ्रमोपादानतायोग्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, सहकारिवैकल्यात् कार्यानुदयेऽपि योग्यतानपायात्। अथ योग्यतावच्छेदकरूपापरिचये कथं तद्ग्रहणम्? प्रथमलक्षणस्यैव योग्यतावच्छेदकत्वात् एकमेवाज्ञानमिति पक्षे तु तत्र भ्रमोपादानत्वमक्षतमेव। न चैवं शुक्तिज्ञानेनैवाज्ञाननाशे मोक्षापत्तिः, तस्यावस्थाविशेषनाशकत्वाङ्गीकारात्। व्युत्पादितं चैतदस्माभिः सिद्धान्तविन्दौ। ज्ञानत्वेन रूपेण साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा तल्लक्षणमिति च प्रागुक्तमेव, तस्मान्नाविद्यालक्षणासंभव इति सर्वमवदातम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ अविद्यालक्षणोपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सद्विलक्षणत्व पहले ही कहा जा चुका है, तथा आगे भी कहा जायेगा।

शंका— भ्रम के प्रति अज्ञान को उपादान मान लिया जाय तो जिस प्रकार घट मृत्तिका से अनुविद्ध प्रतीत होता है, उसी प्रकार भ्रमं अज्ञान से अनुविद्ध होकर प्रतीत होने की आपत्ति होगी।

समाधान— ऐसा न कहिये; क्योंकि जो वस्तु जिस उपादान से उत्पन्न हुई है, वह वस्तु उस उपादान से अनुविद्ध होकर प्रतीत होती है— ऐसी व्याप्ति की असिद्धि है कारणकि घट का रूप घटोपादानक होता हुआ भी "रूपं घटः" ऐसा प्रतीत नहीं होता; और सांख्यमत में महदादि प्रकृत्युपादानक है तथा न्यायमत में त्र्यणुकादि द्व्यणुकोपादानक हैं, तो भी वे लोग "प्रकृतिर्महान्" और "द्व्यणुकं त्र्यणुकम्" इस प्रकार प्रकृति और द्व्यणुक से अनुविद्ध होकर महदादि तथा त्र्यणुकादि की प्रतीति को नहीं मानते। और "शुक्लो घटः" "मृद्घटः" इत्यादि रूप से किसी धर्म के द्वारा उपादान से अनुवेध (संबन्ध) तो प्रकृत अज्ञान में भी इष्ट ही है (क्योंकि अज्ञान का जडत्व धर्म "जडं रूप्यम्" इत्यादिरूप से प्रतीत होता ही है)।

शंका— जितने ज्ञान हैं, उतने अज्ञान हैं— इस पक्ष में भ्रमापूर्वक अर्थात् भ्रमज्ञान को उत्पादन करने के पहले ही जो अज्ञान प्रमा से निवृत्त हो जाता है, उस अज्ञान में भ्रमोपादानत्व लक्षण की अव्याप्ति है।

समाधान— नहीं; क्योंकि भ्रमोपादानत्व पद से भ्रमोपादानतायोग्यत्व विवक्षित है; सहकारिकारण के वैकल्य से कार्य की अनुत्पत्ति होने पर भी योग्यता का अपाय (नाश) नहीं होता। (एकाज्ञानवाद में इस लक्षण में योग्यतापद की आवश्यकता नहीं)।

शंका— योग्यतावच्छेदक धर्म के परिचय के बिना (योग्यतावच्छेदक धर्म को जाने बिना) किस प्रकार योग्यता का ग्रहण (निश्चय) होगा?

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि "अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं" रूप प्रथम लक्षण ही योग्यतावच्छेदक धर्म है (अर्थात् जहां यह धर्म है, वहां भ्रमोपादानत्व की योग्यता है— ऐसा समझना चाहिये)। और एक ही अज्ञान है— इस पक्ष में तो अज्ञान में भ्रमोपादानत्व अक्षत ही है।

शंका— इस एकाज्ञानपक्ष में शुक्तिज्ञान से ही अज्ञान का नाश होने पर मोक्षापत्ति है।

समाधान— नहीं, क्योंकि शुक्तिज्ञान मूलाविद्या की अवस्था विशेष का ही नाशक अङ्गीकृत है (शुद्धब्रह्मविषयक मूलाज्ञान का नाशक नहीं)। यह बात हमने सिद्धान्तबिन्दु में भी कही है। अथवा ज्ञानत्वरूप से साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्व अज्ञान का लक्षण है— यह तो पहले ही कह चुके हैं। इसलिये अविद्यालक्षण के असम्भव न होने के कारण सब ठीक है।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्यालक्षणोपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।

४१ : अथाऽज्ञानवादे तत्र प्रत्यक्षप्रमाणोपपत्तिः।।

तत्र चाज्ञाने सामन्यतः 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामीति प्रत्यक्षम्, 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति विशेषतः प्रत्यक्षम्, 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिष'मिति परामर्शसिद्धं सौषुप्तप्रत्यक्षं च प्रमाणम्। न च—अहमर्थस्याज्ञानानाश्रयत्वेन कथमयं प्रत्ययो भावरूपाज्ञानपक्षे उपपद्यत इति—वाच्यम्, अज्ञानाश्रयीभूतचैतन्ये अन्तःकरणतादात्म्याध्यासेन एकाश्रयत्वसंबन्धेनोपपत्तेः। अत एव— जडे आवरणकृत्याभावात् 'घटं न जानामि'इत्यादिप्रतीतेर्ज्ञानाभावविषयत्वे प्रकृतेऽपि तथास्त्विति—निरस्तम्, तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैवाज्ञानाश्रयत्वेन तत्रापि तद्व्यवहारोपपत्तेः। न च—साक्षिवेद्ये सुखदुःखाज्ञानादौ प्रातिभासिके च भावरूपाज्ञानाभावेन तत्र न जानामीति प्रतीतिः कथमुपपद्यत इति—वाच्यम्, स्वस्मिन्विद्यमाने साक्षिवेद्ये सुखादौ स्वभ्रमसिद्धे रूप्यादौ च 'न जानामि'इति व्यवहारासंभवात्, परसुखादौ

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पूर्वोक्त लक्षण से लक्षित उस अज्ञान में "अहमज्ञः" "मामन्यञ्च न जानामि" यह सामान्य साक्षिप्रत्यक्ष, "त्वदुक्तमर्थं न जानामि" यह विशेष साक्षिप्रत्यक्ष, और "एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्" यह स्मृतिसिद्ध अहं विशेष्यक अज्ञानप्रकारक सौषुप्त साक्षिप्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

शंका— अहमर्थ अज्ञान के अनाश्रय होने के कारण "अहमज्ञः" इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान भावरूप अज्ञान के पक्ष में कैसे हो सकता है? (वेदान्ती के मत में अन्तःकरणतादात्म्यविशिष्ट चैतन्य अहं पदार्थ है और वह मिथ्या है। अतः वह अज्ञान का आश्रय और विषय नहीं होता; अज्ञान का आश्रय और विषय तो शुद्ध चैतन्य ही होता है। इस सिद्धान्ती के रहस्य को लेकर यह शंका की गई है)।

समाधान— ऐसा न कहिये, क्योंकि अज्ञान के आश्रयीभूतचैतन्य में अन्तःकरण के तादात्म्यध्यास (अभेदाध्यास) होने के कारण एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसंबन्ध से "अहमज्ञः" इत्यादि ज्ञान हो सकता है (अज्ञान का आश्रय शुद्ध चैतन्य है, और अन्तःकरण भी उसमें अध्यस्त होने के कारण वही शुद्ध चैतन्य अन्तःकरण का भी आश्रय है। इस प्रकार एकाश्रयनिरूपित वृत्तित्वरूप परम्परा संबन्ध से अन्तःकरण भी अज्ञान का आश्रय हो सकता है। अतः अन्तःकरण विशिष्टचैतन्य मे अज्ञानाश्रयत्वेन "अहमज्ञः" इत्यादि ज्ञान हो सकता है)। अतएव अर्थात् जड में भी एकाश्रयत्व संबन्ध के सद्भाव से— जड में अज्ञानावरणकृत्य (असत्वापादन—अभानापादन रूप कार्य) का अभाव होने से "घटं न जानामि" इत्यादि प्रतीति का जिस प्रकार ज्ञानाभावविषयत्व है, उसी प्रकार "अहमज्ञः" इत्यादि प्रकृत में भी ज्ञानाभावविषयत्व हो (भावरूपाज्ञानविषयत्व न हो)— यह कथन निरस्त हुआ,क्योंकि घटाद्यवच्छिन्नचैतन्य ही अज्ञानाश्रय होने से अज्ञानाश्रयतावच्छेदक घटादि में अज्ञानाश्रयत्व और अज्ञानप्रयुक्त आवृतत्व का व्यवहार हो सकता है (अतः "घटं न जानामि" इत्यादि प्रतीति का ज्ञानाभावविषयत्व नहीं, किन्तु भावरूपाज्ञानविषयत्व ही है)।

शंका— सुख, दुःख, अज्ञानादि और प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि साक्षिवेद्य पदार्थों में आवरक भावरूप अज्ञान का अभाव होने से उन सुखादि में 'न जानामि" यह प्रतीति कैसे होगी? (अतः यह प्रतीति ज्ञानाभावविषयिका है)।

समाधान— ऐसा न कहो, कारण कि अपने में विद्यमान साक्षिवेद्य सुखादि में, और अपने भ्रम से सिद्ध शुक्तिरूप्यादि में "न जानामि" यह व्यवहार असम्भव है, और अन्यनिष्ठ सुखादि के विषय में "न जानामि" यह व्यवहार तो (परनिष्ठसुखाद्यनुमापक अनुमित्यादि) परोक्षज्ञाननिवर्त्य

'न जानामि'इति व्यवहारस्य परोक्षज्ञाननिवर्त्येन प्रमातृगताज्ञानेनैवोपपत्तेः। अतएव परोक्षज्ञानेन प्रमातृगताज्ञाने नाशितेऽपि विषयगताज्ञानसत्त्वेन 'न जानामि'इति व्यवहारापत्तिरिति—निरस्तम्, प्रमातृगताज्ञानकार्यस्य 'न जानामि'इति व्यवहारस्य विषयगतज्ञानेनापादयितुमशक्यत्वात्।

ननु—भावरूपाज्ञानविषयत्वेनाभिमतस्य 'अहमज्ञः' इति प्रत्ययस्य 'मयि ज्ञानं नास्ति'इति ज्ञानाभावविषयात् प्रत्ययात् 'अघटं भूतलम्' इति प्रत्ययस्य 'घटो नास्ति'इति प्रत्ययादिव विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासं बिना इच्छाद्वेषाभावज्ञानयोरिव विषयभेदाप्रतीतिरिति—चेत्, सत्यम्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां ज्ञानसामान्याभावज्ञानस्य व्याहतत्वेन 'मयि ज्ञानं नास्ति'इत्यस्यापि भावरूपाज्ञानविषयत्वेन विषयभेदाप्रतीतेर्युक्तत्वात्। तथा हि—'मयि ज्ञानं नास्ति'इति प्रतीतिः 'वायौ रूपं नास्ति'इति प्रतीतिवद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावविषया, सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकयावद्विशेषाभावबिषया वा अभ्युपेया। तथा च तत्कारणीभूत—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रमातृगत अज्ञान से ही हो सकता है (विषयावरक अज्ञान से यह व्यववहार नहीं)। और वक्ष्यमाण हेतु से—परोक्षज्ञान द्वारा प्रमातृगत अज्ञान नाशित होने पर भी विषयगत अज्ञान वर्तमान होने से "न जानामि" इस व्यवहार की आपत्ति है— ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि प्रमातृगत अज्ञान के कार्य "नहीं जानता हूँ" इस व्यवहार का विषयगत अज्ञान द्वारा आपादन अशक्य है।

शंका — जिस प्रकार " अघटं भूतलम्" इस ज्ञान के "भूतले घटो नास्ति" इस ज्ञान से विशेषणविशेष्यभाव के विपर्यास के बिना विषयगत भेद की अप्रतीति है, उसी प्रकार भावरूप अज्ञान के विषयकत्वेन अभिमत "अहमज्ञः" इस ज्ञान के ज्ञानाभावविषयकत्वेन अभिमत "मयि ज्ञानं नास्ति" इस ज्ञान से विशेषणविशेष्यभाव के वैपरीत्य के बिना विषय में भेद की प्रतीति नहीं, जैसे "इच्छामि" इस इच्छाविषयक ज्ञान और "न द्वेष्मि" इस द्वेषाभावविषयक ज्ञान दोनों के विषयभेद की प्रतीति होती है। (अतः "मयि ज्ञानं नास्ति" के समान "अहमज्ञः" ज्ञान ज्ञानाभावविषयक है)।

समाधान— ठीक है; दोनों ज्ञानों में विषयभेद की अप्रतीति होनी ही चाहिये; क्योंकि अभावाधिकरण धर्मी (अनुयोगी) और प्रतियोगी दोनों के ज्ञान और अज्ञान से ज्ञानसामान्याभावविषयक ज्ञान व्याहत होने के कारण "मयि ज्ञानं नास्ति" इस ज्ञान के भी भावरूपाज्ञानविषयकत्व होने से "अहमज्ञः" इस ज्ञान से विषयभेद की अप्रतीति युक्त ही है (अभावज्ञान के प्रति अनुयोगिविषयक ज्ञान और प्रतियोगिविषयकज्ञान कारण है, और अनुयोगी तथा प्रतियोगी का अज्ञान है तो अभावज्ञान नहीं हो सकता। अतः "मयि ज्ञानं नास्ति" अर्थात् "मुझे ज्ञान नहीं" इसको ज्ञानसामान्याभावज्ञान मान लिया जाय तो अनुयोगी अहं पदार्थ का ज्ञान और प्रतियोगी ज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः इन दोनों ज्ञानों की वर्तमानता में ज्ञानसामान्याभाव कहना व्याघात है; और इसी प्रकार अनुयोगी और प्रतियोगी के ज्ञान के बिना ज्ञानसामान्याभाव कहना भी व्याघात है; इसकारण "मयि ज्ञानं नास्ति" इस ज्ञान का विषय भी भावरूप अज्ञान ही है— यह भाव है। और इसको ही ग्रन्थकार आगे "तथाहि" इत्यादि से स्पष्ट करते हैं)। जैसे कि—"वायौ रूपं नास्ति" इस प्रतीति का विषय रूपाभाव जिस प्रकार से यावत्रूपविशेषों के अभावकूट (समुदाय) से भिन्न रूपसामान्याभाव (रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकरूपसामान्याऽभाव), अथवा रूपत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक यावत्रूपों का यावत् अभाव ही है (इस विकल्प में यह भेद है कि प्रथम

धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां कथं न व्याघातः? यत्किंचिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्न–प्रतियोगिताकत्वाभावाद्, अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात्। अन्यथा सामान्याभावसिद्धिर्न स्यात्। यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावानभ्युपगमेऽप्ययं दोषः। यत्किंचिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले 'निर्घटं भूतल'मिति प्रतीतिः स्यात्, 'वायौ रूपं नास्ति' 'पुरो देशे रजतं नास्ती' त्याद्याप्तवाक्यजन्यप्रतीत्यनन्तरमपि तत्तत्संशयनिवृत्तिर्न स्यात्, एकविशेषाभावबोधनेऽपि विशेषान्तरमादाय संशयोपपत्तेः।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

में एक ही अभाव है और द्वितीय में अनेक अभाव हैं); उसी प्रकार से ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव भी यावत्ज्ञानविशेषों के अभावकूट से भिन्न ज्ञानसामान्याभाव (ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानसामान्य भाव), अथवा ज्ञानत्वसामान्यधर्मावच्छिन्न– प्रतियोगिताक यावद्ज्ञानविशेषाभावकूट इन दोनों में से कोई एक अभाव अङ्गीकार्य है। तब तो यावत् ज्ञानविशेषाभावकूटव्याप्य ज्ञानसामान्याभाव को विषय करने वाली प्रतीति के, अथवा ज्ञानत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिक यावज्ज्ञानविशेषाभावों को विषय करने वाली प्रतीति के कारणीभूत अनुयोगिप्रतियोगिविषयक ज्ञान और अज्ञान से क्यों न व्याघात होगा? (अर्थात्– ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति को जो लोग ज्ञानसामान्याभावविषयिका मानते हैं, उनके मत में अवश्य ही व्याघात होता है; क्योंकि अभावप्रतीति का कारणीभूत धर्मिप्रतियोगिविषयक ज्ञान रहने पर ज्ञानसामान्याभाव नहीं हो सकता, और धर्मिप्रतियोगी का अज्ञान होने पर ज्ञानसामान्याभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता)। कारण कि यत्किञ्चित् ज्ञानविशेष का अभाव ज्ञानत्वसामान्य–धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं होता; क्योंकि अभावज्ञान में प्रतियोगी के अंश में विशेषणीभूत धर्म ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक है (जैसे कि ''आत्मज्ञानं नास्ति'' यह आत्मज्ञान का अभाव ज्ञानत्वावच्छिन्नज्ञान प्रतियोगिक नहीं अर्थात् आत्मज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञानत्वावच्छिन्नज्ञान नहीं; किन्तु आत्मज्ञानत्वावच्छिन्न आत्मज्ञान ही प्रतियोगी है और इसी प्रकार सामान्याभाव में भी विशेष धर्म प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकता; अतः आत्मज्ञानत्वावच्छिन्नज्ञानसामान्याभाव नहीं होता, किन्तु ज्ञानत्वावच्छिन्नज्ञानसामान्याभाव होता है)। परन्तु इसमें यत्किञ्चित् विशेष के अभाव को न लेकर यावत् विशेषमात्र का यावत् अभाव लिया जाए तो प्रतियोगितावच्छेदक सामान्यधर्म हो सकता है, जैसे–ज्ञानत्वावच्छिन्नयावद्विशेषज्ञानाभाव। इसका कारण यह है कि यावद्विशेषाभावकूट ही सामान्याभावरूप हो जाता है, भेद इतना है कि अभावकूट में अनेकाभाव और सामान्याभाव में एक अभाव माना जाता है। अन्यथा अर्थात् सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिक यत्किञ्चिद्विशेषाभाव के भान का स्वीकार होने पर तो सामान्याभाव की सिद्धि नहीं होगी (अर्थात् घटत्वेन तद्घट का अभाव सिद्ध होने पर तो घटत्वेन यावद्घट के अभाव की सिद्धि कदापि नहीं होगी)। और यावद्विशेषाभावातिरिक्त सामान्याभाव के अनङ्गीकार में भी यह दोष है अर्थात् प्रतियोग्यंश में अप्रकारीभूत धर्म के प्रतियोगितावच्छेदक होने से असम्भवरूप दोष है, क्योंकि यत्किञ्चिद्विशेषाभाव का सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व होने पर तो घटवत् भूतल में भी घटत्वेन किसी एक घट के अभाव से ''निर्घट भूतल है'' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिये और ''वायु में रूप नहीं'' ''पुरोदेश में रजत नहीं'' इत्यादि आप्तवाक्य से जन्य प्रमाज्ञान के अनन्तर भी ''वायु में रूप है या नहीं'' '' पुरोदेश में रजत है या नहीं'' ऐसे संशय की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि रूपत्वेन किसी एक रूप के तथा रजतत्वेन किसी एक रजत के अभाव का बोधन होने पर भी विशेषरूपान्तर और विशेषरजतान्तर का संशय हो सकता है।

अथ--अभावबोधे प्रकारीभूतधर्मस्यावच्छेदकत्वं पूर्वानुपस्थितमपि संसर्गमर्यादया शाब्दबोधे अन्यत्र च भासते, न ह्यवच्छेदकत्वस्य स्वरूपसंबन्धविशेषस्य ग्रहे अन्या सामग्री क्लृप्ता, तथा च 'तत्तद्विशेषाभावानां तत्तद्विशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात्। सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यावद्विशेषाभावकूटे वा व्यासज्यवृत्तितदतिरिक्तसामान्याभावे वा प्रत्येकविश्रान्तमिति तादृगभावप्रतीतेर्यावद्विशेषप्रतीतिविरोधित्वात् कुतो विशेषसंशया--

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — घटाभावादिबोध में प्रतियोग्यंश में विशेषणीभूत घटत्वादि धर्म का अवच्छेदकत्व अर्थात् प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वादिनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदकत्व धर्म अभावप्रतीति से पूर्व अनुपस्थित होने पर भी संसर्गमर्यादा से (संसर्गरूप से) अभावविषयकशाब्दबोध और अन्याभावज्ञान में भासमान होता है। (विशिष्टविषयकज्ञान, विशेषणज्ञान के बिना असम्भव होने से विशिष्टज्ञान से पूर्व विशेषण अवश्य ही उपस्थित होता है; जैसे कि घटाभावज्ञान से पूर्व प्रकारीभूत घटत्व की उपस्थिति आवश्यक है, अन्यथा प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वावच्छिन्नघटाभाव का बोध नहीं हो सकता, किन्तु उसी प्रकार प्रतियोगित्व, प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि धर्म विशेषणरूप से अभाव प्रतीति से पूर्व उपस्थित नहीं होते, जिस समय अभावज्ञान होता है, उसी समय ही संसर्ग अर्थात् संबन्ध रूप से प्रतीत होते हैं); और स्वरूपसंबन्धविशेषरूप घटत्वादिनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि धर्म के ग्रह में अन्य सामग्री भी क्लृप्त (आवश्यक) नहीं अर्थात् जिस सामग्री से प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वादि का ग्रह होता है, उसी सामग्री से ही घटत्वादिनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि धर्म का भी ग्रह होता है; अन्य सामग्री की आवश्यकता नहीं; और वह अवच्छेदकत्वादि धर्म घटत्वादि का स्वरूप ही है; अतः रूपसंबन्ध विशेषरूप ही है। तब तो तद्घट तज्ज्ञानादि विशेषों का अभाव तद्घटत्व तज्ज्ञानत्वादि विशेष धर्मों से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक होने के कारण (जिस पक्ष में यावद्विशेषाभावकूट ही सामान्याभाव माना जाता है, उस पक्ष में) यावद्विशेषाभावकूट में सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व (घटत्व ज्ञानत्वादि धर्मों से अवच्छिन्न जो प्रतियोगी है, तत्प्रतियोगिकत्व यावद्विशेषाभावकूट में) व्यासज्यवृत्ति है (प्रत्येकाश्रय में अभिव्यक्त न होकर यावदाश्रय में व्यांप्त होकर अभिव्यक्त होने वाले धर्म को व्यासज्यवृत्ति धर्म कहते हैं; जैसे— उभयत्व, द्वित्व, त्रित्वादि धर्म, और प्रत्येकाश्रय में अभिव्यक्त होने वाले धर्म को अव्यासज्यवृत्ति धर्म कहते हैं; जैसे गोत्व, घटत्वादि धर्म। प्रकृत में तत्तद्व्यक्तिविशेषरूप घटज्ञान पटज्ञानादि के अभाव में ज्ञानत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकत्व नहीं हो सकता, किन्तु यावद्विशेषज्ञानाभावकूट में हो सकता है; अतः ज्ञानत्व सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकत्व या प्रतियोगिताकत्व व्यासज्यवृत्ति धर्म है) अथवा (जिस पक्ष में यावद्विशेषाभावकूट से अतिरिक्त एक सामान्याभाव माना जाता है, उस पक्ष में) यावद्विशेषाभाव के अतिरिक्त सामान्याभावरूप धर्मी में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व होने से प्रत्येकाश्रय में यह धर्म विश्रान्त अर्थात् परिसमाप्त होकर अभिव्यक्त होता है; इस कारण '' वायौ रूपं नास्ति'' इत्यादि अभावप्रतीति के यावद्विशेषरूपादि प्रतीति के विरोधित्व होने से कैसे विशेषसंशयादि हो सकता है? (सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकयावद्विशेषाभावकूट और सामान्याभाव ये दोनों जहां रहते हैं, वहां कोई भी विशेष नहीं रह सकता, अतः ''वायौ रूपं नास्ति'' ''पुरो देशे रजतं नास्ति'' इत्यादि स्थल में रूपविशेष, रजतविशेष आदि को लेकर किसी भी प्रकार से सन्देह नहीं हो सकता— यह अभिप्राय है)।

दिरिति—चेत्, सत्यम्, प्रकृतेऽपि ज्ञानत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रतीतिर्यावज्ज्ञानविशेषविरोधिनीति कथं तत्तत्कारणत्वाभिमतज्ञानविशेषे सति सा न व्याहन्यते? तथा च क्लृप्ताभावप्रतीतिवैलक्षण्येऽवश्यकल्प्ये लाघवाद्विषयस्यैवाभाववैलक्षण्यं कल्पयितुमुचितम्, विषयावैलक्षण्ये प्रतीतिवैलक्षण्यायोगात्। विषयाज्ञानमनुभूय च पुरुषस्तन्निवृत्त्यर्थं विचारे प्रवर्तत इति सर्वानुभवसिद्धम्। तद्यदि ज्ञानविशेषाभावो 'न जानामी'ति प्रतीतेर्विषयः, तदा ज्ञातेऽपि तथा प्रतीत्यापातः, तद्विचारार्थं च प्रवृत्तिः स्यात्। सामान्याभावे च बाधकमुक्तमेव। तस्मादभावविलक्षणमेवाज्ञानं 'मयि ज्ञानं नास्त्यहमज्ञ' इत्यादि धीविषय इति सिद्धम्।

ननु—अभावविलक्षणमप्यज्ञानं 'न जानामि' इति ज्ञानविरोधित्वेनैव भासते, मोहादिऽपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— आप का कथन सही है; उसी प्रकार ''अहमज्ञः'', ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इत्यादि प्रकृत में भी ज्ञानत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानाभाव की प्रतीति यावज्ज्ञानविशेष की विरोधिनी होने के कारण तत्तज्ज्ञानाभाव के कारणरूप से अभिमत अनुयोगिप्रतियोगिविषयक ज्ञानविशेष होने पर वह प्रतीति व्याहत क्यों न होगी? (अर्थात् अनुयोगिप्रतियोगिविषयक ज्ञानविशेष रहते हुए ज्ञानसामान्याभाव नहीं हो सकता; अतः अज्ञान को ज्ञानाभाव से विलक्षण ही मानना होगा)। तब तो क्लृप्त (प्रसिद्ध) घटादिसामान्याभाव प्रतीति से ज्ञानसामान्याभावप्रतीति का विलक्षणत्व अवश्य कल्प्य होने पर अन्यविलक्षणत्व कल्पना की अपेक्षा लाघव होने से प्रतीतिविषय के ही अभावविलक्षणत्व की कल्पना उचित है; क्योंकि विषय में विलक्षणत्व न होने पर प्रतीति का विलक्षणत्व अयुक्त है (अतः ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानसामान्याभाव से भिन्न भावरूप अज्ञान ही है)। और किसी एक विषय के अज्ञान का अनुभव करके उस अज्ञान की निवृत्ति के लिये पुरुष विचार में प्रवृत्त होता है— यह बात सर्वानुभव से सिद्ध है। यदि उस अज्ञान को ही विषयविशेषित ज्ञानविशेष का अभाव मानकर ''न जानामि'' इस प्रतीति का विषय अङ्गीकृत किया जाय तो विषय विशेष ज्ञात होने पर भी ''न जानामि'' यह प्रतीति पूर्ववत् ही रहेगी (क्योंकि ''न जानामि'' इस प्रतीति के अन्य विषयविशेष रह जाते हैं): और उसके विचारार्थ प्रवृत्ति भी होनी चाहिये (अतः ''न जानामि'' इस प्रतीति का ज्ञानविशेषाभाव विषय नहीं हो सकता)। और ज्ञानसामान्याभाव में तो बाधक कह ही चुके हैं (''न जानामि'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानत्वसामान्यावच्छिन्नज्ञानाभाव मानने में व्याघात दोष कह चुके हैं; कारण कि अभावज्ञान में धर्मिप्रतियोगिज्ञान कारण है, यदि धर्मिप्रतियोगिज्ञान रह जाय तो ज्ञानसामान्याभाव नहीं हो सकता)। इस कारण ''मयिज्ञानं नास्ति'', ''अहमज्ञः'' इत्यादि बुद्धि का विषय अभावविलक्षण अज्ञान ही सिद्ध है।

शंका — (जैसे अज्ञान को ज्ञानाभाव मानने पर ज्ञान से विरोध है, वैसे) अभावविलक्षण अज्ञान भी ''न जानामि'' इस अभिलाप में ज्ञानविरोधिरूप से भासित होता है (क्योंकि ''न जानामि'' इस अभिलाप में नञ् का अर्थ है विरोध, और ''जानामि'' में ज्ञाधातु का अर्थ ज्ञान है; अतः ''ज्ञानविरूद्धाज्ञानवानहम्'' यह अर्थ '' न जानामि'' का होता है) और ''मुग्धोऽस्मि'' इत्यादि अभिलाप नञ्घटित न होने पर भी उसी से प्रतीत अज्ञान के वाचक मोह पद में भी प्रलयादि पद के समान नञ् का उल्लेखभावमात्र है (नञ् का उल्लेख न होने पर भी जैसे प्रलयपद का अर्थ नञ्घटित स्थितिविरोधित्व होता है, वैसे मोह पद का भी नञ्घटित ज्ञानविरोधित्व अर्थ

प्रलयादिपदवत्तदनुल्लेखमात्रम्, उक्तं च विवरणे—'अज्ञानमिति द्वयसापेक्षज्ञान—पर्युदासेनाभिधानाद्' इति। अन्यथा ज्ञानस्याज्ञानविरोधित्वमप्रामाणिकं स्यात्, तथा च विरोधनिरूपकज्ञानस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यां तवापि कथं न व्याघातः? एवं निर्विषयाज्ञानाप्रतीतेर्विषय—ज्ञानाज्ञानयोरपि व्याघात आपदनीयः, तथा च

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे।।

इति न्यायेन उभयपरिहरणीयस्य व्याघातस्य ज्ञानाभावपक्ष एवापादानमनुचितमिति—चेन्न प्रमाणवृत्तिनिवर्त्यस्यापि भावरूपाज्ञानस्य साक्षिवेद्यस्य विरोधनिरूपकज्ञान—तद्व्यावर्तकविषयग्राहकेण साक्षिणा तत्साधकेन तदनाशाद्व्यहत्यानुपपत्तेः। अज्ञानग्रहे विषयगोचरप्रमापेक्षायां व्याहतिः स्यादेव, सा च नास्ति। तदुक्तं विवरणे 'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव' इति। न चैवं— ज्ञानाभावपक्षेऽपि विषयादिज्ञानं साक्षिरूपम्, न जानामि'इति धीस्तुप्रमाणवृत्त्यभावविषयेति न व्याहतिरिति—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होता है, केवल नञ् का उल्लेखाभावमात्र है); विवरण में —"आश्रय और विषय की अपेक्षा करने वाले ज्ञान के पर्युदास अर्थात् विरोध से ही अज्ञान का अभिधान है" ऐसा कहा भी है। यदि अज्ञान के ज्ञानविरोधित्वेन भान का अनङ्गीकार करें तो ज्ञान का अज्ञानविरोधित्व अप्रामाणिक हो जायेगा; तब तो अभावविलक्षण अज्ञान के विरोधनिरूपक ज्ञान के ज्ञान और अज्ञान से तुम्हारे मत में भी व्याघात क्यों न होगा? (अज्ञाननिष्ठ विरोध का निरूपक ज्ञान ज्ञात होने पर अज्ञान रह नहीं सकता और अज्ञात होने पर अज्ञान की प्रतीति ही नहीं होगी। अतः अज्ञाननिष्ठविरोधनिरूपक ज्ञान के होने और न होने की दोनों अवस्थाओं में व्याघात दोष है); इसी प्रकार निर्विषयक अज्ञान की अप्रतीति होने से अज्ञानविषय के ज्ञान और अज्ञान में भी अज्ञान की प्रतीति में व्याघात का आपादन करना चाहिये (अज्ञानविषय ज्ञात होने पर अज्ञान नहीं होगा, तथा अज्ञात होने पर निर्विषयक अज्ञान की प्रतीति नहीं होगी; इस प्रकार व्याघात दोष है) तब तो " जहां दोनों पक्षों का सम दोष होता है, और परिहार भी सम होता है; वहां उस विषय के विचार में एक ही पक्ष को उपालम्भ नहीं करना चाहिये" इस न्याय से उभयपक्ष द्वारा परिहारयोग्य व्याघात का ज्ञानाभावपक्ष में ही आपादन अनुचित है।

समाधान— ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि प्रमाणवृत्ति अर्थात् प्रमाज्ञान से निवर्त्य होता हुआ भी भावरूप अज्ञान साक्षिवेद्य है, तथा विरोधनिरूपक ज्ञान और अज्ञान व्यावतर्क विषय का ग्राहक भी साक्षी ही है। (साक्षिज्ञान प्रमात्मक नहीं; प्रमाज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है और विरोधी है; साक्षिज्ञान तो अज्ञान का ही साधक है) इस कारण अज्ञानसाधक साक्षी द्वारा अज्ञान के नाश न होने से व्याघात की अनुपपत्ति है। अज्ञान के ग्रह में अज्ञानविषयविषयक प्रमाज्ञान की अपेक्षा होने पर ही व्याघात होता है; किन्तु अज्ञानविषयविषयक ज्ञान प्रमा नहीं। इस संबन्ध में विवरणग्रन्थ में कहा भी है— "सब वस्तु ज्ञातत्वरूप से अथवा अज्ञातत्व रूप से साक्षिचैतन्य का ही विषय है" इति।

शंका— तब तो वैसा ही ज्ञानाभाव पक्ष में भी अज्ञानविषयादिविषयक ज्ञान साक्षिरूप है, और "न जानामि" यह बुद्धि तो प्रमाणवृत्ति (प्रमाज्ञान) की अभावविषयिका है; अतः व्याघात नहीं।

वाच्यम्, भावरूपाज्ञानस्य साक्षात् साक्षिवेद्यत्वेन तदवच्छेदकविषयादेस्तद्द्वारा साक्षिवेद्यत्वसंभवेऽपि अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वेन साक्षात् साक्षिवेद्यत्वाभावात् न तद्द्वारा तदवच्छेदकविषयादेः साक्षिवेद्यत्वमिति वैषम्यात्। यद्यपि ज्ञानं साक्षिवेद्यम्, तद्द्वारा तदवच्छेदको विषयश्च साक्षिवेद्यः, तथापि ज्ञानोभावो न साक्षिवेद्यः, तस्यानुपलब्धत्वात्। उत्पन्नं च ज्ञानं साक्षात् साक्षिवेद्यम्। तस्मिंश्चोत्पन्ने तद्विषयोऽपि स्फुरतीति कुतो ज्ञानाभावोऽपि? अज्ञानविशेषणतया तु अनुत्पन्नमपि ज्ञानं साक्षिवेद्यमिति न दोषसाम्यम्। न च—अवच्छेकस्य विषयादेः प्रागज्ञाने कथं तद्विशिष्टाज्ञानज्ञानम्? विशेषणज्ञानाधीनत्वाद्विशिष्टज्ञानस्येति—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— ऐसा न कहिए, क्योंकि भावरूप अज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य होने से अज्ञानावच्छेदक (व्यावर्तक) विषयादि का अज्ञान द्वारा (परम्परा से) साक्षिवेद्यत्व सम्भव होने पर भी ज्ञानाभाव अनुपलब्धिप्रमाणगम्य होने से साक्षात् साक्षिवेद्य नहीं हो सकता; अतः ज्ञानाभावात्मक अज्ञान द्वारा (परम्परा से) ज्ञानाभावात्मक अज्ञान के अवच्छेदक विषयादि का साक्षिवेद्यत्व नहीं होता; यही तुम्हारे और हमारे मत में वैषम्य है। यद्यपि अज्ञाननिष्ठ विरोध का निरूपक ज्ञान साक्षिवेद्य है, और उस ज्ञान द्वारा परम्परा से उस ज्ञान का अवच्छेदक (विशेषण) विषय भी साक्षिवेद्य है; तथापि अज्ञानविरोधनिरूपक ज्ञान का अभाव साक्षिवेद्य नहीं; क्योंकि वह अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञेय है। और अज्ञानविरोधनिरूपक विद्यमान ज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य है, और उसका विद्यमानत्व होने पर उसका विषय भी स्फुरित हो ही जाता है; तब तो ज्ञानाभाव कैसे हो सकता है? (ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों में से कोई एक होने पर दूसरे का अविद्यमानत्व है, और अविद्यमान का अनावृतसाक्षी के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता; अतः ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों की युगपत् साक्षिवेद्यता नहीं हो सकती— यह भाव है)। और अज्ञान के विशेषणरूप से (अर्थात् भाविप्रमाविरोधित्वविशिष्टअज्ञान— इसमें अज्ञान के विशेषणरूप से) अविद्यमान होता हुआ भी ज्ञान (प्रमा) परम्परा से साक्षिवेद्य होता है (अज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य है— और अज्ञानविरोधनिरूपक प्रमाज्ञान अविद्यमान होने पर भी अज्ञान के विशेषणरूप से परम्परा से साक्षिवेद्य होता है); इस कारण अज्ञानप्रतीति और ज्ञानाभावप्रतीति व्याघातदोष का साम्य नहीं (क्योंकि अभाव साक्षी से अवेद्य होने से उसके विशेषणीभूत प्रतियोगी ज्ञान का साक्षिवेद्यत्व नहीं हो सकता)।

शंका— निर्विषयक अज्ञान नहीं होता, अतः अज्ञान के अवच्छेदक अर्थात् विशेषणीभूत विषयादि का पहले ज्ञान न होने पर उस विषयादि से विशिष्ट अज्ञान का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान कारण है।

समाधान— ऐसा न कहिए; कारण कि विशेषणज्ञान के विशिष्टज्ञानकारणत्व में प्रमाण का अभाव है, क्योंकि पूर्व अनुपस्थित (अज्ञात) प्रतियोगित्व और अभावत्व दोनों का अभावबोध में विशेषणरूप से भान तार्किकों ने अङ्गीकृत किया है।

शंका — तो भी अर्थात् विशेषणज्ञान विशिष्टज्ञान का जनक न होने पर भी विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञान के बिना विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकबुद्धि कैसे होगी? ("दण्डवान् पुरुषः' इसमें दण्ड विशेषण है; अतः दण्ड में विशेषणता है; और उस दण्डनिष्ठ विशेषता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व है, वही दण्डत्व है प्रकार (विशेषण) जिसका, ऐसे दण्डत्वविशिष्टदण्ड के ज्ञान को विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञान कहा जाता है, यह ज्ञान विशिष्टवैशिष्टयविषयक ज्ञान के प्रति कारण होता है; क्योंकि दण्डत्वावच्छिन्न दण्ड से विशिष्ट पुरुष है; अतः दण्डविशिष्टपुरुष में

वाच्यम्, विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानजनकत्वे मानाभावात्, प्रतियोगित्वाभावत्वयोः पूर्वानुपस्थितयोरपि तार्किकैरभावबोधे प्रकारीभूय भानाभ्युपगमात्। तथापि– विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानं विना कथं विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिरिति–चेन्न, विशिष्ट–वैशिष्ट्यबुद्धित्वेन विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावे मानाभावात्, प्रत्यक्षत्वादिरूपेण पृथक्–पृथक् क्लृप्तकार्यकारणभावेनैवोपपत्तेः विशिष्टवैशिष्ट्य–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वैशिष्ट्य–विशिष्टत्व संबन्ध रहता है, इस कारण विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान दण्डत्वविशिष्ट दण्ड के ज्ञान के बिना अर्थात् विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान के बिना नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रकृत में भी ''अज्ञोऽहम्'' इसमें अज्ञान विशेषण है और अज्ञाननिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक धर्म ज्ञानविरोधित्व, सविषयकत्वादि है; अतः ज्ञानविरोधित्वादिविशिष्ट अज्ञान से विशिष्ट अहं पदार्थ आत्मा में वैशिष्ट्य विषयक ज्ञान करना हो तो पहले अज्ञाननिष्ठ सविषयकत्वादि का निश्चय आवश्यक है। इस रीति से अज्ञान के प्रत्यक्ष होने से पूर्व अज्ञान के विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाय तो अज्ञान साक्षिप्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता; तब तो ज्ञानाभाव पक्ष के समान भावरूप अज्ञान के पक्ष में भी व्याघात अवश्य होगा; क्योंकि विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञानरूप कारण के बिना ''अज्ञोऽहम्'' इत्यात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक ज्ञानरूप कार्य नहीं हो सकता और उक्त प्रकारक ज्ञान हो जाय तो भी विरोध होने से ''अज्ञोऽहम्'' यह ज्ञान नहीं होगा– यह शंका का गूढ़ अभिप्राय है)।

समाधान– ऐसा नहीं; कारण कि विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धित्वरूप से और विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञानत्वरूप से दोनों के कार्यकारणभाव में प्रमाण का अभाव है (अर्थात् ''दण्डी पुरुष'' इत्यादि ज्ञान में विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व कार्यतावच्छेदक है और विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्व कारणतावच्छेदक है– इसमें प्रमाण का अभाव होने से अज्ञान के प्रत्यक्ष में व्याघात दोष नहीं आ सकता); क्योंकि प्रत्यक्षत्वादिरूप से पृथक्–पृथक् नियत कार्यकारणभाव से ही उपपत्ति होने के कारण विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व प्रत्यक्षादि अर्थ समुदाय से सिद्ध होता है; (अभिप्राय यह है कि विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक ज्ञान– प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोधादिरूप ही होते हैं। अतः ''दण्डी पुरुष'' इस प्रत्यक्षात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में (पुरुष में दण्डविशिष्टत्व बुद्धि में) प्रत्यक्षत्व ही कार्यतावच्छेदक है और इन्द्रियसन्निकर्षत्वादि कारणतावच्छेदक है, प्रकारकज्ञान कारण नहीं; इसी प्रकार ''वह्निमान् पर्वतः'' इस वह्नित्वविशिष्टवह्निप्रकारकपर्वतविशेष्यक अनुमित्यात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में (पर्वत में वह्निविशिष्टत्व बुद्धि में) भी व्याप्तिज्ञानादि कारण है और कार्यतावच्छेदक अनुमितित्व है; विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व नहीं; ''गोसदृशो गवयः'' इस उपमित्यात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में भी सादृश्यादिज्ञान ही कारण है और ''गामानय'' इत्यादि गोकर्मकानयनक्रियानुकूलकृतिमत्त्वविशिष्ट विषयकशाब्दबोधात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में भी पदार्थज्ञानादि ही कारण है। अतः उक्तरीति से प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, उपमितित्व, शाब्दबोधत्वादि ही पृथक्–पृथक् रूप से कारणतावच्छेदक हैं और इन्द्रियसन्निकर्षत्वादि भी पृथक्–पृथक् रूप से कारणतावच्छेदक हैं। इस कारण सर्वसाधारण विशिष्टवैशिष्ट्बुद्धि के प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है और विशिष्ट वैशिष्ट्यबुद्धित्व भी प्रत्यक्षादि अर्थसमाज से सिद्ध होने से कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता।) और विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चय को विशिष्ट वैशिष्ट्यधी का हेतु मानने पर भी जहां

बुद्धित्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वात्, इह च सामग्रीतुल्यत्वेन 'विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरमिति' न्यायेन विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानसंभवात्। अन्यथा तार्किकाणामपीश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वं न स्यात्। भ्रमविषयस्य स्वातन्त्र्येण ग्रहे भ्रान्तत्वापत्त्या भ्रमावच्छेदकतयैव

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चय का असम्भवस्थल है, वहां सामग्रीतुल्यत्व होने से अर्थात् जिस कारण समुदाय से विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक बोध होता है; उन कारणों से ही ''विशेष्य में विशेषण और उस विशेषण में विशेषणान्तर'' इस रीति से विशिष्ट का वैशिष्ट्यज्ञान हो सकता है (अभिप्राय यह है कि ''रक्तदण्डवान् पुरुषः'' इस प्रकार विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक बोध करना हो तो इसके पहले विशेषणातावच्छेदकरक्तत्वप्रकारकनिश्चयरूपज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि वह विशिष्टवैशिष्ट्य बोध का कारण है। किन्तु ''दण्डो रक्तो न वा'' इस संदेह के अनन्तर ''रक्तदण्डवान् पुरुषः'' ऐसा ज्ञान होता है; और इस ज्ञान के पहले रक्तत्वप्रकारकनिश्चय तो नहीं होता; अतः संशयानन्तर उपस्थित ''रक्तदण्डवान् पुरुषः'' यह ज्ञान रक्तत्वप्रकारकनिश्चयज्ञान से नहीं होता, परन्तु ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इस रीति से होता है। इसी से यह सिद्ध हुआ कि ''रक्तदण्डवान् पुरुषः'' यह ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकत्वेन विशेषतावच्छेदक प्रकारकनिश्चय से भी हो सकता है, तथा ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इस रीति से भी हो सकता है; ज्ञान के आकार में कोई भेद नहीं और ज्ञानजनक सामग्री में भी तुल्यता है, केवल रीति मात्र में भेद है। इस कारण विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चय के बिना भी ''विशेष्ये विशेषणम्'' इत्यादि रीति से भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः अज्ञान के प्रत्यक्ष में व्याघात दोष नहीं। और द्वैतवादी के ज्ञानाभावप्रत्यक्ष में तो प्रतियोगिज्ञान अपेक्षित होने के कारण ''विशेष्ये विशेषणम्'' इत्यादि न्याय नहीं लाया जा सकता, केवल विशेषतावच्छेदक प्रकारकनिश्चय से ही ज्ञानाभावविषयकज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वेन गृहीत होगा। अतः उसमे व्याघात दोष अवश्यम्भावी है) और उक्त रीति को न मानकर अज्ञान प्रत्यक्ष में विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकत्व का नियम करने पर तो तार्किकों के मत में भी ईश्वर का भ्रान्तिज्ञत्व नहीं होगा। क्योंकि भ्रम के विषय ''इदं रजतम्'' का स्वतन्त्ररूप से ग्रह होने पर ईश्वर के भ्रान्तत्व की आपत्ति से भ्रमांश में विशेषणत्व रूप से ही ''इदं रजतम्'' इस भ्रम विषय का ग्रहण कहना होगा;(अभिप्राय यह है कि ईश्वर अभ्रान्त होता हुआ भी भ्रान्त पुरुष की भ्रान्ति को जानता है, अन्यथा वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता; इस परिस्थिति में ईश्वर को भ्रान्तिज्ञानविषयक ज्ञान होता है— ऐसा कहना होगा। और भ्रान्तिज्ञान का विषय है ''इदं रजतम्''। अतः ''रजतेदंज्ञानवान् पुरुषः'' ऐसा ईश्वर का विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक ज्ञान है; इस ज्ञान में विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को हेतु मानें तो ईश्वर में विशेषणतावच्छेदक ''रजतेदंत्व'' के स्वतन्त्ररूप से ज्ञान होने की आपत्ति आयेगी; तब तो ईश्वर को भी ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान होने के कारण भ्रान्तत्व होगा। अतः ईश्वर में प्रसक्त इस भ्रान्तत्व के निवारणार्थ ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इस रीति से ''रजतेदंज्ञानवान्'' इत्यात्मक ईश्वरज्ञान रूपविशेष्य में विषयत्वेन भ्रान्तिज्ञान विशेषण हुआ और उस विशेषणीभूत भ्रान्तिज्ञान में पुनः विषयत्वेन ''रजतेदम्'' विशेषणान्तर हुआ, इस प्रकार परम्परागत से ईश्वर अभ्रान्त होता हुआ भी भ्रान्तिज्ञ सिद्ध होता है)। तब तो ससंबन्धिक के प्रत्यक्ष में विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकत्व के अनियम होने से अज्ञानप्रत्यक्ष की उत्पत्ति से पहले, अज्ञान में विशेषणत्वरूप से ज्ञानविरोधित्व सविषयकत्वादि अवच्छेदक के ज्ञानग्रह का नियम कैसे हो सकता

तद्ग्रहणं वाच्यम्, तथा च क्व प्राक्तदवच्छेदकग्रहनियमः? ग्रहणसामग्रीतुल्यत्वं च प्रकृतेऽपि समम्।

ननु— श्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानप्रागभावस्य सत्त्वेन तज्ज्ञानं त्वयापि वाच्यम्; तथा च तत्रापि व्याहतिस्तुल्येति—चेन्न; श्रवणादि साध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानरूपस्य प्रतियोगिनो ज्ञानाज्ञानाभ्यां व्याहत्यभावात्, न हि श्रवणादिसाध्यत्वमोक्षहेतुत्वादिप्रकारकं ब्रह्मज्ञानज्ञानं ब्रह्मज्ञानमपि सत् श्रवणादिसाध्यम्, मोक्षहेतुर्वा; येन तस्मिन् सति तादृग्ज्ञानप्रागभावो व्याहन्येत।

नन्वेवं—' न जानामि'इति धियो ज्ञानाभावविषयत्वेऽपि न प्रतियोगिज्ञानादिना व्याहतिः; सामान्यतो विषयप्रतियोगिज्ञानेऽपि विशेषतस्तदभावसंभवात्, अन्यथा प्रागभावधीर्न स्यात्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है? (क्योंकि ''मयि ज्ञानं नास्ति'' ''अहमज्ञः'' इत्यादि में अज्ञान के आश्रयीभूत अहं पदार्थ विशेष्य में अज्ञान विशेषण है और उस विशेषण में ज्ञानविरोधित्व, सविषयकत्वादि विशेषणान्तर हैं। इस प्रकार अज्ञान साक्षात् साक्षिभास्य होने पर भी अज्ञानविषयादि परम्परा रूप से साक्षिभास्य होने से अज्ञान प्रत्यक्ष में अज्ञानविषयविषयक ज्ञानादि को लेकर व्याघात दोष नहीं हो सकता)। और प्रकृत में भी ग्रहण की सामग्री अर्थात् तत्तद्विषयावगाहित्वरूप समग्रता तो जैसे विशिष्टवैशिष्टय में है, वैसे ही ''विशेष्ये विशेषणम्'' इत्यादि में भी तुल्य है, (इस कारण विषयता में भेद होने पर भी आकार में तुल्य होने से आकार में कोई विरोध नहीं— यह भाव है)।

शंका— श्रवणादि से साध्य मोक्षहेतुभूत ब्रह्मज्ञान के प्रागभाव का सत्त्व होने से ब्रह्मज्ञानप्रागभावविषयक ज्ञान आप को भी अवश्य वाच्य है, तब तो उस ब्रह्मज्ञानप्रागभाव ज्ञान में व्याघात दोष हमारे साथ तुल्य ही हैं (अभिप्राय यह है कि अज्ञानप्रत्यक्ष में उक्त रीति से व्याघात भले ही न हो, किन्तु अभावप्रत्यक्ष तो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही होने से उससे पूर्व विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान होना आवश्यक है। इसलिये श्रवणादिसाध्य ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति से पहले उसका प्रागभाव तो अवश्य मानना होगा; और प्रतियोगिज्ञान के बिना प्रागभाव का ज्ञान तो नहीं हो सकता। अतःप्रतियोगिभूत ब्रह्मज्ञान का ज्ञान होने पर ब्रह्मज्ञान प्रागभाव ही नहीं होगा, और ब्रह्मज्ञानप्रागभाव का ज्ञान न होने पर श्रवणादि में प्रवृत्ति असम्भव होने से व्याघात होता है)।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि श्रवणादिसाध्य और मोक्षहेतुभूत साक्षात्कारात्मक ब्रह्मज्ञानरूप प्रतियोगी के ज्ञान और अज्ञान से व्याघात दोष नहीं हो सकता; कारण कि श्रवणादिसाध्यत्व, मोक्षहेतुत्वादि से विशिष्ट ब्रह्मज्ञान का ज्ञान परम्परा से ब्रह्मविषयक ज्ञान होता हुआ भी श्रवणादि से साध्य नहीं; अथवा मोक्ष का हेतु नहीं, जिससे ब्रह्मज्ञानविषयक ज्ञान होने पर श्रवणादिसाध्य साक्षात्कारात्मक ब्रह्मज्ञान के प्रागभाव में व्याघात दोष हो जाय।

शंका— तब तो वैसे ही— '' न जानामि'' इस ज्ञान का ज्ञानाभावविषयत्व होने पर भी प्रतियोगिज्ञानादि से व्याघात नहीं होगा; क्योंकि सामान्यरूप से अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर भी विशेषरूप से अर्थात् तत्तद्व्यक्तित्वेन प्रतियोगी का अभाव सम्भव है (जैसे— भूतलादि में घटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन यत्किञ्चित् घट विशेष प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर भी तद्घटत्वादिरूप विशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन विशेषप्रतियोगी का अभाव सम्भव है, वैसे ही ''न जानामि'' इत्यादि में भी ज्ञानत्वसामान्य धर्मावच्छिन्नत्वेन यत्किञ्चित् विशेषज्ञानरूप प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर भी तज्ज्ञानत्वादिरूपविशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन विशेषज्ञानप्रतियोगिकअभाव सम्भव है)।

तत्प्रतियोगिविशेषस्य सामान्यधर्मं बिना विशेषतो ज्ञातुमशक्यत्वादिति—चेन्न; विशेषज्ञानाभावे हि विशेषज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रतियोगीति तस्य ज्ञाने स विशेषोऽपि ज्ञात एवेति विशेषज्ञाना—भावव्याघातात्। यत्किंचिद्विशेषाभावश्च न सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्युक्तम्। प्रतियोगि—तावच्छेदकप्रकारकज्ञानाभावेन प्रागभावप्रतीतिरसिद्धैव।

ननु— प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानं नाभावज्ञाने कारणम्, किंत्वभावज्ञाने भासमानप्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारकं ज्ञानम्; सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्युभ्युपगमे तु प्रतियोगि—विषयत्वमपि तस्याधिकम्, इतरथा तु तदेव इष्टवृत्तिसामान्यधर्मप्रकारकज्ञानमिवा—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस प्रकार सामान्यरूप से ज्ञान और विशेषरूप से ज्ञानाभाव का अनङ्गीकार करेंगे तो प्रागभावबुद्धि ही नहीं होगी; कारण कि प्रागभावप्रतियोगिविशेष का सामान्यधर्म के बिना विशेषरूप से तत्तद्व्यक्तित्वेन ज्ञान नहीं हो सकता (जैसे—कपाल में घटविशेष का प्रागभाव है और उस प्रागभाव का प्रतियोगी घटविशेष है; उत्पत्ति से पूर्व उस घटविशेष का ज्ञान विशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन नहीं होता; किन्तु घटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन होता है। प्रतियोगी घटविशेष की कपाल में घटत्वेन अभावप्रतीति नहीं मानेंगे तो घटप्रागभावबुद्धि ही सिद्ध नहीं हो सकती)।

समाधान— ऐसा भी नहीं; क्योंकि ''न जानामि'' अर्थात् ''अहमज्ञानी'' ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इत्यादि का विषय विशेषज्ञानाभाव हो तो विशेषज्ञानाभाव में विशेषज्ञानत्वावच्छिन्न प्रतियोगी ही होने के कारण विशेषज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगी के ज्ञान से विशेषज्ञान भी ज्ञात ही होता है; इस कारण विशेषज्ञानाभाव का कथन व्याहत होता है ('' पुस्तकं न जानामि'' इस विशेष के लिये '' न जानामि'' ऐसा सामान्यरूप से कहा नहीं जाता। यदि ''न जानामि'' इससे पुस्तकज्ञानाभाव जाना भी जाय तो पुस्तकज्ञान ही प्रतियोगी होने से प्रतियोगीज्ञान के बिना अभावज्ञान असम्भव होने के कारण पुस्तकज्ञान है ही, तब पुस्तकज्ञानाभाव कहना व्याघात है)। और यत्किञ्चित् विशेष का अभाव सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक नहीं हो सकता— यह बात पहले कही जा चुकी है। इसलिये घटज्ञानत्वादितत्तद्व्यक्तित्वरूप प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान के अभाव से प्रागभाव प्रतीति की असिद्धि तो होती ही है। (अर्थात् विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान के अभाव से विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धिरूप प्रागभावज्ञान नहीं हो सकता)।

शंका — प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान अभावज्ञानमें कारण नहीं, किन्तु अभावज्ञान में भासमान प्रतियोगीवृत्ति जो धर्म, तद्धर्मप्रकारकज्ञान ही कारण है (तत्तद्विशेषव्यक्तिरूप तद्घट के अभाव में तद्घटप्रतियोगी के प्रतियोगितावच्छेदकरूप प्रकारधर्म तद्घटत्व है। इस प्रकार से तद्घटत्वप्रकारकतद्घटविशेष्यकज्ञान अर्थात् तद्घटत्वविशिष्ट तद्घटविषयकज्ञान तद्घटप्रागभावज्ञान के प्रति कारण नहीं हो सकता; क्योंकि तद्घटप्रागभाव की प्रतीति के समय तद्घट अनुत्पन्न होने से तद्घटत्वप्रकारकत्वेन उसका ज्ञान होना असम्भव है; अतः तद्घटव्यक्तिवृत्तिघटत्वादि जो अन्य धर्म है, तद्धर्मप्रकारकज्ञान ही अभावज्ञान में कारण मानना चाहिये। तद्घटव्यक्ति में अनेक धर्म रहते हुए भी तद्घटत्व ही प्रतियोगितावच्छेदक धर्म है, घटत्व, पृथिवीत्व, द्रव्यत्वादि अन्य तो सामान्य धर्म हैं और तद्घटवृत्तिघटत्वादिप्रकारक ज्ञान होने में तो कोई बाधक नहीं। अतः वही प्रागभाव की प्रतीति में कारण है)। और सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति मानने पर तो उपर्युक्त अभावप्रतीतिहेतुभूतज्ञान का प्रतियोगिविषयकत्व अधिक होता है (अर्थात् प्रतियोगिवृत्ति धर्म प्रकारक प्रतियोगिविशेष्यकज्ञान अभावप्रतीति का कारण हो सकता है; कारण कि घटत्वसामान्य

सिद्धव्यक्तिविषयेच्छाकृत्योः। न च— प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मेण कथं प्रतियोगिता गृह्यतामिति—वाच्यम्; विशेषावच्छिन्नाया व्याप्तेरिव सामान्येन ग्रहणसंभावात्। तथा हि— 'इदमभिधेयवत्, प्रमेया'दित्यनुमाने 'यत्र प्रमेयं तत्राभिधेय'मिति व्याप्तिग्रहणसमये वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेनैव सामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिसत्त्वेऽपि तस्याः प्रमेयत्वरूपेणैव ग्रहणम्, न तु वृत्तिमत्प्रमेयत्वेन, गौरवात्, वृत्तिमत्वविशेषणस्य व्यभिचारावारकत्वेन वैयर्थ्याच्च,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

धर्म का ज्ञान रहने पर घटत्वसामान्यरूप प्रत्यासत्ति से घटत्व के आश्रय यावत् घट का प्रत्यक्ष होता है और यावत् घटों में तद्घटव्यक्ति भी अन्तर्गत होने से तद्घटत्वेन उसका ज्ञान न होने पर घटत्वेन ज्ञान हो सकता है। अतः घटत्वेन तद्घटव्यक्ति का ज्ञान तद्घटव्यक्तिप्रागभावप्रतीति का कारण होता है)। और सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का अनङ्गीकार होने पर तो वही ज्ञान ही अर्थात् अभावज्ञान में भासमानप्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारक ज्ञानमात्र ही प्रागभावप्रतीति में कारण है, जैसे कि असिद्ध अर्थात् वर्तमान काल में तो अनुत्पन्न और भविष्य में उत्पद्यमान व्यक्तिविषयक इच्छा और कृति का इष्टव्यक्तिवृत्तिसामान्यधर्मप्रकारक ज्ञान कारण है (अज्ञात वस्तु की इच्छा और तदुत्पत्त्यनुकूल व्यापाररूपकृति नहीं हो सकती; ये दोनों ज्ञात वस्तु की ही होती हैं। किन्तु अनुत्पन्न वस्तु तद्व्यक्तित्वेन ज्ञात नहीं होती, तद्वस्तुवृत्ति सामान्यधर्मप्रकारकत्वेन ज्ञात होती है। अतः सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के अनङ्गीकार पक्ष में असिद्ध इष्टवस्तु की इच्छा और कृति का कारण इष्टवस्तुवृत्तिसामान्यधर्मप्रकारक ज्ञान ही माना जाता है)। इसमें शंका हो कि प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्म से किस प्रकार प्रतियोगिता का ग्रहण होगा तो ऐसी शंका होनी नहीं चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार विशेषधर्मावच्छिन्नव्याप्ति का सामान्याधर्मावच्छिन्नत्वेन ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता का सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन ग्रहण करना सम्भव है। तथाहि— " यह अभिधेयवान् है, प्रमेय होने से" इस अनुमान में "जहां प्रमेय है,वहां अभिधेय है" इस प्रकार व्याप्तिग्रहण के समय में वृत्तिमत्प्रमेयात्वावच्छेदेन हेतु की साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का सत्त्व होने पर भी उस व्याप्ति का प्रमेयत्व सामान्यधर्म से ही ग्रहण होता है, वृत्तिमत्प्रमेयत्वरूप विशेषधर्म से तो ग्रहण नहीं होता,कारण कि उसमें शरीरकृत गौरव है (भाव यह है कि साधारण तौर पर व्याप्ति में व्याप्यतावच्छेदकधर्म द्वारा ही व्याप्यता का ग्रहण होता है। व्याप्यतानवच्छेदक धर्म से ग्रहण नहीं होता, तो भी कहीं—कहीं व्याप्यतानवच्छेदक धर्म से व्याप्यता गृहीत हो जाती है, अर्थात् विशेषधर्मावच्छिन्नव्याप्ति सामान्यधर्म से गृहीत होती है। जैसे कि " इदमभिधेयवत् प्रमेयात्" इस अनुमान से "जहां जहां प्रमेय है, वहां वहां अभिधेय है" यह व्याप्ति गृहीत है। किन्तु प्रमेयत्व और अभिधेयत्व केवलान्वयी होने के कारण आकाशादि अवृत्तिमत्पदार्थ अर्थात् समवाय और संयोग दोनों में से अन्यतरसंबन्ध द्वारा अन्य में अनाश्रित पदार्थ प्रमेय होने से इस व्याप्ति में व्याप्यतावच्छेदक वृत्तिमत्प्रमेयत्व है, कारण कि "जहां प्रमेय है" इसका अर्थ ही अन्य में आश्रित प्रमेय अर्थात् वृत्तिमत्प्रमेय निकलता है, अवृत्तिमान् आकाशादि का इसमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेद से प्रमेय हेतु की अभिधेयसाध्य के साथ समानाधिकरणत्वरूप व्याप्ति होने पर भी प्रमेयत्वावच्छेद से ही गृहीत होती है; क्योंकि प्रमेयत्वसामान्यधर्म की अपेक्षा वृत्तिमत्प्रमेयत्वविशेषधर्म शरीरकृत गौरव होने से व्याप्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। और " जहां वृत्तिमत्प्रमेयत्व है, वहां अभिधेयत्व है" इस व्याप्ति में वृत्तिमत्त्वविशेषण व्यभिचार का अनिवारक होने से व्यर्थ है (क्योंकि "जहां प्रमेयत्व है, वहां

अवृत्तिषु साध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्त्यभाववत् साध्याभावसामानाधिकरण्यरूप-व्यभिचारस्याप्यभावात्, व्यर्थविशेषणत्वरहितत्वे सति व्यभिचारिव्यावृत्तत्व- मात्रेणैव व्याप्यतावच्छेदकत्वसंभवात। तथा च यथा वृत्तिमत्प्रमेयगतापि व्याप्तिः प्रमेयत्वेनैव गृह्यते, तथा तत्तन्नीलादिव्यक्तिगता प्रतियोगिता नीलत्वादिरूपेण गृह्यत इति न काचिदनुपपत्तिः। एवं च 'इहेदानीं घटो नास्ती'ति प्रतीतिरिव घटोपादानगततत्प्रागभावविषया 'मयि ज्ञानं नास्ती'ति प्रतीतिरपि प्रमातृगततत्प्रागभावविषयेति न काप्यनुपपत्तिरिति–चेन्न; अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे भासमानस्य धर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया यत्किंचिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले 'निर्घटं भूतल'मिति घटज्ञानवत्यपि स्वस्मिन् 'मयि घटज्ञानं नास्ती'ति च प्रतीतेरापत्तेः पूर्वोक्तदोषात्। यत्किंचिद्घटज्ञानं घटाभावज्ञाने प्रतिबन्धकमिति तु ज्ञानज्ञानेऽपि तुल्यम्, उदाहृतव्याप्तिग्रहणे तु बाधकाभावात्

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अभिधेयत्व है'' ऐसा कहने पर भी व्याप्ति में कोई व्यभिचार दोष नहीं, व्यभिचार होने पर उसके निवारणार्थ ही विशेषण दिया जाता है, अन्यथा वह विशेषण व्यर्थ है) और हेतुकुक्षिप्रविष्ट अवृत्ति आकाशादि प्रमेयों में जैसे अभिधेयरूप साध्य के साथ सामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का अभाव है (जहां अभिधेयरूपसाध्य का अभाव है, वहां आकाशादि प्रमेयरूप हेतु रह जाय तो व्यभिचार होता है; किन्तु अवृत्ति होने से आकाशादि प्रमेय किसी में भी अभिधेयरूप साध्याभाव के साथ रहता नहीं; अतः व्यभिचार का अभाव है)। तब तो जैसे वृत्तिमत्प्रमेयगत होती हुई भी व्याप्ति प्रमेयत्वेन गृहीत होती है,वैसे ही तन्नीलादिव्यक्तिगत प्रतियोगिता नीलत्वादि धर्म से ही गृहीत होने में कोई अनुपपत्ति नहीं। इसी प्रकार ''इह कपाले इदानीं घटो नास्ति'' यह प्रतीति जिस प्रकार घटोपादानगत तद्घट प्रागभावविषयिका होती है,उसी प्रकार ''मयि ज्ञानं नास्ति'' यह प्रतीति भी प्रमातृगततज्ज्ञानप्रागभावविषयिका होने में कुछ भी अनुपपत्ति नहीं (अभिप्राय यह है कि '' इस समय इस कपाल में घट नहीं'' इसका अर्थ है–उत्पद्यमान तद्घटव्यक्ति का स्वोपादान कपाल मे प्रागभाव है। अतः इस प्रागभाव का प्रतियोगी तद्घट व्यक्ति हैं प्रतियोगितावच्छेदक तद्घटत्व है, तो भी तद्घट की उत्पत्ति से पूर्व तद्घटत्वेन प्रतीति असम्भव होने से घटत्वावच्छेदेन ही प्रतियोगी तद्घट स्वप्रागभावप्रतीति में भासमान होता है; इसी प्रकार ''मुझ में ज्ञान नहीं'' इसमें प्रमातृगत ज्ञानविशेष के प्रागभाव की प्रतीति है; तो भी उत्पत्ति से पहले ज्ञानविशेष का स्वप्रागभावप्रतीति में भासमानत्व असम्भव होने से प्रतियोगितावच्छेदक तज्ज्ञानत्व होने पर भी ज्ञानत्वेन ही स्वप्रागभाव की प्रतीति में वह भासमान होता है। अतः ''मयिज्ञानं नास्ति'' इत्यादि में ज्ञानप्रागभाव ही सिद्ध होता है, भावरूप अज्ञान तो सिद्ध नहीं हो सकता)।

समाधान– ऐसा नहीं; कारण कि अभावज्ञान में प्रतियोगी के अंश में भासमान धर्म ही प्रतियोगितावच्छेदक होने से यत्किञ्चिद्विशेषाभाव का सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व होने पर, अर्थात् घटत्वेन तद्घटव्यक्ति का अभाव होने पर, घटवद्भूतल में भी (घटत्वेन अन्यघट के अभाव को लेकर) ''निर्घटं भूतलम्'' इस प्रतीति की और घटज्ञानवान् होता हुआ भी अपने में (घटत्वेन अन्य घट के ज्ञानाभाव को लेकर) '' मयि घटज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति की आपत्ति होने से पूर्वोक्तदोष है अर्थात् आपत्तिरूप पूर्वोक्त दोष है। और यत्किञ्चित् अर्थात् कोई एक घटज्ञान सामान्य रूप से घटाभावज्ञान में प्रतिबन्धक है तो ज्ञानसामान्याभाव में भी यत्किञ्चित्ज्ञान का ज्ञान भी प्रतिबन्धक होने में तुल्य है। और उदाहृत व्याप्तिग्रह में तो अर्थात् ''यत्र प्रमेयं तत्र अभिधेयम्''

सामान्यावच्छेदेऽपि न दोषः।

अथैवं प्रागभावप्रतीतिरेव न स्यात्, न स्यादेव; 'घटो भविष्यति'इति प्रतीतेः धात्वर्थभविष्यत्ताविषयत्वेन प्रागभावविषयत्वात्। अन्यथा दिनान्तरोत्पत्स्यमानघटे एतद्दिनवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वेन 'अद्य घटो भविष्यति'इति धीप्रसङ्गः। भविष्यत्त्वं च प्रतियोगितद्ध्वंसानाधारकालसंबन्धित्वम्। ध्वंसत्वं च प्रागभावानङ्गीकर्तृमते कादाचित्काभावत्वमेव। तदङ्गीकर्तृमतेऽपि प्रतियोग्यजनककादाचित्काभावत्वम्। जनकत्वं च स्वरूपसंबन्धविशेषो न प्रागभावघटितः; प्रागभावस्याजनकत्वापत्तेः, अन्यथात्माश्रयात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस व्याप्तिग्रह में तो बाधक के अभाव से वृत्तिमत्प्रमेयत्व को छोड़कर प्रमेयत्वसामान्यधर्म व्याप्यतावच्छेदक होने में कोई दोष नहीं।

शंका— इस रीति से तो कहीं भी प्रागभाव की प्रतीति ही नहीं होगी।

समाधान— ठीक है, होनी ही नहीं चाहिये; क्योंकि "घटो भविष्यति" इस प्रतीति का विषय भूधात्वर्थभवननिष्ठ भविष्यता होने के कारण प्रागभाव विषय नहीं हो सकता। यदि "घटो भविष्यति" इस प्रतीति का विषय प्रागभाव होता तो दिनान्तर में उत्पन्न होने वाले घट में एतद्दिनवृत्ति प्रागभाव का प्रतियोगित्व होने से "अद्य घटो भविष्यति" इस प्रकार की बुद्धि होने लगेगी। और भविष्यत्व भी प्रतियोगी और प्रतियोगिध्वंस का अनाधारकाल के साथ संबन्धित्व है (प्रागभाव के अधिकरण काल के साथ संबन्धित्व नहीं)। और प्रागभाव के अनङ्गीकार मत मे कादाचित्काभावत्व ही ध्वंसत्व है (क्योंकि अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव कादाचित्क नहीं होते, सदातन हैं; अतः प्रतियोगिकाल को वर्तमान, प्रतियोगिध्वंसकाल को अतीत और प्रतियोगितद्ध्वं–सानाधारकाल को भविष्यत् कहा जा सकता है)। और प्रागभाव को अङ्गीकार करने वालों के मत में भी प्रतियोगी का अजनक कादाचित्क अभाव ही ध्वंस है (और प्रतियोगिजनक अभाव प्रागभाव है)। और जनकत्व तो स्वरूपसंबन्धविशेष है अर्थात् जनक का स्वरूप ही जनकत्व है; वही स्वरूपसबन्धविशेषरूपजनकत्व प्रागभाव से घटित नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर प्रागभाव के अजनकत्व की आपत्ति है (वैशेषिकादि के मत में प्रागभाव, प्रतियोगी का जनक है और कार्यपूर्वकाल में नियतवृत्तिवस्तु ही जनक होती है; और कार्य प्रागभाववत्काल कार्यपूर्वकाल है। अतः कार्यपूर्वकालनियतवृत्तित्वरूप जनकत्व में प्रागभाव घटित होता है। यही प्रागभावघटित जनकत्व प्रागभाव में नहीं रह सकता, अतः प्रागभाव में अजनकत्व की आपत्ति है। और इस आपत्ति के निवारणार्थ ही कार्यपूर्वकालनियतवृत्तित्वरूप जनकत्व को न मानकर अगति से स्वरूपसंबन्धविशेष को जनकत्व वैशैषिकों ने माना है)। और प्रागभावघटित जनकत्व को मानने पर तो आत्माश्रय भी होता है (क्योंकि प्रागभाव की कल्पना प्रतियोगिजनकत्वेन होती है और प्रतियोगीजनकत्व प्रागभावकल्पना से पूर्व जाना नहीं जाता; इस कारण प्रागभावज्ञान के लिये प्रागभावज्ञान की अपेक्षा होने से ज्ञप्ति में आत्माश्रय होता है)। अतः प्रागभाव को अङ्गीकार करने वालों को भी उसका प्रत्यक्षत्व दुर्लभ है (कारण कि प्रागभावकाल में कपाल में यावद्घट के प्रागभाव तो नहीं रहते; किसी एक घट व्यक्ति का ही प्रागभाव रहता है। इसलिये उस प्रागभाव का प्रतियोगी घटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्न नहीं; किन्तु तद्घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगी है; और प्रागभावदशा में तद्घट अनुत्पन्न होने से तद्घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रागभाव का प्रत्यक्ष असम्भव है) और प्रागभाव को अनङ्गीकार करने वालों की तो कुछ भी हानि नहीं होती। इस प्रकार यत्किञ्चित्

अतः प्रागभावमङ्गीकुर्वतोऽपि तत्प्रत्यक्षत्वं दुर्लभम्, तमनङ्गीकुर्वतस्तु न कापि हानिः। 'इहेदानीं घटो नास्ती'ति प्रतीतिस्तु सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकतत्काला-वच्छिन्नयावद्विशेषाभावविषया; समयविशेषस्याप्यभावावच्छेदकत्वात्। अन्यथा 'आद्यक्षणे घटो नीरूप' इत्यादिप्रतीतिर्न स्यात्।

अथ— अस्मिनपक्षे सामान्याभावो न सिध्येदिति—चेत्, प्रागभावाभ्युपगमेऽपि तुल्यमेतत्, सामान्याभावप्रागभावयोः सुन्दोपसुन्दयोरिव परस्परपराहतत्वात्। तथा हि— प्रागभावसिद्धौ विशेषाभावस्यापि सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात् न तावन्मात्रप्रमाणक-सामान्याभावसिद्धिः, सामान्याभावसिद्धौ च विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वाभावात् कादाचित्काभावस्य च सामान्याभावत्वायोगात् न सामान्य-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

विशेष के अभाव का सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगी असम्भावित होने से "इस कपाल में इस समय घट नहीं" यह प्रतीति तो घटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक और तत्कालावच्छिन्न यावद्विशेषाभावरूप अत्यन्ताभाव को विषय करने वाली है, न कि प्रागभाव को विषय करने वाली, क्योंकि समय विशेष भी अभाव का अवच्छेदक है। प्रतियोगी के अधिकरण में काल विशेषावच्छिन्न अत्यन्ताभाव का अनङ्गीकार करने पर तो "उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं तिष्ठति" इस नियम के अनुसार "आद्यक्षण में घट निरूप है" यह प्रतीति होनी नहीं चाहिये अर्थात् घट में आद्यक्षणावच्छिन्न रूपात्यन्ताभाव की प्रतीति अनुचित हो जायेगी। (यह प्रतीति रूपप्रागभावविषयिका नहीं हो सकती, क्योंकि रूपवान् श्यामघट में भाविरक्तिमारूप के प्रागभाव होने के कारण "घट निरूप है" ऐसी प्रतीति होने का प्रसङ्ग होगा)।

शंका— तब तो प्रागभाव को न मानकर सामान्यधर्मावच्छिन्न यावद्विशेषों के अभावकूट को मानने के पक्ष में सामान्याभाव की सिद्धि नहीं होगी।

समाधान— यह तो प्रागभाव के अङ्गीकार पक्ष में भी तुल्य ही है, क्योंकि मामान्याभाव और प्रागभाव में सुन्द और उपसुन्द के समान परस्पर पराहतत्व है। तथाहि—प्रागभावसिद्धि होने पर विशेषाभाव के भी सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व होने मे सामान्य धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वधीमात्र से प्रमाणित सामान्यभाव की सिद्धि नहीं होगी; और सामान्याभावसिद्धि होने पर विशेषाभाव के सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के अभाव से और कादाचित्क अभाव अर्थात् कालावच्छिन्नत्वेन भासमान ध्वंस तथा प्रागभाव के सामान्याभावत्व अयुक्त होने से सामान्यधर्मावच्छिन्न— प्रतियोगिताकविशेषाभाव की प्रतीतिमात्र की शरण लेने वाले प्रागभाव की सिद्धि नहीं होगी (अभिप्राय यह है कि घटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्न यावद्घटविशेषों का अभावकूट मान लिया जाय तो उसके अतिरिक्त घटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नघटाभावरूप सामान्याभाव की सिद्धि न होने से "इह कपाले इदानीं घटो नास्ति" इत्यादिस्थल में घटत्वावच्छिन्न यावद्घटविशेषात्यन्ताभावकूट को न मानकर घटत्व सामान्यधर्मावच्छिन्नघटप्रागभाव को ही मानना चाहिये— यह द्वैतवादियों का आग्रह है। इसमें अद्वैतसिद्धिकार का कहना है कि प्रागभाव को मानने पर भी सामान्याभाव की असिद्धि तो अद्वैतवादियों से तुल्य ही है। कारण कि " इह कपाले इदानीं घटो नास्ति" इत्यादि में कालावच्छिन्नत्वेन भासमान और प्रागभावत्वेन अभिमत अभाव का प्रतियोगी विशेषघटव्यक्ति है, क्योंकि एक कपाल में भावी एक ही घट का प्रागभाव रहता है, अन्य घटों का नहीं।) अतः यावद्विशेषाभावकूट के अतिरिक्त सामान्याभाव और

धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकविशेषप्रतीतिमात्रशरणप्रागभावसिद्धिः, इति न तदुभयमपि विपश्चितां चेतसि चमत्कारमावहति।

ननु— यावद्विशेषाभावनिश्चयेऽपि 'रूपं वायुवृत्ति न वा' 'वायू रूपवान्न वे'ति रूपाभावसन्देहात् निश्चिते च संशयायोगाद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धिः, अत एतावन्त्येव रूपाणीति निश्चयदशायामेतादृशसंशयस्याननुभूयमानत्वेन तदनिश्चयदशा— यामेवैतादृशः संशयो वाच्यः, तथा च 'रूपत्वं पार्थिवाप्यतैजसरूपत्रितयातिरिक्तवृत्ति भविष्यति'इत्यधिकसंभावनया अनिश्चितेष्वेव संशयः, उक्तसंभावनाविरहसहकृतनिश्चयस्यैव प्रतिबन्धकत्वादिति—चेन्न; एवं प्रतिबन्धकल्पने मानाभावाद्, उक्तसंभावनाविरह— दशायामप्येतादृशसंशयदर्शनाच्च।

ननु— यथा यावद्विशेषाभावेभ्योऽतिरिक्तः सामान्याभावो रूपस्य संशयकोटिः, तथा रूपसामान्यमपि यावद्विशेषेभ्योऽतिरिक्तं संशयकोटिर्नाभ्युपगन्तुं शक्यते। तथा च कथं रूपस्य संशयकोटित्वम्? सर्वरूपाभावनिश्चयात्। यदि तु नीलपीताद्यभावत्वेन निश्चयेऽपि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सामान्यधर्मावच्छिन्नविशेषाभावरूप प्रागभाव दोनों असिद्ध होने के कारण, वे दोनों भी विद्वानों के चित्त में किसी चमत्कार को उत्पन्न नहीं करते।

शंका — वायु में यावद्विशेषाभाव का निश्चय होने पर भी सामान्य रूप से ''रूप वायु में है या नहीं'' '' वायु रूपवान् है या नहीं'' इस प्रकार रूपाभाव का सन्देह होने से और रूपाभाव निश्चित होने पर संशय के अयोग से यावद्विशेषाभाव के अतिरिक्त सामान्याभाव की सिद्धि है। इसमें अद्वैतवादी कहें कि —''रूप तो इतने ही हैं'' इस प्रकार से इयत्तासंख्या की निश्चयदशा में ऐसे संशय का अनुभव न होने से, ''रूप इतने ही हैं'' इसकी अनिश्चयदशा में ही ऐसा संशय कथनीय है, तब तो ''रूपत्व पार्थिव जलीय और तैजस रूपत्रितय से अतिरिक्त रूप में भी होगा'' अर्थात् ''पृथिव्यप्तेजोनिष्ठरूपों से भिन्न रूप होगा'' ऐसे अधिकरूप की संभावना से रूपों के निश्चय हो जाने पर ही संशय है, क्योंकि अधिकरूप संभावना के विरह से सहकृतरूपों का निश्चय ही संशय का प्रतिबन्धक है।

समाधान — ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि इस प्रकार के प्रतिबन्धक की कल्पना में प्रमाण का अभाव है, और अधिक रूप संभावनाविरह की दशा में भी ''रूपं वायुवृत्ति न वा'' ऐसा संशय देखने में आता है।

शंका — इसमें अद्वैतवादी पुनः शंका करें कि—'' वायु में रूप है या नहीं'' इस रूपसंशय में जिस प्रकार यावद्रूपविशेषाभाव के अतिरिक्त रूपसामान्याभाव रूपसंशय की एक कोटि है (एक धर्मिकविरुद्ध धर्मद्वयावगाहिज्ञान संशय है और संशयजनकज्ञानीयप्रकारवत्त्व कोटित्व है अर्थात् संशयजनक भासमान विरुद्धधर्मद्वय को संशयकोटि कहते हैं); उसी प्रकार से यावद्विशेषरूपों के अतिरिक्त रूपसामान्य भी द्वितीय संशयकोटि है— ऐसा अङ्गीकार नहीं किया जा सकता (कारण कि नील—पीतादि यावद्विशेषरूपों के अतिरिक्त कोई एक रूपसामान्य है— इसमें कोई प्रमाण नहीं, और इसको प्रतिवादी भी नहीं मानते); तब तो रूप का अर्थात् रूपसामान्य का कैसा द्वितीयत्वेन संशयकोटित्व होगा? क्योंकि वायु में सर्वरूपाभाव का निश्चय है। यदि कहो कि नीलरूपाभावत्व पीतरूपाभावत्वादि रूप से वायु में नीलपीतादि के अभाव का निश्चय होने पर भी रूपाभावत्वेन रूपाभाव का निश्चय न होने से रूपसंशय है तो उसके लिये यावद्रूपविशेषाभावकूट के अतिरिक्त

रूपाभावत्वेनानिश्चयाद्रूपसंशय इति ब्रूषे, तदा किं सामान्याभावेन? रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-काभावत्वेन संशयसंभवात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वेन यावद्विशेषाभावानामेव रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वकल्पनाद्, अतो न यत्किंचिदभावमादाय 'घटो नीरूप' इति प्रतीतिप्रसङ्ग इति—चेन्न, यावद्विशेषाभावेषु यद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, तत् प्रत्येकविश्रान्तम्? व्यासज्यवृत्ति वा? आद्ये यत्किंचिदभावमादाय 'घटो नीरूप' इति प्रतीतिप्रसङ्गः, द्वितीये तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्याव्यासज्यवृत्तिस्वभावत्वेन तद्व्यतिरिक्तं रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं व्यासज्यवृति कल्पनीयम्, तद्वरं रुपत्वा-वच्छिन्नप्रतियोगिताक एक एवाभावः कल्प्यते, ममैकोऽभावः रुपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वं चेति वस्तुद्वयं कल्प्यम्, तव तु रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वेन बहुष्वभावेषु प्रत्येकं संबन्धा इति बहु कल्प्यम्। 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वम्'इति न्यायस्तु कल्पनीयाधिक्यापेक्षः। किं च घटद्वये यावद्विशेषाभावसत्वेऽपि रूपसामान्याभावबुद्ध्यनुदयाद् ऐकाधिकरण्यावच्छेदेनाप्यभावा

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

स्वतन्त्ररूप से एक रूपसामान्यभाव की क्या आवश्यकता है? क्योंकि रूपत्वावच्छिन्नयावद्रूपविशेष प्रतियोगिताकाभावत्वरूप से ही रूपाभाव का संशय हो सकता है, कारण कि रूपसामान्यभावात्मक धर्मी की कल्पना से रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता— काभावत्व धर्ममात्र की कल्पना में लघुत्व होने से यावद्रूपविशेषाभावों के ही रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की कल्पना है। अतः (रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की कल्पना होने से) यत्किञ्चिद्रूपाभाव को लेकर ''घट नीरूप है'' ऐसी प्रतीति का प्रसङ्ग नहीं होगा।

इसमें अतिरिक्तसामान्याभाववादी कहते हैं— ऐसा नहीं, क्योंकि— इसमें प्रश्न उठता है—यावद्विशेषाभावों में जो रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व है, क्या वह प्रत्येक विशेषाभाव में विश्रान्त है, अथवा यावद्विशेषाभावों में व्यासज्यवृत्ति (समुदाय में व्याप्त होकर वृत्ति) है? आद्य पक्ष में यत्किञ्चिद्रूपाभाव को लेकर ''घट नीरूप है'' इस प्रतीति का प्रसङ्ग होगा; और द्वितीय पक्ष में तो— तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व यावद्विशेषाभावों में व्यासज्यवृत्तिस्वभाववाला न होने से उसके (तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के) अतिरिक्त रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप व्यासज्यवृत्ति धर्म की कल्पना करनी होगी। तब तो रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक ही अभाव की कल्पना ठीक है। मेरे मत में— धर्मिरूप एक ही अभाव और धर्मरूप रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व— इन दोनों की कल्पना करनी होगी, और तुम्हारे मत में तो रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और उसके (रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के) व्यासज्यवृत्ति रूप से अनेक अभावों में प्रत्येक अभाव के साथ अनेक संबन्धों की कल्पना करनी होगी (कारण कि प्रत्येक में अवृत्ति धर्म समुदायवृत्ति नहीं हो सकता, और वह समवाय के समान अनेक से संबन्धित भी नहीं हो सकता, अतः उसके लिये नाना पर्याप्तिसंबन्धों की कल्पना करनी ही होगी)। और ''धर्मिकल्पना से धर्मकल्पना में लघुत्व है'' यह न्याय तो कल्पनीय अनेक धर्मी की अपेक्षा करता है (किन्तु हमारे मत में कल्पनीय अनेक धर्मी नहीं, धर्मिरूप एक ही अभाव की कल्पना करनी पड़ती है)। किञ्च— समूहालम्बनत्वेन प्रतीयमान घटद्वय में यावद्विशेषाभाव वर्तमान होने पर भी रूपसामान्याभाव की बुद्धि न होने से एकाधिकरणत्वविशिष्टत्व यावद्विशेषाभाव का विशेषण देना होगा (अर्थात्—''एकाधिकरणवृत्तियावद्विशेषाभावाः सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाः'' ऐसा

विशेषणीयाः तथा चातिगौरवम्। अपि च व्यासज्यवृत्तिधर्मग्रहे यावदाश्रयग्रहस्तद्भेदग्रहश्च हेतुः, अगृहीतेषु भिन्नतया वाऽगृहीतेषु वस्त्रादिषु द्वित्वादिबुद्ध्यनुदयात्, तथा च यावदभावतद्भेदाग्रहे प्रथमत एव नीरूप इति धीर्नस्यात्, व्यासज्यवृत्तिसामान्य–प्रतियोगिताकत्वस्याग्रहणात्। अतः सामान्याभावस्य प्रामाणिकत्वात् कथं तत्पराहतिरिति–चेत्, अत्र ब्रूमः—एवं तर्हि सामान्यप्रकारेण विशेषाभावाप्रतीतेर्ज्ञानविशेषप्रागभावो न जानामीति धियो ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको न विषय इति सिद्धं नः समीहितम्। न हि प्रागभावोऽपि कश्चित्सामान्याभावोऽस्ति, येन तत्प्रतियोगिता सामान्यधर्मेणावच्छिद्येत, विशेषाभावप्रतियोगिता तु तत्तद्घटत्वादिना विशेषेणावच्छिद्यते। न च तेन तेन रूपेण भविष्यद्घटादि ज्ञातुं शक्यम्, तज्जन्मानन्तरं तु तत्तद्रूपेण तज्ज्ञानसंभवेऽपि न प्रागभावधीःप्रत्यक्षा स्यात्, तदानीं प्रागभावासत्त्वात्, प्रत्यक्षस्य विषयजन्यत्वात्। सामान्यप्रकारकज्ञानं च न विशेषा–भावज्ञाने हेतुरित्युक्तम्, प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रतियोगिज्ञानस्याभावत्वप्रकार–काभावज्ञाने हेतुत्वात्, तस्यानुमानगम्यत्वेऽपि 'न जानामि'इति धियोऽपरोक्षायास्तद्विषय–त्वायोगात्। अव्यभिचारिलिङ्गाद्यभावात्तदनुमानमपि दूरनिरस्तमेव।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कहना होगा; अन्यथा जिस प्रकार पृथिवी में सब नीलरूप हैं– ऐसी बुद्धि होती है, उसी प्रकार पृथिवी में रूप नहीं है– ऐसी बुद्धि भी होने लगेगी) और इस दोष के निवारणार्थ उक्त विशेषण दिया जाये तो अति गौरव दोष होगा। इसके अतिरिक्त – व्यासज्यवृत्तिधर्म के ग्रह (ज्ञान करने) में उस धर्म के सभी आश्रय और उनके भेद ग्रह (ज्ञान) हेतु हैं; क्योंकि अगृहीत या भिन्नरूप से अगृहीत वस्त्रादि में द्वित्वादि की बुद्धि नहीं होती। तब तो यावदभाव और उनके भेद का ग्रह न होने पर पहले से ही ''वायु नीरूप है'' ऐसी बुद्धि नहीं होगी क्योंकि—व्यासज्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का ग्रहण नहीं हुआ है। इसलिये सामान्याभाव प्रामाणिक है, तब उसका निराकरण कैसे हो सकता है? (अद्वैतवादी)– इसमें हम कहते हैं, ऐसा होने पर (सामान्याभावप्रामाणिक सिद्ध होने पर)भी सामान्यधर्मावच्छिन्न–प्रतियोगिताकरूप से विशेषाभाव की प्रतीति न होने से ''न जानामि'' इस बुद्धि का ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानविशेषप्रागभाव विषय नहीं होगा। अतः यह तो हमारा इष्ट ही सिद्ध हुआ। (भाव यह है कि ''न जानामि'' यह बुद्धि ज्ञानसामान्याभाव विषयक नहीं ; और विशेषाभाव के सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की प्रतीति भी नहीं; इस कारण वेदान्ती का इष्ट ही सिद्ध होता है)। कारण कि– प्रागभाव भी कोई सामान्याभाव नहीं है, जिससे उसकी प्रतियोगिता सामान्यधर्म से अवच्छिन्न हो जाये। और विशेषाभावप्रतियोगिता तो तत्तद्घटत्वादि विशेष से अवच्छिन्न होती है। और तत्तद्विशेषघटत्वादि धर्म के द्वारा भविष्यद्घटादि का ज्ञान तो हो ही नहीं सकता, घटोत्पत्ति के अनन्तर तो तत्तद्घटत्वादि धर्म से उसका ज्ञानसम्भव होने पर भी प्रागभाव ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि घटोत्पत्ति के अनन्तर प्रागभाव नहीं रहता, और प्रत्यक्ष तो वर्तमानविषय से जन्य होता है। और, सामान्यप्रकारकज्ञान विशेषाभावज्ञान में हेतु नहीं है– यह बात पहले कही जा चुकी है। कारण कि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक (घटत्व प्रकारक) प्रतियोगिताज्ञान (घटज्ञान) अभावत्वप्रकारक अभाव– प्रत्यक्षज्ञान में हेतु होता है। यद्यपि प्रागभाव अनुमानगम्य है तो भी ''न जानामि'' इस प्रत्यक्षज्ञान का प्रागभाव विषय नहीं हो सकता और अनुमान भी अव्यभिचारी लिङ्गादि के अभाव से निरस्त हो ही जाता है।

ननु— 'इदं मा भूत्'इतीच्छाविषयतया तत्सिद्धिः, न, प्रागभावस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेन प्रतियोगिजनकविघटनेन तत्संबन्धस्येवात्यन्ताभावसंबन्धस्यापि साध्यत्वात्तेनैवान्यथासिद्धेः। अथ—उत्पन्नस्य द्वितीयक्षणे पुनरुत्पत्त्यभावात्तत्पूर्वक्षणे सामग्र्यभावो वाच्यः, स च प्रागभावाभावादेव, अन्यहेतुनां सत्त्वादिति— चेन्न, सामयिकात्यन्ताभावेनैवान्यथासिद्धेः, उत्पन्नस्यैव स्वोत्पत्तिविरोधित्वाच्च। अपि च सामग्री कार्यसत्त्वे प्रयोजिका, न तु तस्याद्यकालसंबन्धरूपोत्पत्तावपि। आद्यकालसंबन्धो हि स्वसमानकालीनपदार्थध्वंसानाधार— कालाधारत्वम्। तत्र सामग्री कार्यस्य कालाधारत्वांशमात्रे प्रयोजिका, न तु विशेषणांशेऽपि, तस्य तादृक्पदार्थध्वंससामग्रीविरहादेव सिद्धेः। पाकजरूपादिभेदोऽप्यग्निसंयोगभेदात् पूर्वरूपादिध्वंसभेदाद्वा, न तु प्रागभावभेदात्, प्रतियोगिभेदं विना प्रागभावभेदायोगाच्च। नाप्युपादानत्वव्यवस्था तत्र मानम्, तन्तुत्वादिनैव तत्सिद्धेः। अन्यथा प्रागभावस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— "यह न हो" इत्यात्मिका इच्छा का विषयरूप प्रागभाव सिद्ध होगा। (कारण कि— अज्ञात वस्तु की इच्छा नहीं होती; अतः अनिष्ट वस्तु के प्रागभाव का ज्ञान होने से "यह न हो" यह इच्छा प्रागभावविषयिका ही होनी चाहिये)।

समाधान— ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि प्रागभाव स्वरूप से अनादि होने के कारण असाध्य है, अतः प्रतियोगी के उत्पादक कारणों के विघटन (विध्वंस) के प्रागभाव का संबन्ध जिस प्रकार साध्य हो सकता है, उसी प्रकार अत्यन्ताभाव का संबन्ध भी साध्य हो सकता है, अतः "यह न हो" इस इच्छा का विषय अत्यन्ताभाव भी सम्भव होने के कारण प्रागभाव को इच्छा का विषय कहना अन्यथासिद्ध है।

शंका— उत्पन्न पदार्थ की द्वितीयक्षण में पुनरुत्पत्ति का अभाव होने के कारण उसके पूर्वक्षण में सामग्री (कारणकूट) का अभाव कहना होगा और वह कारणकूट का अभाव प्रागभाव का अभाव ही है, क्योंकि अन्य हेतु उससमय में भी वर्तमान हैं।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि समय विशेषावच्छिन्न अत्यन्ताभाव से वह अन्यथासिद्ध है (अर्थात् सामयिकात्यन्ताभाव के अभाव से कारणकूटाभाव सिद्ध होने से प्रागभाव अन्यथासिद्ध है); और उत्पन्न पदार्थ ही स्व की पुनरुत्पत्ति में विरोधी है। इसके अतिरिक्त— कारणकूट तो कार्य के सत्त्व में प्रयोजक है, न कि कार्य की आद्यकाल संबन्धरूप उत्पत्ति में, क्योंकि आद्यकाल संबन्ध स्व (उत्पत्स्यमान पदार्थ) समानकालीन पदार्थध्वंस का अनाधारकालाधारत्व है। उसमें सामग्री तो कार्य के कालाधारत्वांशमात्र में प्रयोजक है, न कि स्वसमानकालीन पदार्थध्वंसानाधारत्वरूप विशेषणांश में भी, क्योंकि यह विशेषण तो स्वसमानकालीनपदार्थध्वंससामग्री के विरह से सिद्ध होता है (अतः स्वसमानकालीन प्रागभावरूप पदार्थध्वंस मानने की कोई आवश्यकता नहीं; इसलिये सामयिक अत्यन्ताभाव के अतिरिक्त प्रागभाव के सत्त्व में कोई प्रमाण नहीं)। (फिर भी प्रागभाव को सिद्ध करने के लिये यदि ऐसा कहो कि— पाकज रूपरसादि का परस्पर भेद कारणभेद के बिना नहीं हो सकता; अतः वह कारणभेद प्रागभावभेद के बिना असम्भव होने से प्रागभाव सिद्ध है), तो पाकजरूपादि भेद भी अग्निसंयोगभेद से हो सकता है, अथवा पूर्वरूपादिध्वंसभेद से भी हो सकता है। अतः उसके लिये प्रागभावभेद मानने की आवश्यकता नहीं और प्रतियोगिभेद के बिना प्रागभावभेद भी अयुक्त है।

शंका— उपादानत्व की व्यवस्था ही प्रागभाव के सत्त्व में प्रमाण है (अर्थात्—" यत्र यस्य

संबन्धिविशेषोऽपि कुतः सिद्ध्येत्? न च तदत्यन्ताभाववतः कथं तदुपादानत्वम्? संबन्धान्तरेण त्वयाप्यभ्युपगमात्समयावच्छेदतदनवच्छेदाभ्यां वैलक्षण्याभ्युपगमाच्चेत्यलमतिविस्तरेण। एवं सामान्याभावोऽपि गौरवपराहत एव। तथा हि— सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं अभावः तस्य च तत्तदधिकरणसंबन्धा इति त्रयं वा कल्प्यताम्? क्लृप्ततत्तदधिकरणसंबन्धानामेकाधिकरणवृत्तित्वावच्छेदेन सिद्धानामभावनां सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वमिति द्वयं वा कल्प्यताम्। तत्रोत्तरः पक्ष एवं प्रेक्षावद्भ्यो रोचते, आद्यक्षणे 'घटो नीरूप' इति प्रतीतेः सर्वसिद्धत्वाद्, यावदाश्रयतद्भेदग्रहस्य द्वित्वादिग्रहे हेतुत्वेऽपि उक्तप्रतियोगिताग्रहे हेतुत्वानभ्युपगमात्, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रागभावः, तस्मात्तस्योत्पत्तिः'' इस उपदानत्व की व्यवस्था से प्रागभाव की सिद्धि होती है)।

समाधान— ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यवस्था भी तन्तुत्वादि से ही सिद्ध हो सकती है (''यत्र तन्तुत्वम्, तत्र पटस्योपादानत्वम्'', ऐसी व्यवस्था हो सकती है)। यदि इस बात को न मानकर प्रागभाव को ही उपादानत्व की व्यवस्था में प्रयोजक मानोगे तो प्रागभाव का संबन्ध विशेष भी कैसे सिद्ध होगा? (भाव यह है कि कपाल में घट का प्रागभाव है, तन्तु में नहीं, इस प्रकार कपाल घटप्रागभाव का संबन्धी होगा और तन्तु उसका संबन्धी नहीं होगा— इस रीति से प्रागभाव के संबन्धिविशेष का अवधारण कैसे होगा? अतः प्रागभाववादी को भी यह कहना होगा कि जिस वस्तु में कपालत्व है,उसमें घटप्रागभाव है; तब तो कपालत्व से ही घटोपादानत्व की व्यवस्था हो सकती है तो उसके लिये घटप्रागभाव मानने की कोई आवश्यकता नहीं)।

शंका— उत्पत्ति से पूर्व उपादान में कार्य का जो अभाव है वह यदि प्रागभाव नहीं है तो अत्यन्ताभाव मानना होगा, तब तो कार्यात्यन्ताभाव वाला पदार्थ कार्य का उपादान कैसे हो सकता है?

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं, क्योंकि तुमने भी कपाल में संबन्धान्तर अर्थात् संयोग से घटात्यन्ताभाव माना ही है (अतः कार्यात्यन्ताभाववाला, कार्य का उपादान नहीं हो सकता— यह बात तुम नहीं कह सकते); अतः समयविशेषावच्छिन्नत्व और अनवच्छिन्नत्व से विलक्षणत्व के अभ्युपगम से समयविशेषावच्छिन्नात्यन्ताभाव वाले कपालादि पदार्थ घटादि का उपादान कारण हैं, और समयविशेषानवच्छिन्नात्यन्ताभाव वाले तन्त्वादि पदार्थ घटादि का उपादान कारण नहीं हैं—ऐसी व्यवस्था हो सकती है। इस विषय में अधिक विस्तार निष्प्रयोजन है।

इसी प्रकार यावद्विशेषाभाव के अतिरिक्त सामान्याभाव भी गौरवदोष से खण्डित ही होता है। तथाहि— (सामान्याभाव पक्ष में)—सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म, इस धर्म का आश्रय विशेषाभाव के अतिरिक्त सामान्याभाव और इस अभाव के तत्तदधिकरणों के साथ नाना संबन्ध— इन तीनों की कल्पना करनी होगी; तथा (यावद्विशेषाभावकूट पक्ष में)— नियत तत्तदधिकरणों के साथ संबन्ध रखने वाले, एकाधिकरणवृत्तित्वावच्छिन्न होकर सिद्ध तथा दोनों पक्षों से स्वीकृत यावद्विशेषाभावों का सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म, और इस धर्म का व्यासज्यवृत्तित्व— इन दोनों की कल्पना करनी होगी। लाघव होने के कारण विद्वज्जनों को इन दोनों पक्षों में द्वितीय पक्ष भी रूचिकर होता है। और आद्यक्षण में 'घट नीरूप है'' यह प्रतीति सर्वसिद्धान्तसिद्ध है, इसलिये यावदाश्रय और उन आश्रयों के भेद का ग्रह द्वित्वादिग्रह में हेतु होने पर भी सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिनानिरूपकत्वग्रह में हेतु नहीं माने जाते; कारण कि कार्य से

न चैवं—अतिलाघवात् क्लृप्तानामधिकरणानामेवाभावधीहेतुत्वमस्तु, किं विशेषाभावैरपीति—वाच्यम्, अस्माकमिष्टापत्तेः, घटाभावो नेत्यादावतिरिक्ताभावस्य त्वयाप्यनभ्युपगमेन भावस्याप्यभावत्वप्रकारकप्रमाहेतुत्वस्योभयवादिसिद्धत्वात्।

यदपि कश्चिदाह— प्रतियोगितावच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वाद्विशेषाभावान्य-सामान्याभावसिद्धिः, अन्यथा अभावभेदासिद्धेः, प्रतियोगिभेदस्याभावभेदकत्वे एकघट-प्रतियोगिकस्य प्रागभावादिचतुष्टयस्याभेदप्रसङ्गाद्, अवच्छेदकभेदात्तु तद्भेदे न कोऽपि दोषः, क्वचित्तादात्म्यस्य क्वचित्संसर्गस्य क्वचित् पूर्वापरकालीनतत्तद्घटत्वादेश्च भेदात्—इति।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कल्पनीय धर्मों की कार्यानुसार ही कल्पना होती है (भाव यह है कि सिद्धान्ती ने सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व धर्म को व्यासज्यवृत्ति अर्थात् यावदाश्रयों में पर्याप्तिसंबन्ध से व्याप्त होकर रहने वाला धर्म माना है। और व्यासज्यवृत्ति धर्म के ग्रहण में यह नियम है कि पहले उसके आश्रयों का ग्रहण तथा उन आश्रयों के भेद का ग्रहण होना चाहिये, अन्यथा व्यासज्यवृत्ति धर्म का ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे कि, व्यासज्यवृत्ति द्वित्व को ग्रहण करने के लिये पहले उसके आश्रय दो पदार्थों का ग्रहण और उन दोनों के भेद का ग्रहण आवश्यक है। प्रकृत में सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व के आश्रय हैं यावद्विशेषाभाव; परन्तु उन सब विशेषाभावों का ग्रहण असम्भव है, तब तो उनके भेद का ग्रहण भी असम्भव ही है। अतः उक्तप्रतियोगिताकत्व धर्म को व्यासज्यवृत्ति कैसे माना जाये? इसका उत्तर देते हैं कि "उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति" इस नियम के अनुसार उत्पन्न घट आद्यक्षण में नीरूप (निर्गुण) रहता है— यह सब सिद्धान्त मान्य है। इसलिये रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का ग्रहण आद्यक्षण विशिष्ट घट में होता है। यह यावद्रूपविशेषाभाव है और उसमें व्यासज्यवृत्ति होकर स्थित रूपत्वसामान्यावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व का ग्रहण होता है, किन्तु इसके पहले यावद्रूपविशेषाभाव और उनके भेद का ग्रहण नहीं होता। इसलिये यह कहना पड़ेगा कि द्वित्वादि के ग्रहण में उसके आश्रय और उनके भेद का ग्रहण हेतु होने पर तो सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के ग्रहण में हेतु नहीं; क्योंकि जैसे कार्य देखने में आता है, उसके अनुसार ही धर्मो की भी कल्पना की जाती है)।

शंका— तब तो, लाघव चाहने वाले तुम्हारे लिये अतिलाघव होने के कारण क्लृप्त अधिकरणों को ही अभावबुद्धि का हेतु मानना उचित है, उसके लिये विशेषाभावों से क्या होगा?

समाधान— ठीक है, यह तो हमारी इष्टापत्ति ही है, क्योंकि "घटाभाव नहीं" अर्थात् "घटाभावाभाव है" इत्यादि में प्रथमाभावातिरिक्त द्वितीयाभाव को तुम भी अभाव नहीं मानते (अर्थात् घटाभाव के अभाव को घटस्वरूप ही मानते हो); इसलिये भाववस्तु अभावत्वप्रकारकप्रमा का हेतु है— यह बात उभयवादिसिद्ध ही है।

कोई इसमें सामान्याभाव के समर्थन के लिये कहते हैं— प्रतियोगितावच्छेदक धर्म का भेद ही अभावभेद का नियामक होने के कारण विशेषाभाव से भिन्न सामान्याभाव सिद्ध होता है; यदि इस नियामक को नहीं मानोगे तो संसर्गाभाव अन्योन्याभाव का भेद सिद्ध नहीं होगा, और प्रतियोगी के भेद को अभावभेदक मानोगे तो एकघटप्रतियोगिक प्रागभावादि चारों का अभेद प्रसङ्ग होगा; और अवच्छेदक भेद से अभाव भेद मानने में तो ऐसा कोई दोष नही; अन्योन्याभावस्थल में तादात्म्य अवच्छेदक होगा, अत्यन्ताभावस्थल में संयोगादि संसर्ग अवच्छेदक होगा, प्रागभाव में प्रतियोगितावच्छेदक पूर्वकालीन तद्घटत्व होगा, तथा ध्वंस में प्रतियोगितावच्छेदक

तत्र, संसर्गप्रतियोगिविशेषणसाधारणस्यैकस्यावच्छेदकत्वस्य दुर्वचत्वात्, तादात्म्यादेश्च प्रतियोगितावच्छेदकत्वे मानाभावात्। भेदसिद्धिस्तु भाववदभावस्यापि विरुद्धधर्माध्यासादेव। अवच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वं लिङ्गविधया तज्ज्ञापकत्वमेव वाच्यम्, न तु तज्जनकत्वम्। तच्च न, विपक्षबाधकतर्काभावेन सामानाधिकरण्याभावेन च व्याप्तेरेवासिद्धेः। अत एव—तदितरधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्यत्वव्याप्यमित्यपि—निरस्तम्, एवं चावृत्तीनां गगनादीनां समनियतानां वाऽन्येषां धर्माणामेक

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अपरकालीनतटद्घटत्व होगा (अतः विशेषाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक विशेषधर्म होगा, और सामान्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सामान्यधर्म होगा; विशेष और सामान्य धर्म एक नहीं हो सकते, इसलिये इस अवच्छेदक भेद से विशेषाभाव से भिन्न सामान्याभाव अवश्य मानना चाहिये)। परन्तु ऐसा कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि (इस मत में संसर्ग संयोगादि और प्रतियोगी का विशेषण घटत्व, दोनों ही प्रतियोगितावच्छेदक होते हैं); किन्तु संसर्ग संयोगादि और प्रतियोगी के विशेषण घटत्व में साधारण किसी एक अवच्छेदक धर्म का निरूपण करना असम्भव है (कारण कि प्रतियोगी का विशेषण उससे न्यूनवृत्ति या अधिकवृत्ति हो तो वह उस प्रतियोगी का अवच्छेदक नहीं होता, और संयोगादि संसर्ग तो प्रतियोगी से न्यूनवृत्ति या अधिकवृत्ति होने पर भी उस प्रतियोगी का अवच्छेदक हो सकता है। अतः दोनों में साधारण अविच्छेदक धर्म का निरूपण असम्भव है)। और तादात्म्यादि के प्रतियोगितावच्छेदक होने में भी कोई प्रमाण नहीं है। अभावों में भेद की सिद्धि तो, जैसे भावपदार्थों में विरुद्धधर्मों के संबन्ध से भेदसिद्धि होती है, वैसे ही अभावों में भी विरुद्धधर्मों के संबन्ध से ही हो जायेगी। और अवच्छेदकभेद का अभावभेद के प्रति नियामक होना भी लिङ्गरूप से ज्ञापकमात्र है; जनकरूप से नहीं है (क्योंकि अन्योन्याभावादि नित्य होने से जन्य नहीं हो सकते)। किन्तु वह भी नहीं हो सकता; क्योंकि ''यत्र प्रतियोगितावच्छेदक भेदः तत्राऽभावभेदः'' इस व्याप्ति में विपक्षबाधक अर्थात् हेतु और साध्य की व्यभिचारशंका करने पर उसके बाधक अनुकूलतर्क का अभाव है और साध्य तथा साधन में सामानाधिकरण्य का अभाव भी है। (कारण कि ''भूतले घटो नास्ति'' इसमें प्रतियोगी घटका अवच्छेदक संयोग और घटत्व दो हैं; अतः प्रतियोगितावच्छेदक भेद भूतलनिष्ठघटाभाव में है, किन्तु वह अभाव एक ही है, उसमें भेद नहीं है; इसलिये दोनों में समानाधिकरणत्व का अभाव है); अतः यह व्याप्ति असिद्ध है। इस प्रकार— इस व्याप्ति की असिद्धि होने के कारण से ही—''यत्र तदितरधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वम्, तत्र तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्यत्वम्'' यह व्याप्ति भी निरस्त हुई (यहां पर—तत्पद से घटत्व लिया, अतः घटत्व से इतर पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व पटाभाव में है, और उस पटाभाव में ही घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव का अत्यन्त अर्थात् भेद भी है—इसलिये व्याप्ति का समन्वय हुआ। इसी प्रकार घटत्व से इतर तद्व्यक्तित्वरूप तद्घटत्वावच्छिन्न—प्रतियोगिताक तद्घटाभाव (विशेषाभाव) हुआ, उसमें ही घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव (सामान्याभाव) से अन्यत्व भी हुआ। इस प्रकार इस व्याप्ति से विशेषाभाव के अतिरिक्त सामान्याभाव भी सिद्ध हुआ)। किन्तु यह व्याप्ति निरस्त है; क्योंकि अवृत्ति अर्थात् संयोगसमवायान्यतरसंबन्ध से किसी में भी न रहने वाले आकाशादि विभु पदार्थों का अत्यन्ताभाव केवलान्वयी होने के कारण अवच्छेदकभेद से उसका भेद नहीं हो सकता, इसी प्रकार समनियत (परस्पर व्याप्य व्यापक रूप से स्थित गन्धवत्त्व, पृथिवीत्वादि) धर्मों का अत्यन्ताभाव भी नाना

एवात्यन्ताभावः, युगपद्विनष्टानामुत्पन्नानां वा समानदेशानामसति बाधके एक एव ध्वंसः प्रागभावो वा, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽपि चेदभावः प्रामाणिकः, तदा तस्यैकस्यैव प्रतियोगिताः सर्वैरेव व्यधिकरणैः सर्वैश्च समानाधिकरणैः संबन्धैरेवावच्छिद्यन्ताम्, आकाशाभाव एव वा तथाऽऽस्ताम्, एकेनैवोपपत्तावभावभेदकल्पने मानाभावात्। न च—एवमेक एव जगतीतले भवत्वभावः, स एवं तत्तदवच्छेदकदेशकालादिभेदेन तत्तद्व्यवहारभेदं जनयिष्यतीति किमधिककल्पनयेति— वाच्यम्, उपपद्यते चेदस्तु। प्रकृते तु न बाधकं किंचित्। अत एव वैशेषिकाणां स्वाभ्युपगतकालपदार्थस्यैव सर्वव्यवहार—हेतुत्वोपपत्तौ न पदार्थान्तरसिद्धिरित्यद्वैतवादिनो वदन्ति। तदेवं 'अहमज्ञ' इति ज्ञानस्याभावज्ञान—सामग्रीविलक्षणसामग्रीजन्यत्वादभावविलक्षणविषयत्वं सिद्धम्। एवं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इति प्रत्यक्षस्यापि।

ननु— साक्षात्त्वदुक्तार्थविषयं प्रमाणज्ञानं मयि नास्तीत्येतद्विषयकमुदाहृतज्ञानम्, तच्च

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं, एक ही होता है (अतः प्रतियोगितावच्छेदक भेद से अभाव का भेद उक्तव्याप्ति से सिद्ध नहीं हो सकता)।

इसी प्रकार एकाधिकरणवृत्ति और युगपत् उत्पन्न तथा विनष्ट पदार्थों का प्रागभाव और ध्वंस भी बाधक न होने पर एक ही हैं, नाना नहीं। और यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव प्रामाणिक है, तो उस एक ही अभाव की प्रतियोगिता समस्त व्यधिकरण और समस्त समानाधिकरण संबन्धों से अवच्छिन्न होती है (उसमें अवच्छेदक संबन्धों के भेद से अभाव में भेद नहीं होता)। अथवा गगनाभाव ही सर्वविधसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव मान लें (उसमें भी अभाव में कोई भेद नहीं)। इस प्रकार व्यधिकरणधर्मभेद से एक ही गगनाभाव के द्वारा सर्वाभावव्यवहार की उपपत्ति होने पर अंभावभेद की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका — तब तो इस प्रकार से इस संसार में एक ही अभाव मान लो, क्योंकि वही एक अभाव तत्तदवच्छेदक देशकालादि के भेद से तत्तदभावव्यवहार के भेद को उत्पन्न करा ही देगा, इससे अधिक अभाव की कल्पना करने से क्या लाभ?

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंदि यदि वैसा हो सकता है तो एक ही अभाव मान लो, हसमें हमारी आपत्ति नहीं। किन्तु प्रकृत में प्रतियोगितावच्छेदक भेद से अभाव में भेद नहीं है— यह बात सत्य है, इसमें बाधक कुछ भी नहीं है। इस प्रकार एक ही पदार्थ से सब व्यवहार सम्भव होने से वैशैषिकों के द्वारा माने हुए काल पदार्थ को चिद्रूप मानकर सब व्यवहार का वहीं हेतु सम्भव होने पर पदार्थान्तर की तात्त्विकता नहीं (अर्थात् शुक्तिरजतादि के समान पदार्थान्तर का मिथ्यात्व है) यही अद्वैतवादिगण कहते हैं। इस प्रकार ''अहमज्ञः'' यह ज्ञान अभावज्ञानसामग्री से विलक्षण सामग्री से जन्य होने के कारण उसका विषय अज्ञान अभावविलक्षण सिद्ध है।

इसी प्रकार ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' अर्थात् '' तुम्हारे द्वारा कहे हुए अर्थ को नहीं जानता हूं'' यह प्रत्यक्ष भी अभावविलक्षण अज्ञान को सिद्ध करता है अर्थात् अर्थ विषयक अज्ञान को विषय करने वाला ज्ञान है।

शंका— यह उदाहृत ज्ञान तो ''साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान मुझे नहीं, अर्थात् त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञानाभाव है'' इसको विषय करने वाला है और वह ज्ञान साक्षात् अर्थविषयक नहीं; क्योंकि यहां पर अर्थ प्रमाज्ञान अवच्छेदकरूप से भान होता है, इसलिये

न साक्षादर्थविषयम्, प्रमाणज्ञानावच्छेदकतयार्थस्य भानाद्, अतो न व्याघात इति–चेन्न, साक्षात्त्वदुक्तार्थमवेत्य हि तदभावो ग्राह्यः। तज्ज्ञानं च न साक्षिणा, स्वस्मिंस्ता–दृक्प्रमाणज्ञानाभावात्, अन्यनिष्ठं तु शब्दादिना ग्राह्यम्। शब्दादिश्च त्वदुक्तार्थं बोधयन्नेव तद्विषयत्वं ज्ञाने बोधयेत्। तथा च प्रथमतस्त्वदुक्तार्थविषयकं साक्षादेव ज्ञानमागतमिति तन्निषेधे न कुतो व्याघातः? अत एव – विशेषस्य स्वरूपतो ज्ञानेऽपि विशेषप्रकारकज्ञानाभावो

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

व्याघात नहीं होता (भाव यह है कि ज्ञानाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगीज्ञान का ज्ञान चाहिये, क्योंकि अभावज्ञान प्रतियोगिज्ञान सापेक्ष होता है। अतः प्रकृत में त्वदुक्तार्थविषयकप्रमाज्ञानाभावविषयक ज्ञान के लिये त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञानविषयक ज्ञान पहले चाहिये, तब उक्त प्रमाज्ञानविषयक ज्ञान है ही, तो उसका अभाव कैसे हो सकता है; अतः उक्तप्रमाज्ञानाभाव कहना तो व्याघात होता है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जैसे ''पुस्तकज्ञानवानहम्'' इस अनुव्यवसाय ज्ञान का साक्षात् विषय तो ज्ञान ही है, पुस्तक नहीं, वह तो केवल अनुव्यवसाय ज्ञान के विषयीभूत ज्ञान का अवच्छेदक मात्र है, उसी प्रकार प्रकृत में भी उक्त प्रमाज्ञानाभावज्ञानवान्, इसमें अभावज्ञान का साक्षात् विषय तो प्रमाज्ञान ही है,अर्थ तो उस प्रमाज्ञान का अवच्छेदक रूप से भान कराता है; साक्षात् वह अभावज्ञान का विषय नहीं; अतः व्याघात नहीं होता)।

समाधान – ऐसा नहीं हो सकता, तुम्हारे इस अर्थ में अवश्य ही व्याघात रहेगा, क्योंकि साक्षात्त्वदुक्तार्थ को भी लेकर प्रमाज्ञानाभाव ग्राह्य है (कारण कि ज्ञान निर्विषयक होता नहीं, विषय से ही विशेषित होकर ज्ञान होता है। अवच्छेदक रूप से विशेषणीभूतविषय को ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता; अतः अभावज्ञान का विषय अर्थविषयक प्रमाज्ञान होने से व्याघात है)। और वह प्रमाज्ञान ज्ञानसाक्षी भी नहीं हो सकता, क्योंकि अपने में त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान नहीं होता (वह तो वर्तमानार्थविषयक ज्ञान ही कर सकता है।) और ''अन्यनिष्ठ त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान का अभाव मुझमें है'' यह भी नहीं हो सकता, कारण कि यहां भी अभाव का प्रतियोगी प्रमाज्ञान ज्ञात हुए बिना अन्यनिष्ठ उक्त प्रमाज्ञान का अभाव नहीं हो सकता। और अन्यनिष्ठज्ञान तो शब्दादिप्रमाण से ही ग्राह्य है। तब तो वह शब्द अर्थात् वाक्य त्वदुक्तार्थ का बोधन कराता हुआ ही त्वदुक्तार्थविषयकज्ञान का बोध उत्पन्न करेगा। इसलिये पहले ही त्वदुक्तार्थविषयक ज्ञान साक्षात् ही आ जाने के कारण उसके निषेध में व्याघात क्यों नहीं होगा। (भाव यह है कि अन्यनिष्ठ त्वदुक्तार्थविषयक साक्षात्ज्ञान वाक्य से जानना हो तो ''त्वदुक्तार्थज्ञानवानयम्'' ऐसा वाक्य होगा; और इस वाक्यार्थज्ञान में अवान्तरवाक्यार्थज्ञान कारण होता है। और उस अवान्तर वाक्य का स्वरूप तो ''अर्थः त्वदुक्त'' ऐसा होता है। अतः त्वदुक्त अर्थ का ज्ञान होने पर ही बाद में ''त्वदुक्तार्थविषयकज्ञानवानयम्'' इस प्रकार से त्वदुक्तार्थविषयकशाब्दपरोक्षज्ञान होगा। जिसका जिस विषय में साक्षात् शाब्दज्ञान है, उसको किस प्रकार त्वदुक्तार्थ का ज्ञानाभाव हो सकता है? अतः इसमें भी व्याघात अवश्य है)। इस प्रकार निषेध में प्रतियोगिज्ञान की आवश्यकता होने से– विशेष का स्वरूपतः ज्ञान रहने पर भी विशेषप्रकारकज्ञानाभाव व्याघात नहीं होता– यह कथन भी खण्डित हुआ। (भाव यह है कि –''त्वदुक्तार्थं न जानामि'' त्वदुक्त अर्थ विशेष को सामान्यरूप से स्वरूपतः तो जानता हूं, किन्तु उस अर्थविशेष के विशेष को नहीं जानता हूं। जैसे कि प्रमेयत्वेन घटरूप अर्थविशेष का सामान्य रूप से स्वरूपतः ज्ञान तो है, किन्तु विशेषरूप से घटत्वादिविशिष्टत्वेन घटज्ञानाभाव है। अतः अर्थ विशेष का स्वरूपतः सामान्यरूप से ज्ञान होने

न व्याहत—इत्यपास्तम्, करतलामलकज्ञाने स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयत्वं प्रसिद्धमिह निषिध्यत इत्यपि न; त्वदुक्तत्वस्यापि मदुक्ताद्व्यावर्तकत्वेन सामान्यतो व्यावर्तक-धर्मविषयत्वस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्।

ननु—अवच्छेदकतया विशेषज्ञाने जातेऽपि न व्याहतिः। तथा हि—न हि विशेषज्ञाना-भावस्त्वदुक्तार्थविषयकज्ञानाभावो वात्र प्रतीयते, किं तु त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारक-ज्ञानाभावः, तत्र च त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानत्वेन प्रतियोगिज्ञानेऽपि तादृक्प्रका-

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

पर भी विशेष प्रकार का ज्ञानाभाव होने में व्याघात नहीं होता। यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है। किन्तु यहां भी विशेषप्रकारक ज्ञान ही अभाव का प्रतियोगी हो रहा है। अत्यन्त अज्ञात पदार्थ का अभावज्ञान हो ही नहीं सकता। अत: विशेष प्रकारकज्ञान होते हुए भी उसका अभावज्ञान कहना व्याघात ही है।) इसी प्रकार— करतलस्थ आमलक के ज्ञान में स्वविषयव्यावर्तक धर्मविषयत्व प्रसिद्ध है, उसका ही यहां निषेध किया जाता है, (भाव यह है कि प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तुओं से अपने को व्यावृत्त करने वाला कोई न कोई एक असाधारण धर्म है— यह लोक में प्रसिद्ध है, और वही धर्म उस वस्तु में ज्ञात होने पर ही उस वस्तु का यथार्थ रूप से ज्ञान हुआ माना जाता है, अन्यथा नहीं, जैसे कि करतलस्थामलकविषयकज्ञान में स्व (आमलकज्ञान) के विषय आमलक का अन्य वस्तुओं से व्यावर्तक धर्म आमलकत्व है, उस आमलकत्व को विषय करने वाला ज्ञान यथार्थत: आमलक विषयक है। अत: सामान्यरूप से स्वविषयव्यावर्तक धर्मविषयत्व प्रत्येक यथार्थज्ञान में प्रसिद्ध है। प्रकृत में ''त्वदुक्तार्थ न जानामि'' इसमें भी जो एक सामान्य ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञान में स्वविषयव्यावर्तक धर्मविषयत्व का निषेध है, इसलिये व्याघात नहीं होता) — ऐसा कथन भी अयुक्त है, क्योंकि त्वदुक्तार्थ में जो त्वदुक्तत्वधर्म है, वह मदुक्तार्थ से त्वदुक्तार्थ का व्यावर्तक है और ज्ञात भी है। इसलिये त्वदुक्तार्थविषयकज्ञान में सामान्यरूप से स्वविषयव्यावर्तक धर्मविषयत्व का निषेध नहीं किया जा सकता; अत: व्याघात पूर्ववत् स्थित है।

शंका — ''त्वदुक्तार्थ न जानामि'' इसमें ज्ञान के अवच्छेदक रूप से त्वदुक्तार्थरूपविशेष का ज्ञान होने पर भी व्याघात नहीं होगा। तथाहि—''त्वदुक्तार्थ न जानामि'' इस प्रतीति में अवच्छेदकीभूतविशेष त्वदुक्तार्थ का ज्ञानाभाव अथवा त्वदुक्तार्थविषयकज्ञानाभाव यहां पर प्रतीत नहीं होता, किन्तु त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानाभाव (त्वदुक्तार्थ विशेष्यगत विशेषधर्म का ज्ञानाभाव) प्रतीत होता है और उसमें त्वदुक्तार्थविशेषकविशेषप्रकारक ज्ञानत्वरूप से प्रतियोगिभूत ज्ञान के ज्ञान में भी विशेषप्रकारक त्वदुक्तार्थविशेष्यज्ञानाभाव सम्भव है, क्योंकि प्रतियोगिताज्ञान का ज्ञानरूपविशेष्य भी विशेषप्रकारकत्वप्रकारक है। (भाव यह है कि ''त्वदुक्तमर्थ न जानामि'' इस प्रतीति का विषय है—ज्ञानाभाव, इस अभाव का प्रतियोगी ज्ञान है और प्रतियोगी के ज्ञान के बिना अभावज्ञान नहीं हो सकता, अत: प्रतियोगिज्ञान का ज्ञान भी है ; और इस प्रतियोगिज्ञान के ज्ञान का विषय है— त्वदुक्तार्थविशेषक—विशेषप्रकारक प्रतियोगिज्ञान। किन्तु प्रतियोगिज्ञान के ज्ञान में विषयत्वेन प्रतियोगिज्ञान मात्र का भान हो रहा है, उसमें त्वदुक्तार्थविशेषक विशेष प्रकारक का भान नहीं हो रहा है। अत: तदंश को लेकर त्वदुक्तार्थविषयक ज्ञानाभाव हो सकता है, तब तो व्याघात नहीं होगा)। और जहां '' त्वदुक्तविशेषं न जानामि'' ऐसा कथन है, वहां भी इसी प्रकार व्याहत्यभाव किसी प्रकार से स्थपित करना चाहिये। (अभिप्राय यह है— कि विशेषत्वरूप से विशेष का ज्ञान यहां पर प्रतियोगी होगा और यही अभावबुद्धि का कारण भी होगा। अभावबुद्धि

रकतद्विशेष्यकज्ञानाभावसंभवः, अस्य ज्ञानस्य ज्ञाने विशेष्ये विशेषप्रकारकत्वप्रकार–कत्वात्, यत्रापि त्वदुक्तविशेषं न जानामीत्यभिलापः, तत्राप्येवमेव व्याहत्यभावः कथंचिदुन्नेयः। न च यत्रोक्तप्रतियोग्यप्रसिद्धिः, तत्र कथमभावप्रतीतिरिति–वाच्यम्, समवेतवाच्यत्वं नास्तीत्यत्रेव विशेष्ये विशेषणाभावविषयत्वेन व्यधिकरणधर्मा–वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयत्वेन वोपपत्तेरिति–चेन्न, अनुभवविरोधाद्, विशेषज्ञानाभावस्य त्वदुक्तार्थज्ञानाभावस्य वाऽनभ्युपगमे तद्विषयज्ञानसत्त्वेन तद्व्यवहारापत्तेश्च। न चैवं दृश्यते। स्वतःप्रामाण्यमते तु तत्प्रकारकत्वे तद्विशेष्यकत्वे च गृह्यमाणे तद्वत्त्वग्रहणस्यावश्यकतया तदंशे तत्प्रकारकतद्विशेष्यकत्वस्य तादृशप्रतियोगिज्ञाने संभवात स्पष्ट एव व्याघातः, भावरूपाज्ञानपक्षे तु सर्वस्यापि साक्षिवेद्यतया न व्याघात इत्युक्तम्। तदेवं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इति प्रत्यक्षं भावरूपाज्ञानविषयमिति सिद्धम्। एवमेतावन्तं कालं न किंचिदवेदिषमिति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का विषय केवल विशेषविषयक ज्ञानाभाव होगा। इस प्रकार ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' इसमें सप्रकारक विशेषज्ञान प्रतियोगी का ज्ञान है, इससे केवल विशेष विषयकज्ञानाभाव होने से व्याघात नहीं होगा)। जिस विशेष में कुछ भी धर्मान्तर प्रसिद्ध नहीं, उस विशेष में विशेषत्वप्रकारक ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ऐसे स्थलों में जहां उक्त प्रतियोगी की प्रसिद्धि नहीं, वहां किस प्रकार अभाव की प्रतीति होगी– ऐसी भी शंका होनी नहीं चाहिये; क्योंकि वहां भी ''समवेत वाच्यत्वं नास्ति'' के समान विशेष्य में विशेषणाभावविषयकरूप से अथवा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावविषयकरूप से ज्ञान हो सकता है (भाव यह है कि दृष्टान्त में वाच्यत्व केवलान्वयी है, वह सब वस्तुओं में स्वरूपसंबन्ध से रहता है, समवाय संबन्ध से नहीं रहता। अतः विशेष्य का वाच्यत्व में विशेषण समवेतत्व का अभाव है। अतः ''समवेत वाच्यत्वं नास्ति'' का अर्थ ''वाच्यत्वनिष्ठ समवेतत्वं नास्ति'' होगा। इस प्रकार विशेषणाभावविषयक ज्ञान होगा, अथवा ''घटत्वेन पटो नास्ति'' के समान ''समवेतत्वेन वाच्यत्वं नास्ति'' इस प्रकार व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयक ज्ञान होगा। इसी प्रकार ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' इसमें भी विशेष में विशेषान्तर न होने पर भी अन्य में प्रसिद्ध विशेषणान्तररूप विशेषणाभावविषयक ज्ञान हो सकता है अन्यथा ''अन्यनिष्ठविशेषत्वेन विशेषं न जानामि'' इस प्रकार व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयक ज्ञान हो सकता है, अतः कोई दोष नहीं)।

समाधान – ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इस कथन में अनुभव विरोध होता है, यदि ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' अथवा ''त्वदुक्तं अर्थं न जानामि'' इसमें विशेषज्ञानाभाव अथवा त्वदुक्तार्थज्ञानाभाव नहीं मानोगे तो विशेषज्ञान और त्वदुक्तार्थज्ञान होने के कारण विशेषविषयक और त्वदुक्तार्थविषयक व्यवहार की आपत्ति अवश्य आयेगी; किन्तु ऐसा तो देखने में नहीं आता। और स्वतः प्रामाण्यवादी के मत में ''त्वदुक्तं अर्थं न जानामि'' इसमें प्रतियोगीभूत ज्ञान में विशेषप्रकारत्व और त्वदुक्तार्थविशेष्यकत्व का ग्रहण होने पर त्वदुक्तार्थांश में विशेषप्रकारत्व ग्रहण आवश्यक होने के कारण प्रतियोगीज्ञान के ज्ञान में भी विशेषप्रकारक त्वदुक्तार्थविशेष्यकत्व संभव होने से व्याघात स्पष्ट ही है। और भावरूप अज्ञान पक्ष में तो सब साक्षिवेद्य होने के कारण व्याघात नहीं होता, यह बात पहले कह चुके हैं। इस प्रकार ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' यह प्रत्यक्ष भावरूपाज्ञानविषयक सिद्ध हुआ। इसी प्रकार ''एतावन्तं कालं न किचिदवेदिषम्'' इत्यात्मक

परामर्शसिद्धं सौषुप्तं प्रत्यक्षमपि भावरूपाज्ञानविषयमेव।

ननु– परामर्शः किमनुमानं, किं वा स्मरणम्। आद्ये ज्ञानाभाव एवानुमीयताम्, किं भावरूपाज्ञानेन? तथा हि– संप्रतिपन्नोदयास्तमयकालवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमय–योरन्तरालकालमनुमाय तत्कालमहं ज्ञानाभाववान्, अवस्थाविशेषवत्त्वात्, ज्ञानसामग्रीविरह–वत्त्वात्, तुल्ययोगक्षेम आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि तद्वत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वाद्वेति प्रयोगसंभवात्। द्वितीये तु नास्त्युपपत्तिः, संस्कारासंभवाद्, विनश्यदेव हि ज्ञानं संस्कारं जनयति, विना व्यापारं व्यवहितकार्यजननाक्षमत्वाद्, अविनश्यता तु तेन स्वयमेव तत्कार्यस्य जनयितुं शक्यत्वात् किमिति संस्कारो जन्येत? न हि संस्कारोऽपि प्रत्यक्षः, येन कार्यान्यथानुपपत्तिमन्तरेणापि अभ्युपेयेत, सौषुप्तं चानाद्यज्ञानोपरक्तं साक्षिचैतन्यरूपं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

परामर्श (स्मृतिज्ञान) से सिद्ध सौषुप्त प्रत्यक्ष भी भावरूपाज्ञानविषयक ही है।

शंका– किन्तु, यहां पर परामर्श अनुमान है या स्मरण? आद्यपक्ष में तो ज्ञानाभाव का ही अनुमान हो जाये, भावरूप अज्ञान से क्या? तथाहि– संप्रतिपन्न उदयास्तमय काल के समान विवादास्पद उदयास्तमय काल के भी अन्तराल का अनुमान करके वही अन्तरालकाल वाला मैं ज्ञानाभाववाला था, अवस्थाविशेष (सुषुप्तावस्था) वत्त्व होने से, ज्ञानसामग्री विरहवत्त्व होने से और आत्मादि का स्मर्यमाण तुल्ययोग क्षेम होने पर भी ज्ञानवान्रूप से सर्वदा अस्मर्यमाणत्व होने से —इस प्रकार अनुमान का प्रयोग संभव है (भाव यह है कि किसी अज्ञात पक्ष में हेतु लाकर किसी साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृत में भी सुषुप्तिकालीन आत्मा अज्ञात होने से उसमें किसी भी हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः सुषुप्तिकालीन आत्मा को पक्ष बनाने के लिये पहले अनुमान के द्वारा उसकी सिद्धि करते हैं। उसमें प्रसिद्ध सूर्योदयास्तमय का दृष्टान्त देकर सुषुप्त्यन्तरालकाल सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रयोग इस प्रकार है– "विमतौ उदयास्तमयौ (सुषुप्त्युदयास्तमयौ) अन्तरालकालवन्तौ उदयास्तमयत्वात् सम्प्रतिपन्नोदयास्तमयवत्" इस प्रकार सुषुप्त्यन्तरालकाल सिद्ध होने पर पुनः उसमें आत्मा को सिद्ध करने के लिये प्रयोग इस प्रकार है–"सुषुप्त्यन्तरालकालः आत्मवान् कालत्वात् जाग्रत्कालवत्।" इस प्रकार सुषुप्तिकालीन आत्मा ज्ञात होने पर उसमें तीन हेतुओं से ज्ञानाभाव सिद्ध करने के लिये अनुमान है–"सुषुप्तिकालीनोऽहं (आत्मा) ज्ञानाभाववान्, अवस्था विशेषवत्त्वात् (सुषुप्त्युदयावस्थावत्त्वात्), ज्ञानसामग्री विरहत्त्वात्, ज्ञानवत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवं यथा जाग्रत्कालीन आत्मेति।" यहां मूल में "तुल्ययोगक्षेमे आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि" यह अंश हेतुकोटि में नहीं आता, केवल अनुमान को पुष्ट करने के लिये "यदि न तत्कालमहं ज्ञानवान् स्याम्, तदा ज्ञानवत्तया स्मर्णमाणः स्याम्" इस तर्क के ज्ञापन के लिये है)। और द्वितीय स्मरण पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कार असम्भव है– कारण कि अनित्यज्ञान ही संस्कार को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट होता है; (वही नष्ट ज्ञान स्वजन्यसंस्काररूप व्यापार के द्वारा स्मृति का जनक होता है; व्यापार के बिना तो व्यवहितकार्य का जनक होने में वह असमर्थ है (किन्तु संस्कारमात्र से स्मृति संभव होने पर नष्टज्ञान को भी उसका जनक मानना गौरवदोष से ग्रस्त समझना चाहिये)। और अविनष्टज्ञान तो स्वयं ही अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होने के कारण किसलिये स्वकार्य के लिये संस्कार को उत्पन्न करेगा? संस्कार भी कोई प्रत्यक्ष पदार्थ तो नहीं, जिससे कार्य की अन्यथाऽनुपपत्ति के बिना भी वह माना जाये। और सौषुप्तज्ञान तो अनादि अज्ञान से उपरक्त साक्षिचैतन्यरूप है; अतः

ज्ञानं स्वतो वा उपाधितो वा न विनश्यतीति संस्कारं कथं जनयेत? तदभावात् कथं स्मर्येत, अस्मर्यमाणं वा कथं प्रमाणत्वेनोदाह्रियेतेति—चेन्न, न तावदनुमानं तत्र संभवति। हेतोः पक्षविशेषणस्य चाज्ञानात्। न हि ज्ञानाभावमन्तरेणावस्थायां विशेषो वक्तुं शक्यः। ज्ञानसामग्रीविरहश्च ज्ञानाभावनुमेयत्वेनान्योन्याश्रयग्रस्तः। न चेदानीन्तनेनेन्द्रियप्रसादेन पूर्वकालीनं तदुपरममनुमाय सामग्रीविरहानुमानम्, इन्द्रियप्रसादस्य सुखानुभवहेतुकस्य तदुपरमहेतुकत्वासिद्धेः। नियमेनास्मर्यमाणत्वं व यथाश्रुतं वा सुषुप्तिकालावच्छेदेनेति वा? आद्ये

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वह स्वत: ही या उपाधि से नष्ट न होने वाला होने के कारण संस्कार को कैसे उत्पन्न करेगा? और संस्कार नहीं है तो कैसे अज्ञान का स्मरण होगा? इस प्रकार अज्ञान अस्मर्यमाण होने पर सौषुप्तप्रत्यक्ष में प्रमाणरूप से किस प्रकार उदाहरण दिया जा सकता है?

समाधान— ये सब ठीक नहीं; क्योंकि उसमें (ज्ञानाभाव में) अनुमान ही नहीं हो सकता; क्योंकि पक्ष का विशेषण सुषुप्तिकालीनत्व और (प्रथम) हेतु अवस्था विशेषवत्त्व (सुषुप्त्यवस्थावत्त्व) का ज्ञान नहीं हो सकता। कारण कि तुम ज्ञानाभाव के अतिरिक्त अवस्था का कोई विशेष कह नहीं सकते (तब तो ज्ञानाभावावस्था और सुषुप्त्यवस्था एक ही होने से पक्षविशेषण, हेतु और साध्य भी एक ही हो गये; इसलिये यह अनुमान अत्यन्त अयुक्त होता है)। और (द्वितीय हेतु ज्ञान सामग्रीविरहवत्त्व भी नहीं हो सकता), क्योंकि ज्ञानसामग्रीविरह ज्ञानाभाव से अनुमेय होने में अन्योन्याश्रय है (ज्ञानसामग्रीविरह की सिद्धि होने पर ज्ञानाभाव की सिद्धि और ज्ञानाभाव की सिद्धि होने पर ज्ञानसामग्रीविरह की सिद्धि— इस प्रकार अन्योन्याश्रय होता है)।

शंका— सुप्तोत्थित मनुष्य के तदानीन्तन इन्द्रिय प्रसाद रूप कार्य के द्वारा पूर्वकालीन (सुषुप्तिकालीन) इन्द्रियोपरमरूपकारण का अनुमान करके पुन: उस इन्द्रियोपरम से सुषुप्ति काल में ज्ञानसामग्रीविरह का अनुमान किया जायेगा, तब तो अन्योन्याश्रय नहीं होगा।

समाधान— ऐसा नहीं होगा, क्योंकि सुखानुभवहेतुक (सुखानुभवरूप कारण से होने वाला) इन्द्रिय प्रसाद (प्रसन्नता) इन्द्रियोपरमहेतुक (इन्द्रियोपरमरूपकारण से होने वाला) कहना असिद्ध है। और (ज्ञानवत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्व तृतीय हेतु भी नहीं हो सकता); कारण कि क्या यह नियमेनास्मर्यमाणत्व यथाश्रुत ही है (अर्थात् किसी भी समय नियमेनाऽस्मर्यमाणत्व है), अथवा सुषुप्तिकालावच्छेद से (अर्थात् सुषुप्तिकालावच्छिन्नज्ञानवत्त्वरूप से) नियमेनास्मर्यमाणत्व है? आद्यपक्ष में हेतु की स्वरूपासिद्धि है (क्योंकि पक्षीभूत सुषुप्तिकालीन आत्मा में किसी भी समय नियमेन अस्मर्यमाणत्व नहीं हो सकता, कारण कि किसी समय भ्रम से ज्ञानवत्त्वेन उसका स्मर्णमाणत्व हो सकता है)। और द्वितीय पक्ष में तो उपेक्षणीय वस्तुविषयक उपेक्षणीय ज्ञान का अभाव सुषुप्तिकालीन अहं पदार्थ आत्मा में सिद्ध नहीं होगा (कारण कि उपेक्षणीयवस्तुविषयक उपेक्षणीय ज्ञान का संस्कार नहीं होता, इसलिये यत्कालावच्छेदेन उपेक्षणीय ज्ञानवान् जो आत्मा है, तत्कालावच्छेदेन उस आत्मा में उपेक्षणीयज्ञानवत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्व है; अत: तत्कालावच्छेदेन उस आत्मा में नियमेन अस्मर्यमाणत्व होने पर भी उपेक्षणीयज्ञातवत्त्व है, उपेक्षणीयज्ञानाभाव नहीं है। तब तो सुषुप्तिकाल में भी पक्षीभूत अहं पदार्थ आत्मा में उपेक्षणीय ज्ञानवत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्व हेतु से उपेक्षणीयज्ञानाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यों भी आत्मा चिद्रूप होने से उसमें कदापि ज्ञानाभाव नहीं हो सकता)। और ''ज्ञानवत्तया नियमेन यत्राऽस्मर्यमाणत्वम्, तत्र ज्ञानाभाव:''

असिद्धिः, द्वितीये तूपेक्षणीयज्ञानाभावो न सिध्येत्, तत्रैव व्यभिचारश्च।

न च—तर्हि प्रातरनुभूतचत्वरे गजज्ञानाभाव कथमिति—वाच्यम्, ज्ञानानुपलब्ध्यै—वेत्यवेहित। अनुपलब्धिज्ञानं च भावरूपाज्ञानेन लिङ्गेन। तथा हि—पूर्वकालेऽहं, गजज्ञानाभाववान्, गजाज्ञानवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गजज्ञानवानहमिति, एवं सर्वत्राज्ञानस्य ज्ञानाभावव्याप्यत्वेन तदनुमापकत्वम्। न च— सुषुप्तिकाले ज्ञानाभावानुमानार्थं भावरूपाज्ञानमिव रागाभावानुमार्थं द्वेषोऽपि स्वीकरणीयः, तद्विरोधिपदार्थानुभवं विना तदभावानुमानायोगादिति—वाच्यम्; भावरूपाज्ञानेन ज्ञानाभावेन वा रागाभावानुमानसंभवात्, तस्यापि तद्विरोधित्वात्। अथापरोक्षतो ज्ञातेऽज्ञानाभावात् कथं परोक्षज्ञानाभावानुमानम्? सामग्रीविरहादिनेति गृहाण। न चात्राप्यन्योन्याश्रयः, शब्दादीनां योग्यनां योग्यानुपलब्ध्या अभावनिश्चयेन परोक्षज्ञानविरहज्ञानं विनैव सामग्रीविरहनिश्चयात्, सुषुप्तिकाले चेन्द्रियादिघटित—सामग्रीविरहस्य फलाभावं विना ज्ञातुमशक्यत्वेनान्योन्याश्रयोक्तेः। न च स्मरणपक्षे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस व्याप्ति का उपेक्षणीय ज्ञानवान् आत्मा में व्यभिचार भी है।

शंका — तज्ज्ञानवत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्व को हेतुरूप से नहीं मानोगे तो प्रातः अनुभूत चत्वर में (चबूतरे में) गजज्ञानाभाव का ज्ञान किस प्रकार होगा?

समाधान— ऐसा न कहिये; अनुपलब्धि से ही गजज्ञानाभाव का ज्ञान समझिये। और अनुपलब्धि का ज्ञान तो भावरूप अज्ञान लिङ्ग के द्वारा होता है। तथाहि—पूर्वकाल (प्रातःकाल) मे मैं गजज्ञानाभाव वाला था, गजाज्ञानवाला होने से,क्योंकि जिस समय गज ज्ञानाभाव वाला नही होता, उस समय गजाऽज्ञानवाला भी नहीं होता, जैसे कि इस समय मैं गजज्ञानवान् हूँ। इस प्रकार सर्वत्र अज्ञान ज्ञानाभाव का व्याप्य होकर अनुमापक होगा।

शंका— सुषुक्तिकाल में ज्ञानाभाव का अनुमान करने के लिये जिस प्रकार भावरूप अज्ञान है, उसी प्रकार उस काल में रागाभाव का अनुमान करने के लिये भी द्वेष स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि रागविरोधी पदार्थ के अनुभव के बिना रागाभाव का अनुमान नहीं हो सकता।

समाधान— ऐसा भी न कहो, क्योंकि भावरूप अज्ञान से अथवा रागज्ञानाभाव से रागाभाव का अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि वह भी राग का विरोधी है।

शंका— अपरोक्ष रूप से ज्ञात होने पर तद्विषयक अज्ञान का अभाव होने से, किस प्रकार परोक्षज्ञानाभाव का अनुमान होगा?

समाधान— ऐसे स्थलों मे परोक्षज्ञान के सामग्रीविरहादि से अनुमान समझो। और इसमें अन्योन्याश्रय भी नहीं होगा (परोक्षज्ञानाभाव का ज्ञान होने पर सामग्रीविरह का ज्ञान और सामग्री विरह का ज्ञान होने पर परोक्षज्ञानाभाव का ज्ञान, इस प्रकार से अन्योन्याश्रय है)। क्योंकि परोक्षज्ञान की सामग्री है— योग्य (प्रत्यक्षयोग्य) ज्ञायमान शब्द, लिङ्गादि, उन योग्य शब्दादि का योग्य अनुपलब्धि के द्वारा अभावनिश्चय से फलाभावरूप परोक्षज्ञानविरह के बिना भी सामग्रीविरह का निश्चय हो जाता है और सुषुप्तिकाल में तो इन्द्रियादिघटितसामग्री का अभाव फलीभूतज्ञानाभावरूप हेतु के बिना जाना नहीं जा सकता; अतः वहां अन्योन्याश्रय की उक्ति है, (किन्तु यहां तो वैसा नहीं है)। और परामर्श के अर्थ स्मरणपक्ष में संस्कार की अनुपपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि अज्ञान अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित साक्षी से भास्य होने के कारण वृत्तिनाश से संस्कार हो सकता है, कारण कि अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही साक्षिपदार्थ है (यद्यपि अज्ञानोपहितचैतन्य साक्षी

संस्कारानुपपत्तिः, अज्ञानस्याज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितसाक्षिभास्यत्वेन वृत्तिनाशादेव संस्कारोपपत्तेः, अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात्। न च–जागरेऽप्यज्ञानस्य वृत्तिवेद्यत्वे वृत्त्यभावदशायां संशयाद्यापत्तिरिति–वाच्यम्, अज्ञानविषयाज्ञानाभावेन तदयोगात्, संशयादेस्तत्कारणीभूताज्ञानसमानविषयत्वनियमात्। भावत्वादिना संशयेत्विष्टापत्तिरेव, भावत्वादेः साक्षिवेद्यत्वाभावेनाज्ञानविषयत्वाद्, अज्ञानस्य स्वरूपेणैव साक्षिवेद्यत्वात्।

ननु–तदा ज्ञानाभावोऽपि स्वरूपेणैव भासताम्, सप्रतियोगिकत्वेनाभावज्ञान एव प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वाद्, अन्यथा 'प्रमेयम्'इति ज्ञानेऽप्यभावो न भासेतेति–चेन्न, साक्षिणा तावन्न स्वरूपेणाभावावगाहनम्, तस्य साक्षात्साक्ष्यवेद्यत्वात्। नापि शब्दादिना, तदानीं तेषामभावात्। नाप्यनुपलब्ध्या, तस्याः प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षाया अजनकत्वात्। न च–दृष्टाभावान्तरविलक्षणस्वभाव एवायमभाव इति स्वरूपेण साक्षिवेद्योऽस्त्विति–वाच्यम्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है, तो भी यावत्साक्षिभास्य हैं, वे सब तत्तदाकार अविद्यावृत्ति के बिना शुद्ध साक्षिचैतन्य के भास्य नहीं होते। अतः यहां पर तत्तदाकार अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित साक्षिचैतन्य को साक्षी कहा गया है। उसके द्वारा ही अविद्यादि सब भास्य है)।

शंका – तब तो, जागृतावस्था में भी अज्ञान तदाकार अज्ञानवृत्ति से वेद्य होने के कारण, उस वृत्ति की अभावदशा में अज्ञानविषयकसंशयादि की आपत्ति होगी।

समाधान – ऐसा भी न कहो, कारण कि अज्ञानविषयक अज्ञान (आवरक अज्ञान) का अभाव होने से संशयादि नहीं हो सकते, कारण कि संशयादि और उनके कारणीभूत अज्ञान का एक ही विषय होना नियम है और भावत्व, अनादित्वादि से अज्ञान के संशयादि की तो इष्टापत्ति है; कारण कि भावत्वादि साक्षिभास्य न होने से अज्ञान का विषय है। (भाव यह है कि अज्ञान भाव है या नहीं, अज्ञान अनादि है या नहीं– इत्यादि संशय में संशय का विषय भावत्वादि है, अज्ञान नहीं; और भावत्वादि प्रमाणवृत्तिवेद्य है, अविद्यावृत्तिवेद्य नहीं), और अज्ञान तो स्वरूप से ही साक्षिवेद्य है।

शंका– तब तो ज्ञानाभाव भी स्वरूप से ही साक्षिवेद्य होकर भासित हो (इस प्रकार सुषुप्ति में भी ज्ञानाभाव ही साक्षिभास्य हो जायेगा) कारण कि साक्षिवेद्य होकर सप्रतियोगिक अभावज्ञान में प्रतियोगिज्ञान हेतु है, यदि अभावज्ञान मात्र में प्रतियोगिज्ञान हेतु मान लिया जाये तो ''प्रमेय'' इस ज्ञान में अभाव का मान नहीं होना चाहिये (प्रमेयत्व केवलान्वयी होने से भाव और अभाव यावद्वस्तु प्रमेय शब्दवाच्य है, इस प्रकार अभाव साक्षिवेद्य सिद्ध हो जाये तो ''न किञ्चिदवेदिषम्'' आदि से ज्ञानाभाव सिद्ध होगा)।

समाधान– ऐसा नहीं होगा; क्योंकि साक्षी के द्वारा स्वरूप से अभाव का ग्रहण नहीं होता, कारण कि अभाव साक्षात् साक्षिवेद्य नहीं; और शब्दादि से भी अभाव का ग्रहण नहीं, क्योंकि उस समय (सुषुप्तिकाल में) शब्दादि का अभाव होता है, और अनुपलब्धि के द्वारा भी उस समय अभाव का ग्रहण नहीं होता; क्योंकि प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्ष अनुपलब्धि अभाव की जनक नहीं होती (अन्यथा उससे ''न'' इतने के ज्ञान होने की आपत्ति आयेगी; यह तो लोक में होता नहीं; अप्रसिद्ध है)।

शंका– लोक में प्रसिद्ध दृष्ट अभाव से विलक्षण यह सुषुप्तिकालीन अभाव है, अतः स्वरूप से ही वह साक्षिवेद्य हो।

निर्विकल्पकबुद्धिवेद्यत्वे भावत्वस्यैवौचित्याद्, अन्यथा परिभाषामात्रापत्तेः। ननु ज्ञानविरोधि-त्वादेस्तदाननुभवेन 'नावेदिषम्'इति तेनाकारेण कथं परामर्शः? न, द्रष्टुर्हन्तः— करण-तादात्म्येनाहमुल्लेखस्येव ज्ञानविरोधित्वादेरपि तदैवानुभूयमानत्वेन तदंशे न। परामर्शत्वान-भ्युपगमात्, सुषुप्तिकालीनस्य द्रष्टुरेव परामर्ष्टृत्वात्।

नन्वज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपस्याज्ञानानुभवस्य जाग्रत्यपि विद्यमानत्वात् कथम-ज्ञानस्मरणम्? न हि धारावाहिकेषु अनुभवेषु तुल्यसामग्रीकेषु स्मरणव्यवहारः, तथा च धारावाहिकोऽज्ञानानुभव इति वक्तव्यम्, न तु परामर्श इति, सत्यम्, सुषुप्त्याख्याया-स्तामस्या अज्ञानवृत्तेर्नाशे जाग्रति तद्विशिष्टाज्ञानस्य साक्षिणाऽनुभूयमानत्वाभावेन संस्कारजन्याविद्यावृत्त्यैव सुषुप्तिविशिष्टाज्ञानभानात् परामर्शत्वोपपत्तेः, केवलाज्ञानांशे तु तुल्यसामग्रीकत्वाद्धारावाहिकत्वमेव, अतएव कार्योपाधिविनाशसंस्कृतमज्ञानमात्रमेव प्रलयोपमं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि निर्विकल्पकबुद्धिवेद्यत्व भावपदार्थों का ही होना उचित है। अन्यथा यह पारिभाषिकमात्र हो जायेगा (अर्थात् सुषुप्तिकाल में अनुभूत भाव को अभावनाम से कहना मात्र हो जायेगा)।

शंका — तब तो सुषुप्तिकाल में ज्ञानविरोधित्वादि रूप से अज्ञान का अनुभव न होने के कारण सुप्तोत्थित पुरुष का "नाहमवेदिषम्" इस प्रकार ज्ञानविरोधित्वादि रूप से उस अज्ञान का परामर्श (स्मरण) कैसे होगा (अर्थात् सुषुप्तिकालीन अज्ञानानुभव भी निर्विकल्पक ज्ञान ही है, और वह संस्कार का जनक भी नहीं होता; अतः उसका विषय सविकल्पकज्ञान के विषयत्वेन स्मृति से ग्राह्य कैसे हो सकता है)?

समाधान— नहीं, "नाहं किञ्चिदवेदिषम्" यह सम्पूर्ण ज्ञान स्मृति मात्र नहीं, द्रष्टा का जाग्रदवस्था में अन्तःकरण के साथ तादात्म्य होने से जिस प्रकार अहमुल्लेख होता है, उसी प्रकार ज्ञानविरोधित्वादि उसी समय (जाग्रत्समय) में अनुभूयमान होने से उस अंश में परामर्शत्व का अभ्युपगम नहीं होता (सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण स्वकारण अविद्या में विलीन होने के कारण द्रष्टा साक्षिचैतन्य को अहंकार का अभिमान नहीं होता और वही उस समय अज्ञान का अनुभव करने वाला है। जाग्रत्काल में स्वकारण से अन्तःकरण उदित हो जाने पर उसके साथ वही सुषुप्तिद्रष्टा साक्षिचैतन्य तादात्म्य प्राप्त करके अपने को अहंरूप से अनुभव करता है। अतः अहंकार और ज्ञानविरोधित्वादि तत्काल में ही अनुभूयमान है, स्मृति का विषय नहीं, स्मृति का विषय तो केवल अज्ञान है); और सुषुप्तिकालीन द्रष्टा ही परामर्श का विषय है, जाग्रद्द्रष्टा नहीं।

शंका —अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बित साक्षिरूपचैतन्य अज्ञानानुभव जाग्रद्दशा में भी विद्यमान होने से अज्ञान का स्मरण किस प्रकार होगा? तुल्यसामग्रीक धारावाहिक अनुभवों में स्मरण का व्यवहार नहीं होता। तब तो यहां भी धारावाहिक अज्ञानानुभव ही कहना चाहिये, न कि परामर्श।

समाधान— ठीक है, तो भी सुषुप्त्याख्य तामसी अज्ञानवृत्ति का नाश हो जाने पर जाग्रदवस्था में उस अज्ञानवृत्ति से विशिष्ट अज्ञान साक्षी से अनुभूयमान न होने से संस्कारजन्य अविद्यावृत्ति से ही सुषुप्तिविशिष्ट अज्ञान का भान होने के कारण उसमें परामर्शत्व हो सकता है। और केवल अज्ञानांश में तो तुल्यसामग्रीकत्व होने से धारावाहिकत्व ही है। इस प्रकार केवल अज्ञानांश में धारावाहिक अनुभव होने के कारण कार्योपाधिभूत अन्तःकरण के विनाश से संस्कृत (अर्थात् अन्तःकरण की विनाशरूप सूक्ष्मावस्था से युक्त) अज्ञानमात्र ही प्रलयकाल की अवस्था

सुषुप्तिरित्यभिप्रेत्य वार्तिककारपादैः सौषुप्ताज्ञानस्मरणमपाकृतम्। तथा चोक्तम्—

न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः।
कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक्॥
न भूतकालस्पृक्प्रत्यङ्ङ न चागामिस्पृगीक्ष्यते।
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः॥

इत्याद्यव्याकृतप्रक्रियायाम्। विवरणकारैस्तु—'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रे'ति योगसूत्रानुसारेण तमोगुणात्मकावरणमात्रालम्बना काचिद्वृत्तिः सुषुप्तिरित्यभिप्रेत्य तदुपरक्तचैतन्यस्य तन्नाशेनैव नाशात्तत्कालीनाज्ञानानुभवजनितसंस्कारवशेन 'न किंचिद्वेदिष'मिति 'स्मरणमभ्युपेत'मिति वार्तिकविवरणयोरपि अविरोधः। अत एवोक्तं वार्तिककारैरुषस्तिब्राह्मणे—

न चेदनुभवव्याप्तिः सुषुप्तस्याभ्युपेयते।
नावेदिषं सुषुप्तोऽहमिति धीः किंबलाद्भवेत्॥ इत्यादि।

अभिप्रायस्तु वर्णित एव। एवञ्च साक्ष्यज्ञानसुखाकारास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः सुषुप्त्याख्यैकैव

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के सदृश होकर सुषुप्ति है— ऐसा मानकर बृहदारण्यकभाष्यवार्तिककार सुरेश्वराचार्य जी ने सौषुप्त अज्ञान के स्मरण का निषेध किया है। उन्होंने "सुषुप्तिकाल में अविद्यावृत्ति के द्वारा होने वाला कोई जन्यज्ञानरूप अनुभव नहीं है; अतः सुप्तोत्थित पुरुष को "नाज्ञासिषम्" यह स्मृति नहीं हो सकती। कारण कि सुषुप्ति और जाग्रत दोनों कालों में संस्कारकाल के द्वारा व्यवधान न होने से आत्मस्थ अज्ञान अतीतभाक् नहीं है, अर्थात् वर्तमान जाग्रदवस्था में भी वह है (सुषुप्तिकाल मे अविद्यावृत्ति न होने से अज्ञान उस समय था, किन्तु इस जाग्रत्काल में नहीं, ऐसा नही, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञानपर्यन्त स्थायी रहता है)। कारण कि अज्ञानोपहित साक्षिचैतन्य भूतकालिकविषयक और आगामी विषयक नहीं होता। अतः "नावेदिषम्" इस ज्ञान को सविकल्पक ही समझना चाहिये। और " नावेदिषम्" इस ज्ञान का जो अपने विषयक अज्ञान है, उस अज्ञानदेश (अज्ञानरूप अधिकरण) में स्थित परार्थ और अज्ञानभिन्न ज्ञानविरोधित्वादि ही उसका विषय है" ऐसा "तद्धेद तर्हि अव्याकृतमासीत्" (वृ.१/४/१) इस अव्याकृतप्रक्रिया के व्याख्या प्रसङ्ग मे कहा है। और विवरणकार आचार्य ने तो—"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा" (यो.द. १/१०) इस योगसूत्र के अनुसार तमोगुणात्मक आवरणमात्र को विषय करने वाली सत्त्वगुणात्मिका सुषुप्तिवृत्ति को निद्रा मानकर उस वृत्ति में उपरक्त चैतन्य का भी उस वृत्ति के नाश से नाश होने के कारण सुषुप्तिकालीन अज्ञानानुभवजनित संस्कारवश "नकिञ्चिदवेदिषम्" इस ज्ञान को स्मरण माना है, किन्तु दोनों में कोई विरोध नहीं (कारण कि अव्याकृत प्रक्रिया मे सुषुप्ति को प्रलयोपम सिद्ध करने के लिये ही वहां पर अविद्यावृत्ति का निषेध किया गया है। और जहां साधारण सुषुप्ति का वर्णन होता है, वहां तो वार्तिककार भी सुषुप्ति में अविद्यावृत्ति को मानते हैं)। क्योंकि वार्त्तिककार ने भी उषस्तिब्राह्मण के भाष्यवार्तिक में—सुप्तपुरुष की यदि अज्ञानविषयकनिद्रावृत्ति नहीं होती तो किसके बल से सुप्तोत्थ उस पुरुष की "सुप्तोऽहं नावेदिषम्" यह स्मृति हो सकती है?" ऐसा भी कहा है। इसलिये विवरणकार का जो अभिप्राय है,वही अभिप्राय वार्त्तिककार ने भी "नचेदनुभवव्याप्तिः" इत्यादि से वर्णित किया है। इस प्रकार सुषुप्तावस्था में साक्ष्याकार, अज्ञानाकार और सुखाकार अविद्या की तीन वृत्तियां, अथवा सुषुप्त्याख्या एक ही वृत्ति मानी जाती

वा वृत्तिरित्यन्यदेतत्। निर्विकल्पकस्यापि स्मरणजनकत्वम्। अहंकारोपरागकालीनत्वाभावेन तत्तानुल्लेख इत्यादि सर्वमुपपादितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ। तस्मात् सौषुप्तानुभवोऽपि भावरूपाज्ञानविषय इति सिद्धम्।।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानप्रत्यक्षोपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

है– यह बात तो दूसरी है। और निर्विकल्पक ज्ञान भी स्मृति का जनक होता है। अहंकार के साथ संबन्ध अभावकाल होने के कारण तत्ता का उल्लेख मात्र वहां नहीं होता– ये सब सिद्धान्तबिन्दु में प्रतिपादित हो चुका है। (यहां लघुचन्द्रिकाकार कहते हैं–" मणिकार भी आकाशादिपद से शुद्धाकाशविषयक अनुभव होकर उससे शुद्धाकाश की स्मृति होती है– ऐसा मानते हैं। अतः सविकल्पकानुभव के समान निर्विकल्पकानुभव भी स्मृतिजनक होने में कोई बाधक नहीं)। इसलिये सौषुप्त अनुभव भी भावरूपाज्ञान विषयक सिद्ध है।

इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानप्रत्यक्षोपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।

४२ : अथाऽज्ञानवादेऽनुमानोपपत्तिः

अनुमानमपि तत्र विवरणोक्तं प्रमाणम्—विवादपदं प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभाव—व्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वाद्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति। अत्र प्रमाणपदं प्रमाणवृत्तेरेव पक्षत्वेन सुखादिप्रमायां साक्षिचैतन्यरूपायामज्ञानानिवर्तिकायां बाधवारणाय। धर्म्यंशप्रमाणवृत्तेरिदमित्याकाराया अज्ञानानिवर्तिकायाः पक्षबहिर्भावाय विवादपदमिति विशेषणम्। विशेषाकारप्रमाणवृत्तिरिति फलितोऽर्थः। परोक्षप्रमाया अप्यसत्त्वावरणरूपप्रमातृगताज्ञाननिवर्तकत्वात् न तदंशेऽपि बाधः।

नन्विदमिति प्रमाणवृत्तेरज्ञानानिवर्तकत्वे अज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रमात्वेन व्यवहारो न स्यात्, न; इदमाकारभ्रमसंशयादर्शनेन तद्गोचराज्ञानकल्पने मानाभावेन तत्र सुखादिज्ञान—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भावरूप अज्ञान में विवरणोक्त अनुमान भी प्रमाण है। तथाहि—"विवादास्पद प्रमाणज्ञान—स्वप्रागभाव के अतिरिक्त, स्वविषयावरण, स्वनिवर्त्य और स्वदेशगत वस्त्वन्तरपूर्वक है क्योंकि वह अप्रकाशितार्थप्रकाशक होता है, जैसे अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीप प्रभा" (इस अनुमान में साध्य और हेतु का पदकृत्य—अनुलोम रूप से इस प्रकार है)—प्रमाणज्ञान स्वप्रागभावाति—रिक्त पूर्वक है— इतना ही साध्य किया जाये तो स्वविषय में अर्थान्तरता होती है, उस के निवारण के लिये स्वविषयावरण विशेषण है, तो भी स्वविषयावरक अन्धकार में अर्थान्तरता है, इसलिये स्वनिवर्त्य विशेषण है, और स्वविषयाऽज्ञातता के निवारण के लिये स्वदेशगत विशेषण है, तथा मिथ्याज्ञान (भ्रमज्ञान) व्यावृत्त्यर्थ वस्त्वन्तर विशेषण है, यहां स्वपद से साध्य प्रमाणज्ञान और दृष्टान्त में प्रदीप प्रभा का ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार प्रतिलोम में भी वस्तुपूर्वक इतना साध्य करेंगे तो मिथ्याज्ञान में सिद्धसाधनता है, उसकी व्यावृत्त्यर्थ वस्त्वन्तरपूर्वक ऐसा कहा है; चक्षुरादिकरणव्यावृत्त्यर्थ स्वदेशगत विशेषण है, इसी प्रकार स्वनिवर्त्य से अदृष्टादि का निवारण है, और उत्तरज्ञाननिवर्त्य पूर्वज्ञानव्यावृत्त्यर्थ स्वविषयावरण विशेषण है तथा प्रागभावव्यावृत्यर्थ स्वप्रागभावव्यतिरिक्त विशेषण है। इसी प्रकार हेतु में भी प्रकाशकत्वमात्र कहने पर धारावाहिक बुद्धि में व्यभिचार होता है, उसके निवारणार्थ अप्रकाशित पद है और "अर्थ" शब्द स्पष्ट करने के लिये है। दृष्टान्त में मध्यवर्ति प्रदीपप्रभा में साध्यसाधन में वैधुर्यनिवारण के लिये प्रथमोत्पन्न विशेषण है और सूर्यप्रकाशस्थ प्रदीप प्रभाव्यावृत्त्यर्थ अन्धकार पद है। इस प्रकार इस अनुमान से भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है तथा उस अज्ञान का ज्ञान के साथ समानाश्रयविषयत्व भी सिद्ध होता है। इस अनुमान में प्रमाणवृत्तिरूप ज्ञान को पक्ष करने के कारण प्रमाणपद अज्ञानानिवर्तक साक्षिचैतन्यरूप सुखादि प्रमाज्ञान में बांधनिवारणार्थ है; और अज्ञानानिवर्तक इदमाकार धर्म्यंश प्रमाणवृत्ति को पक्ष से अलग करने के लिये "विवादपद" विशेषण है। विशेषाकार प्रमाणवृत्ति ही यहां पर पक्ष है, यह फलितार्थ है और परोक्ष प्रमाज्ञान भी असत्त्वावरणरूप प्रमातृगत अज्ञान का निवारक होने से उस अंश में भी बाध नहीं होता।

शंका— "इदम्" इस प्रकार धर्म्यंश में प्रमाणवृत्ति यदि अज्ञान की निवर्तक नहीं है तो उसमें अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रमात्व का व्यवहार नहीं होना चाहिये।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि इदमाकार रूप से भ्रमसंशय देखने में नहीं आते; अतः इदमंशविषयक अज्ञान की कल्पना में प्रमाणाभाव से उसमें सुखादिज्ञान के समान यथार्थत्वमात्र

वद्यथार्थत्वमात्रेण प्रमात्वव्यवहारोपपत्तेः। यथाहुः—'धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' इति। यदि तु भ्रमसंशयाजनकमपि तदाकारज्ञानमनुभवबलादास्थीयेत, तर्हि सापि पक्षेऽन्तर्भवतु, प्रमाणवृत्तित्वावच्छेदेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वानपायात्, तदा च विवादपदमिति विशेषणमनादेयम्। एतस्मिन् पक्षे भ्रमोपादानत्वयोग्यत्वमविद्यालक्षणं द्रष्टव्यम्, भ्रमोपादानत्वस्य धर्म्यंशज्ञान–निवर्त्याज्ञानेऽव्याप्तेरित्यवधेयम्।

धारावाहिकबुद्धीनां च तत्तत्कालावच्छिन्नार्थविषयत्वेनाज्ञातज्ञापकत्वमस्त्येव; कालस्य सर्वप्रमाणवेद्यत्वाभ्युपगमात्। अनात्माकारप्रमाणवृत्तीनां च तत्तदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेन स्वविषयावरणनिवर्तकत्वमस्त्येव, चित्त्वेनैव प्रकाशप्रसक्तेः, न त्वनवच्छिन्नचित्त्वेन, गौरवात्, 'एतावन्तं कालं मया न ज्ञातोऽयमिदानीं ज्ञातः' इत्यनुभावच्च। रूपादिहीनस्यापि तत्तदव–च्छिन्नचैतन्यस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वमुक्तं प्राक्। प्रतिकर्मव्यवस्थामभ्युपगम्य चेदमनुमानम्, न तु दृष्टिसृष्टिपक्ष इति ध्येयम्। साध्ये चाद्यं विशेषणं' प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिवृत्तिरिति मते प्रागभावेनार्थान्तरवारणाय। तदुदीच्यध्वंसादिकमादाय नार्थान्तरप्रसक्तिः, किंतु

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

से प्रमात्व का व्यवहार हो सकताहै। इसलिये कहा भी है—''धर्म्यंश में सब ज्ञान अभ्रान्त हैं, प्रकार (विशेषण) मात्र में विपर्यय है'' इति। और यदि भ्रम और संशय के अजनक इदमाकार अज्ञान को भी ''इदं न जानामि'' इस अनुभव के बल से मानते हो तो इदमाकारवृत्ति भी पक्ष के अंतर्गत ही हो जाये, क्योंकि प्रमाणवृत्तित्वाच्छेदक से ही अज्ञान के निवर्तकत्व की हानि नहीं होती। तब तो पक्ष में ''विवादपदम्'' यह विशेषण नहीं देना चाहिये। इस पक्ष मे ''भ्रमोपादानत्वयोग्यत्व'' ही अविद्या का लक्षण समझना चाहिये। क्योंकि भ्रमोपादानत्वमात्र लक्षण किया जाये तो धर्म्यंश ज्ञान से निवर्त्य अज्ञान में अव्याप्ति होती है— ऐसा समझना चाहिये।

धारावहिक बुद्धियों का भी तत्तत्क्षणकालविशिष्टार्थविषयकत्व होने से अज्ञातज्ञापकत्व होता ही है, क्योंकि काल सर्वप्रमाणवेद्य माना जाता है। अनात्म घट पटाद्याकार प्रमाणवृत्तियों का तत्तदनात्मवस्त्ववच्छिन्नचैतन्यविषयकत्व होने से स्वविषयचैतन्यनिष्ठावरणनिवर्तकत्व है ही, क्योंकि प्रमाणवृत्ति में भी चित्वरूप से घटादि का प्रकाशकत्व हो सकता है, और अनवच्छिन्नचित्त्वरूप से होता है।'' इतने समय तक मैंने यह नहीं जाना, अब जाना'' इस अनुभव से यह बात सिद्ध है। रूपादिविहीन होता हुआ भी तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्य प्रत्यक्ष का विषय होता है— यह बात पहले कह चुके हैं (परिच्छिन्नत्व हेतूपपत्ति प्रकरण के अन्तिम भाग में)। और यह अनुमान प्रतिकर्मव्यवस्था को मानकर किया गया है, न कि दृष्टिसृष्टि पक्ष को लेकर—ऐसा समझना चाहिये, (क्योंकि दृष्टिसृष्टि पक्ष में प्रतिभासकालमात्रस्थायित्व प्रातिभासिक पदार्थों का होने से अनुमान में साध्यघटित विशेषणों का समन्वय अज्ञान में नहीं हो सकता)। और इस अनुमान के साध्य में आद्य विशेषण (स्वप्रागभावव्यतिरिक्तत्व) से प्रतियोगी के अतिरिक्त प्रागभावनिवृत्ति होती है— इस मत में प्रागभाव के द्वारा अर्थान्तर होने के कारण उसके निवारणार्थ स्वप्रागभावव्यतिरिक्तत्व है (उत्पन्न घट से उसके प्रागभाव का नाश अनुभव होने से घटजन्य तत्प्रागभावनाश होता, इसी प्रकार प्रकृत में उत्पन्न ज्ञान से उसके प्रागभाव का नाश अनुभव होने से ज्ञानजन्य तत्प्रागभावनाश है— इस मत में उक्तार्थन्तरनिवारणार्थ स्वप्रागभावव्यतिरिक्तत्व विशेषण है। प्रतियोगी ही प्रागभावनाश है। इस मत में तो ज्ञान ही अज्ञाननिवृत्ति होने से उसके अनुसार साध्य होगा, उक्त प्रकार से साध्य नहीं होगा)। इसलिये

पूर्ववृत्त्यभावमादायेति वस्तुगतिमनुरुध्य प्राक्पदम्। अवैयर्थ्यं च प्रतियोगिविशेषणत्वेनाखण्डाभावसंपादकतया। एतेन—यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति नियमस्तस्मात् स्वनिवर्त्यपदेनैव प्रागभावव्युदासे किमाद्यविशेषणेनेति—निरस्तम्; प्रमात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्येषां नेत्यत्र तात्पर्यात्। न च स्वविषयावरणपदेनैव तद्व्युदासः, 'अस्ति प्रकाशत' इति व्यवहारविरोधित्वरूपस्यावरणत्वस्य भावाभावसाधारणत्वात्। वृत्तिजनकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय तु विशेषणमिदम्। न चावरणपदेनैव तद्व्युदासे स्वविषयेति व्यर्थम्, यददृष्टं स्वविषयज्ञानजनकं विषयान्तरज्ञानप्रतिबन्धकतया तदावरकं तादृशादृष्टपूर्वकत्वेनार्थान्तरवारकत्वात्।

न च जड़े अज्ञानस्यानङ्गीकाराच्चितश्चाज्ञानादिसाक्षितया भासमानत्वात् क्वावरणमिति—वाच्यम्, अज्ञानादिसाक्षितया चितः प्रकाशमानत्वेऽपि 'अस्ति प्रकाशत' इति व्यवहाराभावेन तदंशेऽज्ञानावरणस्यावश्यकत्वात्। वक्ष्यते चैतत्। स्वनिवर्त्येति च विशेषणं वृत्तिप्रतिबन्धकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय। न च—चरमसाक्षात्कारोत्पत्तिप्रतिबन्धकादृष्टस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ज्ञानोत्तरकालीन ध्वंसादि को लेकर अर्थान्तर की प्रसक्ति नहीं होती, किन्तु पूर्ववृत्ति अभाव को लेकर है, अत: वस्तुस्थिति के अनुसार पहला विशेषण है। यह विशेषण व्यर्थ भी नहीं, क्योंकि प्रतियोगी के विशेषणरूप से प्रागभावत्व अखण्डोपाधि है, उसमें अभावत्व का निवेश नहीं। वक्ष्यमाण हेतु से—क्योंकि ''ज्ञान अज्ञान का निवर्त्तक है'' यह नियम है, इसलिये ''स्वनिवर्त्य'' विशेषण से ही प्रागभाव का निराकरण सम्भव होने पर आद्यविशेषण से क्या लाभ'' ऐसा कथन निरस्त हुआ; क्योंकि प्रमात्वेन ज्ञान का अज्ञाननिवर्तकत्व है, अन्य ज्ञानों का नहीं है, इसमें ही उस नियम का तात्पर्य है। (तब तो प्रतियोगित्वेन ज्ञान का प्रागभावनिवर्तकत्व हो सकता है)। इसी प्रकार स्वविषयावरण विशेषण से स्वप्रागभाव का निवारण भी नहीं होगा, क्योकि ''अस्ति—प्रकाशते'' ऐसे व्यवहार का विरोधित्वरूप आवरणत्व भाव और अभाव में साधारण है। और प्रमाणवृत्ति के जनक अदृष्ट से अर्थान्तर होने के कारण उसके निवारणार्थ स्वविषयावरण विशेषण है। इसमें भी आवरण पद से ही अदृष्ट का व्युदास संभव होने पर ''स्वविषय'' देना व्यर्थ है— ऐसा भी नहीं होगा, क्योंकि जो स्वविषय (आत्मस्वरूप) ज्ञानजनक अदृष्ट है, वह विषयान्तर ज्ञान के प्रतिबन्धक होने से आवरक होता है; अत: विषयान्तरज्ञानावरक रूप से उपस्थित अदृष्ट से होने वाले अर्थान्तर के निवारणार्थ ''स्वविषय'' आवरण का विशेषण है।

शंका — जड में अज्ञान अङ्गीकार न होने से (जडाश्रित अज्ञान न होने के कारण उसमें अज्ञान का आवरण असंभव होने से), और चित् भी अज्ञानादिसाक्षिरूप से भासमान होने से आवरण किसमें होगा?

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि अज्ञानादिसादिरूप से चित् भासमान होने पर ''अस्ति प्रकाशते'' इस व्यवहार का जडावच्छिन्न; उसमें अभाव होने के कारण उस अंश में (जडावच्छिन्न चिदंश में) अज्ञान का आवरण आवश्यक है। यह बात आगे कही जायेगी। और स्वनिवर्त्य यह विशेषण चरमवृत्ति के प्रतिबन्धकदृष्ट से होने वाले अर्थान्तर के निवारणार्थ है।

शंका — तब तो चरम साक्षात्कारोत्पत्ति के प्रतिबन्धक अदृष्ट के उस साक्षात्कार से

तदनिवर्त्यत्वे मिथ्यात्वासिद्धिः, तन्निवर्त्यत्वे तद्व्युदसनमशक्यमिति—वाच्यम्, प्रतिबन्धकादृष्टे विद्यमाने न ज्ञानोत्पत्तिरिति प्रथमं तन्निवृत्तेः कारणत्मना स्थितस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च मिथ्यात्वम्। न चैवमपि स्वनिवर्त्यत्वमव्याहतम्, स्वनिवर्त्यस्वरूपत्वे तात्पर्यात्। अन्धकारेणार्थान्तरवारणार्थमिदमिति—केचित्, तन्न, स्वदेशगतेत्यनेनैव तद्व्युदासात्। यथा च वृत्तिप्रतिबिम्बतचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्येन सहैकलोलीभावादज्ञाननिवर्तकत्वं, तथोक्तं प्राक्। स्वदेशगतेति च विशेषणं विषयगताज्ञातत्वेनार्थान्तरवाणाय। यद्यप्यविद्याविषयत्वरूपज्ञातत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वाभावरूपं तु प्रथमविशेषणेनैव परास्तम्, तथापि प्रथमेन प्रागभावव्युदासादत्यन्ताभावव्युदासाय चतुर्थमिति द्रष्टव्यम्।

ननु—कथं ज्ञानाश्रयगतत्वमज्ञानस्य? वृत्त्यादिरूपस्य ज्ञानस्याज्ञानाश्रयचिदनाश्रितत्वादिति चेन्न; अन्तःकरणस्य चिदाश्रितत्वेन तद्वृत्तेस्तत्प्रतिफलितचैतन्यस्य वा ज्ञानस्य

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अनिवर्त्यत्व होने पर मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होगी, उससे निवर्त्यत्व होने पर उसकी व्यावृत्ति करना असम्भव है।

समाधान— ऐसा भी न कहो; क्योंकि प्रतिबन्धक अदृष्ट के वर्तमान होते हुए ज्ञान की उत्पत्ति असम्भव होने के कारण ज्ञानोत्पत्ति से पहले उसकी निवृत्ति हो जाती है; और कारणरूप से स्थित सूक्ष्मादृष्ट का ज्ञाननिवर्त्यत्व होने से मिथ्यात्व भी सिद्ध है।

शंका — ऐसा होने पर भी स्वनिवर्त्यत्व अव्याहत है, क्योंकि चरमवृत्ति प्रतिबन्धक अदृष्ट को भी तुमने अन्ततः उसका निवर्त्य ही मान लिया।

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि स्वरूप से स्वनिवर्त्य में स्वनिवर्त्यत्व विशेषण का तात्पर्य है (अतः चरमवृत्ति प्रतिबन्धक अदृष्ट साक्षात्कार से स्वरूप से निवृर्त्य नहीं; किन्तु कारणरूप से निवर्त्य है; अतः अर्थान्तरता नहीं है)। इसमें कोई कहते हैं कि अन्धकार को लेकर होने वाले अर्थान्तर के निवारणार्थ यह विशेषण है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि स्वदेशगत इस विशेषण से ही वह निवारित हो जाता है। और जिस प्रकार से वृतिप्रतिबिम्बित चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ ऐकतापन्न होकर अज्ञाननिवर्त्तकत्व हो सकता है; वह प्रकार पहले ही कह चुके हैं (विषयावच्छिन्नचिद्गत अज्ञान भी प्रमाश्रयचित् में ही आश्रित है— यह भाव है)। स्वदेशगत यह विशेषण विषयगत अज्ञातत्व से होने वाले अर्थान्तर के निवारणार्थ है। यद्यपि अविद्याविषयकत्वरूप अज्ञातत्व असिद्ध है अर्थात् विषय में अवृत्ति है, और ज्ञातत्वाभावरूप अज्ञातत्व तो प्रथम विशेषण स्वप्रागभावव्यतिरिक्तत्व से निराकृत है; तथापि प्रथम विशेषण से प्रागभाव का निराकरण होने से (सामयिकात्यन्ताभाव के प्रतियोगिनाश्यत्व के मत में) ज्ञातत्वात्यन्ताभाव के निराकरण के लिये यह चतुर्थ विशेषण स्वदेशगतत्व है— ऐसा समझना चाहिये।

शंका — अज्ञान का ज्ञानाश्रयगतत्व कैसा? क्योंकि वृत्त्यादि रूप ज्ञान अज्ञानाश्रयचित् में अनाश्रित होता है (कारण कि शुद्ध या अज्ञानोपहित चित् ही अज्ञानाश्रय है, और वह चित् तो वृत्त्यादि रूप ज्ञान का अनाश्रय ही होता है)।

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि अन्तःकरण चित् में आश्रित होने से (अर्थात् अज्ञानोपहितचित् में अनाश्रित होने से) अन्तःकरण की वृत्ति या तद्वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान का चिदाश्रिततत्व सम्भव है (अर्थात् अज्ञानोपहित चित् ही ज्ञान और अज्ञान दोनों का आश्रय है); क्योंकि

चिदाश्रितत्वसंभवात्, किंचिदवच्छिन्नतदाश्रितस्यापि तदाश्रितत्वानपायात्, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशाश्रितस्य शब्दस्याकाशाश्रितत्ववत्। एवं च भावाभावसाधारणमावरणमिति मतेन साध्यमुपपादितम्। अभावो नावारक इति सिद्धान्ते तु साध्यद्वये तात्पर्यम्। स्वप्रागभावातिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमित्येकम्। स्वविषयावरण (स्वनिवर्त्यस्वदेशगत—वस्त्वन्तर) पूर्वकमित्यपरमिति न किंचिदसमंजसम्। हेतौ च प्रकाशकत्वं प्रकाशकपदवाच्यत्वं, अप्रकाशविरोधित्वे वा ज्ञानालोकयोः साधारणम्। यद्यपि प्रकाशकपदवाच्यत्वं नामकरणवशात् कस्मिंश्चित् पुरुषेऽप्यस्तिः; तथापि प्रकाशकशब्देन शास्त्रे सर्वदेशकालयोर्वा व्यवह्रियमाणत्वं तद्विवक्षितम्। अथवास्तु साधारणम्। अप्रकाशितार्थगोचरेति विशेषणाद् व्यभिचारव्युदासः। अप्रकाशितत्वं च 'न प्रकाशत' इति व्यवहारगोचरत्वम्, तच्च स्वप्रकाशचैतन्येऽप्यस्तीत्युपपादितम्। एवं निरुक्ताप्रकाशविरोधित्वमपि ज्ञानालोकयोः प्रत्यक्षसिद्धम्। उक्तं च विवरणे— 'ज्ञानप्रकाश्यत्वादज्ञानविरोधित्वादन्यदेव आलोकप्रकाश्यत्वं तमोविरोधित्वं नामेति। अत उभयोरेव साक्षादप्रकाशविरोधित्वसंभवान्नेन्द्रियसन्निकर्षादौ

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

किञ्चिदवच्छिन्नतदाश्रित का तदाश्रितत्व में कोई दोष नहीं (अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में आश्रित अज्ञान का चैतन्य में आश्रितत्व होने में हानि नहीं। जैसे कि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश में आश्रित शब्द का आकाशाश्रितत्व होता है। इस प्रकार भाव और अभाव में साधारण आवरण (''अस्ति—प्रकाशते'' इस व्यवहार का प्रतिबन्धकरूप आवरण) है— ऐसे मानने वालों के मत में साध्य का स्वरूप प्रतिपादित हुआ। अभाव आवरण नहीं होता (उक्त व्यवहार का प्रतिबन्धक नहीं होता) ऐसा मानने वाले हमारे सिद्धान्त में तो साध्यद्वय में तात्पर्य है। उनमें— स्वप्रागभावातिरिक्त स्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकत्व यह एक साध्य है। और स्वविषयावरण— स्वनिवर्त्य स्वदेशगत वस्त्वन्तरपूर्वकत्व दूसरा साध्य है, इस प्रकार कुछ भी असमञ्जस नहीं है। और हेतु में प्रकाशकत्व का अर्थ है— प्रकाशकपदवाच्यत्व या अप्रकाशविरोधित्व; ज्ञान और आलोक में साधारण है। यद्यपि किसी पुरुष में भी नामकरण के बाद प्रकाशकपद वाच्यत्व होता है, तथापि प्रकाशक शब्द से शास्त्र में सर्वदेश और सर्वकाल में व्यवह्रियमाण अर्थ जो ज्ञान और आलोक है, वहीं यहां विवक्षित है। अथवा प्रकाशक शब्द सर्वसाधारण ही हो, क्योंकि अप्रकाशितार्थगोचर इस विशेषण से व्यभिचार का निवारण हो जाता है। और अप्रकाशितत्व तो ''न प्रकाशते'' इस व्यवहारगोरचत्व (प्रयोजकत्व) ही है, वह तो स्वप्रकाश चैतन्य में भी है— यह बात प्रतिपादित हो चुकी है। (''न प्रकाशते'' ऐसा व्यवहार प्रकाश विरोध्याश्रयविषयक होता है, उसका प्रयोजकत्व ज्ञान में अज्ञाननाशद्वारक है, और आलोक में तमोनाशजन्य चाक्षुषद्वारक है। और प्रकाश विरोध्याश्रयत्व यद्यपि तम और अज्ञान से प्रयुक्त होकर आलोक और ज्ञान में ही है, तो भी दोनों के अवच्छेदक होने के कारण घटादि में '' न प्रकाशते'' ऐसा व्यवहार होता है— यह भाव है)। और निरूक्त अर्थात् ''न प्रकाशते'' इस व्यवहार का गोचर अप्रकाशविरोधित्व भी ज्ञान और आलोक में प्रत्यक्षसिद्ध है। विवरण में कहा भी है—'' ज्ञान प्रकाश्यत्व अर्थात् ज्ञानप्रयुक्तनाशवत्त्वरूप अज्ञानविरोधित्व अर्थात् अज्ञान के नाश्यत्वरूपविरोधित्व से आलोकनाश्यत्व अर्थात् आलोकप्रयुक्तनाशवत्त्वरूप तमोविरोधित्व अर्थात् तम के नाश्यत्व रूप विरोधित्व अन्य ही है। अतः इन दोनों का ही साक्षात् अप्रकाशविरोधित्व सम्भव होने से इन्द्रियसन्निकर्षादि में व्यभिचार नहीं होता। (इन्द्रियसन्निकर्षादि का तो परम्परा से अप्रकाशविरोधित्व है, साक्षात् नहीं)।

व्यभिचारः। एवं चाप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति प्रकाशशब्दवाच्यत्वाद् अप्रकाशविरोधि-प्रकाशत्वादिति वा हेतुः पर्यवसितः। विपर्ययविषयस्तु नाज्ञातः, विपर्ययान्यकालासत्त्वेन तस्यानिर्वचनीयस्य मानगोचरत्वाभावेन प्रकाशप्राक्कालसत्त्वघटिताप्रकाशितत्वासंभवाद्, अत एव स नाप्रकाशविरोधी, स्वविषये अप्रकाशाभावाद्, अधिष्ठानाप्रकाशस्तु तस्य जनक एव। स्मरणे च व्यभिचाराभावः स्पष्टः। अनुकूलतर्कश्च 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यादिरूपः प्रागुक्त एव। एतेन गोशब्दवाच्यत्वेन पृथिव्या अपि शृङ्गित्वानुमानापातोऽपास्तः, तत्रानुकूलतर्काभावात्। अज्ञानस्य स्वरूपेणाज्ञानाविषयत्वेऽपि तद्भावत्वादिकमज्ञानविषयो भवत्येव, तस्याज्ञानग्राहकसाक्ष्यग्राह्यत्वात्। अन्यथा तत्र विवादो न स्यात्। एवं प्रमाया स्वविषयावरणाभावपूर्वकत्वमपि न प्रमास्वरूपग्राहकसाक्षिग्राह्यम्। तथा च तद्ग्राहिकाया एतस्या अनुमितेः साध्यसाधनोभयाधिकरणत्वात् न कोऽपि दोषः। दृष्टान्ते चान्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्वं विशेषणम्। तेन न प्रथमपदवैयर्थ्यं न वा द्वितीयादिप्रमायां साध्यसाधनवैकल्यम्। विस्तरेण चान्यत्र व्युत्पादितमिदमस्माभिः।

ननु— अनादित्वे सति भावत्वमभावविलक्षणत्वं वा, न निवर्त्यनिष्ठम्, अनादिभाव—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इस प्रकार से " अप्रकाशितार्थगोचरत्व होने पर प्रकाशशब्दवाच्यत्व अथवा अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्व" यही हेतु का पर्यवसित अर्थ है। और भ्रम का विषय तो अज्ञात नहीं होता; क्योंकि भ्रमकाल से अन्यकाल में विद्यमान न होने से वह अनिर्वचनीय भ्रमविषय प्रमाणविषय न होने के कारण प्रकाश से पूर्वकाल में सत्त्वघटित (व्याप्य) अप्रकाशितत्व उसमें असम्भव है। इस प्रकार अप्रकाशितत्वाभाव होने से भ्रम अप्रकाश विरोधी नहीं होता, क्योंकि अपने विषय में अप्रकाश का अभाव है (अतः द्वितीय हेतु अप्रकाश विरोधी प्रकाशत्व में "अप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति" यह विशेषण नहीं देना चाहिये)। और अधिष्ठान का अप्रकाश तो उस (भ्रम) का जनक ही है, नाश्य नहीं और स्मरण में द्वितीय हेतु का व्याभिचाराभाव स्पष्ट है; (क्योंकि विरोधितावच्छेदक प्रमात्व की स्मृति में वृत्ति नहीं है। प्रथम हेतु में भी प्रत्यक्षादिगृहीतार्थकशब्दादिवृत्ति में व्यभिचारवारण के लिये "न प्रकाशते" इस व्यवहारगोचर के नाश को द्वार बनाकर "प्रकाशते" इस व्यवहार का प्रयोजकत्व सत्यन्त विशेषण का वाच्य होने से अव्यभिचार है; और विशेष्य दल तो सन्निकर्षादि निवारण के लिये है)। और इसमें अनुकूलतर्क तो "त्वदुक्तमर्थं न जानामि" इस प्रतीति की अन्यथानुपपत्तिआदिरूप पहले ही कह चुके हैं। इससे— गोशब्दवाच्य होने से पृथिवी में भी शृङ्गित्व का अनुमानप्रसङ्ग परास्त हुआ; क्योंकि उसमें अनुकूलतर्क का अभाव है। अज्ञान स्वरूप से अज्ञान का विषय न होने पर भी अज्ञानगत भावत्वधर्मादि तो अज्ञान का विषय होता ही है, क्योंकि भावत्वधर्मादि अज्ञानग्राहकसाक्षी के द्वारा ग्राह्य नहीं होता। अन्यथा अर्थात् अज्ञानगत भावत्वादि धर्म का अज्ञानविषयत्वाभाव होने पर उसमें "अज्ञान भाव है या अभाव है"— इत्यादि विवाद नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार प्रमा का अपने विषय में आवरणाभावपूर्वकत्व भी प्रमास्वरूपग्राहक साक्षी के द्वारा ग्राह्य नहीं होता। तब तो प्रमानिष्ठ स्वविषयावरणपूर्वकत्व की ग्राहक इस अनुमिति में साध्यसाधनोभयाधिकरण होने के कारण उसमें कुछ भी दोष नहीं है और दृष्टान्त में अन्धकार से अव्यवहितोत्पत्तिकत्व विशेषण है। इस कारण प्रथम पद व्यर्थ नहीं; अथवा द्वितीयादि प्रमा में न साध्यसाधन वैकल्य है। इसका विस्तार तो अन्यत्र प्रतिपादित हो चुका है।

शंका — (१) अनादित्व होने पर भावत्व, अथवा (२ अभावविलक्षणत्व—निवर्त्य (अज्ञान)

मात्रवृत्तिधर्मत्वाद्, अनाद्यभावविलणमात्रवृत्तित्वाद्वा, आत्मत्ववत्। निवर्त्यत्वं वा, नानादिभावनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठं नेति वा, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत। अनादित्वं वा, नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। प्रमाणज्ञानं वा अनाद्यभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वाद्, भ्रमवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षता, कृत्यभावमात्रेणा—कृतस्य कृतिवत् पूर्वप्रकाशाभावमात्रेणाप्रकाशितस्य प्रकाशोपपत्तेरप्रयोजकत्वं चेति—चेन्न, अनुकूलतर्काभावेनाप्रयोजकत्वात्, सिद्धान्तिहेतोश्चानुकूलतर्कसद्भावेन साध्यव्याप्यत्वे निश्चिते सत्प्रतिपक्षाप्रयोजकत्वादीनामनवकाशात्। अनादिभावत्वस्य निवर्त्यावृत्तित्वेऽप्यविद्याया भावविलक्षणाया निवर्त्यत्वोपपत्तेराद्यानुमानेनाविरोधश्च। द्वितीये त्वनाश्रितमात्रवृत्तित्वमुपाधिः। तृतीयचतुर्थयोः सकलनिवर्त्यावृत्तित्वमुपाधिः। पंचमे सकलानाद्यवृत्तित्वमुपाधिः। षष्ठे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

निष्ठ नहीं, क्योंकि दोनों ही अनादिभावमात्रवृत्ति धर्म है अथवा अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्ति है, जैसे आत्मत्व। (३) अथवा— निवर्त्यत्व अनादिभावनिष्ठ नहीं, अथवा (४) अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठ नहीं; क्योंकि वह निवर्त्यमात्रवृत्तिधर्म है, जैसे प्रागभावत्व (५) अथवा अनादित्व आवरणनिष्ठ नहीं, क्योंकि वह अनादिमात्रवृत्तिधर्म है, जैसे प्रागभावत्व। (६) अथवा—प्रमाणज्ञान अनाद्यभाव से अन्य अनादिका निवर्तक नहीं; क्योंकि उसमें ज्ञानत्व है, जैसे भ्रम—इत्यादि से सिद्धान्त्युक्त अनुमान की सत्प्रतिक्षता है और पहले घटादिविषयक कृति के अभावमात्र से अकृत (अनुत्पन्न) घटादि की कृति (रचनानुकूल क्रिया) जिस प्रकार होती है; उसी प्रकार यहां भी पहले प्रकाशाभाव मात्र से अप्रकाशित का प्रकाश सम्भव होने के कारण हेतु का अप्रयोजकत्व भी है।

समाधान— ऐसा नहीं होगा; क्योंकि अनुकूल तर्क के अभाव से तुम्हारे यावत् हेतुओं का अप्रयोजकत्व है; और सिद्धान्ती के हेतु का तो अनुकूलतर्क सद्भाव होने से साध्यव्याप्यत्व निश्चित होने पर सत्प्रतिपक्ष, अप्रयोजकत्वादि का अवकाश ही नहीं रहता। ''अनादिभावत्व निवर्त्यनिष्ठ नहीं, अनादिभावमात्रवृत्ति धर्म होने से, आत्मत्ववत्, इस प्रथम अनुमान में अनादिभावत्व की निवर्त्य में वृत्ति न होने पर भी अभावविलक्षण अविद्या का निवर्त्यत्व सम्भव होने से इस आद्य अनुमान से कोई विरोध नहीं। और अनाद्यभावविलक्षणत्व निवर्त्यनिष्ठ नहीं, अनाद्य भावविलक्षणमात्रवृत्तित्व होने से, आत्मत्ववत्— इस द्वितीय अनुमान में तो अनाश्रितमात्रवृत्तित्व उपाधि है (यहां पर दृष्टान्तीभूत आत्मत्व में निवर्त्यनिष्ठत्वाभावरूप साध्य और अनाश्रितमात्रवृत्तित्वरूप उपाधि होने से उसका साध्यव्यापकत्व सिद्ध है, तथा अनाद्यभावविलक्षणत्वरूप पक्ष में अनाद्य भावविलक्षणमात्रवृत्तित्वरूप हेतु है, किन्तु अनाश्रितमात्रवृत्तित्वरूप उपाधि नहीं है; क्योंकि अनाद्यभावविलक्षणत्व चिदाश्रित अज्ञान में भी है; अतः उपाधि का साधनाव्यापकत्व भी सिद्ध है। इसलिये पक्ष में व्यापकीभूत उपाधि के अभाव से व्याप्य साध्य का अभाव स्वभाव से सिद्ध है। और उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान इस प्रकार होगा—''अनादित्वे सति अभावविलक्षणत्वं निवर्त्यनिष्ठं, अनाश्रितमात्राऽवृत्तित्वात्, अज्ञानत्ववत् (अथवा— यन्नैवं तन्नैवं यथा आत्मत्वम्)। 'निवर्त्यत्व अनादिभावनिष्ठ नहीं, या अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठ नहीं, निवर्त्यमात्रवृत्तित्व होने से, प्रागभावत्ववत्'')। इन तृतीय और चतुर्थ अनुमानों में भी ''सकलनिवर्त्याऽवृत्तित्व'' उपाधि है (यहां भी उपाधिसमन्वयादि पूर्ववत् करना चाहिये)। ''अनादित्व आवरणनिष्ठ नहीं, अनादिमात्रवृत्तित्व होने से, प्रागभावत्ववत्'' इस पञ्चम अनुमान में भी सकलानाद्यवृत्तित्व उपाधि है। और 'प्रमाणज्ञान अनाद्यभाव से अन्य अनादि का निवर्तक नहीं,

प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिरिति च दूषणानि। तत्त्वप्रदीपिकोक्तं च– चैत्रप्रमा, चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वान्मैत्रप्रमावत्। विगीतो विभ्रमः, एतज्जनकाबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, संमतवदिति। अत्राद्ये सुखादिज्ञानेषु न बाधः, अन्तःकरणवृत्तेरेव प्रमापदेनोक्तेः। चैत्रगतत्वं च नानादेर्विशेषणम्, मैत्रप्रमायाश्चैत्रनिष्ठा–नादिनिवर्तकत्वाभावेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापातात्, किन्तु प्रमातदभावयोरन्यतरस्य। प्रमायाश्चात्मगतत्वं प्राग्व्याख्यातम्। साध्ये तु प्रमापदमुपरंजकमेव। यदि त्वभावे प्रागिति विशेषणं नास्ति, 'तदा भावरूपाज्ञानस्यापि स्वाभावाभावत्वेन तदतिरिक्तानादिनिवर्तकत्वे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

ज्ञानत्व होने से, भ्रमवत्'' इस षष्ठ अनुमान में अनाद्यभावान्यानाद्यनिवर्तकत्व साध्य है। इसमें अनिवर्तक का अर्थ है अनिषेधक। इसलिये निषेधाभाव का अनाद्यभावान्यानादि प्रतियोगी है। यह अनादि प्रतियोगी अप्रसिद्ध है। अतः इस अनुमान की साध्याप्रसिद्धि है। (यदि तुम साध्य की प्रसिद्धि के लिये अनादि अभाव से भिन्न अनादि अज्ञान को मानोगे तो सिद्धान्ती की इष्टसिद्धि हो गई अर्थात् अभावविलक्षण अनादि अज्ञान की सिद्धि हो गई है तो हजारों अनुमान से भी क्या लाभ? लघुचन्द्रिकाकार तो ऐसा कहते हैं कि ''तुमने अप्रसिद्ध प्रतियोगिकाभाव स्वीकार किया है, मैंने तो स्वीकार नहीं किया; तब तो मेरे मत में इस अनुमान की निर्दोषता नहीं– यह भाव है)। और इसमें तत्त्वप्रदीपिकोक्त अनुमान भी प्रमाण है। तथाहि–चैत्र की प्रमा–चैत्रगत प्रमाप्रागभाव के अतिरिक्त अनादि की निवर्तिका है, क्योंकि उसमें प्रमात्व है, जैसे मैत्र की प्रमा। विवादास्पद चैत्रगत विभ्रम इस भ्रम के जनक अबाध्य चैत्रादि के अतिरिक्त पदार्थोपादानक है, क्योंकि उसमें विभ्रमत्व है, जैसे सम्मत अर्थात् मैत्रभ्रम (यहां प्रथम अनुमान से ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप अनादि मिथ्या अज्ञान सिद्ध होता है, और दूसरे से भ्रमोपादानत्वरूप अज्ञान की सिद्धि होती है)। इन दोनों अनुमानों में से प्रथम में सुखादिज्ञानों में बाध नहीं होता, क्योंकि प्रमापद से अन्तःकरणवृत्ति का ही कथन है (सुखादि ज्ञान तो अविद्यावृत्ति है)। और चैत्रगतत्व–अनादि का विशेषण नहीं; क्योंकि मैत्रप्रमा में चैत्रनिष्ठाऽनादिनिवर्तकत्व का अभाव होने से दृष्टान्त में साध्यवैकल्य का प्रसङ्ग होता है; किन्तु प्रमा या प्रमाप्रागभाव इन दोनों में से किसी का विशेषण है। और प्रमा का आत्मगतत्व अर्थात् आध्यासिक चैत्राद्यात्मकतादात्म्य तो पहले ही कह चुके हैं (इस प्रकरण में ही–''अन्तःकरणस्य चिदाश्रितत्वेन तद्वृत्तेस्तत्प्रतिफलितचैतन्यस्य वा ज्ञानस्य चिदाश्रितत्वसम्भवात्'' इत्यादि से कह चुके हैं)। और साध्य में तो प्रमापद उपरञ्जकमात्र है (अर्थात् स्वरूपमात्र बोधक है, व्यावर्तकविशेषण नहीं)। यदि अभाव में प्राग्विशेषण नहीं होगा तो भावरूप अज्ञान भी स्वाभावाभावरूप होने से स्वाभावाभावरूप अज्ञान के अतिरिक्त अनादि के निवर्तकत्व में बाध होगा, उसके निवारणार्थ प्रमापद व्यावर्तकत्वेन अभाव का विशेषण है (भाव यह है कि चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्ता–नादिनिवर्तकत्व साध्य में प्रमापद किसी का व्यावर्तक विशेषण नहीं है, और प्राक्पद भी न दिया जाये तो चैत्रगताभावातिरिक्तानादिनिवर्तकत्व साध्य होगा, तब तो भावरूप अज्ञान भी स्वाभावाभावरूप होने से चैत्रगत स्वाभावाभाव (अज्ञान) के अतिरिक्त अनादि का निवर्तकत्व साध्य होगा किन्तु उसका तो बाध होता है; इसलिये प्रमापद अभाव का विशेषण माना जाये तो ''चैत्रगत प्रमाऽभाव के अतिरिक्त अनादि का निवर्तकत्व साध्य होने से बाध नहीं होगा; क्योंकि अनादि पद से स्वाभावाभावरूप अज्ञान का ग्रहण किया जा सकता है)। और इस अनुमान में चैत्रासमवेत्व और चैत्रान्यसमवेतत्व उपाधि नहीं हो सकते; क्योंकि मैत्रप्रमा में दोनों का साध्य व्यापकत्व होने पर

बाधवारणाय। चैत्रासमवेतत्वं चैत्रान्यसमवेतत्वं च नोपाधिः, चैत्रसुखादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वात्। न च चैत्रप्रमा चैत्रगतस्याभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका न प्रमात्वात्, मैत्रप्रमादिवदिति सत्प्रतिपक्षः, प्रतियोगिप्रसद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां व्याहतेः। चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्ता—भावनिवर्तकत्वं तु नोपाधिः, चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्तस्य स्वजन्यव्यवहारप्रागभावस्य निवर्तकतया पक्षे साधनव्यापकत्वात्। विपक्षबाधकसत्त्वाच्च नाभाससाम्यम्। अत एव द्वितीयानुमानमपि सम्यक्। न च—विगीतो विभ्रमः, एतज्ज्ञानजनकबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, संमतवदिति सत्प्रतिपक्ष इति—वाच्यम्, बाध्यस्य त्वन्मतेऽजनकत्वात्, साध्याप्रसिद्धेः, ब्रह्माविद्योभयोपादानकत्वेनाविरोधाच्च।

नव्यास्तु विमता प्रमा, प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका, कार्यत्वाद्, घटवद्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

भी चैत्रसुखादि में व्यभिचार होने से दोनों ही साध्य के अव्यापक हैं (क्योंकि चैत्र सुखादि में चैत्रगतप्रमाप्रागभावतिरिक्त अनादि चैत्रसुखादिप्रागभाव का निवर्तकत्व साध्य है, किन्तु चैत्राऽसमवेतत्व और चैत्रान्यसमवेतत्व दोनों उपाधि नहीं है)।

शंका — चैत्रप्रमा चैत्रगत अभाव के अतिरिक्त अनादि की निवर्तिका नहीं; क्योंकि उसमें प्रमात्व है, जैसे मैत्रप्रमा— इस अनुमान से सिद्धान्ती का अनुमान सत्प्रतिपक्ष है (यहां पर चैत्रगत पद अभाव और अनादि दोनों का विशेषण है)।

समाधान— ऐसा नहीं होगा; क्योंकि प्रतियोगी अनादि पदार्थ की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि से यह अनुमान व्याहत है (अर्थात् चैत्रगताभावातिरिक्त अनादि वस्तु की अज्ञानरूप से प्रसिद्धि है, तो उसका निषेध करने वाला यह अनुमान व्याहत होगा, और यदि उसकी प्रसिद्धि नहीं है तो बन्ध्यापुत्रसाधक अनुमान के समान यह अनुमान भी व्याहत ही होगा)। और इस अनुमान में चैत्रगत प्रमाऽभावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्व उपाधि नहीं दे सकते; क्योंकि चैत्रगतप्रमाऽभावातिरिक्त चैत्रप्रमाजन्यव्यवहार के प्रागभाव का निवर्तकत्व चैत्रप्रमा में होने से वह साधन का भी व्यापक हो जाता है। और सिद्धान्त्युक्त प्रमापक्षक अनुमान में विपक्षबाधक तर्क का सद्भाव होने से इस अनुमान के साथ आभाससाम्य नहीं हो सकता ("न जानामि" यह अनुभव ज्ञानाभावविषयक नहीं है— यह पहले कह चुके हैं। अतः इस अनुभव की अन्यथानुपपत्ति से इसका विषय भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है और शुक्ति में प्रतीयमान रजत के परिणामिकारण की अन्यथानुपपत्ति से अभावभिन्न अज्ञान की सिद्धि होती है— इत्यादि विपक्षबाधक अनेक तर्क होने से अभाससमानयोगक्षेम नहीं हो सकता)। किसी प्रकार के दोष न होने के कारण विभ्रमपक्षक द्वितीय अनुमान भी साधु ही है।

शंका — विवाद विषय विभ्रम— इस विभ्रम के जनक बाध्य वस्तु के अतिरिक्त वस्तूपादानक है, क्योंकि उसमें विभ्रमत्व है, जैसे पुरुषान्तरीयविभ्रम— इस अनुमान से सिद्धान्ती का द्वितीयानुमान सत्प्रतिपक्ष है।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि तुम्हारे मत में एतद्भ्रमजनक बाध्य वस्तु अप्रसिद्ध होने से तद्भिन्नोपादानकत्वरूप साध्य की अप्रसिद्धि है और हमारे मत में ब्रह्म और अविद्या दोनों ही उपादान होने से विरोध भी नहीं है (क्योंकि एतद्भ्रमोपादनत्वेन बाध्यजनक अविद्या है और अधिष्ठानत्वेन उपादान अबाध्य ब्रह्म है)।

नव्य वेदान्ती लोग तो इसमें इस प्रकार अनुमान करते हैं— विमत प्रमा—प्रमाऽभावातिरिक्त

भ्रमानुत्तरप्रमा, स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, भ्रमोत्तरप्रमावत्। ज्ञानत्वं, स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशवृत्तित्वाद्, आलोकत्ववत्। अनित्यज्ञानम्, अभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणम्, प्रयत्नान्यत्वे सति सविषयत्वे सत्यनित्यत्वाद्, अनित्येच्छावत्। सा हि तादृग्द्वेषसमानाधिकरणा। न चैतेषु अप्रयोजकत्वशङ्का, विपक्षबाधकतर्कस्योक्तत्वात्। एवमन्यदप्यूहनीयम्। ज्ञानविरोधित्वं, अनादिभावत्व–समानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वात्, दृश्यत्ववत्। यद्वा अनाद्यभावविलक्षणं ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्, अभिधेयत्ववदिति। एवमभावविलक्षणाज्ञाने अनुमानान्यूहनीयानि।।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्यानुमानोपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अनादि की निवर्तिका है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट (घट कार्य है, अत: वह प्रमाभावातिरिक्त अनादि स्वप्रागभाव का निवर्तक है; वैसे ही प्रमा भी कार्य होने से स्वप्रागभावातिरिक्त अनादि का निवर्तक सिद्ध है, और वह अनादि भावरूप अज्ञान ही है)। भ्रमानुत्तरप्रमा अर्थात् भ्रमपूर्वभाविप्रमा स्वाभावातिरिक्त स्वविरोधी की निवर्तिका है, क्योंकि उसमें प्रमात्व है, जैसे भ्रमोत्तरभाविप्रमा। ज्ञानत्व–स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठ है, क्योंकि वह अप्रकाशितार्थ प्रकाशवृत्ति है, जैसे आलोकत्व (यहा स्व का अर्थ निवर्तक ज्ञान या आलोक है)। अनित्यज्ञान अभावत्व के अनाधिकरण स्वविरोधी के साथ समानाधिकरणक है,क्योंकि वह प्रयत्न से भिन्न होने पर और सविषय होने पर अनित्य है, जैसे अनित्येच्छा, क्योंकि अनित्येच्छा अभावत्वानधिकरण स्वविरोधिद्वेष के साथ समानाधिकरणक है (यहां पर निवृत्ति प्रवृत्त्यभावरूप है, वह कोई यत्नविशेष नहीं है– ऐसा मानने वाले के मत में यत्न विशेषरूप प्रवृत्ति में व्यभिचार निवारणार्थ हेतु में '' प्रयत्नाऽन्यत्वे सति'' यह विशेषण है)। इन अनुमानों में अप्रयोजकत्व की शंका नहीं हो सकती; क्योंकि पहले ही विपक्षबाधक तर्क उक्त हो चुके हैं। इस प्रकार अन्य अनुमान भी ऊहनीय हैं। ज्ञानविरोधित्व– अनादिभावत्व (अभावविलक्षणानादित्व) के साथ समानाधिकरणक है, क्योंकि उसमें सकलज्ञान विरोधिवृत्तित्व है (यहां पर सकलपद विरोधिपद से संबन्धित है), जैसे दृश्यत्व (यहां पर ज्ञानविरोधित्व से ज्ञानप्रयुक्तनाशप्रतियोगित्व समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने पर इस अनुमान से अज्ञान की सिद्धि से पूर्व दृश्यमात्र के साक्षात् ज्ञाननाश्यत्व की असिद्धि होने पर भी साधनवैकल्य नहीं होगा। अभिप्राय यह है कि परमत में भी अदृष्टादि का ज्ञानप्रयुक्तनाश प्रतियोगित्व आवश्यक है)। अथवा – अनाद्यभावविलक्षणत्व ज्ञानविरोधिवृत्ति है, क्योंकि उसमें अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्व है, जैसे अभिधेयत्व। इस प्रकार अभावविलक्षण अज्ञान में अनुमान ऊहनीय है।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्यानुमानोपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः ।।

४३ : अथाऽज्ञानवादे श्रुत्युपपत्तिः

एवं श्रुतयश्च। तत्र छान्दोग्ये अष्टमाध्याये–''तद्यथापि हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोक न विन्दन्त्यनृतेन प्रत्यूढाः'' (छा०उ० ८–३–२) इति श्रुतिर्ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनानृतं ब्रुवाणा तादृगज्ञाने प्रमाणम्। न च–ऋतशब्दस्य 'ऋतं पिबन्तौ' (कठ–१.३.२) इत्यत्र सत्कर्मणि प्रयोगदर्शनाद् 'ऋतं सत्यं तथा धर्मः' इति स्मृतेश्च ऋतशब्दस्य सत्कर्मपरत्वादनृतशब्दस्य दुष्कर्मपरत्वमिति–वाच्यम्, उत्तरत्र 'य आत्मापहतपाप्मा (छा.८.७.१)' इत्यादिना आत्मनोऽपहतपाप्मत्वप्रतिपादनेन दुष्कर्मप्रत्यूढत्वविरोधात्, सुषुप्तो कर्ममात्रनाशे दुष्कर्मणोऽप्यभावात्, कारणात्मनावस्थाने चाज्ञानस्यावश्यकत्वात्, कर्मण आवरणत्वानुपपत्तेश्च। ब्रह्मवेदनप्रतिबन्धकतया ह्यनादिब्रह्मावरकं ज्ञाननिवर्त्य वाच्यम्। तथा च कर्मेव प्रधानमपि नानृतपदाभिधेयम्, तयोर्ज्ञानानिवर्त्यत्वात्। ज्ञाननिवर्त्यत्वे च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः (श्वेता १–१०) इत्यादिश्रुतिर्मानम्। न च–अत्र निवृत्तिस्तरणमात्रम्, 'मायामेतांतरन्ति ते' इति स्मृतेरिति–वाच्यम्, ज्ञानहेतुकतरणस्य निवृत्त्यतिरिक्तस्यासम्भवेन उभयोर्नाशमात्रार्थत्वात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

इसी प्रकार भावरूप अज्ञान के सद्भाव में श्रुतियां भी प्रमाण हैं। उन श्रुतियों में छान्दोग्य अष्टमाध्याय में आयी हुई यह श्रुति–'' उसमें यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार निधि (खान) में निहित सोने को अक्षेत्रज्ञ (उस खान के मर्म को न जानने वाले) लोग ऊपर ऊपर से घूमते हुए प्राप्त नहीं कर सकते, उसी प्रकार ये सब प्रजा जन भी दिन–प्रतिदिन इस ब्रह्मलोक में जाते हुए भी अनृतरूप अज्ञान से अन्धीभूत होकर उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर पाते'' इस प्रकार ब्रह्मज्ञान प्रतिबन्धक रूप से अनृत को बताती हुई आवरण और भावरूप अज्ञान में प्रमाण है।

शंका –ऋतशब्द का ''ऋतं पिवन्तौ'' (कठ. २१९) इस श्रुति में सत्कर्म के अर्थ में प्रयोग देखने में आने से, तथा ''ऋतं सत्यं'' (कठ.२/१) इस श्रुति में सत्कर्म के अर्थ में प्रयोग देखने मे आने से, तथा ''ऋतं सत्यं'' इस महाभारत की स्मृति से ऋतशब्द सत्कर्मपरक होने से उसमें नञ् घटित अनृतशब्द दुष्कर्मपरक ही होना चाहिये, न कि भावरूप अज्ञानपरक।

समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि छान्दोग्य की इस श्रुति के आगे ''य आत्माऽपहतपाप्मा'' इत्यादि से आत्मा के अपहतपाप्मत्व (पापशून्यस्वभावत्व) का प्रतिपादन होने के कारण अनृतशब्द से दुष्कर्मप्रयुक्त प्रत्यूढत्व (अन्धपने) का कथन विरुद्ध है और सुषुप्ति में कर्ममात्र का नाश होने पर दुष्कर्म का भी अभाव होता है; और कारणरूप से अर्थात् कारणगतसंस्काररूप से अवस्थान में अज्ञान आवश्यक है और कर्म आवरणात्मक भी नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धकरूप से ही ब्रह्मका आवरक तथा ज्ञाननिवर्त्य अनादि अज्ञान कहना होगा। इसी प्रकार कर्म के समान प्रधान भी अनृतपदवाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही ज्ञाननिवर्त्य नहीं। और अज्ञान के ज्ञाननिवर्त्यत्व में ''पुनः अन्त में विश्वमाया अर्थात् असत्त्वापादक और अभानापादक सर्व अज्ञान की निवृत्ति होती है'' यह श्रुति प्रमाण है।

शंका – इस श्रुति में निवृत्ति का अर्थ तरणमात्र है, क्योंकि ''मायामेतां तरन्ति ते'' (गी. ७/१६) यह स्मृति वैसा ही कहती है।

समाधान– ऐसा भी न कहो; क्योंकि ज्ञान हेतुक तरण का अर्थ निवृत्ति के अतिरिक्त असम्भव होने से श्रुति और स्मृति दोनों ही नाशार्थमात्रपरक है।

न च–'तम आसीत्' इत्यस्य सत्त्वप्रतिपादकस्य बाधकं विना पारमार्थिकसत्त्वपरत्वेन कथमावरणस्यानृतत्वमिति–वाच्यम्, 'नासदासीन्नोसदासीत्' इत्यनेन पारमार्थिकत्वतुच्छत्व–योर्निषेधेन व्यावहारिकसत्त्वपरत्वात्। न च– अनेन माया प्रतिपाद्यते। मायाशब्दार्थश्च नाज्ञानम्, मायिनो ब्रह्मणोऽज्ञानित्वे सर्वज्ञत्वनिरवद्यत्वादिश्रुतिविरोधादिति–वाच्यम्, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनेश्वरासार्वज्ञ्याद्यापादनायोगात्, सार्वज्ञ्याद्यैश्वर्यस्य मायानिबन्धनत्वाच्च। न च –'मय ज्ञाने' इतिधात्वार्थानुसारात् माया कथमज्ञानमिति–वाच्यम्, 'एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' इतिश्रुत्या मायाविद्ययोरैक्यप्रतिपादनान्माया अज्ञानमेव, घट चेष्टाया' मिति धातुजस्यापि घटशब्दस्य चेष्टावाचकत्वाभाववदत्रापि ज्ञानवाचकत्वाभावात्। 'माया प्रज्ञा वयुनमिति' ज्ञानपर्याये निघण्टुकारवचनं च ज्ञानाकारपरिणामित्वाद– ज्ञानस्योपपन्नम्। वृत्तिज्ञानस्याज्ञानाभिन्नत्वाद् अज्ञानस्यैवानिर्वचनीयविचित्रशक्तियोगात् न विचित्रशक्तिमति

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका – "तम आसीत्" (ऋ. १०/१२९/३) यह मन्त्र "आसीत्" पद से तम का सत्त्वप्रतिपादक है और बाधक न होने से इसका पारमार्थिक सत्त्वपरत्व प्रतीत होने के कारण किस प्रकार आवरणात्मक तम का अनृतत्व होगा?

समाधान– ऐसा भी न कहो; क्योंकि "नाऽसदासीन्नो सदासीत्" (ऋ. १०/१२९/१) इस मन्त्र से पारमार्थिकत्व और तुच्छत्व दोनों के निषेध होने के कारण वह व्यावहारिकसत्त्वपरक है।

शंका – "तमः" इस शब्द से माया का ही प्रतिपादन है; और मायाशब्दार्थ तो अज्ञान नहीं है, क्योंकि मायी ब्रह्म में अज्ञानित्व होने पर सर्वज्ञत्व, निरवद्यत्वादि प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होता है।

समाधान– ऐसा भी नहीं; क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्बमात्र पक्षपाती होने से ईश्वर के असर्वज्ञत्वादि का आपादन युक्तियुक्त नहीं; ईश्वर का सर्वज्ञत्वादि तो मायानिमित्तक है।

शंका – "मय ज्ञाने" इस धातु के अर्थानुसार देखा जाये तो माया किस प्रकार अज्ञान हो सकती है?

समाधान– ऐसा भी न कहो; क्योंकि "इसी प्रकार से यह माया अपने से अभिन्न सब क्षेत्रों (शरीरों) को देखाकर जीव और ईश्वर को भी आभास से करती है तथा माया और अविद्या भी स्वयं ही हो जाती है" इस श्रुति से माया और अविद्या दोनों के ऐक्य का प्रतिपादन होने से माया अविद्याशब्दवाच्य अज्ञान ही है। (भाव यह है कि शुद्धसत्त्व और मलिनसत्व दोनों उपाधियों से माया और अविद्या में भेद होने पर भी श्रुति में "स्वयमेव" इस अंश से दोनों का एक व्यक्तित्व कहा गया है। वास्तव में तो उपाधियों से दोनों का भेद स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि एक ही अज्ञान विक्षेपशक्तिमान होकर मायाशब्द वाच्य है और आवरणशक्तिमान होकर अविद्याशब्द वाच्य है। अविद्या में बिम्बत्व ईश्वर का उपाधित्व है और प्रतिबिम्बत्व जीव का उपाधित्व है– इस प्रकार इतने मात्र से जीव और ईश्वर में भेद है)। "घट चेष्टायाम्" इस चेष्टार्थक घटधातु से बने हुए घटशब्द में जिस प्रकार चेष्टावाचकत्व का अभाव होता है, उसी प्रकार यहां भी 'मय ज्ञाने" धातु के ज्ञानवाचकत्व का अभाव है। और "माया प्रज्ञा वायुनम्" इस प्रकार ज्ञान के पर्याय में निघण्टुकार का वचन तो ज्ञानाकार से परिणामी होने से अज्ञान अर्थात् माया के लिये हो सकता है और वृत्तिरूपज्ञान अज्ञान से अभिन्न होने के कारण अज्ञान के ही अनिर्वचनीय विचित्र शक्ति

मायाशब्दप्रयोगानुपपत्तिः। कचिन्मणिमन्त्रादौ तत्प्रयोगस्तूपचारात्। न च शुक्तिरूप्यादौ मायाशब्दाप्रयोगात् न मृषार्थोऽयमिति—वाच्यम्, वज्रादौ पृथिवीत्वादि— व्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्ववत् व्यवहाराभावेऽपि मायात्वानपायाद्, ऐन्द्रजालिकादौ बहुशो मायाशब्दप्रयोग—दर्शनाच्च, मायाया अज्ञानान्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वविरोधाच्च। नीहारतमःशब्दावप्यस्मिन्मते अज्ञानस्यावारकत्वाद्युज्यते, नान्यमते। अनृतनीहारादिशब्दानां दुष्कर्मपरत्वे श्रुत्यन्तरोक्त—जीवेशभेदकत्वोपादानत्वादिविरोधश्च। तस्मा'दनृतेन प्रत्यूढाः', 'नीहारेण प्रावृताः', 'तम आसीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्', 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्', 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः इत्याद्याः श्रुतयो वर्णिता अज्ञाने प्रमाणमिति स्थितम्।।

इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

योग (विचित्रोपादानत्व होने) से विचित्रशक्तिमान् में मायाशब्द प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं है; और कहीं मणिमन्त्रादि में माया शब्द का प्रयोग तो उपचार से होता है।

शंका — शुक्तिरूप्यादि में माया शब्द का प्रयोग न होने से यह शब्द मिथ्यार्थ नहीं।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि जिस प्रकार वज्रादि में पृथिवीत्वादि के व्यवहार का अभाव होने पर भी पृथिवीत्व है; उसी प्रकार शुक्तिरूप्यादि में मायात्व के व्यवहार का अभाव होने पर भी मायात्व रहित नहीं; और ऐन्द्रजालिकादि में मायाशब्द का प्रयोग अनेक स्थलों में देखने में आता है, और माया अज्ञान से भिन्न होने पर तो उसका ज्ञाननिवर्त्यत्व विरुद्ध हो जायेगा। और ''निहारेण प्रावृत्ता'' तथा ''सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति'' इत्यादि में नीहार और तमः शब्द भी, इस मत (अनादि—भावरूपाज्ञान पक्ष) में अज्ञान ही आवरक होने के कारण, अज्ञानार्थ में हो सकते हैं, अन्य के मत में नहीं। (इसलिये —'' नीहारेण प्रावृत्ता'' इस मन्त्र के सायणभाष्य में ''नीहारेण नीहारसदृशेनाऽज्ञानेन'' ऐसा लिखा है)। अनृत नीहारादि शब्दों का दुष्कर्मपरत्व होने पर श्रुत्यन्तर से उक्तजीवेशभेदकत्व, उपादानत्वादि का विरोध होगा। इसलिये ''अनृतेन प्रत्यूढाः'', 'नीहारेण प्रावृत्ताः'', ''तम आसीत्'', मायां तु प्रकृति विद्यात्'', ''अजमेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'' अविद्ययामन्तरे वर्तमानाः'' ''भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'' इत्यादि वर्णित श्रुतियां अज्ञान में प्रमाण हैं— यह स्थित है।

इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।

४४ : अज्ञाऽज्ञानवादेऽर्थापत्त्युपपत्तिः

जीवस्यानवच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशान्यथानुपपत्तिश्च तत्र मानम्। न च जीवस्य ब्रह्मभेदेनैव तादृगप्रकाशोपपत्तिः, जीवब्रह्मभेदस्याग्रे निरसिप्यमाणत्वात्। न चानवच्छिन्नानन्द– स्यापि प्रकाशमानप्रत्यङ्मात्रत्वेनाप्रकाशमानत्वानुपपत्तिः, शरीरप्रतियोगिकस्यात्मनि स्वरूपभेदस्यात्माकारेण प्रकाशमानत्वेऽपि भेदाकारेणाप्रकाशमानत्ववद्रूपान्तरेण ब्रह्मणः प्रकाशमानत्वेऽपि उक्ताकारणेविद्यावशादप्रकाशमानत्वोपपत्तेरुक्तत्वात्।

भ्रमस्य सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरपि अविद्यायां प्रमाणम्। न चान्तःकरणमुपादानम्, अन्तःकरणस्य ज्ञानजनने प्रमाणव्यापारसापेक्षत्वेन प्रमाणाविषये शुक्तिरूप्यादौ ज्ञानाजनकत्वात्, सादित्वेनानादिभ्रमपरम्परानुपादानत्वाच्च। न च ब्रह्मैवोपादानम्, तस्यापरिणामित्वात्। न च विवर्ताधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेरिवोपादानत्वम्, अविद्यामन्तरेणा– तात्त्विकान्यथाभावलक्षणस्य विवर्तस्यैवासम्भवात्, शुक्त्यादेरधिष्ठानावच्छेदकतया

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

जीव में अनवच्छिन्नब्रह्मानन्द के अप्रकाश की अन्यथानुपपत्ति भी अज्ञान में प्रमाण है।

शंका – जीव का ब्रह्म से भेद होने से ही उसमें अनवच्छिन्नब्रह्मानन्द के अप्रकाश की उत्पत्ति होती है।

समाधान– नहीं; क्योंकि जीव और ब्रह्म का भेद आगे निरस्यमान है।

शंका – अनवच्छिन्नानन्द के प्रकाशमान शुद्धसाक्षिचेतनमात्ररूप से अप्रकाशमानत्व की भी अनुपपत्ति होती है।

समाधान– ऐसा भी नहीं; क्योंकि आत्मा में शरीरप्रतियोगिकस्वरूपभेद आत्मत्वेन प्रकाशमान होने पर भी भेदत्वेन अप्रकाशमान जैसा होता है, वैसे शुद्धचित्साक्षिरूप से ब्रह्म प्रकाशमान होने पर भी अनविच्छान्नानन्दरूप से अविद्यावश अप्रकाशमान हो सकता है– यह पहले कह चुके हैं।

भ्रम के सोपादानत्व की अन्यथानुपपत्ति भी अविद्या में प्रमाण है। और भ्रम का उपादान अन्तःकरण नहीं हो सकता; क्योंकि अन्तःकरण ज्ञानजनन में विषयगत प्रमाणव्यापार सापेक्ष होने से प्रमाणव्यापार शून्य शुक्तिरूप्यादि में ज्ञान का जनक नहीं हो सकता (भाव यह है कि शुक्तिरूप्यादि के ज्ञान से पहले उसके साथ चक्षुरादिसंयोगरूप प्रमाण व्यापार असंभव होने से प्रमाण व्यापार से होने वाली शुक्तिरूप्याद्याकार अन्तःकरणवृत्ति नहीं हो सकती)। और अन्तःकरण सादि होने से प्रवाहरूप अनादिभ्रमपरम्परा का उपादान नहीं हो सकता (यद्यपि अन्तःकरण भी प्रवाहरूप से अनादि है, तथापि वह कार्य है; अतः उसका उपादान अकार्य अनादि मानना होगा, अन्यथा उपादान परम्परा चलने पर अनवस्था होगी और गौरव भी है। इसलिये वही अकार्य अनादि उपादान अज्ञान ही सबका कारण मानना युक्तियुक्त है और लाघव भी है।) और भ्रम का उपादान ब्रह्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि वह परिणामी नहीं।

शंका – ब्रह्म विवर्ताधिष्ठान होने के कारण जिस प्रकार शुक्त्यादि का उपादान होता है, उसी प्रकार भ्रम का भी उपादान हो।

समाधान– ऐसा नहीं होगा; क्योंकि अविद्या के बिना अतात्त्विकान्यथाभावरूप विवर्त ही असम्भव है, और शुक्त्यादि विवर्ताधिष्ठान का अवच्छेदक होने से विवर्ताधिष्ठान नहीं हो सकता।

विवर्ताधिष्ठानत्वाभावात्। न च— उपादानापेक्षस्य विवर्तस्य तात्त्विकातिरिक्तोपादान–कल्पनवदविद्यादेराश्रयसापेक्षस्य ब्रह्मातिरिक्तमतात्त्विकमधिकरणं कल्प्यं स्यादिति—वाच्यम्, ब्रह्मण एव विकारित्वे अनित्यत्वादिप्रसक्तिवद् ब्रह्मण एवाधिष्ठानत्वे बाधकाभावेन द्वितीयस्याधिकरणस्याकल्पनात्। न च—असत्यस्य सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षण–परिणाम्यनपेक्षत्वेन परिणामित्वेनापि नाविद्याकल्पनमिति—वाच्यम्, परिणामिसत्तासमान–सत्ताकत्वनियमेनासत्यत्वस्यैवाभावात्। न च—घटादौ स्वसमानसत्ताकोपादानकत्वदर्शनेन प्रपंचेऽपि तादृशोपादानकल्पने घटादेः स्वाधिकसत्ताकोपादानानपेक्षत्ववद् वियदादेरपि ब्रह्मानुपादानकत्वं स्यादिति—वाच्यम्, 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः'इत्यनेन न्यायेन घटादेरपि मृदवस्थचैतन्योपादानकतया तादृशोपादानानपेक्षत्वासिद्धेः। अत एव— रूप्येऽपि स्वसमानसत्ताकस्य निमित्तस्यापि कल्पनापत्तिरिति—निरस्तम्, निमित्तमात्रे वा इयं कल्पना? विशेषे वा? नाद्यः, अधिष्ठानरूपनिमित्तस्य सर्वत्राधिकसत्ताकत्वात्। द्वितीये तूत्तरोत्तरभ्रमे पूर्वपूर्वभ्रमस्य निमित्तत्वेनेष्टापत्तेः। न च—त्रिगुणात्मकं प्रधानमुपादानमिति—वाच्यम्,

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— जिस प्रकार उपादान की अपेक्षा रखने वाले विवर्त के, तात्त्विक ब्रह्म के अतिरिक्त उपादान की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार आश्रय की अपेक्षा रखने वाली अविद्यादि के ब्रह्म के अतिरिक्त अतात्त्विक अधिष्ठान की कल्पना भी करनी चाहिये।

समाधान — ऐसा न कहो; कारण कि — जिस प्रकार ब्रह्म के विकारित्व में अनित्यत्वादि प्रसक्तिरूप बाधक होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के ही अधिष्ठानत्व होने में बाधक न होने के कारण द्वितीय अधिकरण की कल्पना नहीं होती।

शंका— असत्य पदार्थ सत्यरूपान्तरापत्तिरूपपरिणाम्यनपेक्ष (सत्यसंसृष्ट असत्यस्वरूप परिणामी से अनपेक्ष होने से अविद्या की परिणामिरूप से कल्पना नहीं करनी चाहिये।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि भ्रम का परिणामिसत्तासमानसत्ताकत्व नियम होने से असत्यत्व का अभाव है।

शंका — घटादि में स्वसमानसत्ताकोपादानकत्व देखने में आने के कारण, प्रपञ्च में भी स्वसमानसत्ताकोपादानकत्व की कल्पना होने पर, जिस प्रकार घटादि का स्वाधिकसत्ताकोपादानानपेक्षत्व है, उसी प्रकार वियदादि का भी ब्रह्मानुपादानकत्व हो।

समाधान— ऐसा भी न कहो; क्योंकि "तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः" (वे.द. २/३/१३) अर्थात् वही परमेश्वर वियदादि तत्तरूप से स्थित होकर रचितव्य पदार्थों का संकल्प करते हुए तत्तद्विकारों की रचना करते हैं, क्योंकि उसमें "यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति (बृ. ३/७/३) तथा " सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" ऐसा प्रस्तुत करके "सच्च त्यच्चाऽभवत्। तदात्मानं स्वयमकुरुत (तै. २/६/१) इत्यादि ज्ञापकरूप लिङ्ग है— इस न्याय के द्वारा घटादि भी मृदवस्थचैतन्योपादानक होने से स्वाधिक सत्ताकोपादानानपेक्ष होना घटादि का असिद्ध है। अतएव शुक्तिरूप्य में भी स्वसमानसताक निमित्त की भी कल्पना हो जायेगी— ऐसा कथन निरस्त हुआ। यह कल्पना निमित्तमात्र में है, या विशेष निमित्त में? आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि अधिष्ठानरूप निमित्त सर्वत्र अधिकसत्ताक है। और द्वितीय पक्ष में तो उत्तरोत्तर भ्रम के प्रति पूर्वपूर्वभ्रम निमित्त होने के कारण इष्टापत्ति है।

शंका— त्रिगुणात्मक प्रधान ही उपादान है।

तस्यासत्यत्वे अविद्यानतिरेकात्। सत्यत्वेऽपि सावयवम्? निरवयवं वा? आद्ये अनादित्वभङ्ग। द्वितीये परिणामित्वायोगो ब्रह्मवत्। न चाविद्यापक्षेऽपि समः पर्यनुयोगः, तस्याः काल्पनिकत्वेन पर्यनुयोगायोगात्। तस्मादर्थापत्तिरविद्यायां प्रमाणम्।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्यायामर्थापत्युपपत्तिः

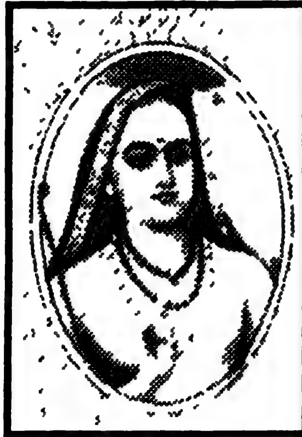
योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि उसको असत्य मानोगे तो वह अविद्या से अतिरिक्त नहीं, और सत्य मानोगे तो क्या वह सावयव है, या निरवयव है। आद्य में अनादित्वभङ्ग होगा और द्वितीय में ब्रह्म के समान परिणामित्व नहीं होगा।

शंका — अविद्यापक्ष में सावयवत्वादि विकल्प सम है।

समाधान— नहीं, क्योंकि वह काल्पनिक (युक्तिविरुद्धत्व व्याप्यमिथ्यात्वस्वरूप) होने से उसके संबन्ध में पर्यनुयोग नहीं हो सकता। अत· अर्थापत्ति अविद्या मे प्रमाण है।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्यायामर्थापत्त्युपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।



४५ : अथाऽज्ञानवादे तत्प्रतीत्युपपत्तिः

स चाविद्या साक्षिवेद्या, न तु शुद्धचित्प्रकाश्या। साक्षी चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बतचैतन्यम्। तेन— निर्दोशचित्प्रकाश्यत्वेनाज्ञानस्य पारमार्थिकत्वापत्तिः, मोक्षेऽपि तत्प्रकाशापत्तिः, न च तदानीमविद्याया निवृत्तत्वात् तत्प्रकाशाभावः, प्रतीतिमात्रशरीरस्य प्रतीत्यनुवृत्तौ निवृत्त्ययोगादित्यादिदोषानवकाशः। अत एवोच्यते राहुवत् स्वावृतचैतन्यप्रकाश्याऽविद्येति। न चैवं कदाचिदविद्याया अप्रतीत्यापत्तिः, इष्टापत्तेः, समाधौ तथाभ्युपगमात्। न चाविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वादत्र कथमविद्यावृत्तिः? अविद्याया एवं दोषत्वात्। न च वृत्तेरपि वृत्त्यन्तरप्रतिबिम्बितचिद्भास्यत्वे अनवस्था, स्वस्या एव स्वभानोपाधित्वात्।

ननु— प्रमाणागम्यायामविद्यायां प्रमाणोपन्यासवैयर्थ्यम्, न च—प्रमाणैरसद्व्यावृत्तिमात्रं बोध्यत इति—वाच्यम्, अज्ञानमगृह्णतां तत्रासद्व्यावृत्तिबोधेऽप्यसामर्थ्यादिति—चेन्न, प्रमाणोपनीतासद्व्यावृत्तिविशिष्टाज्ञानं हि साक्षिणा गृह्यते। तथा चासद्व्यावृत्त्युपनयने प्रमाणानां चरित्रार्थत्वात् न काप्यनुपपत्तिः।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्याप्रतीत्युपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

वह अविद्या साक्षिवेद्य है, शुद्धचित् से प्रकाश्य नहीं है और साक्षी तो अविद्या वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य है। इस कारण— निर्दोषचित्प्रकाश्य होने से अज्ञान की पारमार्थिकत्वापत्ति है, मोक्ष में भी उसकी प्रकाशापत्ति है और मोक्षकाल में अविद्या निवृत्त होने के कारण उसका प्रकाशाभाव है—ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि प्रतीतिमात्रशरीर की प्रतीति की अनुवृत्ति होने पर निवृत्ति असम्भव है— इत्यादि दोषों को अवकाश नहीं होगा। इस प्रकार दोषाभाव होने से ही ऐसा कहा जाता है— राहु के समान अविद्या स्वावृत्तचैतन्यप्रकाश्य है— इति।

शंका— इस प्रकार कादाचित्क अविद्यावृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य से अविद्या भास्य होने पर तो किसी समय अविद्या की अप्रतीत्यापत्ति होगी।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि इष्टापत्ति है; समाधि में हम वैसा ही मानते हैं।

शंका— रजतादि की अविद्यावृत्ति दोषजन्य होने से अविद्याविषयिका अविद्यावृत्ति कैसे होगी (क्योंकि उसके लिये दोष नहीं)?

समाधान— ऐसा भी न हो, क्योंकि अविद्याविषयकवृत्ति में अविद्या ही दोष है।

शंका — वृत्तिका भी वृत्त्यन्तर प्रतिबिम्बितचिद्भास्यत्व होने पर अनवस्था होगी।

समाधान— नहीं होगी, क्योंकि अविद्या ही स्वमान के प्रति उपाधि है।

शंका — प्रमाण से अगम्य अविद्या के विषय में प्रमाणों का उपन्यास करना व्यर्थ है। और अविद्या मे प्रमाणों से असद्व्यावृत्तिमात्र बोधित होती है— ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि अज्ञान को ग्रहण न करने वाले प्रमाणों का उसमें असद्व्यावृत्तिबोध कराने की सामर्थ्य नहीं।

समाधान— नहीं, क्योंकि प्रमाणों से उपनीत (प्रापित) असद्व्यावृत्ति से विशिष्ट अज्ञान ही साक्षी से गृहीत होता है। तब तो असद्व्यावृत्ति के उपनयन में (असद्व्यावृत्तिविशिष्ट अज्ञान को प्रमाणित करने में) प्रमाण चरित्रार्थ होते हैं। अतः इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्याप्रतीत्युपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः॥

४६ : अथाज्ञानवादेऽविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः

अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं ब्रह्मैव। तदुक्तम्—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥'

दर्पणस्य मुखमात्रसंबन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारः, न बिम्बे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। ननु कथं चैतन्यमज्ञानाश्रयः? तस्य प्रकाशस्वरूपत्वात्, तयोश्च तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावत्वादिति—चेन्न, अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किन्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितम्, तच्च, नाविद्याश्रयः, यच्चाविद्याश्रयः, तच्च नाज्ञानविरोधि। न च तर्हि शुद्धचितोऽज्ञानविरोधित्वाभावे घटादिवदप्रकाशत्वापत्तिः वृत्त्यवच्छेदेन तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्, स्वतस्तृणतूलादिभासकस्य सौरालोकस्य सूर्यकान्तावच्छेदेन स्वभास्यतृणतूलादिदाहकत्ववत् स्वतोऽविद्यातत्कार्यभासकस्य चैतन्यस्य वृत्त्यवच्छेदेन तद्दाहकत्वात्।

ननु— अहमज्ञ इति धर्मिग्राहकेण साक्षिणा अहङ्काराश्रितत्वेनाज्ञानस्य ग्रहणाद् बाधः, न च—स्थौल्याश्रयदेहैक्याध्यासादहं स्थूल इतिवदज्ञानाश्रयचिदैक्याध्यासाद् दग्धृत्वाय—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अविद्या का आश्रय तो शुद्ध ब्रह्म ही है। कहा भी है—'' अविद्या के आश्रयत्व और विषयत्व को भजने वाली, विभाग रहित, केवल शुद्ध चिति ही है, क्योंकि पूर्वसिद्ध अज्ञान का पश्चाद्भावी कार्य न आश्रय हो सकता है, न तो विषय''— इति। दर्पण का मुखमात्र से संबन्ध होने पर भी प्रतिबिम्बितमुख में जिस प्रकार मालिन्य होता है (बिम्बभूतग्रीवास्थमुख में मालिन्य नहीं होता), उसी प्रकार (अविद्या या अन्तःकरण में) प्रतिबिम्बरूप से स्थित जीव में ही संसार है, विम्बभूत ब्रह्म में नहीं; क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्ब पक्षपाती है (अर्थात प्रतिबिम्ब में कार्यविशेष का जनकत्व है)।

शंका — चैतन्य का अज्ञान आश्रय कैसे होगा? क्योंकि चैतन्य प्रकाशस्वरूप है, अज्ञान और चैतन्य का तमःप्रकाश के समान विरुद्धस्वभाव है।

समाधान— नहीं; क्योंकि अज्ञानविरोधीज्ञान चैतन्यमात्र नहीं, किन्तु वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य है; और वह तो अविद्या का आश्रय नहीं, और जो विद्या का आश्रय है वह अज्ञान का विरोधी नहीं।

शंका — तब तो शुद्धचित् के अज्ञानविरोधित्वाभाव होने पर घटादि के समान अप्रकाशत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— नहीं; क्योंकि वृत्त्यवच्छिन्नत्वेन प्रतिबिम्बित चित् ही अज्ञान विरोधी है, जैसे स्वतः तृणतूलादिका का अवभासक सौरालोक सूर्यकान्तावच्छेद से स्वभास्य तृणतूलादि का दाहक होता है, वैसे ही स्वतः अविद्या और अविद्याकार्य का अवभासक चैतन्य वृत्त्यवच्छेद से अविद्या और अविद्याकार्य का दाहक होता है।

शंका— ''अहमज्ञः'' इस प्रकार धर्मिग्राहकसाक्षी के द्वारा अहंकाराश्रितरूप से अज्ञान का ग्रहण होने के कारण शुद्ध चिदाश्रित्व बाधित होता है। इसमें शंका हो कि— जिस प्रकार स्थौल्याश्रय देह के साथ ऐक्याध्यास होने से ''अहं स्थूलः'' ऐसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार

सोरेकाग्निसंबधात् 'अयो दहति' इतिवदज्ञानाहङ्कारयोरेक– चिदैक्याध्यासाद्वा 'अहमज्ञः' इति धीर्भ्रान्तेति–वाच्यम्, चितोऽज्ञानाश्रयत्वासिद्ध्या अन्योन्याश्रयादिति–चेन्न, अहंकारस्याविद्याधीनत्वेन तदनाश्रयतया चित एवाज्ञानाश्रयत्वे सिद्धे 'अहमज्ञः' इति प्रतीतेरैक्याध्यासनिबन्धनत्वेनाबाधकत्वात्। न च–अविद्याश्रयत्वादेवाहङ्कारोऽकल्पितोऽस्तु, कल्पित एव वा तदाश्रयत्वमस्तु अविद्यायामनुपपत्तेरलङ्कारत्वादिति–वाच्यम्, अहमर्थस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन दृश्यत्वेनाकल्पितत्वायोगात्, चिन्मात्राश्रितत्वं विना तद्गोचरचरमवृत्त्यनिवर्त्यत्वापातात्, स्वकल्पितस्य स्वाश्रितत्वेन स्वाश्रयत्वायोगात्। न चाविद्यायामनुपपत्तिरलङ्कारः, अनुपपत्तिमात्रं नालङ्कारः, किन्तु सत्त्वादिप्रापकयुक्तावनुपपत्तिः, अन्यथा वादिवचसोऽनवकाशापत्तेः।

ननु–'निरनिष्टो निरवद्यः शोकं मोहमत्येति नित्यमुक्तः' इति श्रुतिविरोधात् न शुद्धचितोऽविद्याश्रयत्वम्, न हि मौढ्यं न दोषः, नापि बन्धकाज्ञानाश्रयो मुक्तः, न च तात्त्विकाविद्यादेरेव निषेधः, त्वन्मते तस्याप्रसक्तेः, जीवेऽपि तदभावेन जीवब्रह्मणोः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अज्ञानाश्रय चित् के साथ अहंकार के ऐक्याध्यास से अथवा जिस प्रकार दग्धृत्व और लौह के एकाग्नि के साथ संबन्ध से "अयो दहति" ऐसा व्यवहार होता है,उसी प्रकार अज्ञान और अहंकार के एकचित् के साथ ऐक्याध्यास होने से "अहमज्ञः" यह बुद्धिभ्रम है– तो ऐसा भी कहना उचित नहीं; क्योंकि चित् का अज्ञानाश्रयत्व असिद्ध होने से अन्योन्याश्रय होता है ("अहमज्ञः इस बुद्धि का भ्रान्तत्व सिद्ध होने पर चित् के अज्ञानाश्रयत्व की सिद्धि; और चित् का अज्ञानाश्रयत्व सिद्ध होने पर उक्तबुद्धि के भ्रान्तत्व की सिद्धि– इस प्रकार अन्योन्याश्रय है)।

समाधान– ऐसा नहीं होगा; क्योंकि अहंकार अविद्या के अधीन होने से अविद्या का आश्रय ही नही बन सकता, अतः चित् अज्ञानाश्रय सिद्ध होने पर "अहमज्ञः" यह प्रतीति अहंकार के अज्ञानाश्रय चित् के साथ ऐक्याध्यासाधीन है, अतः वह बाधक नहीं हो सकती।

शंका– अविद्या का आश्रय होकर अहंकार ही अकल्पित हो (अर्थात् अविद्यानधीन हो); अथवा कल्पित अहंकार ही अविद्याश्रय हो, क्योंकि अविद्या में अनुपपत्ति (युक्त्यसहत्व) तो अलङ्कार ही है।

समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि अहमर्थ में ज्ञान निवर्त्यत्व और दृश्यत्व होने से अकल्पितत्व नहीं हो सकता। और अज्ञान को चिन्मात्राश्रित माने बिना तो चिन्मात्रविषयक चरमवृत्ति के द्वारा उनके अनिवर्त्यत्व का प्रसङ्ग होगा (क्योंकि अभानापादक अज्ञान स्वाश्रयविषयक ज्ञान से ही निवर्त्य होता है); और अज्ञान से कल्पित अहंकार अज्ञान में ही आश्रित होने के कारण वह अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। और अज्ञान में अनुपपत्ति अलङ्कार नहीं; क्योंकि अनुपपत्तिमात्र अलंकार नहीं; किन्तु अज्ञान में सत्त्वादिप्रापक युक्ति में अनुपपत्ति ही अलंकार है। सर्वथा अनुपपत्ति स्वीकार करने पर तो वादी को कथन का अवकाश ही नहीं होगा।

शंका– "अनिष्ट से रहित, दोष से भी रहित जो मुक्त चिदात्मा शोक और मोह से अतीत है" इस श्रुति से विरोध होने के कारण शुद्धचित् का अविद्याश्रयत्व नहीं हो सकता, मूढ़ता दोष नहीं; सो बात नहीं, और मुक्त भी बन्धक अज्ञान का आश्रय नहीं। और इस श्रुति से मुक्त में तात्त्विक अविद्यादि का ही निषेध है– ऐसा भी नहीं हो सकता; कारण कि– तुम्हारे मत में तात्त्विक अविद्यादि की प्रसक्ति ही नहीं होती, और जीव में तात्त्विक अविद्यादि का अभाव होने से जीव और ब्रह्म में दोषयुक्तत्व दोषरहितत्व की व्यवस्था करने वाली श्रुति से भी विरोध है।

सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थाश्रुतिविरोध इति चेन्न, अवद्यस्य चिति कार्यकारित्वाभावेन कार्यकरत्वाकार्यकारत्वाभ्यामेव सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यस्थोपपत्तेः, उपाधेः प्रतिबिम्ब–पक्षपातित्वात्। न च–चिन्मात्रस्याविद्याश्रयत्वे प्रमाणाभावः, जीवाश्रितत्वे च प्रमाणमस्तीति–वाच्यम्, ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्''इति श्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। न च 'ज्ञाज्ञावीशानीशौ'इति जीवाज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तदाश्रयत्वाभावेऽपि तत्कार्ययोगितया अज्ञत्वव्यपदेशोपपत्तेः। न च– ब्रह्मणोऽपि जीवाश्रिताज्ञानविषयत्वेन मायित्वोपपत्तिरिति–वाच्यम्, जीवत्वस्याश्रयतावच्छेदकत्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गात्।

ननु–शुक्त्याद्यज्ञानवत् ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपमिदमप्यज्ञानं स्वकार्येण भ्रान्त्यादिना स्वनिवर्तकेन तत्त्वज्ञानादिना स्वसमानयोगक्षेमेण ज्ञानप्रागभावेन च सामानाधिकरण्याय ज्ञात्रात्मनिष्ठम्, न तु चैतन्यरूपज्ञानमात्राश्रितमिति–चेत्, न, चैतन्यस्यैव ज्ञातृत्वेन ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपत्वस्य सम्यक्ज्ञानाश्रयत्वस्य भ्रान्त्यादिसामानाधिकरण्यस्य चोपपत्तेः। न चैवं–ज्ञातृत्वे सत्यविद्याश्रयत्वम्, अविद्यायां च ज्ञातृत्वमित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम्,

---

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान– ऐसा नहीं होगा; क्योंकि अवद्या (दोष) जीव भिन्न चित् में अहंकारतत्कार्यरागादिकार्यकारी न होने के कारण से कार्यकरत्व और अकार्यकरत्व दोनों के द्वारा सावद्यत्व और निरवद्यत्व की व्यवस्था हो सकती है; क्योंकि उपाधि प्रातेबिम्बपक्षपाती है।

शंका– चिन्मात्र के अविद्याश्रयत्व में प्रमाण का अभाव है, और अविद्या के जीवाश्रितत्व में प्रमाण है।

समाधान– ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि ''माया को प्रकृति जानो और मायी को परमेश्वर जानो'' यह श्रुति शुद्धचित् के अज्ञानाश्रयत्व में प्रमाण है।

शंका– ''ज्ञ ईश्वर है और अज्ञ जीव है'' इस प्रकार से जीव में अज्ञान की प्रतिपादक श्रुति से विरोध है।

समाधान– नहीं, क्योंकि जीव में अज्ञानाश्रयत्व का अभाव होने पर भी अज्ञान के कार्य अहंकारादि से संबन्धित होने के कारण अज्ञत्वादिव्यपदेश हो सकता है।

शंका– अज्ञान का अनाश्रय होते हुए भी ब्रह्म का जीवाश्रिताज्ञान का विषय होने से मायित्व हो सकता है।

समाधान– ऐसा भी न कहना; क्योंकि जीवत्व को अज्ञानाश्रयत्वाच्छेदक मानने पर परस्पराश्रय का प्रसङ्ग आता है। (जीव में अज्ञानाश्रयत्व सिद्ध होने पर जीवत्व की सिद्धि, और जीवत्व सिद्ध होने पर अज्ञानाश्रयत्व की सिद्धि– इस प्रकार अन्योन्याश्रय है)।

शंका– शुक्त्यादि के अज्ञान के समान ज्ञाता का अर्थाऽप्रकाशरूप यह अज्ञान भी अपने कार्य भ्रान्त्यादि के साथ, अपने निवर्तक तत्त्वज्ञानादि के साथ, और अपने साथ ममानयोगक्षेम वाले ज्ञानप्रागभाव के साथ समानाधिकरणत्व करने के लिये ज्ञातारूप आत्मा में ही निष्ठ मानना चाहिये, न कि चैतन्यरूपज्ञान में आश्रित।

समाधान– नहीं; क्योंकि अज्ञानाश्रय शुद्धचित् से अभिन्न साक्षिचैतन्य ही ज्ञाता होने से, ज्ञाता का अर्थाप्रकाशरूपत्व, सम्यगज्ञानाश्रयत्व, और भ्रान्त्यादिसमानाधिकरणत्व हो सकते हैं।

शंका– तब तो– ज्ञातृत्व होने पर अविद्याश्रयत्व और अविद्याश्रयत्व होने पर ज्ञातृत्व– इस प्रकार अन्योन्याश्रय होगा।

अविद्याया ज्ञातृत्वानपेक्षत्वेनान्योन्याश्रयाभावात्। न हि सामानाधिकरण्यमस्तीत्येवतैव तदपेक्षया अनया भवतिव्यम्। न च—शरीरेऽपि ज्ञातृत्वाध्याससंभवेन तत्राप्यज्ञानाश्रय—त्वापत्तिरिति—वाच्यम्, न हि ज्ञातृत्वाध्यासो अज्ञानाश्रयत्वे प्रयोजकः, येन तन्मात्रेण तदापद्येत, किंतु प्रसक्तप्रकाशत्वं अज्ञानानाश्रितत्वं च। न चैवं अविद्याश्रयस्य ज्ञातृत्वभोक्तृ—त्वादिमत्त्वे जीवाश्रिताज्ञानपक्षप्रवेश इति—वाच्यम्, अविद्यावच्छिन्नस्य हि ज्ञातृत्वम्, अविद्या च नाविद्यावच्छेदेन, सामानाधिकरण्यं चावच्छेद्यांशैक्यमादाय। यथोपाधिसंबन्धो मुखमात्र एव, औपाधिकमालिन्यसंबन्धस्तु उपाध्यवच्छिन्ने, बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यात्, तथा सामानाधिकरण्यमपि। यथा प्रतिबिम्बो न वस्त्वन्तरं, तथा वक्ष्यते।

ननु— शुक्त्यज्ञानमपि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगतं वाच्यम्, तथा च 'अहं जानामीच्छामि' इति 'अह न जानामि' इति ज्ञातृस्थत्वानुभवविरोध इति—चेन्न, अज्ञानद्वैविध्यात्। एकं हि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितं तद्गतापरोक्षभ्रमजनकं तद्विषयापरोक्षप्रमानाश्यम्, अपरं च परोक्षभ्रमजनकं तद्विषयप्रमामात्रनाश्यम् प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितमित्युक्तं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान— ऐसा भी न कहो, क्योंकि अविद्या के ज्ञातृत्व की अपेक्षा न होने के कारण अन्योन्याश्रय नहीं होता। कारण कि समानाधिकरण्य (अर्थात अज्ञ ज्ञाता है— इस प्रकार अभेदोक्ति) होने मात्र से ही अविद्या की ज्ञातृत्वापेक्षा नहीं होती।

शंका— शरीर में भी ज्ञातृत्व का अध्यास सम्भव होने से उसमें भी अज्ञानाश्रय की आपत्ति होगी।

समाधान— ऐसा न कहना, क्योंकि अज्ञानाश्रयत्व में ज्ञातृत्वाध्यास प्रयोजक नहीं है। जिसमे ज्ञातृत्वाध्यासमात्र से अज्ञानाश्रयत्व आपादित हो जाये, किन्तु प्रसक्तप्रकाशत्व और अज्ञानानाश्रितत्व (अज्ञान में अनाश्रितत्व अर्थात् अज्ञानानधीनत्व) अज्ञानाश्रयत्व में प्रयोजक है (ये दोनां शरीर में नहीं, अतः अज्ञानानाश्रयत्व भी नहीं। और अहंकार में अनावृतचित्तादात्म्य होने से प्रसक्तप्रकाशत्व है, इसलिये—अज्ञानाऽनाश्रितत्व भी कहा गया है)

शंका— इस प्रकार से अविद्याश्रय का ज्ञातृत्वभोक्तृत्वादिमत्त्व होने पर जीवाश्रिताज्ञान का पक्ष में प्रवेश होगा।

समाधान— ऐसा भी न कहना; क्योंकि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य का ज्ञातृत्व है, और अविद्या तो अविद्यावच्छेद से नहीं होती, और सामानाधिकरण्य तो (अज्ञो ज्ञाता भोक्ता'' इस प्रकार से अभेदोक्ति तो) अवच्छेद्यांश अर्थात् अविद्यावच्छिन्न चैतन्य के साथ शुद्ध के ऐक्य (तादात्म्य) को लेकर होता है। जैसे कि उपाधि दर्पण का संबन्ध मुखमात्र में ही होता है और औपाधिकमालिन्य का संबन्ध तो उपाध्यवच्छिन्न प्रतिबिम्बरूप मुख में होता है, क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में तादात्म्य होता है, वैसे ही सामानाधिकरण्य (''बिम्बीभूतं ग्रीवास्थमुखं मलिनम्'' इत्यादि अभदोक्ति) भी है। और, प्रतिबिम्ब बिम्ब से वस्त्वन्तर नहीं है— यह तो आगे कहेंगे।

शंका— शुक्त्यज्ञान भी मूलाज्ञान के समान शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यगत ही कहना होगा, तब तो ''अहं जानामि, इच्छामि'' इत्यादि के समान ''अहं न जानामि''; इस प्रकार अज्ञान का ज्ञातृस्थरूप से अनुभवविरोध है।

समाधान— नहीं, क्योंकि अज्ञान दो प्रकार है। एक तो शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याश्रित है और वह शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगत अपरोक्षभ्रम का जनक है, तथा तच्चैतन्यविषयक अपरोक्षज्ञान से

प्राक्। तत्र प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानविषयकोऽयमनुभवः। तेन प्रमातृनिष्ठत्वविषयतास्य न विरुध्यते। अत एव विषयगताऽज्ञाने विद्यमानेऽपि प्रमातृगता– ज्ञाननाशेन न जानामीति व्यवहाराभावः।

ननु– उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वान्न ब्रह्मणः संसारित्वमित्युक्तं, तदयुक्तम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैवासंभवात्। तथा हि–अचाक्षुषस्य चैतन्यस्य गन्धरसादिवत् प्रतिबिम्बनानर्हत्वात्, प्रतिबिम्बत्वे जीवस्य सादित्वापाताच्च, सूर्यस्य सरिज्जल इव मरीचिकाजलेष्वप्रतिफलेन चिदसमानसत्ताकस्याज्ञानस्य चितं प्रत्युपाधित्वायोगाद्, अस्वच्छस्याज्ञानस्य प्रतिबिम्बनोपाधित्वायोगाच्च, अविद्यायाश्चिन्मात्राभिमुख्यासंभवाच्च, अज्ञानस्याकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापाताच्चेति–चेन्न, रूपवत एव प्रतिबिम्ब इत्यस्या व्याप्तेः रूपादौ व्यभिचाराद् यथा भङ्गः, एवमाकाशादौ व्यभिचाराच्चाक्षुषस्यैव प्रतिबिम्ब इत्यस्या अपि व्याप्तेर्भङ्गः। वस्तुतस्तु–श्रुतिबलाच्चितः प्रतिबिम्बे सिद्धे तत्रैव व्यभिचारान्नेयं व्याप्तिः, तथा च रसादिव्यावृत्तं फलैकोन्नेयं प्रतिबिम्बप्रयोजकम्। नापि

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नाश्य है। और दूसरा तो परोक्षभ्रम का जनक है और परोक्षविषय प्रमामात्र से नाश्य है तथा प्रमातृत्व के प्रयोजक उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य में आश्रित है–ऐसा पहले कह चुके हैं। उनमें प्रमातृत्वप्रयोजक उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञानविषयक ''अहं न जानामि'' यह अनुभव है। इस कारण इस अनुभव की प्रमातृनिष्ठत्वविषयता में विरोध नहीं है। अतएव विषयगत अज्ञान विद्यमान होने पर प्रमातृगत अज्ञान के नाश से ''न जानामि'' इस व्यवहार का अभाव होता है।

शंका– उपाधि का प्रतिबिम्ब पक्षपातित्व होने से ब्रह्म का संसारित्व नहीं है–ऐसा पहले कहा, किन्तु वह कथन अयुक्त है, क्योंकि यहां पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही असम्भव है। तथाहि– अचाक्षुषचैतन्य की गन्धरसादि के समान प्रतिबिम्बता अयोग्य है, और अन्तःकरण में चित्प्रतिबिम्ब को जीव मानने पर उसका सादित्व आपात होगा; और सूर्य का जैसे नदी जल में प्रतिबिम्ब होता है, वैसे मरूमरीचिका जल में प्रतिबिम्ब न होने के कारण चित् का असमानसत्ताक अज्ञान चित्प्रतिबिम्ब ग्राहकत्वेन चित् के प्रति उपाधि होना अयुक्त है। (भाव यह है कि सूर्य और नदी जल समानसत्ताक है, अतः सूर्य का प्रतिबिम्ब नदी जल में देखा गया है, तथा सूर्य से मरीचिका जल विषमसत्ताक है, अतः उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता। इसी प्रकार चित् से अज्ञान विषमसत्ताक है, अतः उसमें चित् का प्रतिबिम्ब नहीं होना चाहिये)। और अज्ञान अस्वच्छ होने के कारण चित्प्रतिबिम्बता के लिये उपाधि होना भी अयुक्त है और अविद्या का चिन्मात्र में आभिमुख्य असम्भव होने से भी दोनों में बिम्ब और प्रतिबिम्बग्राहक होना अयुक्त है; तथा अज्ञान का आकाशादिरूप से परिणाम होने पर प्रतिबिम्बनाश का प्रसङ्ग भी होगा।

समाधान– रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है– इस व्याप्तिका रूपादि अर्थात् स्फटिकादिसंयुक्त जपाकुसुमलौहित्यादि में व्यभिचार होने से जिस प्रकार भङ्ग होता है, वैसे ही जल प्रतिबिम्बित आकाशादि में भी व्यभिचार होने से चाक्षुष पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है– इस व्याप्ति का भी भङ्ग होता है। वस्तुतः तो– श्रुति के बल से चित् का प्रतिबिम्ब सिद्ध होने पर उसमें ही व्यभिचार होने से यह व्याप्ति नहीं हो सकती (यहां पर ''जीवेशावाभासेन करोति'', ''रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'' इत्यादि श्रुति है)। इसलिये रसादि से व्यावृत्त और फलमात्र से उन्नेय ही प्रतिबिम्ब का प्रयोजक है। और जीव की सादित्वापत्ति भी नहीं होगी; क्योंकि उपाधिभूत अज्ञान और बिम्ब

जीवस्य सादित्वापत्तिः, उपाधिबिम्बसम्बन्धानादित्वेनानादित्वोपपत्तेः। विस्तरस्तु सिद्धान्तविन्दौ। यत्तूक्तं मरीचिकाजले सूर्यप्रतिबिम्बादर्शनाद् बिम्बसमानसत्ताकत्वं प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वे प्रयोजकमिति। तन्न, अध्यस्तस्य स्फटिकलौहित्यस्य दर्पणे प्रतिबिम्बदर्शनात्। तस्मान्म–रीचिकाजलव्यावृत्तं स्वच्छत्वं फलैकोन्नेयं अननुगतमेव प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वे प्रयोजकम्, तच्च प्रकृतेऽप्यस्ति। अत एवाज्ञानस्यास्वच्छत्वान्न प्रतिबिम्बोपाधित्वमिति निरस्तम्।

यच्चोक्तं– चिन्मात्राभिमुख्याभावादिति, तत्किं सर्वात्मना चिदाभिमुख्याभावाद्वा? आभिमुख्यमात्राभावाद्वा? नाद्यः, चैतन्यवद्विभुत्वपक्षे सर्वात्मनापि संभवात्। न्यूनपरिमाणत्वेऽपि न दोषः, न्यूनपरिमाणस्यापि अधिकपरिमाणाकाशादिप्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वदर्शनात्। न द्वितीयः चैतन्यस्य सर्वतोऽपि प्रसृतत्वेन व्यवधानाभावेन च आभिमुख्यस्य सद्भावात्। न चाकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापत्तिः, प्रतिबिम्बप्रयोजकरूपाविरोधिपरिणामस्य प्रतिबिम्बाविरोधित्वेन प्रतिबिम्नानपायात्। न च– मुखप्रतिमुखानुगतमुखत्वातिरिक्तमुखमात्र–त्वरूपव्यक्त्यन्तरस्येव जीवब्रह्मानुगतचित्त्वातिरिक्तचिन्मात्रत्वरूपस्याज्ञानाश्रयत्वयोग्य–व्यक्त्यन्तरस्याभावान्मुखमात्रसंबंध्यादर्शवच्चिन्मात्रसंबन्ध्यज्ञानमिति कथमिति–वाच्यम्, अपरामृष्टभेदस्य मुखादेर्मात्रार्थत्वेनानुगतधर्म्यतिरेकसंभवात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का संबन्ध अनादि होने से जीव का अनादित्व सम्भव है। इसका विस्तार तो सिद्धान्तबिन्दु में देखना चाहिये। और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि–मरीचिका के जल में सूर्य प्रतिबिम्ब के अदर्शन से बिम्ब समानसत्ताकत्व ही प्रतिबिम्ब के ग्राहकत्व में प्रयोजक है, वह ठीक नहीं; क्योंक अध्यस्त स्फटिकलौहित्य का प्रतिबिम्ब दर्पण में देखने में आता है। इस लिये मरीचिका जल से व्यावृत्त और फलमात्र से उन्नेय (ज्ञेय) अननुगत स्वच्छत्व ही प्रतिबिम्बग्राहकत्व में प्रयोजक है। वह तो प्रकृत अज्ञान में भी है ही। अतएव अज्ञान का अस्वच्छत्त होने से प्रतिबिम्बोपाधित्व नहीं होगा, ऐसा कथन निरस्त हुआ। और जो कहा था–चिन्मात्र में अज्ञान का आभिमुख्य अभाव होने से प्रतिबिम्बग्राहकत्व नहीं होगा–इति; क्या वह सर्वात्मना चिदाभिमुख्य अभाव से है, अथवा आभिमुख्य अभावमात्र से? आद्यपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य के जैसे अज्ञान के विभुत्व पक्ष में सर्वात्मना भी आभिमुख्य सम्भव है। और अज्ञान के न्यूनपरिमाणत्व में भी कोई दोष नहीं; क्योंकि जलादि न्यूनपरिमाण वालों का भी अधिक परमाण वाले आकाशादि का प्रतिबिम्बग्राहकत्व देखने में आता है। द्वितीय पक्ष भी नहीं होगा; क्योंकि चैतन्य सर्वतः ही प्रसृत और व्यवधानरहित होने से आभिमुख्य का सद्भाव सदा ही रहता है और अज्ञान का आकाशादि रूप से परिणाम होने पर प्रतिबिम्बनाश की आपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि प्रतिबिम्ब के प्रयोजक रूप का अविरोधिपरिणाम प्रतिबिम्ब का अविरोधी होने से प्रतिबिम्ब का अपाय नहीं होता।

शंका– बिम्बमुख और प्रतिबिम्बमुख में अनुगत मुख से अन्य मुखमात्रत्व रूप व्यत्यन्तर के जैसे जीव और ब्रह्म में अनुगत चित् से अन्य चिन्मात्रत्व रूप अज्ञानाश्रयत्वयोग्य व्यक्त्यन्तर के अभाव से मुखमात्र सम्बन्धी दर्पण जैसे चिन्मात्रसम्बन्धी अज्ञान है–यह कैसे होगा?

समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि प्रतिबिम्बत्वोपहितमुखादि से भिन्नत्वेन ज्ञान बिम्बत्वोपहित मुख से अन्य मुखादि ही ("बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतं मुखमात्रम्" इस पूर्वोक्तवाक्य में कथित) मात्र शब्द का अर्थ होने से अनुगत धर्मी से अतिरेक संभव है। (उपाधि भेद से जिस प्रकार बिम्ब प्रतिबिम्ब मुखों में भेद है,उसी प्रकार केवलमुख और उपहितमुख में भी भेद होने से बिम्ब और

ननु— उपाधिः प्रतिबिम्बपक्षपातीति सामान्यव्याप्तेरज्ञानं स्वाश्रय एव भ्रान्त्यादिहेतुरिति विशेषव्याप्त्या बाध इति—चेन्न, विशेषव्याप्तिग्राहकसहचारदर्शनस्य विवाद विषयातिरिक्तेऽ— संभवेन विशेषव्याप्त्यसंभवात्। न च बन्धस्य चिन्मात्राश्रितमोक्षसामाना— धिकरण्यानुपपत्तिः, अवच्छेद्यांशमादाय सामानाधिकरण्यस्योक्तत्वात्।

ननु— उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं तत्र स्वधर्मप्रतिभासकत्वं वा? स्वकार्यप्रतिभासकत्वं वा? स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वं वा? प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वं वा? नाद्यः, सुषुप्त्याद्यनुवृत्तस्याविद्यारूपस्याविद्यावच्छिन्नत्वरूपस्य वा, तत्प्रतिबिम्बित्वस्य वा, सुषुप्त्यादावननुवृत्तस्य कर्तृत्वप्रमातृत्वादिरूपस्य वा संसारस्याज्ञान निष्ठत्वाभावात्। ज्ञान— क्रियासंस्कारादीनां त्वन्मते अज्ञाननिष्ठत्वेऽपि नित्यातीन्द्रियाणां तेषामात्मनि कदाप्यप्रतीतेः। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।' इति त्वन्मतेऽपि अविद्या बन्धिका बन्धो वा, न तु बद्धा, येन स्वनिष्ठबन्धरूपधर्मसंक्रामकत्वं स्यात्। न द्वितीयः, विच्छेदादेरुपाधि— कार्यस्य बिम्बे महाकाशे च दर्शनात्, मुखस्य बिम्बत्वादेर्ब्रह्मस्थसार्वज्ञ्यादेश्चानौपाधिक— त्वापाच्च। नापि तृतीयचतुर्थौ, दर्पणघटादावदृष्टेः। एवं बुद्धिरूपोपाधिरपि न प्रतिबिम्ब—

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

प्रतिबिम्ब मुखों में केवल मुख भिन्न है— ऐसा ही कहना होगा। और वह केवल मुख बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भी अवश्य अनुगत होता है, क्योंकि उपहितमुख और केवलमुख में तादात्म्य का अनुभव होता है—यह भाव है)।

शंका— उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती है— यह सामान्यव्याप्ति—अज्ञान स्वाश्रय मे ही भ्रान्त्यादि का हेतु है— इस विशेषव्याप्ति से बाधित होती है।

समाधान— ऐसा नहीं होगा, क्योंकि विशेषव्याप्ति का ग्राहक जो सहचार दर्शन है, वह विवादविषय से अतिरिक्त में असम्भव होने से विशेषव्याप्ति असम्भव है।

शंका— बन्ध का चिन्मात्राश्रित मोक्ष के साथ समानाधिकरण्य नहीं हो सकता।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि अवच्छेद्यांश को लेकर सामानाधिकरण्य पहले ही कह चुके हैं।

शंका— उपाधि का प्रतिबिम्ब पक्षपातित्व क्या है? (१) क्या वह प्रतिबिम्ब में स्वधर्म प्रतिभासकत्व है, अथवा (२) स्वकार्यप्रतिभासिकत्व है, या (३) स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्व है, अथवा (४) प्रतिबिम्ब के प्रति स्वविषयाच्छादकत्व है? आद्य पक्ष नहीं होगा,क्योंकि सुषुप्त्यादि में अनुवृत्त अविद्यादिरूप या अविद्यावच्छिन्नत्व रूप या अज्ञान में प्रतिबिम्बतत्वरूप अथवा सुषुप्त्यादि में अननुवृत्त कर्त्तत्वभोक्तृत्वादिरूपसंसार के अज्ञाननिष्ठत्व का अभाव है। और ज्ञानक्रिया सस्कारादि का तुम्हारे मत में अज्ञाननिष्ठत्व होने पर भी उन नित्यातीन्द्रियों की आत्मा में किसी समय प्रतीति नहीं होती। '' अविद्या का अस्तमय मोक्ष है और अविद्या बन्धरूप है'' इस प्रकार मानने वाले तुम्हारे मत में भी अविद्या बन्ध करने वाली है, या बन्ध ही है, किन्तु वह बद्ध तो नहीं है, जिससे वह स्वनिष्ठबन्धरूप धर्म का संक्रामक हो जाये। द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि उपाधि का कार्य विच्छेद अर्थात् विभाग बिम्ब महाकाश में देखने में आता है (अर्थात् उपाधि के प्रतिबिम्बपक्षपातित्व को प्रतिबिम्ब में ही स्वकार्य प्रतिभासकत्व मान लिया जाये तो बिम्ब में उसका कार्य नहीं देखना चाहिये, किन्तु घटादि उपाधि का कार्य विभागादि बिम्बभूत महाकाश में घटाकाशादि रूप से देखने में आता है; अतः स्वकार्य प्रतिभासकत्व प्रतिबिम्ब पक्षपातित्व नहीं हो सकता); और मुख में बिम्बत्व तथा ब्रह्म में सर्वज्ञत्व भी औपाधिक

पक्षपातीति—चेन्न, अतिशयेन कार्यकरत्वमेव तत्पक्षपातित्वम्। तथा च विच्छेदादिरूप— कार्यकरत्वसाम्येऽपि स्थौल्याद्यवभासरूपकार्यकरत्वेन दर्पणादेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्ववत् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसाररूपकार्यकरतवेनाविद्यायामपि प्रतिबिम्बपक्षपातित्वोपपत्तेः। यत्तूक्तं मुखादिगतं बिम्बत्वं ब्रह्मगतं सार्वज्ञ्यादिकं चानौपाधिकं स्यादिति। तन्न; उपाधौ बिम्बकार्यकर— त्वमेव नेतीति न ब्रूमः, किंतु प्रतिबिम्बे अतिशयनेति। यदपि बुद्धिरूपोपाधेरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, तस्य प्रतिबिम्बापक्षपातिजपाकुसुमस्थानीयत्वेन तत्पक्षपात्याद— र्शस्थानीयत्वाभावादिति। तन्न; स्वनिष्ठस्थौल्यावभासकत्वेनादर्शस्येवास्यापि स्वनिष्ठ— धर्मावभासकत्वेन तद्वत् पक्षपातित्वसंभवात्। तस्मादविद्याकृतविच्छेदेन ब्रह्मण्येव नित्यमुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वादिव्यवस्थोपपत्तिः। एतेन— असर्वज्ञत्वादिनानुभव— सिद्धाज्जीवात् अन्यस्य चेतनस्याभावेन सार्वज्ञ्यादिश्रुतिनिर्विषया स्यात्, एकजीववादे संसार्यसंसारिव्यवस्थाऽयोगाद् ' द्वा सुपर्णा' 'य आत्मनि तिष्ठन्, इत्यादिश्रुतिभिः 'अन्यश्च परमो राजन् तथाऽन्यः पंचविंशकः।' 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप' इत्यादिस्मृतिभिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

नहीं होना चाहिये (किन्तु औपाधिक ही है)। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ पक्ष भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दर्पण घटादि उपाधियों में ऐसा देखने में नहीं आता। इसी प्रकार बुद्धिरूप उपाधि भी प्रतिबिम्ब पक्षपाती नहीं।

समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि अतिशयरूप से कार्यकरत्व ही उपाधि का प्रतिबिम्बपक्षपातित्व है (जैसे भगवान् सबके दाता होते हुए भी भक्तों के प्रति अतिशयेन दाता होने से भक्तपक्षपाती कहे जाते हैं, वैसे ही उपाधि भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कार्यकर होती हुई भी अतिशयेन प्रतिबिम्ब के प्रति कार्यकर होनेसे प्रतिबिम्ब पक्षपाती ऐसी कही जाती है—यह भाव है)। तब तो बिम्ब के लिये विभागादिकार्यकरत्वसाम्य होने पर भी स्थूलतादि के अवभासरूप कार्यकरत्व होने से जिस प्रकार दर्पणादि का प्रतिबिम्बपक्षपातित्व है, उसी प्रकार कर्त्तृत्वभोक्तृत्वादि संसार रूप कार्यकारत्व होने से अविद्या में भी प्रतिबिम्बपक्षपातित्व हो सकता है और जो कहा कि मुखादिगत बिम्बत्व और ब्रह्मगत सर्वज्ञत्वादि औपाधिक नहीं होना चाहिये—इति; वह ठीक नहीं, क्योंकि उपाधि में बिम्ब के लिये कार्यकरत्व ही नहीं— ऐसा हम नहीं कहते; किन्तु प्रतिबिम्ब में अतिशय से कार्यकरत्व है—ऐसा हम कहते हैं। और भी जो कहा था कि बुद्धिरूप उपाधि का भी प्रतिबिम्बपक्षपातित्व नहीं; क्योंकि वह बुद्धिरूप उपाधि प्रतिबिम्ब से अपक्षपातिजपाकुसुमस्थानी होने के कारण प्रतिबिम्बपक्षपाति दर्पणस्थानीय नहीं हैं—इति। वह भी ठीक नहीं; क्योंकि जिस प्रकार दर्पणादि का स्वनिष्ठस्थौल्यादि का अवभासक होकर प्रतिबिम्ब पक्षपातित्व है, उसी प्रकार बुद्धिरूप उपाधि का भी प्रतिबिम्बरूप जीव में स्वनिष्ठकर्त्तृत्वादि धर्म का अवभासक होकर प्रतिबिम्बपक्षपातित्व हो सकता है। इसलिये अविद्याकृत विभाग के द्वारा ब्रह्म में ही नित्यमुक्तत्व, संसारित्व, सर्वज्ञत्व, किञ्चिज्ज्ञत्वादि की व्यवस्था हो सकती है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब में अतिशय से कार्यकरत्व होने से— असर्वज्ञरूप से अनुभवसिद्ध जीव से भिन्न चेतन के अभाव होने से सर्वज्ञत्वादिप्रतिपादक श्रुति निर्विषयक हो जायेगी, एक जीववाद में संसारी और असंसारी की व्यवस्था नहीं हो सकेगी और "द्वासुपर्णा", "य आत्यति तिष्ठन्" इत्यादि श्रुतियों , 'हे राजन्! परमात्मा अन्य है और पञ्चविंशतितत्त्ववाला जीव अन्य है", 'हे परन्तप! उन सब व्यतीत जन्मों को मैं जानता हूं, और तुम तो नहीं जानते हो" इत्यादि स्मृतियों से, और "यह शरीर जीवात्मा

'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्यादिसूत्रैः 'तस्माच्छारीरादन्य एवेश्वरः। आत्मानौ तावेतौ चेतनौ, एकः कर्ता भोक्ता अन्यस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः' इत्यादिभाष्यैः 'तत्त्वज्ञानसंसरणे चावदातत्वश्यामत्वादिवत् नेतरेतरत्रावतिष्ठेते' इत्यादि–विवरणग्रन्थैश्च विरोध इति– निरस्तम्।

ननु–चिन्मात्रस्याज्ञानं स्वाभावाविकम्? औपाधिकं वा? नाद्यः; आत्मवदनिवृत्तिप्रसङ्गात्। नान्त्यः, स्वस्यैवोपाधित्वे आत्माश्रयाद्, एतदपेक्ष्यान्यापेक्षत्वे अन्योन्याश्रयात्, तदन्यान्यापेक्षत्वे चानवस्थानादिति–चेन्न, स्वस्यैवाश्रयत्वोपाधित्वात्। न चात्माश्रयः, भेदस्य स्वभेदकत्ववदुपपत्तेः, स्वाभाविकस्यापि घटरूपस्य तत्प्रागभावस्य च निवृत्तिदर्शनात्।

इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अन्तर्यामी नहीं, क्योंकि काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में अन्तर्यामी से भिन्न शारीरात्मा का वर्णन किया गया है'', तथा ''जीव आनन्दमय नहीं, क्योंकि श्रुति में जीव से भिन्न आनन्दमय को व्यपदेश किया गया है'' इत्यादि सूत्रों से, और ''इस कारण शरीर आत्मा से अन्य ही ईश्वर है। ये दोनो ही चेतन आत्मा हैं, इनमें एक कर्ता भोक्ता है और दूसरा उससे विपरीत पापरहितत्वादिगुणयुक्त है'' इत्यादि भाष्यों से, तथा '' जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब मे अवदातत्व और आत्मत्व है, उसके विपरीत नहीं होता, वैसे ही विंबप्रतिबिम्ब भूत ईश्वर और जीव मे तत्त्वज्ञान और संसरण अर्थात् अनावरण और आवरण है, उसके विपरीत व्यत्यय नही होता'' इत्यादि विवरण ग्रन्थ से विरोध है– ऐसा कथन निरस्त हुआ।

शंका– चिन्मात्रनिष्ठ अज्ञान स्वाभाविक है या औपाधिक? आद्यपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे आत्मा स्वाभाविक होने से उसकी निवृत्ति नहीं होती, वैसे ही अज्ञान स्वाभाविक होने से उसकी अनिवृत्ति का प्रसङ्ग है। अन्तिम पक्ष भी नहीं होगा, क्योंकि अपनी स्थिति में अपने आप उपाधि होने पर आत्माश्रय होता है, और उस प्रथम अज्ञान की अपेक्षा रखने वाले दूसरे अज्ञान की अपेक्षा होने पर तो अन्योन्याश्रय होगा, तथा द्वितीय अज्ञान को प्रथम से भिन्न तृतीय अज्ञान की अपेक्षा होने पर तो अनवस्था होगी।

समाधान– ऐसा नहीं होगा, क्योंकि स्व का ही आश्रयत्वोपाधित्व अर्थात् अज्ञान स्वोपाधिवाले चेतन में आश्रित है। इसमें आत्माश्रय भी नहीं होगा, क्योंकि जिस प्रकार भेद स्वभेदक होता है, उसी प्रकार अज्ञान भी स्वोपाधिक हो सकता है– अर्थात् जैसे भेद स्वोपहित में रहकर स्वभेदक होता है, वैसे ही अज्ञान भी स्वोपहित में रहकर स्वभेदक रूप से स्वोपाधिक हो सकता है और अज्ञान के स्वाभाविक पक्ष में भी निवृत्ति हो सकती है,क्योंकि स्वाभाविक होते हुए भी घटरूप की तथा घटप्रागभाव की निवृत्ति देखने में आती है।

इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानस्थचिन्मात्राश्रयत्वोपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।

४७ : अथाऽज्ञानवादेऽविद्यायाः सर्वज्ञाश्रयत्वोपपत्तिः

ननु— शुद्धब्रह्मणः चिन्मात्रस्याज्ञानाश्रयत्वे सार्वज्ञ्यविरोधः। न च— विशिष्ट एव सार्वज्ञ्यम्, 'तुरीयं सर्वदृक्सदा' इति शुद्धस्यैव सर्वज्ञत्वोक्तेरिति—चेन्न, सर्वदृक्पदेन सर्वेषां दृग्भूतं चैतन्यमित्युच्यते, न तु सर्वज्ञं तुरीयम्, तस्माद्विशिष्ट एव सार्वज्ञ्यम्। तच्चाविद्यां विना न संभवतीत्यविद्यासिद्धिः। तथा हि— सर्वज्ञो हि प्रमाणतः, स्वरूपज्ञप्त्या वा। तत्र प्रमाणस्य भ्रान्तेश्चाविद्यामूलत्वाद्, असङ्गस्वरूपज्ञप्तेश्चाविद्यां विना विषयासङ्गतेः। तदुक्तम्—

स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम्।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासंबन्धं नैव सिध्यति।।'इति

न च— स्वरूपज्ञप्तेः स्वतः कालाद्यसंबन्धेऽसत्त्वापातेन स्वतःसंबन्धाभावेऽसर्वगतत्वापातेन चाविद्ययेव स्वत एवान्येन संबन्धो वक्तव्य इति—वाच्यम्, अविद्यासंबन्धस्याप्याविद्यकत्वेनाविद्ययेवेति दृष्टान्तानुपपत्तेः। स्वतः परतो वा कालादिसंबन्धेन चासद्वैलक्षण्यसर्वगतत्वयोरुपपत्तेर्न तयोरर्थे स्वतः कालसंबन्धसर्वसंबन्धापेक्षा। असङ्गत्वश्रुतिरपि स्वतः सङ्गाभावविषयत्वेनोपपद्यते। अत एव— 'अज्ञताऽखिसलसंवेत्तुर्घटते न कुतश्चन'इति— निरस्तम्। तस्माच्चिन्मात्राश्रितैवाविद्या।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानवादे सर्वज्ञस्याविद्याश्रयत्वोपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— चिन्मात्ररूप शुद्धब्रह्म का अज्ञानाश्रयत्व होने पर सर्वज्ञत्व से विरोध होगा और विशिष्ट में ही सार्वज्ञ्य है— ऐसा भी नहीं; क्योंकि ''तुरीय आत्मा सदा सर्वदृक् अर्थात् सर्वावभासक है'' इस प्रकार शुद्ध के ही सर्वज्ञत्व की उक्ति है।

समाधान— ऐसा अर्थ नहीं; क्योंकि सर्वदृक् पद से सब का दृग्भूत शुद्ध चैतन्य है— ऐसा कहा गया है, न कि तुरीय सर्वज्ञ; इसलिये विशिष्ट में सर्वज्ञत्व है। और वह सर्वज्ञत्व शुद्ध में अविद्या के बिना असम्भव होने के कारण उससे अविद्या की सिद्धि होती है। तथाहि— प्रमाण से अर्थात् वृत्तिज्ञान से सर्वज्ञ है, या स्वरूपज्ञप्ति से? उनमें प्रमाण (भाविगोचरानुमितिरूप अविद्यावृत्ति और भ्रान्ति) (विद्यमानगोचर और नष्टगोचरस्मृतिरूप प्रमाण से अजन्य अविद्यावृत्ति) अविद्यामूल ही है। और असङ्गस्वरूपज्ञप्ति का भी अविद्या के बिना विषय के साथ संबन्ध नहीं हो सकता। (अतः अविद्या की सिद्धि होती है)। इस संबन्ध में कहा भी है—'' स्वरूप से या अविद्यावृत्तिरूप प्रमाणों से सर्वज्ञत्व दो प्रकारों से हो सकता है (दो प्रकार से स्थित है); वे दोनों ही अविद्या के साथ संबन्ध हुए बिना सिद्ध नहीं हो सकते''।

शंका— स्वरूपभूतज्ञप्ति का स्वतः कालादि के साथ संबन्ध होने पर असत्त्व प्रसंग होने से और स्वतः सम्बन्ध का अभाव होने पर असर्वगतत्व आपात होने से अविद्या के साथ जैसे स्वतः संबन्ध होता हे, वैसे ही अन्य के साथ भी स्वतः ही संबन्ध कहना चाहिये।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि स्वरूपज्ञप्ति का अविद्या के साथ संबन्ध भी आविद्यक होने से अविद्या के द्वारा ही होता है। इस कारण उसको दृष्टान्त बनाना असङ्गत है। स्वतः या परतः कालादि के संबन्ध और सर्व के साथ संबन्ध होने से स्वरूपज्ञप्ति में असद्वैलक्षण्य और सर्वगतत्व दोनों की उपपत्ति होने से इन दोनों की उपपत्ति के लिये स्वतः काल संबन्ध और सर्वसंबन्ध की अपेक्षा नहीं होती। असङ्गत्वप्रतिपादक श्रुति भी स्वतः ही संगाभावविषयक होने से उपपन्न है। अतएव ''अखिलज्ञाता की किसी भी प्रकार से अज्ञता अर्थात् अज्ञानसंबन्धिता नहीं हो सकती'' यह कथन निरस्त हुआ। इसलिये चिन्मात्र में आश्रित अविद्या सिद्ध हुई।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानवादे सर्वज्ञस्याविद्याश्रयत्वोपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।

४८ : अथाज्ञानवादे वाचस्पतिमिश्रसंमतजीवाश्रयत्वोपपत्तिः

वाचस्पतिमिश्रैस्तु जीवाश्रितैवाऽविद्या निगद्यते। ननु–जीवाश्रिताऽविद्यातत्प्रतिम्बतचैतन्यं वा, तदवच्छिन्नचैतन्यं वा, तत्कल्पितभेदं वा जीवः, तथा चान्योन्याश्रय इति–चेन्न, किमयमन्योन्याश्रय उत्पत्तौ? ज्ञप्तौ? स्थितौ वा? नाद्यः, अनादित्वादुभयोः, न द्वितीयः, अज्ञानस्य चिद्भास्यत्वेऽपि चितेः स्वप्रकाशत्वेन तदभास्यत्वात् न तृतीयः, स किं परस्पराश्रितत्वेन वा, परस्परसापेक्षस्थितिकत्वेन वा स्यात् तन्न, उभयस्याप्यसिद्धेः, अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वे चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चिति अविद्याश्रितत्वतदधीनस्थितिकत्वयोरभावात्। न चैवमन्योऽन्याधीनताक्षतिः, समानकालीनयोरप्यवच्छेद्यावच्छेदकभावमात्रेण तदुपपत्तेः, घटतदवच्छिन्नाकाशयोरिव प्रमाणप्रमेययोरिव च तदुक्तम्–

'स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम्
तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः' इति।।

एतेन– यद्युत्पत्तिज्ञप्तिमात्राप्रतिबन्धकत्वेनान्योऽन्यापेक्षताया अदोषत्वम्, तदा चैत्रमैत्रादेरन्योन्यारोहणाद्यापत्तिरिति निरस्तम्, परस्परमाश्रयाश्रयिभावस्यानङ्गीकारात्। न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

आचार्यवाचस्पतिमिश्र तो जीवाश्रित अविद्या है– ऐसा कहते हैं।

शंका– यदि जीवाश्रित अविद्या है तो चाहे जीव उस अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य हो या अविद्या से अवच्छिन्न चैतन्य हो, या अविद्या के द्वारा ईश्वर से कल्पितभेदवाला चैतन्य जीव हो, चाहे कैसा भी हो, दोनों में अन्योन्याश्रय होता है (क्योंकि जीव को स्वरूपसिद्धि के लिये अविद्या की अपेक्षा है, और अविद्या को स्वाश्रय के लिये जीव की अपेक्षा है)।

समाधान– ऐसा नहीं हो सकता; क्यों यह अन्योन्याश्रय उत्पत्ति में है? या ज्ञप्ति में है? या स्थिति में है? आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों ही अनादि हैं। द्वितीय पक्ष भी नहीं होगा, क्योंकि अज्ञान चिद्भास्य होने पर भी चित् तो स्वयं प्रकाश होने से अविद्या के द्वारा भास्य नहीं। तृतीय पक्ष भी नहीं होगा, क्योंकि स्थिति में वह अन्योन्याश्रय परस्पराश्रितत्व होने से है? या परस्पर सापेक्षस्थितिकत्व से है? यह नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों की ही असिद्धि है। अज्ञान का चिदाश्रयत्व और चिदधीनस्थितिकत्व होने पर भी (अर्थात् अज्ञान का जीवाश्रितत्व और जीव नियमितस्थितिकत्व होने पर भी) चित् (जीव) में अविद्याश्रितत्व और अविद्याधीनस्थितिकत्व (अर्थात् अविद्याऽन्यावृत्तित्व) का अभाव है; (अर्थात् जीव का शुद्धचिद्वृत्तित्व है, अविद्यावृत्तित्व नहीं)। और ऐसा होने पर दोनों में अन्योन्याधीनता (अर्थात् अविद्यानाश जीवनाशव्यापक होने से अथवा अविद्या जीवोपाधि होने से अन्योन्याधीनता) की क्षति भी नहीं होगी, क्योंकि व्याप्य व्यापकभाव से समानकालीन दोनों का अवच्छेद्यावच्छेदक भाव (उपहितोपाधिभाव) मात्र से परस्पराधीनत्व हो सकता है; जैसे समानकालीन घट और घटावच्छिन्न आकश में और प्रमाणप्रमेय में परस्पराधीनता होती है। इस संबन्ध में कहा भी है– "अपने से ही कल्पित प्रदेश (अर्थात् स्वावच्छिन्न) आकाश में जिस प्रकार घटादि है, उसी प्रकार ज्ञानी लोग जीवाश्रित अविद्या को मानते हैं।" इति। और इसके द्वारा ही– यदि उत्पत्ति और ज्ञप्तिमात्र के प्रतिबन्धकरूप से अन्योन्याश्रय अदोष है तो चैत्रमैत्रादि के भी अन्योन्यारोहण की आपत्ति होगी– ऐसा कथन भी निरस्त हुआ; क्योंकि जीव और अविद्या में परस्पराश्रयाश्रयिभाव का अङ्गीकार नहीं है।

चेश्वरजीवयोरीश्वरजीवकल्पितत्वे आत्माश्रयः, जीवेशकल्पितत्वे चान्योन्याश्रयः, न च शुद्धाचित् कल्पिका, तस्या अज्ञानाभावादिति—वाच्यम्, जीवाश्रिताया अविद्याया एव जीवेशकल्पकत्वेनैतद्विकल्पानवकाशात्। तस्माज्जीवाश्रयत्वेऽप्यदोषः।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानस्य जीवाश्रयत्वोपपत्तिः

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— ईश्वर और जीव को ईश्वर जीव से कल्पित मानने पर आत्माश्रय होता है, और ईश्वर को जीव से तथा जीव को ईश्वर से कल्पित मानने पर अन्योन्याश्रय होता है, और शुद्ध चित् तो कल्पक नही, क्योकि उसमे अज्ञान नही।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योकि जीवाश्रित अविद्या ही जीव और ईश्वर की कल्पिका होने से इस प्रकार के विकल्प करने का अवकाश ही नही आता। इसलिये अविद्या का जीवाश्रयत्व मे भी कोई दोष नही होता।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानस्य जीवाश्रयत्वोपपत्ते राष्ट्रभाषानुवादः।।



४९ : अथाज्ञानवादेऽज्ञानविषयनिरुपणम्

अविद्याया विषयोऽपि सुवचः। तथा हि— चिन्मात्रमेवाविद्याविषयः, तस्याकल्पितत्वेनान्योऽन्याश्रयादिदोषाप्रसक्तेः, स्वप्रकाशत्वेन प्रसक्तप्रकाशे तस्मिन् आवरणकृत्यसंभवाच्च, नान्यत्, तस्याज्ञानकल्पितत्वाद्, अप्रसक्तप्रकाशत्वेनावरणकृत्याभावाच्च। ननु— किमावरणकृत्यं (१) सिद्धप्रकाशलोपो वा? (२) असिद्धप्रकाशानुत्पत्तिर्वा? (३) सतः प्रकाशस्य विषयासम्बन्धो वा (४) प्राकट्याख्यकार्यप्रतिबंधो वा? (५) नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहारो वा? (६) अस्ति प्रकाशत इति व्यवहाराभावो वा ? (७) नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्वं वा? (८) अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्वं वा ? नाद्यद्वितीयौ, स्वरूपप्रकाशस्य नित्यसिद्धत्वेन तल्लोपानुत्पत्त्योरसंभवात्, तदन्यस्य च स्वप्रकाशे तस्मिन्ननपेक्षितत्वात्। न तृतीयः, ज्ञानस्य विषयसम्बन्धैकस्वभावत्वात्, स्वयं ज्ञानरूपत्वेन त्वन्मते संबन्धानपेक्षणाच्च। नापि चतुर्थः, त्वन्मते चैतन्यातिरिक्तस्य तस्याभावात्। नापि पञ्चमः, सुषुप्तौ व्यवहाराभावेनानावरणापातात्। नापि षष्ठः, व्यवहारस्याभिज्ञात्वे स्वरूपाभिज्ञाया इदानीमपि सत्त्वाद्, वृत्तेश्च मोक्षेऽप्यसत्त्वात्। अभिलपनरूपत्वे

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

अविद्या का विषय भी सुवच ही है। तथाहि—चिन्मात्र ही अविद्या का विषय है, क्योंकि चिन्मात्र कल्पित न होने से अन्योन्याश्रयादि दोष की प्रसक्ति नहीं। और स्वप्रकाश होने के कारण प्रसक्तप्रकाश उस चिन्मात्र में आवरण का कृत्य (कार्य) सम्भव है, अन्य तो अविद्या का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि अन्य अविद्या से कल्पित है और अप्रसक्तप्रकाश होने से उसमें आवरण का कृत्य भी नहीं हो सकता।

शंका— आवरण का कृत्य क्या है? (१) क्या वह सिद्धप्रकाशलोप है? अथवा (२) असिद्धप्रकाश की उत्पत्ति का अभाव है? या (३) विद्यमान प्रकाश का विषय के साथ सबन्धाभाव है? या (४) प्राकट्याख्य कार्य का प्रतिबन्ध है? या (५) "नास्ति, न प्रकाशते" ऐसा व्यवहार है? या (६) "अस्ति प्रकाशते" इस व्यवहार का अभाव है? अथवा (७) "नास्ति" इत्यादि व्यवहार योग्यत्व है? या (८) "अस्ति" इत्यादि व्यवहार का अयोग्यत्व है? इनमें प्रथम और द्वितीय पक्ष नहीं हो सकते, क्योंकि चिन्मात्र का स्वरूप प्रकाश नित्यसिद्ध होने के कारण उसका लोप और अनुत्पत्ति नहीं हो सकती। और स्वरूपप्रकाश के अतिरिक्त प्रकाश की उस स्वप्रकाश चिन्मात्र में अपेक्षा नहीं रहती। तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान का विषय के साथ संबन्ध ही एक स्वभाव है, और स्वयं ज्ञानरूप होने से तुम्हारे द्वारा अभ्युपगत शुद्ध चैतन्य में संबन्ध की अपेक्षा नहीं रहती। और चतुर्थ पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि तुम्हारे मत में चैतन्य के अतिरिक्त प्राकटव्याख्य कार्य का अभाव है। पञ्चम पक्ष भी नहीं होगा; क्योंकि सुषुप्ति में "नास्ति", न प्रकाशते" इस प्रकार व्यवहाररूप कृत्य का अभाव होने से अनावरण होने का प्रसङ्ग होगा। षष्ठ पक्ष भी नहीं हो सकता,क्योंकि "अस्ति, प्रकाशते" इस व्यवहार को अभिज्ञारूपज्ञान मनोगे तो स्वरूपभूत अभिज्ञा इस काल अर्थात् आवरणकाल में भी होने से उक्त व्यवहार का अभाव नहीं होगा; और वृत्तिरूपज्ञानव्यवहार के अभाव को आवरण का कृत्य मानोगे तो मोक्ष में भी वृत्तिरूपज्ञानव्यवहार का अभाव है (तब तो उस समय में भी आवरणकृत्य मानना होगा)। और अभिलपन रूप (शब्द व्यवहार रूप) व्यवहार का अभाव तो मोक्ष में भी होने के

मोक्षेऽप्यावरणप्रसङ्गात्। नापि सप्तमाष्टमौ, तयोरप्यारोपितत्वेनावरणं विनायोगादिति—चेन्न, नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहार एवाभिज्ञादिसाधारणः, अस्ति प्रकाशत इत्येतद्व्यवहाराभावो वा आवरणाकृत्यम्। आवरणं च तद्योग्यता अज्ञानसंबन्धरूपा सुषुप्त्यादिसाधारणी आब्रह्मज्ञानमवतिष्ठते। तेन सुषुप्तिकाले नानावरणम्, मोक्षकाले च नावरणम्। यदुक्तमस्याप्यारोपित्वेनावरणसापेक्षत्वमिति, तन्न, अज्ञानसंबन्धरूपस्यावरणस्यानादित्वेन चित्प्रकाश्यत्वेन च उत्पत्तौ ज्ञप्तौ स्थितौ वा स्वानपेक्षणात्। ननु— अद्वितीयत्वादिविशिष्टे तथा व्यवहारेऽपि अवस्थात्रयेऽप्यसन्दिग्धाविपर्यस्तत्वेन प्रकाशमानात्मरूपे अध्यासाधिष्ठाने सुखादिज्ञानरूपे चिन्मात्रे तदभावेन तत्कल्प्ययोर्योग्य— त्वायोग्यत्वयोरभाव इति—चेन्न, शुद्धरूपायाश्चितः प्रकाशमानत्वेऽपि तस्या एव परिपूर्णाद्याकारेणाप्रकाशमानत्वात्, तदर्थं तस्या एवावरणकल्पनात्, परिपूर्णाद्याकारस्य मोक्षदशानुवृत्तत्वेन शुद्धचिन्मात्रत्वात्। न च—निर्विभागचितः कथमेवं घटत इति—वाच्यम्, आवरणमहिम्नैव परिपूर्णं ब्रह्म नास्ति न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

कारण आवरणकृत्य का प्रसङ्ग होगा। तथा सप्तम और अष्टम पक्ष भी नहीं हो सकते; क्योंकि ''नास्ति'' इत्यादिव्यवहार योग्यत्व और ''अस्ति'' इत्यादि व्यवहारायोग्यत्व दोनों ही आरोपित होने से आवरण के बिना नहीं हो सकते।

समाधान – ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि ''नास्ति न प्रकाशते'' इत्यात्मक अभिज्ञादि साधारण (अर्थात वृत्तिज्ञानाभिलापादि साधारण) व्यवहार ही आवरणकृत्य है, अथवा ''अस्ति, प्रकाशते'' इस व्यवहार का अभाव आवरणकृत्य है और आवरण तो अज्ञानसंबन्धरूप उक्तकृत्ययोग्यता है, और वह योग्यता सुषुप्त्यादि साधारण है तथा ब्रह्मज्ञान होने तक रहती है। इस कारण सुषुप्तिकाल में अनावरण नहीं होता और मोक्षकाल में आवरण नहीं होता। जो कहा था कि यह भी आरोपित होने से आवरण की अपेक्षा करता है, ऐसा कथन ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञानसंबन्धरूप आवरण अनादि होने से और चित्प्रकाश्य होने से उत्पत्ति, ज्ञप्ति या स्थिति में अपने आपकी अपेक्षा नहीं करता।

शंका– अद्वितीयत्वादिविशिष्ट तथा व्यवहार में भी और अवस्थात्रय में भी असन्दिग्ध और भ्रमरहित होकर भासमान आत्मरूप, अध्यास का अधिष्ठान और सुखादि ज्ञानरूप चिन्मात्र में ''नास्ति, न प्रकाशते'' इस व्यवहार के अभाव से और ''अस्ति, प्रकाशते'' इस व्यवहार के अभाव के अभाव से ''नास्ति, न प्रकाशते'' इस व्यवहार से कल्पनीय नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्व, और ''अस्ति प्रकाशते'' इस व्यवहार के अभाव से कल्पनीय अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्व का अभाव है।

समाधान– यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि शुद्धरूप चित् प्रकाशमान होने पर भी वह परिपूर्णादि आकार से प्रकाशमान नहीं होती; अतः परिपूर्णादिरूप से अप्रकाशमानत्व के लिये ही चिदाश्रित आवरण की कल्पना है; और परिपूर्णादि आकार तो मोक्षदशा में भी अनुवृत्त होन के कारण शुद्धचिन्मात्र ही है।

शंका– निर्विभागचित् अर्थात् पूर्णापूर्ण भेदशून्य चित् में उक्त अप्रकाशमानत्वादि का व्यवहार कैसे हो सकता है?

समाधान– ऐसा न कहिये, क्योंकि आवरण की महिमा (अनुभव बल) से ही परिपूर्ण ब्रह्म नहीं, प्रकाशित नहीं होता– इस प्रकार का व्यवहार, तथा ब्रह्म है, प्रकाशित है, इस प्रकार के

प्रकाशत इति व्यवहारः, अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारप्रतिबन्धश्च, अध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानता चाविरुद्धेति। अत एव—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूप–स्वप्रकाशत्वविरुद्धे योग्यत्वायोग्यत्वे कथमिदानीमपि ब्रह्मणि स्याताम्? न च— अज्ञानादिम–त्त्वेनापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वरूपेण च तदयोग्यत्वमित्यविरोध इति— वाच्यम्, स्वरूपस्या–स्वप्रकाशत्वापातादिति—निरस्तम्, परिपूर्णाद्याकारेण इदानीं व्यवहाराभावेऽपि अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानपायात्। न चैवं—सुखादेरज्ञानावच्छिन्नचित्प्रकाश्यत्वे 'सुखादिकं न प्रकाशत' इत्यनुभवापातेन सुखादिकं प्रकाशत इत्यनुभवार्थं चितोऽज्ञानानवच्छेदेन प्रकाशोऽङ्गीकरणीय इति—वाच्यम्, इष्टापत्तेः, अनुक्तोपालम्भनत्वात्। न ह्यज्ञानावच्छेदेनैव चित् प्रकाशत इति ब्रूमः। अत एव च— नित्यातीन्द्रियेऽप्यज्ञानावच्छेदकतया अपरोक्षव्यवहारेण तत्रापि स्वप्रकाशापत्तिरिति— निरस्तम्, अज्ञानानवच्छेदेन तादृशस्य व्यवहारस्योक्तेः।

ननु— प्रदीपावारकघटादिवच्चैतन्यावारकाविद्याचैतन्यस्यान्यासंबन्धं प्रतिबध्नातु अन्यं प्रति चैतन्यमाच्छादयतु, न तु चैतन्यं प्रत्येव चैतन्ये उक्तयोग्यत्वरूपप्रकाशविरोधिनी सा, न हि दीपो घटावृतोऽपि स्वयं न प्रकाशते, तमःसम्बन्धापातात्। न च कल्पितभेदं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

व्यवहार का प्रतिबन्ध (अभाव) होते हैं; और अध्यास के अधिष्ठानादिरूप से सत्त्वेन प्रकाशमान तो अविरूद्ध है। अतएव—अवेद्यत्व होने पर अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व के विरूद्ध नास्तीत्यादिव्यवहार योग्यत्व और अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्व किस प्रकार इस काल (आवरणकाल) में भी ब्रह्म में होंगे? और इसमें 'अज्ञानादिमत्त्व होने से अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व है, और स्वरूप से अपरोक्षव्यवहारायोग्यत्व है; अतः अविरोध है— ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; कारण कि स्वरूप ही अप्रकाश होता है— यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि परिपूर्णादि आकार से इस समय व्यवहार का अभाव होने पर भी अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व का अभाव नहीं होता।

शंका— इस प्रकार से सुखादि अज्ञानावच्छिन्नचित्प्रकाश्य होने पर ''सुखादि प्रकाशित नहीं है'' ऐसा अनुभव होने का प्रसङ्ग होने से ''सुखादि प्रकाशित है'' इस अनुभव के लिये चित् का अज्ञानान्यावच्छेद से प्रकाश मानना चाहिये।

समाधान — ऐसा न कहो, क्योंकि उसमें इष्टापत्ति है, कारण कि तुमने अनुक्त का उपालम्भ किया है, हम तो अज्ञानावच्छेद से चित् प्रकाशित है— ऐसा तो नहीं कहते। अतएव— नित्यातीन्द्रिय पदार्थ में भी अज्ञानावच्छेद से अपरोक्ष व्यवहार होने के कारण उसमें भी स्वप्रकाश की आपत्ति होगी (अर्थात् परमाणु अज्ञातरूप से ज्ञाता है— इस प्रकार व्यवहार योग्यत्व और फलव्याप्यत्वाभावरूप अवेद्यत्व अतीन्द्रिय पदार्थ में विद्यमान होने से सप्रकाशता की आपत्ति होगी— यह कथन भी निरस्त हुआ; क्योंकि अज्ञानावच्छेद से (अर्थात् अज्ञानादि के विषरूप से ज्ञात होता है— ऐसा व्यवहारयोग्यत्व से व्यावृत्त होकर) इस प्रकार के अपरोक्ष व्यवहार की उक्ति है।

शंका— जिस प्रकार प्रदीप का आवरक घटादि प्रदीप के अन्य के साथ सबन्ध का प्रतिबन्धक है, उसी प्रकार चैतन्य की आवरक विद्या भी चैतन्य के अन्य के संबन्ध का प्रतिबन्धक हो, और अन्य के प्रति चैतन्य का आच्छादक हो, किन्तु चैतन्य के प्रति ही चैतन्य में ''नास्ति, न प्रकाशते'' इत्यादि व्यवहारयोग्यत्वरूप प्रकाशविरोधिनी अविद्या तो नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दीप घट से आवृत होता हुआ भी स्वयं को प्रकाशित नहीं करता, ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि

जीवचैतन्यं प्रति शुद्धचैतन्यमाच्छादयतीति—वाच्यम्, आवरणं विना भेदकल्पनस्यैवायोगात्। यो मोक्षे भावी चिन्मात्रस्यैव चिन्मात्रं प्रति प्रकाशः, तदभावस्यैवेदानीमज्ञानेन साधनीयत्वाच्चेति—चेन्न, कल्पितभेदं जीवं प्रति शुद्धचैतन्यस्यावृतत्वात्। न च—भेदकल्पन-स्यावरणोत्तरकालीनत्वादिदमयुक्तमिति—वाच्यम्, भेदावरणयोरुभयोरप्यनादित्वेन परस्परानन्तर्याभावात्। यच्चोक्तं—यो मोक्षे भावी चैतन्यस्य चैतन्यं प्रति प्रकाशः तदभाव इदानीमज्ञानसाध्य इति तन्न, मोक्षे जन्यस्य चैतन्यप्रकाशस्याभावात्, कल्पितभेदापगमे शुद्धचैतन्यं प्रत्येव प्रकाशस्य जीवं प्रत्यपि संभवात्। यच्चोक्तं—प्रकाशस्वरूपे चैतन्ये कथमज्ञानम्? न ह्यालोके तमः—इति। तन्न, अज्ञानतमसोर्विरोधितायामनुभवसिद्धविशेषात्। तथा हि—'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इति प्रकाशमाने वस्तुनि अज्ञानस्यानुभवात् स्वरूपचैतन्यं साक्षी वा नाज्ञानविरोधि, तमसस्तु आलोके सत्यननुभवाद्, आलोकमात्रं तद्विरोधि। वस्तुतस्तु— अवतमसे विषयप्रकाशकालोकसहभावदर्शनेन तमस्यापि नालोकमात्रं विरोधि। न च—'त्वदुक्तार्थो न प्रकाशत' इत्यनुभवादस्तु तत्र भासमाने अज्ञानम्, सुखादिस्फुरणे भासमाने न प्रकाशत इत्यननुभवात् कथं तत्राज्ञानमिति—वाच्यम्, सुखादिस्फुरणं न

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

स्वयं को प्रकाशित नहीं करता तो तम से संबन्ध होने का प्रसङ्ग होता है और कल्पितभेद वाले जीव चैतन्य के प्रति अविद्या शुद्ध चैतन्य को आच्छादन करती है—ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि आवरण के बिना भेद की कल्पना ही अयुक्त है, कारण कि चिन्मात्र के प्रति मोक्ष में होने वाला जो चिन्मात्र का ही प्रकाश है, उस प्रकाश का अभाव ही इस आवरण काल में अज्ञान के द्वारा साध्य है।

समाधान— यह कथन अयुक्त है, क्योंकि कल्पितभेद वाले जीव के प्रति अविद्या के द्वारा शुद्ध चैतन्य आवृत्त है।

शंका— भेद की कल्पना आवरण के उत्तरकालीन होने से यह कथन अयुक्त हैं

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकि भेद और आवरण दोनों ही अनादि होने से परस्पर में आनन्तर्य का अभाव है। और जो कहा था कि— चैतन्य के प्रति मोक्ष में होने वाला जो प्रकाश है, उसका अभाव इस समय अज्ञान से साध्य है— वह ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष में जन्य चैतन्य प्रकाश का अभाव है, और कल्पितभेद की निवृत्ति होने पर शुद्ध चैतन्य के प्रति जो प्रकाश है, वह प्रकाश इस समय में जीव के प्रति भी संभव है। और जो कहा था कि —प्रकाशस्वरूप चैतन्य में अज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि आलोक में तम नहीं होता। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञाननिष्ठ और तमोनिष्ठ विरोधिता में अनुभव से सिद्ध विशेष (अन्तर) है; तथाहि—"तुम्हारे द्वारा कहे हुए अर्थ को मैं नहीं जानता हूं" इस प्रकार प्रकाशमान वस्तु में अज्ञान का अनुभव होने से स्वरूपचैतन्य या साक्षी अज्ञान का विरोधी मालूम नहीं होता; और तम का तो आलोक होने पर अनुभव नहीं होता, अतः आलोकमात्र ही उसका विरोधी है। वास्तव में तो— न्यूनान्धकार में विषय प्रकाशक आलोक का सहभाव देखने से तम में भी आलोकमात्र विरोधी नहीं है।

शंका— "तुम्हारे द्वारा कहा हुआ अर्थ प्रकाशित नहीं होता" इस अनुभव से उस भासमान वस्तु में भले ही अज्ञान हो, किन्तु सुखादिस्फुरण भासमान होने पर उसमें "न प्रकाशते" ऐसा अनुभव न होने के कारण उसमें कैसे अज्ञान होगा?

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि "सुखादिस्फुरण प्रकाशित नहीं होता" ऐसा अनुभव न

प्रकाशत इत्यनुभवाभावेऽपि अनवच्छिन्नाकारेण न प्रकाशत इत्यनुभवाद्, आवरकाज्ञानस्य तत्राप्यावश्यकत्वात्। यदपि—' त्वदुक्तमर्थं न जानामि'इत्यत्र भासमाने नाज्ञानम्, किंतु गुहास्थं तमश्छन्नमितिवत् त्वदुक्तं न जानामीत्यनावृतसामान्यावच्छेदेनैव विशेषाज्ञानमनुभूयते, न हि परिचित्तस्थमज्ञानं प्रातिस्विकरूपेणानूद्यते, एवं च तद्विशेषसंशयं प्रति तत्सामान्यनिश्चय एव तद्विशेषावच्छिन्ना ज्ञानज्ञानं प्रति तत्सामान्यज्ञानमेव हेतुः, तथा दर्शनात्, न हि विशेषे ज्ञाते तदज्ञानधीर्दृष्टा, अवच्छेदकज्ञानस्य ह्यवच्छिन्नज्ञानहेतुतापि दर्शनादेव कल्प्या, न चातिप्रसङ्गः, सामान्यविशेषभावस्यैव नियामकत्वाद्—इति' तन्न, अज्ञानं हि विशेषावच्छिन्नतया भासते? सामान्यावच्छिन्नतया वा? आद्ये विशेषे भासमानत्वमागतमेव। न हि विशेषमभासयन्विशेषा— ज्ञानमित्यवभासयति। तथा च सामान्यनिश्चयजनितोऽपि संशयो विशेषमवगाहते यथा, तथा विशेषं विषयीकरिष्यतीति कुतो भासमाने नाज्ञानमिति। न द्वितीयः, सामान्यज्ञानेन तदवच्छिन्नतयैव गृहीतस्याज्ञानस्य विशेषसंबन्धित्वे मानाभावेन भासमाने सामान्य एवाज्ञानमवगतम्। वस्तुतः प्रतीतिप्रमाणकत्वात् तथा च परचित्तस्थं यथा अनुद्यते, तथा ज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति सिद्धम्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होने पर भी ''सुखादि से अनवच्छिन्नाकार से स्फुरण प्रकाशित नहीं होता'' इस अनुभव से वहा भी आवरक अज्ञान की आवश्यकता है। और जो ''तुम्हारे द्वारा कहे हुए अर्थ को नही जानता हूं'' इसमें भासमान वस्तु में अज्ञान नहीं है, किन्तु ''गृहास्थित वस्तु अन्धकार से आच्छादित है'' इसमें जिस प्रकार अनावृतवस्तुत्व सामान्यावच्छेद से विशेष के अज्ञान का अनुभव होता है, उसी प्रकार ''तुम्हारे द्वारा कहे हुए अर्थ को नहीं जानता हूं'', यहां पर भी अनावृतार्थत्वसामान्यावच्छेद से ही विशेष के अज्ञान का अनुभव है' क्योंकि दूसरे के चित्त में स्थित अज्ञान का विशेषरूप से अनुवाद नहीं किया जा सकता; और इसी प्रकार उस वस्तु विशेष के संशय के प्रति जिस प्रकार उस वस्तु सामान्य का निश्चय हेतु होता है, उसी प्रकार उस वस्तु विशेष से अवच्छिन्न अज्ञान के ज्ञान के प्रति उस वस्तुसामान्य का ज्ञान हेतु है; क्योंकि वैसा ही देखने में आता है, कारण कि— विशेषज्ञात होने पर तत्सामान्यविषयक अज्ञान का ज्ञान देखने में नहीं आता। इसी प्रकार अवच्छेदक ज्ञान (दण्डादिज्ञान) के अवच्छिन्नज्ञान (दण्डविशिष्टपुरूष ज्ञान) का हेतु होना भी देखने में आने से ही कल्पनीय है, इसमें अतिप्रसङ्ग भी नहीं; क्योंकि उसमें सामान्यविशेषभाव ही नियामक है— ऐसा कथन है; वह भी ठीक नहीं, क्योंकि—क्या अज्ञान विशेषावच्छिन्न होकर प्रतीत होता है, या सामान्यावच्छिन्न होकर? आद्यपक्ष में विशेष में भासमानत्व आ ही गया, क्योंकि विशेषाज्ञान ज्ञान विशेष को प्रकाशित नहीं करता हुआ विशेषाज्ञान को प्रकाशित नहीं करता। तब तो सामान्य निश्चय से उत्पन्न होता हुआ भी संशय जिस प्रकार विशेष का ग्रहण भी करता है, उसी प्रकार सामान्यज्ञान से उत्पन्न होता हुआ भी अज्ञान ज्ञान विशेष को विषय करेगा, तब तो भासमान वस्तु में अज्ञान क्यों नहीं होगा? द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि सामान्यज्ञान के द्वारा सामान्यावच्छिन्न होकर गृहीत अज्ञान के विशेष के साथ संबंधी होने में प्रमाण के अभाव से भासमान सामान्य में ही अज्ञान ज्ञात होता है; क्योंकि वस्तु प्रतीतिप्रमाणक होती है। तब तो जिस प्रकार परचित्तरूप अज्ञान का अनुवाद किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान और उसी प्रकार अज्ञान है— यह सिद्ध हुआ।

ननु— यथा द्वेषस्येष्टत्वेऽपि द्विष्टस्य नेष्टत्वम्, ईश्वरस्य भ्रांतिज्ञत्वेऽपि न भ्रमविषय–ज्ञत्वम्, अस्मदादीनामीश्वरसार्वज्ञ्यज्ञानेऽपि न सर्वज्ञत्वम्, एवमज्ञातज्ञानाभावेऽपि अज्ञानज्ञानमिति—चेन्न, दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः। तथा हि—इच्छा तावज्ज्ञानसमानविषया, ज्ञानं चावच्छेदकतया द्विष्टमपि विषयीकरोतीति इच्छाया अप्यवच्छेदकतया तद्विषयत्वात्। न हीच्छा इष्टतावच्छेदकाविषया भवति। एतावानेव विशेषः— किंचित् साध्यतया विषयीकरोति, किंचित् अवच्छेदकतया। ईश्वरोऽपि भ्रमविषयमगृहीत्वा भ्रमं न गृह्णाति भ्रमो हि भ्रमत्वेन ग्राह्यः। भ्रमत्वं च रजताभाववति रजतख्यातित्वं वा, असत्ख्यातित्वं वा, अनिर्वचनीयख्यातित्वं वा। तस्मिन् गृह्यमाणे सर्वथा विषयग्रहः। इयांस्तु विशेषः। यद् भ्रान्तः स्वातन्त्र्येण गृह्णति, ईश्वस्तु तज्ज्ञानावच्छेदकतयेति, ईश्वरसार्वज्ञ्यज्ञानमस्माकं तु सर्वज्ञपदेन। तत्र सर्वपदप्रतिपाद्यं जानन्नेवास्मदादिस्तत्र ज्ञानसंबंधं गृह्णातीति ईदृशं सार्वज्ञ्यमिष्टमेव। विशेषस्त्वीरश्वरस्य न कुत्राप्यज्ञानम्, अस्मादृशां तु विशेषेष्वज्ञानमिति कृत्वा। एवं च ज्ञात एव विशेषे अज्ञानज्ञानमिति। न च—घटादेरज्ञानावच्छेकतया भानेऽपि घटाद्यज्ञाननिवृत्तिं विना तदवच्छिन्नसंयोगादिज्ञानादर्शनेन प्रकृतेऽपि विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानार्थं

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— जिस प्रकार द्वेष इष्ट होने पर भी द्विष्ट इष्ट नहीं होता (अर्थात् किसी से द्वेष करना तो इष्ट है किन्तु जिससे द्वेष किया जाता है, वह द्विष्ट तो इष्ट नहीं है); ईश्वर भ्रान्तिज्ञ होने पर भी भ्रमविषयज्ञ नहीं है, और हम लोग. ईश्वर के सर्वज्ञत्व का ज्ञाता होने पर भी सर्वज्ञ नहीं है, उसी प्रकार अज्ञातार्थज्ञान का अभाव होने पर भी अज्ञान का ज्ञान है।

समाधान— यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि दृष्टान्त में संप्रतिपत्ति (मतैक्य) नहीं; तथाहि— इच्छा ज्ञानसमानविषयिका है; और ज्ञान तो अवच्छेदक रूप से (अर्थात् द्वेष के विशेषणरूप से) द्विष्ट को भी विषय करता है, अतः इच्छा भी अवच्छेदक रूप से द्विष्टविषयिका है। कारण कि इच्छा इष्टता के अवच्छेदक को विषय नहीं करती, ऐसी बात नहीं। उसमें इतना विशेष (अन्तर) है कि कुछ को (द्वेषादि को) साध्य (उद्देश्य) रूप से विषय करती है और कुछ को (द्विष्टादि को) उद्देश्यतावच्छेदेक रूप से विषय करती है। ईश्वर भी भ्रमविषय को ग्रहण किये बिना भ्रम का ग्राहक नहीं होता क्योंकि भ्रम भ्रमत्वेन ही ग्राह्य है; और भ्रमत्व तो रजताभावान् में रजतख्यातित्व हो या असत्ख्यातित्व हो, या अनिर्वनचीयख्यातित्व हो, भ्रमत्व का ग्रहण होने पर सर्वथा भ्रम विषय का भी ग्रहण हो ही जाता है। उसमें भी इतना विशेष है— भ्रान्त जिसको (शुक्त्यादि में राजतादि को) स्वतन्त्ररूप से ग्रहण करता है, उस रजतादि को ईश्वर भ्रमविषयक ज्ञान के विषयभ्रम के विशेषणरूप से ग्रहण करते हैं। और हम लोगों के ईश्वर के सार्वज्ञ का ज्ञान सर्वज्ञ पद से होता है। और उसमें सर्वपदप्रतिपाद्य अर्थ को जानते हुए हम लोग उस सर्वपदप्रतिपाद्य अर्थ में ज्ञान के सम्बन्ध का ग्रहण करते हैं। अतः हम लोगों में इस प्रकार का सार्वज्ञतो इष्ट ही है। और ईश्वर का सार्वज्ञ तो विशेष है, उनका किसी भी विषय में अज्ञान नहीं, हम लोगों का तो विशेषों में भी उक्त निमित्त से अज्ञान रहता है। इसप्रकार विशेष ज्ञात होने पर ही अज्ञान का ज्ञान होता है।

शंका— घटादि का अज्ञानावछेदक होकर भान होने पर भी घटाद्यान की निवृत्ति के बिना घटावच्छिन्नसंयोगादि का ज्ञान देखने में नहीं आता; अतः प्रकृत में भी विषयावच्छिन्न अज्ञान के ज्ञानार्थ अज्ञान के अवच्छेदक विषयाज्ञान की निवृत्ति भी वक्तव्य होने से अज्ञान के अविरोधी ज्ञान

तदवच्छेदकविषयाज्ञाननिवृत्तेरपि वक्तव्यत्वेनाज्ञानाविरोधिज्ञानवद् अज्ञानाविरोधिनी अज्ञाननिवृत्तिरपि स्वीकार्या स्यादिति–वाच्यम्, संयोगादिसत्त्वस्यावच्छेदक–घटादिसत्त्वसापेक्षत्वेऽपि यथा अभावे न स्वाधिकरणीयप्रतियोगिरूपावच्छेदकसत्त्वापेक्षा, विरोधात्, तथा अज्ञानज्ञानस्यापि न स्वविषयाज्ञाननिवृत्त्यपेक्षा, विरोधात्। न चैवं–तद्विषयकज्ञानापेक्षापि मास्तु, विरोधस्य समानत्वाद्, अविरोधकल्पनाबीजस्य ज्ञान इवाज्ञान–निवृत्तावपि समानत्वात्, तथा च विषये अज्ञात एवाज्ञानं ज्ञायते, विषयविशेषावच्छिन्न–बुद्धिस्तु तमसीव विशेषज्ञानान्तरं 'एतावत्कालममुमर्थं नाज्ञासिषमित्येवंरूपा जायत इति वाच्यम्, हन्तैवमभावस्वभावविरोधिप्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षज्ञानविषयत्वमभाववैलक्षण्य–साधकमज्ञाने उपपादितमायुष्मता। किञ्च यद्यज्ञानं स्वकाले विषयावच्छिन्नतया न भासयेत्, तदा तु 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'इति विषयावच्छिन्नाज्ञानस्य वर्तमानार्थप्रत्ययो विरुद्ध्येत। तस्मात् विषयाज्ञानसाधकत्वात् साक्षिरूपविषयप्रकाशोऽपि नाज्ञानविरोधी, किन्तु प्रमाणवृत्तिः। एकविषयत्वेऽपि प्रमाणवृत्तितदतिरिक्तवृत्त्योरज्ञानविरोधित्वाविरोधित्वे घटविषयकयोः सौरालोकज्ञानयोः सौरचाक्षुषप्रकाशयोर्वा तमोविरोधित्वाविरोधित्ववदुपपद्येते। न च–वृत्तिश्चैतन्यस्य विषयोपरागार्थेति मते अस्या अज्ञाननिवर्तकत्वाभावाद् इदमयुक्तमिति–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

के जैसे अज्ञान की अविरोधी अज्ञाननिवृत्ति की स्वीकृति होनी चाहिये।

समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि घटसंयोगादि के सत्त्व के स्वाधिकरणसंयुक्त घटादिसत्त्व का सापेक्षत्व होने पर भी जिस प्रकार विरोध होने के कारण अभाव में स्वाधिकरणनिष्ठ प्रतियोगीरूप अवच्छेदक के सत्त्व की अपेक्षा नहीं होती; उसी प्रकार यहां भी विरोध होने से अज्ञान ज्ञान के भी स्वविषय अज्ञान की निवृत्ति की अपेक्षा नहीं होगी।

शंका– इसी प्रकार से अज्ञानविषयक ज्ञान की अपेक्षा भी न हो, क्योंकि दोनों में विरोध समान है, और अविरोध कल्पना का बीज भी ज्ञान के जैसे अज्ञाननिवृत्ति में भी समान है, तब तो विषय अज्ञात होने पर ही अज्ञान जाना जाता है, और विषयविशेष बुद्धि तो जिस प्रकार तम नष्ट हो जाने पर ''घटादि तम इतने समय तक स्थित रहा'' ऐसा ज्ञान होता है। उसी प्रकार विशेषज्ञान होने के बाद ''इतने समय तक अमुक अर्थ नहीं जाना'' इस प्रकार से उत्पन्न होती है।

समाधान– ऐसा भी न कहो; क्योंकि इस प्रकार से आयुष्मान् तुम ने (हमारे समर्थन में ही) अज्ञान में अभावविलक्षणत्व के साधक अभावस्वभावविरोधी प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षज्ञान का विपयत्व ही प्रतिपादित किया है। किञ्च– यदि अज्ञान स्वकाल में स्वविषयावच्छिन्न होकर भासित नहीं होगा, तो ''तुम्हारे द्वारा कहे हुए अर्थ को मैं नहीं जानता हूं'' इस विषयावच्छिन्न अज्ञान का वर्तमानार्थ में (''न जानामि'' इस प्रकार) ज्ञान विरूद्ध हो जायेगा। इसलिये त्रिषयाज्ञान के साधक होने के कारण साक्षिरूप विषय प्रकाश (विषयज्ञान) भी अज्ञान का विरोधी नहीं है किन्तु प्रमाणवृत्तिरूपज्ञान ही विरोधी है और एक विषयकत्व होने पर भी प्रमाणवृत्ति और उससे अतिरिक्तवृत्ति (अविद्यावृत्ति) दोनों में अज्ञानविरोधित्व और अविरोधित्व तो जिस प्रकार घट विपयक सौरालोक और ज्ञान अथवा सौर प्रकाश और चाक्षुष प्रकाश दोनों में तमोविरोधित्व और अतिविरोधित्व होते हैं, उसी प्रकार हो सकते हैं।

शंका– ''वृत्ति चैतन्य की विषयोपरागार्थ होती है'' इस मत में वृत्ति की अज्ञान निवर्तकता का अभाव होने से प्रमाणवृत्ति की अज्ञान निवर्तकता का कथन अयुक्त है।

वाच्यम्, अज्ञाननिवर्तकत्वेन निवृत्तिप्रयोजकत्वस्यैव उक्तत्वात्। तच्च संबन्धसंपादनद्वाराऽस्मिन्पक्षेऽपि अस्त्येव। न च– अज्ञानस्य स्वविरोधिज्ञानाभावव्यापकत्वेन मोक्षेऽप्यज्ञानापात इति–वाच्यम्; मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तिश्रवणेन स्वविरोधिज्ञानप्रागभावमात्रव्यापकत्वात्। न च– कथं प्रमाणवृत्तिमात्रविरोधित्वे अज्ञानस्य ज्ञानमात्रविरोधित्वेनैव न जानामीत्याकारेण प्रत्ययः? इति–वाच्यम्, घटादिमात्रविरोधिनो घटाभावादेः भावसामान्यविरोधित्वेनाभावत्वेन प्रतीतिवत् ज्ञानविशेषविरोधिनोऽप्यज्ञानस्य ज्ञानसामान्यविरोधित्वेन प्रतीतिसंभवात्। न ह्यभावपदादिनाभावप्रतीतो घटाभावौ न भासते। अथ सा विरोधिता तत्र विशेषमात्रपर्यवसन्ना, समं प्रकृतेऽपि, अन्यत्राभिनिवेशात्। न च– 'न जानामि'इति ज्ञप्तिविरोधित्वस्यैवानुभवात् कथं वृत्तिविरोधित्वम्? त्वन्मते चैतन्यस्यैव ज्ञप्तित्वात्, चैतन्याज्ञानयोरविरोधे ज्ञानत्वाज्ञानत्वायोगादिति–वाच्यम्, मन्मते वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं जानामीति व्यवहारविषयः। तथा च न जानामीत्यनेन वृत्तिचितोरुभयोरप्यज्ञानविरोधित्वं विषयीक्रियते। एवं च न चैतन्येऽज्ञानविरोधित्वम्, नापि वृत्तौ, वृत्त्युपारूढचित एवार्थप्रकाशकत्वेन तथात्वात्।

ननु–वृत्तेरप्यर्थप्रकाशकत्वं विना जातिविशेषेणैवाज्ञानतत्कार्यनिवर्तकत्वे इच्छादिनि–

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

समाधान–ऐसा भी न कहो, क्योंकि अज्ञाननिर्वतक रूप से प्रमाणवृत्ति में निवृत्तिप्रयोजकत्व मात्र का कथन है? और वह निवृत्ति प्रयोजकत्व तो चैतन्य का विषय के साथ संबन्धसम्पादन द्वारा इस पक्ष में भी होता ही है।

शंका– अज्ञान स्वविरोधिज्ञानाभाव का व्यापक होने से मोक्षदशा में भी अज्ञान होने का प्रसङ्ग होगा।

समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि मोक्षदशा में अज्ञाननिवृत्ति के श्रवण (श्रुति में प्रतिपादन) होने से अज्ञान स्वविरोधिज्ञानप्रागभाव मात्र का व्यापक है।

शंका– अज्ञान का प्रमाणवृत्तिमात्रविरोधित्व होने पर ज्ञानमात्रविरोधिरूप से '' नहीं जानता हूं'' इत्यादि ज्ञान कैसे होगा?

समाधान– ऐसा भी न कहो, क्योंकि जिस प्रकार घटादिमात्र विरोधी घटाभावादि की भाव सामान्य विरोधी अभावमात्र रूप से प्रतीति होती है, उसी प्रकार ज्ञानविशेषविरोधी अज्ञान की भी ज्ञानसामान्यविरोधीरूप से प्रतीति होना सम्भव है। अभावपदादि से अभावप्रतीति में घटाभाव भासित नहीं होता, ऐसी बात नहीं है।

शंका– अभाव में वह भावविरोधिता विशेषभावमात्र में पर्यवसित है।

समाधान– तब तो वह प्रकृत में भी समान है; अभिनिवेश से अन्य स्थलों में।

शंका– ''न जानामि'' इसमें ज्ञप्ति (ज्ञानमात्र) विरोधित्व का अनुभव होने से वृत्तिविरोधित्व कैसे होगा? तुम्हारे मत में चैतन्य ही ज्ञप्ति है, चैतन्य और अज्ञान में अविरोध होने पर दोनों में ज्ञानत्व और अज्ञानत्व होना अयुक्त है।

समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि हमारे मत में वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही ''जानामि'' इस व्यवहार का विषय है। तब तो ''न जानामि'' इससे वृत्ति और चित् दोनों मलिन का भी अज्ञानविरोधित्व ज्ञापित नहीं होता। और इस प्रकार चैतन्य में अज्ञानविरोधित्व नहीं, और वृत्ति में भी अज्ञानविरोधित्व नहीं; किन्तु वृत्ति में आरूढ़ चैतन्य ही अर्थप्रकाशक होने के कारण अज्ञान विरोधी है।

वर्त्यद्वेषादिवत् सत्त्वापत्त्या शुक्त्यादिज्ञानवदर्थप्रकाशकत्वेन तन्निवर्तकत्वे वक्तव्ये चैतन्यस्यापि तत्सत्त्वेन तन्निवर्तकत्वावश्यम्भावेन तन्निवृत्त्यापात:, नित्यातीन्द्रिये परोक्षवृत्तौ सत्यामप्य-ज्ञानानिवृत्या सुखादावापरोक्षवृत्त्यभावेऽपि स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेन चान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानविरोधित्वाद्—इति चेन्न, प्रमाणवृत्त्युपारूढप्रकाशत्वेन निवर्तकत्वं ब्रूम:, न तु जाति विशेषेण, प्रकाशत्वमात्रेण वा। अतो नेच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिव— देतन्निवर्त्यानां सत्त्वापत्ति:, न वा चैतन्यमात्रस्य निवर्तकत्वापत्ति:। अत एव—शाब्दादिवृत्तौ सत्यामपि अज्ञानानिवृत्त्या सुखादौ प्रमाणवृत्त्यभावे स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानादौ विरोधित्वमिति— निरस्तम्, परोक्षवृत्तेर्विषयपर्यन्तत्वाभावेन न विषयगताज्ञाननिवर्तकत्वम्, सुखादौ च ज्ञातैकसत्त्वादज्ञाननिवृत्तिं विनैवाज्ञानादर्शनम्। अतोऽन्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्ध्या स्फुरणमात्रं नाज्ञानविरोधि। न चात्मनोऽज्ञानाश्रयविषयत्वे स्वसत्तायामप्रकाशविधुरत्वेन स्वप्रकाशत्वसाधनायोग:, परिपूर्णत्वादिना अप्रकाशविधुरत्वा-भावेऽप्यध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानतयाऽप्रकाशविधुरत्वसंभवात्।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका — प्रमाणवृत्ति को भी अर्थप्रकाशकत्व के बिना वृत्तिमात्रनिष्ठ चाक्षुषत्वादि जाति विशेष से ही अज्ञान और अज्ञान कार्य का निवर्तकत्व होने पर जिस प्रकार इच्छादि से निवर्त्य द्वेषादि सत्त्व (सत्यत्व) है, उसी प्रकार अज्ञान और अज्ञान कार्य की भी सत्तापत्ति होगी (क्योंकि उनमें ज्ञान निवर्त्यत्व रूपमिथ्यात्व नहीं होगा); इसलिये शुक्तिज्ञानादि के जैसे प्रमाणवृत्ति के भी अर्थप्रकाशकत्वेन अज्ञान और तत्कार्य का निवर्तकत्व कहना होगा, तब तो चैतन्य के भी अर्थप्रकाशकत्व होने से अज्ञान और तत्कार्य का निवर्तकत्व अवश्यम्भावी होने के कारण चैतन्य से अज्ञान तत्कार्य की निवृत्ति होनी चाहिये; और अतीन्द्रिय पदार्थ में परोक्षप्रमाणवृत्ति होने पर भी अज्ञान की अनिवृत्ति से तथा सुखादि में अपरोक्षप्रमाणवृत्ति का अभाव होने पर भी स्फुरणमात्र से अज्ञान न देखने से अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा स्फुरण ही अज्ञानविरोधी सिद्ध होता है।

समाधान— यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि प्रमाणवृत्ति में आरूढ़प्रकाश रूप से ही चैतन्य का निवर्त्यकत्व है, न तो जातिविशेष से है, अथवा न प्रकाशत्वमात्र से। अत: इच्छादि से निवर्त्य द्वेषादि के जैसे प्रमाणवृत्यारूढ़ चैतन्य से निवर्त्य अज्ञानादि की सत्वापत्ति नहीं होगी या चैतन्यमात्र की निवर्तकत्वापत्ति नहीं होगी। अतएव—शाब्दादि परोक्षवृत्ति होने पर भी अज्ञान की अनिवृत्ति से और सुखादि में प्रमाणवृत्ति का अभाव होने पर भी स्फुरण मात्र से अज्ञान न देखने से अन्वय और व्यतिरेक दोनों के द्वारा स्फुरण ही अज्ञानादि का विरोधी है— ऐसा कथन निरस्त हुआ, क्योंकि परोक्षवृत्ति के विषयदेश पर्यन्त गमन का अभाव होने से विषय गत अज्ञान का निवर्तकत्व नहीं; और सुखादि में ज्ञातैक सत्त्व होने से अज्ञान की निवृत्ति के बिना ही अज्ञान का अदर्शन है। अत: अन्वय और व्यतिरेक अन्यथासिद्ध होने से स्फुरणमात्र अज्ञानविरोधी नहीं।

शंका— आत्मा अज्ञान का आश्रय और विषय होने पर स्वसत्ता में अप्रकाशविधुरत्वरूप (अप्रकाश रहितत्वरूप) हेतु से आत्मा का स्वप्रकाशत्वसाधन अयुक्त है

समाधान — ऐसा नहीं होगा; क्योंकि परिपूर्णत्वादिरूप से अप्रकाशविधुरत्व का अभाव होने पर भी (अर्थात् अप्रकाशत्व होने पर भी) अध्यासाधिष्ठानत्वादि रूप से प्रकाशमान होने से आत्मा में अप्रकाशविधुरत्व सम्भव है।

न च—वृत्तिचितोर्वैषम्योक्तिरयुक्ता, वृत्तिवत्साक्षिणोऽपि समानविषयतया अज्ञानविरोधित्वानुभवाद्, अन्यथा साक्षिवेद्ये चैत्रेच्छासुखादौ मैत्रस्येव चैत्रस्याप्यज्ञानं स्यात्, नो चेन्मैत्रस्याप्यज्ञानं न स्यादिति—वाच्यम्, साक्षिणी यदज्ञानविरोधित्वमनुभूयते तन्नाज्ञाननिवर्तकनिबन्धम्, किंतु स्वविषय इच्छादौ यावत्सत्त्वं प्रकाशादज्ञानाप्रसक्तिनिबन्धनम्। वृत्तेश्च स्वविषये प्रसक्ताज्ञाननिवृत्तिनिबन्धनमेवेत्युभयोर्वैषम्योक्तियुक्तैव। अज्ञानाप्रसक्तेरेव चैत्रेच्छादौ चैत्रस्य नाज्ञानव्यवहारः, मैत्रस्य तु प्रमात्रज्ञानादेव तद्व्यवहारः। न च—तर्ह्यात्मन्यपि तत एव तदप्रसक्तिरिति—वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वात्। किंच साक्षिवेद्यत्वं तदप्रसक्तौ तन्त्रम्, आत्मा तु न तद्वेद्यः, चिद्रूपत्वाद् स्वप्रकाश एवेति। न च—तर्हि सुतरामज्ञानानुपपत्तिः तेजसीव तमसः, अन्यथा घटादिरालोकमिवात्मापि स्वव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षेतेति—वाच्यम्, अज्ञानावृतत्वाद् घटवदज्ञाननिवर्तकान्तरापेक्षा चेत्तर्हीष्टापत्तिः, वृत्तेरेवापेक्षणात्, प्रकाशान्तरापेक्षायां जड़त्वस्योपाधित्वात्, प्रकाशत्वेऽप्यज्ञानाविरोधित्वस्योपपादितत्वात्। अत एव सर्वं वस्तु ज्ञाततयाज्ञाततया च साक्षिचैतन्यस्य विषयः, ज्ञानाज्ञानयोः, स्वविषयावच्छिन्नयोरेव

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

शंका— वृत्तिरूप प्रमा और केवलचित् दोनों में वैषम्य की उक्ति अयुक्त है, क्योकि वृत्तिरूपप्रमा के जैसे साक्षिचैतन्य का भी समानविषयत्व होने से अज्ञानविरोधित्व का अनुभव होता है, अन्यथा साक्षिवेद्य चैत्रेच्छासुखादि में मैत्र के जैसे चैत्र का भी अज्ञान होना चाहिये, यदि चैत्र का तद्विषयक अज्ञान नहीं है तो मैत्र का भी तद्विषयक अज्ञान नहीं होना चाहिये।

समाधान— ऐसा न कहो, क्योंकिं साक्षी में जो अज्ञानविरोधित्व का अनुभव होता है, वह अज्ञाननिवर्तकत्वनिमित्तक नहीं है किन्तु स्वविषय इच्छादि में जब तक सत्त्व है, तब तक प्रकाश होने से अज्ञानाप्रसक्ति निबन्धन अनुभव है। और प्रमावृत्ति का तो स्वविषय में प्रसक्ताज्ञान निवृत्तिनिमित्तक अज्ञानविरोधित्व का अनुभव होने से दोनों की वैषम्योक्ति युक्त ही है। और अज्ञान की अप्रसक्ति से ही चैत्र की इच्छादि में चैत्र का अज्ञानव्यवहार नहीं होता; और मैत्र का तो चैत्रावच्छिन्न प्रमाता के अज्ञान से ही अज्ञानव्यवहार है।

शंका— तब तो आत्मा में भी सदा प्रकाश होने से अज्ञान की अप्रसक्ति है।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि इस का उत्तर परिपूर्णत्वादि रूप से अप्रकाशमानत्वेन अज्ञान की प्रसक्ति है, ऐसा दे चुके हैं। किञ्च – साक्षिवेद्यत्व अज्ञान की अप्रसक्ति में प्रयोजक है और आत्मा तो साक्षिवेद्य नहीं, वह चिद्रूप होने से प्रकाश ही है।

शंका— तब तो स्वभाव से ही आत्मा में अज्ञान की अनुपपत्ति होगी, जैसे तेज में तम की अनुपपत्ति होती है, अन्यथा जिस प्रकार घटादि स्वव्यवहार में आलोक की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वव्यवहार में ज्ञानान्तर की अपेक्षा करे।

समाधान— ऐसा भी न कहो; क्योंकि घट जैसे आत्मा भी अज्ञानावृत्त होने से अज्ञाननिवर्तक ज्ञानान्तर की अपेक्षा करती है तो उसमें हमारी इष्टापत्ति है, क्योंकि उसमें प्रमारूपवृत्ति की ही अपेक्षा है। प्रकाशान्तर की अपेक्षा में तो जडत्व उपाधि है (अर्थात् "यत्र अज्ञानावृत्तत्वम्, तत्र स्वव्यवहारे प्रकाशान्तरापेक्षत्वम्" इस व्याप्ति में जडत्व उपाधि है, क्योंकि "आत्मा स्वव्यवहारे प्रकाशमपेक्षते, अज्ञानावृत्तत्वात्, घटवत्" इस अनुमान में पक्षीभूत आत्मा में मिथ्यात्वादि रूप जडत्व नहीं है)। और आत्मा का प्रकाशत्व होने पर भी अज्ञान से अविरोधित्व पहले ही उपपादित हो चुका है। इस कारण से ही सब वस्तु ज्ञातरूप से और अज्ञातरूप से साक्षिचैतन्य का विषय

भानात्। एतेन—अन्धकारावृतवत् ज्ञानाभावावच्छेदकविषयवच्चाज्ञानावृतस्याप्यप्रकाशेन साक्षिवेद्यत्वायोग इति निरस्तम्; विषयावच्छेदेनानुभवविरोधात्।

ननु—वृत्तेरज्ञानविरोधित्वेऽप्यात्मविषया वृत्तिरिदानीमप्यस्त्येवेति कथं तत्राज्ञानम्? किं च त्वन्मते घटाद्यपरोक्षवृत्तेरपि घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयत्वेन सुतरां चित्यज्ञानासंभवः। न च— विशिष्टचैतन्यरूपजीवविषया वा घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषया वा वृत्तिरज्ञानविषयीभूत— केवलचिदविषयत्वादज्ञानविरोधिनी न स्यादिति—वाच्यम्, 'दण्डी चैत्रः' इति वृत्त्या चैत्राज्ञानानभिभवापातात्। घटाकाशज्ञाने महाकाशाज्ञानस्य महत्त्वाज्ञाने पर्यवसानम्। अत एवाकाशो ज्ञात इति प्रतीतिः। न च श्रवणादिजन्यैव वृत्तिरज्ञानविरोधिनी, भ्रमकालीना— परोक्षज्ञानानधिकविषयज्ञानेन कारणान्तरजन्येनापि अज्ञानानिवृत्तावतिप्रसङ्गाद्, अनधिकविषयत्वे श्रवणादिवैयर्थ्यात्, सत्यत्वापाताच्चेति—चेन्न, यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते अज्ञानविशेषः एकाज्ञानपक्षे अवस्थाविशेषः शक्तिविशेषो वा अविद्यागतो विशिष्टगोचरवृत्त्या

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

होती है; क्योंकि स्वस्वविषयावच्छिन्न होकर ज्ञान और अज्ञान दोनों का भान होता है। इससे— जिस प्रकार अन्धकार से आवृत पदार्थ अप्रकाश होने से वेद्य नहीं और "घटज्ञानं नास्ति" इसमे ज्ञानाभाव का अवच्छेदक घटरूप विषय अप्रकाश होने से वेद्य नहीं, उसी प्रकार अज्ञानावृत्त पदार्थ भी अप्रकाश होने से साक्षिवेद्य नहीं हो सकता— यह कथन निरस्त हुआ; क्योंकि घटाविषयावच्छेद मे "घटं न जानामि" इस प्रकार अज्ञान के अनुभव से विरोध है।

शंका— प्रमावृत्ति का अज्ञानविरोधित्व होने पर भी इस समय (आवरण काल में) आत्मविषयक अहमाकार वृत्ति भी है ही; तब किस प्रकार आत्मा में अज्ञान होगा? किञ्च — तुम्हारे मत में घटादिविषयक अपरोक्षवृत्ति का भी घटादि से अवच्छिन्नचिद्विषयकत्व होने से सुतरां चित् में अज्ञान असम्भव है। और इसमें— विशिष्टचिद्रूप जीवविषयक, अथवा घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयक वृत्ति अज्ञान की विषयीभूत केवल चित् को विषय न करने वाली होने से अज्ञान की विरोधिनी नहीं— ऐसे भी कहना अयुक्त है; क्योंकि "दण्डी चैत्र" इस विशिष्ट विषयकवृत्ति से चैत्राज्ञान का अनभिभव प्रसङ्ग होगा; और घटावच्छिन्नाकाश का ज्ञान होने पर महाकाश का अज्ञान महत्व के अज्ञान में ही पर्यवसित होता है। अतएव "आकाश ज्ञात" ऐसी प्रतीति होती है। और श्रवणादि से जन्य वृत्ति ही अज्ञान की विरोधिती है— ऐसा कथन भी अयुक्त है; क्योंकि भ्रमकालीन अपरोक्ष ज्ञान के विषय मे अनधिक विषयक कारणान्तर जन्य (श्रवणादिजन्य) ज्ञान से भी अज्ञान की निवृत्ति होने पर अतिप्रसङ्ग होगा। (अभिप्राय यह है कि "शुक्ति में रजत नहीं है" इस बाधकाल में भी भ्रम की अनुवृत्ति होगी, तब तो भ्रमकालीन बाध के विषय से अनधिक विषय कारणान्तरजन्य (श्रवणादि जन्य) उक्त बाध से पश्चात् भ्रम की निवृत्ति होगी— इस प्रकार से अतिप्रसङ्ग होता है। यहां पर प्रथम बाध से भ्रम की निवृत्ति न होकर द्वितीय उक्तबाध से भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, जबकि हो जाती है, यही अतिप्रसङ्ग है)। और पूर्वबाधविषय से अनधिक विषयत्व होने पर श्रवणादि का वैयर्थ्य भी होगा और अधिष्ठानधी सामान्य से अनिवर्त्यत्व होने पर प्रपञ्च की सत्यत्वापत्ति भी होगी।

समाधान— ऐसा नहीं होगा; क्योंकि जितने ज्ञान हैं, उतने अज्ञान हैं— ऐसे मानने वालों के मत में अज्ञानविशेष; और एकाज्ञान मानने वालों के पक्ष में अविद्यागत अवस्थाविशेष या शक्ति विशेष की विशिष्टगोचर प्रमावृत्ति के द्वारा निवृत्ति हो ही जाती है। और "तत्त्वमसि" आदिवाक्य

निवर्तत एव। प्रपञ्चनिदानभूतं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डार्थगोचरवृत्तिनिवर्त्यमज्ञानं परमवशिष्यते, भेदभ्रमस्यानुभूयमानत्वात्। यथा अयमितिज्ञानात्तत्राज्ञाने निवृत्तेऽपि सोऽय-मित्यभेदगोचरवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमवशिष्यते। तथा च विषयकृतविशेषाभावेऽपि कारणविशेष-जन्यत्वेन विशेषेण निवर्तकत्वे श्रवणवैयर्थ्यं सत्यतापत्तिश्च निरस्ता, अन्यथा सोऽयमित्य-त्राप्यगतेः। किं च जीवविषया वृत्तिरविद्यावृत्तिः, न तु प्रमाणवृत्तिः, तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्। तदुक्तं विवरणे– 'जीवाकाराहंवृत्तिपरिणतान्तःकरणेन जीवोऽभिव्यज्यत' इति। अस्यार्थः– जीवाकाराहंत्वप्रकारिकाविद्यावृत्तिः, तया परिणतान्त करणेनान्तःकरणपरिणामभूतज्ञान-रूपवृत्तिसंसर्गेण जीवोऽभिव्यज्यत इति। न च–'घटोऽयम्'इति ज्ञानेन चरमवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमपि निवर्ततामिति–वाच्यम्, तदवच्छिन्नाज्ञातत्वप्रयोजकाज्ञानविशेषादेरेव तदवच्छिन्नज्ञान-विर्त्यत्वस्य फलबलेन स्वीकारात्। अवतमस इव विषयप्रकाशकालोकस्य सर्वतमोऽनिव-र्तकत्वेऽपि किंचित्तमोनिवर्तकत्वम्। तस्मात्सिद्धमाश्रयत्वविषयत्वभागिनी शुद्धचिदिति। एतेन– देहादिभेदो वा अभोक्तृत्वाद्यभेदो वा ब्रह्माभेदो वा अद्वितीयमात्राभेदो वा तद्विशिष्टात्मा

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

जन्य अखण्डार्थविषयकवृत्ति से निवर्त्य तथा प्रपञ्चनिदानभूत अज्ञान मात्र ही शेष रह जाता है, क्योंकि भेदभ्रम का अनुभव होता रहता है। जैसे "अयम्" इस ज्ञान से उसमें अज्ञान निवृत्त होने पर भी "सोऽयम्" इस अभेदगोचरवृत्ति से निवर्त्य अज्ञान रह जाता है। तब तो विषयकृत विशेष का अभाव होने पर भी कारणविशेष जन्यत्वरूप विशेष से श्रवणादिजन्य ज्ञान का निवर्तकत्व होने के कारण श्रवणव्यर्थता और प्रपञ्चसत्यतवापत्ति निरस्त हो जाती है। यदि इस शक्ति विशेष को नहीं मानोगे तो "सोऽयम्" इस अभेदबोध की गति नहीं। किञ्च– जीव विषय वृत्ति अविद्यावृत्ति है, न कि प्रमाणवृत्ति, कारण कि– वही प्रमाणवृत्ति अज्ञान की विरोधिनी है। यह बात विवरण में कही है। "जीवाकार अहंवृत्ति के द्वारा परिणत अन्तःकरण से जीव अभिव्यञ्जित होता है" इति। इसका यह अर्थ है– जीवाकार अहंत्व प्रकारिका अविद्या वृत्ति होती है; उस अविद्यावृत्ति से परिणत अन्तःकरण से यानी अन्तःकरणपरिणामभूत ज्ञानरूपवृत्ति के साथ संबन्ध से जीव अभिव्यञ्जित होता है। (यहां पर – सुषुप्तिकाल में सूक्ष्मरूप से परिणत अन्तःकरण से संसृष्ट जीव व्यङ्ग्य नहीं होता, इसलिये अन्तःकरण परिणामभूत ज्ञानरूप वृत्ति– ऐसा कहा है; और वह तो घटाद्याकारवृत्तिरूप ज्ञान ही है। इसलिंये अहंत्वप्रकारिका जीवाकाराविद्यावृत्ति और घटाद्याकार से परिणत अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान दोनों के अभेद से "अहं घटं जानामि" इत्यादि रूप से जीव व्यङ्ग्य होता है। अहमाकार वृत्ति अविद्यावृत्ति ही है, प्रमा में ही अन्तःकरण की वृत्ति होती है, अप्रमा से तो अविद्या की परिणामरूप वृत्ति क्लृप्त है)।

शंका– "यह घट है" इस ज्ञान से चरमवृत्ति से निवर्त्य अज्ञान की निवृत्ति भी हो जाये।

समाधान– ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि घटाद्यवच्छिन्नचिन्निष्ठ अज्ञातत्व के प्रयोजक अज्ञानविशेषादि का भी घटादिविषयक वृत्तिरूप प्रमाज्ञान से निवर्त्यत्व फलबल से स्वीकार किया जाता है। जैसे कि कुछ कम अन्धकार वाले प्रदेश में विषय प्रकाशक आलोक सब अन्धकार का निवर्तक न होने पर भी कुछ अन्धकार का निवर्त्तक होता है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। इसलिये–अज्ञान के आश्रयत्व और विषयत्व को भजने वाली शुद्धचित् है– यह सिद्ध है। इस प्रकार पूर्वोक्त हेतु से– देहादिभेद या अभोक्तृत्वादि का अभेद (अर्थात् भोक्तृत्वाद्यभावत्व विशिष्ट चिदभेद), या ब्रह्माभेद या अद्वितीयमात्र का अभेद या देहादिभेद विशिष्ट आत्मा मूलाज्ञान

वा न तद्विषयः, तेषामात्ममात्रत्वे उक्तदोषाद्, भिन्नत्वे अद्वैतक्षतेः, आविद्यकत्वे अन्योन्याश्र-यादिति अनुक्तोपालम्भनम्—अपास्तम्। ब्रह्माभेदादेरात्ममात्रतापक्षे तस्याज्ञानविषयत्वमेव, दोषस्य परिहृतत्वात्। यत्तु प्रसङ्गादुक्तम्—द्वितीयाभावोपलक्षितात्मनोऽज्ञानविषयत्वे तादृशस्यैव चरमवृत्तिविषयत्वं वाच्यम्, तथा च वेदान्तानामप्युपलक्षणरूपप्रकारयुक्तो- क्तात्मपरत्वे अखण्डार्थताहानिः, अकाके काकवदित्यस्येवास्याप्यप्रामाण्यापत्तिः, उपलक्षणस्य मिथ्यात्वाद्—इति। तत्राखण्डार्थवादे वक्ष्यामः। न च न्यूनाप्यङ्गलिरधिकमाच्छादयति, अविषयसंबन्धित्वाद्, इयं हि विषयसंबन्धिनी कथमधिकमाच्छादयेदिति- वाच्यम्,

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

का विषय नहीं; क्योंकि उपरि कथित इन सबका आत्ममात्रत्व होने पर उक्त दोष (अर्थात् घटाद्यवच्छिन्नचित् के ज्ञान से भी मूलाज्ञान नाश का प्रसङ्गादि दोष) आ जाते हैं, इनका भिन्नत्व होने पर अद्वैत की क्षति होगी (क्योंकि मूलाज्ञान के नाशक भेद ज्ञान को प्रमा सिद्ध करने के लिये भेद को तात्त्विक कहना होगा); इनका भेद आविद्यक होने पर अन्योन्याश्रय (भेदादि की सिद्धि होने पर भेदादि विषयक अज्ञान की सिद्धि और अज्ञान की सिद्धि होने पर अज्ञान से जन्य भेदादि की सिद्धि— इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष) आ जाता है— ऐसा अनुक्तोपालम्भ निराकृत हुआ। (वस्तुतः उक्तभेदादि अनादि होने के कारण तथा अविद्यानाश से नाश्य होने के कारण उनमें आविद्यकत्व के व्यवहारमात्र होने से अन्योन्याश्रय नहीं होता)। और ब्रह्माभेदादि की आत्ममात्रता के पक्ष में उसका अज्ञान विषयत्व ही सिद्ध होता है, दोष का परिहार तो पहले ही कर चुके हैं (घटादिभेद विषयक वृत्तिज्ञान से अविद्या विशेष या अविद्या का अवस्थाविशेष या शक्ति विशेष नष्ट होते हैं, और मूलाज्ञान तो श्रवणादि से उत्पन्न अखण्डाकार साक्षात्कार से नष्ट होता है— इत्यादि से दोष का परिहार कर चुके हैं)। और जो प्रसङ्ग से कहा है— द्वितीयाभाव से उपलक्षित आत्मा का अज्ञानविषयकत्व होने पर तो द्वितीयाभावोपलक्षित आत्मा का ही चरमवृत्तिविषयत्व ही कहना होगा; तब तो वेदान्तवाक्यों का भी उपलक्षणरूप प्रकार विशिष्टोक्तात्मपरत्व होन पर भी उनकी अखण्डार्थता की हानि होगी। और काकरहित गृह में काकवत् कहने वाले वाक्य के जैसे वेदान्तवाक्यों के भी अप्रामाण्य की आपत्ति होगी; क्योंकि उपलक्षण मिथ्या होता है। इस कथन का उत्तर हम आगे अखण्डार्थ वाद में कहेंगे।

शंका — न्यून होती हुई भी अङ्गुली अधिक विशाल वस्तु को आच्छादन करती है, क्योंकि विषय के साथ उसका संबन्ध नहीं होता; और यह अविद्या तो विषय के साथ संबन्ध रखती है; इस कारण वह अधिक व्यापक आत्मा को किस प्रकार आच्छादन करेगी?

समाधान— ऐसा भी न कहो, क्येंकि इसका उत्तर भी दे चुके हैं। (अविद्या के भी आत्मा के जैसे विभुत्वपक्ष में उसका न्यूनत्व ही नहीं; और अविभुत्वपक्ष में भी " मैं अपने स्वरूप को नहीं जानता हूं" इत्यादि अनुभव के बल से अविद्या का आच्छादकत्व अनुपपन्न नहीं होता, क्योंकि वस्त्रादि के जैसे अविद्या का आच्छादकत्व नहीं है जिसमे अविद्या का न्यूनत्व आच्छादकत्व में विरोधी हो जाये, किन्तु "नास्ति न भाति"— इत्यादि व्यवहारमात्र का हेतुत्वादि है। इस प्रकार अविद्या के विभुत्व और अविभुत्व के पक्ष में युक्ति से उत्तर दे चुके हैं— यह भाव है। और "पादस्य सर्वाणिभूतानि त्रिपादमृतं दिवि" इस श्रुति के अनुसार अविद्या को एक देश में मानने पर भी जितने अंश में वह स्थित, उतने अंश आवृत्त होने से तदन्तर्गत ब्रह्माण्ड में स्थित जीवसमुदाय को उस आवृत्तचित् का अज्ञान हो

दत्तोत्तरत्वात्। तस्मादविद्यास्वरूपत आश्रयतो विषयतश्च सुनिरूपा।
इत्यद्वैतसिद्धावविद्याया विषयोपपत्तिः।।

योगेन्द्रानन्दी दीपिका

सन्‌ना है)। इसलिये अविद्या स्वरूपतः विषयतः तथा आश्रयतः सुनिश्चितरूपा ही है।।

तुष्यतु स गुरुवर्यो भक्तिभावनया मया।
समर्पितस्त्वयं ग्रन्थः तच्चरणारविन्दयोः।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—विरक्तशिरोमणि—
पूज्यपादश्रीस्वामिमंगलगिरिशिष्यश्रीमत्परमहंसपरिव्रा—
जकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ—अनन्तश्रीविभूषित—
विद्वद्वरिष्ठपूज्यपादश्रीस्वामियोगेन्द्रानन्दगिरि—
कृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां योगेन्द्रानन्दी—
दीपिकायामविद्याया विषयोपपत्ति—
पर्यन्तविवरणं समाप्तम्।।

इति शिवम्

